शिवपूजन-रचनावली

(जीवनियाँ, संस्मरण और सम्पादकीय लेख)

[चौथा खण्ड]

श्रीशिवपूजनसहाय

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

प्रकाशक
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना—३

नवीन संस्करण, श्रावण, १८८१ शकाब्द
२०१६ विक्रमाब्द : १९५९ खृष्टाब्द

मूल्य ७·०० : सजिल्द ८·५०

मुद्रक
सर्वोदय प्रेस
आर्यकुमार पथ : : पटना—४

शिवपूजन-रचनावली

(खण्ड-४)



श्रीयुत श्रीगोपाल नेवटिया

सचित्र हिन्दी-मासिक 'नवनीत' (बम्बई)

के

संस्थापक और संचालक

तथा

हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यसेवी सुहृद्वर

श्रीगोपाल नेवटिया

को

जिनका सौहार्द हृदयाह्लादक है

'शिव'

वक्तव्य

'रचनावली' का यह चौथा खण्ड ही अन्तिम खण्ड है। हमारी सभी रचनाओं के संग्रहों को प्रकाशित करने के लिए बिहार-सरकार से परिषद् को जो अतिरिक्त धनराशि मिली थी, वह इसी खण्ड के साथ समाप्त हो गई। जो रचनाएँ समय पर मिल सकीं, वे सभी प्रकाशित हो गईं। बहुत-सी रचनाएँ खोज करने पर भी न मिलीं और अनेक रचनाएँ, जो कल्पित नाम से तथा दूसरों के नाम से छपी थीं, वे संग्रह में सम्मिलित नहीं की गईं।

पहले के खण्डों में हम लिख चुके हैं कि हमारी लम्बी बीमारी में बिहार-सरकार ने जो आर्थिक सहायता देने की कृपा की थी, उसके साथ ही हमारी रचनाओं का संग्रह प्रकाशित करके उसके लिए पेशगी पुरस्कार दे देने का भी आदेश दिया था। इसी कारण हमारी उपलब्ध रचनाएँ चार खण्डों में प्रकाशित हो सकीं, नहीं तो इनमें कोई ऐसा तत्त्व-महत्त्व नहीं था कि ये राजाश्रय पा सकें। किन्तु ईश्वर की असीम कृपा से इन अतिशय साधारण रचनाओं को भी अप्रत्याशित महत्ता प्राप्त हो गई।

प्रस्तुत चतुर्थ खण्ड के पूर्वार्द्ध में जीवनियाँ और संस्मरण हैं तथा उत्तरार्द्ध में १९५८ ई० तक के प्रकाशित सम्पादकीय लेख हैं। जैसे तीसरे खण्ड के प्रकाशन-काल में बहुत-से लेखों का संग्रह ठीक समय पर न हो सका था वैसे ही इस खण्ड के पूर्वार्द्ध के छपते समय कई जीवनियाँ और संस्मरण नहीं मिल सके। यात्रा और प्रवास के कितने ही संस्मरण अभी तक अधूरे छपे हैं, अतः उनका समावेश इसमें न हो सका। ईश्वर की इच्छा और कृपा होगी तो शेष रचनाएँ भी संगृहीत होकर कहीं से निकल जायेंगी। किन्तु चार खण्डों में जो रचनाएँ प्रकाशित हो गईं, उनके लिए हम बिहार-सरकार के चिर-कृतज्ञ रहेंगे। और, जिन महानुभावों की हितैषणा और प्रेरणा से इन सामान्य कोटि की रचनाओं को ऐसा स्पृहणीय गौरव प्राप्त हो गया कि हिन्दी-संसार के सामने उपस्थित होने का सुयोग मिला, उन सज्जनों की कृपा का उल्लेख हमारे आगे लिखे जानेवाले साहित्यिक संस्मरणों में ही संभव होगा।

हम पिछले खण्डों में लिख चुके हैं कि बिहार-राज्य में अनेक ऐसे साहित्यसेवी हैं और हो चुके हैं, जिनकी रचनाओं का संग्रह प्रकाशित होना परमावश्यक है। यह तो केवल संयोग की ही बात है कि अनेक सुयोग्य अधिकारी विद्वानों की अमर रचनाओं से बहुत पहले ही हमारी खोखली रचनाओं को राज्य का आश्रय मिल गया, पर इससे इतना लाभ तो अवश्य हुआ कि वर्त्तमान शोध-युग में अध्ययन-अनुशीलन और अनुसन्धान की सुविधा के लिए प्रमुख साहित्यकारों की ग्रन्थावली के प्रकाशन का महत्त्व ध्यान में आने लगा तथा उसकी अनिवार्य आवश्यकता भी अनुभूत होने लगी। यदि हमारी रचनावली से इतनी भी प्रेरणा मिल सकी, तो इसका प्रकाशन सर्वथा अनावश्यक न प्रतीत होगा।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से बिहार के आधुनिक हिन्दी-गद्य-निर्माता पण्डित सदलमिश्र और खड़ी बोली की कविता के अन्यतम समर्थक श्रीअयोध्याप्रसाद खत्री की ग्रन्थावली प्रकाशित होनेवाली है। ग्रन्थावली-प्रकाशन का यह क्रम आशाजनक है। विश्वास है कि भविष्य में परिषद् से और भी ग्रन्थावलियाँ प्रकाशित होकर साहित्य-संसार के अन्वेषकों के गवेषणा-कार्य में सहायक होंगी। तथास्तु।

श्रावणी पूर्णिमा, शकाब्द १८८१
सन् १९५९ ई०

शिवपूजनसहाय
(संचालक)

विषयानुक्रमणी

श्रीरामचन्द्र वर्मा की 'शब्द-साधना' (६०८), रजत-जयन्ती-समारोह के अध्यक्ष कविवर 'दिनकर' (६०९), वार्षिक महाधिवेशन के सभापति श्रीमथुराप्रसाद दीक्षित (६१०), कवि-सम्मेलन के अध्यक्ष श्रीवियोगीजी (६१०), सम्मेलन के सत्सेवकों का स्मरण (६११)।

त्रैमासिक 'साहित्य' (पटना)—संस्कृति के चार अध्याय (६११), दो नई पत्रिकाएँ—'हिन्दी-रिव्यू' और 'छपाई-कला' (६१२), बिहार के कवियों की गद्य-रचनाएँ (६१४), 'हिन्दी-साहित्य-कोश' (६१७), संताली भाषा का एकमात्र पत्र 'होड़-सोम्बाद' (६१८), बिहार के दो वयोवृद्ध साहित्य-सेवियों का देहावसान (६१९), हिन्दी-साहित्य-सेवियों के साहित्यिक पत्रों का संग्रह (६२१), अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी का स्मारक (६२२), अमर कथाकार प्रेमचंदजी का स्मारक (६२३), स्वर्गीय महाराज कुँवर बाबू रामदीनसिंह का स्मारक (६२५), 'श्रीवेङ्कटेश्वर-समाचार, का हीरक-जयन्ती-अंक (६२६), हिन्दी में साहित्यिक शोध के साधनों की कमी (६२७), 'प्रसाद-अध्ययन-ग्रन्थ' (६२९), बिहार में प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का शोध (६३०), हिन्दी का विरोध (६३१), शोधोपयोगी ग्रन्थ-भाण्डारों की रक्षा (६३३), आरा की नागरी-प्रचारिणी सभा (६३४), 'श्रीवेङ्कटेश्वर-समाचार' का मानव-धर्म-विशेषांक (६३४), 'प्रेम-संदेश' का मानस-संस्कृति-अंक (६३५), एक मुसलमान सज्जन का आदर्श हिन्दी-प्रेम (६३५), भारतीय हिन्दी-परिषद् (६३६), आन्ध्र-प्रदेश हिन्दी-विद्यार्थी-सम्मेलन (६३७), पूर्वोत्तर रेलवे हिन्दी-समिति (गोरखपुर) (६३८), स्वर्गीय आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय (३३९), त्रैमासिक हिन्दुस्तानी का पुनः प्रकाशन (६४०), 'हरिऔध' का प्रकाशन (६४१), 'चम्पा'—एक अनुकरणीय प्रयास (६४२), दो प्रतिष्ठित साहित्यसेवियों का स्वर्गवास (६४३), केरल का सचित्र हिन्दी-पाक्षिक—'युग-प्रभात' (६४७), भारतरत्न डॉ॰ भगवानदास की परमपद-प्राप्ति (६४८), बिहार-प्रवासी श्रीगोयलीयजी की साहित्य-सेवा (६४९), काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की विधि-पत्रिका (६५०), स्वामी भवानीदयाल संन्यासी का अद्वितीय संग्रहालय (६५०), बँगला-भाषा में 'रामचरित-मानस' के दो पद्यानुवाद (६५१), प्रेमचन्द-स्मारक (६५३), समर्थ प्रकाशकों की कमी (६५४)।

*

शिवपूजन-रचनावली

[चौथा खण्ड]

जीवनियाँ और संस्मरण

जिस साहित्य में अच्छी जीवनियाँ नहीं हैं, वह संसार की महान् आत्माओं के संस्पर्श से वंचित है।

—राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन

× × ×

आदर्श महापुरुषों की जीवनियाँ उनके साक्षात्कार का सुख और उनके सत्संग का लाभ देती हैं।

—महामना मालवीयजी

× × ×

विभिन्न क्षेत्रों के यशस्वी नर-नारियों की जीवनियाँ मानव-समाज को अनेक दिशाओं में विकास और उन्नति के पथ पर अग्रसर करती हैं।

—श्यामसुन्दर दास

× × ×

जीवनियाँ इतिहास की कड़ियाँ होती हैं। उनसे पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रकाश और प्रेरणा तथा प्रोत्साहन मिलता रहता है।

—गणेशशंकर विद्यार्थी

× × ×

संस्मरण अपने युग के दर्पण होते हैं।

—प्रेमचन्द

× × ×

संस्मरणों से साहित्य के इतिहास की नाड़ी परखी जा सकती है।

—पद्मसिंह शर्मा

परमहंस श्रीरामकृष्ण

भारतवर्ष जैसे कृषि-प्रधान देश कहा जाता है, वैसे ही यदि धर्म-प्रधान देश भी कहा जाय, तो कोई असङ्गत बात न होगी; क्योंकि भारतीय सभ्यता और भारतीय साहित्य में धर्म की ही प्रधानता है; बल्कि इसी बात को यों कहना चाहिए कि भारतीय सभ्यता और साहित्य का निर्माण ही हुआ है धर्म की पुष्ट भित्ति पर। यहाँ तो बात-बात में धर्म, पद-पद पर धर्म है। खाने-पीने में, बोलने-बतराने में, चलने-फिरने में, सोने-जागने में, उठने-बैठने में, कपड़े-लत्ते में, जन्म-मरण में, सम्पद्-विपद् में, हर्ष-विषाद में, सर्वत्र धर्म ही धर्म तो है।

भारतीयों के दैनिक जीवन का एक क्षण भी ऐसा नहीं है, जिसपर धर्म-सम्राट् की छत्रच्छाया न पड़ी हो। विवाह-मण्डप में जाइए, तो वहाँ भी धर्म की ही ध्वजा फहराती है। श्मशान में देखिए, तो वहाँ भी धर्म ही धाक जमाये हुए है। युद्ध-क्षेत्र तक में धर्म का डंका पिट रहा है। राजनीति, समाज, साहित्य और लौकिक व्यवहार आदि सब पर यहाँ धर्म का रंग चढ़ा हुआ है। धन्य है धर्म-प्राण भारतवर्ष!

भारतवर्ष केवल जातियों और भाषाओं का ही अजायबघर नहीं है, धर्मों और सम्प्रदायों का भी चिड़ियाखाना है। मोटी तरह से तो यहाँ तक अन्दाज लगाया जाता है कि भारतवर्ष में लगभग हजार प्रकार के धर्म प्रचलित हैं। जो हो, प्रान्तों और भाषाओं की भिन्नता से भारतवर्ष का जितना अपकार हुआ है, उससे कई-गुना अधिक केवल साम्प्रदायिक भिन्नताओं से हुआ है। अनेक मत-मतान्तरों और पन्थों ने साम्प्रदायिक संकीर्णता द्वारा ईर्ष्या-द्वेष की विषाक्त अग्नि धधकाकर पारस्परिक भ्रातृत्व और स्वदेशबन्धुत्व को सूखे चने की तरह धार्मिक कलह के भाड़ में भूज डाला है। व्यर्थ के धार्मिक विवादों में आजतक न जाने कितनी प्रतिभा, कितनी शक्ति और कितनी बड़ी द्रव्य-राशि नष्ट हो चुकी है, इसका कुछ ठिकाना नहीं; बल्कि अभीतक नष्ट होती जा रही है। बौद्धों और सनातनियों के झगड़े इतिहास में अमर हो चुके हैं। साम्प्रदायिक संघर्ष के युग को धार्मिक महाभारत का भीष्म-पर्व कहा जाय, तो क्या अत्युक्ति होगी?

अगर यह सत्य है कि धर्म के नाम पर हमारे मुसलमान भाइयों ने अनेक बार रक्तपात किया है, तो यह भी असत्य नहीं है कि भारतवर्ष में हिन्दुओं ने भी धर्म के नाम पर

कितने ऐसे अनिष्टकर कर्म किये हैं, जिनसे अपने ही देश-भाइयों में घोर वैमनस्य और मनोमालिन्य उत्पन्न हो गया है। धर्म के नाम पर वैर-विरोध और फूट-कलह का प्रचार होना क्या रक्तपात से कम भयङ्कर है ?

खैर, जो कुछ भी हो, भारत को साम्प्रदायिक कलहों की नरकाग्नि में जलते हुए देखकर ही दयासागर परमात्मा ने अपनी दिव्य विभूतियों से संवलित कर परमहंस श्रीरामकृष्ण को यहाँ भेजा। ईश्वर की मर्जी के विना पेड़ का एक पत्ता तक नहीं हिलता। अतएव, यह भी मान लेना अनुचित नहीं है कि सभी धर्म-प्रचारक उसी परमात्मा की प्रेरणा से आये और ईश्वरादेश के अनुसार ही अपना सन्देश सुनाकर चले गये। किन्तु अन्य धर्म-प्रचारकों के प्रेषित करने में परमपिता का जो उद्देश्य निहित था, उसी उद्देश्य से 'परमहंस' की प्रेरणा नहीं हुई थी।

परमहंस किसी ऐसे धर्म की पताका लेकर नहीं उतरे थे, जिसमें वितण्डावाद की विविध विडम्बनाएँ हों। उनका धर्म कोई खास विशेषतापूर्ण धर्म नहीं है, और न किसी प्रान्त या देश की सीमा में बद्ध ही है। वह किसी जाति अथवा सम्प्रदाय-विशेष की सम्पत्ति भी नहीं। उसपर किसी ऐसे स्वार्थपूर्ण सिद्धान्त की छाप भी नहीं लगी है, कि अपनी लकीर बड़ी करने के लिए किसी दूसरे की लकीर काट दी जाय। उनका धर्म तो सर्वथा आडम्बरशून्य है। उसमें प्रतिद्वंद्विता या प्रतिस्पर्द्धा की गन्ध तक नहीं है। वह है केवल उस सच्चिदानन्द के चरणों में एकान्त विश्वास—परमात्मा के प्रति प्रकृत प्रेम—ईश्वर की अनन्य अविचल भक्ति। उसकी शान्तिपूर्ण गोद में समस्त ब्रह्माण्ड विश्राम कर सकता है। विश्व-संसार के लिए उसका द्वार उन्मुक्त है।

भारत के अन्य अनेक धर्म-प्रचारक अपनी-अपनी डेढ़ ईंट की मस्जिद अलग-ही-अलग बनाकर चले गये, पर श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव ने एक ऐसा सुविशाल धर्म-मन्दिर बनाया, जिसमें धार्मिक पार्थक्य के घात-प्रतिघातों से प्रपीडित सभी सम्प्रदायवाले निःशंक भाव से एकत्र होकर सच्ची शान्ति का अनुभव करें। उस विश्व-धर्म-मन्दिर के गगनचुम्बी शिखर पर न त्रिशूल है न चक्र है, और न कलश ही है। है केवल प्रेम की फहराती-लहराती हुई सुन्दर पताका, जो हाथ हिला-हिलाकर भूमण्डल के निवासियों को विश्व-धर्म-मन्दिर में शान्ति प्राप्त करने के लिए बुला रही है। मन्दिर के अन्दर विश्वास के अरघे पर भक्ति की प्रतिमा प्रतिष्ठित है और अविरल आनन्द का घण्टा घहरा रहा है। ऐसे विश्व-धर्म-मन्दिर के संस्थापक परमहंसदेव को यदि 'राम' और 'कृष्ण' की सम्मिलित विभूतियों का समष्टि-रूप कहा जाय, तो अतिरंजना कदापि न होगी।

परमहंसदेव ने यदि 'राम' से विश्वास-परायणता, सत्यप्रियता, तेजस्विता और संयमशीलता पाई थी, तो 'कृष्ण' से भी उन्हें वाक्पटुता, मधुरता, कोमलता, प्रसन्नता, ज्ञान-गरिमा और प्रेम-रसज्ञता मिली थी। अगर 'राम' की तरह उनके ललाट में मनस्विता और गंभीरता की रेखाएँ थीं, तो 'कृष्ण' की तरह बात-बात में विशुद्ध विनोद और ओठों पर मुस्कान की झलक भी थी। उनका चारु चरितामृत पान करने से स्पष्ट मालूम होता है कि 'राम' और 'कृष्ण'—ईश्वर के दो मुख्य अवतारों—ने अपनी विशिष्ट

विभूतियों से विभूषित कर उन्हें सँवारा था। इसीलिए ईश्वर के अन्यान्य सन्देश-वाहकों से परमहंसदेव की शोभा कहीं निराली थी।

हम भारत के धर्म-प्रचारकों से परमहंस की तुलना करना नहीं चाहते। सच पूछिए, तो परमहंस वास्तव में धर्म-प्रचारक थे भी नहीं। वे दरअसल अगर कुछ थे, तो बस ईश्वर के एक अनन्य भक्त—परम-प्रेमानन्दमय परमात्मा के सच्चे पुजारी—छोटी-छोटी कुंजियों से ईश्वरीय रहस्य के बड़े-बड़े सन्दूक खोलनेवाले कुशल कारीगर—अपने साधनामय जीवन के प्रत्येक श्वासोच्छ्वास से संसार के वायुमण्डल में उपदेशामृत-लहरी प्रवाहित करनेवाले सिद्ध महात्मा—और, अपनी एक-एक मधुर मुस्कान से उसी सर्वव्यापी की ज्योति झलकानेवाले अवतारी महापुरुष।

उनकी इच्छा या उनका जीवनोद्देश्य अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना नहीं था। उन्होंने किसी खास सम्प्रदाय को प्रश्रय नहीं दिया, अपना कोई सिद्धान्त-ग्रन्थ नहीं लिखा, अपने विचारों का प्रचार करने को ओर कभी ध्यान ही नहीं दिया, अपनी बातों की पुष्टि के लिए किसी धर्म या सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का खण्डन नहीं किया, अपने अनुयायियों की संख्या-वृद्धि का कभी स्वप्न भी नहीं देखा; बिल्कुल एकान्त निःस्पृह भाव से एकाग्रचित्त होकर ब्रह्म-समाधि में तल्लीन रहना ही अपना एकमात्र ध्येय समझा। शास्त्रार्थ या तर्क-वितर्क से कुछ मतलब नहीं; क्योंकि सच्चे ईश्वरानुराग के बल से वे उस स्थान तक पहुँच गये थे, जहाँ तर्कों की कभी पहुँच नहीं होती। ऐसे पहुँचे हुए महात्मा का चरित्र ही स्वयं एक बृहत् उपदेश-ग्रन्थ है।

परमहंसदेव ने शैव, शाक्त, वैष्णव, इस्लाम और ईसाई आदि सभी धर्मों और सम्प्रदायों की उपासना-प्रणालियों से परमात्मा के पास पहुँचने की चेष्टा की; और तारीफ यह कि प्रत्येक उपासना-प्रणाली से, थोड़े ही दिनों में, उनका ईश्वर से साक्षात्कार हुआ। ईश्वर उनके रोम-रोम में रम गये। वे प्रायः बैठे-ही-बैठे, बोलते-ही-बोलते, चलते-ही-चलते, समाधिस्थ हो जाया करते थे, ध्यानावस्थित नेत्रों से भक्ति-गद्गद अनर्गल अश्रुधारा बहने लगती थी और नितान्त आत्मविस्मृत-से हो जाते थे।

भारतवर्ष-जैसे विविध धर्म-संकुल देश में उनके समान सकल-धर्म-समन्वयी महात्मा की आवश्यकता भी थी, जो अपनी अमोघ साधनाओं की सिद्धि से यह सिद्ध कर दिखाये कि परमात्मा-रूपी उस एक ही केन्द्र पर संसार के समस्त उपासना-मार्गों का अन्त हुआ है, सारी उपासना-नदियाँ उसी ब्रह्म-सागर में जाकर विलीन होती हैं—'सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।'

आज देश में धार्मिक विद्वेष की बड़ी धूम है। इतनी धूम है कि राजनीतिक आन्दोलन का प्रवाह भी शिथिल-प्राय हो गया है। धार्मिक झमेलों के कारण राष्ट्रीयता का मार्ग अवरुद्ध-सा हो रहा है। भारतीयता और सद्भाव का लोप-सा हो गया है। यदि भारतवर्ष की कुछ दिनों तक ऐसी ही दशा रही, तो उसकी पराधीनता अमर हो जायगी, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु धार्मिक विद्वेष की ज्वाला दिन-दिन धधकती ही जा रही है, उसके शान्त

होने की कोई सूरत नजर नहीं आती। ऐसे संकट के समय में परमहंसदेव के विचारों का प्रचार ही अभीष्ट है।

बड़े खेद और लज्जा की बात है कि हिन्दी में परमहंसदेव की न तो कोई अच्छी जीवनी[१] अभी तक निकली है, और न उनके उज्ज्वल विचार-रत्नों से हिन्दी का भाण्डार ही भरा गया है। तुलसीदास की रामायण की तरह हिन्दी-संसार के घर-घर में उनके विचारों का प्रचार होना चाहिए। हिन्दी इस समय राष्ट्रभाषा के सर्वोच्च सिंहासन पर आरूढ़ होने जा रही है, भारत के कोने-कोने में उसका प्रचार बढ़ रहा है, हिन्दी-भाषा-भाषियों की संख्या भी अधिक है; ऐसी दशा में परमहंसदेव की एक बृहत् जीवनी और उनके अमृतमय उपदेशों का सर्वाङ्गपूर्ण संग्रह हिन्दी में प्रकाशित होने की परम आवश्यकता है। इनके सुलभ संस्करणों के प्रकाशित करने का पुण्य लूटना हिन्दी के बड़े-बड़े प्रकाशकों का कर्त्तव्य है।

मायावती (अल्मोड़ा) के अद्वैताश्रम से अँगरेजी में परमहंसदेव की एक बृहत् जीवनी हाल ही में प्रकाशित हुई है। उस ७६५ पृष्ठों की जीवनी के आरम्भ में वर्त्तमान संसार के सर्वश्रेष्ठ महापुरुष 'महात्मा गांधी' ने अपना एक बहुत ही छोटा-सा प्राक्कथन लिखा है। उस छोटे-से वक्तव्य में महात्मा जी लिखते हैं—

"रामकृष्ण परमहंस की जीवनी व्यावहारिक धर्म की गाथा है। उनकी जीवनी हमें ईश्वर के सम्मुख उपस्थित करती है। निश्चित रूप से यह धारणा स्थिर किये बिना कि केवल ईश्वर ही सत्य है और उसके सिवा सब कुछ मिथ्या माया है, उनकी जीवन-गाथा कोई पढ़ नहीं सकता। उनमें प्रत्यक्ष देवत्व था। उनकी बातें साधारण विद्वानों की-सी नहीं हैं, उनमें संजीवनी-शक्ति भरी हुई है; क्योंकि उनसे उनके व्यक्तिगत अनुभव का रहस्योद्घाटन होता है। इसी से पाठकों पर उनका अमिट प्रभाव पड़ता है। इस तार्किक युग में रामकृष्ण उज्ज्वल और सजीव ईश्वर-भक्ति का वह आदर्श उपस्थित करते हैं, जो उन सहस्र-सहस्र नर-नारियों को शान्ति वितरित करनेवाला है, जिनका हृदय अबतक आध्यात्मिक ज्ञान के प्रकाश से आलोकित नहीं हो सका है। रामकृष्ण की जीवनी अहिंसा-धर्म का वस्तु-पाठ पढ़ाती है। उनका प्रेम अनन्त है। भगवान् करें, उनका ईश्वर-प्रेम प्रत्येक जीवनी-वाचक के हृदय में प्रबुद्ध हो।"

इस मास में श्रीरामकृष्ण की जयन्ती मनाई गई है, इसलिए उनकी स्तुति करके कृतकृत्य होने के लिए, मैंने एक अवतारी महापुरुष का किंचित् गुण-गान करके अपनी वाणी सफल की है।

—मासिक 'समन्वय' (कलकत्ता); वर्ष ४, अङ्क ३,
चैत्र, १९८२ वि०, सन् १९२५ ई०

---

१. अब हिन्दी में परमहंसदेव की कई छोटी-बड़ी जीवनियाँ निकल गई हैं, उनके उपदेशों के संग्रह भी कई छपे हैं। —ले०

दीनबन्धु स्वामी विवेकानन्द

केवल एक शब्द और कुछ नहीं, बस एक ही शब्द—'प्रेम'—कह देने से स्वामी विवेकानन्द का परिचय पूर्ण हो जाता है। प्रेम ही उनका आराध्य था और प्रेम ही उनका ध्येय था। उनका देश था प्रेम, उनका समाज था प्रेम और उनका भविष्य था प्रेम। उनके भावों की भागीरथी प्रेम-पर्वतेश्वर से निकलती थी। उनके नयनों की गंगा प्रेम-सागर में लीन होती थी। उनका धर्म था प्रेम, ईमान था प्रेम—वेद था प्रेम—इष्ट था प्रेम—सन्देश था प्रेम और जीवन का मूलधन था प्रेम। उनकी वाणी में, दृष्टि में, चिन्ता में, स्मृति में, कल्पना में—प्रेम के सिवा और कुछ न था। महात्मा कबीरदास का यह दोहा अक्षरशः सार्थक था—

"कबिरा प्याला प्रेम का, अन्तर लिया लगाय।
रोम-रोम में रमि रहा, और अमल क्या खाय!"

स्वामी जी का इतना ही परिचय यथेष्ट है। उनके विचारों की पवित्रता पर ध्यान देने से यह कहने के लिए विवश हो जाना पड़ता है कि वे गंगा से भी पवित्र थे। उनके सिद्धान्तों की महानता पर जब ध्यान जाता है, तब नगराज हिमालय भी रजकण प्रतीत होता है। उनके विशद ग्रंथों का अवलोकन करने पर जान पड़ता है कि यदि अन्यान्य ग्रंथों को ताक पर रखकर केवल उन्हीं की उपदेशामृत-लहरी में अवगाहन किया जाय, तो मानव-जीवन अनायास सफल हो सकता है। उनकी भावुकता का मर्म समझने पर सहृदय-हृदय की मुग्धता भी पुलकित हो उठती है, उनके उदार उद्देश्यों को हृदयंगम करने पर हृदय की विशालता इतनी बढ़ जाती है कि अनन्त आकाश के छोर भी उसे बाँध नहीं सकते।

उनके उद्गारों में जो करुणा है, उससे प्रत्येक मनुष्य का हृदय शीतल और मन शान्त हो सकता है। उनके मर्मतलस्पर्शी वाक्यों में यही ओजस्विनी प्रतिध्वनि भरी हुई है, जो रणभेरी-निनादित शंखध्वनि-मुखरित कुरुक्षेत्र में कमल-दलायत-लोचन पार्थ-सारथी कर्मयोगी कृष्ण की दिव्यवाणी से प्रकट हुई थी।

स्वामीजी के हृदय में शान्ति की सरिता बहती थी। उसके तीर पर करुणा की कुटी थी। उसमें विश्व-प्रेम तपस्या करता था—निष्काम सेवा उसकी चिरसहचरी थी। सात्त्विक साधना की दीपशिखा उस कुटी को आलोकित करती थी। भक्ति की प्रफुल्लित लतिका अपनी गोद में लेकर उस कुटी को भव-ताप से बचाती थी। आनन्द-समीरण सरिता के स्फटिकोज्ज्वल वक्षःस्थल पर खेलकर कुटी में विश्राम करता था।

स्वामीजी के अखण्ड ब्रह्मचर्य-प्रदीप्त तेजस्वी मुखमण्डल पर प्रसन्नता खेलती रहती थी। उनके नेत्रों में जो अम्लानता और जगमगाहट थी, उनके धारा-प्रवाह भाषण में जो वशीकरण शक्ति थी, उनकी भाव-निमग्नता में जो अतुल गम्भीरता थी, वह भारत की एक ऐसी सम्पत्ति थी, जो अब कहीं देखने को भी नहीं मिल सकती। हाँ,

स्वामी जी का भौतिक शरीर परम पद को प्राप्त हो चुका है—उनकी निर्लिप्त आत्मा ब्रह्मानन्दसागर में निमग्न हो चुकी है—किन्तु, उनके जीवन का सार—हृदय की पूँजी—साधना की पिटारी—तपस्या की सफलता—विचारों की विभूति—बृहत् ग्रंथावली के रूप में, आज भी, लोक-लोचन के समक्ष है। उनके हृदय में कितनी ज्वलन्त देशभक्ति थी, अछूतोद्धार की कितनी प्रबल उत्कंठा थी, भारतीय गौरव का कितना अखण्ड अभिमान था, दलित जातियों के प्रति कितनी गहरी सहानुभूति थी, और दरिद्र-नारायण के वे कैसे अनन्य उपासक थे—यह यदि देखना हो, तो उनकी ग्रंथावली-गंगा के स्वर्गीय स्रोत में अवगाहन कीजिए,—मनोमल धुल जायगा। सांसारिक सन्ताप मिट जायगा, मानसिक विषमता दूर हो जायगी,—मस्तिष्क शान्त, चित्त शीतल, इन्द्रियाँ कृतार्थ और आत्मा तृप्त हो जायगी।

स्वामीजी ने अपने मद्रास के भाषण में एक जगह कहा है—"ऐ भारतीय नवयुवको, अपनी शक्ति पर विश्वास करना सीखो। अपनी शारीरिक शक्ति की वृद्धि करो। अंग-प्रत्यंग को लोहे की तरह मजबूत बनाओ। इस समय भारत को तुम्हारे-जैसे क्षीणवीर्य्य निस्तेज नवयुवकों की आवश्यकता नहीं है। दुर्बलता घोर पाप है। कापुरुषता को विष के समान त्याग दो। शक्ति ही जीवन है। शक्ति ही धर्म है। अतएव, शक्तिशाली बनो, प्रचण्ड बनो, वीर बनो, साहसी बनो, विजयी बनो। भारत का उद्धार करो। मेरी बातें मानो। मैंने समस्त भारत में भ्रमण करके अनुभव किया है,—कायरता ही सारी दुर्दशाओं की जड़ है। मैं स्वदेश को प्यार करता हूँ। मैं तुम्हें दुर्दशाग्रस्त नहीं देख सकता। अब इससे अधिक तुम्हारा अधःपतन मुझसे देखा न जायगा। मैं गला फाड़कर कहता हूँ, सम्हलो। सहृदयतापूर्वक अनुभव करो। तुम्हारे अन्दर उत्साह है, प्रेम है। प्रेम ही संसार की सारी कठिनाइयों को हल कर देगा। ऐ मेरे प्यारे देश के भावी देशभक्तो! क्या तुमने कभी अनुभव किया है कि तुम्हारे ही करोड़ों दलित भाई कुत्तों और कीड़ों की मौत मर रहे हैं? क्या तुमने कभी यह सोचा है कि अज्ञानता की काली घटा सारे देश पर क्यों छा रही है? क्या यह सोचकर तुम कभी अधीर हुए हो? क्या इस चिन्ता से तुम्हारी नींद कभी हराम हुई है? क्या इस चिन्ता में डूबकर तुम कभी अपना परिवार—अपना धन—अपना अस्तित्व—भूल सके हो? क्या ऐसा एक बार भी कभी नहीं हुआ है? तब फिर तुम कैसे देशभक्ति का दम भर सकते हो? अपने दुःखी देश-भाइयों के लिए अपना अस्तित्व मिटा देना ही तो सच्ची देशभक्ति है!"

देखा आपने? कितनी प्रगाढ़ देशभक्ति है? कैसी सच्ची सहानुभूति है? फिर देखिए, कुम्भकोणम् में वेदान्त का सन्देश सुनाते हुए स्वामीजी एक जगह क्या कहते हैं—"मैंने पाश्चात्य देशों में देखा है कि यूरोप और अमेरिका के लड़कों में प्रकाण्ड आत्मशक्ति और सुदृढ़ आत्मविश्वास भरा हुआ है। आत्मगौरव उन्हें प्राणों से भी प्यारा है। वे कहा करते हैं कि हम जो चाहें सो कर सकते हैं, हमारी दुर्धर्ष इच्छा-शक्ति में कोई बाधा नहीं डाल सकता। किन्तु हमारे देश के लड़के क्या ऐसा कह सकते हैं? लड़कों की तो बात ही क्या, यहाँ के लड़कों के बाप भी ऐसा नहीं कह सकते! अतएव, वेदान्त का यही सन्देश है कि

हृदय को बलवान् बनाओ। उठो, जागो, जागृति फैलाओ, मनुष्यता प्राप्त करो, भ्रातृत्व का प्रचार करो, एकता और सजीवता ग्रहण करो। मित्रो, जब मैं अखबारों में पढ़ता हूँ कि हमारे एक गरीब भाई को एक किसी अँगरेज ने मार डाला अथवा उसके साथ दुर्व्यवहार किया, तब मैं बहुत रोता हूँ और अपने-आप से ही प्रश्न करता हूँ कि इसके लिए जवाबदेह कौन है ? अन्तरात्मा प्रत्येक बार यही उत्तर देती है कि इन सारे अपमानों और अनर्थों के मूल कारण हमीं हैं—सारा दायित्व हमारे ही ऊपर है। अँगरेजों का कोई दोष नहीं। अपनी ही करनी से हम अधःपतित और पीड़ित हो रहे हैं। हम वास्तव में शक्ति-सामर्थ्य-शून्य होकर पशुत्व से भी नीचे गिर गये हैं। हमारी असली शक्ति खो गई है। हमने अपने ही प्यारे भाइयों को कुचल डाला है। उन्हें हम एकदम भूल-ही गये हैं। उनके लिए हमारे हृदय में नाममात्र भी सहानुभूति नहीं है। हमारी राष्ट्रीय शक्ति का संहार हो गया है। अतएव, प्यारे मित्रो, अपने असहाय भाइयों की खबर लो। वे अविद्या के अंधकार में भटक रहे हैं। वे अन्न और वस्त्र के अभाव से नरक के कष्ट भोग रहे हैं। उन्हें शिक्षा दो, सहायता दो, गले लगाओ, उबारो, अपनाओ, वे तुम्हारे हैं, उन्हें मत भूलो—मत छोड़ो। बलिष्ठ बनकर खड़े हो जाओ, अमोघ इच्छाशक्ति के साथ कर्त्तव्य-क्षेत्र में डट जाओ, आलस्य छोड़ दो, बहुत सो चुके, आँखें खोलो, कठिनाइयों का दमन करना सीखो, सफलता के लिए सहर्ष मृत्यु का आलिंगन करो। यही उन्नति का मूल मंत्र है। यही उत्थान का रहस्य है। यदि अपने तेंतीस करोड़ देवताओं (देशबन्धुओं) में प्रेम रखकर भी तुम अपनी शक्ति पर विश्वास नहीं करते, तो समझ लो कि तुम्हारे लिए मुक्ति बनी ही नहीं—तुम उसके पात्र ही नहीं, तुम्हारे लिए वह सर्वथा दुर्लभ है।"

स्वामीजी प्रायः भारत के गरीबों के कष्टों का स्मरण करके रोया करते थे। कभी व्याख्यान देते-ही-देते भावुकता उमड़ आती थी। कभी पर्वत की शिला पर एकान्त स्थान में बैठकर ही अपने देश-भ्राताओं के लिए रोया करते थे। कभी जंगल में ही ध्यानस्थ होकर स्वदेश की मुक्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना किया करते थे। उनके दिल में देश के लिए जितना दर्द था, उसका अन्दाज लगाते हुए लोग यहाँ तक कहते हैं कि स्वामीजी स्वदेश की स्वतंत्रता देखने की इच्छा से अभी मुक्त नहीं हुए हैं। इस किंवदन्ती में भले ही कुछ तथ्य न हो, पर इससे उनकी अपूर्व देशभक्ति की पर्याप्त सूचना मिलती है।

भारतीय स्त्रियों की हीन दशा पर आँसू बहाते हुए स्वामीजी कहते हैं—"अमेरिका की महिलाओं की अवस्था का ध्यान रखते हुए जब मैं भारतीय महिलाओं की दशा पर विचार करता हूँ तब मुझे अवाक् हो जाना पड़ता है। वहाँ की स्त्रियाँ वीर-माता और वीर-वधू हैं। उन्हें अपनी शक्ति पर पूर्ण विश्वास है। अपने हित की बातों में वे पूर्ण स्वतंत्र हैं। सफाई और तन्दुरुस्ती की वजह से वे प्रसन्नता और आनन्द की मूर्त्ति बनी फिरती हैं। किन्तु हाय, हमारे देश की लड़कियाँ तो किशोरावस्था से पहले ही बच्चे की माँ बन जाती हैं! उफ! हम कितने भयंकर पापी हैं! स्त्रियों को 'नरक का द्वार' कहकर हमने अपने अधःपतन की हद कर दी है। हे भगवन्! हमें सुबुद्धि दो, हम अपनी

देवियों का—देशमाताओं का—भगिनियों का—आदर करना सीखें, उनका वास्तविक मूल्य समझें, ताकि भारत की भावी संतान सुयोग्य और दीर्घायु हो।"

क्या इस तरह किसी संन्यासी के मुख से आपने स्त्रियों की प्रशंसा कभी सुनी थी ? क्या इससे उस महात्मा के शुद्ध हृदय की सरलता और सत्यता का पता नहीं लगता ? कितना प्रशस्त भाव है ! कैसा विशद विचार है ! घृणा का कहीं पता भी है ? निन्दा का कोई एक भी कलुषित शब्द है ? नहीं, बिल्कुल नहीं, यहाँ तो सृष्टि ही निराली है, आद्यन्त अलौकिकता भरी हुई है, स्वर्ग के सिवा नरक की चर्चा ही नहीं है। धन्य !!!

वर्त्तमान भारत के हिन्दुओं की धार्मिक संकीर्णता पर हार्दिक खेद प्रकट करते हुए स्वामीजी ने कहा है—"हिन्दुओं का धर्म न तो अब वेद में रहा, न पुराणों में रहा और न भक्ति तथा मुक्ति में ही रहा। तो फिर रहा कहाँ ? बस, चूल्हे-चौके में ! कियो तीन तेरह सबै, चौका-चौका लाय।' आजकल सिर्फ छुआछूत में ही धर्म समाया हुआ है। उसीमें धर्म की परिभाषा और व्याख्या समाप्त है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का भाव केवल पोथियों के अन्दर पड़ा हुआ सड़ रहा है। जो भूखे के मुख में ग्रास नहीं डाल सकते, वे 'धर्म-धर्म' चिल्लाकर कैसे मुक्त हो सकते हैं ? जो दूसरों के स्पर्श से स्वयं अशुद्ध हो जाते हैं, वे भला दूसरों को क्या शुद्ध करेंगे; छुआछूत एक प्रकार का मानसिक रोग है। औदार्य ही जीवन है—संकीर्णता ही मृत्यु है। प्रेम से हृदय-क्षेत्र का विस्तार होता है और स्वार्थान्धता से संकोच तथा ओछेपन की वृद्धि होती है। दूसरों के दुःख से दुःखी होने का सौभाग्य सबको नहीं प्राप्त होता। इसलिए, दीन-दुखियों से प्रेम करना सीखो। वे ही प्रेम और करुणा के उपयुक्त पात्र हैं। जो अति अस्पृश्य हैं, पद-दलित हैं, बहिष्कृत हैं, निन्द्य हैं अथवा हमारी नासमझी और बदकिस्मती से चाहे जो कुछ हैं, पर हैं वे वस्तुतः हमारे ही हृदय के टुकड़े—हमारे ही रक्त के बिन्दु—हमारे ही खोये हुए रत्न ! अब तक अछूत रहे तो क्या, अब वे स्वदेश के सपूत हैं। उन्हें अपूत या कपूत न समझो, दिल खोलकर गले लगाओ, प्रेम के आँसुओं से उनकी मलिनता धो डालो, उन्हें समानता का अधिकार दो, वे ही तुम्हारे उद्धार-पथ के कुसुमास्तरण हैं।"

सर्वसाधारण जनता की ओर देशहितैषियों का ध्यान आकर्षित करते हुए स्वामीजी कहते हैं—"आह ! भारत में भेद-बुद्धि की कैसी प्रबलता है। किसी में पारस्परिक सहानुभूति नहीं। स्वार्थ ने सबको पिशाच बना डाला है। भाई की गरदन भाई काट रहा है ! 'अमीर' और 'गरीब' दो जातियाँ बन गई हैं ! जो अमीर हैं, वे मदान्ध, विलासी, अपव्ययी, व्यसनी, कुटिल और क्रूर हैं। उन्हें, किसी की तो क्या, अपनी भी खबर नहीं है। जो गरीब हैं वे त्रस्त हैं, भूखे हैं, नंगे हैं, असहाय हैं ! वे ही बेचारे प्लेग और हैजे के शिकार होते हैं। वे ही अन्याय और अत्याचार के पात्र हो रहे हैं ! उनकी कोई बात भी नहीं पूछता। भगवान् के भरोसे वे किसी-किसी तरह जीते हैं, यही उनके लिए काफी है। हा ! जिनका रक्त चूसकर लोग 'बाबू' और 'मिस्टर' बने फिरते हैं, जिन्हें चक्की में पीसकर लोग लखपती और करोड़पति बने हुए हैं, जिनके पसीने की कमाई से शिक्षा पाकर लोग मौज उड़ाते फिरते हैं, उन्हीं की ऐसी दयनीय

दशा ? शोक ! महाशोक !! हम कितने बड़े धोखेबाज हैं ? दरिद्रता और मूर्खता के गढ़े में गिरे हुए अपने सगे भाइयों की ओर से मुँह मोड़ लेना हमारे लिए कितनी बड़ी लज्जा की बात है ! उफ ! शोक की ज्वालाओं से शरीर जल रहा है ! कैसा घोर अनर्थ है ! जो ईश्वर नजर नहीं आता, उसके लिए हम पचासों तरह के ढकोसले करते हैं, पर दिन-रात आँखों के सामने रहनेवाले प्रत्यक्ष भगवान् की विराट् मूर्त्ति देखकर भी हमें होश नहीं होता ! हम कैसे भीषण अज्ञान-सागर में गोते लगा रहे हैं ! मित्रो, विवेक-बुद्धि से काम लो, घर-घर ज्ञान की रोशनी पहुँचाओ, प्रत्येक झोपड़ी के द्वार पर प्रेम और ज्ञान का सन्देश सुनाओ, पतितों को ऊँचा उठाने का उद्योग करो, उनकी भलाई के लिए ईश्वर से प्रार्थना करो, वह परम पिता तुम्हारा कल्याण करेगा ।"

स्वामीजी की बातों पर टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं । अतएव आधुनिक भारतवर्ष पर स्वामीजी के विचारों का सार-मात्र देकर उन्हीं की प्रार्थनाओं के साथ मैं इस लेख को यहीं समाप्त करता हूँ । —"ऐ भारतवासियो ! दूसरों की नकल करके, दूसरों पर आश्रित रहकर, नपुंसकता और निर्दयता को आश्रय देकर, क्या तुम सभ्यता के शिखर पर चढ़ना चाहते हो ? क्या वीरभोग्या वसुन्धरा को गीदड़ बनकर भोगना चाहते हो ? याद रखो, जिन देवाधिदेव महादेव की तुम पूजा करते हो, वे शंकर भी सर्वस्व-त्यागी यतीश्वर हैं । अतएव त्यागी बनो, वासनाओं को छोड़ो, धन और विवाह के प्रलोभन से बचे रहो, सांसारिक और व्यक्तिगत सुखों को सदा के लिए भूल जाओ । किन्तु यह हरगिज न भूलना कि हमें मातृवेदी पर बलि चढ़ना है, यह न भूलना कि भंगी और चमार तथा गँवार और गरीब हमारे ही भाई हैं, यह न भूलना कि हम भारतीय हैं और प्रत्येक भारतीय हमारा भाई है । बोलो, जोर से बोलो, गरजकर बोलो—मूर्ख या दरिद्र, ब्राह्मण या शूद्र, प्रत्येक भारतीय हमारा प्यारा भाई है; अभिमान के साथ उच्च स्वर से बोलो—प्रत्येक भारतीय हमारा प्रिय बन्धु है—हमारा जीवन-धन है, भारत के नर-नारी हमारे नारायण हैं, भारतीय समाज हमारे शैशव का पलना है—युवावस्था का क्रीड़ोद्यान है—वार्द्धक्य की वाराणसी है, भारत की भूमि ही हमारा सर्वोच्च स्वर्ग है,—भारत का मंगल ही हमारा सर्वश्रेष्ठ मंगल है । दिन-रात, बारम्बार, यही रटो, यही जपो, हे जगदम्बे ! हे सर्वशक्तिमयी देवि ! हमें मनुष्यत्व दो, पौरुष और पराक्रम दो ।"

—मासिक 'समन्वय' (कलकत्ता) ; वर्ष ३, अंक २,
फाल्गुन, संवत् १९८० वि०, सन् १९२३ ई०

[२]

युगप्रवर्त्तक स्वामी विवेकानन्द

प्रत्येक जाति में ऐसे कुछ प्रतिभाशाली लोग पैदा हुआ करते हैं, जो मनुष्य-समाज और उसकी सभ्यता पर अपनी गहरी छाप छोड़ जाते हैं—धर्म, समाज, राष्ट्र और साहित्य में ऐसी नवीन शक्ति का संचार कर देते हैं कि बहुत दिनों की जड़ता और शिथिलता दूर हो जाती है। ऐसे प्रतिभाशाली लोग प्रचण्ड तेज के साथ मानव-लोक में अवतीर्ण होकर अपनी असाधारण शक्ति से धर्म और समाज के अन्दर एक प्रकार के विप्लव की सृष्टि कर डालते हैं। प्राचीन ध्वंसावशेष के मध्य से एक सुगम नवयुग-पथ निकालकर मार्गभ्रष्ट जनों को पथ प्रदर्शित करते हैं। किन्तु ऐसे महापुरुष शताब्दियों में एक-दो से अधिक अवतीर्ण नहीं होते।

वर्त्तमान भारत में, उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में, एक ऐसे ही महापुरुष का आविर्भाव हुआ था। उनका शुभ जन्म ऐसे समय में हुआ था, जब कि भारतवासी घोर अन्धकार में भटक रहे थे, कोई सहायक नहीं सूझता था, कोई उद्धार का मार्ग देख नहीं पड़ता था। उन्होंने अज्ञान के उस गाढ़े अन्धकार में अपनी अमृतमयी दिव्य वाणी का ऐसा प्रखर प्रकाश फैलाया कि संसार की आँखें चकित हो उठीं। यह भारत के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

उन दिनों हमने भारतीय सभ्यता का अमृत त्याग कर पाश्चात्य सभ्यता का हलाहल पान करना आरम्भ कर दिया था; जिसके फलस्वरूप आत्मविस्मृत-से होकर हम स्वदेश की सत्ता और महत्ता को खोते चले जाते थे। पाश्चात्य सभ्यता के चाकचिक्य ने हमारे नेत्रों में ऐसा चकाचौंध डाल दिया कि भारतीयता से हम कोसों दूर भागते हुए चले गये। किन्तु धन्य है वह समय, जब कि रुद्र-तेज के साथ आविर्भूत होकर स्वामी विवेकानन्दजी ने उस पतन की बाढ़ के तीव्र प्रवाह को आध्यात्मिकता के मजबूत बाँध से एकाएक रोक दिया। उन्होंने हमारी आँखों पर बँधी हुई अज्ञानता की पट्टी खोल दी और सामने फैले हुए उज्ज्वल प्रकाश की ओर इंगित करके कहा—

"देखो, तुम हीन नहीं हो, असमर्थ नहीं हो, कायर-कपूत नहीं हो, दुर्बल और निस्तेज नहीं हो; अमृत-सन्तान हो, सुविशाल आर्य-सभ्यता के गौरव के महान् अधिकारी हो, आध्यात्मिक तेज के केन्द्र हो। अपने-आपको पहचानकर उठ खड़े हो, केवल आत्मविस्मृति के कारण तुम्हारी यह दुर्दशा हो रही है।

"उन्होंने भीम-भैरव हुंकार से, वज्रनिर्घोष कण्ठ से, घोषणा कर दी—"उठो, जागो, संसार में अपने पूर्व गौरव की प्रतिष्ठा स्थापित करो। तुम्हारी सभ्यता अमर है, विश्व-संसार के मनुष्यों को आज भी—इस हीन दशा में भी—अध्यात्म का अमृत पिलाने के लिए भारत में पर्याप्त शक्ति मौजूद है।"

अहा! वह कैसा सौभाग्य-दिवस था, जिस दिन श्रद्धालु शिष्य-गोष्ठी को उन्होंने

श्रीमद्भगवद्गीता के इस बीजमंत्र से दीक्षित करके अपना जाज्वल्यमान रूप प्रदर्शित किया था—

"क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥"

इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने ही कहा था—'तुम ब्रह्म हो, अनन्त शक्तिशाली हो, समस्त पवित्रता और गुणों तथा शक्तियों के आधार हो—यही वेदान्त का सन्देश है। तुम मोह के आवेश में अपने-आपको भूलकर, अपने को दुर्बल और पापी तथा हीन समझकर कातर एवं क्लीव हो गये हो। किन्तु यह तुम्हें शोभा नहीं देता। तुम अपने को क्षुद्र समझकर भयभीत हो गये हो; यह भय ही सब पापों का मूल है। अभय का मंत्र उच्चारण करो, हृदय की दुर्बलता का त्याग करके सम्मुख उपस्थित हुए संकटों का सामना करो, युद्ध की धार पर जा डटो, यही आर्य-धर्म है, यही मानव-धर्म है।"

इसी प्रकार, स्वामीजी के किसी भी भाषण या लेख को उठाकर पढ़ जाइए। सबमें जगत् के कल्याण-साधन के निमित्त वही उच्चतम आह्वान सुन पड़ेगा। अपने गुरु समन्वयाचार्य भगवान् श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव की शान्ति-वाणी का प्रचार करके समस्त जगत् को उद्बुद्ध करना ही उनके जीवन का व्रत था। इसीलिए, जहाँ-कहीं, जिस-किसी विषय पर, बोलते या लिखते थे, सर्वत्र, सर्वदा, संसार के सभी धर्मों और जातियों में ऐक्य स्थापित करने पर ही विशेष जोर देते थे—इसीमें उन्हें विश्व का मंगल दृष्टिगोचर होता था—इसी आवाज को बुलन्द कर वे संसार में भारतीय सभ्यता की महत्ता का झण्डा फहराना चाहते थे।

विश्व-हितैषणा के साथ-ही-साथ उनके हृदय में अपने स्वदेश के कल्याण की भी बड़ी सच्ची और पक्की लगन थी—इसकी चिन्ता में वे कभी-कभी सजल नेत्र होकर आर्त्तवाणी से ईश्वर से प्रार्थना करने लगते थे। जैसे पाश्चात्य देशों में वेदान्त के सन्देशों का मर्म प्रचारित कर वे भौतिक सुख की लिप्सा में लिप्त जातियों की मनुष्यता को ऊँचे स्तर तक उठाना चाहते थे। वैसे ही मोह-मुग्धान्ध भारत में 'नर-नारायण-सेवाधर्म' का प्रचार कर प्रसुप्त राष्ट्र को प्रबुद्ध करने की चेष्टा किया करते थे।

भारत में जब-कभी, जहाँ-कहीं, भाषण देते थे, सब जगह, सदैव स्वदेश-बन्धुओं को हृदय के अन्तरतम प्रदेश से प्रेमपूर्वक सम्बोधित कर—अपने कण्ठ-स्वर को द्रवित हृदय के रस में घोलकर—अपने मर्मस्पर्शी शब्दों को प्रेमाश्रु की अमृत-धारा से सींचकर—कहा करते थे कि 'देश के कोटि-कोटि दरिद्र-नारायणों को गले लगाओ—मन्दिरों और मूर्त्तियों में नहीं, देश के असंख्य दरिद्रदेवों के कंकालों में उस नारायण को ढूंढो; अनाथों और क्षुधितों के आश्रय-दान से ही वह जगदाधार परितृप्त होता है।'

स्वामीजी के इस उच्चतर आह्वान में ही उनके अगाध स्वदेश-प्रेम और स्वदेशाभिमान की विद्युच्छटा छिपी हुई है। ऐसा गम्भीर स्वदेश-प्रेम-ज्वालामुखी-प्रस्फोट के विशाल उदर में धधकती हुई अग्नि-ज्वाला के समान प्रदीप्त ज्वालामय स्वदेश-प्रेम—किसी भारतवासी के हृदय में देखने में नहीं आता।

सबसे पहले उन्होंने ही अपने स्नेह-सहानुभूतिपूर्ण हृदय का कंचन-कपाट खोलकर दिखलाया कि उसमें देश के लाखों-करोड़ों अनाथ-दीन-दरिद्रों के लिए कैसा ज्वलन्त प्रेम है। उन्होंने ही दरिद्र-नारायण और दलित अस्पृश्य भारत-वासियों की सेवा के लिए आत्मोत्सर्ग करने का अमोघ मंत्र देश के नवयुवकों के कानों में, करुणापूर्ण कण्ठ-ध्वनि के साथ, भर दिया—स्पष्ट घोषित कर दिया कि 'देश के लक्ष-लक्ष दरिद्र ही वास्तव में नारायण के असली रूप हैं—उन्हीं की तृप्ति से भगवान् की तृप्ति होगी, वे ही परमात्मा के सच्चे वर-पुत्र हैं वे ही जगदम्बा की गोद के अनमोल लाल हैं, उन्हीं की सेवा से आदिशक्ति सन्तुष्ट होगी।'

उनका यह त्याग और सेवा का महामंत्र जातीय जीवन के समस्त विभागों में प्रवेश करके आज भी देशानुरागियों को अनुप्राणित कर रहा है।

आज जो देश में हम नवजीवन का संचार देख रहे हैं, समाज में नवीन शक्ति का उद्गम तथा वेग अनुभव कर रहे हैं, सेवा और त्याग के मध्य से होकर देश और जाति को आत्म-प्रकाश के आदर्श की ओर अग्रसर होते देख रहे हैं, सो सब स्वामीजी के युगान्तर कारी महान् संदेश का परिणाम है।

अभी चौबीस ही वर्ष हुए कि सारे संसार में भारतीय सभ्यता की विजय-वैजयन्ती फहराकर, भूमण्डल में भारतीय दर्शन-शास्त्र की दिग्विजय-दुन्दुभि बजाकर, स्वामीजी लोचनान्तराल की ओट में अनन्त समाधि-निमग्न हुए हैं; किन्तु आज भी भूमण्डल के रंगमंच पर वही भव्य नाटक हो रहा है, जिसका सूत्रपात उनके ओजस्वी भाषणों ने किया था। आज जितने प्रकार के आन्दोलन देश में नजर आते हैं, सबके मूल तत्त्वों की व्याख्या बहुत पहले से ही स्वामीजी कर चुके हैं। देश, जाति, समाज, धर्म, साहित्य—सबके उद्धार और उत्थान के लिए उन्होंने मार्ग निर्दिष्ट कर दिये हैं।

आज जो सेवा-समितियाँ देश में लोकसेवा का कार्य कर रही हैं, उनके उद्देश्य और रूप पर स्वामीजी ने बहुत पहले ही अपने विचार व्यक्त कर दिये थे, जिनके अनुसार आज भी कई लोक-सेवा-कारिणी संस्थाएँ देश में शांत भाव से अपना काम करती जा रही हैं। पुनः अछूतोद्धार का जो आन्दोलन आज आरम्भ हुआ है, उसका सूत्रपात भी स्वामीजी ने बहुत पहले ही कर दिया था। अछूतों और गरीबों के लिए उनके हृदय के अन्दर कितना प्रेम और सहानुभूति का भाव भरा हुआ था, यदि इसका विस्तृत वर्णन किया जाय, तो एक खासा पोथा तैयार हो सकता है।

इसी प्रकार, आज कल का पल्ली-संस्कार, शिक्षा-विस्तार आदि गठनमूलक आन्दोलनों का मार्ग भी उन्होंने बहुत पहले से ही निर्दिष्ट कर दिया था। हिन्दूजाति, हिन्दू-समाज, हिन्दू-धर्म और हिन्दू-सभ्यता पर उन्होंने जैसे ऊँचे दर्जे के भाव व्यक्त किये हैं, वैसे अब कहीं देखे-सुने भी नहीं जाते। उनके हिन्दुत्व की मर्यादा देखकर अनायास गर्व हो आता है। वास्तव में ऐसे अद्भुत दूरदर्शी महापुरुष देश और जाति के चूडान्त सौभाग्य के चिह्न हैं।

आज भी हम देखते हैं कि स्वामीजी के सन्देशों ने पाश्चात्य जगत् में कैसा अद्भुत युगान्तर उपस्थित कर दिया है। हिन्दूधर्म के अमृत-फल से निकले हुए शान्ति-शीतल

रस के प्यासे अधरों की तृषा शान्त करने के लिए स्वामीजी ने देश-देशान्तर की कैसी कैसी खाक छानी है, यह तभी समझ में आ जाता है, जब हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि भौतिक प्रपंच से व्याकुल पश्चिमी जातियों की दृष्टि अपार समुद्रों के पार बसे हुए भारत की ओर टकटकी बाँधे हुई है। तब हमें और भी दृढ़ रूप से विश्वास होता है कि यह विचार-क्रान्ति—यह युगान्तर-प्रवाह—बस स्वामीजी के अक्लान्त परिश्रम का ही फल है। फलतः उन्होंने अपने ही देश के अन्दर युगान्तर की लहर नहीं उमड़ाई; बल्कि उसका प्रवाह सारे संसार में फैलाकर मानव-जीवन के उद्देश्यों से विमुख जातियों के जीवन-मरुस्थल को उर्वर बना दिया।

—मासिक 'समन्वय', वर्ष ५, अंक १, माघ, १९८२ वि०, (सन् १९२५ ई०)

हजरत इमाम हुसेन साहब[1]

संसार इस सत्य से परिचित है कि अरब के पैगम्बर हजरत मुहम्मद साहब के पहले अरब-निवासी मनुष्यत्व से बहुत ही नीचे गिरे हुए थे। हजरत मुहम्मद साहब ने प्राण-पण से प्रयत्न करके और अत्यन्त दुःख झेलकर उन अरबों को पतितावस्था से उठाया, तथा मनुष्यत्व के उस उच्च आदर्श तक पहुँचाने की चेष्टा की, जहाँ पहुँचकर वे दूसरे देशवालों को भी आध्यात्मिक उन्नति का संदेश दे सकें। यह आपकी अद्भुत दिव्य शक्ति का ही चमत्कार था कि आपने बीस वर्षों की अवधि में ही अरबों का कायाकल्प कर दिया—उनके जीवन की धारा पलट दी, उनके जीवन का आदर्श ऊँचा कर दिया। इससे उनका बौद्धिक विकास हुआ, उनकी आध्यात्मिक शक्ति बढ़ी, उनमें नवजीवन का संचार हुआ। इस प्रकार समस्त अरब की काया पलट गई।

हजरत मुहम्मद साहब के पहले अरब के निवासी सदा पारस्परिक कलह में ही लीन रहते थे। वे इतने अशिक्षित और असभ्य थे कि घर में कन्या की उत्पत्ति को घोर विपत्ति समझते थे, इसलिए वे कन्याओं को जीते-जी दफना देते थे। नारी-जाति की यह दुर्दशा देखकर आपने स्त्रियों के अधिकारों की रक्षा के लिए ऐसे विधानों की सृष्टि की, जिनसे अबला-समाज पुरुषों के क्रूर अत्याचार से मुक्त हो गया। जहाँ स्वच्छन्दतापूर्वक बलात्कार हुआ करता था, वहाँ स्त्रियों का महत्त्व समझा जाने लगा। जहाँ पूँजीपतियों का बोलबाला था, जहाँ समाज में कुलीनता का अहंकार छा रहा था, वहाँ आपने समता और बन्धुत्व की स्थापना कर दी। जहाँ ईश्वर का नाम भी नहीं सुन पड़ता था, वहाँ ईश्वरानुराग की धारा बहा दी। जहाँ लोगों में स्वार्थ की प्रबलता थी, वहाँ सबके हृदय में परोपकार और सहानुभूति की भावना भर दी। आपके उपदेशों के प्रभाव से अरबों का जीवन-क्रम ही बदल गया। अब उनके जीवन पर ईश्वरभक्ति और लोकसेवा, त्याग और सादगी, नम्रता और सचाई, दया और सहिष्णुता का रङ्ग चढ़ गया।

---

१. सन् १९४२ ई० में २८ जनवरी को आपकी १३००वीं जयन्ती मनाई गई थी।—ले०

किन्तु मनुष्य में जो पशुता है, वह अधिक दिनों तक शुभ प्रवृत्ति को टिकने नहीं देती। ज्यों ही मनुष्य सत्कार्य में प्रवृत्त होता है, मानव-स्वभाव की दुर्बलताएँ सहसा उग्र रूप धारण कर उस पर आक्रमण कर बैठती हैं। इसलिए सदाचार के नियमों और सिद्धान्तों के संरक्षण के लिए सतत सावधान रहने के प्रयत्न की आवश्यकता होती है। पतन के पथ पर अग्रसर होने में मनुष्य के भीतर का पशुत्व बड़ा प्रचंड होता है।

वही दशा अरबों की हुई। वे पतन की ओर जाने लगे। उनकी सदाचारिता को पशुता दबाने लगी।

हजरत मुहम्मद साहब और पिछले चार खलीफों का युग बीत जाने के बाद जब उमैया-वंश का आधिपत्य हुआ, तब ऐसे-ऐसे राजाओं के हाथ में सत्ता आई, जो 'दुनिया की दौलत को दाँत से पकड़नेवाले थे'। परिणाम यह हुआ कि इसलाम-धर्म का रूप विकृत होने लगा। खिलाफत की गद्दी पर बैठकर उमैया-वंशी बादशाह मदिरा और मदिराक्षी का सेवन करने लगे, छल-कपट और मान-मत्सर के शिकार हो गये, दीन-दुखी जनों को सन्ताप देने लगे, पूंजीपतियों और चाटुकारों के हाथ के खिलौने बन गये; उनके दरबार में सत्य की प्रतिष्ठा लेशमात्र न रही, असत्य का तांडव नृत्य होने लगा। वे केवल नाम के मुसलमान थे, उन्होंने इसलाम के वास्तविक तत्त्व को सर्वथा विस्मृत कर दिया था।

उस समय सबसे बड़ा संकट यह उपस्थित हुआ कि कहीं वह जनता, जो हजरत मुहम्मद साहब के पवित्र जीवन को आदर्श मानती थी, फिर उसी पतन के गर्त्त में न गिर जाय, जिसमें से हजरत मुहम्मद ने बड़ी-बड़ी कठिनाइयों के बाद उन्हें निकाला था। यदि ऐसा होता, तो हजरत मुहम्मद साहब का सारा परिश्रम निष्फल हो जाता।

किन्तु जब यजीद सिंहासनारूढ़ हुआ तब परिस्थिति और भी भयावह हो गई। वह विषयी और मद्यप था। भोग-विलास में ही मत्त रहता था। दूसरे की पत्नी पर आसक्त होकर, अपने पति से उसका सम्बन्ध-विच्छेद कराकर, उससे अपनी दुर्वासना को तृप्त करना ही उसका ध्येय था। मदान्ध की तरह वह अपने प्रासाद-कक्ष से ईश्वर-भक्तों और असहाय दीनों पर घृणा एवं क्रोध की दृष्टि डालता था। पूज्य धर्म-ग्रन्थ पर मदिरा ढालकर उसे तलवार की नोक से छेदता था। नबी और पैगम्बर के उपदेशों तथा सिद्धान्तों का तिरस्कार और उपहास करना उसका स्वभाव हो गया था। वह कहा करता था—"मुहम्मद पर न तो कोई फरिश्ता (स्वर्गीय दूत) आया और न आसमानी पैगाम (स्वर्गीय सन्देश), यह तो उन्होंने प्रभाव जमाने का एक दम्भ रचा था।"

ऐसा मनुष्य अरब की सभ्यता और संस्कृति का संरक्षक अथवा खलीफा बना दिया गया था! उसकी सत्ता की धाक सर्वत्र जमती जा रही थी। मनुष्यत्व का गला घोंटा जा रहा था, सचाई का नाम मिटाया जा रहा था। पैगम्बर साहब के सारे शुभ प्रयत्नों पर पानी फिर रहा था।

ऐसे कुसमय में कौन सत्य की रक्षा करने का साहस करता, कौन धर्माचरण का पक्ष लेकर दृढ़संकल्प हो सामने आता, कौन अपने प्राणों का उत्सर्ग कर मानवता की रक्षा करता?

उस भीषण काल में ऐसे सत्यव्रती वही हजरत मुहम्मद साहब के दौहित्र हजरत इमाम हुसेन साहब निकले, जो आत्मत्याग की ज्वलन्त प्रतिमा थे, जो सत्य पर बलिदान होनेवालों में सिरमौर थे, जिन्होंने सन् ६१ हिजरी में करबला की जलती रेत पर आत्मोत्सर्ग करके मनुष्य की इस महत्ता को सजीव किया, जो पशुत्व की प्रतिक्रिया का शिकार हुआ चाहती थी।

जब यजीद सिंहासन पर बैठा, उसने प्रत्येक नगर के अधिकारियों को यह आदेश भेजा कि वे लोगों से उसके नाम की शपथ लें—उसका आधिपत्य स्वीकृत करावें। मदीना के अधिकारी-वर्ग को भी ऐसा ही आदेश भेजा गया—विशेषतः हजरत इमाम साहब के प्रभावशाली संगी-साथियों को, यजीद की प्रभुता मानने के हेतु प्रतिज्ञाबद्ध होने को, विवश करने के लिए। साथ-साथ बलपूर्वक यह आदेश भी दिया गया था कि इमाम हुसेन साहब से अवश्य ही शपथ ली जाय—चाहे जिस तरह हो। और, यदि वे यजीद की सत्ता मानने को उद्यत न हों, तो उनका वध कर दिया जाय।

किन्तु, इमाम साहब ने इस कठोर आदेश के सामने नतमस्तक होने में असमर्थता एवं अनिच्छा प्रकट की। वे अपने परिवार और पार्श्ववर्त्तियों के साथ मक्का चले गये। मक्का में खान-ए-काबा है, जिसकी महिमा इस्लाम-धर्म में यह है कि उसके अन्दर कोई मनुष्य एक चींटी या जूं को भी मार नहीं सकता।

इमाम साहब जब वहाँ पहुँचे, तीर्थयात्री (हाजी) और नागरिक दल-के-दल उनकी सेवा और आराधना के लिए आने लगे। किन्तु, इन्हीं हाजियों (तीर्थयात्रियों) के वेश में ऐसे सिपाही भी यजीद की ओर से पठाये गये, जो घात पाकर इमाम साहब का वध कर डालें।

इमाम साहब को यह बात मालूम हो गई। उनकी यह इच्छा न हुई कि उनके हत्याकांड से काबा की पवित्र प्रतिष्ठा में बट्टा लगे।

इसी के साथ-साथ हाजियों के हाथों कूफा नगर के मुसलमानों के कई सौ पत्र इमाम साहब के पास पहुँचे, जिनमें कूफा-निवासियों ने लिखा था कि यजीद के ऐसे अधर्मी के आधिपत्य को हमलोग नहीं मान सकते, हमलोग आपसे प्रार्थना करते हैं कि हमलोगों की बाँह पकड़िए और हमें सर्वनाश से बचाइए, और आप यदि ऐसा न करेंगे, तो हमलोग अन्तकाल आपही का पल्ला पकड़ेंगे और कहेंगे कि ईश्वरभक्तों ने आपसे प्रार्थना की थी अधर्म से बचाने के लिए, मगर आपने नहीं बचाया।

ऐसा संवाद पाकर इमाम साहब ने कूफा की ओर प्रस्थान किया। किन्तु, आपके कूफा पहुँचने से पहले ही यजीद का भेजा हुआ एक शासनाधिकारी कूफा पहुँच गया। उसने कूफा-निवासियों को डरा-धमकाकर और लालच दिखाकर अपनी तरफ मोड़ लिया। उन विश्वासघातियों में कुछ ही सज्जन सम्मिलित न हुए—ये अन्त तक इमाम साहब के विश्वासपात्र बने रहे और इसीलिए तलवार के घाट उतारे गये।

संसार कितना विकट और विचित्र है! सांसारिक धन-सम्पदा के लिए ही अभागों ने यहिया पैगम्बर का वध कराया, मसीह को शत्रुओं के हाथ सौंपा और इमाम साहब से विश्वासघात किया!

कूफा-निवासी, सब-के-सब, यजीद के पक्ष में जा मिले और जिन लोगों ने इमाम साहब को उत्साहवर्द्धक पत्र लिखे थे, वे भी आपपर सैन्यसहित चढ़ाई करने आये। करबला के मैदान में इमाम साहब के छोटे-से दल को कई हजार फौजों ने घेर लिया।

आपसे यजीद की शर्त्तें मानने के लिए आग्रह किया गया। आपने उन्हें न मानकर उत्तर दिया कि तुमलोगों ने मुझे बुलाया तो मैं आया, अब यदि तुम मुझे नहीं चाहते तो मुझे लौट जाने दो, यदि वापस जाने देना भी नहीं चाहते तो मुझे छोड़ दो कि मैं इस राज्य की सीमा से बाहर निकलकर **भारतवर्ष चला जाऊँ**।

आपने **भारतवर्ष का स्मरण** उस समय किया, जब आपके नाना हजरत मुहम्मद साहब की भूमि आपसे छीन ली गई थी। आपके उसी भारत-स्मरण का यह फल है कि आज तेरह सौ साल बाद भी भारतीय आकाश के नीचे हिन्दू और मुसलमान आपका नाम बड़े सम्मान और प्रेम के साथ याद कर रहे हैं।

जब इमाम साहब ने यजीद की शर्तें न मानकर शहीद होने पर कमर बाँध ली तब शत्रु की सेना ने नहर पर पहरा बिठा दिया और मुहर्रम की सातवीं तारीख से हजरत इमाम साहब के खेमों में पानी का अकाल पड़ गया। वे अपने परिवार और दल-बल के साथ तीन दिन भूखे-प्यासे रहे। नवीं तारीख तक उनसे शर्तें मनवाने की अवधि निश्चित की गई; पर उन्होंने न मानी—न मानी।

जब मुहर्रम की नवीं तारीख भी बीत गई तब उन्होंने अपने साथियों को खेमे में एकत्र किया और कहा—"तुमलोगों की स्वामिभक्ति से मैं बहुत प्रसन्न हूँ। तुमलोगों ने यहाँ तक मेरा साथ दिया, इससे मैं अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ। अब कल बलिदान-दिवस है। इस समय मैं तुमलोगों को अपनी अधीनता से मुक्त करता हूँ। तुममें से जिसकी इच्छा हो, रात के अँधेरे में चला जाय, मुझे कोई आपत्ति नहीं, और वह बचकर निकल भी जा सकेगा; क्योंकि शत्रु केवल मेरे ही प्राणों के भूखे हैं, दूसरे किसी से छेड़छाड़ न करेंगे। और, यदि तुम्हें मेरी आँखों के सामने से उठकर जाते लज्जा मालूम होती है, तो मैं दीपक बुझाये देता हूँ, तुम अँधेरे में निकल जाओ।"

इमाम साहब की ऐसी उदारतापूर्ण वाणी सुनकर उनके संगियों ने कहा—'हमलोग आपके परम विश्वसनीय और आपके लिए प्राणोत्सर्ग करनेवाले सेवक हैं। यदि हम सत्तर बार मारे जायँ, और फिर जीवित किये जायँ, तो भी आपके पूज्य चरणों को नहीं छोड़ सकते।"

दूसरे दिन, इमाम साहब, दसवीं मुहर्रम को, सुबह की नमाज के बाद, अपने स्त्री-बच्चों और साथियों के संग, जिनकी कुल संख्या ७२ थी, तीन दिन की भूख-प्यास को आश्चर्यजनक शान्ति एवं दृढ़ता के साथ झेलकर, शहीद हुए। शहीदों में छह महीने का एक बच्चा भी था, जो तीर का शिकार हुआ! जवानों में उनके घराने के ऐसे-ऐसे अनमोल लाल थे, जिनकी तुलना के नवयुवक इस लोक में दुर्लभ थे; पर एक-एक करके उनकी आँखों के सामने ही सब मारे गये।

जैसे-जैसे उनके परम प्रिय स्वजन मारे जाते थे, उनका मुखड़ा दमकता जाता था। उनको प्रसन्नता इस बात की होती थी कि इस पवित्र और सर्वश्रेष्ठ बलिदान की कठिन मंजिलें तय होती जाती हैं। प्यासे बच्चों का पानी के लिए तड़पना, स्त्रियों की अधीरता और व्याकुलता, सूरज की तीखी गरमी, बड़े लाड़-प्यार से पले हुओं का एक-एक बूँद पानी के लिए तरसते हुए मरना, बहत्तर लाशों का क्रमशः उठाना, स्वयं अपने तन पर नौ सौ निन्नानबे घाव सहना, और मरते-मरते निष्ठुर पापियों के कल्याण के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते जाना—इतिहास में यह सब ऐसी घटनाएँ हैं, जो मनुष्य की बुद्धि को कुंठित, चकित और स्तब्ध कर देती हैं।

सूर्यास्त का समय था। इमाम साहब ने भी अपने धर्मनिष्ठ प्राणों का विसर्जन कर दिया। यह महान् बलिदान इसलिए हुआ कि सत्य और धर्म की रक्षा के निमित्त कर्त्तव्यपरायणता और निर्भीकता सिखानेवाला एक ऐसा जाज्वल्यमान आदर्श दृष्टान्त इतिहास के पृष्ठों पर सदा के लिए अंकित हो जाय, जिसकी अदम्य शक्ति आगे की पीढ़ियों को आत्मबल प्रदान करती रहे, और जब कभी प्रकाश पर अन्धकार का—सत्य पर असत्य का—प्रभाव जमने लगे, तब प्रकाश के प्रेमी उसके लिए प्रत्येक प्रकार का बलिदान करने के निमित्त एक सजीव दृष्टान्त पा सकें।

× × × ×

ज्यों ही हजरत इमाम साहब के बलिदान का समाचार चारों ओर फैला, त्यों ही, उन सभी स्थानों में, जहाँ-जहाँ यजीदी अत्याचार का विष फैल चुका था, एक ऐसी क्रान्तिकारिणी प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई कि समस्त इसलाम-संसार यजीद और उसकी काली करतूतों से तटस्थ हो गया। आज तक इसलाम-जगत् में किसी भी कुकर्म को 'यजीदी फेल' कहते हैं।

यदि इमाम साहब यजीद की शर्तें मानकर आत्म-बलिदान से विमुख हो जाते, तो यजीद और उसके उत्तराधिकारियों के मनुष्यता-ध्वंसक कार्य मुसलमानों पर संकट की काली घटा बनकर छा गये होते। और, तदुपरान्त मुसलमानों का प्रभाव जहाँ-जहाँ जमा, वहाँ भी वज्र घहराते। यजीदी दुर्गुण, राजकीय आचरण के रूप में, समय के प्रवाह के साथ-साथ, मनुष्य की पशु-प्रवृत्ति से मिलकर, मानवीय महत्ता और आध्यात्मिक सत्ता का संहार कर चुके होते।

किन्तु, इमाम साहब के अतुलनीय बलिदान के कारण सदा के लिए सत्य की मर्यादा अक्षुण्ण हो गई। एक क्या, सैकड़ों यजीदों से भी कभी इसका बाल बाँका नहीं हो सकता। जबतक इमाम साहब की पुण्यस्मृति जीवित रहेगी, और अवश्य रहेगी, तबतक यजीदी दुर्गुणों पर कुठाराघात होते रहेंगे, और मनुष्यता अँगड़ाइयाँ लेकर उठती जायगी।

इमाम साहब का बलिदान वास्तव में पाप और अत्याचार का अवसान है। मनुष्य बलिदान से ही अमर होता है।

—'राजेन्द्र-कॉलेज-मैगजीन' (छपरा); सन् १६४२ ई०

बाबू कुँवर सिंह*

मैं जिला शाहाबाद (आरा) का निवासी हूँ। इसलिए बचपन से ही, बाबू कुँवर सिंह के विषय में, अनेक प्रकार की बातें मेरे सुनने में आती रही हैं। जैसे व्रजमण्डल में 'कुँवर कन्हैया' प्रसिद्ध हैं, वैसे ही शाहाबाद-मण्डल में 'बाबू कुँवर सिंह' प्रसिद्ध हैं। यों तो सारे संसार में बाबू साहब के नाम का डङ्का बज चुका है, पर मेरे जिले के प्रत्येक गाँव के घर-घर में आबाल-वृद्ध-नर-नारी की जुबान से बाबू साहब की बहादुरी की कहानियाँ सुनी जाती हैं। अधिकतर ये किंवदन्तियाँ ही हैं; पर तो भी इनमें सत्यता का अंश अधिक और अतिरंजना का अंश कम है।

अभी तक[1] मेरे जिले में कितने ऐसे बूढ़े आदमी जीवित हैं, जिन्होंने अपनी आँखों बाबू साहब को देखा और प्रत्यक्षदर्शकों से अपने कानों उनकी कीर्त्ति-कथा को सुना है। कितने बूढ़े आदमी तो ऐसे हैं कि यदि वे बाबू साहब के विशाल वैभव और प्रचण्ड प्रताप की कौतूहलपूर्ण कहानियाँ कहने लगें, तो सहृदय श्रोता निश्चय ही खाना-पीना भूल जायँगे और आत्माभिमान से फूल उठेंगे! किन्तु, बाबू साहब के जीवन पर, मन्द—किन्तु—सुन्दर, प्रकाश डालनेवाले ऐसे-ऐसे 'टिमटिमाते हुए चिराग' अब सिर्फ 'काल की आँधी' की प्रतीक्षा कर रहे हैं और जिले के भिन्न-भिन्न स्थानों में वे अपनी आँखों-देखी तथा कानों-सुनी बातों को, कहानियाँ सुनने के लिए उत्सुक बालकों एवं युवकों की मण्डली में बैठकर, बड़े मनोरंजक ढंग से, सुनाया करते हैं। यदि उन 'टिमटिमाते हुए चिरागों' से, जो, यत्र-तत्र, जिला-भर में, जुगनू की ज्योति की तरह, जगमगा रहे हैं, कोई अनुभवी इतिहासानुरागी अपने विचार-पथ पर अनुसन्धान की किरणों का प्रकाश पहुँचाना चाहे, तो उसे पूरा सन्तोष हो सकता है। किन्तु, इस देश से अब वीर-पूजा की पवित्र प्रथा लुप्त होती चली जाती है।

बाबू कुँवर सिंह-जैसा स्वतन्त्र प्रकृति का निर्भीक वीर-व्याघ्र यदि किसी दूसरे देश में उत्पन्न हुआ होता, तो वहाँ के लोग उसकी पूजा एवं प्रतिष्ठा करने में फूले अंग नहीं

---

* बाबू कुँवर सिंह की राजधानी 'जगदीशपुर' से दो कोस दक्खिन-पच्छिम 'बम्हवार' गाँव है, जहाँ मैं बचपन में अपने बड़े बहनोई के घर रहकर मदरसे में उर्दू-फारसी पढ़ता था। उन्हीं दिनों उस गाँव के एक ब्राह्मण (जगपति चौबे) लड़कों को बाबू साहब की कहानियाँ सुनाया करते थे। उस समय वे ६० वर्ष के अत्यंत वृद्ध थे। वे बाबू साहब के दरबार में नौकरी कर चुके थे और अपनी आँखों देखी बातें कहा करते थे। उनके पुत्र देशपति चौबे भी, जो ७० वर्ष की आयु में मरे, बहुत-सी बातें सुनाया करते थे; क्योंकि दिलीपपुर दरबार में वे अनेक वर्ष रह चुके थे। दिलीपपुर-दरबार के सभापण्डित स्वर्गीय धनञ्जय पाठक से भी, जो मेरे बड़े बहनोई के गुरु थे, मैंने बाबू साहब के कविता-प्रेम की बहुत-सी बातें सुनी थीं। उन्हीं लोगों से सुनी बातों के आधार पर यह जीवन-परिचय लिखा गया था। अधिकतर मैंने उन्हीं लोगों की बातों को दुहराया है। —ले०

१. सन् १९२१ ई० तक

समाते। पाश्चात्य सभ्यता के ऐतिहासिक वायुमण्डल में जिनके दिमाग उड़ते रहते हैं, वे तो महाराष्ट्र-केसरी शिवाजी को भी 'पहाड़ी चूहा' और 'डाकू' तथा बाबू कुँवर सिंह को भी 'बागी' और 'उपद्रवी' कहकर सन्तुष्ट हो जाया करते हैं। क्या करें? उन्हें अपना सच्चा जातीय इतिहास प्राप्त ही नहीं होता; इसलिए, उनके हृदय में स्वदेश और स्वजाति का गौरव स्थान ही नहीं पाता। यही कारण है कि आज तक बाबू कुँवर सिंह अन्धकार में पड़े रहे और अँगरेजी इतिहास-लेखकों ने उन्हें केवल An influential Zemindar of Shahabad, who joined the mutiny (सन् ५७ के गदर में शामिल होनेवाला शाहाबाद जिले का एक 'जबरदस्त जमीन्दार') कहकर ही याद किया, जिसे पढ़कर अँगरेजी-शिक्षा-प्राप्त नवयुवक यह भी न समझ सके कि, "बिहार में एक-से-एक प्रभावशाली जमीन्दारों के रहते हुए भी बाबू कुँवर सिंह ने ही क्यों अँगरेजों के विरुद्ध लोहा लिया और अँगरेजी ऐतिहासिकों के लेखानुसार क्या वे सचमुच राजद्रोही थे?"

खैर, १८५७ के बलवे पर अँगरेजी में बहुत-सी पुस्तकें हैं, जिन्हें ध्यानपूर्वक पढ़ने से बाबू कुँवर सिंह के सम्बन्ध में कुछ साधारण-सा ज्ञान प्राप्त हो सकता है। किन्तु, उस ज्ञान का सारांश यही होता है कि 'बाबू कुँवर सिंह ने अँगरेजी सत्ता के सामने सिर तो उठाया, पर बड़ी वीरता और सफलता के साथ दबा दिये गये!" पाठक स्वयं समझ लें कि इसमें बाबू साहब की क्या बड़ाई की गई और दमन की कैसी दुहाई दी गई है।

इस वर्ष[1] हिन्दी में सन् ५७ के गदर के कई इतिहास निकले हैं, जिनमें हिन्दी-प्रेमियों को बाबू कुँवर सिंह की कुछ थोड़ी-सी चर्चा मिलेगी, जो केवल अँगरेजी इतिहासों के आधार पर ही लिखी गई है। आरा-निवासी श्रीमान् पण्डित ईश्वरीप्रसाद शर्म्मा द्वारा लिखित 'सिपाही-विद्रोह' में बाबू साहब के सम्बन्ध की कुछ ऐसी बातें बतलाई गई हैं, जिन्हें विशेषतः शाहाबाद-निवासी ही जानते हैं। खड्गविलास प्रेस (पटना) की 'बिहार-दर्पण' और भारत-जीवन प्रेस (काशी) की 'बिहारी वीर'-नामक पुस्तकों में बाबू साहब की चर्चा मिलती है; पर उनकी रचना की भित्ति पक्की नहीं है।

बड़ी प्रसन्नता की बात है कि हिन्दी में बाबू कुँवर सिंह की एक गवेषणापूर्ण सचित्र जीवनी प्रकाशित हो गई। छपरा-जिला-निवासी मेरे मित्र श्रीयुत मथुराप्रसाद दीक्षित इतिहास के बड़े प्रेमी हैं। उन्होंने स्वयं बड़े शौक से इस जीवनी की रचना का भार ग्रहण करके यथाशक्ति खूब परिश्रम किया है। इसमें विशेषता यही है कि केवल अँगरेजी इतिहासों के आधार पर ही इसकी सृष्टि नहीं हुई है, बल्कि लेखक और प्रकाशक ने इसमें मौलिकता, प्रामाणिकता और वास्तविकता लाने के विचार से अपने समय, श्रम और द्रव्य का यथेष्ट सदुपयोग किया है।[2]

१. सन् १९२१ ई० में, जब मैं कलकत्ता-प्रवासी था। —ले०

२. इस अनुच्छेद के ऊपर और नीचे की दस-बारह पंक्तियाँ अनावश्यक और असामयिक समझ निकाल दी गई हैं। —ले०

मेरे जिले में एक कहावत प्रसिद्ध है कि—

"जग में जगदीशपुर, शहर में ससराँव।
चट्टी में दाऊदनगर, गाँव में डुमराँव॥"

यह कहावत बाबू साहब के जमाने से ही प्रसिद्ध हुई है। इसका आशय यह है कि, जैसे शहरों में ससरावँ,[1] चट्टियों (सरायों) में दाऊदनगर[2] और गाँवों में डुमराँव[3] प्रसिद्ध है, वैसे ही जगदीशपुर[4] भी जग-जाहिर है।

---

१. जो रेलवे-लाइन गया से मुगलसराय जाती है, उसी पर 'ससराम'-नामक एक स्टेशन है। यह शहर शाहाबाद जिले का एक मशहूर सब-डिवीजन है। 'ग्राण्ड ट्रंक रोड' इसके पास ही से होकर गई है। यहाँ 'शेरशाह का रौजा' देखने ही लायक है। कोई कहता है कि, शेरशाह के जमाने से पहले यहाँ हजार बाग थे, अतः 'सहस्राराम' शब्द का अपभ्रंश 'ससराम' है और कोई कहता है कि शाह-सराय' से बिगड़कर 'ससरावँ' हुआ है; क्योंकि 'ग्राण्ड ट्रंक रोड' के किनारे यहाँ सरायें थीं और शेरशाह के जमाने में डाक ढोनेवाले घुड़सवारों का यही अड्डा था। खैर, ससरावँ परगने में ही 'रोहिताश्वगढ़'-नामक सुविख्यात पहाड़ी किला है। इस शहर का पहाड़ी दृश्य बड़ा ही सुन्दर है। यहां की 'कामूर' पहाड़ी के जंगलों में भी बाबू कुँवर सिंह शिकार खेलने जाया करते थे। —ले०

२. यह चट्टी (सराय) गया जिले में है। कहते हैं कि मुसलमानी राज्य के समय किसी 'दाऊद'-नामक सूबेदार या जागीरदार ने इसे बसाया था। यहां के नवाब किसी समय बड़े सम्पत्तिशाली और प्रभुताशाली थे। आज भी यह स्थान अपने जिले में काफी मशहूर है और यहां के 'खँड़हर' आज भी अपना प्राचीन गौरव प्रकट कर रहे हैं। 'गिद्धौर' की बरात दाऊदनगर की सराय ही में ठहरी थी और देवमूँगा-नरेश तथा दाऊदनगर के तत्कालीन नवाब साहब ने बाबू कुँवर सिंह की बड़ी आवभगत की थी। इसीसे इस स्थान का नाम शाहाबाद जिले की भोजपुरी कहावत में सम्मिलित हो गया। —ले०

३. यह भोजवंशी उज्जैन राजाओं की राजधानी है। शाहाबाद जिले में यही एक-मात्र अच्छी रियासत है। डुमराँव में ही वर्त्तमान रीवां-नरेश का नौनिहाल है। प्रायः लोग कहा करते हैं कि धाराधीश भोजराज के वंशधरों की एक सौ उनतीसवीं गद्दी पर वर्त्तमान डुमराँव नरेश प्रतिष्ठित हुए हैं। जगदीशपुर से लगभग आठ-दस कोस (पश्चिमोत्तर कोण) पर डुमराँव है। यह ई० आई० आर० का एक मशहूर स्टेशन है, जो मुगलसराय और पटना के बीच में पड़ता है। यहाँ का प्राकृतिक दृश्य बड़ा ही सुन्दर है और शहर भी खूब गुलजार है। बिहारीजी (श्रीराधाकृष्ण) का राजमन्दिर दर्शनीय है। यहाँ से दो कोस (उत्तर-पश्चिम की ओर) 'भोजपुर' नाम का एक बड़ा सा गाँव है। शाहाबाद जिले में भोजपुर परगना विशेष प्रसिद्ध है। यहाँ ऊँचे-ऊँचे टीले बहुत-से हैं और एक सुदृढ़ राजप्रासाद का भग्नावशेष भी है, जो स्तूपों के पास ही, गंगा के प्राचीन प्रवाह-क्षेत्र के किनारे, बड़ी भव्यता से, खड़ा है। यह 'राजा भोज का नवरतन गढ़' नाम से प्रसिद्ध है और डुमराँव-राज्य के अधिकार में है। —ले०

४. डुमराँव से पूरब चौथा स्टेशन और आरा से पश्चिम तीसरा स्टेशन 'बिहिया' (ई० आई० आर०) है। 'बिहिया' से तीन कोस दक्षिण 'जगदीशपुर' है। पक्की सड़क और मोटर-सर्विस है। रास्ते में 'दावा' का जंगल मिलता है, जिसका अब चिह्न-मात्र शेष है। तो भी आज उसके पूर्व-रूप का भली-भांति अनुमान किया जा सकता है। जगदीशपुर का प्राकृतिक दृश्य भी बड़ा सुन्दर है। चारों ओर हरे-भरे खेत, फूले-फले लहलहाते हुए बाग,

भोजपुर-प्रान्त के देहातों में बाबू साहब के विषय में कई तरह के गीत भी गाये जाते हैं। बिरहा, कजली, होली, कबीर, फाग और धमार आदि गीत प्रायः भोजपुरी भाषा में ही बने हैं। उनकी भाषा ठेठ है तो क्या, उनमें ओज और प्रसाद की कमी नहीं है। उन्हें सुनने से बाबू साहब की स्वाभाविक वीरता का दृश्य आँखों के आगे आ जाता है।

बाबू साहब, सचमुच, वीरता की ज्वलन्त प्रतिमा ही थे। जिन लोगों ने उन्हें प्रत्यक्ष देखा है, उनके मौखिक वर्णनों से ज्ञात होता है कि उनकी कड़ी-कड़ी मूँछें ऊपर की ओर तनी हुई थीं, दाढ़ी भी वैसी ही सजीली और रोबीली थी, प्रशस्तोन्नत ललाट तथा विशाल लाल लोचनों से तेजस्विता और मनस्विता चुई पड़ती थी। उनकी चौड़ी छाती और लम्बी भुजाएँ देखकर बड़े-बड़े पहलवान भी चकरा जाते थे। उनकी वाणी बड़ी गम्भीर ध्वनि से परिपूर्ण होती थी। कई बार उनकी गर्जनापूर्ण ललकार सुनकर उनके साथ शिकार खेलनेवाले भी चकित और भय-कम्पित हो जाते थे।

सैकड़ों बार ऐसा देखा गया है कि जिसपर वे रंज होते थे, वह उनकी रंजगी का हाल सुनकर ही अधमरा हो जाता था, और उनके सामने जाने पर, उनकी त्यौरी देखते ही, उसकी धोती ढीली हो जाती थी! इसका और कोई कारण नहीं था। एक तो उनका चेहरा ही बड़ा भड़कीला और खूब रोबदार था, दूसरे, उनका प्रभुत्व और आतङ्क इतना फैला हुआ था कि उनके अतिशय कर्कश दण्ड के भय से अपराध भ बहुत कम होते थे।

मेरे जिले में यह प्रसिद्ध है कि बाबू साहब १७८७ (सत्रह सौ सतासी) मौजे के मालिक थे और आजकल के जमीन्दारों की तरह ऐसे-वैसे मालिक नहीं, १७८७ मौजे के असामियों (रैयतों) के भाग्य-विधाता और हृदय-सम्राट् थे। किसी की मजाल नहीं थी कि बिना बाबू साहब की आज्ञा के कोई अदालत या फौजदारी का मुकद्मा लड़ने जाय अथवा बाबू साहब की जमीन्दारी में आकर उनकी प्रजा पर कहीं पुलिस मनमाना अत्याचार करे। बाबू साहब की प्रजा सिर्फ जगदीशपुर-दरबार को ही थाना, कचहरी या हाईकोर्ट समझती थी।

रैयतों पर उनकी बड़ी दया रहती थी। जो अपना कष्ट सुनाता था, वही त्राण पाता था। जो एक बार अपराध करके उनसे दण्डित हो जाता था, वह फिर कभी वैसा अपराध करने का साहस ही नहीं करता था। जैसे वे पीड़ित के प्राण-रक्षक वैसे ही पीड़क के प्राण-भक्षक भी थे। सुना जाता है कि कभी कोई ऐसा अपराधी उनके सामने

सदासलिला नहरें, रमणीय सरोवर और खुले मैदान बड़े ही सुहावने हैं। शहर में गुलजार बाजार, पक्की सड़कें, धनिक वणिकों की इमारतें, तरह-तरह की चीजों की दूकानें, शिवालय, ठाकुरबाड़ी, थाना, डाकखाना, रजिस्ट्री-ऑफिस, अस्पताल, म्युनिसिपैलिटी, जमीन्दारी कचहरी, कोठियाँ और बँगले हैं। यहाँ से दक्षिण की ओर, थोड़ी ही दूर पर, दिलीपपुर और मिटहाँ में (बाबू कुँवर सिंह के एक भाई) बाबू दयालु सिंह के वंशधर रहते हैं। अभी तक ये बड़े प्रतिष्ठित समझे जाते हैं और इनमें अभी तक आत्मगौरव का भाव जीवित है।—ले०

नहीं आया, जो एक बात भी झूठ बोलकर अपना कसूर छिपा सके ! जैसे प्रचण्ड तांत्रिक के सामने प्रेत-ग्रस्त मनुष्य सच्ची-सच्ची बातें बक जाते हैं, वैसे ही बाबू साहब के न्याय की आँच के सामने आते ही अपराध-कातर मनुष्य थरथरा उठते थे ! यहाँ तक सुना जाता है कि वे अपराधियों को अपने सामने बुलाकर एक बार सिर्फ कड़ी चेतावनी-भर दे देते थे; बस, उन्हें जिन्दगी-भर के लिए होश हो जाता था और उसी दिन से वे अपने कान ऐंठकर कसम खा लेते थे कि 'अब हम कभी ऐसा क़सूर नहीं करेंगे।'

वस्तुत: शाहाबाद जिले में बाबू कुँवर सिंह के समान आत्माभिमानी, स्वतंत्र, निर्भीक तेजस्वी, प्रतापी और प्रभुताशाली वीर 'न भूतो न भविष्यति'। उनका आत्मगौरवाभिमान अपनी चरम सीमा को भी पार कर गया था। वास्तव में उनकी अतिशय स्वातंत्र्यप्रियता और नितान्त निर्भयता ने ही उन्हें 'उद्दण्ड' और 'निरंकुश' आदि विशेपणों से विभूषित करा रखा है। परन्तु, वास्तव में उनका स्वभाव उद्धत नहीं था।

जो हो, उन्हें स्वच्छन्द और निश्चिन्त जीवन अधिक पसन्द था। इसी लिए कुछ लोग उन्हें उच्छृङ्खल तक समझते थे; पर उनका प्रकृति-सिद्ध आत्माभिमान और अतुलनीय पराक्रम तो ईश्वरदत्त था। यह केवल समझनेवालों की भूल है। उनके आत्माभिमान की एक कथा सुनिए—

बड़े-बूढ़ों का कहना है कि एक बार बाबू साहब का एक नौकर बाजार में खरबूजा खरीदने के लिए गया। सब्जी के बाजार में, संयोग-वश, एक खटिक की दूकान पर, सिर्फ एक ही खरबूजा रह गया था; क्योंकि उसकी मौसम बीत गई थी। बाबू साहब के नौकर से पहले ही पहुँचकर डुमरांव-नरेश का नौकर उस खरबूजे का मोल-तोल कर रहा था। जब बाबू साहब का नौकर पहुँचा, तब दोनों में हुज्जत शुरू हो गई। दोनों नौकर खरबूजे पर डाक बोलने लगे। डुमरांव-नरेश का नौकर हजार रुपये तक की डाक बोल गया; पर बाबू साहब की आज्ञा के विना, उनका नौकर, भय-वश, आगे न बढ़ सका। जब वह लौटकर बाबू-बाजार की कोठी[1] पर गया, तब बाबू साहब के कानों तक यह खबर पहुँची।

बाबू साहब ने उस नौकर को दण्ड दिया—इसलिए, कि 'वह डर कर खरबूजा खरीदने से क्यों बाज आया'। उन्होंने अपने सिपाहियों को हुक्म दिया कि 'उस खटिक को पकड़ लाओ तथा डुमरांव-नरेश के नौकर को जहाँ पाओ, वहीं पीटो।' इतना ही नहीं, डुमरांव-नरेश के पास भी कड़ा उलाहना भेजा कि, 'धन के जोम में जो जबरदस्ती की गई है, उसका बदला चुकाये विना कुँवर को चैन कहाँ ? खबरदार रहिएगा।'

लोग कहते हैं कि बाबू साहब के खौफ से खटिक और वह नौकर आरा से भाग गये तथा डुमरांव-नरेश ने दूर-दराज से मँगाकर कई गाड़ी खरबूजा बाबू-बाजार की कोठी पर भेज दिया।

उनके आत्माभिमान का यह एक बहुत छोटा-सा नमूना है। ऐसे-ऐसे उदाहरण अनेक हैं। सचमुच अपने सामने वे धन और शक्ति के अभिमानियों को कुछ चीज ही नहीं समझते थे।

---

१. आरा-नगर के बाबू-बाजार महल्ले में यह कोठी अबतक है। अब वह दूसरे के हाथ में है।—ले०

बाबू साहब जिस प्रकार धन-बल-मदान्धों के कट्टर शत्रु थे, उसी प्रकार दीनों और अनाथों के बन्धु भी थे। जो कोई अपनी नम्रता और श्रद्धापूर्ण सेवा से उनको सन्तुष्ट कर देता था, वह जीवन-भर के लिए अयाचक भी हो जाता था। दया के भूखे कङ्गाल को निहाल कर देना और अहंकारी का दर्प चूर्ण कर डालना उनके लिए बायें हाथ का खेल था और यही उनका सहज स्वभाव भी था। मनमौजी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की तरह, उन्हीं के शब्दों में, बाबू साहब का भी यही खयाल था कि—

"सीधेन सों सीधे महा बाँके हम बाँकेन सों,
'हरीचन्द' नगद दमाद अभिमानी के।"
"सुकवि सिपाही हम उन रजपूतन के, दान-युद्ध-वीरता में नेकहू न मुरे के।
'ठाकुर' कहत हम वैरी बेवकूफन के जालिम दमाद हैं अदेनिया ससुर के।"

बाबू साहब की अनुपम उदारता और गुणग्राहकता के विषय में सुना जाता है कि एक कवि ने[1] दरबार में आकर वीर-रस की फड़कती हुई कविता सुनाई। कड़खे सुनकर उनके भुजदण्ड फड़क उठे। वीरता के रोष से भरकर अपने मुसाहबों से वे बोले—"कविजी को एक उमदा घोड़ा, बढ़िया दुशाला और इनके सारे परिवार के लिए साल-भर में जितना गल्ला खर्च हो सके, पूरे सामान के साथ, उतना दे दिया जाय।" बस, आज्ञा की देर थी, सामान काफी था ही, कविजी को सन्तुष्ट कर दिया गया।[2]

कहते हैं, एक बार एक 'बारी'[3] बाबू साहब के पास 'इमली के पत्रों का एक पत्तल' बनाकर लाया। देखकर वे बड़े खुश हुए और ८० बीघा जागीर देकर उसे विदा किया।

---

१. कहते हैं कि 'कविवर लछिराम' ही बाबू साहब के दरबार में आये थे। यह ठीक भी मालूम होता है; क्योंकि 'कविता-कौमुदी' (भाग १) में लिखा है कि—"लछिराम के काव्यगुरु अवधेश महाराज मानसिंह थे। उन्होंने इनकी तीव्र प्रतिभा देखकर 'कविराज' की उपाधि दी थी। कविता द्वारा इन्हें हाथी, घोड़ा, धन, वस्त्र, गाँव आदि प्राप्त होते रहते थे। इनमें कविता पढ़ने की विचित्र शक्ति थी। श्रोताओं के मन में ये शीघ्र ही प्रभाव जमा लेते थे।" मेरे जिले में यह बात प्रसिद्ध है कि डुमराँव-नरेश के दरबार में जाकर लछिराम ने बेधड़क कहा था कि—"दीजिये समस्या अति कठिन कठोर जानि कलम रुके तो कर कलम कराइए।" यह सुनकर महाराज बहादुर ने 'पर पर भर भर'-नामक समस्या दी और लछिराम ने झट उसकी पूर्त्ति करते हुए कहा—

"पियहिं मनावन तिय चली, पिय नहिं मानत बैन।
पर पर पियहिं मनावती, भर भर आवत नैन।"

इसपर महाराज ने प्रसन्न होकर इनको खूब सम्मानित और पुरस्कृत किया। बहुत सम्भव है कि डुमराँव से विदाई लेकर ये जगदीशपुर-दरबार में आये हों। सुना जाता है कि कविवर भूषण की कविताएँ सुनाकर इन्होंने बाबू साहब को प्रसन्न किया था।

२. लछिराम कवि का समय बाबू कुँवर सिंह के समय से बाद का है। कवि का जन्म सन् १८४१ ई० (विक्रमाब्द १८९८) में हुआ था। संभव है, वे १४-१५ की अवस्था में बाबू साहब के दरबार में आये हों। वे बड़े प्रतिभाशाली कवि थे, किशोरावस्था में प्रखर प्रतिभा संभव है।—ले०

३. एक जाति-विशेष—"जूठी पतरी भखत हैं, 'बारी' बायस स्वान।" —ले०

लोगों का कहना है कि उनकी जमीन्दारी के जङ्गल-महाल में एक ऐसा असामी था, जो मालगुजारी देने के समय नगद रुपये नहीं देता था। वह अपने खेतों की पैदावार से इफरात गल्ला ही दिया करता था।

बाबू साहब ने एक बार उससे पूछा कि 'तुम नगद रुपये क्यों नहीं देते ?' उसने कहा कि 'धर्मावतार ! हमसे जितनी जरूरत हो उतना गल्ला ही ले लिया जाय, हमसे रुपये देते न बनेगा। जो जिन्स देने का हुक्म हो, सो हम लादकर स्वयं भाण्डार में पहुँचा दें।'

बाबू साहब ने कहा कि 'अच्छा, मैं अपने मुसाहबों से सलाह करके तुम्हें खबर दूंगा।' उसके चले जाने पर बाबू साहब ने दरबारियों से राय पूछी। सर्वसम्मति से यही निश्चित हुआ कि 'कोई ऐसी जिन्स उससे माँगी जाय, जो वह दे ही न सके। तब उसे मजबूर होकर रुपये देने ही पड़ेंगे।'

निश्चय होने के बाद उसे खबर दी गई कि "एक हजार बैलों पर 'खटाई' (अमचुर) और एक हजार बैलों पर 'महुआ' (मधूक-फल)[१] लाद कर शीघ्र रियासत के भाण्डार में पहुँचा जाओ, नहीं तो नगद मालगुजारी के साथ दण्ड भी देना पड़ेगा।"

उस असामी ने, हुक्म पाते ही, वक्त-मुकर्रर से पहले ही, काम तामील कर दिया ! बाबू साहब अत्यन्त प्रसन्न हुए और उसे सम्मान-पूर्वक बुलाकर कहा कि "सब सामान वापस ले जाओ, यह देखकर मुझे अजहद खुशी हुई है कि मेरी जमीन्दारी में तुम्हारे-जैसे असामी भी मौजूद हैं। मुझे इसका गर्व हो रहा है। जाओ, अब तुम्हारे पास मालगुजारी का तकाजा कभी नहीं जायगा, तुम मुफ्त जोतकर खाते रहो।"

लोग कहते हैं कि कभी-कभी मनोरंजन के लिए बाबू साहब के दरबार से उसके पास ऐसी ही ऐसी ऊटपटांग माँगें जाती रहती थीं और वह अविलम्ब उनकी पूर्त्ति कर दिया करता था। कभी तिल, कभी सरसों, कभी बिनौला, कभी दाना और कभी जीरा आदि जिन्सों की माँगें भेजी जाती थीं। वह भी बाबू साहब का कौतूहल शान्त करने में कमाल करता था। किन्तु, उसकी भेजी हुई चीजें उसके पास ही लौटा दी जाती थीं।

अब के जमाने में न तो ऐसा मालिक ही है और न रियाया ही। अब तो मालिक और रियाये का रिश्ता अदालत लड़ते-लड़ते ही खतम हो जाता है !

लोग कहते हैं कि बाबू साहब जिस समय अपने सजे हुए दरबार में बैठते थे, उस समय सभी दरबारी चुपचाप सिर्फ उनका रुख ताकते रहते थे। सबपर उनका रोब गालिब हुआ रहता था। दरबार में ही जमीन्दारी की शासन-सम्बन्धी बातों का फैसला

---

१. कहते हैं कि उस समय जगदीशपुर के चारों ओर घने जङ्गल थे। उन जङ्गलों में आम, महुआ, बेर आदि के अगणित वृक्ष थे। जब वसन्त में आम और महुए के जङ्गल नवपल्लव-पुष्पों से सुशोभित हो जाते थे, तब उन रसाल-काननों और 'मधु-वनों' में जाने पर भीनी-भीनी सुगन्ध से तबीयत मस्त हो जाती थी। आज भी बिहिया से जगदीशपुर के रास्ते में 'महुए के जङ्गल' के बचे हुए पेड़ नजर आते हैं। —ले०

हुआ करता था! फैसले का परिणाम होता था—माफी अधिक और वसूली कम! जिसके जिम्मे बहुत रकम बाकी पड़ जाती थी और वह बेतरह गिड़गिड़ाने लगता था, उसे बाबू साहब हँसते-हँसते कह देते थे कि 'अगर तू सब खा ही गया और पचा भी गया, तो अब जोर से डकार कर अपना मुँह काला कर।' जब वह डकार देता था, तब फिर वे उससे सवाल करते थे कि 'अब तो पेट भर गया न या और भी कुछ खायगा?' इसके जवाब में उसे कहना पड़ता था कि 'पृथ्वीनाथ! मैं अच्छी तरह अफर (अघा) गया।'

ऐसे-ऐसे अजीब तमाशे जगदीशपुर के दरबार में प्रायः हुआ ही करते थे।

एक बार चार असामियों का मामला दरबार में पेश हुआ। निश्चित हुआ कि कल फैसला सुनाया जायगा। असामियों को एक रात जगदीशपुर में रहना पड़ा। रात को उनलोगों ने 'बाटी' बनाई और चार हिस्से लगाकर चारों एक साथ खाने बैठे। बराबर के चार हिस्सों में से एक 'बाटी' अधिक निकली! उसी एक के लिए चारों आपस में झगड़ने लगे! वे यहाँ तक झगड़े कि मार-पीट की नौबत आ गई! आखिर एक की खोपड़ी भी फूट गई!

सुबह होते ही, यह संवाद दरबार में पहुँच गया। बाबू साहब ने उन्हें बुलाकर झुँझलाते हुए कहा—"जब तुमलोग एक 'बाटी' के लिए खून करने पर तुल जाते हो, तब भला तुमलोगों-जैसे दरिद्र पेटुओं से मेरी मालगुजारी कैसे चुकाई जा सकती है? जब तुम्हें स्वयं पेट के लाले पड़े हैं, तब मुझे क्या दोगे?"

ऐसा कहकर बाबू साहब ने अपने भण्डारी को हुक्म दिया कि "उन्हें भरपेट खाने के लिए आटा, घी, चीनी आदि सामान काफी तौर से दे दिये जायँ और साथ ही फारखती देकर 'बाकी-बेबाक' कर दिया जाय।"

यहाँ तक तो आप बाबू साहब के सम्बन्ध में बहुत-कुछ सुन चुके और दरबारी-दुनिया की दशा भी देख चुके। अब जरा उनके प्रखर प्रतापादित्य की एक देदीप्यमान किरण का प्रकाश भी देख लीजिए। यों तो उनका इकबाल इतना तपा हुआ था कि जिस वक्त वे बाहर निकलते थे, उस समय, उनके सामने, न तो कोई चारपाई, कुर्सी या फर्श पर बैठा रहता था, न किसी सवारी पर कोई चढ़ा रहता था, न छाता लगाता था और न बेखबर रहता था। उनके यात्रा-पथ के दोनों तरफ, सब लोग मुखातिब होकर, अदब से हाथ बाँधे, खड़े रहते थे और बा-कायदा सलामी दगती चली जाती थी। बाबू साहब भी अपनी राजभक्त प्रजा की स्वाभाविक एवं आन्तरिक भक्ति का परिचायक स्वागताभिवादन, बड़े प्रेम से, हाथ उठा-उठाकर, स्वीकार करते चले जाते थे। उनके समान राजसी ठाट-बाट और बाबुआना ढङ्ग अब शायद किसी साधारण राजा-महाराजा या ताल्लुकदार को इस जमाने में नसीब नहीं हो सकता।

एक समय की बात है कि जगदीशपुर के किसी[1] ब्राह्मण-सज्जन के यहाँ,

१. कहते हैं, पण्डित टूटी मिश्र राज-पुरोहित (शाकद्वीपीय ब्राह्मण) की कन्या का शुभ विवाह था। बाबू साहब के ये सभापण्डित भी थे। बाबू साहब की कोशिश-सिफारिश से ही यह शादी हुई थी। —ले०

अयोध्या-नरेश की[1] बरात आई थी। उसमें अयोध्या-नरेश की ओर से बरात के जलूस में अनेक हाथियों पर से उछाह-भरी 'उछाल'[2] फेंकी गई थी। बाबू साहब को पहले ही पता लग गया था कि बरात में रुपये लुटाये जायँगे। उन्होंने तमाम मुनादी दिलवाकर मनाही करा दी कि "लुटाये हुए रुपयों को जो कोई उठावेगा, वह बसा न रहेगा।"

भला, कानाफूसी से सुनी हुई आज्ञाओं के पालन में तो कोई त्रुटि कर ही नहीं सकता था, फिर बाबू साहब की खास आज्ञा जब प्रकाश्य भाव से सुना दी गई, तब कौन ऐसा माई का लाल था, जो अपनी जिन्दगी से हाथ धोने के लिए उछाल का एक पैसा भी स्पर्श करता? सचमुच, जबतक बरात रही तबतक 'उछाल' के रुपये ज्यों-के-त्यों सड़क पर पड़े ही रह गये! जब अयोध्या-नरेश ने प्रार्थना की कि "यह खुशी का दान है, याचकों और भिक्षुकों को आज्ञा दीजिए कि हमारा हौसला पूरा करें", तब बाबू साहब ने कहा कि "सब रुपये उठवाकर, जनवासे के पास ही, भिक्षुकों को बँटवा दीजिए।"

बाबू साहब की मर्जी के मुताबिक ही काम तामील हुआ। तारीफ तो यह कि उछाल के रुपये जब एकत्र करके गिने गये, तब बाबू साहब का प्रतापातङ्क देखकर खजांची और रोकड़िये के आश्चर्य का ठिकाना न रहा! वास्तव में ऐसा अविरल प्रतापी वीर—जिसका जाज्वल्यमान क्षात्रतेज देखकर शत्रु-दल श्रीहत हो जाता था, जिसकी बाहु-लता की छाया में निर्भयता और शान्ति विराजती थी, जिसकी तलवार के साये में मृत्यु घूमती-फिरती थी, जिसकी दया में मुक्ति और दृष्टि में शक्ति बसती थी, जिसकी अमोघ प्रसन्नता में 'मनोरथ की सफलता' रहती थी, जो कृपापूर्वक दान करके ही प्रसन्न और स्वच्छन्दतापूर्वक खूब खर्च करके ही शान्तचित्त होता था—किसी साधारण जमीन्दार-खानदान में आज तक नहीं पैदा हुआ।

ऐसा कहा जा सकता है कि बिहार की भूमि, पिछले कई वर्षों तक, ऐसे दुर्द्धर्ष वीर पुरुष के लिए, वन्ध्या रही और सम्भव है कि आगे की कई शताब्दियाँ बाबू साहब का 'जोड़' न देख सकेंगी।

---

१. श्रीमन्महाराज मानसिंह का विवाह जगदीशपुर में ही हुआ था। संवत् १९३० में लगभग ५० वर्ष की अवस्था में इनका देहान्त हुआ था। इन्हीं महाराजा मानसिंह (कविवर द्विजदेव) की कन्या के पुत्र महाराजा प्रतापनारायण सिंह (ददुआजी) ने विक्रमीय संवत् १९४९ में 'रसकुसुमाकर'-नामक अपूर्व काव्य-ग्रन्थ बनवाकर, अत्यन्त सुन्दरता से, प्रकाशित किया था। हिन्दी-साहित्य-रसिकों से 'रसकुसुमाकर' का परिचय देने की जरूरत नहीं है। उसी अनूठे ग्रन्थ के अन्त में लिखा है कि—

"जगमगात जग जाहिर जासु कृपान, दरसन सिंह महीपति सुअन सुजान।
भूपति मानसिंह कहँ सब जग जान, द्विजवर तासु सुतासुत अति अज्ञान॥
अवध, प्रताप नरायन सिंह, नरेस, रसकुसुमाकर विरच्यो ग्रन्थ सुबेस॥"

२. 'उछाल' एक प्रकार की सामाजिक प्रथा है। शादियों में द्रव्य लुटाने की जोचाल है, उसी का नाम 'उछाल' है। यह प्रथा निन्दनीय समझी गई है। 'कंगाल' भारत में अब 'उछाल' कैसा? —ले०

मैंने जिन लोक-विश्रुत बातों का ऊपर उल्लेख किया है, वे केवल किंवदन्तियाँ ही नहीं हैं, उनमें ऐतिहासिक तथ्य की मात्रा बहुत अधिक है। सम्भव है, उनका रूप कुछ विकृत और कुछ परिष्कृत हो, पर अनृत कदापि नहीं। उपर्युक्त बातों से आप ऐसा कदापि न समझें कि बाबू साहब निष्ठुर और स्वेच्छाचारी शासक थे। सच पूछिए तो वे सच्चे वीर थे। इसीलिए क्षमा ही उनके विशाल हृदय का अलङ्कार थी, दीनों पर दया करना ही उनका सहज स्वभाव था और शक्तिशालियों का दमन करना ही उनके मनोरंजन का सामान था। उनका सिद्धान्त था—

"ऊनो भलो सुपथ, कुपथ पै न दूनो भलो, सूनो भलो भौन, पै न खल संग करिये।
अनल की लपट, दपट भली नाहर की, कपटी के कपट देखि दूरहीं ते डरिये।
यहै जग-जीवन को परम पुरुषारथ है, पर घर जाय फिर रस सों निकरिये।
हार मान लीजे, पै न कीजै रार नीचन सों, सरबस दीजै पै न परबस परिये।"

पाण्डु-पुत्र 'भीम' की तरह बाबू साहब भी संसार में किसी से डरना नहीं जानते थे। उनके हृदय में तो किसी प्रकार के 'भय' का लेश भी नहीं था। वे स्वयं कहा करते थे कि "हमें, काल की तो बात ही क्या, ईश्वर का भी डर नहीं है; क्योंकि, ईश्वर डरने की चीज नहीं। वह डरावना नहीं है। वह तो दया-सागर और शोभा-सिन्धु है। पापी और कायर उससे डरते हैं। सत्य और न्याय का प्रेमी तो उसे प्यार करता है। जिसको मैं प्यार करता हूँ, उससे डरना कैसा? ईश्वर से उसको डरना चाहिए, जिसका दिल कमजोर, मन पापी और कपटी हो। न तो मैं कृतघ्न हूँ, न कपटी हूँ, न किसी की बुराई करता हूँ, फिर डर किसका?"

कुछ लोगों का कथन है कि यद्यपि बाबू साहब को फारसी की शिक्षा भी दी गई थी और सभा-पण्डितों तथा कवियों के सहवास से श्लोक तथा कवित्त आदि भी सहज ही समझ लिया करते थे, तथापि शिकार खेलने में ही उनकी विशेष प्रवृत्ति थी। आखेट में उनका जैसा अनुराग था, वैसा और किसी भी विषय में नहीं। उनके यहाँ अच्छे-अच्छे मृगयानुरागी उनके साथ शिकार खेलने के लिए दूर-दूर से आया करते थे। शिकार के शौकीन बड़े-बड़े अँगरेज अफसर भी बाबू साहब के अतिथि हुआ करते थे और उनके परम मित्र तथा कृतज्ञ बन जाते थे। बाबू साहब अपनी प्रजा को तो सरकारी अदालतों तक नहीं जाने देते थे; पर स्वयं बड़े भारी मुकद्दमेबाज थे! किन्तु अदालती लड़ाई में भी उनका यही सिद्धान्त था—

"प्रीति विरोध समान सन, करिय नीति अस आहि।
जो मृगपति बध मेढ़कहिं, भलो कहै को ताहि॥[1]"

सचमुच दरिद्र एवं क्षुद्र मनुष्यों पर कभी वे जी से नहीं बिगड़ते थे। जबरदस्तों और घमण्डियों पर ही उनका वार हुआ करता था। किन्तु, जिसके साथ मुकद्दमा लड़ते थे,

१. रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, रावण-प्रति अंगद-वचन। —ले०

उससे साक्षात्कार हो जाने पर बड़ी मिलनसारी दिखाते थे। यद्यपि डुमरांव-नरेश से हमेशा मुकद्दमा लड़ते ही रहते थे, तथापि बिरादरी का नाता नहीं छोड़ते थे और कभी व्यावहारिक प्रीति तथा पारस्परिक घनिष्ठता में बट्टा नहीं लगने देते थे। प्रसङ्गवश कह दिया करते थे कि "हमारा-उनका झगड़ा अदालत की सीमा के अन्दर ही तक है। उससे और भाई-चारे से क्या सरोकार? जमीन्दार की हैसियत से हमलोग अदालत में जाते हैं और अपने घर में भाई-भाई की हैसियत से मिलते-जुलते हैं।"

युधिष्ठिर ने, गन्धर्व के हाथ से दुर्योधन को छुड़ाने के समय, जङ्गल में, अर्जुन से, जो बात कही थी, वह बाबू साहब को बहुत ही पसन्द थी। धर्मराज का सिद्धान्त वे प्राय: स्मरण किया करते थे—

"वयं पञ्च शतं ते च मिथो युद्धे ह्युपस्थिते।
प्राप्ते तु पर-संग्रामे वयं पञ्च शतोत्तरम्॥"

केवल मुकद्दमे[१] लड़ने, मालगुजारी माफ[२] करने, मुक्तहस्त होकर खर्च करने और शिकार खेलने में व्यस्त रहकर जमीन्दारी की देख-भाल न कर सकने से ही, अन्त में, बाबू साहब ऋणग्रस्त हो गये थे। यद्यपि उन्होंने जिन्दगी-भर चिन्ता को पास नहीं फटकने दिया, तथापि अन्त में, लहनदारों से उद्धार पाने और ईमानदारी में बट्टा न लगने देने के खयाल से, उन्हें विशेष चिन्तित हो जाना पड़ा। परन्तु मुकद्दमेबाजी की आदत से वे लाचार थे। बहुत-से लोग समझते हैं कि बाबू साहब अहङ्कारी थे और समझते थे कि—

"ईश्वरोऽहं अहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी।
आढ्योऽस्मि जनवानोऽस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मम"?

किन्तु बात ऐसी नहीं थी। उनके सिद्धान्त का मूलमन्त्र यह था—

"गुलशन में सरो, फौज में मिस्ले निशाँ रहे।
हम जिस सरजमीं पः थे वहाँ के आस्माँ रहे॥"

इससे स्पष्ट विदित होता है कि वे आत्मगौरवाभिमानी अवश्य थे; पर घमण्डी कदापि नहीं।

बाबू साहब मौके-मौके शेर, दोहे, कवित्त और श्लोक आदि भी झट कह दिया करते थे। इससे यह भी प्रकट होता है कि यद्यपि वे स्वभावत: साहित्यानुरागी नहीं थे,

---

१. यह अफवाह है कि बाबू साहब प्राय: कहा करते थे कि "मुकद्दमा लाडला लक्ष्मी के घर पैदा होता है, वकीलों के घर उसकी शादी होती है, हाईकोर्ट में उसकी मुक्ति होती है और पार्लमेण्ट में जाकर वह परमपद को प्राप्त हो जाता है!"—ले०

२. कहते हैं कि जो असामी अच्छे कपड़े पहनकर उनके सामने अपना दुखड़ा सुनाने और मालगुजारी की रकम माफ कराने के लिए जाता था, उसे बाबू साहब नादहन्द कहकर आनाकानी कर जाते थे; पर जो सम्पन्न होकर भी फटे-चिथड़े पहनकर सामने जाता था, वह माफी पा लेता था; इसलिए गरीबी भेष में ही प्रार्थी आया करते थे। —ले०

तथापि वे बिल्कुल कोरे भी नहीं थे। खास-खास मौके की शिक्षाप्रद कहानियाँ और अवसर-विशेष के योग्य उपदेशजनक कविताएँ[१] उन्हें बहुत याद थीं। इसका एकमात्र कारण था दरबारी विद्वानों और कवियों का सत्सङ्ग। विद्याध्ययन और ज्ञानानुशीलन का स्वाभाविक प्रेम न होने पर भी नीतिशास्त्र की अनेक बातों से वे परिचित थे।

किन्तु, सब कुछ होते हुए भी, वे क्षात्रधर्म-धुरन्धर के सिवा और कुछ नहीं थे। केवल 'वीरता का अनन्य उपासक' कहकर भी उनको स्मरण किया जा सकता है। 'वीरता' ही उनकी असली सत्ता थी। इस वीर-भोग्या वसुन्धरा को उन्होंने सचमुच 'वीर कुँवर सिंह' बनकर सनाथ किया था। किन्तु, काल के प्रभाव से, अब उसी वीर सिंह का गढ़, अव्यक्त—किन्तु—करुणाजनक भाषा में, अपने पुरातन गौरव की कथा सुना रहा है :—

"जेहिं द्वारे सकारे नगारे बजे, मतवारे मतङ्ग जहाँ अति कारे—
झुकि झूमि रहैं, रज चूमि रहैं, अरु घूमि रहैं हय के असवारे।
जहाँ वीर मृगेन्द्र गजेन्द्र के कुम्भ बिदारि रुवै गजमुक्त वगारे।
तहँ बैठि सियार विहार करैं, विधि बाम के अङ्क टरे नहिं टारे॥"

अबतक के इतिहासज्ञों के कथनानुसार, बाबू साहब वास्तव में राजद्रोही नहीं थे, बल्कि वे राजद्रोही बनाये गये थे। बिहार-प्रान्त के अङ्गरेजी शासकों की धूर्तता और धोखेबाजी ने उन्हें राजद्रोही बनने के लिए विवश कर दिया और केवल निर्मूल भ्रान्ति तथा शङ्का में पड़कर अङ्गरेज शासकों ने व्यर्थ ही उनसे अदावत की।

बाबू अमरसिंह वस्तुतः पुरुष-सिंह थे। कहते हैं कि उनके पास एक बड़ी तेज घोड़ी थी। वह उनके सवार होते ही हवा से बातें करने लगती थी। बाबू अमरसिंह तलवार चलाने में बड़े निपुण थे; जब-तब दोनों भाई बन्दूक और गुलेल लेकर मैदान में निकल जाते थे तथा आमने-सामने खड़े होकर वन्दूक और गुलेल की गोलियाँ लड़ाया करते थे! दोनों ओर की गोलियाँ बीच में ही टकराकर गिर जाती थीं!

ऐसे रणधीर वीरों को, सब तरह की सहायता के अभाव में, जी भरकर लड़े विना ही, धर्म की रक्षा के लिए, स्वतन्त्रता के नाम पर, वलिदान हो जाना पड़ा। उन दोनों वीर-व्याघ्रों का तो केवल यश-मात्र रह गया; पर उनके सगे भाई के वंशधर, आज तक,

१. बड़े-बूढ़ों का कहना है कि एक बार बाबू साहब के दरबारी स्वयं बाबू साहब के ही ऋणग्रस्त और तंगदस्त हो जाने से अत्यन्त चिन्तित और उदास हो गये। बाबू साहब शिकार से थके-माँदे आये तो देखा कि आज सबका चेहरा उतरा हुआ है। साग्रह पूछने पर कारण स्पष्ट ज्ञात हुआ। बाबू साहब सबको आश्वासित करके एकाएक बोल उठे—

दिया है खुदा ने खूब खुशी करो ग्वाल कवि खाव पियो देवलेव यही रह जाना है
राजा राव उमराव केते बादशाह भये, कहाँ ते कहाँ को गयो लाग्यो न ठिकाना है
ऐसी जिन्दगानी के भरोसे पै गुमान ऐसे, देश देश घूमि घूमि मन बहलाना है।
आये परवाना पर चले ना बहाना, इहाँ नेकी करि जाना फेरि आना है न जाना है।—ले०

सर्वस्वापहरण के कारण, भारतीय स्वतन्त्रता से कार्यतः उदासीन होकर, एकान्त शान्त जीवन व्यतीत कर रहे हैं। श्रीमन्महाराजकुमार बाबू छत्रपति सिंहजी के आयुष्मान् पुत्र बाबू रणविजय बहादुर सिंहजी हिन्दी-साहित्य के बड़े प्रेमी और काव्य के विशेष अनुरागी हैं।

—"बाबू कुँवर सिंह" पुस्तक का परिशिष्ट, सन् १९२१ में लिखित, प्रकाशित

महाकवि अकबर[1]

आज सचमुच बड़ी खुशी का दिन है। हमारे कॉलेज की उर्दू-लिटरेरी-सोसाइटी का सालाना जल्सा है। यह आज पहले-पहल हो रहा है। ऐसे मौके पर दिल की खुशी जाहिर करना जरूरी है।

आपको बड़ा ताज्जुब होगा कि हिन्दी-लिटरेचर का एक बहुत ही मामूली आदमी आज एकाएक उर्दू-लिटरेचर के मैदान में टाँग अड़ाने के लिए—उर्दू के मशहूर शायर 'सैयद अकबर हुसेन रिजवी साहब इलाहाबादी' पर कुछ कहने के लिए—कैसे तैयार हो गया। मगर लिटरेचर का शौक, आप जानते हैं, एक ऐसी चीज है, जिसके लिए किसी तरह की कोई कैद नहीं।

मैं स्कूल में उर्दू-फारसी पढ़ता रहा। लेकिन उससे साथ छूटे तीस साल गुजर गये। अब आज आप मेरी हिम्मत या हिमाकत पर हँसेंगे। यह तो मैं चाहता ही हूँ। आपको हँसाना ही आज की मेरी मंशा है। इसीलिए उर्दू के एक ऐसे शायर को चुना है जिसका हरएक शेर हँसी का फव्वारा है।

एक बात और भी है। कॉलेज की पढ़ाई में हिन्दी और उर्दू सगी बहनों की तरह हैं। बेशक ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इन दोनों का नाता बहुत पुराना और बहुत गाढ़ा है। लेकिन मिहरबानी करके एक बात कहने की छूट दीजिए। हिन्दी ने जिस तरह इज्जत और मुहब्बत के साथ उर्दू को गले लगाया है—अपनाया है, उस तरह उर्दू ने हिन्दी को नहीं। इसके काफी सबूत हैं।

आज हिन्दी में उर्दू की बहुत-सी अच्छी चीजें आ गई हैं। हम हिन्दीवाले सिर्फ अपनी हिन्दी की बदौलत आपके लिटरेचर की खूबियों और बारीकियों को इतनी दूर तक परख चुके हैं कि आपकी जानकारी से थोड़ी देर होड़ भी करें तो कोई ताज्जुब नहीं। सिर्फ हिन्दी के सहारे हम आपसे उर्दू-लिटरेचर के बारे में काफी देर तक और काफी गहराई के साथ दिलचस्प बातचीत कर सकते हैं। लेकिन, उर्दू-लिटरेचर के शौकीन अभी तक हिन्दी की ओर जैसा चाहिए वैसा नहीं झुके हैं। माफ कीजिए, मैं किसी बुरी नीयत से यह शिकायत नहीं कर रहा हूँ, सिर्फ भाईचारे के खयाल से ही ऐसा कह रहा हूँ।

---

१. राजेन्द्र-कॉलेज (छपरा) की उर्दू-लिटरेरी सोसाइटी के सालाना जल्से में हिन्दी-लिटरेरी-सोसाइटी की ओर से यह लेख पढ़ा गया था। —ले०

किसी कौम की असली तसवीर उसके लिटरेचर में ही देखने में आती है। आपकी तसवीर को हिन्दी ने अपने गले में तावीज की तरह लटका लिया है। मगर आप उसकी तरफ कभी निगाह उठाकर भी नहीं देखते। हिन्दी के दिल में इसका मलाल है।

उर्दू के जितने अच्छे कवि या शायर हैं, सबकी कविता या शायरी से हिन्दीवाले अपनी-अपनी लयाकत के माफिक, वाकिफ हैं। उर्दू-लिटरेचर का इतिहास (तवारीख) हिन्दी में बड़े अच्छे ढंग से लिखा गया है। मीर, दाग, गालिब, जौक, नजीर, हाली, अकबर, चकबस्त वगैरह आपके बड़े नामी-गरामी शायर हैं। इन सब पर खास तौर से अलग-अलग बहुत ही अच्छी किताबें हिन्दी में निकल चुकी हैं। कई शायरों पर तीन-तीन उम्दा किताबें हैं।

इतना ही नहीं, अगर आप हिन्दी के अखबारों को देखें, आपको उर्दू के शायरों का जिक्र जरूर मिलेगा, उनकी शायरी भी मिलेगी। आप हमारे 'प्रसाद', 'पन्त', 'द्विज' और 'दिनकर' को नहीं जानते; मगर हम अपने अखबारों के सहारे यह खूब जानते हैं कि 'जिगर' मुरादाबादी, 'हजरत अजीज' और 'चकबस्त' लखनवी, 'हजरत रियाज' खैराबादी, 'जोश' मलीहाबादी, 'सीमाब' अकबराबादी और 'बिस्मिल' इलाहाबादी कौन हैं—क्या हैं और कैसे हैं।

और तो और, आज के जल्से को रौशन करनेवाले आपके सदर 'जमील मजहरी' साहब को हम हिन्दी ही के जरिये अच्छी तरह जानते हैं। इनकी चमकती हुई शायरी में हिन्दू-मुस्लिम एकता और देशभक्ति की कैसी मीठी तान छेड़ी गई है, यह हम हिन्दी की बदौलत खूब जानते हैं।

मेरे एक अजीज दोस्त अनीसुर्रहमान साहब, जो अब इलाहाबाद से 'नई जिन्दगी' नाम का माहवार पर्चा उर्दू में निकालते हैं, काँगरेसी मिनिस्टरी के जमाने में, हिन्दी के 'होनहार' नाम के रिसाले के एडीटर थे। उसमें 'जमील मजहरी' साहब की शायरी का लुत्फ अक्सर हर महीने नसीब होता था। भाई बेनीपुरी जी के पटनावाले हफ्तावार अखबार 'जनता' में भी मजहरी साहब की जोशीली कविताओं के दर्शन अक्सर हुआ करते थे।

इतना ही क्यों, आप इलाहाबाद का 'चाँद' और 'कर्मयोगी' देखें, आपको मालूम हो जायगा कि हिन्दीवालों में उर्दू की शायरी का मजा लेने का कैसा शौक पैदा हो गया है। आज उर्दू का कोई अच्छा शायर ऐसा नहीं है, जिसको हिंदीवाले न जानते हों। यहाँ जानने का मतलब यह नहीं है कि हिन्दीवाले खासे उर्दूदाँ होने का दावा रखते हैं, मगर इतना जरूर है कि हिन्दीवालों में हरएक लिटरेचर का रस लेने की दिलचस्पी पैदा होती जा रही है। हिन्दी में आज उर्दू-लिटरेचर का एक ऐसा खाका तैयार हो गया है, जिससे हरएक हिन्दी-प्रेमी अपना दिल बहला सकता है।

इसकी वजह और कुछ नहीं, उर्दू की शायरी में सादगी के अन्दर जो खूबसूरती है, वही हिन्दीवालों के लिए चितचोर बन रही है। साफ-सुथरी भाषा में सुलझे हुए खयाल, गहरी पैठ की सूझ, कहने के निराले ढंग और दिल की तह तक गोते लगानेवाले भाव ऐसे अनूठे होते हैं कि कोई भी दिल रखनेवाला ऐसा पुतला नहीं, जो सुनकर झूम न उठे।

अगर आप बुरा न मानें, तो मैं यहाँ तक कहूँगा कि उर्दू के बहुतेरे शायरों पर हिन्दी का भी पूरा दावा है; क्योंकि उनकी बहुत-सी कविताएँ खुल्लमखुल्ला हिन्दी में हैं। और इसलिए वे जितने प्यारे मनचाहे आपके हैं, उतने ही हमारी हिन्दी के भी। भाषा की सफाई परखिए, गालिब साहब फरमाते हैं—

(१) मेहरबाँ होके बुला लो मुझे चाहो जिस वक्त।
मैं गया वक्त नहीं हूँ कि फिर आ भी न सकूँ॥
(२) उनको देखे से जो आ जाती है मुँह पर रौनक।
वे समझते हैं कि बीमार का हाल अच्छा है॥
(३) बहुत ढूँढ़ा उसे, फिर भी न पाया।
अगर पाया, पता अपना न पाया॥

अब हज़रत दाग़ की शोखी देखिए—

(१) वो निहायत हमें मगरूर नज़र आते हैं।
पास बैठे हैं मगर दूर नज़र आते हैं॥
(२) दुश्मन के आगे सर न झुकेगा किसी तरह।
यह आसमाँ ज़मीं से मिलाया न जायगा॥
(३) कहीं दुनिया में नहीं उसका ठिकाना ऐ दाग़!
छोड़कर मुझको कहाँ जाय मुसीबत मेरी॥

सौदा साहब की सौदाई (मस्ती) देखिए—

समुन्दर कर दिया नाम उसका नाहक सबने कह-कह कर।
हुए थे जमा कुछ आँसू मेरी आँखों से बह-बह कर॥

उस्ताद जौक की भी सुनिए—

(१) देख, छोटों को है अल्लाह बड़ाई देता।
आसमाँ आँख के तिल में है दिखाई देता॥
(२) खुलता नहीं दिल बन्द ही रहता है हमेशा।
क्या जाने कि आ जाता है तू इसमें किधर से॥
(३) छूट जायें गम के हाथों से जो निकले दम कहीं।
खाक ऐसी जिन्दगी पर हम कहीं और तुम कहीं।

मीर तकी साहब तो कमाल कर गये हैं—

तारे तो ये नहीं, मेरी आहों से रात की।
सूराख पड़ गए हैं तमाम आसमान में॥

मौलाना हाली तो सादगी के अवतार हैं—

वह थकते हैं और चैन पाती है दुनिया।
कमाते हैं वह और खाती है दुनिया॥

यों तो सादगी और सूझ के नमूने औरों के भी कुछ कम नहीं हैं, जैसे किसी का—"कौन होता है बुरे वक्त की हालत का शरीक, मरते दम आँख को देखा है कि फिर जाती है;"—मगर ज्यादा मिसाल देना आपके सामने गुस्ताखी होगी। आपके लिए यह कोई नया तोहफा नहीं; लेकिन दिखाना यह है कि भाषा को इसी सादगी पर लट्टू होकर हिन्दीवालों ने आपके शायरों को अपना बना लिया है। इसका यह मतलब नहीं कि हिन्दी के कवियों ने भाषा के माँजने और सँवारने में कारीगरी नहीं दिखाई है। हिन्दी के पुराने और नये कवियों ने भी सीधी-सादी भाषा में बहुत-कुछ अच्छा कहा है; मगर यहाँ में 'हँसिया के ब्याह में खुरपी के गीत गाना' मुनासिब नहीं समझता।

फिर भी, आपसे इतना तो कहना ही चाहता हूँ कि आपके लिटरेचर में जो अनमोल खजाना भरा पड़ा है, उसी को देखकर सब्र न कीजिए, बल्कि पड़ोसिन हिन्दी की ओर भी निगाह फेरिए। उससे फायदा ही होगा। हमारे और आपके बीच की खाई पट जायगी। लिटरेचर में आपस के लेन-देन का बड़ा असर होता है।

आप यह सुनकर हैरत में आ जायँगे कि हिन्दी के मुसलमान कवियों की कविताएँ अगर निकाल-बाहर कर दी जायँ तो हिन्दी के भाण्डार का एक कोना ही सूना हो जायगा। अमीर खुसरो, कबीर, मलिक मुहम्मद जायसी, रहीम खानखाना, उसमान, मुबारक, रसखान, आलम और शेख, सैयद अमीर अली 'मीर' वगैरह हिन्दी को मालामाल और निहाल कर गये हैं। आप तो भाषा-रतन के बड़े पक्के पारखी जौहरी हैं, कबीर और जायसी की ठेठ भाषा का जौहर देखकर आप बाग-बाग हो उठेंगे। रहीम और रसखान की कविताएँ तो किसी भी लिटरेचर के शौकीन पर जादू डाल सकती हैं।

रहीम ने तो संस्कृत में भी सुन्दर कविता की है। यह बहुत मशहूर तवारीखी बात है कि रहीम के दरबार में जब हिन्दी के नामी कवि 'गंग' ने, दुश्मन पर उनकी चढ़ाई की तारीफ में एक जोशीली कविता सुनाई, रहीम ने उसी वक्त छत्तीस लाख रुपये की हुण्डी, जो खजाने में जमा करने के लिए उनके पास आई थी, उठाकर 'गंग' के हाथों में रख दी। यह तो एक महज मामूली मिसाल है। मुसलमान बादशाहों, नवाबों और अमीर-उमरों के दरबार में हिन्दी की कविता सदियों तक फूलती-फलती रही है। उनकी कद्रदानी के किस्से हिन्दी-लिटरेचर की तवारीखें मुस्कुरा-मुस्कुरा कर कह रही हैं। लेकिन हिन्दू लेखकों और कवियों ने भी उर्दू-लिटरेचर की सेवा करके यह कर्ज खूब चुकाया है।

मगर इस दास्तान का भी तहरीरी बयान शायद आपके पास नहीं है! फिर भला आप क्योंकर हिन्दी की तरफ टुक नजर फेरें!

अगर आपको यह डर है कि हिन्दी की खिल्लत-मिल्लत से उर्दू का बाँकपन बिगड़ जायगा, तो हम भी यह हरगिज नहीं कहते कि हमारे प्रेमचन्द की भाषा को आप अपने यहाँ खपाइए—जैसे उर्दू के लिक्खाड़ मुन्शी रतननाथ सरशार की भाषा को हिन्दी ने हजम कर डाला है; बल्कि हम तो सिर्फ इतना ही कह सकते हैं कि हमारे लिटरेचर में अगर आपको कुछ अच्छाई मिले, और जँचे, तो सिर्फ उसे ही अपनाइए, जिससे हमारे-आपके दिल का सुर तो मिले।

इतिहास से तो पता चलता है कि इस मामले में उर्दू से फारसी कहीं आगे बढ़ी हुई है। उसमें रामायण, महाभारत, भागवत वगैरह संस्कृत की पोथियों का तर्जुमा बादशाह अकबर के जमाने में ही हो चुका था। बहुत-सी तिब (वैद्यक) और नजूमी (ज्यौतिष) की किताबें भी संस्कृत से फारसी में आई थीं। इसके लिए मुसलमान बादशाहों के जमाने में एक खास महकमा ही खुला हुआ था। आपकी फारसी से भी हमारी संस्कृत का बहुत पुराना सरोकार है।

आप शायद जानते होंगे, हमारी हिन्दी ने तो फारसी के लिटरेचर से भी काफी फायदा उठाया है। गुलिस्ताँ, बोस्ताँ, आइन-ए-अकबरी वगैरह का तर्जुमा हिन्दी में हो चुका है। शाहनामा की कहानी भी हिन्दीवालों से छिपी नहीं है। मौलाना रूम और शेख शादी हिन्दी की दुनिया में रम गये हैं। हिन्दी ने राष्ट्रभाषा की हैसियत से सबको अपने अन्दर समेटने की कोशिश की है। अरबी तक उसने दौड़ लगाई है। कुरानशरीफ का तर्जुमा भी हिन्दी में हो चुका है। आपके बड़े-बड़े पैगम्बरों, नबियों, फकीरों, इन्साफवर और बहादुर बादशाहों पर भी हिन्दी में किताबें निकल चुकी हैं। उमर खैयाम की रुबाइयाँ हिन्दी की दुनिया में इस कदर छा गई हैं कि हरएक हिन्दी-प्रेमी उनकी मस्ती में झूमता नजर आयगा। हिन्दी के दो-तीन मशहूर कवियों ने उनका तर्जुमा बड़ी कामयाबी के साथ किया है।

अगर आप यह कहें कि अँगरेजी के रास्ते से अरबी और फारसी की चीजें हिन्दी में आई हैं, तो मैं यह कहना चाहूँगा कि आपके यहाँ तो किसी रास्ते से संस्कृत और हिन्दी की चीजें नहीं आ पाई हैं। और, इस तरह का शक आप सिर्फ रुबाइयों पर ही लाद सकते हैं, दूसरी चीजें तो सीधी राह तय करके हिन्दी के ठिकाने पहुँची हैं। हिन्दी में कई फारसीदाँ लेखक हो चुके हैं। आज भी हिन्दू-युनिवर्सिटी के प्रोफेसर 'मुन्शी महेश प्रसाद मौलवी, आलिम-फाजिल' अरबी और फारसी की बहुत-सी चीजें हिन्दी को देते रहते हैं। उर्दूदाँ लेखक तो हिन्दी में बहुत-से हैं। वे हमेशा उर्दू-लिटरेचर की बातें हिन्दीवालों को बतलाते रहते हैं।

लेकिन मेरी बातें सुनकर कहीं आप यह न समझ लें कि मैं उर्दू-लिटरेचर का अधूरा साबित कर रहा हूँ। मैंने आपको अपनी जानकारी की हद बता दी है। अब आप चाहें, तो इसका दायरा बढ़ा सकते हैं। मुझे बड़ी खुशी होगी, अगर आप यह बतलाने की मेहरबानी करेंगे कि उर्दू-लिटरेचर भी अपने पड़ोसी हिन्दी-लिटरेचर से गाफिल नहीं है। होना भी यही चाहिए। तभी हम-आप दूध-मिसरी की तरह घुल-मिलकर हिन्दुस्तान की

ताकत बढ़ा सकते हैं। मेरा अपना खयाल है कि साहित्य ही—लिटरेचर ही—हमलोगों के दिलों को मिलाकर मुल्क की सच्ची भलाई कर सकता है।

माफ कीजिएगा, मैंने बड़ी देर तक और बहुत दूर तक आपको बे-सिर-पैर की बातों में अटका रक्खा। आप मन-ही-मन हँसते होंगे जरूर; क्योंकि मैं उर्दूदाँ नहीं हूँ—हाँ, उर्दू-लिटरेचर का कद्रदाँ जरूर हूँ। इसीलिए आपके समझने लायक बोल-चाल की भाषा में—लेकिन आपकी समझ में शायद बहुत ही लचर भाषा में—आपसे अपने मन की बात कह रहा हूँ। अगर यह टूटी-फूटी गँवारू जबान आपके कानों को खटके, तो यह कोई नई बात नहीं। आपकी जबानदानी के सामने जबान खोलना मेरा काम नहीं। मैंने सिर्फ बिरादराना तरीके से आपकी दिलबस्तगी का सामान तैयार किया है, ताकि इस आलीशान जल्से में हिन्दी को भी अपनी प्यारी बहन उर्दू के सिर से सेहरा बाँधने के लिए चन्द मिनट नसीब हो जायँ।

जैसा मैं पहले आपसे अर्ज कर चुका हूँ, उर्दू में नये तर्ज की शायरी करनेवाले अकबर इलाहाबादी पर हिन्दी में कई किताबें निकल चुकी हैं, और हिन्दी के अखबारों में तो उनपर दर्जनों मजमून छप चुके हैं। आपके सामने उनकी जिन्दगी या शायरी के बारे में कुछ कहना मेरी बड़ी भारी ढिठाई है; लेकिन इसके लिए कसूरवार मैं नहीं हूँ, बल्कि मेरे अजीज और बुजुर्ग दोस्त प्रोफेसर रिजवी साहब और प्रोफेसर जाफरी साहब हैं, जिन्होंने यह जानते हुए भी कि मैं टकसाली उर्दू में 'पेपर' नहीं पढ़ सकता—[असल में यह 'पेपर' कहलाने लायक है भी नहीं, यह तो 'पापर (Pauper) पेपर' है]—मुझे सिर्फ इसलिए उभाड़ा कि मैं उर्दू की शायरी का चुलबुलापन बहुत पसंद करता हूँ, इसलिए हिन्दी की ओर से मैं अपनी राय जाहिर करूँ। मैंने भी इसे मौके के मुताबिक ठीक समझा और अपनी पसंद से अकबर को ही चुन लिया। जरा भाषा के बारे में उनके चुभते हुए कलाम सुनिए—(मेरी अधकचरी भाषा की ओर से कान बंद किये रहिएगा, नहीं तो मजा किरकिरा हो जायगा)—

> "हम उर्दू को अरबी क्यों न करें, उर्दू को वह भाषा क्यों न करें।
> बहसों के लिए अखबारों में मजमून तराशा क्यों न करें॥"

अकबर की इन बातों में जो चुटीलापन है, उसका असर उनलोगों से पूछा चाहिए, जो भाषा का मसला लेकर बे-बुनियाद झगड़ा खड़ा करते हैं। भाषा को कठिन बनानेवालों के लिए भी इसमें खासी चुटकी है।

भाषा और भाव के बारे में वे खुद साफ कह गये हैं—

> "तुझे हम शायरों में क्यों न अकबर मुन्तखब[1] समझें
> बयाँ ऐसा कि दिल माने, जबाँ ऐसी कि सब समझें"

यों तो ऐब ढूंढ़नेवालों के लिए भी उन्होंने कह छोड़ा है—

> "अगर ढूँढ़ो तो अकबर में भी पाओगे हुनर कोई
> अगर चाहो निकालो ऐब तुम अच्छे से अच्छे में"

१. चुनिन्दा

उनके हुनर का तो कहना ही क्या है ! 'ह्यूमर' (humour) का हुनर उन्हीं के हिस्से का था। फबतियाँ इतनी करारी कि जिसपर कसी जायँ, उसका दम घुटने लगे। देखिए, खुदा की इबादत से मुँह मोड़े हुए नई रोशनी के फैशनदार बाबुओं पर एक चोंच--

"गुजर उनका हुआ कब आलमे-अल्लाह-अकबर[1] में
पले कालेज के चक्कर में, मरे साहब के दफ्तर में"

फिर योरप की तहजीब (सभ्यता) के हिमायतियों पर एक धौल—

"हुए इस कदर महज्जब[2] कभी घर का मुँह न देखा
कटी उम्र होटलों में, मरे अस्पताल जाकर"

अच्छा, तो पहले कालेज पर ही उनके कलाम के करश्मे देखिए—

(१) चिपकूँ दुनिया से किस तरह मैं।
औरत ने कहा कि गोंद मैं हूँ॥
कौमी चंदे किधर समायें।
कालेज ने कहा कि तोंद मैं हूँ॥

(२) हम ऐसी कुल किताबें काबिले-जब्ती समझते हैं।
कि जिनको पढ़के लड़के बाप को खब्ती समझते हैं॥

(३) हुक्काम प' बम के गोले हैं औ मौलवियों पर गाली है।
कालेज ने यह कैसे साँचों में लड़कों की तबीयत ढाली है॥

(४) जिंदगी और कयामत में रिलेशन समझो।
इसे कालेज और उसे कानवोकेशन समझो॥

(५) क्या वह दुरुस्त हो मेरी नज्मों[3] के फोर्स से।
फुर्सत कहाँ है कौम को कालिज के कोर्स से॥

अंगरेजी के लफ्जों को अपने शेरों में खूब फिट किया है। यह ढर्रा अब ऐसा चल पड़ा है कि हिन्दी और उर्दू की शायरी में अक्सर इसकी झलक मिल जाती है। हिन्दी के अकबर कहे जानेवाले 'बेढब बनारसी' की सैकड़ों कविताएँ ऐसी हैं, जिनकी जमीन पर अँगरेजी बेल-बूटे उगे हुए हैं।

लेकिन अकबर की बंदिश कुछ और है। नकलची हिन्दुस्तानियों पर एक छींटा देखिए—

'क्या कहूँ इसको मैं बदबख्तिए[4] नेशन के सिवा
उसको आता नहीं अब कुछ इमीटेशन के सिवा"

१. सर्वशक्तिमान् ईश्वर के दरबार में। २. सभ्यतापूर्ण, सुसभ्य। ३. कविताओं। ४. दुर्भाग्य।

साथ ही, एक रद्दा आजकल की सभा-सोसाइटियों पर भी जमाया है—

"रिज्योल्यूशन की शोरिश [1] है मगर उसका असर गायब'
प्लेटों की सदा[2] सुनता हूँ, और खाना नहीं आता"

इसलिए कहते हैं—

"कमेटी में चंदा दिया कीजिए, तरक्की के हिज्जे किया कीजिए"

अब जो चंदे की ओर लपके तो उसपर इस तरह बरस पड़े कि बेचारा पानी-पानी हो गया। देखिए न, आजकल के नामधारी देशभक्तों को आड़े हाथों लिया है—

(१) सर्विस में मैं दाखिल नहीं, हूँ कौम का खादिम[3]
चंदों की फकत[4] आस है, तनखाह कहाँ है?

(२) कौमी तरक्की की राधा प्यारी, बैठी हैं पहने जोड़ा भारी।
नौ मन तेल की फिक्र है तारी[5] चंदे की तहसील है जारी॥

इसमें कहावत को खूब फिट किया है।

जिधर साहब उधर दौलत, जिधर दौलत उधर चंदा।
जिधर चंदा उधर आनर, जिधर आनर उधर बंदा॥

आरामतलब नेताओं (आर्मचेयर पालिटिशियन) पर भी एक चोट—

(३) कौम के गम में डिनर खाते हैं हुक्काम के साथ।
रंज लीडर को बहुत है, मगर आराम के साथ॥

कौंसिल में उछल-कूद मचानेवालों पर भी एक शिगूफा छोड़ा है—

(४) दर अस्ल न दीन है न दुनिया।
पिंजरे में फुदक रही है मुनिया॥

(५) मेम्बरी से आप पर तो बार्निश हो जायगी।
कौम की हालत में कुछ इससे जिला[6] हो या न हो॥

अखबारनवीसों की चिल्लाहट नक्कारखाने में तूती की आवाज हो रही है। उनको भी कनैठी दी है—

"खींचो न कमानों को न तलवार निकालो
जब तोप मुकाबिल है तो अखबार निकालो"

अकबर साहब सरकारी नौकर थे। स्माल-कौज-कोर्ट (अदालत खफीफा) के जज और दौरा-जज भी रहे। सन् १९०२ से १९२१ ई० तक पेंशन ली। मगर फिर भी

---

१. शोर, हल्ला, धूम। २. आवाज, खनखनाहट। ३. खिदमत (सेवा) करनेवाला। ४. सिर्फ। ५. लगी हुई। ६. शान, पालिश, चमक।

उनके आजाद खयाल बड़े ठोस थे। उन्हें वे दबाकर न रख सके। डंके की चोट कह डाला, जो कहना था। जजी की परवा जरा भी नहीं। गोरे हाकिम से मिलने में उनका हिचक देखिए—

"यों कहो, मिल आऊँ उनसे, लेकिन अकबर सच यह है
दिल नहीं मिलता तो मिलने का मजा मिलता नहीं"

इसकी वजह भी बतलाते हैं—

"मिहरबानी से हमें गोदाम की कुञ्जी तो दी
लेकिन अब गेहूँ नहीं बाकी, फकत घुन क्या करें"

फिर उनकी तसवीर के दोनों रुख भी दिखलाते हैं।

"तोप खिसकी, प्रोफेसर पहुँचे
जब बसूला हटा तो रन्दा है"

रन्दे की पालिश का नतीजा इन सतरों में तलाश कीजिए—

"जिस रोशनी में लूट ही की आपको सूझे
तहजीब[1] की मैं उसको तजल्ली[2] न कहूँगा
लाखों को मिटाकर जो हजारों को उभारे
उसको तो मैं दुनिया की तरक्की न कहूँगा"

इसी सिलसिले की एक दिल्लगी भी लगे हाथों सुन लीजिए—

"अनार आते जोकत्लकोबुना तो पड़ते सबके हिस्से में
अमीर[3] आये तो हमको क्या, मजे हैं लार्ड मिंटो के"

सचमुच जज की जबान में ऐसी शोखी गजब है। इसीलिए उन्होंने अपने बारे में साफ कह दिया है—

"तेरे बाद अकबर कहाँ ऐसी नज्में[4]
वह दिल ही न होंगे कि यह आह निकले"

बेशक उनके दिल में अपने मुल्क के लिए आह थी, आग थी, लगन थी, कसक थी, सच्ची हमदर्दी थी। इसीलिए उनको अपने ओहदे में इजाफा होने की कोई उम्मीद नहीं थी—दिल में खिताबों की ख्वाहिश भी नहीं थी। तभी तो कहते हैं—

"मेरी नाकामयाबी की कोई हद हो नहीं सकती
सदाकत[5] चल नहीं सकती, खुशामद हो नहीं सकती"

भला दो-टूक बात कहनेवाले से चापलूसी क्योंकर हो सकती है, और खासकर उससे, जो खुदा का सच्चा बन्दा है। अकबर सचमुच अकबर थे। उनके ऐसा खुदापरस्त

१. सभ्यता। २. रोशनी। ३. अफगानिस्तान के बादशाह। ४. कविताएँ। ५. सचाई।

कभी जजी की फिक्र नहीं कर सकता। कैसी पते की बातें कह गये हैं—

(१) अगर मिला नहीं, मिलने का आसरा तो है।
हमें इसी में है तस्कीने-दिल[1], खुदा तो है॥
(२) खुदा के बाब[2] में यह गौर[3] क्या है।
खुदा क्या है? खुदा है, और क्या है?

कितने सादा ढंग से मार्के की बात कही है—

"नहीं है काम जवाँ का कुछ अब दुआ के सिवा
नजर किसी पर नहीं है मेरी खुदा के सिवा"

ऐसा पक्का दिल था, तभी निशाने पर अचूक तीर छोड़ते थे—

"हुकूमत उसकी, उसी की मर्जी, उसी के सब काम और धन्दे
कहाँ के इंगलिश, कहाँ के नेटिव, खुदा की दुनिया, खुदा के बन्दे"

उन्हें अपनी जजी की खुशी नहीं थी, वह भी खुदा के फजल से ही मिली थी। साफ कहते हैं—

(१) खुदा से माँग जो कुछ माँगना हो ऐ अकबर।
यही वह दर[4] है कि जिल्लत नहीं सवाल के बाद॥
(२) न नमाज न रोजा न जकात[5] है न हज[6] है।
तो खुशी फिर इसकी क्या है, कोई जंट कोई जज है॥

एक शेर तो दिल की अँगूठी में नगीने की तरह जड़ने के लायक है—

"बन्दगी में है वह लुत्फ जो शाही में नहीं
दिल से कोई मगर अल्लाह का बंदा भी तो हो"

और कोई हो या न हो, वे तो थे जरूर। तभी उनके दिल में किसी का खौफ न था। जिधर खामी या खराबी देखते थे, बेधड़क हंटर फटकारते थे—सरकार पर, सोसाइटी पर, लीडर पर; चाहे जो कोई हो, कुछ परवा नहीं। यह तो वही कर सकता है, जो दिल का बादशाह हो या पहुँचा हुआ फकीर। और, फकीर तो वे थे ही। ये सतरें गवाह हैं—

(१) जी उठा मरने से वह जिसकी खुदा पर थी नजर।
जिसने दुनिया ही को पाया था वह सबको खो के मरा॥

१. हार्दिक सन्तोष। २. बात, विषय। ३. विचार, विवेचना। ४. द्वार, दरवाजा। ५. खैरात, दानधर्म। ६. तीर्थयात्रा।

(२) हँस के दुनिया में मरा कोई, कोई रो के मरा।
जिंदगी पाई मगर उसने जो कुछ हो के मरा॥
(३) कोई मरे तो पूछ कि क्या ले गया वह साथ।
बिलकुल फजूल बहस है, वह छोड़ क्या गया॥
(४) करेगा कद्र जो दुनिया में अपने आने की!
उसी की जान को लज्जत मिलेगी जाने की॥

इन सतरों से हम सबको सबक लेना चाहिए। दुनिया की हाय-हाय और चंदरोजा ऐश-आराम में फँसकर जो लोग परवरदिगार मालिक को भूल जाते हैं, वे इन लाइनों को चस्पाँ करें अपने दिल पर। यों तो ये खुद ही ऐसी हैं कि दिलवाले के दिल में घर किये बिना रह नहीं सकतीं। तुर्रा तो यह कि जितनी सचाई उतनी ही सादगी है इनमें।

भला ऐसे पाक-साफ खयालवाले को आप पर-कटा फरिश्ता न कहेंगे तो क्या कहेंगे। फरिश्ता के सिवा और किसमें इतनी सूझ हो सकती है—

"साइन्स से जियादा है मजहब की जड़ बड़ी
तोपों की मार से भी खुदा की पकड़ बड़ी"

उसी पकड़ में शायद आज योरप गिरफ्त है। इसीलिए वे खुदा के भूलने को ही बदनसीबी और आफत की जड़ बतलाते हैं—

"मुसीबत में भी अब यादे-खुदा आती नहीं उनको
दुआ मुँह से न निकली, पाकेटों से अर्जियाँ निकलीं"

सिफारिशी चिट्ठियाँ लिये फिरनेवाले इसकी हकीकत पर गौर करें।

मजहब के बारे में वे अन्दरूनी सचाई को ही सबसे ऊँचा पीढ़ा देते नजर आते हैं। मजहब को वे दिल की दौलत मानते हैं, बाहरी दिखावट की चीज नहीं—

"मजहबी बहस मैंने की ही नहीं
फालतू अक्ल मुझमें थी ही नहीं"

बाहरी दिखावेवाले मजहबी पर खूब हाथ रखा है—

"पेश[1] आ जाय जो मसजिद, तो नमाजी भी सही
बुत[2] जो मौके से मिले, दस्तदराजी[3] भी सही"

इसमें मजहब के साथ नेकचलनी का गाढ़ा रिश्ता जोड़ दिया है। इस कसौटी पर खरा उतरना हँसी-खेल नहीं।

१. सामने, आगे। २. मूरत (हसीन औरत)। ३. बलात्कार।

मजहब ही की तरह वे हिन्दू-मुसलिम-एका के भी बड़े हिमायती थे। इसपर तो बहुतों ने कहा है और अच्छा कहा है, मगर ये भी दूर की कौड़ी लाये हैं—बड़ी सटीक बात कह गये हैं—

"हिन्दू-मुसलिम एक हैं दोनों
यानी ये दोनों एशियाई हैं
हमवतन, हमजुबानो, हमकिस्मत[1]
क्यों न कह दूँ कि भाई-भाई हैं"

यह खुदा के एक सच्चे बन्दे का सँदेशा है। आज नहीं, तो कल सच होकर रहेगा।

अच्छा अब आप ऊब गये होंगे मेरी ऊटपटाँग बातें सुनते-सुनते। इसलिए उनके दो-चार चुटकुले छोड़कर बस करूँगा। ऐसे हरदिल-अजीज नुस्खे उनके पास बहुत हैं। देखिए, स्वदेशी के वे कितने बड़े पुजारी थे—

"हरचंद कि मिस का लवेंडर भी बहुत खूब
बेगम का मगर इत्रे-हिना और ही कुछ है"

'मिस' और 'मेम' को तो जहाँ पाया है, दबोचा है। कहते हैं—

"मेम ने शेख को डाँटा तो पुकारा वह गरीब
देखिए तोप ने लाठी को दबा रक्खा है"

जरा इन विदेशी और स्वदेशी 'हथियारों' पर दिमाग दौड़ाइए। तह की मिट्टी लानी होगी। ऐसे-ही-ऐसे दर्जनों रसीले शेर हैं; मगर अब एक ही 'फिनिशिङ्ग टच' काफी होगा—

"लिया सुबहे-शबे-वस्ल[2] उनका बोसा[3] मैंने, यह सच है
इसी पर बोल उठी वह शोख मिस, यह 'फाइनल टच' है!"

—'राजेन्द्र-कॉलेज-मैगजिन' (छपरा), सन् १९४५ ई०

---

१. दोनों का देश एक है, भाषा एक है, भाग्य भी जुड़ा हुआ है। ('एशियाई' में बड़ा उदार भाव है।)

२. मिलन-रात्रि के प्रभातकाल में (विदा होते समय)।

३. चुम्बन।

सैण्डो[1]

[१]

संसार के प्राचीन सभ्य देशों के इतिहास में अनेक बड़े-बड़े शक्तिशाली पुरुषों की कथाएँ पाई जाती हैं। इटली, मिस्र, यूनान, अरब और फारस के इतिहास भी ऐसी कथाओं से खाली नहीं। हरक्यूलीज और रुस्तम का नाम कौन नहीं जानता? हरक्यूलीज तो यूनान में 'शक्ति का देवता' माना जाता है; और रुस्तम का तो नाम ही मल्ल-अर्थ-बोधक हो गया, जैसे हिन्दी में सूरदास का नाम अंधों के लिए पेटेंट है! रुस्तम ही की तरह 'भीम' का नाम भी इस देश में मल्ल-अर्थ-बोधक प्रसिद्ध है। जैसे 'रुस्तमे हिन्द', वैसे ही 'भारतीय भीम' पहलवानों की एक परम्परागत उपाधि बन गई है।

भारत के प्राचीन मल्लों में रावण, हनूमान, बलराम, बाणासुर, भीम, जरासंध, कंस, चाणूर और मुष्टिक आदि के नाम पाये जाते हैं। आधुनिक भारत के राममूर्त्ति, कल्लू, गामा और भीम भवानी आदि भी विश्व-विख्यात मल्ल हैं।

प्रोफेसर राममूर्त्ति 'भारतीय भीम' अथवा कलियुगी भीम' के नाम से काफी प्रसिद्ध हैं। इन्होंने अपनी अद्भुत करामात दिखलाकर सारे संसार में प्राणायाम की शक्ति का सिक्का जमा दिया है।

कल्लू भी बड़ा नामी पट्ठा था। कक्कड़ सिंह के मर जाने के बाद तो उसकी टक्कर का कोई पहलवान ही न रह गया था। उसने अखिल भारतवर्षीय मल्ल-प्रतियोगिता में 'रजब'-नामक उद्भट पहलवान को पछाड़ कर बड़ी प्रसिद्धि पाई थी।

गामा ने तो सारे भूमंडल में भारत का डंका ही बजा दिया। इस पंजाबी पहलवान ने देश-विदेश में भ्रमण कर अनेक यशस्वी मल्लों को जमीन दिखाई थी; सन् १९०९-१० ई० में, अमेरिका के प्रसिद्ध पहलवान डॉक्टर रॉलर को पछाड़ा था। जब यह इंगलैंड गया, तो विश्वविजयी पहलवान हेकेन-स्मिथ बहुत अनुरोध करने पर भी इससे भिड़ने की हिम्मत नहीं कर सका। इसी ने आस्ट्रिया के जबरदस्त पहलवान विस्को को, दो घंटे पैंतालीस मिनट की करारी कुश्ती के बाद, पछाड़ा था। इसके भाई इमामबख्श ने भी स्विजरलैंड के नामी-गरामी पहलवान जॉन लेम को पछाड़ा था। इस (गामा) का गला अठारह इंच, छाती अड़तालीस इंच, भुजा अठारह इंच और जाँघ सत्ताइस इंच मोटी थी। कहते हैं, विलायत में यह रूस के सुप्रसिद्ध पहलवान हाकेन-स्मिट को भी नीचा दिखा चुका था।

गामा की ही तरह बंगाल के दो पहलवान भी संसार में अपनी विजय-दुंदुभी बजा आये। गोबर और भीम-भवानी ने संसार को यह दिखला दिया कि भारत के सबसे कमजोर प्रान्त बंगाल में भी संसार को नीचा दिखलाने की यथेष्ट शारीरिक शक्ति है। गोबर

---

१. 'रचनावली' के दूसरे खण्ड के १६८ पृष्ठ में भी 'सैण्डो' शीर्षक बालोपयोगी लेख छपा है। वह इस लेख के बाद का लिखा हुआ अत्यन्त संक्षिप्त परिचय मात्र है। —ले०

अमेरिका के सुविख्यात मल्ल 'गच' के साथ लड़ने के लिए वहाँ गया था; पर 'गच' राजी न हुआ।

भीम-भवानी ने भी कितने ही विदेशी पहलवानों को जमीन दिखलाकर बंगाल की शारीरिक दुर्बलता का कलंक-मोचन किया था। पहले-पहल प्रोफेसर राममूर्त्ति[1] जिस समय कलकत्ता में आये थे, उस समय भवानी उन्नीस वर्ष का छोकरा था। पर इसकी देह की गठन देखकर राममूर्त्ति ऐसे मुग्ध हुए कि अपने साथ इसे रंगून (बर्मा) लेते गये। वहाँ से यह उन्हीं के साथ सिंगापुर और जावा-द्वीप चला गया। जावा में इसने एक महाबलिष्ठ डच पहलवान को पछाड़ा, और संघाई में एक अमेरिकन पहलवान को पछाड़कर एक सौ डॉलर की बाजी मारी। उसी पहलवान की चलती हुई मोटर रोककर इनाम में इसने वही मोटर प्राप्त कर ली। फिर जापान-सम्राट् को अपने कौशल से प्रसन्न करके स्वर्णपदक और साढ़े सात सौ रुपये का पुरस्कार प्राप्त किया। इसी प्रकार एशिया के भिन्न-भिन्न देशों में हिप्पोड्रोम-सरकस के साथ भ्रमण करके, दोनों हाथों से दो मोटर-गाड़ियों को पकड़कर रोक देना, पाँच-छः मन के लोहे के बंदों को उठाकर लड़कों के खिलौने की तरह अपने हाथों पर उछालना, अपनी छाती पर चालीस मन का पत्थर रखकर उसपर चुने हुए बीस आदमियों को बैठा लेना, छः मजबूत आदमियों से भरे हुए एक पात्र को दाँतों से पकड़कर उठा लेना आदि तमाशे दिखलाये। एक बार इसने स्वयं भरतपुर-नरेश द्वारा खूब जोर से चलाई गई तीन मोटरों को एक ही रस्सी में बाँधकर रोक लिया था, और मुर्शिदाबाद के नवाब के एक मदोन्मत्त हाथी को भी अपनी छाती पर चढ़ाकर सबको चकित कर दिया था। लोहे की कड़ियों को धड़ाधड़ तोड़ देना, कंधे पर रखकर लोहे की मोटी छड़ को मोड़ देना और पचास जवानों से भरी हुई गाड़ी को अपने ऊपर से खिंचवाना आदि तो इसके बायें हाथ के खेल थे। यह राममूर्त्ति का पक्का चेला—सुयोग्य गुरु का सुयोग्य चेला निकला। गत संवत् १९७९ के कार्तिक-मास में, कलकता में, इसका देहान्त हुआ था।

इसी प्रकार भारत में अनेक पहलवान हुए, और हैं भी; पर व्यक्तिगत रूप से यश प्राप्त करने के सिवा संभवतः किसी ने स्वदेश का स्थायी उपकार नहीं किया। संस्था के रूप में शायद किसी का ऐसा कोई यश-स्तम्भ देश में विद्यमान नहीं, जिससे कुछ लोकोपकार हो सके।

आज यहाँ हम एक ऐसे विलायती पहलवान का परिचय देंगे, जिसने व्यक्तिगत यश प्राप्त करने के साथ-ही-साथ अपने देश का भी बहुत कुछ उपकार किया है। मालूम नहीं, प्रोफेसर राममूर्त्ति की कोई संस्था इस देश में कुछ काम करती है या नहीं। पर सुनने में आता है कि बड़ौदा का 'जुम्मादादा-व्यायाम-मन्दिर' लगातार पचीस वर्षों से मल्ल-विद्या का प्रचार कर रहा है। प्रो० राममूर्त्ति ने धन तो बहुत कमाया है; और वह चाहते, तो भारतीय नवयुवकों की शारीरिक उन्नति के लिए एक मल्ल-विश्वविद्यालय स्थापित कर सकते थे, पर उनका कोई ऐसा देश-हितकर स्थायी कार्य अभी तक सुनने में नहीं आया, यहाँ तक कि मल्ल-विद्या का साहित्य भी उनके द्वारा सम्पन्न नहीं हो सका।

१. प्रो० राममूर्त्ति का परिचय 'रचनावली' के दूसरे खण्ड में पृष्ठ १६४ पर छपा है।—ले०

हमारे देश के गुणी लोगों में संगठन और संस्था-संचालन की क्षमता बहुत कम देखी जाती है। किन्तु, यहाँ जिस विलायती पहलवान का परिचय दिया जा रहा है, उसने केवल सुसंचालित संस्था ही नहीं खोली, वरन् साहित्य-भाण्डार में भी बहुत कुछ रत्न-संचय किया है। उसका नाम है युजेन सैण्डो, जो अभी हाल में, गत ता० १४ अक्तूबर, १९२५ को ६५ वर्ष की अवस्था में स्वर्गवासी हुआ है।

'सैण्डो' जर्मनी का निवासी था। कानिग्जबर्ग-नामक स्थान में उसका जन्म हुआ था; किन्तु युवावस्था से ही वह इंगलैंड में रहा। लड़कपन में बहुत कमजोर था, इतना कमजोर कि कभी-कभी जीवन की आशा भी छोड़ देनी पड़ती थी। दस वर्ष की अवस्था में वह एक बार अपने पिता के साथ इटली गया। वहाँ उसने रोम और फ्लारस की गैलरियों में पत्थर और धातु की सुदृढ़ मूर्त्तियाँ देखीं। उनकी सुगठित आकृति देखकर उसने अपने पिता से पूछा कि अब आजकल ऐसे हृष्ट-पुष्ट मनुष्य हैं या नहीं? इसके उत्तर में उसके पिता ने बतलाया था कि गैलरी की ये मूर्त्तियाँ उस समय की हैं जब शक्ति ही सब कुछ थी—मनुष्य के अंग-प्रत्यंग ही उसके शस्त्र थे और शारीरिक शक्ति पर ही जीवन निर्भर था।

पिता के इस संकेत ने उसके कोमल हृदय पर जादू का-सा असर किया। वह उन्हीं मूर्त्तियों की तरह स्वस्थ एवं सुपुष्ट होने की चिन्ता करने लगा। कसरत करना भी शुरू कर दिया; पर अठारह वर्ष की अवस्था तक कुछ विशेष लाभ न हुआ। तब व्यवच्छेद-विद्या (Anatomy) का अभ्यास आरंभ किया। इससे मांस-पेशियाँ विशेष वृद्धिगत होने लगीं। इक्कीस वर्ष की अवस्था तक शरीर यथेष्ट प्रौढ़ हो गया।

सन् १८८९ ई० में सैमसन-नामक पहलवान ने लंदन में एक घोषणा प्रकाशित की थी कि जो कोई उसे पछाड़ेगा, वह एक हजार पौंड, और उसके चेले साइक्लोप्स को जो पछाड़ेगा, वह एक सौ पौंड इनाम पावेगा। इस घोषणा को सुनकर सैण्डो वेनिस-नगर से लंदन पहुँचा। वहाँ पहुँचकर सैमसन का चैलेंज स्वीकार कर लिया। साइक्लोप्स ने २४० पौंड का लोहे का बंद दोनों हाथों से अपने सिर से ऊँचा उठाया, सैण्डो ने एक ही हाथ से यह करामात कर दिखलाई। २१० पौंड के 'डंब-बेल' की कसरत में भी सैण्डो खूब सफल हुआ। साइक्लोप्स २४० पौंड का वजनी बोझ जिसपर दो आदमी भी लदे थे, अपनी पीठ पर लेकर खड़ा हो गया। सैण्डो ने भी ऐसा ही कर दिखलाया। इस प्रकार उसने सौ पौंड का पुरस्कार प्राप्त किया। फिर लोहे का मोटा छड़ और सीकड़ तोड़ने तथा २८० पौण्ड का 'डंब-बेल' भाँजने में सैमसन को भी परास्त कर दिया। किन्तु सैमसन साफ बेईमानी कर गया—दूसरे दिन सुबह १००० पौण्ड इनाम की रकम देने का वायदा करके टाल दिया। आखिर वह रकम सैण्डो को नहीं मिली।

इस विजय से सैण्डो बहुत लोकप्रिय हो गया। जनता ने खूब बधाइयाँ दीं—खूब स्वागत किया। पत्रों के झुंड-के-झुंड संवाददाता आने लगे। लोगों के बहुत अनुरोध करने पर सैण्डो ने १५० पौंड साप्ताहिक पारिश्रमिक लेकर अलहंबरा-नामक स्थान में

तीन महीने तक खेल दिखलाये। इसके बाद सैर करने के लिए वह एक बार जर्मनी गया। वहाँ गोलियथ-नामक एक प्रकाण्ड मनुष्य से भेंट हुई। वह पत्थर की खान में काम करता था; बड़े-बड़े पत्थर के टुकड़े बड़ी आसानी से उठाकर गाड़ियों पर लाद देता था। उसका आकार-प्रकार ऐसा विशाल एवं विकराल था कि सैण्डो का घोड़ा उसे देखकर भय से भड़क उठा। वह छः फीट ढाई इंच ऊँचा था। उसकी छाती ८० इंच चौड़ी थी। उसके शरीर का वजन ४०० पौण्ड था। उसके बूट-जूते इतने बड़े थे कि एक ही में सैण्डो के दोनों पैर आ जाते थे—सिर्फ आते ही न थे, भीतर-ही-भीतर भलीभाँति घुमाये जा सकते थे। उसका असली नाम 'कार्ल वेस्टफाल' था। खान में वह प्रतिदिन ५ मार्क (जर्मन-सिक्का) मजदूरी पाता था। सैण्डो ने प्रतिदिन २० मार्क देने का वायदा कर उसे अपने साथ रख लिया।

किन्तु सात-आठ सप्ताह लगातार शिक्षा देने के बाद सैण्डो ने देखा कि वह भारी-से-भारी बोझ उठाने के सिवा और किसी काम का नहीं है। उसे कुछ दिन अपने साथ रक्खा। एक बार वह सैण्डो से कुश्ती भी लड़ा। लेकिन फिर उसका कुछ पता न लगा कि कहाँ गया।

फ्रांस की राजधानी पेरिस में एक बार एक फ्रांसीसी ने सैण्डो को लड़ने के लिए ललकारा। साथ ही, सैण्डो की नाक पर कसकर एक मुक्का भी जमा दिया। क्षण-भर के लिए सैण्डो विचलित तो अवश्य हो गया, पर धीरे से आगे बढ़ उसकी गर्दन और घुटने पकड़कर उठा लिया। फिर गर्दन और घुटने जुटाकर जोर से मेज पर दे पटका। मेज टूट गई। वह धम्-से जमीन पर जा गिरा। उसके साथी-संगी मुँह बाकर स्तंभित रह गये। वह डेढ़ दिन तक अस्पताल में बेहोश पड़ा रहा। उसे देखने के लिए सैण्डो स्वयं अस्पताल में पहुँचा; पर उसने मुलाकात करने से इनकार कर दिया। लेकिन जब उसे मालूम हुआ कि सैण्डो के साथ मुठभेड़ हो गई थी, तब लदंन जाकर सैण्डो से क्षमा माँगी।

ग्रेट-ब्रिटेन में डंका पीटकर सैण्डो अमेरिका चला गया। वहाँ न्यूयार्क के एक होटल में, सोलहवें तल्ले पर, एक बलवान नवयुवक ने उसका तिरस्कार किया, यहाँ तक कि लड़ने पर आमादा हो गया। सैण्डो ने उसे चील की चंगुल में मांस की तरह उठाकर सोलहवें तल्ले के ऊपर से नीचे गिराना चाहा। उसकी चिल्लाहट सुनकर होटल के मैनेजर आदि यदि न आ जाते, तो उसकी हड्डियाँ जमीन पर बिखर जातीं।

न्यूयार्क में सैण्डो के कई व्याख्यान भी हुए, जिनमें अपार भीड़ होती और अमेरिका के बड़े-बड़े आदमी बड़े शौक से आते थे। न्यूयार्क से बोस्टन होता हुआ वह शिकागो पहुँचा। वहाँ उन दिनों एक बहुत बड़ी प्रदर्शनी हो रही थी। सैण्डो ने उसमें अपने भव्य बल-प्रदर्शन द्वारा प्रचुर धन-उपार्जन किया। शिकागो की जिस रंगशाला में सैण्डो के खेल होते थे, उसमें छः हजार आदमियों के बैठने की जगह थी, और हर खेल में रंगशाला भरी ही रहती थी।

शिकागो से चलकर सैण्डो सेंटलुई पहुँचा, और वहाँ अपने खेलों को दुहरानेवाले के लिए दस हजार डॉलर का पारितोषिक घोषित किया। एक नौजवान ने यह चैलेंज

स्वीकार कर लिया; पर उसने सैण्डो के सभी खेलों को दुहराकर दिखलाने में अपनी असमर्थता प्रकट की। तब सैण्डो ने कहा कि कोई एक खेल भी दिखा देने से—केवल तीन सौ पौण्ड का डंब-बेल उठा लेने से—पारितोषिक दिया जा सकता है। किन्तु वह इसपर भी तैयार नहीं हुआ।

सेंटलुई से सैण्डो सैन्फ्रांसिस्को पहुँचा, वहाँ शेर और भालू की लड़ाई का विज्ञापन निकाला। बीस हजार दर्शकों के योग्य एक सुविस्तृत रंगशाला बनाई गई। किन्तु पुलिस ने तमाशा रोक दिया। तब सैण्डो ने भालू की जगह खुद ही शेर से लड़ने का इरादा किया। अपने मित्रों के मना करने पर भी वह किंचित् विचलित न हुआ। फलतः धूमधाम से विज्ञापन प्रकाशित किया गया। जिस शेर के साथ लड़ाई होनेवाली थी, वह बड़ा ही जबरदस्त और भयंकर था। सैण्डो ने अपने जीवन में कहीं भी वैसा खूंख्वार शेर नहीं देखा था। सैण्डो उसके साथ अखाड़े में दंगल के लिए उतरा ही था कि वह गरजकर टूट पड़ा। सैंडो ने पैंतरे से उसका निशाना बचाकर बड़ी फुर्ती से उसे पकड़ लिया—बायें हाथ से गर्दन और दाहिने से कमर! सिर्फ पकड़ा ही नहीं, ५३० पौण्ड वजन के उस पशु-सम्राट् को सिर तक ऊँचा उठा कर जोर से जमीन पर पटक दिया। शेर क्रोधांध होकर फिर उछला, तो सैण्डो ने उसे अपनी पीठ पर ले लिया और पीछे हाथ करके बड़े जोर से उसका गला पकड़ कर अपने सामने फेंक दिया। शेर चारों खाने चित हो गया! इस प्रकार शेर पर अपने प्रचंड बल का आतंक जमाकर सैण्डो ने वहाँ बड़ी कीर्त्ति और सम्पत्ति कमाई।

दूसरे दिन फिर दंगल निश्चित हुआ, यद्यपि सैण्डो के शरीर में शेर ने कई जगह घाव कर दिये थे। आज के दंगल में भीड़ का कुछ ठिकाना न था। सैकड़ों फोटोग्राफर चारों ओर केमरा लिये बैठे थे। सैण्डो ज्योंही अखाड़े में उतरा, आँखें बराबर होते ही शेर स्तब्ध हो गया। वह अपने विजेता को पहचान गया। किन्तु दर्शकों की उत्कंठा शान्त करने के लिए सैण्डो ने शेर को शान्त न रहने दिया, उसकी पूँछ पकड़कर ऐंठने लगा। इसपर शेर बिगड़कर टूट पड़ा। किन्तु सैण्डो के उद्दंड भुजदंडों के सामने उसकी एक न चली। पहले दिन की तरह वह आज भी पछाड़ा गया। फिर तो ऐसा ठंडा पड़ गया कि सैण्डो उसे अपने कंधे पर लेकर अखाड़े में टहलने लग गया। घनघोर करतल-ध्वनि से रंगशाला गूँज उठी।

इसी तरह अपनी अद्भुत शारीरिक शक्ति का परिचय देते हुए सैण्डो ने आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड की भी सैर की। इन देशों में भी उसका बड़ा सम्मान हुआ। कई बड़े शहरों में उसने अपनी व्यायाम-प्रणाली के प्रचारार्थ संस्थाएँ भी स्थापित कीं। किन्तु भारत में उसकी प्रणाली की दाल न गली, यद्यपि वह आज से पचीस वर्ष पहले यहाँ भी आया था।

अद्भुत शक्तिशाली होने के साथ ही सैण्डो विद्वान् भी था। उसकी लिखी हुई बीस सचित्र पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनसे योरप में उसकी प्रणाली का खासा प्रचार हो गया है। सैण्डो-इंस्टीट्यूट द्वारा बहुत-सी अन्यान्य छोटी-मोटी पुस्तिकाएँ भी

निकली हैं, जिन्हें पढ़कर सुदूर देशान्तर में रहनेवाला मनुष्य भी सैण्डो-प्रणाली से लाभ उठा सकता है। स्त्री, पुरुष, बालक, युवा, वृद्ध, सभी उपकृत हो सकते हैं। लंदन में सैण्डो-प्रणाली का इतना आदर है कि सेना और पुलिस-विभाग के सिवा स्वयं सम्राट् भी उसका अभ्यास करते हैं। इसीलिए उन्होंने सैण्डो को अपना राजकीय व्यायाम-शिक्षक नियुक्त किया था। ऐसे सम्मान्य पद पर वर्त्तमान संसार का कोई पहलवान अभी तक नहीं पहुँचा। सैण्डो की मृत्यु से पाश्चात्य संसार का एक सुप्रतिष्ठित यशस्वी पुरुष-सिंह उठ गया![1]

—मासिक 'माधुरी' (लखनऊ); वर्ष ४, खण्ड २, संख्या १; माघ, तुलसीसंवत् ३०२, सन् १९२५ ई०

भारत में सैंडो-प्रणाली की व्यायाम-शिक्षा

[२]

योरप के विश्वविख्यात मल्ल 'युजेन सैंडो' का असल नाम 'फ्रेडरिक म्युलर' था; पर वह 'युजेन सैंडो' के नाम से ही संसार में प्रसिद्ध था। वह केवल पहलवान ही नहीं, विद्वान्, लेखक और वक्ता भी था। व्यायाम-शिक्षा पर उसकी लिखी हुई कई पुस्तकें अँगरेजी में हैं। व्यायाम-सम्बन्धी उसके व्याख्यान बड़े ओजस्वी होते थे। अपने शारीरिक बल और भाषणों के प्रभाव से उसने अन्य देशों में भी अपनी व्यायाम-प्रणाली का प्रचार किया था। कई देशों में संस्थाएँ भी स्थापित की थीं। लन्दन में 'सैंडो-इंस्टीच्यूट' से आज भी बहुतों को व्यायाम-शिक्षा मिल रही है। व्यायाम-सम्बन्धी साहित्य भी वहाँ से प्रकाशित होता है। उस संस्था द्वारा सुदूर देशों के लोगों को भी चिट्ठी-पत्री और व्यायाम-संबंधिनी पुस्तिकाओं द्वारा व्यायाम-शिक्षा दी जाती है। उस संस्था का पता है—३२, सेण्ट जेम्स स्ट्रीट, लंदन, एस्० डब्ल्यू०।

मैंने अपने उपर्युक्त लेख में लिखा है कि भारत में संभवतः किसी-किसी पहलवान का या किसी व्यायाम-विशारद का, संस्था के रूप में, ऐसा कोई यश-स्तम्भ

---

१. इस लेख में सोलह चित्र छपे थे—(१) मरने के साल (१९२५ ई० में) सैंडो की शारीरिक अवस्था, (२) सैंडो के शरीर की उभरी हुई पुष्ट नसें, (३) सैंडो (४० वर्ष की अवस्था में) कसरत कर रहे हैं, (४) सैंडो (४२ वर्ष की अवस्था) के पृष्ठ-भाग की पुष्ट मांस-पेशियाँ, (५) सैंडो मोटर खींचने का अभ्यास कर रहे हैं, (६) श्रीमती सैंडो, (७) आफिस की पोशाक में सैंडो, (८) सैंडो प्रणाली से कसरत करनेवाली एक स्त्री का शारीरिक सौन्दर्य, (९) सैंडो-प्रणाली से अनभिज्ञ एक अस्वस्थ छात्र, (१०) सैंडो-प्रणाली से अभ्यास करके स्वस्थ हुआ वही छात्र, (११) सैंडो-प्रणाली से स्वस्थ हुआ क्षयरोग का एक रोगी, (१२) सैंडो-प्रणाली से स्वस्थ हुआ हृद्रोग का एक रोगी, (१३) सैंडो-इंस्टीच्यूट में स्त्रियों की व्यायामशाला, (१४) सैंडो-इंस्टीच्यूट (३२, सेंट जेम्स स्ट्रीट, लंदन, एस्० डब्ल्यू०), (१५) सैंडो पुलिस के जवानों को कसरत सिखा रहे हैं, (१६) सैंडो शाही फौज को अपनी प्रणाली से 'डंब-बेल' सिखा रहे हैं।

विद्यमान नहीं है, जिसके द्वारा सुदूर स्थानों के निवासियों को डाक के जरिये व्यायाम शिक्षा दी जाती हो। किन्तु, सौभाग्यवश, कुछ दिनों के बाद, ऐसी दो संस्थाओं का पता लग गया, जो दक्षिण-भारत में हैं। इस लेख में उन्हीं दोनों संस्थाओं का (सचित्र) परिचय दिया गया है। पर मैं यह नहीं कह सकता कि उन संस्थाओं ने विदेशी व्यायाम-प्रणाली की नकल की है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उनमें सैंडो-प्रणाली द्वारा ही व्यायाम-शिक्षा दी जाती है, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उन संस्थाओं द्वारा सुदूर देशों के लोग भी घर-बैठे व्यायाम-शिक्षा पा रहे हैं और पा सकते हैं।

यदि आप व्यायामानुरागी हैं तो आप उटकमंड (Ootacamund) के प्रोफेसर एम्० वी० कृष्णराव को 'हेल्थ[1] एंड फिजिकल कल्चर सेनेटोरियम' के पते से पत्र लिखें, बँगलोर-सिटी (Bangalore City) के प्रोफेसर के० वी० ऐयर को 'हरक्यूलीज्[2] जिमनेसियम ऐंड फिजिकल कल्चर कॉरसपांडेंस स्कूल' के पते से पत्र लिखें; दो चार दिनों में ही आपके पास कुछ छपे फार्म, पर्चे, नियमावली, सचित्र पुस्तिकाएँ आदि पहुँच जायँगी। फिर आप घर-बैठे चिट्ठी-पत्री द्वारा व्यायाम-शिक्षा पाते रहें।

किन्तु खेद है कि अँगरेजी भाषा जाननेवाले लोग ही उक्त संस्थाओं से लाभ उठा सकते हैं; क्योंकि दोनों प्रोफेसर महोदय अँगरेजी में ही पत्र-व्यवहार करते हैं और पुस्तिका तथा नियमावली भी अँगरेजी में छपी हुई है। फार्म और पर्चे भी अँगरेजी में ही हैं। केवल हिन्दी जाननेवाले लोग उन संस्थाओं से पूरा-पूरा लाभ उठा सकते हैं या नहीं, इस विषय में कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती। जान पड़ता है, उत्तर भारत में उन संस्थाओं की व्यायाम-पद्धति का विशेष प्रचार नहीं है। यदि होता तो संस्थाएँ अवश्य ही हिन्दी की आवश्यकता का अनुभव करतीं। यह भी संभव है कि केवल हिन्दी जाननेवाले लोग व्यायाम-शिक्षा के लिए ऐसी विदेशी प्रणाली का अवलम्बन करना नहीं चाहते; वे अखाड़े के उस्ताद की शिक्षा-पद्धति को ही अधिक पसन्द करते हैं। फिर भी उन संस्थाओं से यह अनुरोध करना चाहिए कि अपने शिक्षाक्रम में वे राष्ट्रभाषा हिन्दी को भी स्थान दें। ऐसा अनुरोध तो दक्षिण-भारत-हिन्दी-प्रचार-कार्यालय ही कर सकता है, और उसी के अनुरोध का अभीष्ट प्रभाव भी पड़ सकता है।

प्रोफेसर कृष्णराव 'फिजिकल कल्चर'-नामक पत्र के सम्पादक भी हैं। उन्हें लगभग तीस-बत्तीस स्वर्णपदक प्राप्त हो चुके हैं। रजत-पदकों की कोई गिनती नहीं। वह ईडर-नरेश और मैसूर के युवराज के भी व्यायाम-शिक्षा के सलाहकार हैं। उनकी भी एक संस्था बँगलोर सिटी में है, जिसके संरक्षक मैसूर-नरेश रह चुके हैं।

लगभग पचीस वर्षों से प्रोफेसर कृष्णराव व्यायाम-क्षेत्र में काम कर रहे हैं। उनकी संस्था द्वारा आज तक पचास हजार से भी अधिक मनुष्यों ने लाभ उठाया है। बर्मा,

---

१. Health and Physical Culture Sanatorium.

२. Hercules Gymnasium and Physical Culture Correspondence School.

सीलोन, चीन, जापान और अफ्रिका के व्यायाम-प्रेमियों ने भी उनकी शिक्षाओं के सहारे शारीरिक उन्नति की है। उनके परामर्शों से जो लोग व्यायाम करके सबल बनते हैं, उनलोगों के फोटो मँगाकर वह परीक्षा करते हैं, और देह की सबसे अच्छी गठन जिसकी होती है, उसको पुरस्कार देते हैं। उनका शिष्य बनने के लिए केवल आठ रुपये की फीस देनी पड़ती है। जिस शिष्य का शरीर सुडौल, स्वस्थ, सुदृढ़ और सबल होता है, उसको वह रत्न-जटित स्वर्णपदक प्रदान करते हैं। यही प्रथम पुरस्कार है। इसके साथ एक प्रशंसा-पत्र (डिप्लोमा) भी देते हैं। दूसरे और तीसरे पुरस्कार में केवल शुद्ध सोने का पदक। चौथे पुरस्कार में स्वर्ण-बिन्दुयुक्त रजत पदक। प्रत्येक पदक के साथ डिप्लोमा भी।

उक्त चार प्रमुख पुरस्कारों के अतिरिक्त अन्य शिष्यों को केवल प्रशंसा-पत्र देते हैं। ऐसे प्रशंसा-पत्र करीब एक हजार बँटते हैं। पुरस्कार-विजेताओं का सचित्र परिचय उनके 'फिजिकल कल्चर' पत्र में प्रकाशित कर दिया जाता है। मद्रास, कलकत्ता और बम्बई के दैनिक पत्रों में भी वही सचित्र परिचय भेज दिया जाता है।

चिट्ठी-पत्री या लिखा-पढ़ी करके व्यायाम की शिक्षा देने में आजतक उनको आश्चर्य-जनक सफलता प्राप्त हुई है। भारत और विदेशों में उनके अनेक शिष्य वर्त्तमान हैं। उनके भारतीय शिष्यों में बम्बई के 'वीवियन देसाई' की शारीरिक गठन अत्यन्त प्रशंसनीय और दर्शनीय है। यह महाशय भारत के बलवान् पुरुषों में गिने जाते हैं। प्रोफेसर साहब के कुछ अन्य शिष्यों के नाम ये हैं—मि० जोजफ दसप्पा, पेट्स एडगस जोजफ, मि० वी० एम्० मुनीस्वामी राव, मि० एस्-पी० डेनिस डेभीडोरा, मि० एस्० के० टी० कुलंथियन चेट्टियर।

स्वयं प्रोफेसर साहब के शरीर की गठन में व्यायाम की महिमा प्रत्यक्ष है। सन् १९३३ ई० की पहली अगस्त को उनके सुघटित शरीर का माप और तौल इस प्रकार था—

अवस्था—३७ वर्ष	जंघा—२६ इंच
ऊँचाई—५ फीट ६ इंच	मांसल भुजा—१६½ इंच
तौल—१७५ पौण्ड	कंधा—१२½ इंच
गर्दन—१८ इंच	छाती (साधारण अवस्था में)—४६ इंच
कमर—३३ इंच	,, (फुलाने पर)—५२ इंच

प्रोफेसर ऐयर की संस्था, जिसका उल्लेख हो चुका है, सन् १९२२ ईसवी में स्थापित हुई थी। सन् १९२१ ईसवी में उनकी शारीरिक स्थिति अच्छी न थी। अपनी दुर्बलता से खिन्न होकर उन्होंने व्यायाम की शरण ली। परिणाम सन्तोषजनक हुआ। मन की ग्लानि दूर होने लगी। शक्ति-वृद्धि का क्रम बढ़ने लगा। छः महीनों तक लगातार कसरत करने के बाद १५ जून (१९२१) को उन्होंने अपने शरीर के माप और तौल की जाँच की। नतीजा यह निकला—

अवस्था—२१ वर्ष	मांसल भुजा—८½ इंच
ऊँचाई—५ फीट ३ इंच	कन्धा—१०¾ इंच
तौल—११८ पौण्ड	कलाई—६¾ इंच

गर्दन—१३ इंच छाती (साधारण दशा में)—३२ इंच
कमर—२६ इंच ,, (फुलाने पर)—३३¼ इंच
जंघा—१९¼ इंच

इस परिणाम से उनका उत्साह बढ़ा। वे नियमित व्यायाम करने लगे। शारीरिक सौन्दर्य का विकास होने लगा। तब उन्होंने अपने देश-बन्धुओं को भी लाभ पहुँचाने के लिए एक संस्था खोल दी। पास-पड़ोस के लोगों के सिवा सुदूर देशों के लोगों को भी अपनी संस्था द्वारा व्यायाम-शिक्षा देने लगे। विदेशों तक में उनकी शिक्षा-प्रणाली का प्रसार हुआ। डरबन (दक्षिण अफ्रिका)-निवासी उनके भारतीय शिष्य सी० अन्नामलाई का शारीरिक सौष्ठव अपूर्व है।

पेनांग (मलाया)-निवासी एक शिष्य ने घर बैठे चिट्ठी-पत्री करके प्रोफेसर ऐयर की व्यायाम-दीक्षा से काफी लाभ उठाया है। प्रोफेसर ऐयर के शिष्यों में एरनाकुलम् (मालावार-प्रांत) के श्रीयुत टी० सी० जी० मेनन् और हुबली की कर्णाटक-व्यायाम-शाला के संस्थापक श्रीयुत् एन्० सी० पटेल तथा कुछ ही दिनों के अभ्यास से शारीरिक संघटन में आश्चर्यजनक उन्नति दिखानेवाले श्रीयुत एच्० वी० शंकर विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्रोफेसर ऐयर के उपर्युक्त पाँच शिष्यों के अतिरिक्त और भी अनेक शिष्य हैं, जिनके शरीर का विकास और मांस-पेशियों की दृढ़ता देखने ही योग्य है। रंगून के मिस्टर ई० राबर्टसन्, बम्बई के मोहम्मद अली अबदुल्ला भाई और मलाया के चैम्पियन बॉक्सर (घूँसेबाज, मुष्टियुद्ध-विशारद) जुलियन विजय सिंह का डीलडौल और स्नायुओं का उभाड़ देखकर प्रोफेसर ऐयर की डाक द्वारा दी जानेवाली शिक्षा के महत्त्व का सहज ही अनुमान हो सकता है। इससे यह भी प्रत्यक्ष है कि उनकी शिक्षा-प्रणाली से हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सभी समानरूपेण लाभान्वित हुए हैं। सरकारी पुलिस और सेना-विभागों के बड़े-बड़े अफसरों ने भी उनकी शिक्षा-प्रणाली के अभ्यासी बनकर अपनी शारीरिक उन्नति की है। उन्हें मैसूर-राज्य के सैन्य-विभाग में व्यायाम-शिक्षक होने का गौरव भी प्राप्त है। उनकी संस्था भी मैसूर-राज्य के शिक्षा-विभाग द्वारा अनुमोदित है।

प्रसंगवश यहाँ यह भी बतलाना आवश्यक है कि प्रोफेसर ऐयर की भाँति पूर्वोक्त प्रोफेसर कृष्णराव के शिष्य-वर्ग में भी कई अँगरेज, मुसलमान, सिंहली, पारसी, बंगाली और राजस्थानी हैं। माउंट आबू (राजपूताना) के फौजी अफसर मिस्टर डब्ल्यू० आर० ड्रम्स, दक्षिण भारत के मिस्टर ई० एन्० स्मिथ, कोलम्बो के मिस्टर एस्० पी० जॉन चेलिया, नसीराबाद के फौजी अफसर मिस्टर ए० लॉग हर्स्ट, जयपुर सिटी के श्रीयुत डी० एस्० पाठक (स्वर्ण-पदक-विजेता), श्रीयुत के० जी० बनर्जी (कलकत्ता), मुहम्मद सलीम खाँ (बनारस), मिस्टर फुसिलर सिरिल डाल्टन (नजीराबाद, राजपूताना) आदि के नाम इसके प्रमाण हैं। कंपाटी के एक अँगरेज फौजी अफसर ने अपनी शारीरिक उन्नति पर संतोष प्रकट करते और प्रोफेसर कृष्णराव को बधाई देते हुए यहाँ तक लिखा है कि फौज के सिपाहियों को भी इसी प्रणाली से

व्यायाम करने का आदेश दिया गया है। हैदराबाद (सिंध) के एक पेंशनयाफ्ता चीफ इंजिनियर (दीवान तुलजाराम दौलतराम) ने तो अपने एक पत्र में प्रोफेसर कृष्णराव को बड़े मार्के की बात लिखी है। वे लिखते हैं—"मैं ६४ वर्ष की अवस्था में (१९२२ ई० में) आपकी व्यायाम-प्रणाली का अभ्यासी बना। उसी साल मोगा (पंजाब) के भारत-प्रसिद्ध नेत्र-चिकित्सक रायबहादुर मथुरादास ने मेरी आँखों का आपरेशन किया। सतसठ वर्ष की अवस्था में मैं विधुर हुआ। इस समय (सन् १९३२ ई० में) मेरी अवस्था चौहत्तर वर्ष की है। मैं बराबर आपके शिक्षाक्रम का अभ्यास कर रहा हूँ। आपकी वैज्ञानिक पद्धति के प्रभाव से मेरा स्वास्थ्य बहुत ही अच्छा है।"

इसी प्रकार प्रोफेसर ऐयर के एक अँगरेज शिष्य (सी० विलियम्स) ने सहारनपुर से लिखा है—"यदि मैं आपकी प्रणाली का अभ्यास न करता, तो जीवन नष्ट हो जाता—मैं जी नहीं सकता। आपने मेरे जीवन को बचा लिया। मेरी बुरी आदतें हवा हो गईं। मैं मनुष्य बन गया—एक नया जीवन पा गया। आपका शिक्षाक्रम मेरे लिए ईश्वर का प्रसाद या वरदान बन गया।"

इसी प्रकार, कानपुर से एच्० जी० लैंबर्ट-नामक एक अँगरेज सज्जन ने लिखा है—"मेरे प्यारे उस्ताद, एक पखवारे के अन्दर मेरी छाती दो इंच और गर्दन एक इंच बढ़ गई है।"

सिंगापुर से भी एक सज्जन (लिमनक सांग) ने भी लिखा है कि एक महीने में तीन इंच छाती बढ़ गई। बँगलोर-सिटी से एक अँगरेज (जी० ग्रम्ब्रेल) ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है—"मैं इंगलैंड-निवासी हूँ और पाश्चात्य-व्यायाम-पद्धति का जानकार भी; पर आपकी वैज्ञानिक प्रणाली के विषय में मैं ईमानदारी के साथ कह सकता हूँ कि वह संसार में सर्वश्रेष्ठ है।"

खास इंगलैंड से केंट-निवासी मिस्टर डब्ल्यू० बी० पैक्टम ने लिखा है कि दो सप्ताह के अभ्यास से ही मैं आपके शिक्षा-क्रम की उत्तमता स्वीकार करता हूँ। इसी तरह पेनांग, बर्मा, सीलोन, पंजाब, राजपूताना, ट्रावनकोर, बम्बई, संयुक्तप्रदेश आदि के बहुतेरे देशी-विदेशी सज्जनों ने उस्ताद ऐयर के शिक्षाक्रम की प्रशंसा की है। इस ढंग के प्रशंसा-पत्रों को पूर्वोक्त प्रोफेसर कृष्णराव ने भी प्राप्त किया है। इन दोनों प्रोफेसरों की सफलता भारत के लिए गौरव की वस्तु है।

प्रोफेसर ऐयर के शारीरिक माप-तौल का उल्लेख पहले किया गया है। परन्तु वह बहुत दिनों पहले का है। उसके ठीक दस साल बाद, सन् १९३१ ई० की १५ वीं जून को, उनकी शारीरिक स्थिति कैसी थी, यह नीचे के विवरण में देखिए—

अवस्था—३१ वर्ष	जंघा—२३ इंच
ऊँचाई—५ फीट ७ इंच	मांसल भुजा—१३½ इंच
तौल—१६७ पौंड	कन्धा—१६¼ इंच
गर्दन—१७ इंच	कलाई—७ इंच
कमर—३० इंच	छाती—४४ इंच
	छाती (फुलाने पर)—४८ इंच

उनकी जंघा, छाती और भुजा की मांस-पेशियाँ अत्यंत दृढ़ और सुन्दर हैं। पीठ और पैर की मांस-पेशियों में बड़ा आकर्षण है! समस्त शरीर की मांस-पेशियों का उभाड़ वास्तव में दर्शनीय है। व्यायाम के बाद विश्राम करते समय का शारीरिक सौंदर्य तो बड़ा ही चित्ताकर्षक है!

किन्तु कुछ व्यायाम-प्रेमियों का कथन है कि उक्त दोनों प्रोफेसर महोदयों की वैज्ञानिक व्यायाम-पद्धति में भारतीयता का अंश बहुत ही कम है—वे वैदेशिक प्रणाली से काम लेते हैं। पर उनके शिक्षाक्रम पर ध्यान देने से विदित होता है कि अभ्यासी के लिए पथ्य, संयम आदि की व्यवस्था देने में वे भारतीय शैली का ही पालन करते हैं। तब यही कहना ठीक होगा कि प्राच्य और पाश्चात्य प्रणालियों में जो कुछ सर्वग्राह्य होने योग्य है, उसी को उन्होंने अपनाया है। शुद्ध भारतीय ढंग शायद विदेशियों के लिए उपयोगी अथवा सुविधाजनक न हो सकता। इसीलिए उन्हें देशी-विदेशी प्रणालियों का सम्मिश्रण करना पड़ा है। विशुद्ध भारतीय प्रणाली के समर्थक और पोषक अभी तक उपर्युक्त ढंग की संस्थाएँ नहीं बना सके।

बड़ोदा के जुम्मा-दादा-व्यायाम-मंदिर और अखिल महाराष्ट्रीय शारीरिक शिक्षण-परिषद् में शुद्ध भारतीय रीति से ही व्यायाम-शिक्षा दी जाती है; पर डाक द्वारा दूर देशस्थ व्यक्तियों में शिक्षा प्रचार करने का क्रम वहाँ नहीं है। अखिल बंगाल-व्यायाम-शिक्षा-संघ द्वारा भी स्थानीय लोगों को ही शिक्षा दी जाती है। इस संघ को स्वनामधन्य स्वर्गीय सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के भाई कैप्टन जे० ए० बनर्जी ने अपनी सारी सम्पत्ति—जो लगभग सवा लाख रुपये की है—दान कर दी है। भारत में यह अपने ढंग का पहला दान है। बंगाल में इस समय शारीरिक व्यायाम का प्रचार और अनुराग दिन-दिन बढ़ रहा है।

बिहार, संयुक्तप्रान्त, मध्यप्रदेश, मध्यभारत, राजपूताना, पंजाब आदि प्रान्तों में व्यायाम-शिक्षा के लिए कोई संगठित अथवा सामूहिक प्रयत्न नहीं हो रहा है। इस विषय में मेरा अनुसंधान और ज्ञान अधूरा है। हाँ, कुछ दिन हुए, संयुक्त प्रांत के पत्रों में श्रीवासिष्ठजी के उद्योग से स्वयंसेवक-दल के नियमित व्यायाम-शिक्षण के लिए कुछ प्रमुख स्थानों में अस्थायी शिविरों के खुलने की चर्चा चली थी, जिसमें सम्भवतः अमरावती की हनुमान-व्यायामशाला का भी कुछ सहयोग था; पर कहीं कोई ठोस काम होने का मुझे अभी कुछ पता नहीं। उक्त हनुमान-व्यायामशाला बहुत प्रसिद्ध है; पर उसका शिक्षण-क्रम भी स्थानीय लोगों में ही चलता है।

सन् १९२३ ई० में 'कलियुगी भीम', आंध्र-वीर-कंठीरव, मल्लराज-तिलक, प्रोफेसर के० राममूर्त्ति ने 'फिजिकल कल्चर'-नामक एक पुस्तिका अँगरेजी में प्रकाशित की थी, जिसमें उन्होंने भारतीय विश्वविद्यालयों के लिए व्यायाम-शिक्षण की व्यावहारिक योजना उपस्थित की थी। वह पुस्तिका अहमदाबाद के गुजरात-विद्यापीठ के आचार्य की ओर से वितरित हुई थी और भारतीय युवकों को समर्पित थी। पर वह स्कीम कार्यान्वित न हो सकी। उस स्कीम की बातें इस लेख में प्रकरण-विरुद्ध सिद्ध होंगी। किन्तु पाठकों को यह जानकर हर्ष होगा कि उस योजना के जनक अब काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय में पहुँचकर स्थायी रूप से अपनी स्कीम को चालू करने का प्रयत्न कर रहे हैं। तारीख १५

दिसम्बर (१९३५ ई०) के साप्ताहिक 'सनातनधर्म' (काशी) में जो एक प्रकार से हिन्दू-विश्वविद्यालय का मुखपत्र है, निम्नलिखित उत्साहवर्द्धिनी सूचना छपी थी—

"फिजिकल ट्रेनिङ्ग कालेज के प्रधानाध्यापक के पद पर पूज्य मालवीयजी ने विश्व-विख्यात कलियुगी भीम प्रोफेसर राममूर्त्तिजी को नियत किया है। उनकी देखरेख में करीब १२५ छात्रों ने नियमित व्यायाम करना आरम्भ कर दिया है, और इस थोड़े-से समय में ही उक्त व्यायाम का प्रभाव भी आश्चर्यजनक पड़ा है। आजकल के विद्यार्थियों में से निन्नानबे फी सदी के स्वास्थ्य को घुन की तरह खानेवाली भयंकर बीमारियाँ—जैसे अपच, बदहजमी, बद्धकोष्ठता, अजीर्ण, स्वप्नदोष आदि बीस या पचीस दिन में हवा हो गई हैं। प्रोफेसर राममूर्त्तिजी का उद्देश्य काशी-विश्वविद्यालय तक ही सीमित नहीं है; उनका उद्देश्य बहुत विस्तृत और महत्त्वशाली है। वे काशी-विश्वविद्यालय को आदर्श बनाकर उसका आदर्श समस्त संसार के सामने रखना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि सारे भारतवर्ष में, जगत् के प्रत्येक विद्यालय और विश्वविद्यालय में, हमारे फिजिकल ट्रेनिङ्ग-कॉलेज की शाखाएँ खोली जायँ। हमें पूर्ण आशा है कि हमारी अमूल्य निधि—आसन, प्राणायाम, ध्यान की विद्या, अर्थात् योग-विद्या—का, जिसे आजकल के भारतीय विद्यालयों और विश्वविद्यालयों ने अँगरेजी-शिक्षा के प्रभाव में पड़कर भुला दिया है, जीर्णोद्धार कर हमारी गिरी हुई शारीरिक और मानसिक अवस्था का सुधार करेंगे और प्रोफेसर साहब हममें नवीन शक्ति, नवीन बल-वीर्य व शौर्य का संचार कर देंगे।"—(श्री शुभकरण कविराज (एम्० ए०), विद्यार्थी फिजिकल ट्रेनिङ्ग-क्लास)।

उपरि-लिखित सूचना में आशा की ज्योति भरपूर है। ईश्वर करें, प्रोफेसर साहब की मन-कामना पूर्ण हो। गत १५ दिसम्बर (१९३५) को विश्वविद्यालय के कोर्ट के वार्षिकोत्सव में वायस चांसलर महामना मालवीयजी ने भी घोषित किया है कि अनिवार्य व्यायाम की एक महत्त्वपूर्ण योजना विचाराधीन है। हम सबको आशा करनी चाहिए कि हिन्दू-विश्वविद्यालय के प्रयत्न से विशुद्ध भारतीय व्यायाम-पद्धति विश्वव्यापिनी होकर रहेगी।

गत वर्ष के अक्तूबर महीने में काशी के सुप्रसिद्ध हिन्दी-दैनिक 'आज' के संवाददाता ने प्रोफेसर राममूर्त्ति से भेंट करके प्राच्य और पाश्चात्य व्यायाम-प्रणाली के विषय में बातचीत की थी। प्रोफेसर साहब ने स्पष्ट कहा था—"हमारे देश के शिक्षित नवयुवक प्राचीन भारतीय व्यायाम-पद्धति को छोड़कर पाश्चात्य पद्धति का अनुसरण करने लगे हैं, जिसका परिणाम यह हो रहा है कि वे न इधर के रहे, न उधर के। सन् १९२७ ई० से ही भारतीय नवयुवकों के लिए सुव्यवस्थित व्यायाम-शिक्षा का प्रबन्ध करने के निमित्त हम प्रयत्न कर रहे हैं। १९२३ ई० और १९२८ ई० में हमने अपनी योजना सरकार के पास भेजी थी; परन्तु उसपर ध्यान नहीं दिया गया। १९२८ ई० में डाक्टर मुंजे ने बड़ी कौंसिल में एक प्रस्ताव इसी योजना के सम्बन्ध में रक्खा था; पर उसमें भी सफलता नहीं मिली। १९१७ ई० में मद्रास-सरकार ने प्रभावशाली डायरेक्टरों के निरीक्षण में एक संस्था खोली थी; पर उसने कुछ भी कार्य नहीं किया। अब काशी-

हिन्दू-विश्वविद्यालय की कौंसिल ने व्यायाम-शिक्षा को अनिवार्य बनाने के सम्बन्ध में हाल हीं में प्रस्ताव पास किया है। उसे कार्यान्वित करने के लिए ही यहाँ मेरा आना हुआ है। मैं प्राचीन भारतीय पद्धति के अनुसार छात्रों को व्यायाम और योग की शिक्षा देना चाहता हूँ। व्यायाम-शिक्षा के सम्बन्ध में आजकल बड़ी चर्चा हो रही है; पर व्यायाम कैसा होना चाहिए, इसे कोई समझता नहीं। व्यायाम-शिक्षा का अर्थ नवयुवकों को आत्मरक्षा, बल-कौशल आदि में पूर्णतः कुशल बनाना है। आसन, वंदना आदि व्यायाम से संबद्ध हैं।"

'आज' के संवाददाता ने अपने इंटरव्यू में यह भी लिखा था कि प्रोफेसर साहब ने हिन्दू-विश्वविद्यालय में जो क्लास खोला है; उसका नाम 'एंशेंट इंडियन साइंटिफिक यौगिक कलचर' (प्राचीन भारतीय वैज्ञानिक योग-शिक्षा) रक्खा है।

जहाँ तक मुझे मालूम है, व्यायाम-शिक्षा के साथ योगाभ्यास का संबंध जोड़नेवाली कोई सुसंघटित संस्था इस देश में नहीं है। यों तो योगाश्रम बहुत हैं; पर जनता के शारीरिक और मानसिक उत्कर्ष का प्रयत्न नहीं करते।

हाँ, पूना के पास किसी स्थान में 'कैवल्यधाम'-नामक एक आश्रम है। वह सन् १९२५ ई० में स्थापित हुआ था। उसके संस्थापक और संचालक स्वामी कुवलयानन्द हैं। वे 'योगमीमांसा'-नामक त्रैमासिक पत्रिका भी निकालते हैं। अभी हाल ही में बम्बई-प्रांत की सरकार ने उस आश्रम को बारह रुपये वार्षिक लगान पर एक सुन्दर भू-खंड प्रदान किया है, जो 'चरनी रोड' रेलवे-स्टेशन के निकट समुद्र-तट पर है। उस आश्रम में भारत के विभिन्न भागों से रोग-पीड़ित लोग यौगिक चिकित्सा के लिए पहुँचते हैं। संभवतः पत्र-व्यवहार द्वारा भी वहाँ से स्वास्थ्य-शिक्षा दी जाती है। आशा है, इस लेख से पाठकों का मनोरंजन और कुछ उपकार भी होगा। तथास्तु।[1]

—मासिक 'माधुरी' (लखनऊ); अप्रैल, सन् १९३६ ई०

---

१. इस लेख में तेईस चित्र छपे थे—(१) प्रो० एम्० वी० कृष्णराव (शरीर की सुन्दर गठन, (२) मि० वीवियन देसाई (बम्बई); (३) मि० पेट्स एडगस जोजेफ (पांडिचेरी); (४) मि० डेनिस डेमोडारा (सीलोन); (५) मि० वी० एम्० मुनीस्वामी राव (चिकमागालर); (६) मि० जोजेफ दसप्पा (पांडिचेरी); (७) मि० एस्० के० टी० कुलंथियन चेट्टियर (जाहौर स्टेट); (८) प्रोफेसर साहब के सुघटित शरीर की सुपुष्ट मांस-पेशियाँ; (९) प्रो० राव का शरीर (अपने ढंग का व्यायाम करने से); (१०) प्रोफेसर एम्० वी० कृष्णराव; (११) प्रोफेसर ऐयर के शरीर की पूर्वावस्था; (१२) सी० अन्नामलाई, डरबन (दक्षिण-आफ्रिका); आपका कहना है कि इतनी दूर रहने पर भी ऐयर-प्रणाली से व्यायाम करने में कोई असुविधा नहीं। (१३) वाई० वी० के मूर्त्ति (प्रोफेसर साहब के एक शिष्य); (१४) ऐयर-प्रणाली के अभ्यासी एक (पेनांग-निवासी) मलायी; (१५) टी० सी० जी० मेनन्; (१६) एन्० सी० पटेल (हुबली की कर्णाटक-व्यायामशाला के संस्थापक); (१७) एच० बी० शंकर (ऐयर-व्यायाम-पद्धति के अभ्यासी); (१८) प्रो० ऐयर के शरीर का माप-तौल; (१९) जंघा, छाती, भुजा की मांसपेशियाँ; (२०) प्रोफेसर साहब की पीठ और पैर की मांस-पेशियाँ; (२१) समस्त शरीर की मांस-पेशियों का उभाड़; (२२) प्रोफेसर ऐयर का व्यायाम के बाद विश्राम; (२३) ऐयर-प्रणाली के अभ्यासी और चैंपियन खिलाड़ी ए० टी० कलन (पूना) एक सुन्दर पोज में (सुन्दर शारीरिक गठन का नमूना)।

पंडित नित्यानन्द मीमांसक

मनीषिमण्डली-मण्डन मीमांसक-मौलि-मणि श्रीनित्यानन्दजी काशी की विद्वन्मणि-माला के नायक-मणि थे। गत मार्गशीर्ष-कृष्ण १३, संवत् १९८१ वि०, सोमवार (२४ नवम्बर, १९२४) को, अर्द्धरात्रि के बाद, केदार-घाट पर, गौरीकुण्ड और गंगाजी में गोते लगाते हुए, ८७ वर्ष की अवस्था में, आपका शरीरपात हो गया। अन्त समय में अतिसार से आपका शरीर निर्मल हो गया था। दस दिनों तक तो आप केवल गंगाजल पीकर ही व्रत करते रहे। आपका शव-संस्कार बड़े समारोह से हुआ। उसमें काशी के बड़े-बड़े प्रतिष्ठित विद्वान् सम्मिलित हुए थे।

संवत् १८९६ वि० की पौष शुक्लाष्टमी को आपका शुभ जन्म हुआ था। पंजाब-प्रान्त के काँगड़ा-जिले का हरिपुर-मुलेर नामक गाँव आपका जन्म-स्थान है। आपके पिता का नाम था पण्डित भीमसेनजी। आप काश्मीर और मण्डी आदि देशी रियासतों के कुल-पूज्य पुरोहित वड्डू-सारस्वत ब्राह्मण थे। लड़कपन से ही आपकी आस्तिकता और प्रत्युपन्नमतित्व देखकर लोग चकित रहते थे। केवल २२ वर्ष की अवस्था में घर से सिर्फ लोटा-धोती लेकर आप अमृतसर भागकर चले आये। वहाँ पण्डित मेलारामजी से व्याकरण और न्याय पढ़ा। अपनी विपन्नावस्था के कारण आप पेड़ की सूखी पत्तियाँ जलाकर और एक पैसा रोज के चने चबाकर बड़ी मननशीलता और श्रद्धा के साथ विद्याध्ययन करते रहे। अपने पाण्डित्य के प्रताप से आपने लाखों रुपये कमाये। अन्त समय अपने सुयोग्य अधिकारियों के लिए आप प्रचुर सम्पत्ति छोड़ गये हैं।

संवत् १९३२ वि० में आप काशी आये। यहाँ आकर न्याय, वेदान्त और मीमांसा-शास्त्रों का अध्ययन किया। श्रीराधामोहन भट्टाचार्य से नव्यन्याय और साम्ब शास्त्री के पिता स्वामी शास्त्री से मीमांसा, वेदान्त आदि पढ़ा। जगत्प्रसिद्ध त्र्यम्बक शास्त्री के पिता अमृत शास्त्री से आपने आयुर्वेद भी पढ़ा। उसके आप बड़े मर्मज्ञ थे। आज भी आपके कई शिष्य पीयूषपाणि वैद्य हैं। अनेक प्रकार के उत्तमोत्तम रस आप स्वयं बना लिया करते थे। पाक-शास्त्र के तो आप अद्‌भुत पण्डित थे। बड़ा ही सुस्वादु भोजन बनाते थे। प्रायः कहा करते थे कि रसोई उसीके हाथ की मीठी होती है, जो सदाचारी, उदार, शान्तिप्रिय, धर्मनिष्ठ, विचारवान् और शुद्ध प्रकृति का होता है। आप स्वयं भी बड़े आस्तिक, स्पष्टवादी, सरल-हृदय, साधु-प्रकृति, अत्माभिमानी और सत्यप्रिय थे। पठन-पाठन और भगवद्‌भजन के सिवा आपका कोई कर्त्तव्य ही नहीं था।

कैलासवासी होने से दो-तीन महीने पहले तक आप प्रतिदिन तीन बार गंगा-स्नान करते थे। आजीवन बारहों महीने आपका यही नियम रहा। दो बजे रात से दस बजे दिन तक आप केवल धार्मिक कृत्यों में ही व्यस्त रहा करते थे। रोज ही कई हजार गायत्री-जप करते थे। सन्ध्याकाल के चार घण्टे जप-ध्यान में ही बीतते थे। शेष समय में आप विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे। कर्मकाण्ड और धर्मशास्त्र में भी आपकी अमोघ गति थी।

न्याय-वेदान्त के सभी उच्च कोटि के कठिन और जटिल ग्रंथ, हजारों बार पढ़ाने के कारण, आपके कण्ठस्थ थे। देहावसान के एक वर्ष पूर्व तक आप काशी के कितने ही विद्वानों को मीमांसा-शास्त्र पढ़ाया करते थे। भारतवर्ष में पूर्व-मीमांसा-शास्त्र के आप एक ही विद्वान् थे। आपके उठ जाने से इस शास्त्र का एक प्रकार से लोप-सा हो गया।

इसीलिए द्वारका-पीठ के जगद्गुरु शंकराचार्य स्वर्गीय स्वामी श्री १००८ माधवतीर्थ जी महाराज, माननीय मालवीय जी और साहित्याचार्य प्रोफेसर रामावतार शर्मा, एम्० ए० आदि आपके परम भक्त थे। काशी की विद्वन्मण्डली आपको बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखती थी। वास्तव में इस समय काशी में आप ही एकमात्र वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध विद्वान् रह गये थे। आपके लोकान्तरित होने से काशी में अब एक भी कोई प्राचीन विद्वान् न रह गया। आपकी अवस्था का कोई विद्वान् वहाँ था भी नहीं और है भी नहीं। स्वामी विशुद्धानन्द जी महाराज और साधुवेला-तीर्थ के उदासीन-प्रवर हिज हाइनेस श्रीस्वामी हरनाम दासजी महाराज आदि आपके घनिष्ठ मित्रों में थे। जगत्प्रसिद्ध नैयायिक गौतमावतार श्री सीताराम शास्त्री, सुब्रह्मण्य शास्त्री (जोधपुर) और महामहोपाध्याय केशवानन्द स्वामी आदि आपके शिष्यों में थे।

आप केवल शास्त्रानुशीलन के व्यसनी थे। और कोई भी व्यसन आपको छू तक न गया था। वासनाओं और आडम्बरों का लेश भी आपमें न था। पुराने विचार के सीधे-सादे सात्त्विक पुरुष थे। प्रतिभा-शक्ति विलक्षण थी। लगातार आठ-आठ घण्टे तक सौ-सौ छात्रों को पढ़ाते रह जाते थे। आँखों की ज्योति कुछ मन्द हो जाने और घरवालों के लाख मना करने पर भी, मृत्यु के एक साल पहले तक, आप अनवरत दो-दो, तीन-तीन घण्टे तक कण्ठाग्र ही अनेक विद्वानों को पढ़ाते रह जाते थे।

शास्त्रार्थ करने मे आप बड़े प्रचण्ड थे। कई बार मण्डी-राज्य के दरवार में आपके साथ काशी के जगन्मान्य विद्वान् महामहोपाध्याय बाल-सरस्वती बाल शास्त्री का शास्त्रार्थ हुआ था। अध्ययन-काल समाप्त होने के बाद लगभग बीस वर्ष तक मण्डी, सुखेत और बिलासपुर आदि पंजाबी राज्यों में प्रधान राजपण्डित रहे। उस समय समूचे पंजाब में आपकी गणना अद्वितीय विद्वानों में थी। कई वर्ष तक आप काश्मीर-नरेश महाराज रणवीर सिंह के दरवार के प्रधान पण्डितों में थे। महाराज-बहादुर आपको बहुत मानते थे। वर्त्तमान काश्मीर-नरेश महाराज प्रताप सिंह जी भी आपका बड़ा आदर करते थे। महाराज रणवीर सिंह जी के आग्रह से ही आप काशी की जम्बू-पाठशाला में अध्यापन करने लगे। आपने जीवन-भर में लगभग चार सहस्र साधुओं और ब्राह्मणों को विद्याध्ययन कराया। आपके चेलों में कई प्रतिष्ठित महन्त आज भी विद्यमान हैं।

आपके कई सन्तानों में चार पुत्र थे, जिनमें तीन तो २५-२५ वर्ष की अवस्था में ही चल बसे। आपके ज्येष्ठ पुत्र सर्वतन्त्र-स्वतंत्र पण्डित-रत्न षड्दर्शन-भास्कर श्रीपद्मनाभ शास्त्री आज भी आपकी कीर्त्ति-पताका के दण्डस्वरूप विद्यमान हैं। शास्त्रीजी को आपने स्वयं सन् १९०३ ई० में अपने स्थान पर अध्यापक नियुक्त करा दिया था। पाठशाला के

हिन्दू-कॉलेज में मिल जाने पर शास्त्रीजी उसी में पढ़ाते रहे; फिर हिन्दू-विश्वविद्यालय खुलने पर आप उसमें मीमांसा-शास्त्र के अध्यापक नियुक्त हुए।

शास्त्रीजी की अवस्था इस समय ५२ वर्ष की है। आप भी काशी के विद्वत्समाज के एक प्रधान स्तम्भ और उच्च कोटि के लब्धकीर्त्ति विद्वान् हैं। आपके भी अनेक विद्वान् शिष्य काशी तथा अन्यान्य प्रान्तों में प्रसिद्ध हैं। आप न्याय, सांख्य, योग और मीमांसा-शास्त्रों के धुरन्धर विद्वान् हैं। आपकी निर्भीकता और स्पष्टवादिता बहुत प्रसिद्ध है। आपका दार्शनिक व्याख्यान बड़ा रोचक और ओजस्वी होता है। बम्बई में एक बार महात्माजी (गांधीजी) के सभापतित्व में जैन-दर्शन और आस्तिक-दर्शनों के साम्य पर आपका बड़ा ही प्रभावशाली और गम्भीर भाषण हुआ था। आपके आयुष्मान् पुत्र पण्डित केदारनाथ शर्मा[1], काव्यतीर्थ, विद्यालंकार आजकल आपकी जगह पर विश्वविद्यालय में काम कर रहे हैं—हिन्दी के उत्साही प्रेमी भी हैं।

वास्तव में मीमांसक-शिरोमणिजी बड़े भाग्यशाली थे। मरने से चार महीने पहले ही आपकी धर्मपत्नी का देहान्त हो चुका था। प्रपौत्र का भी मुँह देख चुके थे।

यह सब कुछ आपके पुण्य का प्रताप-मात्र था। शुद्धाचार और विद्यानुराग तथा शास्त्र-चिन्तन से मनुष्य को इहलोक-परलोक में कितना सुख, सौभाग्य और कितनी शान्ति-समृद्धि प्राप्त होती है, इसके आप ज्वलन्त आदर्श थे।

—मासिक 'सरस्वती' (प्रयाग); भाग २६; संख्या ६; जून १९२५ ई०

मृदङ्गाचार्य पंडित भोलानाथ पाठक

प्राक्कथन

गतवर्ष[2] लन्दन-विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ डच-विद्वान् आर्नल्ड बेक ने बम्बई के गवर्नमेण्ट हाउस में भाषण देते हुए भारतीय संगीत की बड़ी प्रशंसा की थी। उन्होंने कई साल तक सारे भारत में घूम-घूमकर भारतीय संगीत के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के अनुसन्धान किये थे। वे महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर से शान्ति-निकेतन में जाकर मिले थे। उनकी इच्छा है कि वे ग्राम-गीतों के संग्रह के लिए भारत के गाँवों में भी भ्रमण करें। वे चाहते हैं कि भारत के प्रत्येक प्रान्त में, संगीत-सम्बन्धी संग्रहालय और पुस्तकालय खोले जायँ। इसी उद्देश्य से वे फिर इस देश में आनेवाले थे।

---

१. पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत आजकल अखिलभारतीय संस्कृत-साहित्य-सम्मेलन (दिल्ली) के प्रधानमंत्री और उसके मुखपत्र 'संस्कृतरत्नाकर' के प्रधान सम्पादक हैं। वे पहले काशी के संस्कृत-मासिक 'सुप्रभातम्' के सम्पादक कई साल तक थे। उन्होंने महाकविराजशेखर की 'काव्यमीमांसा' का हिन्दी-अनुवाद किया है, जो परिषद् से निकला है।—ले०

२. सन् १९३४ ई०

डॉक्टर बेक ने अपने भाषण में मृदङ्ग का जिक्र करते हुए कहा था कि भारतीय बाजों का सिरताज मृदङ्ग ही है। एक प्रसिद्ध ध्रुपद में 'बाजन या साजन पति मृदङ्ग' गाया भी जाता है। गत वर्ष ही की बात है कि कि बिहार के प्रसिद्ध बैरिस्टर और पत्रकार श्री सच्चिदानन्द सिंह के सम्पादकत्व में प्रकाशित होनेवाले अँगरेजी-मासिक 'हिन्दुस्थान रिव्यू' में रेवरेंड एच्० ए० पोयस्ली महाशय ने भारतीय संगीत पर एक ऐतिहासिक लेखमाला लिखी थी, जिसमें उन्होंने प्राचीन काल से लेकर अर्वाचीन काल तक के गायकों और वाद्यों का परिचय दिया था। उसमें उन्होंने लिखा था कि मृदङ्ग ही भारत का सर्वश्रेष्ठ बाजा है और शिवजी के ताण्डव-नृत्य के समय ब्रह्मा इसे बजाते हैं। भारतीय साहित्य में भी मृदङ्ग की श्रेष्ठता के प्रमाण मिलते हैं।

गतवर्ष एक अँगरेज-कलाविद् मिस्टर फिलिप स्टीगमैन ने भी कलकत्ता के रोटरी-क्लब में भाषण देते हुए कहा था कि भारत में सितार की जगह हारमोनियम ने ले ली है और मृदङ्ग की तबले ने; इससे संगीत-विद्या का भाण्डार भारत अब संगीत-शून्य होता जा रहा है। उन्होंने जब भारत को ललित कलाओं से शून्य कहने का दुस्साहस किया, तब बहुत-से बंगाली-कलाविद् बिगड़ उठे, और उनकी बातों का विरोध बड़े समारोह के साथ किया। किन्तु मृदङ्ग के विषय में उनकी राय बहुत ठीक जँचती है। सचमुच तबला और डुग्गी के रूप में मृदङ्ग के टूक-टूक होने से भारत के एक ऐसे बाजे का लोप होता जा रहा है, जिसके साथ भारत की प्राचीन संस्कृति का सम्बन्ध है—जो वास्तव में भारतीय बाजों का सिरमौर है।

परिचय

आज मैं यहाँ एक ऐसे कलाविद् का परिचय दे रहा हूँ, जो मृदङ्ग-वादन-कला के आचार्य हैं। मृदङ्गाचार्य होने के साथ-साथ आप ध्रुपदाचार्य भी हैं। काशी के संगीत-मर्मज्ञों का कहना है कि आप अपनी-कला के अद्वितीय आचार्य हैं। आपका शुभ नाम पंडित भोलानाथ पाठक है। इस समय आप बनारस के सेण्ट्रल हिन्दू-गर्ल्स-स्कूल की संगीत-कक्षा के प्रधान आचार्य हैं। सन् १९२९ ई० में आप हिन्दू-विश्वविद्यालय के कन्या-संगीत-विभाग के आचार्य नियुक्त हुए थे। महामना मालवीयजी ने आपकी ख्याति सुनकर आपका उचित सम्मान किया।

पाठकजी केवल ढोल पीटनेवाले ध्रुपदाचार्य नहीं, संगीतशास्त्रवेत्ता भी हैं। मृदङ्ग के सिवा दूसरे बाजों के सुर और गति परखने में भी आप उस्ताद हैं। दूसरे-दूसरे साजों के बजानेवाले भी आपको उस्ताद मानते हैं। काशी में रहते समय संगीत के दंगलों में आपकी प्रतिष्ठा मैं स्वयं देख चुका हूँ। काशी के पुराने संगीतज्ञों की जब आप चर्चा करने लगते हैं, तब मालूम होता है कि आप केवल काशी ही नहीं, बल्कि समस्त भारत के यशस्वी संगीतज्ञों का इतिवृत्त जानते हैं। जिस प्रकार काशी में वयोवृद्ध पंडित केदारनाथ पाठक हिन्दी के प्राचीन साहित्य के जीते-जागते इतिहास हैं, उसी प्रकार

आप संगीत-साहित्य के प्राचीन इतिहास के जानकार हैं। इन दोनों वयोवृद्ध पुरुषों से यदि कोई गुणग्राही सज्जन साहित्य और संगीत के पुराने इतिहास की सामग्री संकलित कर लें, तो डूबता हुआ अमूल्य रेकर्ड हाथ लग जाय।

पाठकजी के पूर्वज झज्झर (पंजाब) से ग्वालियर आये और वहाँ से काशी। विक्रम-संवत् १९३८ की माघ कृष्णा प्रतिपदा को काशी में ही आपका शुभ जन्म हुआ। आपके पिता का नाम पंडित मनोहर पाठक था। बचपन ही से आपमें संगीतानुराग झलकता था। सूखे काठ पर उँगलियाँ नचाकर भी आप अति मधुर वादन की ध्वनि उत्पन्न करते थे।

शिक्षा

पाठकजी ने मृदङ्ग-वादन-कला की शिक्षा काशी में ही पाई थी। सबसे पहले आपने श्रीबलवन्तरायजी दक्षिणी से सीखा। इसके बाद श्रीबलदेवजी और श्रीमदनमोहनजी से भी मृदङ्ग ही सीखा। बलवन्तरायजी और बलदेवजी काशी के आरम्भिक युग के मृदङ्ग बजानेवालों में श्रेष्ठ थे। बलवन्तरायजी ६५ वर्ष की उम्र में काशी में ही मरे। बलदेवजी कत्थक थे और ७५ वर्ष की उम्र में वहीं मरे। मदनमोहनजी कोपामऊ (आजमगढ़)-निवासी सरयूपारीण ब्राह्मण थे और ८० वर्ष की उम्र में अपने घर पर ही मरे।

सुप्रसिद्ध गोपाल-मन्दिर (काशी) के महन्त श्रीजीवनलालजी महाराज के मृदङ्ग-गुरु मदनमोहनजी ही थे। उनके बाद भारत में आज तक कोई भी वैसा मृदङ्ग बजानेवाला न हुआ। इस कला को अपने साथ ही ले गये। उनके गुरु-भाई श्रीपर्वत सिंहजी दतिया-राज्य-निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। ये ७० वर्ष की अवस्था में दतिया में ही मरे थे।

मदनमोहनजी और पर्वत सिंहजी के गुरु का नाम था कोदऊ सिंहजी। वे बाँदा के निवासी थे। पहले रीवाँ के दरबार में मृदङ्ग बजाने के लिए मुलाजिम थे। पीछे ग्वालियर-दरबार में चले गये। अन्त में दतिया के दरबार में जा पहुँचे। वहीं १०० वर्ष की उम्र में मरे। उनके सैकड़ों शिष्य थे।

पाठकजी १५ वर्ष की अवस्था से मृदङ्ग बजाना सीखने लगे। आरम्भ में बलवन्तराय जी से सिर्फ छः महीने तक सीखा। बलदेवजी ने दो वर्ष सिखलाया। किन्तु मदनमोहनजी और पर्वत सिंहजी से लगातार १५ वर्षों तक सीखते रहे। दोनों में जब जो काशी में आ गये, आप उनकी सेवा में उपस्थित हो जाते थे। दो साल तो दतिया में ही रहकर सीखा।

कहते हैं कि पर्वत सिंहजी भी मदनमोहनजी की ही कोटि के मृदङ्गाचार्य थे। उस समय जोधसिंह और भैयालाल भी इन्हीं की कोटि के गुणी समझे जाते थे। जोधसिंह जी पछाँह के रहनेवाले भाट थे; किन्तु बिहार-प्रान्त के मुजफ्फरपुर नगर में ही

उनका जीवन बीता। और, भैयालाल जी तो कोदऊ सिंहजी के दौहित्र थे। अबतक बाँदा में कोदऊ सिंहजी के वंशधर हैं—श्री शम्भु प्रसादजी मृदङ्ग बजाने में बड़े कुशल हैं।

ध्रुपद

पाठकजी जब ३४ वर्ष के हुए, तब आपकी ध्रुपद की शिक्षा का श्रीगणेश हुआ। आपकी इस शिक्षा का आरम्भ गायघाट (काशी)-निवासी श्रीसरयूप्रसाद सिंह (बड़े बाबू) की प्रेरणा से हुआ, इन्होंने आपकी आर्थिक सहायता की। यह सहायता ऐसी महत्त्वपूर्ण थी कि इसके अभाव में शिक्षा-क्रम का स्थिर रहना सम्भव न था।

विहार-प्रान्त के चम्पारन-जिले में 'बेतिया' एक बड़ी रियासत है। वहीं के निवासी पंडित जयकरण मिश्र ध्रुपद के धुरन्धर आचार्य थे। उनके यहाँ चौदह पुश्तों से केवल ध्रुपद की ही विशेषता चली आती थी। वे जौनपुर जिले के गोपालपुर-नामक स्थान के निवासी सरयूपारीण ब्राह्मण थे; पर जीविका के आधार से उनके पूर्वज बेतिया में ही बस गये थे। उनके परदादा पंडित शिवदयाल मिश्र बेतिया के महाराज आनन्दकिशोर और महाराज नवलकिशोर के समय में सभा-गायक नियुक्त हुए थे। बेतिया-दरबार में शिवदयालजी की बड़ी प्रतिष्ठा थी। ये महाराज को ध्रुपद गाने की शिक्षा देते थे। इन्हें अच्छी वृत्ति मिलती थी। इसी व्याज से ये बेतिया में ही बस गये।

शिवदयालजी के प्रपौत्र जयकरणजी से पाठकजी ने चार वर्षों तक काशी में ही ध्रुपद गाने की शिक्षा पाई। कबीर-चौरा (काशी) में जयकरणजी का निज का मकान था। बेतिया से आने पर वे बराबर उसी मकान में ठहरते थे। पाठकजी वहीं उनसे ध्रुपद गाना सीखते थे। वह मकान अब जयकरणजी के जामाता पंडित रामदास पांडेय के अधिकार में है। यह पांडेयजी वर्त्तमान समय में काशी के सुविख्यात संगीताचार्य हैं। इनका नाम भारत के गुणियों में गिना जाता है।

ध्रुपदाचार्य जयकरणजी के एकमात्र शिष्य पाठकजी ही हुए। जयकरणजी अस्सी वर्ष के होकर काशी में ही स्वर्ग सिधारे। उनके समय में बेतिया-निवासी गोपाल मल्लिक भी बहुत अच्छे ध्रुपद-ज्ञाता थे। मिश्रजी और मल्लिकजी समकालीन ही थे। यद्यपि ध्रुपद जानते थे मल्लिकजी भी, तथापि मिश्रजी की तरह केवल ध्रुपद गाने के लिए उनका परम्परागत व्रत नहीं था। मिश्रजी केवल ध्रुपद की शिक्षा देने के लिए प्राय: बंगाल में भी जाया करते थे। बंगाली राजा-रईसों में उनका बड़ा मान था, पर अपने वंश के वही अन्तिम पुरुष हुए। हाँ, मल्लिकजी के वंशज बेतिया में वर्त्तमान हैं—श्री सरयू प्रसाद और श्री अयोध्या प्रसादजी।

शिष्य-वर्ग

अड़तीस वर्ष की अवस्था तक तो पाठकजी शिक्षा ही पाते रहे। इसके बाद आपने उपार्जित और संचित कोष का व्यय आरंभ किया। आपका सबसे पहला शिष्य वसन्तराज-नामक नैपाली युवक था। उसे आप ध्रुपद-धमार की शिक्षा देते थे। वह एक

अनाथ बालक था। उसे आपने ही पाला-पोसा था। आप ही ने उसका ब्याह कराया। उसको साथ लेकर आपने मध्यभारत की कई रियासतों में भ्रमण किया। अन्त में आप कलकत्ता पहुँचे।

कलकत्ता कलाकारों की खान है। यहाँ आपके समान कुशल कलाविद् का यथोचित सम्मान हुआ। प्रोफेसर महेन्द्रनाथ चटर्जी, श्रीश्यामलाल खत्री, प्रो० विश्वनाथ राय भट्ट, प्रोफेसर ए० के० कौकब, श्रीनगेन्द्रनाथ मुखर्जी, प्रोफेसर दुर्लभचन्द्र भट्टाचार्य, मुंशी भृगुनाथलाल वर्मा आदि कलाविद्-रत्नों ने आपका सादर स्वागत किया।

श्रीचटर्जी और श्रीखत्री महोदय हारमोनियम के भारत-प्रसिद्ध उस्ताद थे। चटर्जी महाशय तो हारमोनियम के जन्मदाता तक माने जाते हैं। श्रीभट्टजी दक्षिणी ब्राह्मण थे और ध्रुपद-धमार के बड़े प्रसिद्ध गायक माने जाते थे। कौकब महाशय 'बेंजो'[1] बाजा बजाने में पक्के उस्ताद थे। श्रीभट्टाचार्यजी मृदङ्गाचार्य हैं और अभी जीवित हैं। मुखर्जी महाशय और मुंशीजी अब इस संसार में नहीं हैं। मुंशीजी भी भारत-प्रसिद्ध मृदङ्गाचार्य थे। वे गाजीपुर जिले के 'रेटादर' गाँव के निवासी थे। उनके सगे छोटे भाई मुंशी घुरहू नारायण लाल वर्मा आज तक उनके नाम पर कलकत्ता में एक संगीतालय चला रहे हैं।[2]

कलकत्ता में पाठकजी सिनहा-कम्पनी में रहते थे। यह कम्पनी बिजली का कारोबार करती है। इसके मालिक उपर्युक्त काशी-निवासी बाबू सरयू प्रसादजी (बड़े बाबू) हैं। इसी कम्पनी के मकान में दो साल तक आप वसन्तराज के साथ रहे। वहाँ से काशी लौटने पर आपने वसन्तराज का ब्याह किया। ब्याह हो जाने के बाद वह स्वदेश (नेपाल) चला गया। वहाँ वह युद्धशमशेर जंगबहादुर राणा के दरबार में नौकर हो गया। २५-२६ वर्ष की अवस्था में वहीं उसका देहान्त हुआ। वह बड़ा होनहार था। यदि जीवित रहता, तो भारत के गुणिजनों में उसकी गणना होने लगती।

अपने प्रिय शिष्य की मृत्यु से पाठकजी अत्यन्त दुःखी हुए। चित्त की अशान्ति मिटाने के लिए आप पुनः कलकत्ता चले गये। इस बार वहाँ लगभग दस साल तक आप रहे। बीच-बीच में काशी आते-जाते थे; पर वसन्तराज के बिछुड़ने से आपका चित्त

१. 'बैंजो' एक प्रकार का बाजा है, जो 'सरोद' के ऐसा होता है। गोल तार और सुन्दरी; छोटी तुमड़ी भी गोल।—लेखक

२- कलकत्ता के 'मतवाला-मंडल' में रहते समय मैं प्रायः 'भृगुनाथ-संगीतालय' में जाया करता था। वहाँ मुंशी भृगुनाथलाल जी का लिखा हुआ संगीत-विषयक एक अपूर्व ग्रन्थ है। सौभाग्यवश वह हिन्दी में है और सचित्र भी है। उस समय उस अमूल्य ग्रंथ के प्रकाशन का उद्योग किया गया था, किन्तु आज तक वह ग्रंथ हिन्दी के भाण्डार में नहीं आया। हमलोगों की लापरवाही से न जाने कितने ही ऐसे ग्रंथ लुप्त हो गये। जो बचे भी हैं, उनकी खोज खबर लेनेवाला भी कोई नहीं! जो धनी-मानी संगीतप्रेमी हैं, वे अब ग्रामोफोन से मन बहला रहे हैं!!!—ले०

विक्षिप्त ही रहता था। इन दस वर्षों में आपने बाबू सरयू प्रसादजी (बड़े बाबू) को ध्रुपद-धमार की पर्याप्त शिक्षा दी। इस प्रकार 'बड़े बाबू' आपके द्वितीय सुयोग्य शिष्य हुए, जो अद्यापि वर्त्तमान हैं।

पाठकजी के एक तीसरे सुयोग्य शिष्य पंडित मन्नूजी हिन्दू-विश्वविद्यालय के संगीत-विभाग में मृदङ्गाचार्य हैं। बाबू विट्ठलदासजी गुजराती (बनारस के बौलियावाले रईस) भी पाठकजी के ही शिष्य हैं। किन्तु ये दोनों मृदङ्ग ही के शिष्य हैं। ध्रुपद-धमार के नहीं। उपर्युक्त 'बड़े बाबू' को पाठकजी के अतिरिक्त विश्वनाथरावजी भट्ट से भी ध्रुपद-धमार की शिक्षा मिली थी। किन्तु बड़े बाबू एक प्रकार से पाठकजी के सहपाठी भी हैं; क्योंकि पंडित जयकरणजी के यहाँ आप दोनों साथ-साथ जाकर शिक्षा ग्रहण करते थे।

मर्मज्ञता और सहृदयता

मृदंगाचार्य पाठकजी के प्रथम दर्शन का सौभाग्य मुझे सन् १९२६ ई० में प्राप्त हुआ। उसी साल में कलकत्ता के 'मतवाला-मंडल, से काशी आया। दंडपाणि भैरव की गली में मैं रहता था। मकान के सामने ही पंडित चुन्नीलालजी वैद्य[१] रहते थे। वे साहित्य और संगीत के सच्चे अनुरागी थे। गुजराती होते हुए भी हिन्दी-साहित्य के अच्छे जानकार थे। गुणियों का सत्कार करने में एक ही थे। किसी कला का जानकार उनके पास पहुँचकर निराश नहीं होता था। मँजीरा (जोड़ी ?) बजाने में वे अद्वितीय थे। पाठकजी में उनकी बड़ी श्रद्धा थी। पाठकजी की कला के वे सच्चे पारखी थे। दोनों कलाविद् परस्पर पड़ोसी भी थे, इसलिए पाठक जी प्राय: दिन-रात उन्हीं के यहाँ जमे रहते थे। कोई ऐसा गुणी काशी में न आता, जो इन दो अभिन्न मित्रों के स्वागत-सत्कार से वंचित रहता। एक बार गया-निवासी, हारमोनियम के प्रसिद्ध उस्ताद, स्वर्गीय सोनीजी पधारे। पाठकजी के घर पर जल्सा हुआ। पड़ोस में रहने के कारण उस सत्संग का आनन्द मुझे भी प्राप्त हुआ। मैंने देखा, इन गुणियों की संगीतज्ञता तो चूडांत थी ही, इनकी संगीत-साहित्य-मर्मज्ञता भी अपार थी। उपर्युक्त वैद्यजी और पाठकजी जब संगीत-सम्बन्धी चर्चा में रस-लीन हो जाते, तब ऐसा जान पड़ता कि ये कोरे कलाविद् नहीं, संगीत-शास्त्र के मर्मज्ञ भी हैं। पंडित चुन्नीलालजी अब इस संसार में नही हैं, पर उनके साहित्य-संगीतानुराग से विशेष परिचित दो सुप्रतिष्ठत विद्वान् अभी विद्यमान हैं, जो उनके निकटवर्त्ती पड़ोसी थे—साहित्याचार्य पंडित बटुकनाथजी शर्मा, एम्० ए० और साहित्याचार्य पंडित बलदेव उपाध्यायजी, एम्० ए० (हिन्दू-विश्वविद्यालय के प्रोफेसर)। खेद है कि बहुत-सी ऐसी चीजें पंडित चुन्नीलालजी के साथ ही चली गईं, जो साहित्य और संगीत के प्रेमियों के लिए सर्वथा अमूल्य थीं।

---

१. इनसे पूछताछ कर मैंने काशी के दंगली लावनीबाजों और गवैयों तथा बजवैयों का विस्तृत परिचय लिखा था, पर खेद है कि वह लेख अब कहीं मिलता ही नहीं। जहाँ तक याद है, वह काशी के दैनिक 'सूर्य' में छपा था।—ले०

जब में काशी के महाशक्ति-साहित्य-मन्दिर के मकान में रहने लगा, तब उसके अध्यक्ष पंडित हनूमान प्रसाद शर्मा वैद्यशास्त्री[1] के यहाँ भी पाठकजी और बड़े बाबू का अड्डा देखा। सौभाग्य से यह वैद्यजी भी साहित्यिक ही मिले। यह तो हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक भी हैं और सुन्दर स्वास्थ्य-साहित्य के प्रकाशक भी। इनके यहाँ भी दिन-रात साहित्यिक बैठकबाजी होती रहती है। बाहर का शायद ही कोई ऐसा साहित्यसेवी आता, जो यहाँ तक न पहुँचता हो। यहीं मुझे पाठकजी की सहृदयता का पता लगा। घंटों आपसे बातें होती थीं। आपके विनोद ठेठ बनारसी तर्ज के बड़े रसीले होते हैं। चाहे जिस रुचिका मनुष्य हो, आपके साथ बातें करने में अपूर्व आनन्द पायेगा।

पाठकजी वृद्ध तो हो ही गये; पर उनका तगड़ा शरीर और खासा लम्बा डील-डौल देखकर साफ समझ में आ जाता है कि मृदंगाचार्य होने के लिए कितने सबल शरीर की आवश्यकता है। और क्या ध्रुपद-धमार गाने के लिए कुछ कम शारीरिक शक्ति चाहिए ?

बड़े हर्ष का संवाद है कि काशी के प्रसिद्ध कलाकार और यशस्वी साहित्यसेवी श्रीरायकृष्णदासजी तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी के भ्रातुष्पौत्र डॉक्टर मोतीचन्दजी पी-एच्० डी० विश्वनाथपुरी का एक प्रामाणिक इतिहास तैयार करने के सदुद्योग में प्रवृत्त हुए हैं। उन्हें काशी के दोनों पाठकों[2] से, जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है, जो कुछ लेने योग्य हो, शीघ्रातिशीघ्र ले लेना चाहिए। स्वनामधन्य साहित्य-शिल्पी बाबू जयशंकर 'प्रसाद' जी[3] इस बात की आवश्यकता का बहुत दिनों से अनुभव करते आ रहे थे। उनके पास भी काशी की बहुत-सी पुरानी निधियों की स्मृतियाँ हैं। सबका विधिवत् संकलन हो जाने से हिन्दी में एक अनूठी चीज तैयार हो जायगी। तथास्तु।[4]

—मासिक 'माधुरी' (लखनऊ); वर्ष १४, खंड १; अङ्क १, तुलसी-संवत् ३१२, श्रावण, वि० सं० १६६२

---

१. श्रीहनूमानप्रसादजी काशी के सुप्रसिद्ध वैद्यराज पं० छन्नूलालजी के दौहित्र थे। इन्होंने आयुर्वेद-संबन्धी कई अच्छी पुस्तकें स्वयं लिखी और प्रकाशित की थीं, जिनमें 'कामकुंज' सबसे बड़ी थी और जिसकी बड़ी लम्बी भूमिका डाक्टर भगवानदासजी ने लिखी थी। इनके एक मकान में बहुत दिनों तक मैं किरायादार था। इन्हीं के अनुरोध से मैंने काशी के आचार्य-कोटि के धुरन्धर विद्वानों की जीवनियाँ लिखी थीं। काशी के वेदाङ्ग-महाविद्यालय में जिन महापण्डितों के चित्र लगे हुए हैं, उनकी जीवनियाँ लिखी जा चुकी थीं, किन्तु पुस्तक-रूप में उनका प्रकाशन नहीं हो सका; क्योंकि वैद्यजी की असामयिक मृत्यु हो गई। बहुत दिनों तक ये रोग-शय्या पर रहे, इसलिए मैं उनसे पाण्डुलिपि भी न ले सका। फिर उनके निधन के बाद पाण्डुलिपि किसी तरह न मिल सकी। हरेरिच्छा बलीयसी! —ले०

२. पंडित केदारनाथ पाठक और भोलानाथ पाठक।—ले०

३. 'हंस' के काशी-अंक के प्रकाशन के समय प्रसादजी ने काशी की उल्लेखनीय विशेषताओं की एक लम्बी सूची लिखवाई थी। खेद है कि वह भी अब नहीं मिलती। —ले०

४. इस लेख में तीन चित्र छपे थे—(१) काशी-निवासी मृदङ्गाचार्य पं० भोलानाथ पाठक, (२) पं० मदनमोहनजी उपाध्याय (पाठकजी के गुरु), (३) बाबू सरयूप्रसाद सिंह (बड़े बाबू)।—ले०

कवीन्द्र रवीन्द्र की पहली झाँकी

लगभग सोलह वर्ष पूर्व।

कलकत्ता के 'कला-थियेटर' में संभवतः 'भिखा-दान'-नामक एकांकी बँगला-नाटक अभिनीत होनेवाला था।

नगर के अन्य थियेटरों के रंगमंच पर भी यही नाटक खेला जा चुका था। फिर भी उत्सुक दर्शकों की भीड़ अपार थी।

नाट्यशाला में कहीं तिल रखने की जगह नहीं; टिकट-घर के सामने सौ-सौ के नोट दिखाकर लोग हताश लौट आये।

रवि बाबू के परिवार की महिलाएँ रंगमंच पर उतरनेवाली थीं। विश्वभारती के लिए धन-संग्रह का एक आयोजन था।

कलकतिया अखबारों ने विश्वभारती के सहायतार्थ एक-एक पृष्ठ विज्ञापन निःशुल्क छापकर चार-चार 'पास' पाये थे।

परदा सादा। रंगमंच सादा। अभिनेतृवर्ग का वेश-विन्यास सादा। कोई टीमटाम नहीं। कोई तड़क-भड़क नहीं।

उस सादगी में भी कैसी शोभा थी! इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी!

वैसा अलौकिक नृत्य-संगीत कभी देखा-सुना न गया। अप्सरा-लोक और इन्द्र का अखाड़ा सौ-सौ बार निछावर।

अभिनय का आरम्भ होने के पूर्व। रंगमंच पर एक ऋषि की-सी दिव्य मूर्त्ति दीख पड़ी।

जोगिया रंग का आगुल्फ रेशमी झूल। हरे मखमल का नुकीला जूता। सन-सी सफेद दाढ़ी पर चमकीले चश्मे का काला रेश्मी धागा। नयनाभिराम सौम्य रूप।

ईश्वर ने अंगों में उनके कितना सौन्दर्य छलका दिया था। हृदय में उससे भी अधिक माधुर्य।

हृदय की माधुरी मानों नेत्रों में उमड़ आई थी। एक-एक दृष्टिपात में कितनी मनोज्ञता और सरलता थी!

कोमल कंठ से बोले—"पेशेवर कम्पनी का खेल नहीं है। गृहदेवियाँ केवल विश्वभारती के लिए सार्वजनिक रंगमंच पर आवेंगी। शान्त चित्त से देखिए, सुनिए, करतल-ध्वनि न कीजिए।"

वाणी की मधुरिमा अनिर्वचनीय। जैसे—कोई देवदूत अमृत छिड़क गया हो। सबलोग भित्ति-चित्र-से हो रहे।

ललित कला की प्रभामयी प्रतिमाओं से आलोकित वह रंगशाला धरातल पर नंदन-कानन के वसंतोत्सव की चित्रशाला-सी जान पड़ी।

सजल-सफल-लोचन सभी बाहर आये और मुग्ध मन कहते चले—धन्य कवीन्द्र रवीन्द्र![1]

—मासिक 'किशोर' (पटना); वर्ष ४, अंक ७, रवीन्द्र-अङ्क; अक्तूबर, १६४१ ई०

---

१ इस लेख में एक चित्र छपा था—'वाल्मीकि-प्रतिभा'-नामक नाटक में वाल्मीकि के रूप में कवीन्द्र—सन् १८८१ ई०।—ले०

पूज्य मालवीयजी[1]

कलकत्ता नगर में हिन्दू-महासभा का अधिवेशन हो रहा था। पंजाब-केसरी लाला लाजपत राय अध्यक्ष थे। इसलिए, सनातनधर्मी हिन्दुओं में बड़ी सनसनी थी। हालीडे पार्क (चित्तरंजन एवन्यू) में विशाल पंडाल था। मैं 'मतवाला'-मंडल की ओर से पत्र-प्रतिनिधि था। धर्मप्राण मारवाड़ी भाई, सभापति के खयाल से, सनातन धर्म का पक्ष पुष्ट करने के लिए, काफी संख्या में उपस्थित थे। उनके शीश पर व्याख्यान-वाचस्पति पंडित दीनदयालु शर्मा के अभय वरद पाणि-पल्लव की छाया थी। महासभा का रुख देखकर वह छाया और भी सघन हो गई। श्रीविशुद्धानन्द-विद्यालय में 'सनातनधर्म-मंडल' की नींव पड़ी। बूढ़ा 'भारत-मित्र' इसी मंडल का मुखपत्र बना। खैर, यह किस्सा लम्बा-चौड़ा है।

महासभा के खुले अधिवेशन में लाहौर के उर्दू-दैनिक 'वन्दे-मातरम्' के सम्पादक लाला रामप्रसादजी, एम्० ए० ने अछूतों और शूद्रों को वेद-पाठ का अधिकार देने का प्रस्ताव उठाया। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने समर्थन करते हुए कहा—"ईश्वर की दी हुई रोशनी, हवा और वर्षा से जब शूद्र वंचित नहीं हैं, तब ईश्वर की वाणी (वेद) से क्यों वंचित रहें?" पंडाल में बड़ी हलचल मच गई। सनातनी भाइयों में विशेष खलबली थी। परिस्थिति सँभालने के लिए किसी नेता ने आगे बढ़ने का साहस न दिखाया। नाव मँझधार में आ पड़ी। सभापतिजी किसी पक्ष को तिरस्कृत करके सुधार के छकड़े को आगे ठेलना पसन्द नहीं करते थे। सनातनी भाई शोर मचाने में पास कर गये। पंडाल मछुआ-बाजार बन गया।

मंच पर महामना मालवीय जी विराजमान थे। व्याख्यान-वाचस्पतिजी ने निवेदन किया—"तूफान में पड़ी इस डगमग नैया के खेवनहार आप ही हो सकते हैं।" मंच पर बैठे अनेक प्रमुख सज्जनों ने और स्वयं अध्यक्ष ने भी अनुरोध किया। दिव्य मुसकान के साथ पूज्य मालवीयजी उठे। तालियों की गड़गड़ाहट से आपका स्वागत हुआ। शान्त, गम्भीर, मंजुल वाणी से 'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दन:' कहते हुए बोले—"ईश्वर के दिये हुए प्रसाद प्राणिमात्र के लिए सुलभ हैं। पर वेदों का अध्ययन करने के लिए कठोर तपस्या की आवश्यकता है, जो सबके लिए साध्य नहीं। इसीलिए स्वयं भगवान् ने वेद-शास्त्रोपनिषदों का सार 'श्रीमद्भगवद्गीता' के रूप में प्रकट कर दिया। वह भी साक्षात् ईश्वर ही की वाणी है। गीता भूमंडल का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है। उसका अध्ययन और मनन सबके लिए सुलभ है। शूद्र और अन्त्यज भी उसका पाठ करके सफल-मनोरथ हो सकते हैं। वेद-पाठ का अधिकार-मात्र लेने से कोई लाभ नहीं। उसके लिए कठिन साधना की आवश्यकता होगी। प्रस्ताव वही पास करना चाहिए, जो कार्य-रूप में परिणत हो सके। भगवान् ने यही समझकर 'गीता' का उपदेश दिया है कि कलियुग में वेद-पाठ सब श्रेणी के मनुष्यों के लिए साध्य न होगा। 'गीता' प्रत्यक्ष

---

१. इस लेख का पूरा शीर्षक था—'पूज्य मालवीय जी की कुछ चिरस्मरणीय बातें,—ले०

भगवद्वाणी है। वह वेद ही के समान पूज्य और फलप्रद है। मानव-जाति के कल्याण के लिए उसमें सब कुछ है। आपलोग प्रयत्न करें कि घर-घर में गीता का प्रचार हो। प्रत्येक हिन्दू के पास गीता की पोथी रहे। शूद्र और अस्पृश्य भी उसका पाठ करें और अल्प प्रयास से ही वेदों का मुख्य तत्त्व प्राप्त करें। ईसाई लोग एक-एक आने में बाइबिल बेचकर स्वधर्म का प्रचार करते हैं। हिन्दू-धर्म का हृदय गीता में है। आपलोग उसके सस्ते संस्करण निकालकर प्रत्येक हिन्दू के हाथ में वेदों का सार रख दें। उसे पाकर फिर किसी ग्रंथ की चाह न रहेगी।"

कोलाहल शान्त हो गया। दान-वीर बिडलाजी की ओर से गीता के सस्ते संस्करण की एक लाख प्रतियाँ बाँटने की घोषणा हुई। मतभेद मिट गया।

× × × ×

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा में कोशोत्सव के अवसर पर भारत-कलाभवन का शिलान्यास-महोत्सव भी हुआ था। कला-भवन की नींव पूज्य मालवीय जी के यशस्वी हाथों से पड़नेवाली थी। मध्याह्न का समय निश्चित था। महोत्सव के अन्तिम दिन महामहोपाध्याय रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचन्दजी ओझा अध्यक्ष थे। सब कार्यवाही समाप्त हो गई, केवल पूज्य मालवीयजी की प्रतीक्षा थी। प्रतीक्षा में लगभग दो घंटे का समय व्यतीत हो गया। हताश होकर श्रद्धेय बाबू श्यामसुन्दर दासजी ने अध्यक्षजी से शिलारोपण के शुभ कृत्य को पूरा करने के लिए अनुरोध किया। अध्यक्षजी बार-बार यही कहते थे कि कुछ देर और बाट जोहना चाहिए। अन्त में वे भी निराश हो गये; बाबू साहब का अनुरोध-पालन करने उठे। ज्योंही अध्यक्ष जी ने मोजा निकालकर पैर धोने का उपक्रम किया, पूज्य मालवीय जी की मोटर दौड़ती हुई आ पहुँची। रेशमी धोती, ऊनी शाल, नंगे पाँव, ललाट पर रोली और दधि-अक्षत का तिलक। मोटर से हँसती हुई एक मूर्त्ति उतरी। घोर प्रतीक्षा के उपरान्त दिव्य दर्शन बड़ा आनन्दप्रद प्रतीत हुआ। खुले बदन में दधीचि की हड्डियों को देखकर एक सज्जन कहने लगे—"इस कृश शरीर के अस्थि-पंजर में न जाने कैसी ज्योतिष्मती आत्मा बंद है।"

मालूम हुआ, राजा मोतीचन्द के यहाँ किसी लड़के का उपनयन-संस्कार था। उस अवसर पर आशीर्वाद देने के लिए गये थे। वहीं के कृत्य सम्पन्न करने में विलम्ब हो गया। मोटर ही से मोगलसराय जायँगे। दिल्ली में काँगरेस-कार्यकारिणी की बैठक है। मोटर के आगे-पीछे बिस्तर आदि के बंडल बँधे हुए थे।

भारत-कला-भवन की नींव डालने का यश उन्हीं हाथों को प्राप्त हुआ, जिन्हें हिन्दू-विश्वविद्यालय के अतिरिक्त अनेक महा-महिम संस्थाओं के संस्थापन का सुयश प्राप्त है। इसे भारत-कला-भवन का ही सौभाग्य कहना चाहिए।

हिन्दू-विश्वविद्यालय से जिस समय साप्ताहिक 'सनातनधर्म' निकला, उस समय मैं काशी में था। लगभग दो साल से बेकार बैठा था। मेरे मित्र पंडित रामानुग्रह शर्मा

व्यास[1] ने एक दिन आकर कहा कि पूज्य मालवीयजी ने तुम्हें बुलाया है। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। सहसा विश्वास न हुआ। परन्तु व्यासजी पर पूज्य मालवीयजी की बड़ी कृपा रहती थी। वे अखिलभारतीय सनातनधर्म-महासभा (हिन्दू-विश्वविद्यालय) के उपदेशक और कथा-वाचक थे। इसलिए उनकी बात को सत्य मानकर मैं गया। इसी व्याज से एक विश्ववन्द्य महापुरुष के दर्शन करने गया। मन में बहुत सकुचाया था; पर मित्र का आग्रह टालना भी कठिन था।

पूज्य मालवीयजी ने पहला ही प्रश्न पूछा—"तुम्हारी योग्यता क्या है?" मैंने स्पष्ट निवेदन किया—"आपके समक्ष कहने योग्य कोई योग्यता मुझमें नहीं है।" अब व्यासजी कहने लगे। बहुत-कुछ कह गये। आज्ञा हुई, दूसरे दिन फिर आओ। व्यासजी के साथ पुनः गया। इस बार स्वार्थ-त्याग का उपदेश मिला। पर उसके लिए मुझमें शक्ति नहीं थी। कभी स्वार्थ-संचय किया ही नहीं, स्वार्थ-त्याग की शक्ति आवे कहाँ से? फिर भी व्यासजी, ने पीछा न छोड़ा। दो बार और साथ ले गये। इस तरह चार बार बहुत समीप से पूज्य चरणों के दर्शन सुलभ हुए। बातें जो हुईं उनसे ज्ञात हुआ कि इस महान् मस्तिष्क में कितनी बड़ी-बड़ी योजनाएँ भरी हुई हैं। यदि सब सफल हों तो देश की काया-पलट हो जाय।

× × × ×

ऐसी ही अनेक बातें हैं; पर सबका उल्लेख करने से 'बाढ़े कथा पार नहिं लहऊँ।' जो कुछ लिखा है, अपनी लेखनी को कृतकृत्य करने के लिए। बड़ों के गुण-कथन में मौन रहना ईश्वर की दी हुई वाणी को व्यर्थ करना है।

—साप्ताहिक 'अभ्युदय' (प्रयाग); ११ जनवरी, १९३७ ई०

दीप-निर्वाण

धाता द्वारा सृजित जग ही मेदिनी बीच आके।
पाके खोया रतन कितने प्राणियों ने अनेकों॥
जैसा प्यारा रतन हमने हाथ से आज खोया।
पाके ऐसा रतन अबलौं है न खोया किसी ने।

—'प्रियप्रवास'

सत्य की दीवट पर, देशानुराग-रूपी स्नेह से परिपूर्ण और दृढ़ धैर्य्य-रूपी स्थूल बत्ती से युक्त एक दीपक देदीप्यमान होकर चतुर्दिक् प्रखर प्रकाश प्रसारित कर रहा था—

---

१. व्यासजी बलिया जिले के निवासी थे। इन्होंने हिन्दी में 'कर्त्तव्य-शास्त्र'-नामक एक बड़ी पुस्तक लिखी और प्रकाशित की थी। बड़े प्रभावशाली कथावाचक थे। जहाँ कथा बाँचते थे, वहाँ बड़े समारोह से यज्ञ भी करते थे। इनकी कथा में कई जगह मालवीयजी भी पधारे थे।—ले०

उसकी जाज्वल्यमान अखण्ड शिखा पर असंख्य पतंग नित्यम्प्रति प्राण-विसर्जन करने को प्रस्तुत रहते थे, किन्तु हाय ! मृत्यु ने अपना अंचल डुलाकर उस दीपक को बुझा दिया । नीति के नूर का खजाना लुट गया ! नीति-नवनीत को एक सौ इक्कीस बार अश्रुजल से धोकर विषैला बना दिया । हा ! भारत की आशा-लतिका लू के मारे ऐंठकर रह गई । देशभक्ति-प्लावित सरस सुधा का सोता सूख गया ! भारत-पुष्कर का एक ही सहस्रदल जो अपनी शोभा-श्री से सहस्र-सहस्र षट्पदों को मुग्ध किये रहता था—मान-मार्त्तण्ड को देखकर विकसित होता था—सौरभ-समृद्धि से पुष्कर की तरंगों को रंजित करता था—अकाल ही में कालहस्ती ने उसे उखाड़कर अपना मनोरंजन कर लिया ! भारत के सुयशवल्लरी-वितान का स्तम्भ-स्वरूप एक नवाशोक-पादप था—निष्टुर आँधी ने उसे समूल उत्पादन कर अपनी खुजली मिटा ली ! सरस सुधारस से छलछलाते हुए कनक-कटोरे को काल-विडाल ने औचक ही उड़ेल दिया ! भारत-माता के शुचिशस्य-श्यामलांचल में बँधी हुई मणि गाँठ से गिर पड़ी ! भारत-भर को रौशन करनेवाला—हाय ! वैकुण्ठ को रौशन करने चला गया ! भारतोद्यान के संगमर्मरी गमले में फूले हुए गुल्लाला को बेदर्द माली ने धीरे से तोड़ लिया ! बेरहम जल्लाद की तलवार भारतीय कलेजों का खून चूस-चूसकर उसमें स्नान कर शीतल हो चुकी !

हा ! गोखले ! भारत-वसुन्धरा की गुलगुल गोद में पले । तुम्हारे पसीने की बूंद भारतमाता के अंचल पर खूब ढले ! तुम्हारा मस्तिष्क और द्रव्य इसी की सेवा में गले ! देशसेवा से तुम पग-भर भी पीछे न टले ! तुम्हारी नीतिज्ञता देख-देखकर संसार के विद्वानों ने हाथ मले ! तेरे कार्य सत्य थे भले-भले, इस कारण गये न कहीं छले । पर हाय ! इस असमय में संग छोड़ चले ! आओ ! फिर एक बार लग जाओ गले ! हा ! गोखले ! भारत को छोड़कर गये गोखले ! हे कला-अगस्त्य ! भारतीय जीवन-समुद्र को अब सोख ले ! दुःख-तरंगों की क्रमशः उत्थान-लीला संवरण कर ले ।

हा ! हिमालय की अवरिष्ट-चोटी पर चढ़कर बोलनेवाली और अपनी पंचम स्वर-लहरी से आसमुद्र भारतभूमि को शब्दायमान करनेवाली कोकिला उचटकर चली गई । बस, अब वसन्त बीत गया ! वह अखिल-नीति-शास्त्र-पारंगत, भारत की राजनीति-अटवी का स्वेच्छाचारी 'मानमहतामग्रेसरः केसरी' भारत-माता की बाँकी झाँकी देखने के लिए अपना तन-मन-धन-सर्वस्व न्योछावर कर देनेवाले सपूतों में अग्रगण्य—वह संसार के वाचस्पति विद्वान् व्याख्याताओं में अग्रसर—वह विदुर-चाणक्य के अखाड़े का राममूर्त्ति—वह रानाडे का मुखारविन्द समुज्ज्वल करनेवाला ज्योतिष्मान् प्रतिभाशाली प्रभाकर—वह अपने गले में लिपटी हुई चादर के छोर से भारतमाता का अश्रु पोंछनेवाला—वह स्वजाति-गौरव-निकेतन 'राजनैतिक ऋषि'—अहा ! अब इस संसार में न रहा ! वह भारत का लाल ! वह 'कृष्णगोपाल' ! वह राजनैतिक मण्डल का नृपाल ! वह हिन्दू-जाति का इकबाल ! वह न्यायमन्दिर विशाल !—हाय ! इस अभागे भारत से एकाएक उठ गया ! वह भारत-सरकार के राज्य-शासन-रथ का प्रवीण सारथी—वह सहस्रों

सेना व शस्त्रास्त्र की शक्ति अपनी अखण्ड्य वाग्धारावली में रखनेवाला धुरन्धर धार्मिक वीर—इस भारत-माता की गोदी से अकस्मात् सरक कर काल-कवलित हो गया !

जबतक भारतवर्ष में नवीन सभ्यता का सूर्य उगा रहेगा, जबतक देश-प्रेम के प्रवाह से भारत प्लावित होता रहेगा, तबतक माननीय महात्मा गोखले का शुभ शुभ्रनाम भारत की प्रत्येक सन्तान के चित्तपट पर अमिट अक्षरों में अंकित रहेगा।

प्रिय पाठक ! आइए, हमलोग मिलकर उस जगन्निर्माता विधाता से प्रार्थना करें कि हमलोगों के अनन्य देशभक्त विद्वद्वर-शिरोमणि, योगीश्वर गोपालकृष्ण की पूतात्मा को चिर-शान्ति सुलभ हो।

भगवान् ! गोखले-से स्वनामधन्य आदर्श कर्मवीर भारत के घर-घर (में) हों, ऐसा अभिवचन देकर हमलोगों की व्याकुल आत्मा को शान्ति दो।

–मासिक 'मनोरंजन' (आरा); वर्ष ३, संख्या १; वैशाख, संवत् १९७२ वि०; सन् १९१५ ई०

'बापू' भवसागर के प्रकाश-स्तम्भ थे

बापू भवसागर के टापू थे, उसपर अहिंसा का आकाशचुम्बी स्तम्भ था, जिसके ऊपर सत्य का सुदूरव्यापी, प्रकाश-पुंज ! राष्ट्र की राजनीति का जहाज जब दिशा-भ्रम होने से अन्धकार में अटकने लगता था तब वही प्रकाश-स्तम्भ उसका पथ-प्रदर्शन करता था। जैसे असीम अगाध समुद्र में टापू ही जहाज का शरणस्थल होता है वैसे ही संसार-पारावार में हमारे राष्ट्र के लिए वे विश्राम-स्थल थे।

जब-जब राष्ट्र के आगे राजनीतिक संकट आया, गांधी की आँधी ने उसे फूंक उड़ाया। गोस्वामी तुलसीदासजी ने तो केवल लिखा-भर है कि 'चहत, उड़ावन फूंक पहारू' और हमलोगों ने तो अपनी आँखों देखा भी है कि महात्माजी ने कई बार राष्ट्रीय विघ्नों के पहाड़ को एक ही फूंक में उड़ा दिया। गाँव-गाँव में घर-घर में 'गांधी की आँधी' कहावत बन गई है। उसके सामने राष्ट्र के भाग्याकाश की विपत्ति-घटाएँ कभी टिक न सकीं। वह फूंक कर पहाड़ उड़ानेवाला हमारा जादूगर न जाने कहाँ छूमन्तर हो गया ! जिसने अहिंसा की बीन बजाकर भयंकर विषधर को भी नचाया और हथियाया, वह हमारा बाजीगर बापू न जाने कैसे चला गया !

साम्प्रदायिकता-सर्पिणी को अपनी प्रेम-पिटारी में मन्त्रमुग्ध कर रखनेवाला वह हमारा मदारी महात्मा न जाने क्यों चला गया। कुछ समझ में नहीं आता, कुछ सूझ नहीं पड़ता। बुद्धि स्तब्ध है, चित्त क्षुब्ध है। आज भी जान पड़ता है कि बापू की वाणी कानों में गूंज रही है, उनकी खिलखिलाहट हवा में गूंज रही है, उनके स्नेह की सुगन्धि वायुमंडलमें छा रही है, उनके रोम-रोम में रमी हुई राग-धुन जैसे प्रकृति की पत्ती-पत्ती गा रही है।

मानो मन यह अनुभव ही नहीं करता कि बापू अब नहीं रहे, हृदय को विश्वास ही नहीं होता कि बापू दुनिया से उठ गये। ऐसा कुछ भान-सा होता है कि जैसे यज्ञ के धुएँ से हविष्य का कण-कण चारों ओर के वातावरण में व्याप्त हो जाता है, वैसे ही बापू के पार्थिव शरीर से प्रेम का कण-कण निकलकर आकाशमण्डल में भर गया है। कस्तूरी-मृग अपनी नाभि की निधि निछावर करके चला गया, दिग्दिगन्त आज आमोदित है।

अब महात्माजी की महिमा मूलबद्ध हो गई है। यही शायद दुनिया की रीति है। जबतक बूढ़ा बाप जीता है, तबतक श्रद्धा के लिए तरसता है और जब चल बसता है, तब उसके श्राद्ध की तैयारियाँ होने लगती हैं। जो विश्ववन्द्य विभूति हमें भगवान बुद्धदेव के बाद दो-ढाई हजार वर्षों पर नसीब हुई थी, उसका महत्त्व हमने उसके जीते जी नहीं जाना, अब जलूस और श्रद्धांजलि का आडम्बर रचकर सिर्फ मन बहला रहे हैं।

आजतक हिन्दू-जाति ने अपनी विश्वविख्यात विभूति का नाश अपने ही हाथों नहीं किया था। भगवान कृष्ण को भी व्याध ने धोखे में आकर तीर मारा था, भगवान को पहचान कर नहीं मारा था और फिर मारकर पछताया गिड़गिड़ाया भी था। मुसलमानों और यहूदियों ने अपने पैगम्बर या महापुरुष को भले ही मारा हो, पर हिन्दूजाति अभीतक इस कलंक से बची हुई थी। आज वह कलंक का टीका हिन्दूजाति के मस्तक पर तप्तांगार की तरह 'चमक' रहा है। उसकी ओर आँखें देखना नहीं चाहतीं; मगर वह तो बन्द आँखों में भी, हिये की आँखों तक में रह-रहकर 'चमक' उठता है। वह तो ललाट से उतरकर कलेजे पर धधक रहा है। जाति की, जी की जलन, हम आँसुओं की लगातार धार से भी बुझा सकेंगे ?

हम तो खुली आँखों प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि जिन लोगों के कारण साम्प्रदायिकता के ज्वालामुखी का भीषण विस्फोट हुआ, और जिन लोगों ने उसकी लपटों को फैलाने के लिए सहस्रबाहु बनकर उसमें घृणाहुति की हजार धार छोड़ी, वे भी आज सहानुभूति और समवेदना दिखाते नहीं सकुचाते—वे आज लौकिक शिष्टाचार का दम्भ दिखाते नहीं लजाते। भला ऐसे पाखण्डी लोक में वह महान् आत्मा कैसे टिकी रहती ? यह कृत्रिम संसार उसके योग्य है ही कहाँ ? वह आत्मा तो अपनी साँस-साँस से सन्देश देती रह गई; मगर 'खादी' और 'खुदा' की ओर खलक का खयाल गया ही नहीं ! उसके प्राणप्रिय आदर्शों को तो हमने अपनाया ही नहीं, अब छाती कूटकर उसकी छाती जुड़वाना चाहते हैं। जिसे क्रोधावेश और अमानुषिकता को देश से विदा करने की धुन थी वह खुद ही दुनिया से विदा हो गया। उसी को हम उसके निधन-क्षण से ही जारी रख रहे हैं। हमारे रक्तरंजित हाथ की श्रद्धांजलि वह अहिंसाव्रती कैसे स्वीकृत करेगा।

अब भी अगर हम अपने को सँभाल और उसके सिद्धांतों को पालें तो हमारी सात्विक श्रद्धांजलि उसके लिए तृप्तिकर हो सकती है, जिसने हमें गुलामी के गड्ढे से उबारकर आजादी के आसमान पर चढ़ाया और जिसने हमें सचाई की राह पर आरूढ़ करने के लिए आत्म-बलिदान कर डाला। उसकी आत्मा का, जो हमारे चारों ओर हर घड़ी मँडरा रही है, ठेस पहुँचानेवाले काम करके हम उसे तृप्त नहीं कर सकते। हमें उसका

सच्चा उत्तराधिकारी बनना है। उसकी तपस्या ही अब हमारे जीवन की मुख्य तपस्या है। उसी की पूर्ति का संकल्प हमें धारण करना है। तभी हम भारत के उस सांस्कृतिक संदेश की पवित्रता कायम रख सकेंगे, जो बापू ने विश्व को दिया है। निश्चय ही इसमें विघ्न-बाधाएँ बहुत होंगी। हमारे समय को संकट के कंटकमय मार्ग से चलना होगा। हमारी विश्व-कल्याण-भावना को भड़कानेवाले पग-पग पर छेड़ेंगे; पर हमें अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण होकर बापू के आत्मोत्सर्ग को इतिहास के उज्ज्वल पृष्ठों पर सुनहले अक्षरों में अंकित करना होगा। यदि वे पृष्ठ कलंक-कालिमा से काले भी होंगे तो हमारे आदर्श-पालन के निष्कलंक हाथों से लिखे स्वर्णाक्षर विशेष दीप्ति के साथ युग-युगांतर तक दमकते रहेंगे।

—दैनिक 'आज' (काशी); १३ फरवरी १६४८ ई०

पूज्य राजेन्द्र बाबू

पूज्य राजेन्द्र बाबू बिहारियों के गृहदेवता हैं। किन्तु उनकी पूजा-प्रतिष्ठा बिहार के बाहर ही अधिक होती है। बिहार में तो वे घरेलू देवता ही माने जाते हैं। उनके पास पहुँच जाने पर इसका अनुभव होता है। मुझे उनके पास पहुँचने का सौभाग्य बहुत कम प्राप्त हुआ है। पर जब कभी प्राप्त हुआ है, यही देखा है कि घर के देवता के पास जैसे घरवाले निर्द्वन्द्व आते-जाते हैं वैसे ही उनके पास सब तरह के लोग पहुँचकर अपना काम बना लेते हैं। उनके देवत्व से, उनके सौजन्य से, अनुचित लाभ उठानेवाले महानुभाव भी पहुँच जाते हैं और अपनी आशा-अभिलाषा पूरी करके ही लौटते हैं। अन्य बड़े-बड़े नेताओं के दरबार भी देखे हैं; पर वे शाही दरबार हैं, जहाँ आतंक और अनुशासन का कड़ा पहरा है। यहाँ तो औढरदानी का दरबार है, जहाँ शिष्टता और शालीनता का भी कोई अंकुश नहीं।

भगवान् विष्णु अथवा भगवान् राम-कृष्ण के मंदिर में खास पुजारी के सिवा कोई पहुँचा हुआ भक्त भी नहीं जा सकता; किन्तु भगवान् आशुतोष के मंदिर का द्वार सर्वसाधारण के लिए सदैव उन्मुक्त है। किन्तु भगवान् आशुतोष भी काशी में जितने सुलभ हैं, उतने अन्यत्र कहीं नहीं। द्वादश-ज्योतिर्लिंगों में किसी के पास सबकी गति नहीं; पर काशीपति विश्वनाथ को चाहे जो कोई जाकर घँघोल ले! वे सर्वसुलभ और सदासुलभ हैं। इसीलिए उनकी पुरी में कीट-पतंग की भी मुक्ति निश्चित है। उनके मंदिर के द्वार पर लिखा है—'आर्य्येतराणां प्रवेशो निषिद्धः'—किन्तु दर्शकों की भीड़ से जाति-पाँति पूछनेवाला कोई नहीं।

फिर भी देवता की सुलभता से भक्तों का चाहे जितना उपकार होता हो, देवता की दुर्गति तो होती ही है। किसी शिवालय में जाकर शिवजी से हाल-चाल पूछिए।

पूज्य राजेन्द्र बाबू में हमलोगों की श्रद्धा तो है; पर उस श्रद्धा के लिए उनको भारी टैक्स भी चुकाना पड़ता है। उनके अविरल त्याग और उनकी वंदनीय तपस्या के

कारण ही हमारी श्रद्धा उत्पन्न हुई है; किन्तु हमारी श्रद्धा के समक्ष उनकी अग्नि-परीक्षा भी होती है। हम घर-बैठे उनके पवित्र दर्शन चाहते हैं। शायद भक्तों की यही परिपाटी रही है। और, इसी के कारण भगवान् की कष्ट-परंपरा भी पुराण-प्रसिद्ध है।

पूज्य राजेन्द्र बाबू रोगाक्रांत रहें या शरीरतः असमर्थ, हम उन्हें असुविधा की कसौटी पर कसे विना नहीं छोड़ते। वे जेल के कष्ट झेलकर अस्वस्थ हों, बला से, हमें उनके दर्शन और भाषण की चाट है। मोटर पर चढ़ने और मोटर से उतरने में भी उन्हें कष्ट होता है, हमलोग जानते, सुनते और देखते हैं। उत्कट श्वास-रोग के कारण बोलने या भाषण करने में भी उन्हें पीड़ा होती है। किन्तु हम उन्हें दौरा कराये विना, देहात-देहात दौड़ाये विना, उनके आदेश-मात्र से कुछ करना-धरना नहीं चाहते। सदाकत आश्रम में बैठे-बैठे वे देशहित की आवाज उठावें और उनके चरणों पर भेंट चढ़ाने के लिए हम टूट पड़ें, यह दृश्य देश के उज्ज्वल भविष्य का सूचक होगा। लेकिन ऐसे दृश्य का दीख पड़ना अभी संभव नहीं। अभी तो हमलोग यही दृश्य देखना पसंद करते हैं कि पूज्य राजेन्द्र बाबू किसी तरह—स्ट्रेचर पर भी लदकर—हमारे घर आवें और हम उनके आगे हजारों की भेंट धरें! हमें तो उनके स्वास्थ्य और जीवन को लाखों से भी अधिक मूल्यवान् समझना चाहिए। हमारी श्रद्धा का महत्त्व उस दिन कहीं अधिक बढ़ जाता, जिस दिन हम उनकी तन्दुरुस्ती की नाजुक हालत देखकर उन्हें आश्रम में ही रहने का आश्वासन देते और उनकी अपील भी वहीं पूरी कर देते। हाँ, इससे एक घाटा जरूर होता, हमारे उमड़े हुए उत्साह का भव्य प्रदर्शन न हो पाता! मगर उनके जीवन की रक्षा और उनकी जीवन-शक्ति की वृद्धि के लिए हमें प्रदर्शन का मोह तो छोड़ना ही चाहिए। वे राष्ट्र के मूलधन हैं, भारत-माता के नेत्रों के प्रकाश हैं, बिहार के तो जीवन-सर्वस्व ही हैं। इसलिए, उनकी एकसठवीं वरसगाँठ मनाते समय, उनकी आगे की अनमोल जिन्दगी की हिफाजत की बहुत बड़ी जिम्मेवारी हमारे सिर स्वभावतः आ पड़ती है। हमें आज यह भी सोचना है कि अनावश्यक परिश्रम, थकावट और असुविधा से किस प्रकार उनकी जिन्दगी बचाई जा सकती है। उनके दर्शनों से हमारे नेत्र काफी कृतार्थ हो चुके, उनके भाषणों से हमारे कान भी खूब तृप्त हो चुके, अब हम 'उनपर दया करके' उन्हें शान्तिपूर्वक विश्राम करने दें, उनके जलूसों का मोह छोड़ने की आदत डालें, उनके पास कोटि-कोटि कण्ठों से निकला हुआ यह संदेश भेज दें—'हमारे परम आराध्य देवता! तुम मंदिर में ही भले विराजो, तुम्हारी फूल-डोल यात्रा हम नहीं निकालेंगे; अब केवल तुम्हारे आदेश और संदेश की ही प्रतीक्षा है; हम बिंदु-बिंदु देकर उनका अक्षरशः पालन करेंगे।'

बस, इसी प्रकार हम उनकी जिन्दगी की लड़ी में एकसठ कड़ियाँ और भी जोड़ सकते हैं।

—साप्ताहिक 'हुंकार' (पटना); ३ दिसम्बर, १९४५ ई०

भारत के गौरवालंकार नेहरूजी

जिस दिन महात्मा गांधी ने पण्डित जवाहरलालजी नेहरू को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था उस दिन कुछ लोग बापू के चुनाव पर सन्देह कर रहे थे, कुछ लोग चकित भी थे। किन्तु आज सबकी समझ में आ गया कि बापू के चुनाव में कितनी दूरदर्शिता थी। बापू के चुनाव पर जिनका विश्वास नहीं जमा था उनका हृदय भी आज स्वीकार कर रहा है कि बापू सचमुच भविष्यदर्शी पुरुष थे--भले ही उनके कंठ से ऐसा स्वर न निकले।

बापू के जीवन का जिन्होंने मननशीलता के साथ अध्ययन किया है, वे निश्चय ही उन्हें क्रान्तदर्शी या त्रिकालदर्शी पुरुष मानते हैं और आज नेहरूजी की विश्वव्यापिनी महिमा देखकर इस बात का गर्व अनुभव करते हैं कि बापू को हमने युगद्रष्टा ठीक समझा था।

बापू की दृष्टि जब अतीत की ओर से चक्कर काटकर लौटती थी, नेहरूजी पर ही टिकती थी—जब वह वर्त्तमान पर अड़ती थी तब भी नेहरूजी पर ही ठिठकी रहती थी—और, जब वह भविष्य की ओर बढ़ती थी, नेहरूजी उसके संबल होते थे। युगों के गाढ़े पर्दे को भेदकर आरपार देखनेवाली एक महात्मा की दृष्टि को हर तरफ से घेर लेना साधारण व्यक्तित्व का काम नहीं। इसी प्रकार, असाधारण व्यक्तित्व को परख लेना भी साधारण दृष्टि का काम नहीं। यह महात्माजी की ही मर्मभेदिनी दृष्टि थी जो चारों ओर मँडरा कर नेहरूजी पर ही आ टिकी। भौंरा अनेक सुगंधित फूलों पर मँडरा कर पुष्पराज कमल में जा बँधता है। किसी महात्मा की नजर बाँध लेना हँसी-खेल नहीं है।

भारत की कसौटी तो बहुत ही कड़ी है, मगर आज अमेरिका ने 'महात्मा नेहरू' कहकर महात्मा गांधी के चुनाव पर पक्की मुहर लगा दी है। कौन कह सकता है कि 'पाताल-लोक' से जो आवाज उठी है वह भूगोल-खगोल को न पार करेगी ?

बापू जबतक जीवित रहे, देश-विदेश सर्वत्र उनकी तेजस्विता व्याप्त रही और निधन के बाद तो भलीभाँति उनके विश्वबंधुत्व का प्रमाण मिल गया। उनकी अन्तरराष्ट्रीय ख्याति से भारत की जो गौरववृद्धि होती रही, उसका अनुमान एवं ध्यान करने पर उनके निधन से देश बहुत हताश हो गया। किन्तु उस घोर निराशा में नेहरूजी अचानक आशा की किरण बनकर चमक उठे। यद्यपि वे बापू के जीवन-काल में भी राजनीतिक कारण से विदेश जाकर अपने आकर्षक व्यक्तित्व का चमत्कार दिखा आये थे, तथापि उस समय की सारी सफलताओं का श्रेय बापू के विश्ववन्द्य चरणों पर ही अर्पित होता था। परन्तु, बापू के बलिदान के बाद अभी दो ही बार वे विदेश गये हैं और इन दो यात्राओं में ही सिद्ध कर दिया है कि भारत की गोद कभी महात्माओं से खाली नहीं रहती। अनेक बार अमेरिकावालों ने महात्मा गांधी को बुलाया, पर वे न जा सके। आज जब नेहरूजी अमेरिका पहुँचे तब मानों महात्माजी की आत्मा ही वहाँ पहुँच गई है। तभी वहाँ के वायुमंडल में 'महात्मा नेहरू' की ध्वनि गूँजी है।

आज भारत में एकमात्र नेहरूजी ही ऐसे नेता हैं, जो स्वदेश और विदेश में समान रूप से सम्मानित हो रहे हैं, बल्कि कहना तो यह चाहिए कि स्वदेश से भी बढ़कर विदेश में आदर पा रहे हैं। महाकवि तुलसीदास की उक्ति—'उपजहि अनत अनत छबि लहहीं,—अक्षरशः सार्थक हो रही है। पाश्चात्य जगत के सब तरह के तौर-तरीके उन्हें खूब मालूम हैं। विदेशों के समाज की गतिविधि से वे भलीभाँति परिचित हैं।

वहाँ के शिष्टाचार, रहन-सहन, खान-पान, बोल-चाल और रंग-ढंग का जितना ज्ञान एवं अनुभव उनको है उतना और किसी भारतीय नेता को नहीं। उनकी शिक्षा-दीक्षा विदेश में ही हुई है। बचपन से वे विदेशी शिक्षकों की देख-रेख में रहे हैं। उनके पिता स्वनामधन्य पण्डित मोतीलाल जी नेहरू पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के बड़े हिमायती थे। इस प्रकार, जवाहरलाल जी ऐसे परिष्कृत वायुमंडल में पले ही हैं कि कोई विदेशी उनके साथ मिलकर किसी तरह की झिझक का अनुभव नहीं कर सकता।

फिर भी, विदेशी रंग में सराबोर परिवार के प्रमुख सदस्य होकर भी, नेहरू जी भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के गर्वीले और श्रद्धालु समर्थक हैं। यह बात उनके ग्रंथों और भाषणों से स्पष्ट विदित होती है। उनकी भारतीयता का स्वाभिमान उनके विचारों और लेखों में चरमोत्कर्ष तक पहुँचा हुआ मिलता है।

बापू के सत्य, अहिंसा और विश्वप्रेम का सन्देश उन्होंने भूमंडल के कोने-कोने में पहुँचा दिया है। यदि यह कहा जाय कि श्री रामकृष्ण परमहंस को जैसे स्वामी विवेकानन्द मिल गये थे, वैसे ही बापू को जवाहरलाल मिल गये तो अत्युक्ति न होगी। विवेकानन्द के बाद नेहरूजी ही विश्वमैत्री का अमर सन्देश लेकर निकले हैं। किन्तु प्रेम और शान्ति के शुभ सन्देश के साथ ही साथ वे भारतीय शक्ति-सत्ता की महत्ता भी घोषित करते जाते हैं—भारत की आध्यात्मिक शक्ति की महिमा बतलाते हुए उसकी सैनिक शक्ति की अजेयता भी सुझाते जाते हैं।

वे सचमुच उस प्राचीन भारत का सच्चा प्रतिनिधित्व करते हैं जिसके प्रलयंकर शंकर की दो आँखों में कल्याण और तीसरी में संहार बसता है। वे दुनिया की आँखों के सामने जिस भारत का रूप अंकित करते हैं वह उनका भारत सहिष्णु और उदार, महत्त्वाकांक्षी और स्वाभिमानी है, अजातशत्रु और 'स्ववीर्यगोप्ता' (आत्मबल-रक्षित) है। उनके उस भारत का एक हाथ अभयवरद है और दूसरा आत्मरक्षा में तत्पर है। ईश्वर से प्रार्थना है कि उनकी कल्पना का भारत मूर्त्त होकर रहे और वे उसके गौरवालंकार बनकर संसार को सन्मार्ग दिखाते रहें।

—दैनिक 'नवराष्ट्र' (पटना); जवाहर-हीरक-जयन्ती-अंक; १४ नवम्बर १९४९ ई०

श्रीबाबू[1]

मैंने राजनीति-क्षेत्र में कभी काम किया नहीं, इसलिए किसी नेता से कभी किसी प्रकार का सम्पर्क भी न हुआ। अगर कभी हुआ भी तो केवल साहित्यिक कारण से ही। श्रीबाबू से भी पहले-पहल इसी कारण मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वह भी राजनीतिक क्षेत्र के एक प्रसिद्ध व्यक्ति और साहित्यिक क्षेत्र के यशस्वी कलाकार श्रीबेनीपुरीजी के साथ।

संभवत: १९४५ या ४६ ईसवी के शीतकाल का आरंभ था। रात के आठ बजे होंगे। पटना में, बोरिङ्ग रोड पर अमावाँ-राज्य की कोठी में, आपके दर्शन हुए। श्री बेनीपुरीजी ने मेरा परिचय दिया। मैंने श्री राजेन्द्र-अभिनन्दन-ग्रंथ के लिए आपसे एक लेख की प्रार्थना की। आपने फिर एक बार याद दिलाने पर भेज देने का वादा किया। ग्रंथ के बारे में आप और-और बातें भी पूछने लगे। मैंने सब विवरण बतलाया।

बस, आपसे मिलने के उतने ही क्षण अबतक नसीब हुए हैं। किन्तु उतने ही क्षणों में आपके मधुर व्यक्तित्व ने बहुत प्रभावित किया। आपके उदार व्यवहार से बड़ा सन्तोष भी हुआ।

आपके प्रथम दर्शन का सुअवसर असहयोग-युग में प्राप्त हुआ था—पटना में ही। उस समय आपकी सेवा में उपस्थित होकर आपसे बातें करने का सुयोग तो न मिला, पर आपके ओजस्वी भाषण की छाप दिल पर गहरी पड़ी।

सन् १९२० ई० में आरा (शाहाबाद) के एक हाई स्कूल से मैं असहयोगी बनकर निकला और वहीं के नवस्थापित राष्ट्रीय विद्यालय में हिन्दी का अध्यापक हुआ। प्रति रविवार को छात्रों के दल के साथ गाँवों मे जाकर प्रचार-कार्य करता। विद्यालय में भी विद्यार्थियों को राष्ट्रीयता का ही सन्देश सुनाना पड़ता। सार्वजनिक सभाओं की सूचना पाते ही उनमें पहुँचकर जोशीले भाषण सुनने की चाट लगी रहती। यहाँ तक कि गरमागरम भाषण सुनने के लोभ से कभी-कभी पटना तक दौड़ लगाता।

उन्हीं तूफानी दिनों में पटना में आपका भाषण सर्वप्रथम सुना। नये खून में उबाल-सा आ गया। देखा कि आप बोलते समय स्वदेशाभिमान से उन्मत्त हो उठे हैं। बोलते-बोलते आपके मुख से फेन निकलने लग जाता। यहाँ तक कि आप हाँफने लग जाते। गले की नसें खूब तन जातीं। भुजाएँ फड़कती-उछलती रहतीं। बँधी मुट्ठी से दृढ संकल्प का संकेत मिलता। पैरों की धमक पृथ्वी को सचेत करती। कभी-कभी पानी पीकर आप कुछ दम लेते, फिर पानी पी-पीकर निर्भीक स्वर में विदेशी सरकार को कोसते। तेजस्वी वाणी के उत्तेजक स्वर से सभा-स्थल गूँजता रहता। आपके चेहरे की तमतमाहट लोगों में जीवट भर देती। मेरे तो रोंगटे खड़े हो गये। आँखों में रह-रहकर आँसू उमड़ पड़ते। रगों में बिजली-सी दौड़ गई। दिल में नई उमंगें लहराने लग गईं। जान पड़ा, मानों, एक नई चेतना और नई प्रेरणा पा गया होऊँ। भाषण के कई मार्मिक वाक्यों को मन-ही-मन दुहराता-गुनगुनाता आरा लौट गया।

---

१. बिहार-राज्य के मुख्यमंत्री बिहार-केसरी माननीय डाक्टर श्रीकृष्ण सिंहजी।

शायद उन दिनों आपकी जवानी पूरे ओज पर थी। 'लाउडस्पीकर' का वह युग नहीं था। बड़ी-से-बड़ी सभा में भी नेता या वक्ता को अपनी वाणी की शक्ति की ही आजमाइश करनी पड़ती थी। आपकी वाणी निस्सन्देह बड़ी शक्तिशालिनी थी। अब भी है वह वैसी ही, मगर उम्र का असर तो तन-मन-वचन पर पड़ता ही है। राष्ट्रीय जोश का ज्वार-भाटा जितना उन दिनों हहास बाँधकर आता रहा, उतना अब संभव भी नहीं। फिर भी यह कहना ही पड़ेगा कि आपकी समर्थ वाणी ही आपके लिए 'बिहार-केसरी' की उपाधि लाने में समर्थ हुई। जिन्होंने गांधीजी के अहिंसात्मक आन्दोलन के आरम्भिक युग में आपके सनसनीदार भाषण सुने हैं, वे कभी यह कहने में न हिचकेंगे कि सचमुच आप बोलते नहीं, दहाड़ते थे।

आपका शरीर पहले से अब अधिक भव्य हो गया है। वाणी में भी पहले से अधिक निखार आ गया है। पुरानी स्मृति उसमें सिंह-गर्जन की झलक आज भी देख लेती है। उसने सोये को जगाया है, गिरे को उठाया है; डरे को निडर किया है, हताश को उत्साह दिया है। उसने हनुमानी हाँक की तरह भय का भूत भगाने में सफलता पाई है। उसने मुर्दों में नई जान फूँकी है। उसके जादू का असर वे ही परख सकते हैं जो इस बीसवीं सदी की आरम्भिक दो दशाब्दियों में देश-दशा देख चुके हैं। उस समय लोगों के दिल पर एक प्रकार का शासनातंक छा रहा था। आपके भाषणों ने आतंक-निग्रह गोलियों-सा असर किया। ईश्वर ने आपको जो वाणी की विमल विभूति दी है उसका जैसा सदुपयोग हुआ वैसा ही सुपरिणाम भी। बिहार का कोना-कोना गूँज गया। जन-जन के मन में जागृति की जोत जगी।

एक बार बिहार-प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में आपका साहित्यिक भाषण सुना। आरा में चम्पारण के भाई मुनिसजी के सभापतित्व में अधिवेशन[1] हुआ था। आप पहली बार बिहार के प्रधान मंत्री हुए थे। उस भाषण से यह स्पष्ट लक्षित हुआ कि आपके साहित्यिक विचार आपके अत्यन्त गंभीर अध्ययन के फल हैं। उसी दिन एक संगीत-सम्मेलन[2] में भी आप संगीत-साहित्य पर जो कुछ बोले, उससे भी आपके सतत स्वाध्याय की महत्ता प्रकट हुई।

आपकी अध्ययनशीलता बिहार में बेजोड़ मानी जाती है। उत्तमोत्तम ग्रंथ ही आपके चिरसंगी हैं। आपके अहर्निश स्वाध्याय-यज्ञ का प्रसाद यदि साहित्य को मिल पाता तो और भी लोकोपकार हो सकता। आपके पार्श्ववर्त्तियों को आपके रत्नकोष से कुछ ग्रहण-वितरण करना चाहिए। यदि आपकी ज्ञानगरिमा साहित्य को एक मणि-मंजूषा दे जाती तो निश्चय ही वह राष्ट्र की अमूल्य सम्पत्ति होती। इसी कामना के साथ में ईश्वर से आपकी चिरायु-कामना करता हूँ। तथास्तु।

—श्रीकृष्ण-अभिनन्दन-ग्रंथ; कार्त्तिक-शुक्ल २००५ वि०

१. वह अधिवेशन उसी स्थान पर हुआ था, जहाँ आज बाल-हिन्दी-पुस्तकालय है। —ले०
२. वह सम्मेलन बाबू अमीरचन्द्र अग्रवाल के लक्ष्मीभवन में हुआ था। —ले०

माननीय अनुग्रह बाबू

सन १९४० ई० में राजेन्द्र-कालेज (छपरा) के विद्यार्थियों ने देशपूज्य राजेन्द्रबाबू के नाम पर एक हिन्दी-पुस्तकालय और सार्वजनिक वाचनालय की स्थापना की थी। उसके सभापति की हैसियत से मैं एक बार माननीय अनुग्रह बाबू से मिला। मैंने निवेदन किया कि पुस्तकालय का स्वतंत्र भवन बनवाने के लिए बिहार सरकार से सहायता मिलनी चाहिए। उन्होंने बड़ी सहानुभूति दिखाई।

जिस दिन मैं उनसे मिलने गया, मुलाकातियों की बड़ी भीड़ थी। सबने अपने-अपने कार्ड भेजे। मैंने एक चिट पर सिर्फ अपना नाम लिख भेजा। ईश्वर की दया, सबसे पहले मेरी ही बुलाहट हुई।

आध घंटा समय बातें करने में लगा। बड़े धैर्य से उन्होंने मेरी प्रार्थना सुनी। फिर सहर्ष दो हजार रुपये भवन-निर्माण के लिए देने का अभिवचन दिया। दरखास्त मैं पहले ही भेज चुका था, सिर्फ याद दिलाने के लिए एक पत्र फिर छपरा जाकर भेजा। रुपये उन्होंने शीघ्र भेज दिये। यह सहायता प्राप्त करने में कोई विशेष कठिनाई न हुई; क्योंकि उन्होंने बड़ी सहृदयता से प्रार्थना पर ध्यान दिया।

इतना ही नहीं, उनसे पुस्तकालय के नये भवन की नींव देने की भी प्रार्थना की गई थी। उसे भी उन्होंने उदारतापूर्वक स्वीकृत किया। छपरा-यात्रा का अवसर मिलते ही उन्होंने पुस्तकालय की वह प्रार्थना सफल कर दी। पुस्तकालय की आर्थिक कठिनाई के कारण उनके स्वागत या अभिनन्दन का कोई उचित प्रबन्ध न हो सका। फिर भी उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से शिलान्यास-कर्म सम्पन्न किया।

उनसे मिलने का सुअवसर पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ था, पर उनके दर्शन का सौभाग्य कई बार प्राप्त हुआ था। असहयोग-आंदोलन और सत्याग्रह-आन्दोलन के समय कई जगह सार्वजनिक सभाओं में उनके भाषण सुने थे। भाषण करते समय देखा कि वे बड़ी सरलता से सिर्फ काम की बातें कहते हैं। ओजस्वी व्याख्याता की तरह उछलते-कूदते नहीं या अंगभंगी भी नहीं दिखाते। बिना हाथ-पैर हिलाये स्वाभाविक गति से बोलते चले जाते हैं।

वे राजेन्द्र-कॉलिज में भी कई बार गये। देशरत्न राजेन्द्र बाबू के नाम पर वह संस्था है। उसके प्रति उन्होंने बड़ी ममता दिखाई। उसकी उन्नति के लिए सरकारी सहायता देने की भी कृपा की। वहाँ भी छात्रों और अध्यापकों के बीच वैसे ही सीधे-सादे ढंग से भाषण किया। यह उनकी विशेषता जान पड़ी।

श्री राजेन्द्र-अभिनन्दन-ग्रंथ के एक सम्पादक के रूप में भी उनसे मिलने का सुयोग पाया। ऐसे सुयोग दो-चार बार मिले होंगे। एक बार गंगा में स्टीमर पर ही भेंट हो गई। ग्रंथ के निमित्त लेख की प्रार्थना पर उन्होंने कार्य-व्यस्तता के कारण खेद प्रकट किया। फिर भी उन्होंने ग्रंथ में लेख देना अपना कर्त्तव्य बतलाया। उन्होंने अपनी लिखी पुस्तक

'मेरे संस्मरण' की एक प्रति मुझे दी, जिसमें पूज्य राजेन्द्र बाबू के संस्मरणों के कई स्थल हैं। उनका समयाभाव देखकर उसी पुस्तक से सन्तोष करना पड़ा। किंतु, उसमें जो संस्मरण मिले, वे भी संतोषप्रद ही सिद्ध हुए।

एक बात मुझे बहुत अच्छी जँची। आप हमेशा हँस-हँस कर बातें करते हैं, कभी-कभी, बीच-बीच में, बड़े जोर के ठहाके से हृदय की उन्मुक्तता भी प्रकट करते चलते हैं। सादगी और मिलनसारी ऐसी है कि उनके पास बैठने पर उनकी महत्ता का आतंक नहीं व्यापता। उन्होंने मेरे पत्रों के उत्तर हिन्दी में देकर अपना राष्ट्रभाषानुराग भी प्रदर्शित किया है। उनके समान विशाल-हृदय नेता को भगवान चिरायु करें।

अनुग्रह-अभिनन्दन-ग्रंथ; १८ जून, सन् १९४९ ई०

---

[२]

माननीय डाक्टर अनुग्रह नारायण सिंह

गांधी-युग मे जितने सच्चे जन-सेवक भारत में हुए हैं, उनमें बिहार के माननीय अर्थमंत्री डाक्टर अनुग्रहनारायण सिंहजी प्रथम कोटि में गिने-माने जाते हैं। उन्हें जनसमाज में 'बिहार-विभूति' की जो उपाधि मिली है वह अक्षरशः सार्थक है। उनका व्यक्तित्व, उनकी सहृदयता, उनकी सादगी और उनकी लोकप्रियता सचमुच बिहार की विभूति है। जो कोई एक बार भी उनसे मिल पाता है, वह उनके मधुर व्यक्तित्व से आकृष्ट और प्रभावित हुए विना नहीं रहता। सहृदय वे ऐसे हैं कि अपने सम्पर्क में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को कृतज्ञ बना लेते हैं। सादगी उनकी ऐसी है कि वे बिहार-सरकार के अर्थमंत्री नहीं जान पड़ते। बिहार-राज्य की प्रजा के अन्नदाता के रूप में उनकी लोकप्रियता की महत्ता वही आँक सकता है, जो उन्हें बिहार की खाद्य-समस्या के हल करने में व्यस्त, तत्पर और चिन्तित देख सका है।

उनकी तर्क-प्रणाली और युक्तिसंगत बातों से उनकी समझ की गहराई तथा सूझ की बारीकी प्रकट होती है। बहुत-से सवाल मन में सोचकर उनके पास जाइए, सबका माकूल जवाब लेकर चले आइए। बहुत-सी शिकायतें झुँझलाहट के साथ उनके सामने पेश कीजिए, बड़ी मिठास के साथ हँसते-हँसते सबका सन्तोषप्रद समाधान कर देंगे। ऊबते-उकताते वे कभी नहीं। क्रोध को मानों पी गये हैं वे। गंभीरता उनकी अगाध है। धैर्य उनका अटल है। आवेश में आने योग्य प्रसंग के उपस्थित होने पर भी वे कभी विचलित होते नहीं देखे गये। सार्वजनिक सभाओं में उत्तेजित जनता को भी शान्त करने में उनकी संयत वाणी कमाल करती है। देश और प्रान्त की जटिल आर्थिक समस्याओं के लिए हल निकालने में उनका मस्तिष्क ऐसा निर्मल और स्फूर्तिशाली है कि उनके निष्कर्षों को देख-सुनकर चकित रह जाना पड़ता है। अपने अधिकृत विषय के तथ्य-निरूपण में बड़ी मार्मिक दृष्टि पाई है उन्होंने।

उनके पास प्रतिदिन नाना प्रकार के मनुष्य विविध भाँति के प्रश्न लेकर पहुँचते हैं। सबके प्रश्नों और सबकी शंकाओं के चक्रव्यूह को भेद कर साफ निकल जाने में उनका कौशल सहज ही मन में उनके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करता है। उनके समीप उपस्थित जनमंडली में बैठकर प्रश्नोत्तर सुनने में एक विचित्र आनन्द का अनुभव होता है। उस वार्तालाप में विशेषतः उनके विशुद्ध विनोद बड़े मनोरंजक होते हैं। किन्तु गहन एवं महत्त्वपूर्ण विषयों को वे विनोद में नहीं उड़ाते, और न तर्क-युक्ति के जाल में किसीको भरमाने का प्रयत्न करते हैं; बल्कि वे तो ऐसे उपयोगी सुझाव देते हैं—सहज-साध्य उपाय बतलाते हैं—उलझनों को सुलझाने के सुगम मार्ग प्रदर्शित करते हैं कि बीहड़-से-बीहड़ विषयों के लिए भी ठोस निर्णय निकल आता है। यदि नुक्ताचीनी करनेवाले महाशय उनके हितकर परामर्शों और सुलझे विचारों पर ध्यान देने की कृपा करते, तथा देशदशा सुधारने के लिए उनके सुझाये हुए तरीकों पर गौर करते, तो उनकी परेशानियाँ बहुत कम हो जातीं और वे प्रान्त की आर्थिक उन्नति के लिए बहुत-कुछ सोच सकते तथा नये आयोजन भी कर पाते।

उनकी उदारता का द्वार सबके लिए खुला है, उसका प्रसाद सबके लिए सुलभ है। कई बार ऐसा देखने में आया है कि अपराधी भी उनसे कर्त्तव्य का आदेश पाकर और उनके यथोचित न्याय से सन्तुष्ट होकर ही लौटा है। निराशा तो शायद ही किसी अभागे को उनसे मिली होगी। न्यायोचित आशा की पूर्त्ति करने में वे कभी विमुख हुए भी नहीं। सहानुभूति-पात्र को प्रोत्साहनप्रदान करने में रंचमात्र भी कुण्ठित नहीं होते। उनके आस-पास का वातावरण सेवा और सद्भाव से सुरभित रहता है। अन्याय को उनके यहाँ आश्रय नहीं मिलता। अकर्मण्यता को देशनिकाला देने के लिए वे निरन्तर प्रेरणा देते रहते हैं।

पुरानी भारतीय कहावत 'जब साठा तब पाठा' को वे प्रत्यक्ष सिद्ध करते हैं। उनकी परिश्रमशीलता आज के युवकों को भी लज्जित और उत्साहित करती है। उनके जीवन का प्रत्येक क्षण एवं उनके चिन्तन का प्रत्येक कण देश की गंभीर स्थिति को अनुकूल बनाने में ही व्यय होता है। यदि देश के सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं और जनता के प्रतिनिधियों तथा हितैषियों का अभीष्ट सहयोग उन्हें प्राप्त होता तो निश्चय ही वे देश की दयनीय स्थिति को अनुकूल बनाने में समर्थ होते। किन्तु हम देखते हैं कि उनके सुझावों और उनकी सलाहों को कार्यान्वित करनवाले सच्ची लगन और पक्की धुन के लोग बहुत ही कम हैं, बस बातें बघारनेवाले ही अधिक हैं जो बिना हाथ-पैर डुलाये ही आसमान से सुख-सुविधा के टपक पड़ने की आशा रखते हैं।

यह देश का दुर्भाग्य है कि अकर्मण्य देशवासियों के बीच एक कर्मठ नेता की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का यथार्थ सदुपयोग नहीं हो पाता। गान्धीजी की वर्त्तमान पहली पीढ़ी में हमें जो यह त्यागमूर्त्ति और सेवाव्रती नेता मिला है उसके दिव्य गुणों से यदि हम समय रहते पूरा-पूरा लाभ न उठा सके, तो हमारा यह सौभाग्य स्वभावतः पश्चात्ताप के रूप में परिणत होकर रहेगा।

हमारे अनुग्रह बाबू का अत्यन्त संक्षिप्त परिचय यह है कि वे वास्तव में एक आदर्श मानव हैं। उनकी आदर्श मानवता उनके सभी मानवोचित सद्गुणों की चूड़ामणि है। लौकिक व्यवहार-जगत् में और सार्वजनिक सेवा-क्षेत्र में वे एक पूर्ण मनुष्य के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। उनकी इसी निरावरण मनुष्यता का हमने नामकरण किया है—'बिहार की विमल विभूति'। परमात्मा से यही प्रार्थना है कि इस विभूति से बिहार चिरकाल तक विभूषित रहे।

—साप्ताहिक 'योगी', वर्ष १८, अङ्क २४; १६ जून १९५१ ई०

[३]

'विभूति'-विहीन बिहार !

बिहार-राज्य के वित्त-मंत्री माननीय डाक्टर अनुग्रह नारायण सिंह के आकस्मिक निधन से बिहार का एक पूर्ण मनुष्य जाता रहा। सबके सहृदय सुहृद् बनकर उन्होंने मनुष्यता को सनाथ किया था। आज उनके बिना असंख्य जन अनाथ हो गये।

वे भारतीय कांग्रेस-मण्डल के एक महान अर्थशास्त्री थे। कोई तर्क उनके सामने टिकता न था। अनेक प्रकार के आँकड़े वे मुखाग्र सुनाते थे। योजनाओं की रीढ़ दृढ़ करना उनका स्वाभाविक कौशल था। आर्थिक समस्याओं की जटिलता उनके आगे नतमस्तक हो रहती थी।

वे निर्विवाद रूप से एक आदर्श महापुरुष थे। महापुरुष के लक्षण उनमें निरावरण थे। उनके आदर्श में अनुकरण के लिए आकर्षण था। समाज उनके सौजन्य से कृतार्थ था। साहित्य, कला और संस्कृति के लिए उनकी उदारता वरदायिनी थी। पक्षी-विपक्षी समान भाव से उनकी छत्रछाया में आश्रय पाते थे।

वे अजातशत्रु होने से सर्वदा सर्वजन सुलभ थे। समाज का कोई व्यक्ति उन्हें सादर आमंत्रित करके कभी निराश न हुआ। साहित्यिक सभा हो, सांस्कृतिक प्रदर्शन हो, पारिवारिक प्रीतिभोज हो, सामाजिक महोत्सव हो, जब कभी, जहाँ-कहीं, जो कोई प्रेम से याद करता, अवश्य पहुँच जाते। कविगोष्ठी में जैसा मनोयोग, गोरक्षिणी और सेवा-समिति में भी वैसी ही दिलचस्पी। साथ मिल बैठने पर किसीको ऐसा अनुभव ही नहीं होने पाता था कि हम किसी महान प्रशासनाधिकारी के पास बैठे हैं। भोलानाथ का दरबार था, कहीं कोई प्रतिबन्ध नहीं।

वे लगातार पचास वर्षों तक लोकसेवा में तत्पर रहे और उस लम्बी अवधि में उन्होंने कितने लोगों को उपकृत किया, इसका अन्दाज करना कठिन है। सहिष्णु ऐसे थे कि अस्वस्थ और कार्यव्यस्त रहने पर भी घरेलू बातों में सलाह लेने के लिए आये हुए को हताश नहीं होने देते थे। आग्रही और हुज्जती पर भी झुंझलाते न थे। क्रोध पर गजब काबू किया था

वे ५ जुलाई, शुक्रवार की आधी रात में इस लोक से विदा हुए और ६ जुलाई, शनिवार को सैनिक सम्मान के साथ उनकी अन्त्येष्टिक्रिया हुई। दिन भर चारों ओर यही चर्चा रही कि 'बाबू साहब' के साथ ही बिहार की एक विशिष्ट विभूति विलीन हो गई, राजनीतिक क्षेत्र से सज्जनता की परम्परा लुप्त हो गई, निकटतम जनसम्पर्कवाला सहानुभूतिशील नेता चला गया। हर तरफ लोग उनकी गुणगाथा बखानते देखे-सुने गये। उनकी लोकप्रियता निस्सीम थी। बालकों, युवकों, कवियों, कलाकारों, समाजसेवियों और धर्मप्रचारकों को भी उनसे सदैव प्रोत्साहन प्राप्त होता रहता था। ऐसे सर्वप्रिय नेता के वियोग से बिहार विह्वल है तो भगवान ही उसे सान्त्वना दे सकते हैं।

—साप्ताहिक 'योगी' (पटना), वर्ष २४, अंक २६; १२ जुलाई १९५७ ई०

जस्टिस सर ज्वालाप्रसाद

बिहार-प्रान्त के 'आरा' नगर में उस दिन लोगों के आनन्द और आश्चर्य का कोई ठिकाना न था जिस दिन आरा के सरकारी वकील श्रीज्वालाप्रसाद नंगे पैर पैदल ही सब वकीलों, मुख्तारों, अफसरों और रईसों के घर-घर घूमकर सलाम करते फिरते थे। उसी दिन उनको पटना-हाइकोर्ट की जजी मिली थी।

ऐसी उनकी नम्रता थी। हाइकोर्ट की जजी का संवाद मिलते ही वे अपनी कोठी से नंगे पाँव निकल पड़े और नगर-भर के बड़े-बूढ़ों के चरणस्पर्श किये, टोपी उतार-उतार कर सबके सामने सिर झुकाया, नीच-ऊँच का भेदभाव भूलकर सबसे आशीर्वाद माँगा कि इतना बड़ा ओहदा सँभालने की शक्ति प्राप्त हो। वे कहते थे कि पंचपरमेश्वर की कृपा से ही मुझ तुच्छ व्यक्ति को इतना ऊँचा पद मिला है।

ऐसा आदर्श निरभिमान देखकर उस दिन सबकी आँखें छल-छला उठीं। सबके हृदय में उन्होंने अपनी नम्रता से इस भाव का सिक्का जमा दिया कि ईश्वर उसी को ऊँचा पद देता है जो अपने हृदय से अहंकार को निकाल देता है।

श्रीज्वालाप्रसाद में यह गुण कैसे आया? उनके हृदय में बचपन से ही भारतीय संस्कृति का बीज था। वे संस्कृत-भाषा के बड़े प्रेमी थे। हिन्दूधर्मग्रन्थों पर उनकी दृढ़ आस्था थी। डुमराँव-राज के मुकदमे में इङ्गलैण्ड के नामी बारिस्टर मिस्टर गार्थ को उन्होंने हिन्दूधर्मशास्त्रों से दत्तक-विधान[1] ढूँढ़-ढूँढ़कर दिखलाये थे। गार्थ साहब उनकी योग्यता से

१. डुमराँव (शाहाबाद) की महारानी बेनीकुँअरि ने जगदीशपुर (शाहाबाद) के बाबू भागीरथीप्रसाद सिंह के पोते और बाबू गयाप्रसाद सिंह के सुपुत्र श्रीनिवासप्रसाद सिंह को गोद लिया था। इसके लिए डुमराँव-राज्यवंश के बाबू केशवप्रसाद सिंह ने मुकदमा दायर करके डुमराँव की राजगद्दी पर अपना दावा पेश किया था। उन्होंने महारानी के गोद लेने के अधिकार का विरोध करके मुकदमे में सफलता पाई थी। उसी मुकदमें में गार्थ साहब और बिहार के नामी बारिस्टर सर अली इमाम तथा सर ज्वालाप्रसाद उनके पक्ष में थे। —ले०

बड़े सन्तुष्ट और प्रभावान्वित हुए थे। हिन्दूधर्मशास्त्रों में उनकी अच्छी गति थी। इसीलिए उनके न्याय की प्रशंसा इङ्गलैण्ड के प्रीवी कौंसिल तक में हुई थी। उनके कितने ही फैसले कानूनी सबूत बन गये हैं।

जिस समय[1] पटना-हाईकोर्ट की स्थापना होने पर उन्हें जज का पद मिला, कहते हैं कि उनसे पहले कोई बिहारी कभी हाईकोर्ट का जज नहीं हुआ था। उस समय बहुत लोगों को सन्देह था कि वे उस पद का दायित्व नहीं निबाह सकेंगे। कहते तो हैं कि ऐसा सन्देह स्वयं उनके हृदय में भी था। पर वे स्पष्ट कहते थे कि जिस परमात्मा ने इतने ऊँचे पद पर आरूढ़ किया है वही उसका निर्वाह भी करेगा। उनके मन में ईश्वर का पूरा भरोसा था। वे बचपन ही से अपने माता-पिता के चरण छूकर नित्य उन्हें प्रणाम किया करते थे। प्रतिष्ठित वकील हो जाने पर भी अपने वृद्ध पिता की सेवा करने में संकोच नहीं करते थे। सरकारी वकील होने पर भी धार्मिक उत्सवों में जनता के साथ सम्मिलित होते थे। उनकी सरलता की छाप सबके दिल पर थी। मैंने उन्हें अनेक सार्वजनिक सभाओं में देखा था।

उनके पिता बाबू जगदम्ब सहाय डिप्टी कलक्टर थे। वे अपने सुशील पुत्र को अपनी वृद्धावस्था में कीर्ति और प्रतिष्ठा से सम्पन्न देखकर अपने परिवार के अन्य बालकों से कहा करते थे कि संस्कृत-भाषा पढ़ने और माता-पिता की भक्ति में चित्त देने ही से इनकी उन्नति हुई है, इसलिए तुम लोग भी देववाणी पढ़ो और बड़ों का आदर करना सीखो। उनके घर के सब लड़के स्कूल में संस्कृत ही पढ़ा करते थे। बहुत से लड़के सर ज्वालाप्रसाद के आश्रय में रहकर विद्योपार्जन करते थे।

उनका जन्म शाहाबाद-जिले के 'भँड़सरा' गाँव में हुआ था। इस गाँव में कायस्थों की संख्या अधिक है। जज साहब की कृपा से इस गाँव के बहुत-से लड़के पढ़ गये और बहुतों को नौकरी भी मिल गई। अपने तन से उन्होंने अपने गाँव के बहुत लोगों का उपकार किया। अपनी शक्ति भर परोपकार करने से उन्होंने कभी मुँह न मोड़ा। इसके लिए उनकी हानि भी होती थी; पर वे जीवन-भर औढरदानी ही बने रहे।

गत वर्ष (सन् १९३३ ई० में) उनके मरने पर उनका गाँव ही नहीं उनका सारा जिला अनाथ हो गया। जात-पाँत का भेद भूलकर वे मुक्तहस्त हो सबकी भलाई किया करते थे।

उनकी प्रतिभा बचपन ही से बड़ी अच्छी थी। तेरह वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने इन्ट्रेन्स-पास किया और अठारह वर्ष की उमर में ही ग्रैजुएट हुए। उनकी विलक्षण मेधाशक्ति ने उन्हें इक्कीस वर्ष की अवस्था में ही वकील बना दिया। वकील भी

१. सन् १९१२ ई० में सम्राट पंचम जार्ज का राज्याभिषेक दिल्ली में हुआ था। वे बिहार में भी यात्रा करने आये थे। उसी साल बंगाल से बिहार को अलग करने की घोषणा हुई थी। उस घोषणा के बाद ही पटना-हाईकोर्ट का जन्म हुआ था। —ले०

साधारण न थे, अदालत में प्रवेश करते ही चमक उठे। थोड़े ही दिनों में सरकारी वकील हो गये।

जिस प्रकार कालेज में पढ़ते समय पदक-पुरस्कार आदि पाते रहे उसी प्रकार वकालत करते समय भी यश और सम्मान के भागी बने रहे। शिक्षा और कानून के क्षेत्र में उनके कई काम बड़े महत्त्वपूर्ण हैं, जो सदा उनको अमर रखेंगे। वास्तव में वे बिहार के रत्न थे।

—साप्ताहिक 'राम' (आरा), १९३४ ई०।

सर राजीवरंजन

बिहार-प्रान्त के शाहाबाद जिले में सूर्यपुरा एक पुरानी रियासत है। उसके वर्तमान स्वामी राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह, एम० ए० की साहित्यसेवा से सारा हिन्दी-संसार परिचित है। राजा साहब के स्वर्गीय पिता राजा राजेश्वरीप्रसाद सिंह भी हिन्दी के बड़े नामी कवि थे—उनका उपनाम 'प्यारे कवि' था—उनकी रचनाओं का संग्रह, सचित्र ग्रंथावली के रूप में, प्रकाशित हुआ है—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और महाकवि रवीन्द्रनाथ से उनकी बड़ी मैत्री थी; उन्हीं के छोटे राजकुमार थे—सर राजीवरंजन-प्रसाद सिंह, जिनका देहान्त गत वर्ष ८ जुलाई (सन् १९४८ ई०) को पटना में हुआ। उनकी मृत्यु से बिहार का एक नररत्न खो गया।

उनका जन्म सन् १८९३ ई० में हुआ था। १९०४ में उनका नाम आरा-जिला-स्कूल में लिखाया गया। अपने क्लास में वे बराबर प्रथम होते रहे। उनके प्यार का घरेलू नाम 'मुनमुनजी' था। सन् १९०७ ई० में जब राजा साहब इन्ट्रेंस पास कर सेण्ट-जेवियर्स-कालेज (कलकत्ता) में पढ़ने गये, तब वे भी वहीं के सेण्ट-जेवियर्स-केम्ब्रिज स्कूल में पढ़ने लगे। पहले तो स्कूल का अँगरेज प्रिन्सिपल उनकी हिन्दुस्तानी पोशाक देखकर भड़का और नाम लिखने से हिचका; क्योंकि उस स्कूल में अधिकतर अँगरेज लड़के ही पढ़ते थे। जो हिन्दुस्तानी लड़के थे भी, वे सब-के-सब धनी घराने के ही थे और अँगरेजी लिबास में आते थे। कुमार साहब अपना देशी लिबास बदलने को राजी या तैयार न हुए। उन्होंने बड़े जोरदार शब्दों में स्कूल की इस नीति का घोर प्रतिवाद किया। उनकी निहायत अच्छी अँगरेजी सुनकर प्रिन्सिपल बहुत प्रभावित हुआ। ऊँचे दर्जे से किताब मँगाकर उनकी योग्यता जाँचने लगा। पहले उसने समझा था कि मुफस्सिल का लड़का अँगरेजी में यहाँ नहीं चल सकेगा; मगर उनकी जबान की तेजी और सफाई देखकर यह कहते हुए खुशी से उसने उनका नाम लिख लिया कि तुम कुर्त्ता-धोती में भी आते तो तुम्हारा नाम जरूर लिखा जाता और अब तुम्हारे लिए पोशाक की कैद नहीं रहेगी।

उन्हीं दिनों बंगाल में बंग-भंगवाले स्वदेशी आन्दोलन का बड़ा जोर था। उसमें उनकी बड़ी दिलचस्पी हो गई। वे नियमित रूप से बँगला का क्रान्तिकारी पत्र 'युगान्तर' पढ़ा करते थे। यहाँ तक कि उसे अपने साथ स्कूल भी ले जाते थे। एक दिन इसी बात पर प्रिन्सिपल से उलझ पड़े। इस खटपट के कारण वे नाम कटाकर हेयर-स्कूल में चले गये। वहाँ पढ़ते समय भी श्रीअरविन्द घोष के व्याख्यान सुनने जाया करते थे। एक दिन संयोगवश आरा (शाहाबाद) के कलक्टर ने, जो उनका गार्जियन था, उन्हें देख लिया। वह उनके प्राइवेट मास्टर बाबू नन्दकुमार लाल पर बहुत बिगड़ा और तुरंत उन्हें कलकत्ता से आगरा के एक स्कूल में भेज दिया। वहाँ भी हेडमास्टर अंगरेज ही था, इसलिए अंगरेज कलक्टर की लिखापढ़ी से वहाँ पहले से ही नाम लिखा तैयार था। वहाँ का अंगरेज हेडमास्टर भी उनकी किशोरावस्था में ही अंगरेजी की असाधारण योग्यता और अंगरेजी की उच्चारण-प्रणाली तथा भाषण-शैली देखकर उनसे बहुत संतुष्ट रहता था।

राजा साहब १९०९ ई० में एफ० ए० पास कर चुके थे। वे भी आगरा-कालेज में चले गये। कुमार साहब वहाँ भी, कोर्स के बदलते रहने पर भी, फर्स्ट ही होते रहे। वहीं से इन्ट्रेन्स-पास करके वे इलाहाबाद के 'म्योर-सेण्ट्रल-कालेज' में आये। कालेज में पहले-पहल संस्कृत पढ़ना शुरू किया। फिर भी आशातीत सफलता प्राप्त की। फारसी पढ़ानेवाले मौलवी और संस्कृत के पण्डितजी कलकत्ता से आगरा तक बराबर साथ ही रहे। बचपन में घर पर उन्होंने उर्दू ही पढ़ी थी और स्कूल में भी; मगर कालेज की शिक्षा के संबंध से वे संस्कृत के ऐसे अनुरागी हो गये कि वाल्मीकीय रामायण का पाठ नित्य किया करते थे और अन्तिम साँस तक उसका पाठ सुनते रहे। उसके अनेक प्रसंगों की चर्चा वे प्राय: किया करते थे और स्मृतिशक्ति इतनी प्रखर थी कि अनेक स्थलों के सुन्दर श्लोक सहसा सुना देते थे।

बी० ए० उन्होंने पटना-कालेज से पास किया। अंगरेजी में वे ऑनर्स के छात्र थे। अचानक बीमार पड़ जाने से एक पेपर में इम्तहान ही न दे सके, फिर भी अच्छे नम्बर से पास हो गये। तब इलाहाबाद युनिवर्सिटी से फर्स्ट क्लास फर्स्ट एम० ए० हुए, जिससे उन्हें 'क्वीन-एम्प्रेस-जुबिली-मेडल' मिला, जो उस समय तक केवल श्रीतेजबहादुर सप्रू और श्रीकैलाशनाथ काटजू और श्री अमरनाथ झा को ही मिला था। यह देख पटना के कमिश्नर ने वहाँ के प्रिंसिपल से उन्हें आइ० सी० एस० की परीक्षा के लिए विलायत भेजने के बारे में राय पूछी। उसने लिखा कि कुमार राजीवरंजन बड़ा स्वाधीन चेता युवक है—वह सिविलियनों में नहीं खपेगा। इस पर कमिश्नर ने राजा साहब को बुलाकर स्पष्ट कह दिया—'आपके भाई को हम विलायत नहीं भेजेंगे। वह आइ० सी० एस० की परीक्षा में तो अवश्य सफल होगा, मगर वह ऐसे स्वतंत्र विचार का है कि अफसरों का दिमाग बिगाड़ देगा।' इस प्रकार वे विलायत न जा सके—यद्यपि बी० ए० में पढ़ते समय से ही विलायत जाने को उत्सुक थे, पर आरा-जिलाधीश ने उन्हें स्वाभिमानी समझ विदेश जाने ही न दिया। उस समय रियासत उनकी कोरट थी और अंगरेज अफसरों का बोलबाला था।

बिहार में पहले-पहल इन्हीं को सन् १९१७ ई० में फौजी शिक्षा के लिए 'किंग्स-कमीशन' मिला, पर वे फौज में जाने को राजी न हुए—यद्यपि वे बड़े निपुण शिकारी, अचूक निशानेबाज, साहसी तैराक और कसरती पहलवान और दक्ष घुड़सवार थे। तैराक ऐसे निडर थे कि बरसात की उमड़ी गंगा को भी पार कर जाते थे। मीलों घुड़सवारी करके भी थकते न थे। जैसा कसरती बदन था, वैसा ही खाने-पीने का शौक भी। पहलवानी के जोश में जितना ही खाते उतना ही पचाते भी थे। नाजुक-मिजाज अमीरों की तरह कभी उन्होंने दवा नहीं खाई। न कभी पेट की शिकायत, न कभी सिर दर्द की। लेकिन, ढलती उम्र में जब दिमागी कामों का जोर पड़ा, तब शरीर ढीला पड़ने लगा। जीवन के अन्तिम तीन-चार बरसों में जब बीमार रहे तब क्षण-क्षण अपनी जिन्दगी से ऊबते ही चले गये। राजा साहब ने उनके रुग्ण शरीर को अशर्फियों से तौला; मगर पानी की तरह रुपया भी बहा और अपने सोते में उनका जीवन भी बहा ले गया।

वे जैसे भारतीय सभ्यता और संस्कृति तथा भारतीय वेश-भूषा और खान-पान के अनुरागी थे, वैसे ही हिन्दू-मुस्लिम एकता के पक्के हिमायती भी। सन् १९१७ ई० में शाहाबाद के 'पीरो' नामक स्थान में भीषण दंगा हुआ था। उन्होंने सूर्यपुरा और आसपास के गाँवों के मुसलमानों को अपने पुराने गढ़ के महल में आश्रय दिया। हजारों औरत, मर्द, बच्चे और बूढ़े मुसलमान बहुत दिनों से अन्न-वस्त्रादि की सहायता पाकर निर्भय, निश्चिन्त महल में सुरक्षित पड़े रहे। यहाँ तक कि उन्होंने दोनों सम्प्रदायों में मेल-मिलाप भी करा दिया, जिससे सूर्यपुरा के आसपास कहीं दंगा-फसाद न हो सका। इसलिए शाहाबाद के सभी जमीन्दारों पर सरकार ने टैक्स (दंगा-कर) लगाया, मगर सूर्यपुरा-रियासत उससे बिल्कुल बरी रही।

सन् १९२१ ई० में वे प्रान्तीय असेम्बली में आये। सन् १९२३ और १९२६ ई० में भी, तीनों बार, निर्विरोध चुने गये। वहाँ सदा जनता के पक्ष में रहे। सरकार के विरोधी दल में शामिल रहने से एक बार जन-हित के एक प्रस्ताव पर विरोध-स्वरूप 'वाक-आउट' भी किया था। कौंसिल-भवन से बाहर निकल आये थे। इसी कारण, उनका परम स्वतंत्र विचार देख कर, सूर्यपुरा-राज्य का 'सर्टिफिकेट-पावर' (असामियों से कानूनन लगान वसूल करने का हक) सरकार ने छीन लिया। सन् १९२६ ई० के चुनाव में तो जगदीशपुर (शाहाबाद) के सुप्रतिष्ठित जमीन्दार बाबू हीराजी से घोर संघर्ष हुआ था। सरकार की ओर से हीराजी को अवैधानिक सहायता मिल रही थी। फिर भी कुमार साहब को ही जनता ने चुना। उस संघर्ष के समय उनकी लोकप्रियता देख स्वामी भवानी दयाल संन्यासी बहुत प्रभावित हुए थे। स्वामीजी ने अपनी पुस्तक 'प्रवासी की आत्मकथा' में इस पर काफी लिखा है।

प्रान्तीय कौंसिल से वे केन्द्रीय कौंसिल (पार्लमेण्ट) में भी बहुमत से हो गये। इम्पीरियल कौंसिल (दिल्ली) के वे १९३० तक मेम्बर रहे। रियासत पर सरकारी शनि-दृष्टि देखकर ही वे वहाँ भेजे गये थे। वहाँ भी वे माननीय विट्ठलभाई पटेल और

पंडित मोतीलाल नेहरू को अपने मधुर व्यक्तित्व से प्रभावित करने में समर्थ हुए। इन दोनों नेताओं से उनकी बड़ी घनिष्ठता हो गई थी।

इम्पीरियल कौंसिल की अवधि पूरी होने पर फिर वे कभी कौंसिल में नहीं गये। हाँ, सन् १९३६ ई० के चुनाव में, सभी दलों ने सर्वसम्मति से, उन्हें बिहार कौंसिल का सभापति चुना। प्रान्तीय कौंसिल के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने बड़ी योग्यता और शान से काम किया। अध्यक्ष के पद की मर्यादा और उसके उत्तरदायित्व का पालन इतनी तत्परता एवं कुशलता से किया कि सभी मत के लोगों ने और सरकार ने भी उनकी प्रशंसा की। सन् १९४२ में उन्हें 'सर' की उपाधि मिली। अस्वस्थ रहने पर भी कौंसिल का काम वे बराबर करते रहे। चाहे जिस क्षेत्र में वे गये, अपनी प्रतिभा का चमत्कार सर्वत्र दिखाया। कौंसिल के मेम्बर और प्रेसिडेण्ट रहने पर उनको जो कुछ आय हुई, भत्ते और वेतन के सब रुपये, वे अलग ही रखते थे। अपना सारा खर्च अपनी रियासत से ही लेते थे और भत्ता वेतनादि के रुपये परोपकार के कामों में ही लगाते थे। सन् १९३४ के भूकम्प में उन्होंने पचास हजार रुपया लोकहितार्थ दान दिया था। अनेक गरीब विद्यार्थियों और विधवाओं को वे नियमित रूप से सहायता दिया करते थे। जब कभी सूर्यपुरा जाते, अपने पुराने गढ़ के महल में, शाम को गाँव के बच्चे को मिठाई-नमकीन खिलाया करते। बच्चों को खिलाने का उन्हें व्यसन-सा था। यही रोज शाम का उनका मनोविनोद था।

गरीबों पर उनका बहुत खयाल रहा करता था। भूकम्प-कोप में उन्होंने पचास हजार रुपये दान दिये थे। दान में शर्त लगा दी थी कि शहर या देहात के सिर्फ गरीबों को ही सहायता दी जाय—और ऐसे गरीबों को जो किसी से कर्ज लेने में असमर्थ हैं—उसमें जात-पाँत या मजहब की कोई कैद न रहे—गरीब किसान को ही, चाहे वह जिस सम्प्रदाय का हो।

राजा साहब और कुमार साहब का भ्रातृ-प्रेम भी आदर्श था। धनी घरानों में ऐसा अविरल भ्रातृ-स्नेह प्रायः कम देखा जाता है। कुमार साहब की जैसी अनुपम भायप-भक्ति थी, वैसा ही राजा साहब का अतुलनीय बंधु-स्नेह भी था। दोनों भाइयों की प्रीति-रीति बड़ी अनूठी थी।

कुमार साहब की सबसे बड़ी विशेषता थी अनन्य गोभक्ति। अच्छी-अच्छी गायें उन्होंने बड़े अनुराग और बड़ी श्रद्धा से पाल रखी थीं। उनके लिए बहुत कीमती साँड़ और स्वच्छ गोशाला का भी प्रबन्ध किया था। गौओं को अपने ही हाथों गुड़-मलीदा आदि खिलाते थे। उन्हें देखते ही गायें चारों ओर से घेर कर सूँघने-चाटने लगती थीं। उनके कमरे में भी गायें स्वच्छन्द जा सकती थीं। उनके बँगले के उद्यान में या महल के आँगन में गाय-बछड़ों के लिए कोई रोकटोक नहीं थी। पक्की गोशाला के फर्श पर गोबर देखते ही वे अपने हाथों से भी साफ करने में न हिचकते थे। गायों को सानी-पानी देने में वे प्रायः स्वयं लग जाते थे। गो-सेवा उनके जीवन की आनन्ददायिनी सहज प्रवृत्ति थी। आज वे गोलोकवासी हैं।

उनके मरने पर बिहार के भीष्मपितामह डाक्टर सच्चिदानन्द सिंह (सिनहा साहब) ने लिखा था—"मुनमुनजी ने केवल विद्वत्ता के क्षेत्र में ही सफलता नहीं पाई, बल्कि जीवन के दूसरे क्षेत्रों में भी उन्हें काफी ख्याति मिली। यदि वे वकालत या दूसरे पेशे में होते तो मुझे दृढ़ विश्वास है कि वे उसमें बहुत आगे बढ़ गये होते। फिर भी बिहार-कौंसिल और केन्द्रीय असेम्बली के लोकप्रिय सदस्य के रूप में उन्होंने उल्लेखनीय सफलता पाई। बिहार-कौंसिल के सभापति के रूप में तो वे खूब सफल हुए। उनके अनुरोध करने पर मैं स्वयं उनके पास घंटों बैठकर बड़े ध्यान से कौंसिल की सारी कार्रवाई देखता रहा। मेरा दावा है कि बिहार में आज तक जितने लोगों ने प्रसिद्धि पाई, उन सबको मैं अच्छी तरह जानता हूँ और मैं यह कह सकता हूँ कि मुनमुनजी बिहार के वर्त्तमान पीढ़ी के अत्यन्त प्रतिभा-सम्पन्न महान् व्यक्तियों में थे।"

बिहार-सरकार के गजट में प्रकाशित शोक-प्रस्ताव में उनकी संक्षिप्त जीवनी प्रशंसापूर्ण शब्दों में दी गई थी, जिसके कुछ वाक्य विशेष ध्यान देने योग्य हैं—"प्रान्तीय कौंसिल और केन्द्रीय असेम्बली में वे बराबर जनता के पक्ष में रहे। बिहार-कौंसिल के सभापति-पद के लिए उनका जो विना विरोध चुनाव हुआ वह उनके बुद्धि-बल, चरित्र-बल और वैधानिक अनुभव का परिचायक है। वे ही बिहार-कौंसिल के सबसे पहले अध्यक्ष हुए थे। इसलिए उनके सामने कौंसिल के कार्य-संचालन की कोई विधि-परम्परा पहले से नहीं थी, उन्हें स्वयं ही अपना रास्ता आप बनाना पड़ा। अन्तिम समय तक उन्होंने उस पद की मर्यादा को भली-भाँति निबाहा और बड़ी सफलता तथा योग्यता के साथ निबाहा। अस्वस्थ रहने पर भी वे आखिरी दम तक कौंसिल के कामों में खासी दिलचस्पी लेते रहे। उनके मरने से बिहार का एक महान् अनुभवी और मेधावी देशभक्त तथा अमूल्य गुणों से भूषित पुरुष उठ गया।"[१]

—मासिक 'किशोर' (पटना); वर्ष १२, अङ्क १; अप्रैल, १९४६ ई०

श्री लतीफ हुसेन

बिहार-प्रांत में दो हिन्दी-साहित्यसेवी मुसलमान सज्जन प्रसिद्ध हैं। एक बेतिया (चंपारन) के श्रीयुत पीर मुहम्मद मूनिस, और दूसरे मुजफ्फरपुर के श्रीयुत लतीफ हुसेन। किन्तु मूनिसजी केवल राष्ट्रीय विचार के गद्य-लेखक हैं, और लतीफ हुसेन गद्य-लेखक के साथ कवि भी हैं—अलावा इसके, बिहार के अनेक सार्वजनिक कार्यों में दिलचस्पी लेनेवाले एक उत्साही और कर्मठ नवयुवक भी।[२]

---

१. यही लेख पटना के प्रसिद्ध हिन्दी-साप्ताहिक 'योगी' (४ फरवरी, १९४६ ई०) में भी छपा था। उसमें अन्तिम दो अनुच्छेद नहीं छपे थे।—ले०

२. इसके बाद का थोड़ा अंश निकाल दिया गया है; क्योंकि अब वह नितान्त निष्प्रयोजन था। —ले०

शुद्धि के बाद आपमें केवल 'चुटिया' और 'जनेऊ' की ही वृद्धि हुई है, और आपका हिन्दू-नाम पड़ा है—ठाकुर ललितकुमार सिंह 'नटवर'। उनकी वेषभूषा और आचार-विचार-पद्धति पहले भी आज ही जैसी थी और इसीलिए यद्यपि प्रांत में या हिन्दी-संसार में आप मुस्लिम नाम से परिचित थे तथापि अपने हमजोलियों और हम साहित्यिक मित्रों की पंगत में वे बहुत पहले से ही शुद्ध माने जा चुके थे। अस्तु।

आपके पिता बाबू महादेव सिंह उज्जैन-वंशीय क्षत्रिय थे। वे शाहाबाद (आरा) जिले के 'महुआर' ग्राम (थाना ब्रह्मपुर) के निवासी थे और मुजफ्फरपुर की म्युनिसिपलिटी में पहले तहसीलदार और फिर बाद को सब-ओवरसियर रहे। उन्होंने आपके जन्म (ज्येष्ठ कृष्ण १५, गुरुवार, वि० सं० १९५५) के दो साल बाद अपनी दूसरी शादी—अपने ही क्षत्रिय-समाज में की थी, जिससे उत्पन्न हुए पुत्र बाबू जगन्नाथ सिंह अभी वर्त्तमान हैं। वे (जगन्नाथजी) इस बार आपकी शुद्धि और सहयोग में स्वतः सम्मिलित हुए थे।

बाबू महादेव सिंहजी की वह दूसरी विवाहिता पत्नी भी अभी जीवित हैं, और उनके सगे छोटे भाई बाबू मथुरा सिंहजी भी। इनलोगों की सामाजिक परिस्थिति आज तक बड़ी पवित्र, प्रतिष्ठित एवं संतोषजनक है। पीरपैंती (भागलपुर) में इनकी अच्छी गृहस्थी और खेती-बारी है।

बाबू जगन्नाथ सिंह की आरंभिक शिक्षा आपही के साथ मुजफ्फरपुर में हुई थी। उनमें तो अभी तक भ्रातृत्व का इतना माद्दा है कि वे बड़े आग्रह से आपको घर ले जाना चाहते हैं। किन्तु मुजफ्फरपुर से आपके जीवन की घनिष्ठता इतनी बढ़ी हुई है और वहाँ का आपका नागरिक जीवन इतना सम्मान्य तथा सार्वजनिक बन गया है कि अभी आप वहाँ से अन्यत्र जाना नहीं चाहते। वहाँ की आपकी सखा-शिष्यमंडली ही आपका अपना परिवार हो रही है।

आपकी माता का नाम पानकुँअरि था। वे मुजफ्फरपुर-जिले के 'ससौला'-ग्राम (थाना शिवहर) की रहनेवाली थीं। उनके नाना पहले शाकद्वीपीय-ब्राह्मण थे, जो बाद को मुसलमान हो गये थे; किन्तु उनके पिता शेख मदारू मियाँ खानदानी मुसलमान थे। बाबू महादेव सिंहजी उनको बहुत छोटी उम्र में ही मुजफ्फरपुर लाये थे। उसी समय से अपने घर के अन्दर, विवाहिता पत्नी के समान, बड़ी प्रतिष्ठा और पवित्रता के साथ, उन्हें पर्दे में रखते थे। वह भी जब से बाबू साहब के आश्रय में आईं, हिन्दू-गृहिणी की तरह, नित्य बड़ी स्वच्छता से नहाती-धोती और खाती-पीती थीं—कभी किसी मुसलमान के घर खाया-पिया नहीं। सन् १९१९ के सितंबर में उनका देहान्त हुआ, और वे मुसलमानी रिवाज के अनुसार दफनाई गईं। आपके पिता तो सन् १९१५ ई० में ही स्वर्गवासी हो चुके थे और उनका दाह-कर्म हिन्दू-रीति के अनुसार ही उक्त बाबू जगन्नाथ सिंह ने किया था।

माता के सदाचार का प्रभाव आपपर खूब पड़ा। आपने भी कभी अभक्ष्य भोजन नहीं किया—१९१३ ई० से तो बिलकुल निरामिष भोजी हो गये—खान-पान और आचार-

विचार में बड़े संयत रहे—रहन-सहन और संग-सोहबत पर केवल हिन्दुत्व की ही छाप रही। बचपन से ही हिन्दू-धर्म पर श्रद्धा और विश्वास रहा। अपने पिता और लँगोटिया यारों के साथ बराबर हिन्दू-मंदिरों और उत्सवों में बेरोक-टोक आते-जाते रहे। फलतः लड़कपन से ही श्रीकृष्ण की भक्ति के रंग में रँग गये। वृन्दावन के कवि-सम्मेलन[1] में आपकी कृष्णभक्तिमयी कविता सुनकर पं० किशोरीलालजी गोस्वामी ने जब आपको 'रहीम' कहकर वाहवाही दी, तो पं० जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी ने छूटते ही कहा था कि मैं तो इन्हें पहले ही 'रसखान' की पदवी दे चुका हूँ। वास्तव में आप आधुनिक 'रसखान' हैं भी।

छुटपन में आपकी शिक्षा-दीक्षा साधारण-सी हुई थी। कुछ दिनों तक मिडिल में पढ़ने के बाद मामूली तौर से थोड़ी-बहुत अँगरेजी, उर्दू और संस्कृत की प्रारंभिक शिक्षा पाई। यों तो अब बँगला और गुजराती भी टटोल लेते हैं। आरंभिक शिक्षा के समय ही से आप बड़े खेलवाड़ी, नटखट, विनोदी और साहसी रहे। अभी तक इस २९ वर्ष की अवस्था में भी, आपकी जवानी ने आपके बचपन को खराब नहीं किया है। लड़कों के साथ—चाहे वे जहाँ-कहीं के हों, या जिस किसी के हों—चुटकियों में मिलनसारी बढ़ा लेना और उनके रंग में रँगकर अपने बाल-स्वभाव का जौहर दिखा देना आपके बायें हाथ का खेल है। यह इतनी लड़कपन की मस्ती और चुलबुलाहट होते हुए भी आपकी दशा ठीक महावीर हनुमान्-जैसी है, जो दूसरों द्वारा अपनी शक्ति की याद दिलाये बिना गोबर-गणेश बने रहते थे। आप भी वैसे ही बड़े आलसी स्वभाव के, पर कार्यकाल में अत्यन्त स्फूर्त्तिशाली हैं। आपके स्वभाव में अजगर-जैसा आलस्य और खंजन-जैसी स्फूर्त्ति देखकर इस घोर वैपरीत्य पर वस्तुतः आश्चर्य होता है।

हिन्दू-समाज से घनिष्ठ संपर्क होने के कारण आपके हृदय में हिन्दी-प्रेम का जो बीज-वपन हो चुका था, वह सन् १९१३ ई० से अंकुरित होने लगा। आप १९१३ से १९१८ ई० तक मुजफ्फरपुर की प्रसिद्ध हिन्दी-भाषा-प्रचारिणी सभा के पुस्तकालयाध्यक्ष रहे और इसी काल में हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों के निरंतर पाठ से लेख आदि लिखने की ओर आपकी प्रवृत्ति हुई। उसी समय से हिन्दी-सभाओं और अन्य सार्वजनिक उत्सवों में सम्मिलित होकर व्याख्यान आदि सुनने और उनकी रिपोर्ट तत्कालीन पत्रों में भेजने लगे। इससे आपकी रचना-शक्ति की विशेष स्फूर्त्ति हुई। यों तो आप बहुत छोटी अवस्था—११-१२ वर्ष की उम्र—से ही टूटी-फूटी रचनाएँ करने लगे थे। पहले दोहा, चौपाई, गीतों और नौटंकी के तर्ज पर ईशभक्ति, देशभक्ति तथा अधिकांश व्यंग्य-विनोद से पूर्ण स्वाभाविक रचनाएँ करते चले गये। आपकी उस समय की रचनाएँ प्रायः आपके बाल-सहचरों द्वारा सभा-सोसाइटियों में गाई-सुनाई भी जाती थीं। उनमें से अधिकांश रचनाएँ आपही के द्वारा १६१३ ई० में 'ललितरागसंग्रह' नाम की पुस्तिका में प्रकाशित हुई थीं। फिर तो सन् १९१५ ई०—प्रायः १५-१६ वर्ष की अवस्था—से आपकी रचनाएँ सामयिक

१. पं० अमृतलाल चक्रवर्त्ती के सभापतित्व में हुए अखिल भारतीय-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर।

पत्र-पत्रिकाओं में धड़ल्ले से छपने लगीं। पहले 'प्रताप', 'पाटलिपुत्र', 'प्रभा', 'संसार' आदि में छपीं, और अब 'माधुरी', 'मतवाला', 'मनोरमा', 'हिन्दूपंच' तथा 'विश्वमित्र' आदि में बराबर छपा करती हैं।

किन्तु पद्य-रचना में विशेष दत्तचित्त रहने पर भी आप गद्य-रचना से बिलकुल उदासीन न रहे। आपके गद्य-लेखन का श्रीगणेश भी—जैसा मैं ऊपर कह चुका हूँ—सन १९१३ ई० से ही हो चुका था। दैनिक 'भारतमित्र' और 'कानपुर-गजट' के आप नियमित संवाददाता थे—सभा-समितियों के विवरण इनमें सोत्साह भेजते रहे। फिर बाद को 'पाटलिपुत्र', 'श्रीशारदा', 'सेनापति', 'अभ्युदय', 'आज', 'विश्वमित्र', 'प्रताप' आदि में भी आपके कितने ही गद्यलेख निकले।

यद्यपि आप सन् १९१६-१७ ई० में मुजफ्फरपुर के रत्नाकर प्रेस (जहाँ से 'सत्ययुग'-नामक सचित्र मासिक पत्र और स्वामी सत्यदेव जी की 'सत्य-ग्रंथमाला' निकलती थी) के असिस्टेंट मैनेजर रहे, तथापि सन् १९१९ ई० में आपकी उल्लेखनीय साहित्य-सेवा का सूत्रपात हुआ। उसी साल आप वर्मन कम्पनी (मुजफ्फरपुर) की 'रमणी-रत्नमाला' के सहायक सम्पादक और प्रबन्धक नियुक्त हुए और तदुपरान्त १९२३-२४ ई० में 'किसान-समाचार' (मुजफ्फरपुर) के संयुक्त संपादक एवं बिहारबन्धु-प्रेस के मैनेजर तथा १९२५-२६ ई० में साप्ताहिक 'आशा' (मुजफ्फरपुर) के प्रधान संपादक रहकर अपनी साहित्यिक लगन की आंशिक पूर्त्ति की। आपकी रचित पुस्तकों में (बाल-रचना—'ललित-संग्रह' को छोड़कर)'गुलाल' (होली के सुधार-संबंधी गीतों का संग्रह) और 'चतुर चर' (बालचर-संबंधी नाटक) केवल दो ही प्रकाशित हैं। अभी कई अप्रकाशित हैं, जिनमें 'प्रजाशक्ति' (नाटक) 'तिरछी चितवन' (उर्दू के चुनिन्दा शेरों का सटीक संग्रह) और 'बाँसुरी', (आपकी चुनी हुई कविताओं का नवीन संग्रह) मुख्य हैं। 'नटवर' की 'बाँसुरी' अब शीघ्र ही बजनेवाली है।

अपनी सार्वजनिक सेवाओं के कारण बिहार में आप बहुत लोकप्रिय हो गये हैं। नेताओं से लेकर जनता तक—सब आपको प्यार और आदर ही की दृष्टि से देखते हैं। बिहार-प्रांत की सबसे पहली सेवा-समिति (भारतीय नवयुवक-समिति) को आप ही ने १९१६ ई० में स्थापित किया था, जिसके आप १९२६ ई० तक प्रधान मंत्री रहे, और अब तक भी उसके प्रधान कार्यकर्त्ता तथा नाट्यकलाध्यक्ष हैं। यह समिति मुजफ्फरपुर की एक जीवित संस्था है। आप ही के उद्योग से मई १९२० ई० में, मुजफ्फरपुर में, सेवा-शिक्षण-क्लास खुला था, जिसमें ट्रेनिङ्ग देने के लिए प्रयाग की सेवा-समिति की ओर से पं० वेंकटेशनारायण तिवारी एम्० ए० आदि सज्जन आये थे और जिसमें शिक्षा पाने के लिए मुजफ्फरपुर के अतिरिक्त, प्रांत के अन्य स्थानों से भी विद्यार्थी आये थे। फिर उसी १९२० के सितम्बर में, उक्त समिति के वार्षिकोत्सव के अवसर पर, भूतपूर्व 'सेवा'-सम्पादक ठाकुर छेदालाल एम्० ए० बार-ऐट-लॉ (ऑक्सन) के सभापतित्व में, समस्त बिहार-प्रान्त की लगभग ५० सेवा-समितियों का सम्मेलन हुआ था। उसी सम्मेलन में सेवा-समितियों की एक निश्चित कार्य-प्रणाली स्थिर हुई और 'बिहार-प्रांतीय सेवा-समिति' का संघटन हुआ, जिसके आप अभी कुछ दिन पहले तक प्रचार-मंत्री थे।

सन् १९१९ ई० के मई में प्रयाग जाकर आपने स्काउटिङ्ग की शिक्षा प्राप्त की, और वहाँ से आकर बिहार में पहले-पहल उसी नवयुवक-समिति के अधीन स्काउटिङ्ग-शाखा खोलकर उसकी ट्रेनिङ्ग का प्रचार किया। फिर प्रयाग के बालचर-मंडल की ओर से आप बिहार-प्रान्तीय-प्रचारक नियुक्त हुए। इस समय आप मुजफ्फरपुर-बालचर-मंडल के स्काउट-कमिश्नर हैं। यह बालचर-मंडल—जो बालोपकारिणी समिति के नाम से प्रसिद्ध है—केवल मुजफ्फरपुर की ही इस समय की जीवित सेवा-संस्था नहीं है, बल्कि बिहार-प्रांत भर में एक ही सुदक्ष बालचर-मंडल है।

इसी तरह कांग्रेस के भी आप अनन्य भक्त और कार्यकर्त्ता हैं। १९१६ ई० से ही—दो-तीन अधिवेशनों को छोड़कर—आप बराबर कांग्रेस में जाते और अपने नगर तथा प्रांत में उसका कार्य करते हैं। सन् १९१६–१७ ई० के होमरूल-आंदोलन के समय अपने नगर में आपने अच्छा काम किया था। असहयोग-काल में आप कांग्रेस-सेवक-दल के जिलाकप्तान, गया-कांग्रेस के स्वयंसेवक-दल के सहकारी प्रधान नायक तथा उसके आफिस-इंचार्ज और 'स्वराज्यपुरी' के रक्षक थे। उसी युग में, जब कि सरकार द्वारा स्वयंसेवक-दल को गैरकानूनी मजमा करार दिया गया था, मुजफ्फरपुर में आपके अधीनस्थ लगभग पाँच सौ सेवक सत्याग्रह-पूर्वक जेल गये थे। और, इसी प्रकार, अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन में भी, आप सन् १९१५ ई० से ही—दो-तीन अधिवेशनों को छोड़कर—बराबर भाग ले रहे हैं। छः वर्षों से आप उसकी स्थायी समिति के सदस्य और उसकी नाट्य-उपसमिति के नियोजक हैं।

इतना ही नहीं, बिहार-प्रांतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के जन्मदाताओं और कार्यकर्ताओं में से एक आप भी हैं। आप ही के उद्योग से मुजफ्फरपुर में, कवि-समाज की तरह, 'हिन्दी-साहित्य-परिषद्' की स्थापना हुई है, जिसमें समय-समय पर नियमित रूप से कविता-लेख-पाठ, कवि-सम्मेलन और पदक-वितरण अदि हुआ करते हैं। इसी 'परिषद्' ने इस बार अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को बिहार में निमंत्रित किया है। इस परिषद् के मंत्री भी आप ही हैं। इसके अतिरिक्त आप मुजफ्फरपुर की टाउन-काँग्रेस-कमिटी के संयुक्त-मंत्री और हिन्दू-सभा के सहायक मंत्री भी हैं।

अंत में आपकी सबसे बड़ी विशेषता है आपका नाट्य कौशल। ऐसे तो सब रसों के पार्ट आप खूबी से कर लेते हैं; पर वीर रस और हास्य रस में आप बड़े ही पटु हैं। बिहार-प्रांत के तो आप अब प्रसिद्ध और सफल अभिनेता गिने जाते हैं। नाट्याभिरुचि आप में बाल्यावस्था ही से पनपने लगी थी। दस-ग्यारह वर्ष की अवस्था से ही रामलीलाओं और नौटंकी के स्वांगों की आप नकल किया करते थे। बाद को १९१३ ई० से जब आपने हम-जोलियों के सहयोग से एक नाटक-मंडली स्थापित की, तो रंगमंच पर अवतीर्ण होकर लगभग प्रति वर्ष अपने अभिनव अभिनय से जनता को मुग्ध करने लगे। सन् १९२२ के लाहौरवाले अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में 'अभिनय के योग्य उच्च नाट्य-ग्रंथ और अभिनय के नियमों के निर्माण' के लिए उपसमिति नियत करने का प्रस्ताव आप ही ने उपस्थित किया था, जो सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ था। बाद को उस उपसमिति के

नियोजक भी आप ही चुने गये। आपने अबतक अपने रस सिद्ध अभिनय-कौशल, भावुकतापूर्ण कविता-पाठ तथा तत्परतापूर्ण सेवा-कार्यों के लिए कई स्थानों से अनेक पदक एवं प्रशंसापत्र प्राप्त किये हैं। हाँ, आपकी एक विशेषता अभी और है—आप अभी तक अविवाहित हैं। किन्तु फिर भी इतने सरस-हृदय कि परखना मुश्किल।

अहा! एक मजेदार बात छूटी जा रही है। शुद्धि के बाद आपके मित्रों ने एक पैसे का दंड उन लोगों के लिए नियत किया था, जो 'ललित' के बदले—पुराने अभ्यास के वशीभूत होने से—अकस्मात् 'लतीफ' कह उठते थे। शुद्धि के चार दिनों बाद जब मैं मुजफ्फरपुर पहुँचा, तो मुझे भी नव पैसे दंड स्वरूप देने पड़े थे। विदा के समय, स्टेशन पर, जब गाड़ी खुली, तो मैंने जान-बूझकर आपको पुकार कर कहा—'भाई लतीफ! एक पैसा और लेते जाओ।'' इस पर बड़ी हँसी हुई। वह मेरा दसवाँ पैसा आपके पास एक आखिरी यादगार-सा रहेगा।[१]

—मासिक 'सुधा' (लखनऊ); वर्ष १, खंड २, संख्या १, माघ, ३०५ तुलसी-संवत्, फरवरी १९२८ ई०

श्री 'द्विज' जी[२] की विदाई

उस दिन अक्तूबर (१९४४ ई०) की दसवीं तारीख थी। मंगलवार का अपराह्ण। छपरा जंक्शन-स्टेशन पर सेकेंड क्लास का रिजर्व डब्बा पहले ही से खड़ा था। परमादरणीय भाई द्विजजी का परिवार सवार हो चुका था। लगभग तीन बजे एक डाकिनी गाड़ी आई और उस डब्बे को खींचकर ले भागी। मैं प्लैटफार्म पर विवश खड़ा था। खड़ा ही रह गया, ताकता ही रह गया, भाई द्विजजी की मंजुल मूर्त्ति आँखों से ओझल हो गई। मैं कवि नहीं हूँ कि "हिरदै से जब जाहुगे मरद बदौंगो तोहि' कहकर संतोष कर लूँ। न मैं कल्पनालोक का विधाता हूँ और न हृदय के भावों को शब्दों में अँटानेवाला कुशल शिल्पी। हृदय तो बार-बार अपने-आपमें टटोलता है और बिलखकर कहता है कि प्रेम के पिंजड़े का वह प्यारा पंछी किधर फुर से उड़ गया!

उधर प्लैटफार्म से गाड़ी सरकने लगी, इधर पैरों के नीचे की धरती खिसकती-सी जान पड़ी। मालूम हुआ, गाड़ी के साथ प्लैटफार्म भी चला। किन्तु प्लैटफार्म ऐसा सौभाग्यशाली न था। उसने अपनी थर्राहट को मेरे पैरों की राह सारे अंग में बिखेर दिया। लालसा थी; पर हाथ हिलाने की सुध ही न रही। मानों देखते-देखते हाथ

१. इस लेख में दो चित्र छपे थे-(१) ठाकुर ललितकुमार सिंह (शुद्धि से पहले), (२) ठाकुर ललितकुमार सिंह (शुद्धि के समय) इसका पूरा शीर्षक था—'श्रीलतीफ हुसेन की शुद्धि'।

२. प्रोफेसर जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' एम्० ए० (अब पूर्णिया के डिग्री-कालेज के प्रिंसिपल)।

साथ छोड़ गये। एकाएक हृदय भर आया। चेतना चम्पत हो गई। हाथ का छाता अनायास देककर चकराता हुआ शरीर सँभालने का प्रयास करने लगा। ऐसा कातर कभी न हुआ था। शायद ढलती उम्र की अशक्तता भावावेश के आकस्मिक आवेग से सहसा दहल गई। प्रेम की विह्वलता कहना तो इस युग में दम्भ ही होगा।

धीरे-धीरे फाटक की ओर दबे पाँव बढ़ा। बाहर निकलकर घर भी लौट आया। 'फिरेउ बनिक जिमि मूर गँवाई' सोचता ही रहा, बस सोचता ही रह गया। टोपी उतारने से पहले ही विना बटन खोले, कुरता उतारने लगा। जब ध्यान आया, अनिच्छा की हँसी आ गई और उसके साथ ही आया आँखों में उफान। मन कदरा गया, आरामकुर्सी पर लेटे-लेटे पिछली स्मृतियों को कुरेदने लगा। कैसे थे वे दिन! आह काहे को बहुरेंगे वे दिन! वैसे सुनहले सलोने सुहावने दिन क्या फिर नसीब होंगे? मानव-हृदय मिथ्या आश्वासन को भली भाँति परखता है, फिर भी धोखे में आ ही जाता है। विश्व स्रष्टा ने झूठी आशा के सौन्दर्य में कितना आकर्षण भर दिया है। मायानटनी को मायापति ने कैसी मोहकता दी है।

उस दिन भाई द्विजजी सदा के लिए छपरा छोड़ गये। जब तक उनका परिवार यहाँ था, वे आते-जाते रहे, छपरा ही औरंगाबाद था। इस बार आशा-तन्तु भग्न हो गया। मकान या सामान, कुछ भी उनका यहाँ न रहा। उनके स्नेह से सिक्त भूमि रह गई। उनके प्रेम से परिप्लावित कुछ हृदय रह गये। उनकी मुसकान से मुग्ध कुछ आँखें रह गईं। उनकी वाणी की गूँज से भरे कुछ कान रह गये। पर न रहा वह आँख-कान को तृप्त करनेवाला साकार साहित्य!!

सचमुच द्विजजी मूर्त्तिमान् साहित्य हैं। उनके व्यक्तित्व में जो असामान्य माधुर्य है, उनके रहन-सहन में जो कलापूर्ण सौन्दर्य है, उनके स्वभाव में जो स्वयंप्रभ स्वाभिमान है, उनकी वाणी में जो अतुल ओजस्विता है उनके आचरण में जो संयत अनुशासन-प्रियता है, वह बिहार की बड़ी अमूल्य सम्पत्ति है। हिन्दी-संसार में भी दृष्टि दौड़ाकर हम ऐसे आदर्श गुणों की समष्टि अत्यल्प ही एकत्र पाते हैं। उनका कुन्दन-सा दमकता हुआ चरित्र अभी उन्हें कितना ऊँचा उठा ले जायगा, सहसा कहा नहीं जा सकता। अनतिदूर भविष्य इसका द्रष्टा होगा।

जब तक वे राजेन्द्र-कॉलेज में यहाँ हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष थे, उनकी छत्रच्छाया में कभी मैंने किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नहीं किया। उनके विमल बन्धुत्व की सुखद गोद में मेरी छोटी-से-छोटी भावनाओं का भी सविधि लालन होता रहा। उनके अमन्द अनुशासन में सौहार्द की सुरभि थी, उनके स्पष्ट व्यवहार में सहृदयता की सोंधी मिठास। छात्रवृन्द उनकी शास्ति में वात्सल्य का बाहुल्य देख मंत्रमुग्ध रहता, सहाध्यापकगण उनके सख्य से सन्तुष्ट। नगर के सार्वजनिक महोत्सव उनकी वाग्विभूति से गौरवान्वित हो उठते, कालेज के विद्यार्थी उनके अध्यापन से आप्यायित। यहाँ उनका अभाव पग-पग पर खल रहा है, परन्तु परिवर्त्तनशील जगत की यही महत्ता है कि उसका सत्ता के सामने सबको सिर झुकाना पड़ता है।

आज वे औरंगाबाद (गया) में सच्चिदानन्द सिंह कॉलेज के प्रिन्सिपल हैं। वहाँ उनके गुणों का जादू जौहर दिखा रहा है। नियमितता और सुव्यवस्था द्वारा जीवन में कहाँ तक सौन्दर्य लाया जा सकता है, इस कला के वे मर्मज्ञ हैं। जीवन भी एक संस्था ही है। अतएव उनकी सफलता और कीर्त्ति के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करना जगन्नियंता की सत्ता में हस्तक्षेप करना होगा। "नहि कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते।"

—साप्ताहिक 'प्रभाकर' (मुँगेर); ता० २६ अक्तूबर, १६४४ ई०

एक साहित्यसेवी की प्रयोगशाला में

बिहार-प्रान्त के हिन्दी-लेखकों में 'छपरा'-नगर-निवासी श्रीकार्त्तिकेयचरण मुखोपाध्याय बहुत प्रसिद्ध हैं। उनकी साहित्य सेवा[१] से हिन्दी के पाठक भली-भाँति परिचित हैं। उनके पूर्वज सन् सत्तावन के गदर से भी पहले—बर्दवान जिले (बंगाल) के 'कालना' कस्बे से—बिहार के छपरा नगर में आ बसे थे। उनकी लिखी हुई और उनके द्वारा अनुवादित हिन्दी-पुस्तकों की संख्या लगभग दस-बारह दर्जन है।

मैं कार्त्तिक बाबू को, साहित्य-सेवी के रूप में, लगभग बीस बरसों से जानता हूँ—उन्हें केवल जानता ही नहीं, उनसे पूर्ण परिचित भी हूँ। किन्तु आज तक मुझे यह पता न था कि वे कृषि और कुटीर-शिल्प के सम्बन्ध में बहुत-से अनुसन्धान और अनुभूत प्रयोग भी सिद्ध कर चुके हैं।

एक दिन उनके घर गया तो देखा। मकान के पिछवाड़े एक छोटी सी फुलवारी है। उसमें उन्होंने कुछ पौधे दिखलाये, जिनका विवरण आगे लिखूँगा। कुछ पौधों की छाल से निकाले हुए रेशे भी दिखलाये, जिनकी बटी हुई रस्सी की मजबूती सराहनीय है। केले के रेशे से रस्सी बनाकर उन्होंने पलने में लगा दी है। लताकस्तूरी के रेशे से रस्सी बनाकर दरवाजे पर परदा लटका दिया है। उन्होंने अनेक पौधों के रेशों का उपयोग भी बतलाया। प्रयोग करके उन्होंने देखा है कि इन पौधों के सदुपयोग से किसान काफी लाभ उठा सकते हैं।

कागज और कूट (दफ्ती) बनाने के प्रयोग में भी उन्होंने सन्तोषवर्द्धक सफलता प्राप्त की है। केले के रेशे का बना सुन्दर कागज बड़ा उपयोगी है—स्याही नहीं फूटती

---

१. कार्त्तिक बाबू की आकृति बड़ी सुन्दर थी। उनका मौरूसी मकान सरयू नदी के तट पर—धारा से थोड़ी दूर पर—है। उनके घर में कालीजी का मन्दिर है। वे पान बहुत अधिक खाते थे। उनके पूर्वज उन्नीसवीं सदी में ही छपरा आ बसे थे। उसी सदी के अन्तिम चरण में छपरा से जब हिन्दी का 'साहित्यसरोज' नामक मासिक पत्र निकला था, तब उनके एक पूर्वज भी उसके व्यवस्थापक-सम्पादक थे। स्वयं कार्त्तिक बाबू ने भी कलकत्ता के प्रसिद्ध पुस्तक-प्रकाशक श्री रामलाल बर्मन के यहाँ बरसों रहकर एकान्त भाव से साहित्य-साधना की थी। उनकी लिखी हुई अनेक हिन्दी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। मासिक 'दारोगा दफ्तर' और साप्ताहिक 'हिन्दूपंच' तथा 'विजय' के कई साल सम्पादक रहे थे। —ले०

या फलती, चिकना और चिमड़ा भी है। रद्दी बोरे और खाट की पुरानी रस्सी से भी कागज बना डाला है। पुरानी रूई और पटुए से स्याही-सोख बनाया है। धान और कोदो का पुआल, जौ-गेहूँ का भूसा मकई का सूखा तना, —इन चीजों से कूट (दफ्ती) बनाकर कमाल किया है। यदि उपयुक्त साधन मिले, तो वे बहुत-से बकारों को रोटी देनेवाला रोजगार खड़ा कर सकते हैं।

उन्होंने प्रयोगों द्वारा जो अनुभव प्राप्त किया है, उससे किसान विशेष लाभ उठा सकते हैं। भिंडी की खेती हर साल होती है। उसे लोग 'रामतरोई' भी कहते हैं। उसका तना जब सूख जाता है, चूल्हे में झोंक दिया जाता है। यदि उसे पानी में सड़ाकर रेशा निकाला जाय तो रस्सी, पायपोश, नकली बाल, कागज, तिरपाल, नेवार, ब्रश आदि चीजें बनाई जा सकती हैं। उन्होंने अपने प्रयोग में ऐसा अनुभव किया है। यदि फूलने के बाद और फलने के पहले ही उसका रेशा निकाला जाय तो उस रेशे से बहुत ही कोमल और चिकना कपड़ा बन सकता है। अज्ञानवश किसान यह सारी सम्पति नष्ट कर देते हैं।

भिंडी के रेशे के साथ मैंने 'अलसी' (तीसी) का रेशा भी देखा। इससे रेशम के समान कपड़ा बन सकता है—उज्ज्वल, कोमल, चिकना, चमकीला। रेशे की चिकनाहट और सुन्दरता के विचार से भिंडी और अलसी के समान ही 'आक' (मन्दार,अकवन) भी श्रेष्ठ है। ये तीनों प्रथम कोटि में हैं। इनके रेशों को देखकर मैंने यही सोचा कि हमारे किसान भाई यदि इन रेशों का उपयोग सीख लेते, तो प्रति वर्ष प्रचुर मात्रा में नष्ट हो जानेवाला कितना कच्चा माल काम आ जाता !

लता-कस्तूरी, सदा-सुहागिन और मलंगा—इन तीन पौधों को भी उनकी फुलवारी में देखा। इन पौधों की खेती से खेतिहर खूब फायदा उठा सकते हैं। उन्होंने 'लता-कस्तूरी' और 'मलंगा' के बीज भी दिखलाये। लता-कस्तूरी के बीज में बड़ी मृदुल सुगंध है। इससे अत्यन्त सुगन्धित तेल तैयार हो सकता है। आयुर्वेद के मत से इसका गुण शीतल, कफनाशक और नेत्र-रोग-विनाशक है। इसके कच्चे फल के रस से गुड़ साफ किया जा सकता है। मलंगा का बीज (तुख्म-मलंगा) तो बहुत महँगा बिकता है। यह फोड़े पर पट्टी बाँधने के काम में आता है। इसको लोग शरबत में भी डालकर गर्मियों में पीते हैं। यह लसदार, शीतल, धातुपुष्टिकर और शक्तिवर्द्धक होता है। इन पौधों को उपजाकर किसान अपनी आर्थिक आय बढ़ा सकते हैं।

'लता-कस्तूरी' का पेड़ भिंडी के समान होता है। पत्ते और फल भी उसी के समान होते हैं। एक बार बोने के बाद इसका बीज ऐसा पेड़ पैदा करता है जो कई साल रह सकता है, भिंडी की तरह एक ही फसल तक नहीं। इसके रेशे की बटी रस्सी भी मैंने देखी। कार्तिक बाबू ने अपने प्रयोगों में अनुभव किया है कि इसके रेशों से कागज के सिवा और भी कई चीजें बन सकती हैं। जैसे—सुतली, कनवास, बोरा, मुरछल, ट्वाइन (तागा)। ट्वाइन भी मैंने देखा— बाजारू 'टून' से कहीं मजबूत और टिकाऊ।

'सदा-सुहागिन' का बँगला नाम उन्होंने 'सूर्यमणि' बतलाया। इसका पेड़ झाड़दार है—पाँच-छः हाथ लम्बा (ऊँचा)। पत्ता पान की तरह, जिसमें तीन कोने

होते हैं,किनारे-किनारे पाँत भी। पक जाने पर पत्ते में कुछ लाली की झलक आ जाती है। पत्ता प्रायः खुरखुरा होता है। फूल दो रंग के होते हैं—लाल और उजला। दोनों तरह के अलग-अलग पौधे मैंने देखे। श्वेत पुष्प के पौधे का रेशा उज्ज्वल है, लाल फूल के पौधे का रेशा भूरे रंग का। इन रेशों से कपड़े बनाने के सूत बटे जा सकते हैं। छोटे-छोटे लाल और उजले इसके फूल बड़े सुहावने लगे। प्रकृति की गोद में कितनी सम्पत्ति भरी पड़ी है! केवल उपयोग न जानने से हमारे देश के लोग बेकारी और गरीबी झेलते हैं?

'मलंगा' का पौधा देखते ही 'तुलसी' का भ्रम हुआ। पेड़ हरी तुलसी के समान, मंजरियाँ ठीक श्यामतुलसी के सदृश। 'दौना-मरुआ' के पत्ते की तरह गन्ध, और गाछ भी उसी के ऐसा। इसका पल्लव भी मंगल-सूचक बन्दनवार में आम्रपल्लव के साथ बाँधा जाता है। इसकी खेती साधारण भूमि में भी हो सकती है। न सींचने की जरूरत, न रखवाली की। गधा भी इसे चर नहीं सकता। इसके बीजों से घाव के लिए 'टिंक्चर आइडिन' की तरह दवा बनाई जा सकती है। ये बीज बाजार में शायद चार रुपये सेर बिकते हैं। किसान इसकी खेती से थोड़े परिश्रम में अधिक पैसे पा सकते हैं।

इसी तरह कई प्रकार के पौधों की छाल से रेशे निकालकर कार्त्तिक बाबू ने देखा है कि बहुत-सा कच्चा माल हमारे देश में व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है। उसपर कोई ध्यान नहीं देता। जिन पौधों को लोग बिलकुल निकम्मा समझते हैं, उनसे भी पैसे पैदा हो सकते हैं। पुआल, भूसा आदि से जो दफ्ती बनी है, वही यदि बड़े पैमाने पर तैयार कराई जाय, तो किसान काफी कमा सकते हैं।

किन्तु सब प्रयोगों और अनुसन्धानों को सफल करनेवाला द्रव्य ही है। द्रव्य के अभाव से कार्त्तिक बाबू के अनुसन्धान और प्रयोग जंगली फूल की तरह अपनी सुगन्ध निर्जन में बिखेर रहे हैं। वे स्वयं एक सिद्धहस्त लेखक हैं, अतएव अपने अनुसन्धानों और प्रयोगों पर पुस्तकें भी लिख सकते हैं—कई पुस्तकें लिख भी चुके हैं। गृह-शिल्प के परिपोषक और पुस्तक-प्रकाशक, दोनों, उनके सहयोग से, देशोपकार के साथ-साथ अर्थोपार्जन कर सकते हैं।

इस देश में ऐसे कितने प्रतिभाशाली कलाविद् पड़े हैं, कौन जानता है! जो समर्थ सज्जन अपना द्रव्य कुटीर-शिल्प के धन्धे में लगाना चाहते हों, उन्हें ऐसे गुणी विद्वान् का सदुपयोग करना चाहिए।

मैंने बिहार-चर्खा-संघ के प्रधान मंत्री और रामगढ़-काँगरेस-प्रदर्शनी के व्यवस्थापक श्रीलक्ष्मीनारायणजी के पास एक पत्र लिखकर निवेदन किया था कि कार्त्तिक बाबू को रामगढ़-काँगरेस की प्रदर्शनी में अपने प्रयोग दिखाने का सुअवसर दीजिए। उन्होंने कार्त्तिक बाबू को मार्ग-व्यय आदि देकर रामगढ़ बुलाया था। कार्त्तिक बाबू अपने साथ कई पौधे, तरह-तरह के पेड़-पौधों के रेशे, बीज और कागज तथा कूट के नमूने काँगरेस-प्रदर्शनी में ले गये थे। काँगरेस-प्रदर्शनी से लौटकर कार्त्तिक बाबू ने, मेरे बहुत आग्रह करने पर, अपना एक छोटा-सा वक्तव्य दिया, जिसको यहाँ नीचे प्रकाशित करके यह लेख इस आशा के साथ समाप्त करता हूँ कि कुटीर-शिल्प के अनुरागी अवश्य ही इधर ध्यान देंगे—

"५ मार्च (१९४०) को मैं छपरे से रवाना हुआ। ६ को रामगढ़ पहुँचा। श्रीलक्ष्मी बाबू को न तो मैं पहचानता था और न वे मुझे। फिर भी मुलाकात होते ही उन्होंने ऐसा व्यवहार किया, मानों मैं उनका बहुत दिनों का परिचित हूँ। सैकड़ों कामों में व्यस्त रहते हुए भी उन्होंने प्रत्येक अवसर पर, जब कभी मैं अपने प्रयोगों और खोजों के विषय में बातें करने गया, बड़े ध्यान से मेरी बातें सुनीं। मेरे निकाले हुए तरह-तरह के रेशों, पुआल-भूसा आदि के बने कूटों, तथा केले एवं अन्य रेशों से बने कागजों को बड़े आग्रह से उन्होंने देखा और कांग्रेस की प्रदर्शनी में उन्हें उचित स्थान पर रखने का प्रबन्ध कर दिया।

१७ मार्च तक मैं कांग्रेस-प्रदर्शनी में रहा। इतने दिनों में शायद पाँच-सात बार ही मैंने उनसे मुलाकात की। पर उनके सद्व्यवहार, उनकी कर्मण्यता, उनकी सरलता और उनके सहज सौजन्य ने मुझे मोह-सा लिया।

"बातों-ही-बातों में एक दिन उन्होंने मुझसे कहा—'आप श्रीमान् राजेन्द्र बाबू से मिलिए।' उन्होंने एक पुर्जा भी राजेन्द्र बाबू के नाम लिख दिया। दूसरे दिन मैं (राष्ट्रपति) राजेन्द्र बाबू के दर्शनों को गया। उस समय वे सारे भारत से आई हुई विराट स्वयंसेवक-सेना की कवायद देख रहे थे। कवायद खतम होने पर उन्होंने स्वयंसेवकों के कर्त्तव्य एवं महान उत्तरदायित्व पर एक भाषण दिया। इसके बाद, तेज धूप में से हटकर, वे निकटस्थ बँगले के बरामदे में जरा विश्राम ले रहे थे और अन्य राष्ट्रकर्मियों से बातें भी कर रहे थे। इसी समय मैं धीरे-धीरे उनकी ओर अग्रसर हुआ। पास जाकर श्रीलक्ष्मी बाबू का पत्र उनके हाथ में दिया। पत्र पढ़कर उन्होंने एक बार मेरी ओर देखा और पूछा—'किन पौधों के रेशे हैं?' मैंने दो-चार के नाम बताये। मन-ही-मन कितनी ही बातें कहने का विचार लेकर मैं उस महान त्यागी और तपस्वी के पास गया था। पर उनकी थकी हुई मुद्रा और पसीने की बूँदों से ढकी हुई मुखाकृति ने मुझे उस समय कुछ भी कहने न दिया। मैं उन्हें दिखाने के लिए कुछ रेशों के नमूने भी साथ लेता गया था; पर मेरे मुँह से निकल पड़ा—'आप अत्यन्त थके हुए जान पड़ते हैं; पुनः जब और जहाँ कहें, मैं सेवा में उपस्थित होऊँ।' उन्होंने कहा—'मैं तो नित्य ही प्रदर्शनी में दो-एक बार जाता हूँ। वहीं देख लूँगा।'

"मैं लौट आया। दुर्भाग्यवश, नित्य बहुत पानी बरसने के कारण मुझे १४ मार्च तक यह पता न चला कि वे कब प्रदर्शनी में आये, और न निर्दिष्ट स्थान पर १३ मार्च के पहले चीजें ही प्रदर्शन के लिए रक्खी जा सकीं।

"इसी बीच अखिलभारतीय ग्राम-उद्योग-संघ के प्रधान श्रीकुमारप्पा की अवाई की सूचना मिली। सौभाग्यवश वे प्रदर्शनी के कार्यकर्त्ताओं के कैम्प में ही ठहराये गये थे। मैं अपनी चीजें लेकर उनके पास पहुँचा। उन चीजों को वे देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। प्रायः आध घंटे तक उनसे बातें होती रहीं। उन्होंने 'मगनबाड़ी' में चलकर रहने और अपने अधूरे प्रयोगों को पूर्ण करने के लिए मुझसे आग्रह किया, पर मेरी आर्थिक और पारिवारिक स्थिति ने मुझे उनके स्नेहपूर्ण आग्रह को स्वीकार करने नहीं दिया। फिर भी उन्होंने मुझे प्रोत्साहित किया और रेशों को कतवाने के हेतु श्रीमान् भाई मथुरादासजी और बंगाल के श्रीप्रफुल्लचन्द्र घोष से मिलने के लिए कहा।

"अखिलभारतीय कांग्रेस-कार्य-समिति के बंगाली सदस्य श्रीप्रफुल्लचन्द्र घोष तबतक रामगढ़ नहीं आये थे। हाँ, श्री भाई मथुरादासजी के दर्शन प्रायः नित्य दोनों जून प्रदर्शनी के भोजनागार में होते थे। वे रहते भी कार्यकर्त्ता-निवास में थे। मैं यह नहीं जानता था कि वे चर्खे पर सूत-कताई के विशेषज्ञ हैं। मैंने उनसे मुलाकात की—उनसे रेशों की बात कही—अपने प्रयोग में जो रुकावट थी, उसकी भी चर्चा की। उन्होंने रेशे देखे। कुछ मिनट समय भी मुझे दिया। उन्होंने एक-दो किस्म के रेशों को लेकर हाथ से यों ही कातने की भी चेष्टा की। मैंने मन-ही-मन सोचा, कपास की रूई और इन रेशों में बहुत अन्तर है। हाँ, उन्होंने भी श्रीप्रफुल्लचन्द्र घोष का नाम लिया; पर चूँकि वे आये नहीं थे, और जब आते तब शायद मैं मुलाकात न कर सकता, इसलिये उनका स्थायी पता मैंने पूछा और उन्होंने मुझे नोट करा दिया। खेद है कि श्रीप्रफुल्ल बाबू से मेरी मुलाकात न हो सकी और रेशों के सम्बन्ध के मेरे प्रयोग जहाँ के तहाँ रुके हुए हैं। देखें, परमात्मा कबतक इस ओर आगे बढ़ने का अवसर देते हैं।" —श्री कार्त्तिकेयचरण मुखोपाध्याय।

—मासिक 'बालक' (लहेरियासराय, दरभंगा); वर्ष १४,
अङ्क ७; जुलाई, सन् १९४० ई०

मेरी सबसे पहली—अस्वीकृत रचना

सन् १९१० ई० में सबसे पहले मैट्रिक चालू हुआ था। उसी साल मैं पहले-पहल हिन्दी पढ़ने लगा। उसके पहले बराबर स्कूल में उर्दू-फारसी पढ़ता रहा। उस समय तो ऊँचे दर्जे में अरबी भी पढ़ाई जाती थी।

हिन्दी पढ़ना शुरू करने पर लेख लिखने की लालसा हुई। इसके लिए दो तरफ से प्रेरणा मिली। आरा नगर की नागरी-प्रचारिणी सभा में नित्य नियमित रूप से मैं जाया करता था। वहाँ पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ा करता। इससे इच्छा जगी कि मेरा भी लेख छपता तो अच्छा होता। इस इच्छा को उकसाया बाबू शिवनन्दन सहाय ने, जो तुलसीदासजी की बृहत् जीवनी के यशस्वी लेखक थे। दूसरे थे मेरे स्कूल के हेडपंडित पंडित चन्द्रहास द्विवेदी[1]। उन्होंने 'हिन्दी-बोध'-नामक एक पुस्तक हम मैट्रिक-छात्रों के लिए लिखी थी। उसके छपने पर उन्होंने उसकी एक प्रति मुझे दी और ध्यान से उसे पढ़ने की सलाह भी। उसमें लेख लिखने के कुछ नियम भी थे।

लेख मैंने बड़े शौक से लिखा। वह होली के सम्बन्ध में था। हास्यरस का था। सरस भी था, किन्तु अश्लील नहीं। सोच-समझकर लिखा गया था। भाषा अलंकृत थी। अनुप्रास की बहार भी थी। शुरू से मेरी आदत नोट लेने की है। जो कुछ पढ़ता था, रुचिकर बातें छाँटकर या चुनकर लिख रखता था। नोट-बुक से भी सहायता ली थी लेख तैयार करने में। मुझे वह बहुत ही सुन्दर जँचा।

मैंने उस लेख की कई प्रतिलिपियाँ स्वयं लिखकर तैयार कीं। उपर्युक्त सभा के वाचनालय से अनेक सुन्दर पत्र-पत्रिकाओं के पते लिख लाया। सभी के संपादकों के पास एक-एक रजिस्ट्री भेज दी। उसी में जवाबी पोस्टकार्ड भी अपने पते के साथ भेजा। गार्जियन की ओर से जो पैसे जलपान के लिए मिलते थे, उन्हीं का उपयोग डाकखर्च में किया।

ईश्वर की इच्छा। लेख कहीं भी न छपा। सभी पत्रों के होलिकांक उलट डाले, दिल की धड़कन न मिटी—वह क्रमशः सघन होती गई। तब ? तब मैंने सभी के पास फिर रजिस्ट्री-खर्च भेजा कि मेरा लेख लौटा दें। उस समय इतना भी ज्ञान न था कि एक ही जगह से लेख लौट आने पर काम चल जायगा, और मेरे पास तो एक नकल थी ही। फिर भी अपने लेख का मोह !

रजिस्ट्री-खर्च भी सम्पादकों के गोलक में गुम हो गया ! लेख न लौटा ![2]

—साप्ताहिक 'यात्री' (छपरा); अस्वीकृत-रचना-अङ्क; सितम्बर, १९४९ ई०

---

१. आप देकुली (ब्रह्मपुर, शाहाबाद) के निवासी हैं। —ले०

२. उस लेख का शीर्षक था— 'होली में सभ्यता का नाश'। उसे नागरी-प्रचारिणी सभा के कर्मठ सदस्य पण्डित हरनाथ द्विवेदीजी ने देखकर पसन्द किया और 'शिक्षा'-सम्पादक पण्डित सकलनारायण शर्मा से उसके प्रकाशन के लिए सिफारिश कर दी। वह साप्ताहिक 'शिक्षा' (पटना) के

दरभंगा में खण्ड-प्रलय

[१]

जगदाधार परमात्मा की सत्ता को अनायास स्थापित कर देनेवाले भूकम्प ने सन् १९३४ ई० की १५ वीं जनवरी को भारत के इतिहास में अमर कर दिया। उस दिन मैं लहेरियासराय में था, जो दरभंगा नगर का एक हिस्सा है। लगभग सवा दो बजे दिन में अचानक भूकम्प आया। मैं 'बालक' के सहकारी सम्पादक श्री अच्युतानन्द दत्त[१] के साथ फूस की एक झोपड़ी में बैठकर 'टाइम्स ऑफ इंडिया' का वार्षिक विशेषांक देख रहा था। उक्त रमणीय झोपड़ी 'पुस्तक-भंडार' के विस्तृत आहाते के एक कोने में थी। जब एकाएक मेज हिलने लगी, मैं अपनी चौकी से झट नीचे कूद पड़ा। दत्तजी भी अपनी कुर्सी छोड़कर मेरे साथ ही बाहर मैदान में भगे।

इतने में भूकम्प का वेग बहुत बढ़ गया। 'पुस्तक-भंडार' के अहाते में चारों ओर भगदड़ मच गई। 'भंडार' की विशाल इमारत से सब कर्मचारी हड़बड़ाकर निकल आये। प्रेस के मकान से, दफ्तरीखाने से, टिड्डीदल की तरह, आदमी निकल भागे। किन्तु कोई अहाते के फाटक से बाहर न निकला। सब-के-सब अहाते के सहन में त्रस्त और चकित खड़े होकर 'भंडार' के भव्य भवन का थिरकना देखने लगे।

जैसे कोई बालक अपनी हथेली पर गेंद को उछालता है, वैसे ही वह भड़कीली इमारत पृथ्वी पर उछलने लगी। दो-चार ईंटों का खिसककर गिरना तो स्पष्ट देख पड़ा, पर उसके बाद सारी इमारत धूल के अन्धकार में छिपने लगी। देखते-ही-देखते, निमिष-मात्र में, दीवारें अरराकर धमाधम गिर पड़ीं। धूल के अन्धकार से आगे का सहन भर गया। इसी बीच में प्रेस का दोमंजिला मकान भी बिखरी हुई ईंटों का ढेर बन गया। अहाते की चहारदीवारी भी जड़ से कटे रुख की तरह जमीन पर आ रही।

आदमी जितने थे, सब उसी सहन में तितर-बितर काँपते हुए खड़े थे। मगर जब पृथ्वी तूफानी तरंगों पर नाचती हुई किश्ती की तरह डोलने लगी—'चढ़े मत्त गज

होलिकांक में छपा। सम्पादकजी ने बड़े स्नेह से मुझे उत्साहित करके 'शिक्षा' के लिए कई लेख लिखवाये—क्षमा, दया, सन्तोष परोपकार, सत्संगति, विद्या आदि लेख भी 'शिक्षा' में छपे। किन्तु उनकी कतरनें नष्ट हो गईं। 'शिक्षा' के पुराने अंक भी न मिल सके। उन आरंभिक रचनाओं का मोह आज भी है। उक्त द्विवेदीजी बलिया-जिले के निवासी हैं। आगे चलकर हम दोनों सहकर्मी हो गये। आरा के टाउन-हाईस्कूल में वे हेडपंडित थे और मैं हिन्दी-शिक्षक था। —ले०

१- दत्तजी मैथिल कायस्थ थे। संस्कृत, बङ्गला, मैथिली, व्रजभाषा और अवधी के अच्छे ज्ञाता थे। आयुर्वेद और ज्योतिष में उनकी अच्छी गति थी। अनेक प्रसंगों के अनूठे श्लोक उन्हें याद थे। शास्त्रचर्चा और काव्यचर्चा में उनकी प्रखर प्रतिभा का परिचय मिलता था। साहित्य-शास्त्र के रस-छन्द-अलंकार का ज्ञान कई अवसरों पर प्रदर्शित करके विस्मित कर दिया था। संस्कृत के महाकाव्यों पर वे अधिकारपूर्वक बातें किया करते थे। उनकी लिखी कई पुस्तकें छप चुकी हैं। सम्पादन-कला में भी बड़े दक्ष थे। सन् १९४४ ई० के लगभग उनका देहान्त हुआ था।—ले०

जिमि लघु तरणी'—तब किसी आदमी के लिए खड़ा रहना असम्भव हो गया। पैरों के डगमगाने से देह में कँपकपी लग गई। व्याकुलता के मारे सब लोग बैठ गये। लेकिन जमीन में हाथ टेके बिना बैठना भी असम्भव था।

बैठने पर एक दूसरी आफत नजर आई। धरती फटने लगी। अबतक लोगों की जबान पर केवल 'राम'-नाम था, पर जमीन का दरकना देखकर सब लोग जोर-जोर से 'त्राहि भगवन! त्राहि भगवन!' पुकारने लगे। मालूम होने लगा, पृथ्वी नीचे धँस रही है। अचानक पाताल-प्रवेश का प्रसंग उपस्थित देखकर सब लोग करुणार्द्र नेत्रों से आकाश की ओर ताकने लगे।

'सीताराम', 'सीताराम' की रट लग रही थी। 'जय-जय सियाराम' की ध्वनि गूँज रही थी। भय-कातर आँखों के अंचल पसारकर लोग परमात्मा से प्राणों की भीख माँग रहे थे। वैसा दिल दहलानेवाला दृश्य इन आँखों ने कभी देखा न था। वैसा भयंकर आर्त्तनाद भी इन कानों ने कभी सुना न था। दिल के अन्दर धड़कनों का ताँता बँधा था।

जीभ की सुबुद्धि ऐसी जगी कि क्षण-भर भी 'राम'-नाम के सुमिरन से बिलग न हुई। कानों में लोगों के करुण कंठ से निकला हुआ 'त्राहि-त्राहि' का ऊँचा स्वर तो भर ही रहा था। एक प्रकार का और गम्भीर नाद भी सुन पड़ता था। मालूम होता था, सैकड़ों हवाई जहाज एक साथ ही उड़ने आ रहे हैं, या तेजी से दौड़ने के लिए हजारों फौजी मोटरों के इंजिन एक साथ ही खोल दिये गये हैं। रह-रहकर यह भी मालूम होता था कि पैरों के नीचे से पृथ्वी बड़ी तेजी से सरकती जा रही है। जैसे दौड़ती हुई डाकगाड़ी पर चढ़े हुए मुसाफिरों को बाहर की दुनिया भागती नजर आती है, वैसे ही हमलोगों को भी चारों ओर की चीजें दनादन सरकती नजर आती थीं। सूर्य भी चक्कर खाता हुआ दीख पड़ता था। ठीक प्रलय का दृश्य था।

अच्छी तरह याद है कि उस समय आँखों के आगे उड़ती हुई चिनगारियाँ चमक रही थीं। कंठ सूख गया था, पर पानी की प्यास न थी—प्राणों की प्यास अवश्य थी। नाक भी सूख गई थी, इसलिए साँस की चाल का पता न मिलता था। माथा सूना हो गया था। इसलिए बार-बार ठनकता था। जीभ सूखे तालाब की मछली की तरह तड़प रही थी। आखिर प्राणाधार 'राम'-नाम का उच्चारण भी असंभव हो गया। किसी भाषा की शब्दावली उस भीषण दृश्य और लोगों की दयनीय दशा का यथार्थ चित्र नहीं अंकित कर सकती।

उस समय भविष्य का ध्यान न था, जीवन का भरोसा न था, लोक-परलोक की चिन्ता न थी, अगर कुछ था तो केवल ईश्वर का सहारा ही था। उस समय ऐसे लोगों के मुँह से भी राम-नाम सुन पड़ा, जो कभी सपने में भी राम का नाम नहीं लेते थे। उसी समय जान पड़ा कि ईश्वर अगर सबसे बड़ा मारनेवाला है, तो बचानेवाला भी है। ईश्वर ने क्षण ही भर में अपनी विचित्र लीला की खूबी दिखला दी। घोर नास्तिक भी उस समय कट्टर आस्तिक नजर आया! जीभ और तालू के असमर्थ एवं शुष्क हो जाने पर भी हृदय में केवल ईश्वर ही के सुमिरन का तार लगा हुआ था।

धरती फटने से जो हड़कम्प छा गया था, वह जल के सोते फूट निकलने से और भी बढ़ गया। चहारदीवारी के गिर जाने से बाहर के मैदान में फूटे हुए सोते भी दीख पड़ने लगे। चारों ओर जगह-जगह फव्वारे फूट पड़े। उनके अन्दर से बड़े वेग के साथ बालू और मिट्टी मिला हुआ जल निकलने लगा।

फाटक के सामनेवाली सड़क से लोग बेसुध दौड़े जा रहे थे। गिरते-पड़ते, डगमगाते-डोलते, फिसलते-चिल्लाते लोग अन्धाधुन्ध भाग रहे थे। कचहरी से भागे हुए एक वकील के एक ही पैर में जूता था।

ईश्वर के सिनेमा का वह फिल्म मैं कैसे दिखाऊँ? भुक्तभोगी होने के कारण मेरे हाथ भी लिखते समय थर-थरा रहे हैं। शायद इन्हीं पंक्तियों के लिए ईश्वर ने मुझे बचाया।

ईश्वर की दया से कुछ ही मिनट के बाद भूकम्प का प्रचंड प्रकोप शान्त हुआ। किन्तु जल के सोते शाम तक मटमैला पानी उगलते रहे। 'भंडार' के दफ्तरीखाने में ऐसा जबरदस्त सोता फूटा कि सैकड़ों रीम छपे हुए कागज और भँजे हुए फॉर्म कीच में लथ-पथ सन गये।

मास्टर साहब [१] का चित्त इस आकस्मिक सर्वनाश से ऐसा विक्षिप्त हुआ कि वे तो पागल-से हो गये। उनका पन्द्रह-बीस बरसों का उद्योग क्षण-भर में इस दशा को पहुँच गया। तीस-पैंतीस रुपये की पूँजी से लखपती बननेवाले पुरुषार्थी को ईश्वर ने चुटकियों में अधीर बना दिया। जब उनसे कहा गया—"आपके 'भंडार' से सैकड़ों आदमियों को रोजी मिलती है, अगर आप इतने अधीर होंगे तो कैसे काम चलेगा"—तब वे इसी वाक्य को बार-बार दुहराने लगे—'सैकड़ों आदमियों को रोजी मिलती है—हाँ, सैकड़ों आदमियों को रोजी मिलती है।"

उसी उन्मत्तता की दशा में उनके मुँह से आप-ही-आप अन्त में यह भी निकल पड़ा—"ईश्वर ही ने भंडार को बनाया था और ईश्वर ने ही उसे अचानक बिगाड़ दिया, तो फिर वही बनावेंगे भी।"

उस समय वे 'भंडार' के सब कर्मचारियों की ओर देखकर अत्यन्त विह्वलता से आँसू ढाल रहे थे; पर उनके मुख से 'राम'-नाम के सिवा कोई शब्द नहीं निकलता था। कुछ देर तक वे बार-बार 'भंडार' के गिरे हुए आलीशान मकान की ओर देखते रहे। इसके बाद उनका शरीर इतना शिथिल हो गया कि अशक्त की तरह बैठ गये। सब लोगों के चेहरे पर व्याकुलता की गहरी छाप थी।

अब बाहर से भी बड़ी-बड़ी डरावनी खबरें आने लगीं। कोई आकर कहता—अदालत-दीवानी की दो-मंजिला इमारत चकनाचूर हो गई, बहुत-से लोग दब मरे और घायल हो गये। किसी ने आकर कहा—अस्पताल के गिर पड़ने से पचासों रोगी

---

१. पुस्तक-भण्डार (लहेरियासराय, दरभंगा) के संस्थापक स्वामी श्रीरामलोचनशरणजी अपने आरम्भिक जीवन में बहुत दिनों तक शिक्षक थे, इसलिए सब लोग उनको 'मास्टर साहब', ही कहते हैं, उनके अनेक शिष्यों में कई अच्छे ओहदे पर हैं। —ले०

घायल हो गये और चँप गये। एक ने सुनाया—बाजार की सड़क फट जाने से एक्के का घोड़ा धँस गया है, लोग निकाल रहे हैं। इसी तरह के भयावने समाचारों का ताँता बँध गया। शाम तक खबरों का तार न टूटा।

आतंक छा गया। 'धीरज छू कर धीरज भागा।' हर घड़ी यही आशंका होती थी कि धरती डोल रही है। जो कोई आता था, यही पूछता था—'बाल-बच्चे' बच गये? कोई आदमी तो नहीं मरा?' उस समय सिर्फ जिन्दगी की भूख थी। धन की कोई चिन्ता या चर्चा नहीं करता था। प्रायः धन की ओर से सब विरक्त देख पड़ते थे। सब आकर यही कहते थे कि जान बच गई तो धन फिर हो जायगा।

मास्टर साहब के उद्विग्न मस्तिष्क पर लोगों की इस मनोवृत्ति का बड़ा प्रभाव पड़ा। जब उन्होंने सबपर एक ही तरह की विपत्ति देखी, तब उनका चित्त कुछ शांत हुआ। वे अपने कर्मचारियों की खोज-पूछ करने लगे। सबका पता लग गया, पर 'बालक'-कार्यालय के एक असिस्टेंट क्लर्क का पता न मिला। वह विद्यापति-पुस्तकालय का लाइब्रेरियन भी था। इसलिए लाइब्रेरी की ओर झाँककर देखा गया। वहाँ भी न था। बड़ी चिन्ता छा गई। आशंका होने लगी कि हो-न-हो, वह मलवे के नीचे दब गया। बिखरी हुई ईंटों का ऊँचा ढेर देखकर यही अनुमान होता था कि इस टीले के अन्दर दबा हुआ आदमी क्षण-भर भी नहीं जी सकता।

आखिर अनुमान सत्य निकला। दूसरे दिन सबेरे जब मलवा हटाया जाने लगा, क्लर्क बेचारे की लाश मिली। देखने से पता लगा कि भागते समय वह सबसे पीछे निकला और बाहरी द्वार की अन्तिम सीढ़ी तक पहुँचते-पहुँचते उसके ऊपर दीवार गिर पड़ी। उसकी मृत्यु से सबको बड़ा भारी अफसोस हुआ। 'भंडार' में सैकड़ों आदमियों की जान बच गई, पर वह बेचारा न बच सका!

'भंडार' में प्रति रविवार को नियमित रूप से हरिकीर्त्तन हुआ करता है। मैंने देखा था कि भूकंप (सोमवार) से एक दिन पहले मकर-संक्रान्ति (रविवार) की रात में वह ग्यारह बजे तक हारमोनियम बजाकर संकीर्त्तन करता रहा। वह बड़ा ही निरीह व्यक्ति था। गाने-बजाने में तो पटु था ही, बड़ा अच्छा मोटर-ड्राइवर भी था। उसकी जेब से एक नोटबुक मिली, जिसमें उसका एक फोटो और लाइसेन्स भी था। अंटी में आठ रुपये भी निकले। उसका नाम था रामनारायण लाल दास[1]। उम्र पचीस-छब्बीस साल की रही होगी। ईश्वर की दया से अविवाहित था। घर में अकेली बुढ़िया माँ और एक छोटा भाई। कमासुत यही एक था। लम्बा-तगड़ा बदन और हँसमुख चेहरा भुलाये नहीं भूलता।

लाश की दुर्दशा 'बालक'-कार्यालय के हेड-क्लर्क श्रीअशर्फीलाल वर्मा ने बतलाई—एक आँख फूटकर धँस गई है, दूसरी बाहर निकल आई है, खोपड़ी भी फट गई है, जीभ बाहर निकल आई है। ईश्वर की विचित्र लीला!

१. मिथिला के प्रसिद्ध हिन्दी-लेखक श्रीभोलालाल दास के गाँव का निवासी और बड़ा मिलनसार तथा विनयी व्यक्ति था।—ले०

एक की ऐसी दशा देखकर भी हमलोग अपनी जान के लिए तरस रहे थे। चारों ओर से सैंकड़ों-हजारों आदमियों के मरने की खबरें धड़ाधड़ आ रही थीं, तब भी हमलोग जीने की इच्छा और आशा में व्यस्त थे। इतने बड़े आश्चर्य की सृष्टि केवल ईश्वर ही कर सकता है।

[२]

दो-तीन दिनों तक में कहीं बाहर घूमने न गया। प्रायः सब लोग एक जगह उदास बैठकर ईश्वर की अद्भुत शक्ति पर आश्चर्य और भय प्रकट करते थे। रातें आँखों में कटती थीं, दिन घबराहट में बीतते थे। उस समय तुलसीदासजी के ये पद बार-बार याद आते थे—"भृकुटि-विलास जासु लय-होई" और "जेहि राखे रघुबीर, ते उबरें तेहि काल महँ।" ऐसा जान पड़ता था कि क्षण ही भर में ईश्वर ने धन-जन का विध्वंस ही कर डाला और बचे हुए को वेदांत और वैराग्य का पाठ भी पढ़ा दिया। फिर भी उस समय प्राणों की भूख बड़ी तीखी थी, अन्न की भूख काफूर हो गई थी। जब लोग आकर कहते थे कि लहेरियासराय और दरभंगा मिलाकर चार हजार से ऊपर आदमी मरे हैं तब रूह काँप उठती थी। प्रत्यक्षदर्शी लोग जब रोमांचकारी वर्णन सुनाने लगते थे तब देह सुन्न हो जाती थी।

दो-चार दिन तक रात-रात-भर स्त्री-पुरुषों का रोना-चिल्लाना सुन पड़ता रहा। पहली और दूसरी रात (रविवार और सोमवार) अत्यन्त भयावह मालूम हुई। ठीक यही भासता था कि महाश्मशान में रह रहे हैं। मुसलमान भाई रातभर सम्मिलित प्रार्थना में बड़े जोर-जोर से 'अल्ला हो अकबर' पुकारते थे। हिन्दू भी जहाँ-तहाँ हरिकीर्त्तन के सहारे जागरण करते थे। इतने पर भी नर-नारियों के शोकोद्गारपूर्ण चीत्कार से रात बड़ी ही भयावनी मालूम होती थी। भूकम्प के समय का गगनभेदी आर्त्तनाद भी उतना भयावना न था।

लोग कहते हैं कि अफवाहें प्रायः झूठी ही होती हैं; पर दुर्दिन में ऐसा नहीं होता—इसका तो प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। जो लोग जाकर लहेरियासराय और दरभंगा के मुहल्लों और बाजारों की दुर्दशा अपनी आँखों देख आये, वे कहने लगे कि निन्नानबे फी सदी मकान चौपट हो गये हैं और आदमियों का कहीं पता नहीं है। दो-चार दिन के बाद देहाती लोग भी आने-जाने और अजीब खबरें सुनाने लगे। कहीं धरती फटकर धुआँ निकला, कहीं सैंकड़ों बीघा खेत रेत बन गये। एक ने सुनाया कि खूंटे में बँधे हुए दो बैल धरती फटने से वहीं-के-वहीं धँसकर लापता हो गये। एक आदमी जल निकलते हुए फटे स्थान में पाँव डालकर मन बहला रहा था। उसके तलवे में पाताल-जल के वेगवान् प्रवाह की ठोकरें लगती थीं। वह घुटने तक पांव दबाता चला गया। इतने में सड़-से नीचे खिंच गया और ऊपर बहुत-सी कीच मिली हुई बालू निकल आई। तमाशा देखनेवाले भाग खड़े हुए।

भूकम्प के बाद का यह पाताल-प्रवेश लोगों के हृदय पर गहरा आतंक छोड़ गया। इसी प्रकार एक धनी परिवार के तीन मृत व्यक्तियों को मलबे के नीचे से निकालने के

लिए दो कुली फी मुर्दा पचीस रुपये के करार पर तैयार हुए। दो मुर्दे तो निकल आये, जो पुरुषों के थे। एक स्त्री को निकालने के लिए कुली गये, और उसके शरीर के गहने लेने का भी करार करा लिया। लेकिन वे न तो करार के पचहत्तर रुपये ही पा सके और न गहने ही, वहीं गहनेवाली के पास दीवार गिरने से दब गये। फिर उस मलबे के नीचे तीन के तीन ही मुर्दे रह गये !

दरभंगा से आनेवाले कहते थे कि वहाँ के सदर बाजार की गली पुराने जमाने की बहुत तंग थी, इसलिए वहाँ के दूकानदार और खरीदार कहीं भागने का अवकाश ही न पा सके, दोनों तरफ के मकानों ने उन्हें जहाँ-के-तहाँ और ज्यों-के-त्यों चाँप दिया। दरभंगा-महाराज की बहुत-सी बड़ी-बड़ी इमारतों के गिरने की भी खबर मिली। सुना गया कि उनके सब महल टूट फट गये और उनकी बहन घायल हुई हैं तथा उनका एक अतीव सुन्दर भानजा दबकर मर गया है।

दरभंगा के एक प्रतिष्ठित रईस राय साहब के यहाँ की बड़ी दर्दनाक खबरें मिलीं। उनके विस्तृत एवं विशाल भवन में क्लर्क और मुनीम जो जहाँ जैसे थे, वे वहाँ वैसे ही दबे रह गये। इनकम-टैक्स अफसर के स्त्री-बच्चे दब मरे। बेचारे अकेले बच गये। श्री हरिनन्दन दास वकील के घर का सफाया ही हो गया, परिवार के आठो आदमी दब मरे, सिर्फ वकील साहब बच रहे, जो काँगरेस के एक अच्छे कार्यकर्त्ता हैं !

इसी तरह की असंख्य दुर्घटनाएँ हुईं, पर कितनों का तो संवाद ही न मिला। उस समय दुर्घटनाओं को लिख रखने का साहस ही न था, सुध भी न थी। तरह-तरह के हृदयद्रावक संवाद सुन पड़ते थे, पर उन्हें नोट करने का धैर्य किसमें था? कोई बाहरी रिपोर्टर अगर पहुँच पाता तो लिखते-लिखते थक जाता।

दो दिन के बाद हवाई जहाज मँडराता नजर आया। सुना कि 'स्टेट्समैन' का रिपोर्टर है। लेकिन आकाश में उड़ते फिरने से जमीन पर बीतनेवाली मुसीबत का ठीक पता नहीं लग सकता। एक दिन लहेरियासराय में हवाई जहाज से 'स्टेट्समैन' की एक प्रति नीचे मैदान में गिराई गई थी। झुंड-के-झुंड लोग दौड़ पड़े थे। एक दिन और इसी तरह 'स्टेट्समैन' का एक अंक गिरा था। उस समय वह देवताओं की पुष्प-वृष्टि अथवा आकाशवाणी के समान प्रतीत हुआ; क्योंकि तार, रेल और डाक के बन्द होने से सब लोग यह जानने को बहुत उत्सुक थे कि दरभंगा के सिवा अन्य नगरों और जिलों की क्या दशा है। अपने-आप पर जो बीत चुकी थी, उसके लिए तो लोग दुःखी थे ही, पर अन्य स्थानों के अपने सगे सम्बन्धियों और इष्ट-मित्रों के लिए भी बड़े चिन्तित थे।

मेरा परिवार काशी में था। मैं न तार दे सका और न कोई उपाय ध्यान में आया। विश्वनाथजी के भरोसे पर मन मारकर रह गया। 'भंडार' का एक कर्मचारी पटना की प्रधान शाखा का हाल-चाल लेने के लिए साइकिल से भेजा गया। उसी को मैंने पटना से डाक में छोड़ने के लिए बनारस की चिट्ठी दी। बनारस से जो तार और पत्र मेरे पास भेजे गये, वे मिले ही नहीं।

डाक तो बंद थी ही, रेल की लाइन भी दरभंगा से समस्तीपुर तक खराब हो गई थी। भूकम्प के समय एक ट्रेन लहेरियासराय स्टेशन पर दरभंगा से आई थी, सो स्टेशन पर ही खड़ी थी। उसके मुसाफिरों का कष्ट देखकर बड़ी पीड़ा और करुणा उत्पन्न होती थी। बहुत-से-मुसाफिर अपने ही सिर पर सामान लाद कर रेलवे लाइन पकड़े हुए पैदल ही समस्तीपुर चले गये।

इसी तरह लोग पैदल आने-जाने लगे। जो इक्के-घोड़े लहेरियासराय में बच गये थे, वे भी बहुत महँगे मिलते थे। हम लोग आठवें दिन सोलह रुपये भाड़ा देकर तीस मील इक्के पर समस्तीपुर आये। पक्की सड़क से चौबीस ही मील का रास्ता है, मगर एक पुल के खराब होने से छः मील का फेर पड़ा। छोटी 'कोसी' नदी में डेढ़ रुपया खेवा देकर इक्का-सहित पार हुए। नदी के तीर पर देखा कि भूकम्प-पीड़ित भगोड़ों के इक्के, मोटरें और बैलगाड़ियाँ कतार बाँधे सुबह से खड़ी हैं। दो बड़ी नावें थीं, और सवारियाँ दो सौ थीं।

रास्ते में उधर से आते हुए लोगों के झुंड भी मिलते थे, जो पैदल या किसी सवारी पर अपने घर दौड़े जा रहे थे। कोई कलकत्ता से आता था, कोई, बनारस से, कोई इलाहाबाद से, कोई और कहीं से। रास्ते में तमाम सड़कें फटी हुई मिलीं। कहीं-कहीं तो इतनी चौड़ी दरारें थीं कि उनमें आदमी कमर और छाती तक समा जा सकता है। सड़क के दोनों ओर जितने गाँव मिले, सबमें टूटे-फूटे मकान देख पड़े। चारों ओर जल और बालू की बाढ़ का दृश्य नजर आता था। जहाँ-जहाँ पुल पड़ता था, इक्के से उतर जाना पड़ता था। लोहे के बड़े-बड़े पुल बीच-बीच में कमान की तरह झुक गये थे। एक नदी के पुल के बिचले खम्भे एकदम जल के पास तक धँस गये थे। जगह-जगह सड़क के बीच में जमीन फटकर बालू और पानी निकला था। ऐसे स्थानों में भी इक्के से उतरना पड़ता था। कितने ही कुएँ ऐसे मिले, जो सशरीर पाताल में समा गये और उनके स्थान पर सिर्फ बालू से भरे हुए गड्ढे रह गये हैं।

सुबह के चले शाम को समस्तीपुर पहुँचे। वहाँ 'गंडक' नदी में पीपों पर बना हुआ जो काठ और लोहे का पुल है, वह भी एकदम टेढ़ा-मेढ़ा होकर धँस गया है। बीच में गहरा, दोनों ओर ऊँची चढ़ाई। बाजार बड़ा गुलजार है, मगर मकान टूट-फूटकर बरबाद हो गये हैं। एक बहुत ही विशाल धर्मशाला फटकर खराब हो गई है। गल्ले की आढ़तों में एक-पर-एक धरे बोरों की सीवन खुल गई थी और अन्न बिखरकर पानी-बालू के साथ पनाले की की तरह बह चला था। फिर भी लहेरियासराय और दरभंगा के मुकाबिले में समस्तीपुर की आबादी का अच्छा ही हाल है। वहाँ तो दो-चार रोज के बाद जब मैं हिम्मत करके बाजार की ओर गया तब भूकम्प की ध्वंसलीला देखकर हृदय काँप उठा। सारा (लहेरिया-सराय) शहर एकदम खँड़हर नजर आया। सड़क खण्ड-खण्ड हो गई है; कहीं बालू के ढेर से ऊँची हो गई है, कहीं कई फुट नीचे धँस गई है, कहीं फटकर चूर-चूर हो गई है। कितनी ही गलियों का पता ही नहीं लगता। रास्ता चलते हुए कलेजा काँपता था। जहाँ तक नजर जाती थी, वीरान ही सूझता था। मुश्किल से इक्के-दुक्के आदमी रास्ते में

मिलते थे। सूर्यास्त के बाद हर तरफ अँधेरा छा जाता था। शाम के बाद बहुत कम लोग बाहर निकलते थे। चिराग-बत्ती होते ही एक पैसे की कोई चीज नहीं मिलती थी। कई दिन तक लगातार किसी तरह प्राण धारण करने योग्य रूखा-सूखा अन्न जबरदस्ती हलक से नीचे उतारा जाता था।

समस्तीपुर पहुँचने पर तलाश करने पर एक अच्छी दूकान मिली। वहीं सुअन्न से भेंट हुई। वहाँ एक मिल की चिमनी डिनामाइट लगाकर गिराई जा रही थी, जिससे बार-बार बड़े जोर का धड़ाका होता था। चिमनी का शिखर तो भूकम्प ने तोड़ डाला था, मगर उसका धड़ गिराने में कई दिन बारूद की शक्ति काम करती रही। डर लगता था कि धड़ाके की धमक से फटे हुए ऊँचे मकान न गिर पड़ें। सड़क से निकलते वक्त दिल दहलता था। स्टेशन के मुसाफिरखाने में भगोड़ों की भीड़ लगी हुई थी। मालूम हुआ कि आज ही पहले-पहल मुकामा घाट की गाड़ी रात में नौ बजे जानेवाली है। उसी समय वहीं के एक सज्जन सुनाने लगे कि समस्तीपुर के वकील श्री गौरीशंकर प्रसाद कचहरी से दौड़कर घर आये तो देखा कि परिवार के नवों व्यक्ति मकान में दब गये हैं। उनका संसार उजाड़ और अन्धकारमय हो गया। यही दशा एक मुसलमान-परिवार की हुई। ऐसे-ऐसे हृत्कम्पकारी समाचारों के सुनते-सुनते दिल पक गया था। किन्तु, कुछ दूर तक रास्ते में भी इस प्रकार के भीषण संवाद मिलते रहे।

समस्तीपुर से हमलोगों को बछवारा-जंकशन का टिकट मिला, वहाँ से छपरा जंकशन का मिला, फिर छपरा से भटनी जंकशन का मिला और भटनी से सीधे बनारस का टिकट नसीब हुआ। इस चक्करदार सफर में एक रुपया सात आने अधिक भाड़ा लगा। चित्त व्यग्र था, इसलिए रुपया नहीं सूझता था। दिल की घबराहट का पता इतने से ही लग सकता था कि भटनी में हड़बड़ी के मारे एक टिकट बेशी खरीद लिया गया, जिसके पीछे मुफ्त ही सवा रुपया पानी में गया। लेकिन उस समय हर तरफ से बरबादी ही बदी थी। मेरे साथ 'भंडार' के विद्यापति प्रेस के मैनेजर श्रीहनुमानप्रसाद गुप्त भी बनारस आ रहे थे। वे काशी के सीताराम प्रेस के संचालक श्रीबजरंगबली गुप्त 'विशारद' के सगे बड़े भाई हैं। उनकी वजह से रास्ते-भर बड़ा आराम रहा। वे अगर साथ न होते तो मैं दो दिन तक उसी कोसी नदी के किनारे पड़ा रहता। वहाँ मोटरों और इक्के-घोड़ों का ठट्ट देखकर ही मैं चकरा गया। भागते हुए स्त्री-पुरुषों के चेहरे से आह टपकती थी। छोटे-छोटे बच्चे सूखा चूड़ा चबा रहे थे और गुड़ माँगकर अपनी माता को रुलाते थे। कितनी ही स्त्रियों की आँखें रोते-रोते सूज गई थीं।

भूकम्प से बचे हुए लोगों की भी कुछ कम दुर्दशा नहीं हुई। जान नहीं गई, मगर और कोई नतीजा बाकी न रहा। लहेरियासराय में देखा था कि जो लोग कोठियों और बँगलों के अन्दर अंगीठी से कमरे को गरम करके पलंग पर सोया करते थे, वे खर-छप्पर के नीचे पुआल पर लेटे-लेटे रात काटते हैं। खुले मैदान में डण्डों के सहारे दरी या कम्बल तानकर लोग कठोर शीत झेलते थे।

कहाँ तक दुखड़े की कहानी सुनाऊँ, लिखते जाने से शायद एक सप्ताह में भी पूरी न होगी। ईश्वर की प्रलय-लीला का वर्णन कौन कर सकता है। काशी आने पर जब विश्वनाथजी के दर्शन करने गया तो सन्ध्या की मंगलारती हो रही थी। उसके अन्त में जब घंटे और डमरू का घनघोर शब्द होने लगा तब याद आया कि लहेरिया-सराय में भूकम्प के दिन कुछ इसी ढंग का शब्द कानों के परदे पर घहरा रहा था। धन्य है शंकर का प्रलय ताण्डव !

काशी में अखबारों को देखने से मालूम हुआ कि दरभंगा की ठीक रिपोर्ट नहीं मिली है। रेल, तार और डाक के बन्द होने से ही शायद ऐसा हुआ है। किन्तु वास्तव में दरभंगा की अवस्था भी अत्यन्त शोचनीय है। भूकम्प के बाद आठ रोज तक वहाँ किसी प्रकार की सहायता बाहर से नहीं पहुँची थी। समस्तीपुर स्टेशन के अहाते में मैंने कानपुर की यू० पी० किराना-सेवा-समिति का कैम्प देखा था। वहाँ पूछने से मालूम हुआ कि रुपये और कपड़े तथा स्वयं-सेवक एक-दो दिन में आनेवाले हैं। दरभंगा तक की रेलवे लाइन और उसके पुल इतने अधिक क्षतिग्रस्त हैं कि शायद ही फरवरी में गाड़ी का चलना शुरू हो। मैंने वहाँ स्वयं देखा था कि जगह-जगह लाइन धँसकर नीची हो गई है। कहीं-कहीं बीच में धरती फटकर बालू के साथ पानी निकला है, जिससे लाइन ढक गई है।

पैदल समस्तीपुर जानेवाले लोग कहते थे कि कई जगह रेलवे लाइन टेढ़ी-मेढ़ी हो हो गई है और अगल-बगल गहरी दरारें भी फटी हैं। ऐसी दशा में दरभंगा तक बाहरी सहायता पहुँचना आसान नहीं है। किन्तु वहाँ के कलक्टर और पुलिस सुपरिंटेंडेंट शुरू से ही बड़ी तत्परता के साथ लोगों को यथाशक्ति सहायता दे रहे हैं। सबडिवीजनल अफसर रोज ही दरभंगा राज प्रेस में छपवाकर एक बुलेटिन बँटवाते थे। बुलेटिनों में अन्य स्थानों के भी संक्षिप्त समाचार रहते थे। साधारण जनता के सन्तोष के लिए उस समय उतना ही काफी था। सरकारी अधिकारियों को कुलियों और मजूरों के अभाव से जनता की सहायता में और भी कठिनाई पड़ रही है। गाँवों में भी काफी बरबादी हुई है, इसीलिए मजूर और बाँस-फूस की महँगी बहुत बढ़ गई है। फिर भी सुनने में आया है कि कलक्टर साहब मजूरों को रुपया रोज तक मजूरी देकर मलवा हटवा रहे हैं।

एक दिन हल्ला हुआ कि बिहार के लाट साहब हवाई जहाज से दरभंगा की दुर्दशा देख गये हैं। दूसरे दिन पता लगा कि दरभंगा-नरेश भी कलकत्ता से हवाई जहाज से आये थे और अपने मैनेजर को सख्त ताकीद कर गये हैं कि हमारी प्रजा को अन्न-वस्त्र और द्रव्य की पर्याप्त सहायता की जाय।

दरभंगा में सब लोग महाराज के प्रजावात्सल्य की बड़ी प्रशंसा कर रहे थे। यद्यपि उनकी करोड़ों की हानि हुई है, तथापि उन्होंने अपनी मिथिला की प्रजा के लिए आदर्श सहानुभूति और उदारता दिखाई है। उनका राजनगर का महल, जो दरभंगा से कई कोस दूर है, भारत के अत्यन्त प्रसिद्ध और सुन्दर महलों में गिना जाता था। हर साल छत्तीस हजार रुपये उसकी मरम्मत में खर्च होते थे। अकेले वही कई करोड़ का माल था।

उसके टूटने-फूटने का हाल सुनकर सब लोग अफसोस करने लगे। दरभंगा का लक्ष्मीश्वर-विलास राजमहल जिसने देखा है, वह उसके क्षतिग्रस्त होने का समाचार सुनकर अवश्य दुःखी होगा। दरभंगा और लहेरियासराय में रियासत के जितने कोठी-बँगले थे, सब निकम्मे हो गये हैं। सुना कि पटनावाला गंगातटस्थ दरभंगा-महल भी खराब हो गया है। इधर इतनी भयंकर हानि, उधर राज्य की प्रजा भी दुर्दशाग्रस्त, फिर भी महाराज ने अपनी दरियादिली दिखाकर समयोचित कर्त्तव्य का पालन किया है। किन्तु इतने पर भी मैं यह नहीं कह सकता कि दरभंगा में बाहरी सहायता की आवश्यकता नहीं है।

हाँ, वहाँ बहुत-से मध्यवित्त लोग ऐसे देखने में आये, जिनका सब कुछ नष्ट हो गया है, पर वे चन्दे की मदद लेना पसन्द नहीं करते, अलबत्ता सुविधाजनक ऋण ले सकते हैं। आशा की जाती है कि ऐसे स्वाभिमानी लोगों के लिए भी ईश्वर कोई प्रबन्ध करा देगा। कुछ धनीमानी लोग तो कर्ज लेकर भी अपना घाटा पूरा नहीं कर सकते।

लहेरियासराय के अशर्फी महासेठ एक सम्पन्न व्यापारी हैं। उनके कई किता मकान चापड़ हो गये। जिस मकान में उनकी सजीली दूकान थी, उसकी कमर-बराबर ऊँची कुर्सी धँसकर जमीन से मिल गई है। नाथमल मारवाड़ी की आलीशान कोठी भी फटकर झुकी हुई नजर आती है। अब ये लोग कहाँ तक सहायता लेंगे? इनकी जरूरत के माफिक कर्ज कौन देगा? 'पुस्तक-भण्डार' को भी पचास-साठ हजार का धक्का लगा है। वह कहाँ इतना कर्ज लेने जायगा? जो पूँजी बैंक में है, उसे निकालकर इस समय मकान बनवाना खतरे से खाली नहीं है; क्योंकि बरसात सकुशल बीत जाने पर ही वहाँ नये मकान बन सकेंगे। कारण, धरती इतनी अधिक पोली हो गई है कि भयंकर दरारों में बरसात का पानी पैठने पर कुछ-न-कुछ नीचे धँसेगी। इसलिए 'भंडार' तो केवल हिन्दी-संसार की सहायता और सहानुभूति से ही अपनी क्षतिपूर्त्ति कर सकता है।[१]

जिस ईश्वर ने बिहार को उजाड़ा है, वही ईश्वर उसे बसावेगा।

—दैनिक 'आज' (काशी); ८ और ९ फरवरी, १९३४ ई०

'मतवाला' कैसे निकला?[२]

सन् १९२०-२१ ई० में महात्मा गाँधी के अहिंसात्मक असहयोग की आँधी उठी। मैं जंगल के सूखे पत्ते की तरह उड़ चला। पहले 'आरा' नगर (बिहार) के

---

१. इसके आगे की दो-चार पंक्तियाँ अनावश्यक होने से निकाल दी गई हैं। —ले०

२. इस लेख की कुछ आरम्भिक पंक्तियाँ काटकर निकाल दी गई हैं, जो अब अनावश्यक प्रतीत हुईं। उनमें ये पंक्तियाँ प्रमुख थीं—"मेरी आत्मकथा, आरंभ से आज तक, इतनी भयावनी है कि सचमुच यदि मैं ठीक-ठीक लिख दूँ, तो बहुत-से लोग विष खाकर सो रहें, या नहीं तो मेरे ऊपर इतने अधिक मान-हानि के दावे दायर हो जायँ, कि मुझे देश छोड़कर भाग जाना पड़े।"—ले०

टाउन स्कूल में हिन्दी-शिक्षक था। अब वहीं के नये राष्ट्रीय विद्यालय में हिन्दी-शिक्षक हुआ। कुछ महीनों तक छोटी-मोटी लीडरी ही रही। बाद में आरा के दो मारवाड़ी युवकों—नवरंगलाल तुलस्यान और हरद्वारप्रसाद जालान[१]—के उत्साह से 'मारवाड़ी-सुधार'-नामक सचित्र मासिक-पत्र, मेरे ही सम्पादकत्व में निकला। उसको छपवाने के लिए पूज्य पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा (स्वर्गीय) ने कलकत्ता में बालकृष्ण-प्रेस को ठीक किया। प्रथमांक छपवाने के लिए मैं पहले-पहल कलकत्ता गया। इसके बाद धनी मारवाड़ियों से सहायता लेने के लिए हाथरस, दिल्ली, इन्दौर, जयपुर, बम्बई आदि अनेक बड़े नगरों में महीनों घूमता फिरा। किसी तरह दो साल 'मारवाड़ी-सुधार' निकला। इसकी बड़ी लम्बी कहानी है।

'मारवाड़ी-सुधार' का अन्तिम अंक जब छप रहा था, तब मैं कलकत्ता में था। उस समय 'बालकृष्ण प्रेस' शंकर घोष लेन के मकान नं० २३ में था। वहीं मैं रहता था। प्रेस के मालिक महादेव प्रसाद सेठ और मुन्शी नवजादिकलालजी श्रीवास्तव प्रेस में ही रहते थे। ऊपरवाले खंड में रामकृष्ण-मिशन के संन्यासी लोग थे, जिनके साथ पण्डित सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' भी थे। निरालाजी रामकृष्ण-कथामृत का अनुवाद और 'समन्वय' का सम्पादन करते थे। 'समन्वय' के संचालक स्वामी माधवानन्द आचार्य द्विवेदीजी से माँगकर 'निराला' जी को वहाँ ले गये थे। और, मुन्शी नवजादिकलाल श्रीवास्तव उस समय 'भूतनाथ तैल' वाले प्रसिद्ध व्यापारी किशोरीलाल चौधरी की कोठी में मैनेजर थे। इसलिए अधिकतर चौधरीजी का ही काम प्रेस में होता था।

एक दिन मुंशीजी बाजार से बँगला-साप्ताहिक 'अवतार' खरीद लाये। वह हास्यरस का पत्र था। शायद एक ही पैसा दाम था और शायद पहला ही अङ्क भी था; किन्तु उसी पर छपा था—Guaranteed Circulation, 0000000000001। मसाला भी बड़ा मजेदार था। खूब पढ़ा गया। सोचावट होने लगी—इसी ढंग का एक पत्र हिन्दी में निकाला जाय। रोज हर घड़ी चर्चा छिड़ी ही रहती थी। कितने ही हवाई किले बने और कितने ही उड़ गये। बहुत मन्थन के बाद विचारों में स्तम्भन आया। उसी दम बात तय हो गई। बीजारोपण हो गया।

ता० २० अगस्त, १९२३ ई० रविवार को सिर्फ बात पक्की हुई। ता० २१ सोमवार को मुन्शीजी ने ही पत्र का नामकरण किया—'मतवाला'। मुन्शीजी को दिन-रात इसीकी धुन थी। नाम को सबने पसंद दिया। अब कमिटी बैठी। विचार होने लगा—कौन क्या लिखेगा—पत्र में क्या रहेगा, इत्यादि। 'निराला' जी ने कविता और समालोचना का भार लिया। मुन्शीजी ने व्यंग्यविनोद लिखना स्वीकार किया।

---

१ युवावस्था में ही इनका शरीरपात हो गया। मेरे साहित्यिक शिष्य थे। कई उपन्यास और नाटक लिखे थे, जिनमें कई छपे भी थे। हास्यरस के लेख लिखने का बड़ा शौक था। बड़े होनहार और शौकीन थे। साहित्यानुराग देखकर आशा होती थी कि आगे बड़े होनहार और यशस्वी होंगे।—ले०

मैं चुप था। मुझमें आत्मविश्वास नहीं था। बैठा-बैठा सब सुन रहा था। सेठजी भंग का गोला जमाये सटक गुड़गुड़ा रहे थे। मुझसे बार-बार पूछा गया। डरते-डरते मैंने कहा—मैं भी यथाशक्ति चेष्टा करूँगा। सेठजी ने कहा—'आप लीडर (अग्रलेख) लिखिएगा, प्रूफ देखिएगा, जो कुछ घटेगा सो भरिएगा।'

मैं दहल गया! दिल धड़कता था। मेरी अल्पज्ञता थरथराती थी। ईश्वर का भरोसा भी डगमगा रहा था। हड़कम्प समा गया। अथाह मँझधार में पड़ गया।

मुन्शीजी और सेठजी तैयारी में लग गये। स्तम्भों के शीर्षक चुने गये। डिजाईन ब्लाक, कागज, धड़ाधड़ प्रेस में आने लगे। चारु बाबू चित्रकार ने मुखपृष्ठ के लिए 'नटराज' का चित्र बनाया। देखकर सब की तबीयत फड़क उठी। 'निराला' जी ने कविता तैयार कर ली—समालोचना भी लिख डाली। मुन्शीजी भी रोज कुछ लिखते जाते थे। मैं हतबुद्धि-सा हो गया। कुछ सूझता ही न था। श्रावण की पूर्णिमा ता० २६ शनिवार को पड़ती थी। उस दिन 'मतवाला' का निकलना सर्वथा निश्चित था। युवती दुलहिन के बालक पति की तरह मेरा कलेजा धुकधुका रहा था।

ता० २३ बुधवार की रात को मैं लिखने बैठा। कई बार कई तरह से लिखा और फाड़ डाला। बहुत रात बीत गई। नींद भी नहीं आती थी। दिमाग चक्कर काट रहा था। मन, जहाज का पंछी हो रहा था। एकाएक एक शैली सूझ पड़ी। लिखने लगा। भाव टपकने लगे। धारा चली। मन तृप्त हो गया। अग्रलेख पूरा करके सो रहा। सुबह उठते ही सेठजी ने माँगा। तब डरते-ही-डरते दिया; किन्तु ईश्वर ने लाज रख ली, सबने पसन्द किया। शीर्षक था—'आत्मपरिचय'।

कुछ मैटर प्रेस में जा चुका था। उसका प्रूफ भी मैं देख चुका था। अब उत्साह बढ़ने पर मैंने भी कुछ 'बहक' और 'चलती चक्की' लिखी। श्रावणी संवत् १९८०, शनिवार (२३ अगस्त १९२३ ई०) को 'मतवाला' का पहला अङ्क निकल गया। था तो साप्ताहिक, मगर मासिक-पत्र की तरह शुद्ध और स्वच्छ निकला। बाजार में जाते ही, पहले ही दिन धूम मच गई।

वहाँ सब लोग यू० पी०[1] के निवासी थे, केवल मैं ही बिहारी था; इसलिए मेरी भाषा का संशोधन 'निराला' जी कर दिया करते थे। 'मतवाला'-मण्डल में वही भाषा के आचार्य थे; किन्तु मुन्शीजी अपनी लिखी चीज में किसी को कलम नहीं लगाने देते थे। मुन्शीजी पुराने अनुभवी थे, कई अखबारों में रह चुके थे, उर्दू-फारसी के अच्छे जानकार थे, हाथ मँजा हुआ था। सिर्फ मैं ही बुद्धू या अनाड़ी या नौ-सिखुआ था।

'निराला' जी बड़े स्नेह के साथ मेरी लिखी चीजें देखते, संशोधन करते और परामर्श देते थे। उनसे मैंने बहुत-कुछ सीखा है। उनकी योग्यता का मैं कायल हूँ। फिर मुन्शीजी का तो कहना ही क्या! वे तो 'मतवाला'-मण्डल के प्राण ही थे। उनकी 'बहक' का मजा मैं प्रूफ में लेता था। उनकी मुहावरेदार चुलबुली भाषा ने

---

१. अब उत्तरप्रदेश

'मतवाला' का रंग जमा दिया। 'निराला' जी की कविताओं और समालोचनाओं ने भी हिन्दी-संसार में हलचल मचा दी।

वह भी एक अद्भुत युग था। यदि उस युग की कथा विस्तार से कहूँ, तो 'बाढ़े कथा पार नहिं लहऊँ!'

—मासिक 'हंस' (काशी), 'आत्मकथांक', वर्ष २, अङ्क ७-८, जनवरी-फरवरी, १९३२ ई०, पौष-माघ १९८८ वि०

द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के अनेक महत्त्वपूर्ण एवं कीर्त्तिशाली कार्यों में एक यह भी है कि उसने हजारों रुपये व्यय करके एक सर्वाङ्गसुन्दर अभिनन्दनग्रन्थ तैयार कराया और श्रीमन्त ओरछा नरेश-जैसे साहित्यानुरागी भूपेन्द्र के करकमलों से पूज्य आचार्य द्विवेदीजी को अर्पित किया। कलाविद्रत्न श्री रायकृष्णदासजी ने उसकी तैयारी में लगातार डेढ़-दो साल घोर परिश्रम किया। उनके उत्साह और उनकी लगन को मैंने अत्यन्त निकट से देखने का सुअवसर पाया था। उन्हीं के उद्योग से भारत के श्रेष्ठ कलाकारों की सुन्दर-से-सुन्दर कृतियाँ प्राप्त हुईं। उनका खास चित्रकार 'रामप्रसाद' उनके आदेशानुसार महीनों तक ग्रन्थ की सजावट के लिए अलङ्कार-चित्र बनाता रहा। उन अलङ्कार-चित्रों में भारत के अनेक कला-युगों की शैली अभिव्यक्त है। चित्रों और अलङ्करणों के संग्रह में ही रायसाहब का अधिकांश समय बीतता था। कला की दृष्टि से हिन्दी में वह अद्वितीय अभिनन्दन-ग्रन्थ है, यह रायसाहब के श्रम का फल है।

हिन्दी-जगत् की अनुदारता

सभा ने भी उस ग्रन्थ को अनुपम बनाने में मुक्तहस्त हो द्रव्य लगाया। सभा की श्रद्धा थी कि आचार्य द्विवेदीजी तृप्त हों। व्यापारिक लाभ की दृष्टि से सभा ने वह ग्रन्थ नहीं छपाया। हिन्दी-संसार की गुणग्राहकता के प्रताप से सभा को विवश होकर आधे दाम में भी ग्रन्थ बेचना पड़ा। जिस ग्रन्थ के लिए साहित्य और कला की उत्तमोत्तम सामग्री सङ्कलित करने में सभा ने पर्याप्त धन व्यय किया, उसके प्रति हिन्दी-जगत् ने कहाँ तक उदारता दिखाई, यह सभा ही जानती है। सभा ने खास उसी ग्रन्थ के लिए इङ्गलैण्ड से विशेष प्रकार का टिकाऊ कागज मँगाया जिसमें कीड़े न लग सकें। आचार्य द्विवेदीजी से सम्बन्ध रखनेवाली सभी वस्तुओं का सङ्कलन और प्रकाशन सभा की श्रद्धा से ही हो सका। और, सभा की इस श्रद्धा के मूल में थे उसके तात्कालिक प्रधान मंत्री रायसाहब तथा उसके निस्पृह प्राणपोषक पण्डित रामनारायणमिश्रजी।

श्रद्धेय आचार्य श्यामसुन्दरदासजी ने ग्रन्थ के साहित्यिक रूप के सँवारने में उतना ही मनोयोग दिया जितना उसके कलात्मक रूप के सिंगारने में रायसाहब ने।

श्यामसुन्दरदासजी के ही प्रभाव से प्रयाग के इण्डियन प्रेस ने ग्रन्थ की छपाई में बड़ा तत्परता दिखाई। मैं महीनों प्रेस की अतिथिशाला में पड़ा रहा। प्रायः प्रति सप्ताह काशी जाकर बाबू साहब को यह दिखलाना पड़ता था कि काम कहाँ तक आगे बढ़ा। राय-साहब ने बीच-बीच में दो-तीन प्रगति-पत्रिका भी बड़ी सुन्दरता से प्रकाशित की, जिनमें कार्य की प्रगति का विवरण रहा करता। बाबू साहब के आदेश से ग्रन्थ में छपी रचनाओं की पाण्डुलिपि, चित्रावली आदि सारी सामग्री सभा के संग्रहालय में सुरक्षित रखने की व्यवस्था हुई। जैसी श्रद्धा के साथ सभा ने वह ग्रन्थ तैयार कराया और अर्पित किया वैसी श्रद्धा के साथ हिन्दी-संसार ने उसे नहीं अपनाया, यह एक चिन्त्य विषय है। तब भी, सभा ने द्विवेदीजी के समान लोकमान्य-महारथी का यथोचित सम्मान करके हिन्दी-जगत् के समक्ष श्रद्धा-प्रदर्शन का एक ऊँचा आदर्श रखा।

सहयोग की आवश्यकता

उस ग्रन्थ की कहानी तो बहुत लम्बी है; पर उसे सुनाने का यहाँ स्थान नहीं। कहना यहाँ इतना ही है कि काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा साहित्यिक दृष्टि से बड़े-बड़े महत्त्व के काम उठाती है; पर जैसा चाहिए, वैसा हिन्दी-संसार का सहयोग उसे प्राप्त नहीं होता। इतने पर भी वह व्यापारिक अथवा आर्थिक लाभ की आशा छोड़कर साहित्य की समृद्धि-वृद्धि का प्रयत्न बराबर किये जा रही है। ऐसी संस्था की सहायता में सभी हिन्दी-प्रेमियों को यथाशक्ति संलग्न होना चाहिए। यदि समस्त देश के हिन्दी-प्रेमी मात्र सभा की महत्ता समझकर केवल एक बार संगठित रूप से उसकी सहायता में प्रवृत्त एवं दत्तचित्त हो जायँ तो बूँद-बूँद से तालाब भर सकता है। इधर उसकी अपील जितने लाख की निकली है उतने लाख सच्चे हिन्दी-प्रेमी तो केवल एक ही प्रान्त में निकल आयेंगे। पर हम हिन्दी-प्रेमियों में अपनी भाषा और अपने साहित्य के लिए वह धुन नहीं है जो अन्य पड़ोसी भाइयों में है। हमें तो इस अवसर पर चाहिए कि चारों ओर से एक-एक रुपये की वर्षा करके भी सभा का कोष भरपूर कर दें। उसकी इस स्वर्ण-जयन्ती के समय प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी को सभा के चरणों पर श्रद्धापूर्वक 'पत्रं-पुष्पं' चढ़ाना चाहिए। हम लोगों को तो साहित्य-संसार में ऐसा नियम बना लेना चाहिए कि पुत्र-जन्म में, उपनयन और विवाह में, वृद्ध-श्राद्ध और लाभ-वृद्धि में, 'सभा' और 'सम्मेलन' को श्रद्धानुकूल दान दिया करेंगे। इस तरह के सङ्कल्प से हिन्दी का बहुत बड़ा उपकार होगा और हमारे मस्तक को गर्वोन्नत करनेवाली सर्वश्रेष्ठ संस्था (सभा) हिन्दी की अनेक आवश्यकताओं की पूर्त्ति करने में समर्थ हो सकेगी।

—साप्ताहिक 'आज' (काशी), सन् १९४३ ई०

'सभा' का सफल महोत्सव

जिस साल[1] आषाढ़ में काशी-नागरी-प्रचारणी सभा का शुभजन्म हुआ था उसी साल के सावन में मेरा भी, अतएव सभा के महोत्सव में सम्मिलित होने और उसका आजीवन सदस्य बनने का विचार कई महीने पहले से मन में उठ रहा था। काशीश्वर भगवान् विश्वनाथ की दया से दोनों कामनाएँ पूरी हुईं।

सभा का अर्द्धशताब्दी (स्वर्णजयन्ती) महोत्सव देखकर हिन्दी और नागरी के उज्ज्वल भविष्य की आशा बद्धमूल हुई। सोचा, दस वर्ष बाद, सभा की हीरकजयन्ती के समय, हमारी भाषा और हमारे साहित्य की समृद्धि का इससे भी अधिक भव्य तथा आकर्षक रूप दृष्टिगोचर होगा। इस मधुर कल्पना से क्षण-क्षण पुलकित होता रहा। अब इधर सुनने में आया है कि सभा ने कोई दशवर्षीय योजना बनाई है। अभी वह देखने में नहीं आई, पर उसकी सफलता निस्सन्देह निश्चित है। हिन्दी के पत्रकारों को विशेष रूप से उसकी ओर ध्यान देना चाहिए।

जो लोग उत्सव में सानुराग सम्मिलित थे और जो लोग समाचारपत्रों में उत्सव का विवरण सोल्लास पढ़ चुके हैं तथा जो लोग अपनी भाषा एवं अपने साहित्य की समुन्नति चाहनेवाले हैं, उनका यह कर्त्तव्य है कि सभा की हीरक-जयन्ती के समय तक उसे अपनी सेवा और सहायता से उत्साहित करते रहें। कम-से-कम एक लाख हिन्दीप्रेमी उसके साधारण सदस्य, कम-से-कम एक हजार भी उसके आजीवन सदस्य, कम-से-कम एक लाख उसकी मासिक पत्रिका 'हिन्दी'[2] के स्थायी ग्राहक और कम-से-कम दस हजार उसकी ग्रन्थमालाओं के भी स्थायी ग्राहक हो जायँ, तब कहीं हम राष्ट्रभाषा हिन्दी के सच्चे भक्त कहे जा सकते हैं। जिस भाषा के बोलनेवालों और समझनेवालों तथा हितैषियों की संख्या करोड़ों है, उस भाषा की उन्नति करने में लगी हुई सर्वश्रेष्ठ संस्था की यदि इतनी भी सेवा हमसे न बन पड़ी, तो हमारा संख्या-बल और हमारा स्वाभिमान सचमुच पोला है—प्रदर्शनमात्र है।

सभा की अपील पहले छः लाख की निकली थी। उत्सव में उसकी आवश्यकताएँ भी बतायी गईं। सभी आवश्यकताएँ ऐसी महत्त्वपूर्ण हैं कि उनकी यथार्थ पूर्ति होने से हमारे साहित्य की सम्पन्नता बहुत बढ़ जायगी। यदि हम उनकी महत्ता समझ लें तो छः की जगह दस लाख भी हमारे लिए विशेष अधिक नहीं है। समस्त हिन्दी-संसार में निश्चित समय पर सभा-सप्ताह मना कर केवल एक-एक रुपये के सहर्ष दान से हम कोष भर सकते हैं। सोलह आने के समर्थ दानी हिन्दी-संसार में लाखों हैं; पर उनमें यदि दस लाख ही सच्चे निकल आवें तो सभा निश्चिन्तता के साथ साहित्य-समाराधन में एकाग्रचित्त हो सकती है। इस ढंग का कोई-न-कोई आयोजन होना चाहिए। पता नहीं कि सभा की दशवर्षीय योजना में कौन-कौन-से कार्यक्रम हैं, पर मेरी राय में इस तरह का भी

---

१. सन् १८९३ ईसवी, बिक्रमाब्द १९५०। २. यह पत्रिका 'सभा' से प्रकाशित हुई थी।

कोई कार्यक्रम रहना चाहिए और इसके लिए सभी प्रमुख पत्रों को एक फंड कायम करके अपने ग्राहकों तथा पाठकों से लगातार अनुरोध करना चाहिए कि वे सभा के लिए अपने-अपने स्थान में धन-संग्रह का उद्योग करें और विवाहादि विशेष अवसरों पर उसके निमित्त दान दें—दिला दें।

सभा के उत्सव में दूर-दूर से आये हुए अतिथियों के आतिथ्य का प्रबन्ध बड़ा सन्तोषजनक था। सभा की ओर से आतिथेय थे श्रीबैजनाथजी केडिया, जो अपनी सुप्रसिद्ध प्रकाशन-संस्था 'हिन्दी-पुस्तक-ऐजेन्सी' के द्वारा हिन्दी-साहित्य की स्तुत्य सेवा अनेक वर्षों से करते आ रहे हैं। उन्होंने जैसी तत्परता और नम्रता से सब अतिथियों का सत्कार किया, वैसी लगन और विनय बहुत ही कम देखने में आती है। दोनों जून ठीक समय पर उत्तम पवित्र भोजन मिलने से सभी अतिथि अत्यन्त तृप्त हुए और सब लोग एक स्वर से उनकी सुव्यवस्था की प्रशंसा कर रहे थे। हाँ, अतिथिशाला (दयानन्द-वैदिक कालेज) से सभा में आते-जाते, असामयिक वर्षा के कारण, जो पंकिल पथ मिलता था, वह रुचिकर भोजन को और भी सुस्वादु बना देता था। कानपुर के कविवर हितैषीजी को कभी 'बेनी' कवि की पाँती (मीच है कबूल पै न कीच लखनऊ की) याद आती थी, कभी वे जूतों को रबड़ी-बसौंधी चटाने लगते थे।

अतिथिशाला से जब अतिथियों का दल सभा की ओर चलता था, तब स्वामी केशवानन्दजी के तत्त्वावधान में पंजाबी प्रतिनिधिओं का जत्था विशेष रूप से दर्शनीय प्रतीत होता था। बालकों और युवकों का केसरिया साफा एक कतार में जिधर निकल जाता, उधर ही उस वसन्ती छटा पर टकटकी बँध जाती। और, कहीं के एक विचक्षण जज साहब भी आ पहुँचे थे। जान पड़ता था कि यहीं 'बना-रस' है, और 'सब बिगड़ा रस'। वर्षा के कारण दूसरे दिन प्रातःकाल जो उत्सव हरिश्चन्द्र कालेज के भवन में हुआ उसमें उन्होंने खूब रंग बरसाया। खेद है कि श्रद्धेय आचार्य केशवप्रसाद मिश्रजी उनके अलौकिक भाषण के भीषण प्रभाव से वंचित रह गये। भीषण इस अर्थ में कि शब्दों की विचित्र व्युत्पत्ति और उनके अर्थों के विलक्षण विश्लेषण सुनकर उन्होंने श्रोताओं को चकित कर दिया। बाहर से तो बेचारे पानी की बौछार झेलते ही आये थे, भीतर भी जज साहब ने उन्हें पानी-पानी कर दिया। उनके रंग से शराबोर हो श्रोता लदफदा गये; फिर भी डटे रहे; क्योंकि 'गँवार+नर' और 'कमान+डर' ने आतंक स्थापित कर दिया था।

इस अधिवेशन में सिनेमा और रेडियो की भाषा के सम्बन्ध में प्रोफेसर गुरुप्रसाद-जी टंडन, एम० ए० और कविवर हितैषीजी के भाषण अच्छे हुए; पर कोई निर्णय न हो सका—यद्यपि पूज्य पं० रामनरायणजीमिश्र ने कुछ अधिकारी विशेषज्ञों की एक समिति संगठित करने का सुझाव पेश किया था। किन्तु मेरी राय में कोई प्रभावशालिनी समिति भी कुछ न कर सकेगी। बस, एक ही दवा है कि हम दोनों ही से किनारा कर जायँ। ऐसा उत्कट हिन्दीप्रेम हममें है?

अस्तु, उसी दिन वर्षा के ही कारण, अपराह्न का उत्सव टाउन-हाल में हुआ, जिसमें पूज्य मालवीयजी के अपूर्व दर्शन हुए। उस दिव्य दर्शन का आनन्द अवर्णनीय है।

जरा-जर्जर शरीर का मन्द-मन्द कम्पन देख शरीर रोमांचित और नेत्र सजल हो उठे। उनकी अमृतमयी वाणी बरसों बाद कर्णपुट में पड़ी थी, अन्तस्तल शीतल हो गया। फिर कला-भवन का संग्रहालय देखकर स्वनामधन्य कलाविद् रायकृष्णदासजी की सुरुचि और निष्ठा का बखान करते लोग नहीं अघाते थे। एक सज्जन कह रहे थे—'इस कला-मन्दिर के पुजारी रायसाहब ने साहित्य की वास्तविक आत्मा को पहचान लिया है, इसलिए इस सरस्वती-सदन (सभा) में साहित्य की प्रतिमा की प्राण-प्रतिष्ठा करनेवाले रायसाहब ही वास्तव में इसके जीवनदाता कहलाने योग्य हैं।'

रात में जो नाटक हुआ, अभाग्यवश मैं उसे न देख सका। फाटक तक पहुँचकर भी 'राजद्वारे...' रटता हुआ रिक्शारूढ़ हो भाग निकला। प्रतिनिधियों से सुना कि अभिनय बहुत ही सफल हुआ—श्री केशवरामटंडनजी का 'चाणक्य' का अभिनय अत्यन्त प्रभावशाली रहा।

तीसरे दिन का उत्सव सभा के प्रशस्त प्राङ्गण के पंडाल में हुआ। विद्वद्वर प्रोफेसर अमरनाथ झा की अध्यक्षता में वयोवृद्ध साहित्यसेवियों का अभिनन्दन बड़ा हृदयग्राही दृश्य था। सभा के तीनों संस्थापकों का समादर हिन्दी-प्रेमी युवक-वृन्द के एक नवीन प्रेरणा-शक्ति से अनुप्राणित करनेवाले था। इधर आचार्य श्यामसुन्दरदासजी का कम्पित कलेवर करुणा उत्पन्न कर रहा था, उधर पूज्य पंडित रामनारायणमिश्रजी के बुढ़ापे में जवानी का जोश उमड़ा देख ईर्ष्या हो रही थी। पंडितजी के समान अनुभवी एवं स्फूर्तिशाली नौजवान बूढ़ा किसी भी संस्था को उन्नति के शिखर पर पहुँचा सकता है।

रात में, कवि-दरबार से पहले, 'अयोध्या' पर जो 'लैंटर्न-लेक्चर' हुआ, खासा विनोद-व्यंजक था। उससे कितनी ही अनोखी बातों की जानकारी हासिल हुई। वक्ता[१] की खोज में रामभक्ति का ओज था। फिर कवि-दरबार के चोज का क्या कहना!

जिस समय महाकवि केशवदास शृङ्गारासव के उन्माद में आकर कवयित्रियों के दल के पास ही भहरा पड़े, उस समय कलेजा दहल गया। किन्तु मीरा ने प्राणों में पुलक भर दी। सूर, तुलसी और रसखान ने भक्ति का उद्रेक किया। देव, पद्माकर और भारतेन्दु ने अपने बाने की लाली रख ली। घनानन्दजी तो 'सुजान' के वियोग से ऐसे कातर हो रहे थे कि उनकी विरह-विह्वल वाणी से उपस्थित कवयित्रियों और विदुषियों में भी कानाफूसी होने लगी। 'सुजान-प्रिया' के विरही 'घनानन्द' ने सचमुच अपनी मर्मव्यथा को बड़े करुण स्वर में व्यक्त किया। रत्नाकरजी की तो आत्मा ही स्वर्ग से उतर आई थी। वही धुन, वही फबन, वही अकड़, वही ओज, वही हुंकार, वही झपटास। प्रसादजी तो अपने पड़ोसी ही की प्रतिभा में प्रकट हुए—श्री 'बेढब' जी उनके अन्तरंग मित्रों में थे, इसलिए उनकी ध्वनि ठीक उतार सके। वही मन्द-मन्द गजेन्द्र-गति उनके स्वर में थी।

---

१. स्वर्गीय लाला सीताराम अवधवासी के ज्येष्ठ सुपुत्र।

सब मिलाकर कवि-दरबार के अधिकांश स्वांगों में बड़ी स्वाभाविकता रही। फिर प्रतिनिधि कवियों के कविता-पाठ में रायबहादुर पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी ने जमालगोटे की गोलियों से सबका अन्तरङ्ग निखार-पखार कर उर्वर कर दिया। श्री बच्चनजी की मधुर स्वर-लहरी में लोग झूमने लग गये। पंडित श्यामनारायण पाण्डेय के 'जौहर' ने तो कमाल का जौहर दिखाया। उनकी ओजस्विनी कविता के चरणों में मृगेन्द्रता थी। श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान ने 'वीरों का कैसा हो वसन्त' में बस अन्त कर दिया। उनकी वाणी में बड़ी तेजस्विता थी। उनके कंठस्वर में पौरुष और पराक्रम की प्रगल्भता थी। अपनी 'झाँसी की रानी, के आवेग में वे अन्तर्भूत जान पड़ती थीं।

कवि-सम्मेलन से उठकर मैं सीधे स्टेशन भागा, दूसरे ही दिन कालेज में पहुँचना था; इसलिए रात का 'कालिदास' नाटक भी न देख सका। पर उत्सव में जो कुछ देखा, उससे बहुलांश में सन्तोष ही हुआ। उत्सव के आरम्भ में, प्रथम ही दिन, प्रमुख सभापति स्वामी भवानीदयालजी संन्यासी का भाषण बड़े मार्के का रहा। स्वामीजी सचमुच संन्यासी के स्वर में बोले। उस समय स्वामी आत्माराम[1] संन्यासी की याद आ गई। अस्वस्थ होने पर भी आद्यन्त भाषण एक स्वर से पढ़ सुनाया। बीच-बीच में 'सात्विक जीवन'-सम्पादक श्री गुप्तनाथ सिंहजी[2] उष्ण जल द्वारा उनमें संजीवनी शक्ति का संचार करते जाते थे।

स्वामीजी के सुन्दर गौर मुखमण्डल पर दाढ़ी की झाँकी अपूर्व थी। कितनी ही परिचित आँखों को वह अपरिचित-सी प्रतीत होती थी, इसलिए उसमें एक प्रकार की विचित्रता दीख पड़ी।

स्वामीजी के भाषण में भी वृहत्तर भारत के अन्दर हिन्दी की व्यापकता का सन्देश सुन पड़ा। स्वदेशी भारतवासियों में हिन्दी-प्रचार की कई योजनाएँ यत्र-तत्र न्यूनाधिक मात्रा में कार्यान्वित हो रही हैं; किन्तु प्रवासी भारतवासी धीरे-धीरे हिन्दी भाषा और नागरी-लिपि भूलते जा रहे हैं। आर्यसमाज के कुछ मिशनरियों ने इस दिशा में जो प्रयत्न किये हैं, वे ही पर्याप्त नहीं हैं। संगठित रूप से निरन्तर प्रयत्न करते रहने की आवश्यकता है। 'सभा' और 'सम्मेलन' ही यह काम कर सकते हैं। किन्तु वे तबतक संगठित प्रयत्न नहीं कर सकते जबतक हिन्दी-संसार इस कार्य की गुरुता और उपयोगिता नहीं समझेगा। जिस दिन प्रवासी भारतवासियों के प्रत्येक केन्द्र में 'सभा' और 'सम्मेलन' की शाखाएँ खुल जायँगी, उसी दिन हिन्दी-पुस्तकों और हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं की खपत दसगुनी बढ़ जा सकती है। इसके सिवा और भी अनेक लाभ होंगे।

सभा के उत्सव का साहित्यिक गौरव बढ़ानेवाले कुछ ग्रन्थ भी उस अवसर पर दिखाई पड़े। पहले ही दिन, जब आचार्य शुक्लजी के वासस्थान पर साहित्यिक-समारोह

१. बीसवीं सदी के आरम्भ में स्वामी आत्माराम संन्यासी के भाषणों की बड़ी धूम थी। अत्यन्त वृद्ध होने पर भी वे उद्भट ओजस्वी, निर्भीक और स्पष्टवादी वक्ता थे।—ले०

२. भभुआ-सबदिवीजल (शाहाबाद) के निवासी हैं। बिहार-विधान-सभा के सदस्य भी थे। —ले०

हुआ, प्रोफेसर विश्वनाथप्रसादजी मिश्र ने आचार्य केशवप्रसादजी मिश्र के करकमलों में शुक्लजी की लिखी 'सूरदास'-नामक नई पुस्तक लाकर अर्पित की, जो उसी दिन प्रकाशित हुई थी। उपयुक्त अवसर की वह भेंट साहित्यिक दृष्टि से बड़े महत्त्व की सिद्ध हुई। आचार्य शुक्लजी के देहान्त के तीन साल बाद यह पुस्तक प्रोफेसर विश्वनाथप्रसाद मिश्र की देखरेख में प्रकाशित हुई और ठीक उसी अवसर पर आचार्य केशवप्रसाद मिश्र की सेवा में सबसे पहली प्रति भेंट की गई, जब वे शुक्लजी के सच्चे साहित्यिक उत्तराधिकारी के रूप में उन्हीं की स्मृतिरक्षा के लिए, 'सभा' की ओर से शिलारोपण-संस्कार सम्पन्न करने जा रहे थे।

फिर दूसरी पुस्तक थी 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' जिसमें उसके सुयोग्य लेखक श्री शिवनाथजी एम० ए० ने प्रशंसनीय सहृदयता के साथ शुक्लजी के आदर्श जीवन और विराट् साहित्यिक महत्त्व पर अभिनव प्रकाश डाला है। सभा के महोत्सव के शुभ अवसर पर ऐसी सर्वाङ्गसुन्दर पुस्तक का प्रकाशन सर्वथा उपयुक्त कार्य हुआ और इस श्रद्धापूर्ण प्रयत्न से शुक्लजी की वह साहित्यरसमग्न आत्मा अवश्य ही तृप्त हुई होगी, जो उस अवसर पर सभा के महत्त्वप्रदर्शन में हर तरफ मँड़राती जान पड़ती थी।

और, तीसरी पुस्तक भी ऐसी ही थी—'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन', जिसमें उसके विद्वान् लेखक डाक्टर जगन्नाथप्रसाद शर्मा एम० ए० ने 'प्रसाद' जी के नाटकीय कौशल का अत्यन्त विशद विवेचन किया है। यह गवेषणापूर्ण ग्रन्थ भी सभा के महोत्सव की शोभावृद्धि में सहायक सिद्ध हुआ।

एक चौथी पुस्तक भी उस अवसर की स्मृति को चिरन्तन करनेवाली दीख पड़ी। वह थी प्रोफेसर विश्वनाथप्रसादजी मिश्र एम० ए० द्वारा सम्पादित 'घनानन्द कवित्त' जिसमें काव्य-मर्मज्ञ मिश्रजी ने 'घनानन्द' के सरस पदों पर विस्तृत टिप्पणियाँ दी हैं। महोत्सव-दर्शक प्रतिनिधियों को इस पुस्तक के दर्शन से सचमुच घना आनन्द प्राप्त हुआ।

इन चारों ग्रन्थों को प्रकाशित करके काशी के सुप्रसिद्ध प्रकाशक श्री नन्दकिशोर ऐंड ब्रदर्स ने उत्सव के साहित्यिक वायुमण्डल को सौरभपूर्ण कर दिया, जिसके लिए वे हार्दिक बधाई के पात्र हैं।

अन्त में सभा के 'अर्द्धशताब्दी-इतिहास' का उल्लेख भी अत्यावश्यक है, जिसमें सभा का प्रामाणिक इतिवृत्त बड़े रोचक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। यह पुस्तक हिन्दी के पिछले पचास बरसों के विकासक्रम का मार्मिक दिग्दर्शन करानेवाली है। और, इसके साथ ही 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' का विशेषांक भी महोत्सव-यात्रियों के लिए बड़ा आनन्दवर्द्धक सिद्ध हुआ।

हाँ, 'सरस्वती' के विशेषांक का अभाव बहुतों को खलता रहा; क्योंकि सभा ही उसकी जननी है। कुछ लोग यह भी कहते सुने गये कि 'सम्मेलनपत्रिका' का भी एक विशेषांक इस अवसर पर निकलना चाहिए था, जिसमें 'सम्मेलन' का ही आद्योपान्त

इतिहास होता; क्योंकि 'सम्मेलन' की जननी भी सभा ही है, और इस नाते वह 'सम्मेलन' की श्रद्धाञ्जलि की अधिकारिणी भी है।

जो हो, जब काशी के दैनिक पत्रों के सिवा देश के अन्य हिन्दी-दैनिकों और साप्ताहिकों में महोत्सव का पूरा विवरण भी देखने को न मिला, तब उस अवसर पर कुछ पत्रों के 'सभा-अंक' प्रकाशित देखने की आशा दुराशा मात्र है। हिन्दी-संसार में अभी वैसी उमंग नहीं दीख पड़ती। ऐसे महत्त्वशाली उत्सव में प्रमुख पत्रों के प्रतिनिधियों अथवा संवाददाताओं का दल उपस्थित रहना चाहिए था।

अन्त में एक बात। महोत्सव के अवसर पर सभा की ओर से एक 'लेखक-कोष' भी प्रकाशित होनेवाला था, जिसमें जीवित साहित्यसेवियों का संक्षिप्त परिचय प्रकाशित करने की योजना थी। किन्तु उसके सम्पादक पं० लल्लीप्रसादजी पांडेय से पता लगा कि वह पुस्तक अभीतक अधूरी ही पड़ी है; क्योंकि हिन्दी-प्रेमियों ने सभा की इस योजना के साथ यथोचित सहानुभूति नहीं दिखाई। मैंने बिहारप्रान्त की सामग्री संकलित करके पहले ही भेज दी थी और इस आशा में था कि उत्सव के समय पुस्तक प्रकाशित दीख पड़ेगी; किन्तु यह सुनकर बड़ा आश्चर्य और खेद हुआ कि अन्य प्रान्तों के हिन्दी-प्रेमियों का सहयोग तो अलग रहे, काशी-प्रयाग के हिन्दी-प्रेमियों ने भी इस योजना का महत्त्व नहीं समझा। इस योजना की सफलता के लिए हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं को विशेष यत्नशील होना चाहिए था। किन्तु हिन्दी-संसार में शायद ऐसे कामों का कोई महत्त्व नहीं, यह चिन्ता का विषय है।

—मासिक 'सात्त्विक जीवन' (काशी); सन् १९४३ ई०

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

ईश्वर का नाम जगन्नाटक-सूत्रधर है। उसने अपने मनोरंजन के लिए यह संसार-रूपी नाट्यशाला बनाई है। रूपक में कहा जाता है कि पृथ्वी रंगमंच है; आसमान पर्दा है; सूरज-चाँद रोशनी हैं; जंगल, पहाड़, नदी, समुद्र, घटा, बिजली, इन्द्रधनुष आदि पर्दे के विचित्र चित्र हैं और प्राणि-मात्र अभिनेता हैं।

यदि ऐसी बात है तो विश्व-रंगमंच पर आज से पचास वर्ष पूर्व एक अपूर्व अभिनेता अवतीर्ण हुआ था—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र। वैसा अभिनेता पिछली शताब्दियों के इतिहास में भी बिरला ही कोई मिलता है। यह कोई अतिशयोक्ति नहीं, आप स्वयं परख कर देखिए।

साहित्य के नवरसों के अभिनय में भारतेन्दु की स्वाभाविकता की समीक्षा कीजिए, आप स्पष्ट देखेंगे कि शृंगार, हास्य, करुण, वीर, अद्भुत, शान्त आदि रसों के अभिनय में वे कितने सफल प्रतीत होते हैं। उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा वस्तुतः विस्मयकारिणी है। जिस रंग में आप उन्हें देखेंगे उसी रंग में शराबोर पायेंगे। कविता, नाटक, इतिहास,

आख्यायिका, व्यंग्य-विनोद, जीवनचरित, धर्मग्रन्थ, जो कुछ लिखना चाहा, आश्चर्यजनक सफलता के साथ लिखा। इतना ही नहीं, उनको आप विश्व-रंगमंच पर अनेक रूपों में देखेंगे—कवि, नाट्यकार, साहित्य-निर्माता, अभिनेता, समाज-सुधारक, देशभक्त, व्याख्याता, दानी, धर्मनिष्ठ, भक्ति-परायण, विलासी, विनोदी, लोक-सेवक, शिक्षा-प्रचारक, पत्र-सम्पादक, देशपर्यटक, संगीत-मर्मज्ञ, चित्रकलानुरागी, सभा-चतुर, अन्वेषक, समालोचक, स्वाध्यायशील, पुरातत्त्वप्रेमी, मित्रवल्लभ,—चाहे जिस रूप में, चाहे जिस कला में—'जे तो निहारिए नेरे ह्वै नैननि तेतो खरी निकरै सी निकाई।'

भारतेन्दुजी का रूप जितना सुन्दर था, उनका हृदय उससे कहीं अधिक आकर्षक था। विश्व-रंगमंच पर उनका प्रत्येक स्वांग अभिनव-छटा दिखाता है। उनमें असीम गुण थे। वे सर्वगुण-सम्पन्न थे। उनका यश दिगन्तव्यापी हुआ। इसीलिए उस समय के सभी प्रसिद्ध पुरुषों की मैत्री उन्हें सुलभ हुई। स्वनामधन्य ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, वंग-साहित्य-सम्राट् वंकिमचन्द्र, विद्वद्वर राजा राजेन्द्रलाल मित्र, श्री कृष्टोदास पाल, श्री केशवचन्द्र सेन आदि वंगीय महापुरुष उनके मित्रवर्ग में थे। उदयपुर, छतरपुर, किशनगढ़, काशी, ओरछा, रीवाँ, दरभंगा, डुमराँव, सूर्यपुरा और मझौली के राजा-महाराजा उनके गुण-ग्राहक और चाहक थे। राजा-प्रजा दोनों में उनका समान आदर था। राजभक्ति और देशभक्ति का अभूतपूर्व संगम उन्हीं में दीख पड़ता है। विलक्षण व्यक्तित्व था।

लगभग सोलह-अठारह वर्ष की अवस्था से उन्होंने साहित्यसेवा का श्रीगणेश किया। यों तो बचपन ही से कविता करने लग गये थे; पर युवक होने पर जो लेखनी उठाई तो साहित्य में युगान्तर उपस्थित करके ही छोड़ा। सन् १८८५ ई० में, केवल पैंतीस वर्ष की उम्र में, गोलोकवासी हुए। किन्तु सत्रह-अठारह वर्ष के अन्दर ही जो कुछ कर गये वह बड़े-बड़े दीर्घजीवी भी न कर पाये।

उनकी ग्रंथावली छः बड़े-बड़े खण्डों में विभक्त है। उसमें छोटे-बड़े लगभग पौने दो सौ ग्रंथ हैं। पत्र-पत्रिकाओं, कवि-समाजों और सभा-सोसाइटियों के लिए लिखी गई स्फुट रचनाओं की कोई गणना नहीं। हिसाब लगाकर देखा जाय तो जान पड़ेगा कि सत्रह-अठारह वर्ष का समय अहर्निश लिखते ही बीता। हजारों पेज लिखा भी और संसार के अन्यान्य सुखों का उपयोग भी किया। सम्भवतः प्रत्येक क्षण आनन्द में ही बिताया।

साहित्य-निर्माण से छुट्टी मिली, तो चित्र-संग्रह में लग गये। उससे अवकाश मिला, तो संगीत-सरिता में बह चले। कभी नाटक खेल रहे हैं, कभी ताश-शतरंज-चौपड़। कहीं सभा में व्याख्यान दे रहे हैं, कहीं कवि-समाज में समस्या-पूर्त्तियाँ सुना रहे हैं। मित्रों में बैठ गये तो हँसी के फव्वारे छूटने लगे। बालकों में मिल गये, तो पूरे कुँवर-कन्हैया बन रहे। ठीक अपने प्यारे इष्टदेव श्रीकृष्ण की भाँति हर रंग में चोखे!

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में ऐसा अनूठा पुरुष कहीं कठिनता से मिलेगा। गद्य और पद्य पर समान अधिकार। ब्रजभाषा और खड़ी बोली पर भी वैसा ही प्रभुत्व।

बात-बात में विनोद और पग-पग पर परिहास। धुन सवार हो गई तो एक ही दिन में 'अन्धेर नगरी' प्रहसन लिख डाला। कलम उठाते ही हिन्दी-गद्य का परिष्कार होने लगा। नवीन परिमार्जित शैली के प्रवर्त्तक बनते देर ही न लगी। कविता की तो धारा ही पलट दी। हिन्दीवालों को रागरंग छोड़कर देश-दशा पर ध्यान देने का मार्ग सुझाया। साहित्य का कायाकल्प कर डाला।

नाट्यकार ऐसे सच्चे कि अन्तिम समय में जब दासी समाचार पूछने आई तो कहा कि 'हमारे जीवन के नाटक का प्रोग्राम नित्य नया छप रहा है ? जिसके पहले दिन ज्वर की, दूसरे दिन शूल की और तीसरे दिन खाँसी की सीन तो हो चुकी; अब देखें, लास्ट नाईट कब होती है !'

साहित्यिक मित्र भी उनके समतूल ही मिले थे। कहते हैं कि भारतेन्दु-सखा 'प्रेमघनजी' भी नाटक खेलने के बड़े शौकीन थे। पहले-पहल 'सत्य हरिश्चन्द्र' का अभिनय होने लगा तो स्वयं भारतेन्दु ही सत्यप्रतिज्ञ हरिश्चन्द्र की भूमिका धारण करने को उद्यत हुए; पर शर्त यह लगा दी कि मेरे योग्य 'शैव्या' मिलेगी तो पार्ट करूँगा। इसपर प्रेमघनजी तैयार हो गये। भारतेन्दुजी ने कहा—'तुम्हारे तो पिता जीवित हैं, मूँछों का सफाया कैसे होगा? प्रेमघनजी छूटते ही बोल उठे–हिन्दी के लिए गर्दन तक कटा सकता हूँ, मूँछ निगोड़ी क्या चीज है! इसी प्रकार पण्डित प्रतापनारायणमिश्र भी खासकर नाटक में स्त्री-पात्र बनने के लिए ही सदा केशपाश रखते थे। ये बातें भारतेन्दुजी की जीवनी के लेखक स्वर्गीय बाबू शिवनन्दनसहायजी कहा करते थे।

भारतेन्दुजी बहुभाषाभिज्ञ भी थे। एक बार युवावस्था में आरा नगर की एक बरात में काशी से आये थे। उस समय लोगों के आग्रह से उन्होंने छब्बीस पंक्तियों में तेरह भाषाओं की लिपियाँ लिखी थीं। उनकी वह अमूल्य हस्तलिपि आरा की नागरी-प्रचारिणी सभा को स्वर्गीय बाबू रामकृष्ण दास अग्रवाल[१] ने दी थी। मैं सभा का सहायक मंत्री था और उस हस्तलिपि को शीशे में मढ़ाकर अखिल-भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के पटनावाले दशम अधिवेशन की प्रदर्शनी में ले गया था। प्रदर्शनी के प्रबन्धक थे बाबू जगतनारायण लाल, एम्० ए०, एल्-एल्० बी, (वर्त्तमान प्रधान मंत्री,हिन्दू महासभा)। उनको उस हस्तलिपि के खो जाने का बड़ा दुख हुआ। पता नहीं, उसे प्रदर्शनी से किसने गायब कर दिया। आज वह चीज होती तो भारतेन्दु-अर्द्ध-शताब्दी के अवसर पर उसकी शोभा निराली ही दीख पड़ती। उसी के साथ एक हस्तलिखित ग्रंथ भी खो गया था जो उक्त सभा से हीं प्रदर्शनी में आया था। वह परमानन्द कवि-कृत बिहारी सतसई की संस्कृत-टीका थी। उसी टीका पर भारतेन्दुजी ने परमानन्द कवि को पाँच सौ रुपया पुरस्कार दिया था। इन दोनों अमूल्य वस्तुओं की स्मृति आज खल रही है।

१ आप आरा-निवासी सच्चे हिन्दी-प्रेमी थे। आप ने आरा की ना० प्र० सभा को अपना एक भवन दान-स्वरूप दे दिया था, जो अभी तक सभा के अधिकार में है।—ले०

भारतेन्दुजी के समान चिरस्मरणीय महापुरुष का जितना भी गुणगान किया जाय, थोड़ा होगा। बड़े आनन्द का विषय है कि हिन्दी-संसार उनकी पचासवीं स्मृति-तिथि मना रहा है। यह पूरा साल उनकी याद में बीतना चाहिए। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा में माघ, कृष्ण ६ (२५ जनवरी) को भारतेन्दु का निधन = अर्द्धशताब्दी धूमधाम से मनाई जायगी। उस अवसर पर भारतेन्दु-ग्रंथावली भी सभा द्वारा प्रकाशित होगी।

भारतेन्दु जी के दौहित्र और हिन्दी के ख्यातनामा विद्वान् लेखक बाबू व्रजरत्नदासजी, बी० ए०, एल्० एल्०, बी० ने भारतेन्दुजी की नई प्रामाणिक जीवनी लिखी है। जो उक्त अवसर पर प्रयाग की हिन्दुस्तानी एकाडमी द्वारा प्रकाशित[1] होगी। उक्त बाबूसाहब ने ही भारतेन्दु-ग्रंथावली का भी सम्पादन-भार ग्रहण किया है। जो हिन्दी-प्रेमी समर्थ और संपन्न हैं, उन्हें सम्पूर्ण भारतेन्दु- ग्रंथावली[2] खरीदकर सभा की सहायता द्वारा भारतेन्दुजी को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करनी चाहिए। देश-भर से भारतेन्दु-अर्द्धशताब्दी-महोत्सव मनाने के शुभ-संवाद सुनाई दे रहे हैं। यह हिन्दी की वृद्धि के शुभ लक्षण हैं।

सन् १९५० ई० में भारतेन्दुजी की जयन्ती-शताब्दी पड़ेगी और सन् १९८५ ई० में निधन-शताब्दी। इस अर्द्धशताब्दी पर हिन्दी-साहित्य-संसार को कुछ ऐसा काम कर दिखाना चाहिए कि भावी जयन्ती-शताब्दी और निधन-शताब्दी के अवसरों पर उसका सगर्व उल्लेख हो सके। कहीं ऐसा न हो कि अगली पीढ़ी को ग्लानि की हँसी हँसने का अवसर मिले। आज हम सब हिन्दी-भाषा-भाषी इस वीर-पूजा के अवसर पर अपने एक महान् साहित्य-महारथी का सादर स्मरण कर रहे हैं और जबतक हिन्दी-भाषा तथा नागरी-अक्षर का अस्तित्व रहेगा, तबतक यह पुण्य-स्मृति भावी पीढ़ियों को गौरवान्वित करती रहेगी।

—मासिक 'विश्वमित्र' (कलकत्ता); वर्ष ३, माघ, संवत् १९९१ वि०

भारतेन्दुजी के सहपाठी 'कमलेश' जी

गया-जिले के जहानाबाद-सब-डिवीजन में, 'अरवल' थाने के अन्तर्गत, 'बेलखरा' एक गाँव है। विक्रम-संवत् १९०१ में, चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को, उसी गाँव में 'कमलेश'जी का शुभ जन्म हुआ था।

आपका मुख्य नाम पंडित बालगोविन्द मिश्र था। ज्योतिष-गणना के अनुसार 'कमलेश' नाम पड़ा था। पहले आप 'कमलापति' नाम से रचना करते थे। आपके पितामह पंडित बखुरीराम मिश्र, पिता पंडित रामबक्स मिश्र और बड़े चाचा पंडित शिवबक्स मिश्र नक्षत्र-विद्या और गणित-ज्योतिष के उद्भट विद्वान् थे। वे लोग रात में तारों को बेधकर पंचांग-निर्माण करते थे, जिसे देहात के ब्राह्मण लिखकर ले जाते थे। उन

१. यह जीवनी प्रकाशित हो चुकी है।—ले०
२. अब काशी की ना० प्र० सभा से ग्रन्थावली के कई खण्ड निकल चुके हैं।—ले०

लोगों के बनाये हुए पंचांग आज तक उनके वर्त्तमान वंशधरों के पास हैं। वे पंचांग हस्तलिखित हैं। स्याही की अच्छाई के कारण वे कुछ ही दिनों के लिखे जान पड़ते हैं। उन्हें देखकर इन विद्वानों की श्रमशीलता और लगन का परिचय मिल सकता है।

कमलेशजी शाकद्वीपीय ब्राह्मण थे। आपका कुल विद्वत्ता और सदाचार के लिए प्रसिद्ध है। आपके पितामह, 'निर्णयसिन्धु'-प्रणेता श्रीकमलाकर भट्ट के शिष्य थे। आपके बड़े चाचा ने काशी के स्वनामधन्य विद्वान् श्रीरामनिरंजनस्वामी से शिक्षा पाई थी। ये (श्रीशिवबक्स मिश्र) टिकारी-राज्य (जिला गया) के प्रधान राजपंडित थे—वेद, धर्मशास्त्र और ज्योतिष के पारंगत विद्वान् थे—हिन्दी, संस्कृत और फारसी में इनकी रची हुई कविताएँ प्राप्त हुई हैं—वेद, शास्त्र, पुराण, स्मृति आदि की पन्द्रह हजार पोथियाँ इन्होंने लिख-लिखाकर एकत्रित की थीं—अपने समय के ये बड़े धुरन्धर पंडित थे।

कमलेशजी के पितामह ने एक अँगरेज को संस्कृत पढ़ाया था। उसने इनकी जीविका का उत्तम प्रबन्ध गया-जिले के 'टेहटा' गाँव में कर दिया था, जहाँ आजकल रेलवे-स्टेशन है। ये उसी गाँव में रहा करते थे। अन्त में अपने घर आकर अपने गाँव की संस्कृत-पाठशाला चलाने लगे। घर की खेती और पाठशाला का अधिकतर काम कमलेशजी के पिता के जिम्मे था।

आपके पितामह और पिता, दोनों, मुनिवृत्ति-धारी थे। संस्कृत-विद्या का अध्ययन-अध्यापन और यथालाभ-संतोष के साथ जीवन-यापन—यही उनका सुख-साधन था। आदर्श सद्गृहस्थ बनकर संस्कृत-विद्या के मनन में लीन रहना ही उनका एकमात्र व्रत था।

कमलेशजी संस्कृत, पाली, हिन्दी, अरबी, फारसी, बँगला, मराठी, गुजराती आदि कई प्रमुख भाषाओं के पंडित थे। आरम्भ में आपने अपने पिता (श्रीरामबक्स मिश्र) से विद्या पढ़ी थी। लगातार ग्यारह वर्षों तक उनसे आप वेद, व्याकरण, ज्योतिष और काव्य-साहित्य पढ़ते रहे। फिर काशी जाकर वहाँ के प्रसिद्ध पंडित श्रीसखाराम भट्ट से व्याकरण और धर्मशास्त्र पढ़ा। इसके बाद सुविख्यात विद्वान् श्रीगंगाधर शास्त्री के पिता श्रीनृसिंहदत्त शास्त्री से साहित्य पढ़ा। इन्हीं दिनों आप भारतेन्दुजी के सहाध्यायी रहे।

भारतेन्दुजी के लिखे हुए पच्चीस पत्र आपके वंशधरों के पास आज भी हैं। उनमें भारतेन्दुजी के रचे हुए कुछ संस्कृत के गीत भी मिले हैं। उन्हें देखने से पता लगता है कि भारतेन्दुजी संस्कृत के गेय पद भी बनाते थे। आपके वंशधर अब उन पत्रों की मूल प्रतियाँ किसीको देना नहीं चाहते। उनकी प्रतिलिपियाँ प्राप्त हो सकती हैं।

हाँ, कमलेशजी ने अपने जीवन के बाईसवें वर्ष में पढ़ाई छोड़ी। उसके बाद आप काशिराज के यहाँ, रामनगर-दरबार में, पाँच वर्षों तक रहे। उसके बाद लगभग तीन वर्षों तक विजयानगरम् के महाराज के संस्कृत-विद्यालय (काशी) में साहित्य के अध्यापक थे। वि० संवत् १९३१ से १९५० तक तीर्थाटन और देशी रजवाड़ों की राजधानियों में भ्रमण करते रहे। वि० संवत् १९५१ से १९५४ तक मिथिलेश

(दरभंगा) के दरबार में थे। श्रीमान् महाराज लक्ष्मीश्वर सिंह आपकी कविता से बड़े प्रभावित हुए थे।

कविताएँ आपकी संस्कृत और हिन्दी में हैं। गजल, विहाग, दादरा, कजली आदि गीतों को संस्कृत में बड़े ललित ढंग से रचा है। विद्वद्वर पंडित अमरनाथझा (वाइस चांसलर, प्रयाग-विश्वविद्यालय) ने इन्हें पढ़कर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की है। उनकी राय में "रचना बहुत सुन्दर है, सरस है, मधुर है। फारसी के छंदों में संस्कृत के पद्य मैंने कभी और नहीं देखे हैं। प्रचलित देशीय रागों का प्रयोग भी नया है।"

आपके वंशवरों ने निश्चय किया है कि युद्ध-युग के बाद आपकी कृतियाँ प्रकाशित करा दी जायँ। अपने रचे हुए संस्कृत-गीतों की पुस्तक का नाम आपने 'कमलेश-विलास' रक्खा था। आपकी हिन्दी-रचनाएँ (कवित्त आदि) पुराने हिन्दी-कवियों की रचना के समान सुहावनी हैं। जब कभी वे प्रकाशित होंगी, काव्यानुरागियों का विशेष मनोरंजन होगा।

दरभंगा-दरबार से लौटने के बाद कमलेशजी अपने जिले में ही रहने लगे। कुछ दिनों तक टिकारी के राज-हाईस्कूल में हिन्दी के अध्यापक थे। उस समय भी विद्या-व्यसन छूटा नहीं था। बंगाल की संस्कृत-परीक्षा में उत्तीर्ण होकर आपने 'काव्य-निधि' की उपाधि प्राप्त की। इसके बाद ही आपके जीवन में कई दुःखद घटनाएँ हुईं।

विक्रम-संवत् १९५९ में आपके प्रथम पुत्र श्रीप्रभाकर मिश्र का देहान्त हो गया। उनकी अवस्था अभी बीस ही वर्ष की थी। वे काशी के व्याकरणाचार्य के पाँच खंड, न्याय के चार खंड और बंगाल की साहित्योपाधि-परीक्षा पास कर चुके थे। काशी के क्वींस-कालेज से उन्होंने प्रवेशिका परीक्षा भी पास की थी। उनकी मृत्यु के एक पखवारे बाद ही उनके छोटे भाई श्रीरामदूतमिश्र, आपके कनिष्ठ पुत्र, इस संसार से उठ गये। इन दो होनहार पुत्रों के वियोग से आपका साहित्यिक हृदय बहुत व्यथित हो उठा।

अब आपके दो पुत्र और रह गये—श्रीनित्यानंदमिश्र और श्रीरघुनाथ मिश्र, काव्य-व्याकरण-पुराणतीर्थ। बीच के इन दो पुत्रों में बड़े से आपका कुछ मतभेद हो गया, जिससे विरक्त होकर आप पड़ोस ही के 'बासटाँड' गाँव में जा बसे। आपके सबसे छोटे पुत्र आपके साथ वहीं चले गये। किन्तु, वे भी संवत् १९७५ वि० में विरक्त होकर न जाने कहाँ-किधर निकल गये। उनकी विरक्ति का कारण भी विचित्र ही है। अपनी परम प्यारी पुस्तकों के वियोग से दुखी हो, वे वैरागी हो गये। विरक्ति से पूर्व वे देवकुंड (च्यवनाश्रम, गया), चित्रकूट और मुड़वारा (मध्यप्रदेश) की संस्कृत-पाठशालाओं तथा कटनी (मध्यप्रदेश) के हाईस्कूल में हेडपंडित थे। वहाँ एक महाशय ने उनके अठारह सौ रुपये मूल्य के संस्कृत-ग्रंथों को, छुट्टी में जाली चिट्ठी बनाकर, हथिया लिया। बस, इसी बात से मर्माहत होकर वे चुपचाप कहीं गुम हो गये।

उसी वर्ष, संवत् १९७५ वि० में ही, पूज्य महामना मालवीयजी ने, कमलेशजी की कविता से प्रसन्न होकर, उन्हें श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण की एक पोथी पुरस्कार-स्वरूप दी थी।

आपके पुत्र श्रीनित्यानन्दमिश्र अभी जीवित हैं। आपके पौत्र (तृतीय सुपुत्र श्रीरघुनाथमिश्र के पुत्र) श्रीमोहनशरणमिश्र[१], विशारद, साहित्य-व्याकरणाचार्य, अरबल (गया) के हाई-स्कूल में हेड-पंडित हैं। इन्हीं की कृपा से इस (सचित्र) लेख की सारी सामग्री प्राप्त हुई है, जिसके लिए मैं इनका बहुत कृतज्ञ हूँ।

कमलेशजी के साहित्यिक मित्रों की संख्या तो अगणित है; पर मुख्य मित्रों में भारतेन्दुजी सर्वप्रधान हैं; क्योंकि वे तो आपके सहपाठी ही थे, जिसके प्रमाणस्वरूप उनकी पचीस चिठ्ठियाँ विद्यमान हैं, उनके सिवा डॉक्टर ग्रियर्सन, महाराजकुमार बाबू रामदीन सिंह, पंडित विजयानन्द त्रिपाठी, प्रोफेसर अक्षयवट मिश्र, बाबू शिवनन्दन सहाय, पंडित केशवराम भट्ट आदि साहित्यसेवी भी आपके स्नेही मित्र थे।

ग्रियर्सन साहब संवत् १९४४ (सन् १८८७ ई०) में गया-जिले के कलक्टर थे। पाँच साल वहाँ रहे। उसी समय आपसे उनका परिचय हुआ। वे दो साल के लिए गया से बदलकर हवड़ा चले गये और फिर संवत् १९५३ (सन् १८९६ ई०) में बिहार के अफीम-विभाग के अफसर होकर लौटे। इस पद पर दो वर्ष रहे। इस समय तक उनका भाषा-संबंधी शोध चल रहा था। पाली-भाषा पर जो कुछ उन्होंने लिखा, उसमें कमलेशजी ने उन्हें काफी सहायता दी थी; क्योंकि आप पाली भाषा के पूर्ण मर्मज्ञ थे।

आपकी संस्कृत-हिन्दी-रचनाएँ 'विहार-बन्धु', 'पाटलिपुत्र', 'साहित्यसरोवर', 'प्रियंवदा' आदि पत्र-पत्रिकाओं में छप चुकी हैं। 'बालगोविन्द' और 'गोविन्द', दोनों नामों से आप अपनी रचनाएँ छपवाते थे। 'साहित्यसरोवर' और 'प्रियंवदा' का तो सम्पादन भी किया था। इस सम्पादन-कार्य के व्याज से आप केवल अपनी साहित्यिक अभिरुचि की पूर्त्ति करते रहे। उन दिनों आप गया-नगर के दौनापुर मुहल्ले में अधिकतर रहते थे।

आज से आठ वर्ष पूर्व, संवत् १९९२ में, अगहन सुदी एकादशी को, आपका शरीरांत हुआ। 'हरदी-छपरा' में श्मशान घाट पर आपके शव का फोटो खींचा गया। खेद है कि प्रकाशनार्थ वह प्राप्त न हो सका। संवत् १९९३ में अखिल-भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का महाधिवेशन नागपुर में हुआ था, जिसके सभापति थे देशपूज्य डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद। उसी अवसर पर आपके लिए शोकपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था।

आप ९२ वर्ष की आयु भोगकर परलोकगामी हुए। यह केवल आपके संयमी जीवन की महिमा थी। आप भारतेन्दुजी से छ-सात साल बड़े थे; क्योंकि उनका जन्म

१. श्रीमोहनशरणजी ने 'कमलेशविलासः' नामक एक पुस्तक प्रकाशित की है। वह विक्रमाब्द २०११ (सन् १९५५ ई०) में छपी थी। लगभग ८० पृष्ठों की उस पुस्तक में 'कमलेश'जी का चित्र, जीवन-चरित, संस्कृत और हिन्दी-काव्य, भारतेन्दु जी की हस्तलिखित एक चिठ्ठी का चित्र आदि प्रकाशित हैं। प्रकाशक हैं—श्रीचन्द्रकान्त मिश्र, कमलेशकुटीर, बासा० ढाँढ़ (गया)।—ले०

संवत् १९०७ में हुआ था; फिर भी सहपाठी के नाते दोनों में बड़ा गाढ़ा स्नेह था। भारतेन्दुजी के पत्र, छपने पर, इसका प्रमाण देंगे।

—मासिक 'किशोर' (पटना); वर्ष ६, अंक १०, जनवरी, १९४४ ई०

पण्डित किशोरीलाल गोस्वामी

गोस्वामीजी बड़े भारी धक्काड़ लिक्खाड़ थे। इतना अधिक लिखा—इतने अधिक परिमाण में लिखा कि रचना की बहुलता में अपने समय के बहुत-से लेखकों से बाजी मार ले गये। पैंसठ तो केवल उपन्यास ही लिख डाले! फुटकर लेखों और कविताओं की गिनती कई सौ तक है। अनेक विषयों की छोटी-बड़ी पुस्तकें भी सौ से अधिक ही लिखीं। इतना सब तो उनके प्रकाशित साहित्य का ब्योरा है, अप्रकाशित भी बहुत-कुछ था। 'बिहारी-सतसई' की तरह सात सौ दोहों की 'किशोरी सतसई' उन्होंने काशी में दिखाई थी, जहाँ दूसरी बार उनके दर्शन एवं सत्संग का सुअवसर मिला—सन् १९२६ में; प्रथम दर्शन तो 'मतवाला-मण्डल' (कलकत्ता) में हुआ था—सन् १९२३ ई० में, जिस साल 'मतवाला' निकला था, और गोस्वामीजी संभवतः अपने किसी शिष्य के यहाँ (कलकत्ता) पधारे थे, सो अचानक पहुँच गये सम्पादक को बधाई देने—"भाई! क्या खूब निकला 'मतवाला'! वाह! शाबास! जीते रहो, दूध-बताशा पीते रहो।" यही बनारसी बानी कहकर सम्पादक सेठजी की पीठ ठोकी और मुन्शी नवजादिकलालजी की भी। मैं अलग बैठा प्रूफ पढ़ रहा था, सेठजी ने परिचय दे दिया—मेरी पीठ का भी भाग्य जग गया! 'निराला' जी से मिलने के लिए उन्होंने बहुत उत्सुकता प्रकट की, पर संयोगवश वह कहीं बाहर निकल गये थे; और उन्हें उसी दिन काशी लौट जाना था।

'मतवाला' को शाबासी देने बड़े-बड़े साहित्यसेवी पहुँचते थे—श्रीपुरुषोत्तमदासजी टंडन, पंडित पद्मसिंहजी शर्मा, विद्यार्थी गणेशशंकरजी इत्यादि, और सबका यथोचित आदर-सत्कार भी किया जाता था; किन्तु गोस्वामीजी तो 'निम्बार्क-कुल के आचार्य गोसाईंजी' थे—कहीं पान-पत्ता तक नहीं छूते थे, कैसे स्वागत-सत्कार की श्रद्धा पूरी की जाती? उन्होंने स्वयं ही अपने गिलौरीदान से निकालकर हम तीनों को दो-दो बीड़े पान दिये—साथ ही इत्र और इलायची भी। ये चीजें उन्हें बहुत प्यारी थीं।

काशी में देखा था कि तकिया में भी इत्र लगाते थे, जहाँ खिड़की के सामने छोटे गद्दे पर बैठते थे वहाँ की दीवार और खिड़की के किवाड़ तक में इत्र—लिहाफ की तो बात न पूछिए, मशहरी में भी इत्र! आखिरी बुढ़ापे में यह हाल था, जवानी में राम जाने कैसे सौरभ-विलासी रहे होंगे।

सच तो यह है कि वे कभी बूढ़े हुए ही नहीं। शरीर पर बुढ़ापे के लक्षण व्यक्त हो गये थे; पर मन में नौजवानों-जैसी उमङ्ग भरी थी—भरी ही नहीं थी, उबलती-

उफनाती रहती थी। देह जितनी ही फुर्तीली, वाणी उतनी ही रसीली। आवाज पक्की और बुलन्द, ठहाका सचमुच गगनभेदी। न बातें करने से थकते, न हँसने से। किसी हिन्दीप्रेमी कामकाजू आदमी को भी, मिल जाने पर, जल्दी छोड़ते न थे। उनसे पिण्ड छुड़ा लेना आसान काम न था। यद्यपि उनकी बातें बड़े मजे की और बड़े पते की होती थीं—किसी-न-किसी प्रकार का साहित्यिक अथवा बनारसी चमत्कार उनमें अवश्य होता था, तथापि उनके समान सबके पास फालतू समय नहीं था। सच कहा जाय तो फालतू समय उनके पास भी नहीं था, मगर किसी साहित्यानुरागी अथवा साहित्यसेवी के मिल जाने पर कमल-कोष का मधुप बन जाते थे।

काशी में, नन्दन साहू की गली में, उनका अपना खास मकान था—छोटा-सा, सुन्दर, सजीला, आरामदेह—एक शिष्य का दिया हुआ। ऊपरवाले कमरे की खिड़की पर सुमिरनी लिये बैठे रहते थे। मजाल नहीं कि कोई साहित्यिक व्यक्ति उनकी आँखें बचाकर निकल जाय! 'राम झरोखे बैठकर सबका मुजरा लेय'—गली से गुजरनेवाले हरएक व्यक्ति पर उनकी पैनी निगाह पड़ती थी और किसी परिचित साहित्यिक को कन्नी दबाकर निकलते देख दूर ही से ललकारते थे—"का हो! ऐसे भौं बचा के सरके जात हौ?" फिर तो इस तरह उलझ जाते कि लाख जरूरी काम से कोई जाता हो, एकाध घंटा ठिठका ही लेते।

मेरे मित्र—संस्कृत मासिक 'सुप्रभातम्' के सम्पादक पंडित केदारनाथ शर्मा सारस्वत—का मकान उनके पड़ोस में (भिखारीदास की गली में) है, जिसमें नागरी-नाटक-मंडली के प्रसिद्ध अभिनेता पंडित मंगलीप्रसाद अवस्थी (अब स्वर्गीय!) भी रहते थे, और बगल के मकान में रहते हैं सेण्ट्रल-हिन्दू-स्कूल के अध्यापक साहित्य रसिक श्रीसाँवलजी नागर। मैं प्रायः इन लोगों के पास जाया करता और जब कभी हमलोग एक साथ उनकी ओर होकर निकलते, दूर ही से बनारसी बोली में आवाज देते—"क्यों राजा! इस तरह आँख चुराकर बुढ़वा को झाँसा दोगे?"

उनके आवाज कसने के कई निराले ढंग और लटके थे! उनकी छेड़खानियों में विशुद्ध स्नेहपरायणता और सहृदयता होती थी। पुकारकर झट नीचे उतर आते और दरवाजा खोलकर ऊपर के बैठकखाने में ले जाते—अपने हाथों पान बनाकर खिलाते, कभी-कभी अपने ही हाथों इत्र भी लगा देते, फिर साहित्यिक पँवारा शुरू हो जाता! भारतेन्दुजी के दरबार की बातें सुनाते, जहाँ वह दस-बारह वर्ष के बालक के रूप में अपने नाना के साथ जाया करते थे; 'सरस्वती' पत्रिका के जन्म की कहानी सुनाते, जिसके आदि-सम्पादकों में वे भी एक थे; कभी मौज आ जाती तो अपना बस्ता खोलकर पोथा निकालते, जिसमें से अपनी सतसई के दोहों की चाशनी चखाते—समस्यापूर्त्तियाँ सुनाते—कवित्त-सवैयों को रसानुकूल स्वर में पढ़कर चित्र खड़ा कर देते। नई-नई चीजें भी तैयार करते रहते थे। जब जैसी तरंग आ गई, तुरन्त लिखकर रख छोड़ा। कभी संस्कृत के श्लोकों में, कभी ब्रजभाषा के विविध छन्दों में, कभी खड़ीबोली के

पद्यों में, कभी-कभी ललित गद्य में भी, अपने सरस उद्‌गारों और हृदयोच्छ्‌वासों को संचित करके रखते जाते।

हमलोग नीचे उतरकर आपस की बातचीत में कहते—"यह बूढ़ा न जाने केशवदास का अवतार है या पंडितराज जगन्नाथ का ! रसिकता इसकी नस-नस में समाई हुई है—बोटी-बोटी इसकी फड़कती रहती है।"

मैं तो उनकी जिन्दादिली और उमङ्ग-तरङ्ग देखकर हैरान रहता। हर घड़ी बुढ़ापा के पीछे लट्ठ लिये पड़े रहते। हम जवान भी उनके हौसले देख दंग रह जाते। उनके स्फूर्त्तिशाली अङ्गों की भावभंगिमा भी देखते ही बनती थी। बोलते समय के अङ्गसंचालन से भी थकते न थे। हमलोग उन्हें जरा-सा छेड़ देते, बस वे सजीव ग्रामोफोन बन जाते। न जाने ईश्वर ने उन्हें लगातार बोलते रहने और लिखते जाने की कितनी शक्ति दी थी। फागुन और सावन में तो साहित्यिक होली और कजली भी गाकर सुनाने लगते थे—"यह भारतेन्दु की बनाई हुई है, अब एक 'प्रेमघन' की भी सुन लो, अरे अम्बिकादत्त व्यास और प्रतापनारायण मिश्र की भी एकाध सुनते जाओ।"

इस तरह, ऐसा लासा लगाकर कम्पा भिड़ाते कि लाख पंख फड़फड़ाने पर भी सहसा बच निकलना कठिन हो जाता। कभी-कभी हमलोग समयाभाव-वश उनके शिकंजे से बचने के लिए उधर का रास्ता ही छोड़ देते। पर जब कभी दो-चार घंटे का निश्चिन्त अवकाश मिलता, हमलोग मन्सूबा बाँधकर उनसे मिलने जाते। मगर गली के नुक्कड़ पर पहुँचते ही जानबूझकर छिप निकलने का नाट्य करते; क्योंकि उनका आवाज कसना सुनने का यही तरीका था।

प्रायः अपराह्ण में ही वह अपनी खिड़की पर बैठते थे—सन्ध्यावन्दन के पहले तक; पूर्वाह्ण में कभी-कभी एकाध घंटे के लिए मेले-तमाशे की मौज लेने बैठ जाते थे। इसलिए प्रायः पूर्वाह्ण में उधर का रास्ता खतरे से खाली रहता; क्योंकि उस समय अगर देख भी लेते तो ऊपर से ही दो-चार बातें करके छुट्टी दे देते। कारण, प्रातःकाल से मध्याह्नकाल तक स्नान-ध्यान और खान-पान का क्रम चलता रहता। श्रीमद्भागवत और भगवद्‌गीता का पाठ रोज करते थे। स्वयंपाकी थे, रेशमी कपड़ा पहनकर एक ही जून चौका चेतते और रात में सिर्फ दूध लेते। निम्बार्क-सम्प्रदाय में भोजन की स्वच्छता और विविधता का क्या कहना ! स्वयं चावल अमनिया करते, साग-भाजी सुधारते और मगही पान को बड़े प्रेम से पोसते थे। उनसे नाना प्रकार के भोज्य पदार्थों की नामावली सुनने में बड़ा आनन्द आता था।। षटरस भोजन के उतने प्रकार निम्बार्क संम्प्रदाय में भी कम लोग जानते होंगे, और जानते भी हों तो असंख्य नाम याद रखना सबका काम नहीं।

गोस्वामीजी तो मीठा-नमकीन के अनगिनत भेद बतलाने लगते थे। उनके गोपाललालजी को अन्नकूट के दिन क्या-क्या भोग लगता है, यह गिनाने लगते थे तो जान पड़ता था कि भोजन-विषयक कोई 'अमरकोष' घोख गये हैं। इतना ही नहीं, गोपाललालजी कितने प्रकार के खिलौने खेलते हैं, कितने प्रकार के फूलों की माला

पहनते हैं, अपनी गायों और उनके बछड़ों को कैसे-कैसे सुघर-सलोने नामों से पुकारते हैं—इत्यादि बातें भी पूरे विवरण के साथ कह जाते थे। उस वृद्धावस्था में उनकी स्मृतिशक्ति देखकर आश्चर्य होता था। उन्हें वस्तुओं के नाम गिनाते देख 'जायसी' की याद आ जाती थी। मिठाइयों, गहनों, खिलौनों और फूलों के नामों की असंख्यता तो आश्चर्यजनक थी ही, एक बार किसी नवाब साहब के साथ मुलाकात की चर्चा करते हुए घोड़ों की किस्में लक्षण-सहित गिनाने लगे तो दंग रह जाना पड़ा !

मैंने देखा कि उनके पास 'हिन्दीशब्दसागर' का एक छपा हुआ फार्म था, जिसपर आदि से अन्त तक बहुत ही घनी लिखावट में अनेक प्रकार के संशोधन और परिवर्द्धन अंकित थे—मुद्रित शब्दों के अर्थों में भी वृद्धि की गई थी और बहुत-से नये शब्द भी अर्थसहित जोड़े गये थे। वे शायद मंगलाप्रसाद पारितोषिक अथवा देवपुरस्कार के निर्णायक भी थे—ठीक याद नहीं, किसके। मगर देखा कि बहुत-से ग्रंथों में जगह-जगह निशान लगाकर रखे हुए थे, जिन्हें देखते ही सहसा ध्यान में आ जाता था कि इन स्थलों में अमुक अशुद्धि अथवा भ्रान्ति है। आज मुझे बहुत ग्लानि हो रही है कि उस समय अज्ञतावश मैंने कुछ नोट नहीं लिये, अन्यथा आज वे कितने अनमोल एवं उपयोगी होते ! उनके लिखाये हुए कछ श्लोक और शेर मेरे पास हैं; पर वे भी सम्प्रति यहाँ प्रस्तुत नहीं हैं, 'पुस्तकस्था विद्या' का क्या भरोसा ! इस समय बस एक ही श्लोक याद है—

"राधे त्वमधिकधन्या हरिरपि धन्यो भवतारकोऽपि
मज्जति मदनसमुद्रे तव कुचकलशावलम्बनं कुरुते"

मुझ पर उनकी अकारण कृपा थी। एक दफा जब छत से गिरने के कारण बनारस में ही मेरा दाहिना पैर टूट गया था, तब मुझे देखने के लिए शहर से दूर बरुना नदी के पास, तेलियाबाग की एक फुलबाड़ी में, पहुँच गये थे—यद्यपि कहीं भी आते-जाते न थे, यहाँ तक कि साल-भर में शायद ही कभी अपने घर से बाहर निकलते हों। फिर जब बनारस में रहते हुए ही मेरी तीसरी शादी हुई, खास तौर से बुलाकर दाम्पत्यजीवन-सम्बन्धी अनेक सरस एवं हितकर उपदेश दिये, जो मेरे वैवाहिक जीवन में सचमुच बड़े आनन्ददायक और फलप्रद सिद्ध हुए।

वे ज्योतिष के भी अच्छे ज्ञाता थे। मेरे प्रथम पुत्र के जन्म के समय मेरी पत्नी की अवस्था अत्यन्त संकटापन्न हो गई तो मैं दौड़ा हुआ उन्हीं के पास गया; क्योंकि एक मास पूर्व से ही उनके बतलाये हुए उपचार लाभ पहुँचा रहे थे। मुझे उदास देखकर भी बहुत प्रसन्न हुए और फूल की थाली में एक यंत्र लिखकर दिया कि तुरत ले जाकर उसे दिखा दो। ज्योंही मैं थाली लेकर नीचे गली में उतरा, पुकारकर कहा—यह बधाई लेते जाओ, और गुलाब का एक फूल मेरे हाथ की थाली में गिरा दिया। झटपट घर पहुँचकर मैंने वैसा ही किया जैसा उन्होंने कहा था। रामवाण-सा असर हुआ; दस-पन्द्रह मिनट से ज्यादा देर न लगी। मैं फिर उनकी सेवा में पहुँचा। देखते ही ठठाकर हँसे। एक लड्डू मेरे हाथ पर रखते हुए बोले—इसे प्रसूती को खिला देना और यह यंत्र

सूतिकागृह के द्वार पर लटका देना। इसके बाद एक दिन बच्चे को आशीर्वाद देने भी आये और जन्म का मुहूर्त्त आदि पूछकर तत्काल ही भविष्य-कथन किया, जो अभीतक तो सच ही साबित हुआ है।

मेरे जिले (शाहाबाद) के सदर शहर 'आरा' में वे अनेक वर्षों तक रह चुके थे। जेलखाने के तालाब के पास नारायणदासजी अग्रवाल के गोपालमन्दिर में वे पुजारी थे। उनसे पहले उनके पिता भी उसी पद पर थे। संयोग की बात, उसी मन्दिर के उत्तराधिकारी बालक का शिक्षक बनकर मुझे भी डेढ़-दो साल उस मन्दिर में ही रहना पड़ा था—सम्भवत: १९०९—१० में, जब मैं हाइस्कूल का छात्र था। उसी समय सुना था कि इसी मन्दिर में रहकर गोस्वामीजी ने संस्कृत पढ़ी थी और साहित्यसेवा भी शुरू की थी। उनके एममात्र पुत्र पण्डित छबीलेलालजी गोस्वामी का जन्म यहीं हुआ था। आरा में उन्होंने, सन् १८८१ ई० में, आर्य-पुस्तकालय की स्थापना की थी, जो इस देश में हिन्दी का सबसे पहला सार्वजनिक पुस्तकालय था; क्योंकि बाबू गदाधरसिंहजी का आर्यभाषा-पुस्तकालय १८८४ ई० में स्थापित हुआ था, पर उसका रूप सार्वजनिक नहीं था—एक प्रकार से वह घरेलू पुस्तकालय था, जो १८९३ ई० में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के स्थापित होने पर १८९६ में उसमें मिलकर ही सार्वजनिक हो सका। इस प्रकार, गोस्वामीजी का स्थापित किया हुआ आर्य-पुस्तकालय ही हिन्दी का सर्वप्रथम सार्वजनिक पुस्तकालय जान पड़ता है। यदि और ठौर नहीं तो कम-से-कम बिहार में वह पहला ही सार्वजनिक हिन्दी-पुस्तकालय था।

जो हो, बिहार में बहुत दिनों तक रहने के कारण—विशेषत: भोजपुरी-क्षेत्र के केन्द्र में—वे भोजपुरी बोली से खूब परिचित थे, कभी-कभी मेरे साथ उसी बोली में धड़ल्ले से बातें करने लग जाते थे, और कभी-कभी विनोद-वश चिढ़ाने के लिए भी बोल जाते थे। भोजपुर की ठगी, कुँवरसिंह, जगदीशपुर की गुप्त कथा, रोहतासगढ़ की रानी, बिहार-रहस्य आदि उनके उपन्यासों के पढ़ने से इस बात की झलक मिल जाती है कि यहाँ के सामाजिक जीवन का उन्होंने कितनी गहराई से अध्ययन और निरीक्षण किया था।

आधुनिक समालोचकों की दृष्टि में उनकी रचनाओं का साहित्यिक मूल्य नहीं—ऐतिहासिक मूल्य है, और समीक्षकों के विचारानुसार ही उनमें मौलिक प्रतिभा भी नहीं थी; किन्तु जो लोग पुराने जमाने की चीजों को भी नई कसौटी पर कसते हैं, उन्हें अपने सामने के युग से इतना अधिक प्रभावित न होना चाहिए कि पुरानी चीजें किसी भी दृष्टि से जँचे ही नहीं!

गोस्वामीजी की रचनाओं के विषय में एक बार पण्डित छबीलेलालजी गोस्वामी ने काशी में कहा था कि प्रयाग के एक समर्थ प्रकाशक ग्रन्थावली के रूप में प्रकाशित करनेवाले हैं; किन्तु हिन्दी-संसार के प्रकाशक और पुस्तकप्रेमी पाठक अभीतक ग्रन्थावलियों का महत्त्व नहीं समझ सके हैं। आजकल तो सभी चीजें केवल कला की कसौटी पर ही परखी जाती हैं, इसलिए गोस्वामीजी की विराट् ग्रन्थावली के प्रकाशित

होने की कोई आशा नजर नहीं आती—यद्यपि उनकी कृतियों में भाषा और साहित्य से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत-सी बातें खोज करने लायक हैं।

पूज्य हरिऔधजी की तरह उन्होंने भी गद्य में दो तरह की शैलियाँ अपनाई हैं। उनकी शैली में उनकी असीम रसिकता और उनकी चहकती हुई प्रकृति बोल रही है। बुढ़ापे को उनका रसीलापन खदेड़े फिरता था। पके बाल सँवारे, रोली का टीका दिये, जब खिड़की पर छैला बने बैठते थे तब साक्षात् रसराज-से जान पड़ते थे। नाटा कद, गोरा बदन, मन्द मुसकान, इठलाती चाल और छूटते ही मजाक करने की प्रवृत्ति देखकर कुछ लोग उन्हें ठीक समझ नहीं पाते थे। अपनी रचनाओं में भले ही वे बहुत बड़े रसिया दीख पड़ते हों, पर उनकी विद्वत्ता हरएक मिलनेवाले व्यक्ति पर धाक जमानेवाली थी। जिन्हें उनके सत्सङ्ग का कभी सौभाग्य प्राप्त हुआ होगा, वे ही उनके प्रकर्ष पाण्डित्य का अनुमान कर सकते हैं।

अपनी गंभीर मुद्रा से किसी पर अपने व्यक्तित्व की छाप छोड़ने का दम्भ उनमें नहीं था। उनकी मस्तानी तबीयत उन्हें गंभीर बनने ही नहीं देती थी। चाहे कोई बुरा माने या नुक्ताचीनी करे, इसकी चिन्ता उन्हें नहीं थी, उनकी मस्ती हमेशा अपने रंग में रहती थी। भला अब कोई क्या खाकर उतनी मस्ती पालेगा!

अपनी रचनाओं के विषय में बहुत-से साहित्यिकों और समीक्षकों की राय वे सुन चुके थे; पर उसका कोई असर उनके दिल पर न था। जब कभी लहर उठती, मन के भावों को कलमबन्द करके रख छोड़ते। जब जी में आता, एकान्त में उसी से दिल बहला लेते या कोई तबीयतदार समझदार मिल जाता तो उसे सुनाने लग जाते। इसी में उन्हें अपनी कृतियों की सार्थकता जान पड़ती थी और इतने ही में उन्हें सन्तोष भी था। वे तो स्पष्ट कहा करते थे—"मैंने जब कभी जो कुछ लिखा है, अपने दिल की लगी बुझाने के लिए, न किसी को रिझाने के लिए और न राह सुझाने के लिए।" ये शब्द ठीक उन्हीं के हैं, जो अपनी वास्तविकता के साक्षी आप ही हैं।

मेरा खयाल है कि आज हम उन्हें केवल औपन्यासिक के रूप में ही आधुनिक कला की तुला पर तौलते और मूल्य आँकते हैं; परन्तु कल जब हम उनकी विविधविषयक विपुल रचनाओं को एकत्र करके प्रकाण्ड साहित्यराशि के बल पर मूल्य आँकने बैठेंगे, तब आज से कहीं अधिक उनका मूल्याङ्कन कर सकेंगे। यों तो हिन्दीसंसार में मूल्याङ्कन का जो औसत है, उसके हिसाब से तो हम उनका काफी सम्मान कर चुके हैं! उनके जीते-जी हमने उन्हें भारतीय हिन्दीसाहित्यसम्मेलन का सभापति बना दिया और उनके गोलोकवास पर 'माया' (प्रयाग) का स्मृति-अंक निकाल दिया! बस, इससे अधिक हम करते ही क्या हैं! कितनों के लिए तो हम इतना भी न कर सके!

—मासिक 'हिमालय' (पटना) वर्ष १, अंक २, फाल्गुन २००२ वि०, सन् १९४५ ई०।

बाबू शिवनंदन सहाय

चालीस वर्ष बीत गये ! मैं स्कूल में पढ़ता था। आरा की नागरीप्रचारिणी सभा के सार्वजनिक वाचनालय में प्रायः नित्य संध्या समय जाया करता था। चौदह-पंद्रह वर्ष की उम्र थी। मैट्रिक में पहुँच चुका था। रोज देखता था कि एक बहुत बूढ़ा नाटा-सा आदमी नाक पर चश्मा सरकाये बड़े गौर से अखबार पढ़ा करता है। कभी-कभी परिचित लोग बड़े जोर-जोर से उससे बोलते थे, जैसे लोग बहरे आदमी से बोलते हैं। सभा के संस्थापक पंडित सकलनारायणजी (अब महामहोपाध्याय) को भी उस बूढ़े का बड़ा आदर करते देख यह जानने का कौतूहल हुआ कि यह कौन है।

स्कूल में हिंदी पढ़ानेवाले गुरु पंडित ईश्वरीप्रसादजी शर्मा भी रोज सभा में जाते थे। एक दिन उनसे पूछा। उन्होंने परिचय देते हुए चरण छूने का आदेश दिया। पाँव छूते ही छोटी दाढ़ीवाला पोपला मुँह सरल हँसी से खिल उठा। शर्माजी ने कान के पास मुँह ले जाकर कहा—मेरा विद्यार्थी है, शुरू से उर्दू-फारसी पढ़ता था, अब मैट्रिक में आकर हिंदी पढ़ने लगा है, कुछ पूछिए।'

बाबू शिवनंदन सहाय कुर्सी पर बैठे ही बैठे हँसते-हँसते हिलने लगे। पूछा, गोसाईंजी की रामायण तुमने पढ़ी है ?

शर्माजी—"जो पूछते हैं सो जोर से बतलाओ।"

मैं—"बचपन में मेरे पिताजी रामायण पढ़ाते थे।"

बाबू शिवनंदन सहाय—"अब पढ़ते हो कि नहीं ?"

मैं—"रोज पाठ करता हूँ।"

"अर्थ भी समझते हो कि पाठ ही भर करते हो ?"

'पाठ ही करता हूँ, अर्थ सब जगह नहीं समझता।"

"कुछ जगह भी समझ लेते हो ?"

"कहीं-कहीं, थोड़ा-थोड़ा।"

"फुलवारी में से पूछूँ तो अर्थ कहोगे ?"

"चौपाई या दोहा ?"

"यह तो मेरी इच्छा पर है। अच्छा, कहो, चौपई पूछूँ या दोहा ?"

"चौपाई ही पूछिए।"

"चहुँ दिसि चितै पूछि माली-गन, लगे लेन दल फूल मुदित मन"—इसमें 'दल' का अर्थ क्या है ?"

"तुलसी-दल है।"

'पीठ ठोककर हँसते-हँसते हिलने लगे। शर्माजी से बोले—"चेला-चाटी को रामायण खूब पढ़ाओ, उसीसे मजे में हिंदी आ जायगी।"

शर्माजी—"पाठ्य् पुस्तक में रामायण का बहुत ही थोड़ा अंश है।"

"इससे क्या ? घर पर सब को रामायण पढ़ने के लिए सीख दो।"

मुझसे—"तुम यहाँ कहाँ रहते हो ?"

मैं—"आपके मकान के बिलकुल पास ही।"

शर्माजी—"आपका पोता भवेशनंदन[1] इसके साथ पढ़ता है।"

"वह तो उर्दू-फारसी पढ़ता है।"

शर्माजी—"मगर दोनों में बड़ी दोस्ती है।"

मुझसे—"अच्छा, जहाँ न समझो, वहाँ मुझसे इसी जगह पूछ लिया करो।"

मेरे पिताजी बहुत अच्छे रामायणी थे। बचपन से ही रामायण के श्लोक, चौपाई, दोहा, छंद घोखवाते थे। नहा-धोकर रामायण बाँचने की बान पड़ गई थी। पिताजी के मुख से निकला हुआ अर्थ बड़े ध्यान से सुना करता था। उनकी कही हुई प्रसंगानुकूल कथाएँ आज तक याद हैं।

उस समय बाबू शिवनंदन सहाय की सलाह मानकर समझ-बूझकर रामायण पढ़ने लगा। उसमें ऐसा मन रम गया कि अभिभावक से लुका-छिपाकर स्कूली किताबों के बदले रामायण ही पढ़ने लगा। स्कूल में भी जेब में गुटका रामायण ले जाता था। स्कूली पढ़ाई में बाधा पड़ने लगी। कभी-कभी कुछ टाँककर सभा में ले जाता और उनसे अर्थ पूछता।

उन्हीं दिनों आरा में एक 'कड़ाचूर बाबा' रामायणी आकर रहने लगे। उनका अर्थ कहने का ढंग बड़ा आकर्षक था। उनकी कथा-मण्डली में भी जाकर सुनने का चसका लग गया। उनके अर्थ में विचित्रता भी होती थी।

जब मैंने बाबू शिवनंदन सहाय से 'कड़ाचूर बाबा' के अर्थ की विलक्षणता का जिक्र किया तब वे कहने लगे कि रामायणी लोग जनता को तुलसीदासजी का असली अभिप्राय न बतलाकर अपनी बुद्धि की बारीकी और सूझ की गहराई दिखाया करते हैं! उन्होंने एक उदाहरण देकर बतलाया।

अरण्य-कांड में रामजी से शूर्पणखा कहती है—"तुम सम पुरुष न मो सम नारी, अस सँजोग विधि रचा विचारी"—इसकी पहली पाँती को रामायणी लोग अपना मनगढ़ंत रूप दे देते हैं—"तुम 'सम' पुरुष नमो 'सम' नारी"—अर्थात् "तुम सम' (समदर्शी) पुरुष हो और मैं 'सम' (सामान्य) नारी हूँ"—किंतु यह अर्थ करने पर अगली पाँती का भाव मेल नहीं खाता; तुलसीदासजी चौपाई के पहले टुकड़े में दूसरा अर्थ कैसे लिख सकते हैं? रामजी को समदर्शी और शूर्पणखा को सामान्य नारी मानना बहुत ठीक है, मगर इसमें 'सँजोग' (संयोग) क्या है? बेकार खींचतान करना गोसाईंजी की स्वाभाविक उक्ति को जबरदस्ती तोड़-मरोड़कर रस निकालना है। गोसाईंजी को वेदव्यास जी की तरह महाभारत लिखवाते समय गणेशजी को उलझाने के लिए बीच-बीच में दृष्टकूट घुसेड़ते जाने की फुर्सत कहाँ थी? वे तो रामभक्ति के रस में मगन होकर सहज रीति से लिखते चले जाते थे।

उनकी बात मेरे मन में बैठ गई। उन्होंने 'निज जननी के एक कुमारा' आदि कई उदाहरण देकर समझाया। देहाती लोग कितनी ही चौपाइयों की जो दुर्दशा करते हैं, उसके

---

१. देखिए—'रचनावली' के तीसरे खण्ड में पृष्ठ १०६ की पादटिप्पणी। —ले०

कई नमूने देकर कभी-कभी बहुत हँसाते भी थे। जैसे—"राम नाम सुन्दर तरकारी, पूरी संग उड़ावनहारी"—"आवत जानि भानुकूल केतुआ, सरितन्ह जनक घोराये सतुआ"—इत्यादि।

कहते थे कि गोसाईंजी की कविता-जनता को वैसे ही प्यारी लगती है जैसे लोगों को दुधमुँहा बच्चा प्यारा लगता है—कोई उसे गोद में लेकर दुलराता-हलराता है, कोई उसे उछालता है, कोई उसे गींजता-गुदगुदाता है, कोई उससे बोलता-बतराता है, कोई उससे दुलहिन तक लाने की मसखरी करता है; भला नन्हा-सा बच्चा क्या जाने कि दुलहिया किस चिड़िया का नाम है? इसी तरह लोग गोसाईंजी की कविता से मोक्ष भी कमाते हैं और मन भी बहलाते हैं। जो चीज बहुत ही सुन्दर और बहुत ही प्यारी लगती है, उसकी लोग बड़ी दुर्गति भी करते हैं।

उनकी बातों से बड़ा मनोरंजन होता था। उनकी सरल हँसी आज भी आँखों में नाच रही है। मैंने देखा कि वे बातचीत में एकाध ही बार 'तुलसीदासजी' कहते थे, नहीं तो बराबर 'गुसाईंजी' ही उनके मुख से निकलता था। उनके कथन की मनोहर शैली आज तक मस्तिष्क में अंकित है। उनसे मैं इतना परच गया कि सभा-भवन में प्रायः उनसे कथा-वार्त्ता और रामचर्चा सुना करता था।

उनकी लिखी हुई गोस्वामी तुलसीदासजी की जीवनी हिंदी में सबसे पहली और सबसे अच्छी जीवनी मानी जाती है। भारतेंदुजी की भी जीवनी उन्होंने लिखी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' नामक अपने प्रसिद्ध ग्रंथ में इन वृहत् जीवनियों का उल्लेख किया है और बाबू शिवनंदन सहाय को सबसे पहला सफल जीवनी-लेखक माना है।

उन्होंने चार जीवनियाँ और भी लिखी हैं, जिनमें 'सिक्ख-गुरुओं की जीवनी' और सीतारामशरण डिप्टी भगवान प्रसाद 'रूपकला' जी की जीवनी बड़ी खोज से लिखी गई है। बाबा सुमेर सिंह साहबजादा की जीवनी में साहित्यिक रंग बहुत चटक है।

पूर्वोक्त दोनों जीवनियों में भारतेंदु की जीवनी के लिए उन्होंने घोर परिश्रम किया था। भारतेंदु के फुफेरे भाई बाबू राधाकृष्ण दास उनके मित्रों में थे—उन्होंने ही उस जीवनी का मसाला जुटाने में विशेष सहायता की थी।

बाबू शिवनंदन सहाय पटना की कचहरी में ट्रांसलेटर (अनुवादक) थे; मगर जीवनी की सामग्री संकलित करने के लिए बराबर काशी जाया करते थे। वे खुद कहते थे कि जितना सामान इकट्ठा किया था, उतना अगर छप जाता तो जीवनी दूनी-तिगुनी मोटी होती; लेकिन प्रकाशक[1] उतना मोटा पोथा छाप ही नहीं सकते थे। फिर भी एकत्र की हुई सामग्री का शेषांश उन्होंने संचित कर रखा था।[2]

---

१. पटना के खड्गविलास प्रेस के स्वामी भारतेन्दु-सखा महाराज कुमार बाबू रामदीन सिंहजी।—ले०

२. व्रजनन्दन सहाय 'व्रजवल्लभ' जब रोगशय्या पर मरणासन्न थे तब मैं उनसे मिलने के लिए आरा गया था और उनसे पूछा था कि भारतेन्दु-जीवनी की वह शेषांश सामग्री और बेठन में बँधा वह कागजपत्र का बस्ता कहाँ है? उन्होंने उत्तर दिया कि 'पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, सब समेटकर उठा ले गये—जीते-जी उसको लौटाया ही नहीं, मरने पर तो वह दुर्लभ ही हो गया।'—ले०

उनके पास एक बस्ता था, जिसका बेठन हर साल चित्रगुप्त-पूजा के दिन नया बदलता था। उसमें कागज के छोटे-बड़े अनेक पुर्जे थे जिनपर नाना प्रकार के साहित्यिक शोध की बातें लिखी हुई थीं। उनमें से एक भी कोई पुर्जा उठाकर उसके बारे में कुछ पूछताछ करने पर झट साहित्यिक पँवारा शुरू कर देते थे। उस समय वे हिंदी-जगत् के सजीव विश्वकोष हा जान पड़ते थे। हिंदी के सेवकों और पोषकों की कहानियाँ कहने लगते थे तो ठीक महाभारतकार व्यास से समान प्रतीत होते थे। वैसा विवरणात्मक वर्णन मैंने कभी किसी से सुना नहीं।

हाँ, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के वयोवृद्ध सेवक पं० केदारनाथ पाठक अलबत वैसे वर्णन सुनाया करते थे। शायद पुराने लोगों के साथ ही यह विशेषता चली गई।

बाबू जयशंकर प्रसाद जब काशी के फक्कड़ों, गवैयों, गुण्डों, गहरेबाजों, पहलवानों, कलावंतों, पंडितों, शौकीनों, भोजनभट्टों और मंगलामुखियों के किस्से सुनाने लगते थे, तब घंटों अध्याय ही नहीं लगता था। उनके यहाँ जब कभी लाला भगवानदीनजी और रत्नाकरजी आ जुटते थे तब बुन्देलखंड और ब्रजमंडल की साहित्यिक प्रदर्शनी खुल जाती थी। धन्य थी उनलोगों की स्मरण शक्ति! कवित्त, सवैया, छप्पय, दोहा, चाहे जो सुन लीजिए।

बाबू शिवनंदन सहाय की स्मृति-शक्ति उस बुढ़ापे में भी ठीक थी। कवियों की वंशावली, काव्य-ग्रंथों की छंद-संख्या, साहित्यकारों की लिखी पुस्तकों की नामावली, देश-भरके पत्रों और संपादकों का इतिवृत्त, साहित्यिक संस्थाओं का विवरण-सहित परिचय—सब कंठस्थ। तुलसीकृत रामायण के हरएक काण्ड में कौन छंद कितने हैं—सब जबान की नोक पर।

सिर्फ अपनी याददाश्त के बल पर उन्होंने इस सदी की दूसरी दशाब्दी में एक पुस्तक लिखी थी, जिसमें 'पिछले पचास वर्षों में बिहार में हिंदी की अवस्था' का दिग्दर्शन कराया था। उसके विषय में कहते थे—"अपने पास के कागज-पत्रों का सहारा लेता तो पोथा बन जाता, इसलिए संक्षिप्त सिंहावलोकन करके जबानी ही एक झलक-झांकी दिखा दी है।" आजकल तो आकर-ग्रंथों का सहारा लिये विना इतिवृत्तात्मक पुस्तक लिखना कठिन कर्म हो गया है!

साहित्य के सभी अंगों से उनको बड़ा प्रेम था। इतिहास की घटनाएँ कहानी की तरह सुनाते थे। 'बंगाल का इतिहास'-नामक पुस्तक भी लिखी थी। सिक्ख गुरुओं की बहादुरी की बातें बड़े अनुराग से कहते थे। धार्मिक विचारों में नानक-पंथी थे। पहले-पहल कविवर 'हरिऔध' जी के दर्शन उन्हीं के घर पर हुए थे। 'हरिऔध' जी भी नानक-पंथी ही थे; क्योंकि उस समय उनके आने पर कड़ाह का जो प्रसाद बँटा था, उसमें से मैंने भी मृदुल-मधुर हलवा पाया था।

बाबू शिवनन्दन सहाय फारसी और उर्दू के भी बहुत अच्छे पंडित थे। उर्दू में शायरी भी करते थे। हिंदी की समस्या-पूर्त्तियाँ उस समय के पत्रों में छपाया करते थे। कानपुर से कविवर 'पूर्ण' जी का जो मासिक 'रसिकमित्र' निकलता था, उसमें उनकी

समस्या-पूर्तियाँ मैंने देखी थीं। 'विचित्र संग्रह' और 'कृष्ण-सुदामा' तथा 'कविता-कुसुम' उनकी तीन कविता-पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। एक गद्य-पद्यात्मक 'सुदामा' नाटक भी लिखकर छपवाया था।

बातचीत के प्रसंग में शेख-सादी की 'गुलिस्ताँ-बोस्ताँ' के शेर प्रायः कहा करते थे। 'करीमा' और 'खालकबारी' तो मानो कंठाग्र ही कर डाला था। उनके लेखों, समालोचनाओं और ग्रंथों में कहीं-कहीं उर्दू-फारसी के शेर प्रकरणानुसार मिलते भी हैं।

एक बार भारतेंदु-जयंती के अवसर पर एक भाषण बहुत लम्बा लिख डाला था, जो काशी के दैनिक 'आज' में क्रमशः प्रकाशित हुआ था। उसमें भारतेन्दु की जीवनी से अतिरिक्त नई बातें भी लिख दी थीं।

भारतेन्दु के सम्बन्ध में कितनी ही मनोरंजक बातें प्रायः सुनाया करते थे। उन्हीं से सुनी हुई बहुतेरी बातें मैंने भारतेन्दु की शतवार्षिक जयंती के अवसर पर 'हंस', 'बालक' आदि के जयंती-अंकों में लिखी थीं। महाराज कुमार बाबू रामदीन सिंह, बाबा सुमेरसिंह साहबजादा, बाबू साहब प्रसाद सिंह आदि पुराने साहित्य-सेवियों के विषय में तरह-तरह की बातें हमेशा नई-नई ही बतलाते थे।

बिहार-प्रादेशिक हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के जब सभापति हुए (सीतामढ़ी, मुजफ्फरपुर में) तब बिहार के हिंदी-साहित्य का सारा इतिहास ही अपने सुदीर्घ भाषण में लिख डाला। आज भी उसी के जगमग प्रकाश में अतीत के अंधकार-युग को टटोलना पड़ता है। बाबू रामदीन सिंह की उदाराशयता, बाबा सुमेरसिंह की शौकीनी और रसिकता की अनोखी कहानियाँ उनसे जो सुनी थीं; उनपर जब ध्यान जाता है तब आज का साहित्य-संसार छूछा-सा लगता है।

मैं बहुत दिनों से बिहार के हिंदी-साहित्य के इतिहास की सामग्री एकत्र कर रहा हूँ। उनसे एक बार प्रार्थना की कि साहित्य-सम्मेलन के (उपर्युक्त) भाषण में उल्लिखित बातों के अतिरिक्त जो कुछ भी आपकी जानकारी है सो सब लिखकर मुझे दे दीजिए, मैं उसका उपयोग यथास्थान करूँगा। उन्होंने कुछ दिनों बाद भारी पुलिंदा भेज दिया। दुर्भाग्य[१] की बात, मुजफ्फरपुर-निवासी श्री भुवनेश्वर सिंहजी 'भुवन' उसे अपनी 'वैशाली' पत्रिका में प्रकाशित करने के लिए आग्रहपूर्वक ले गये। आखिर उन्होंने उसका कोई उपयोग भी नहीं किया और कई बार उसे लौटाने का अनुरोध करने पर भी यही कहकर समय माँगते रहे कि कुछ बातें नोट करके शीघ्र भेज दूंगा। हरेरिच्छा बलीयसी ! 'भुवन'जी मृत्यु-भुवन छोड़कर चले भी गये, मगर वह अमूल्य सामग्री नसीब न हुई।

१. नोटबुक, डायरी, बहुमूल्य पुस्तक, महत्त्वपूर्ण चिट्ठी, सुन्दर पत्र-पत्रिका, खोज करके लिखे गये नोट आदि अमूल्य एवं अलभ्य वस्तुओं को आँखों से ओझल होने पर पुनः प्राप्त करना असंभव होता है। इन्हें दूसरों को देना या सुरक्षित स्थान से निकालकर कहीं बाहर भेजना दुर्भाग्य तो है ही, मूर्खता भी है। यह स्वानुभूति है।—ले॰

बाबू शिवनन्दन सहाय का बुढ़ापा बड़े सुख से कटा। उनके एकमात्र सुपुत्र बाबू ब्रजनन्दन सहाय 'ब्रजवल्लभ' उनके जीवन-काल में ही साहित्य-क्षेत्र में अपनी कीर्त्तिलता का विस्तार कर चुके थे। 'सौंदर्योपासक' और 'लालचीन'-नामक उपन्यास तथा 'मैथिल कोकिल विद्यापति' नामक ग्रंथ लिखकर अपने पिता के समान ही यशस्वी बन गये थे। पुत्र-पौत्र से सम्पन्न-सुखी परिवार में उन्हें वृद्धावस्था तक निश्चिन्तता से स्वाध्याय करते रहने का अवसर मिला। इनकी पैतृक संपत्ति में घरेलू पुस्तकालय दर्शनीय वस्तु है।

बाबू शिवनन्दन सहाय की सादगी बेजोड़ थी। घिसा स्लीपर, घुटनों तक धोती, गाढ़े का कुर्ता और मामूली दुपलिया टोपी, उलझी हुई दाढ़ी, कभी-कभी पेबंद लगा हुआ कुर्ता और उसके भी बटन खुले हुए! वेश-भूषा, भाषा, स्वभाव, बोलचाल, सबमें सादगी। सरलता और साधुता की साक्षात् मूर्त्ति ही समझिए।

हम स्कूल के लड़के घेरकर बैठ जायँगे, वे अमंद हँसी के साथ कबीर-कथनी शुरू कर देंगे। प्रवचन के बीच-बीच में अँगरेजी के नामी कवियों की भी कविताएँ कहते चलते थे। लड़कों से खूब खुश रहते थे। वैसी निश्छल हँसी किसी परमहंस में ही मिल सकती है।

अंत में एक दुर्घटना का उल्लेख आवश्यक है। बाबू शिवनन्दन सहाय का जिस समय देहांत हुआ, उस समय मैं काशी में रहता था। प्रयाग की हिन्दुस्तानी एकेडमी की त्रैमासिक पत्रिका 'हिन्दुस्तानी' में उनकी मृत्यु का जो समवेदनात्मक संवाद छपा, उसमें उनके नाम की जगह मेरा नाम छप गया! अनेक मित्रों के पत्र धड़ाधड़ मेरे पते पर आने लगे।

उस समय कई दिनों तक 'प्रसाद' जी यही चर्चा छेड़कर हँसते-हँसते लोट-पोट होते रहे। उनकी दूकान पर प्रेमचंदजी पहुँच जाते तो दोनों का अखंड अट्टहास वहाँ के दिङ्मंडल को गुँजा देता था।

आखिर 'हिन्दुस्तानी' के अगले अंक में संशोधन के साथ खेद-प्रकाश छप गया; मगर कुछ दिनों के लिए यह दुर्घटना हास-विलास का साधन बनी ही रही।

—मासिक 'पारिजात' (पटना), जनवरी, १९४८ ई०

पंडित अमृतलाल चक्रवर्त्ती

[१]

हिन्दी की सेवा के लिए अनेक बंगाली सज्जनों के नाम स्मरण किये जा सकते हैं। 'सरस्वती' और 'हिन्दी-बंगवासी' के मालिक बंगाली ही हैं। इनकी स्तुत्य सेवा चिरस्मरणीय है। स्वर्गीय शारदाचरण मित्र एम० ए०, बी० एल० को 'एक

लिपि-विस्तार-परिषद्' और 'देवनागर' मासिक पत्र को हम हिन्दीवाले कभी नहीं भूल सकते ।

सबसे पुराने हिन्दी-प्रेमी बंगाली स्वर्गीय बाबू नवीनचन्द्र राय और संभवतः उन्हीं की विदुषी पुत्री श्रीमती हेमन्तकुमारी चौधरी को हिन्दी-संसार अच्छी तरह जानता है। हाँ, एक और हिन्दी-प्रेमी वङ्गमहिला हैं, जिनका शुभ नाम है श्रीमती हेमन्तकुमारी देवी (भट्टाचार्य)। आप हिन्दी में कई पुस्तकें लिख चुकी हैं और कई हिन्दी-लेख लिखकर बड़े-बड़े पुरस्कार भी पा चुकी हैं। इनके सिवा, और भी कई बंगाली सज्जन हैं, जिनका हिन्दी-अनुराग अभिनन्दनीय है ।

स्वर्गीय बाबू गिरजाकुमार घोष का नाम हिन्दी-साहित्य में अमर हो चुका है । इस समय भी 'उद्भ्रान्त प्रेम' के प्रथम हिन्दी-अनुवादक बाबू द्वारका नाथ मैत्र और कई हिन्दी-पुस्तकों के लेखक बाबू कार्त्तिकेयचरण मुखोपाध्याय आदि हिन्दी-भक्त बंगाली वर्त्तमान हैं। 'सरस्वती' के पाठक बाबू नलिनीमोहन सान्याल से खूब परिचित हैं। आप भाषा-विज्ञान के पण्डित और हिन्दी के प्रथम एम०ए० बंगाली हैं ।

इसी प्रकार और भी कितने ही हिन्दी-प्रेमी बंगाली हैं, जो अवसर और प्रोत्साहन न मिलने के कारण ही नहीं उभड़ते । सुनते हैं, कवीन्द्र रवीन्द्र भी हिन्दी के महाकवि कबीरदास की रचनाओं के बड़े प्रेमी हैं। नाटकाचार्य स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय के सुपुत्र संगीताचार्य्य दिलीपकुमार राय मीराबाई के पद गाते-गाते प्रेम से झूमने लग जाते हैं, यह बात कलकत्ता की गत हिन्दू-महासभा[१] में असंख्य हिन्दी-प्रेमी देख चुके हैं ।

कलकत्ता में गत तुलसी-जयन्ती के अवसर पर श्रीगोविन्द लाल वन्द्योपाध्याय नाम के एक बंगाली सज्जन ने तुसलीदास पर हिन्दी में भाषण करते हुए अपूर्व भक्ति-रस बरसाया था। उन्होंने उक्त अवसर पर अपनी एक 'उक्तिकुसुमांजलि'-नामक पुस्तक भी बाँटी थी । उसमें हिन्दी के भक्त-कवियों के चुने हुए ३०० दोहे सटीक संगृहीत हैं ।

तात्पर्य्य यह कि बंगाली भाइयों को यदि हिन्दी के अमूल्य रत्नों से परिचित कराया जाय, तो वे इतने भावुक साहित्यिक हैं कि और-और प्रान्तवालों की अपेक्षा शीघ्र हिन्दी की ओर आकृष्ट हो सकते हैं ।

पूर्वोक्त हिन्दी-लेखक और हिन्दी-प्रेमी बंगाली सज्जनों में हम एक ऐसे व्यक्ति का नाम छोड़ आये हैं, जिन्होंने हिन्दी की सेवा में अपना सारा जीवन व्यतीत किया है और आज भी सुदूर बंगाल की देहात में निवास करते हुए बड़ी लगन से हिन्दी की सेवा कर रहे हैं। आप ही हैं पण्डित अमृतलाल चक्रवर्त्ती, जो इस साल के सोलहवें अखिल-भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (वृन्दावन) के अध्यक्ष मनोनीत हुए हैं। निस्सन्देह यह आपकी सुदीर्घ-कालव्यापी हिन्दी-सेवा का अतीव उपयुक्त पुरस्कार है ।

---

१. पंजाबकेसरी लाला लाजपत राय के सभापतित्व में इसका अधिवेशन हुआ था—सन् १९२४ ई० में । —ले०

आपने ब्रजभाषा की मधुरता पर मुग्ध होकर ही हिन्दी सीखना आरम्भ किया था और आज भी हिन्दी-लेख लिखते समय आप अपनी सारी चिन्ताएँ भूल जाते हैं। आप स्पष्ट कहा करते हैं कि अपनी शोचनीय आर्थिक अवस्था में भी हम हिन्दी लिख-पढ़कर ही संतुष्ट रहा करते हैं। कई बार हिन्दी लिखने-पढ़ने का लोभ-संवरण न कर सकने के कारण ही आपने अच्छी-से-अच्छी नौकरी छोड़ दी है। जिस समय, सन् १९१३ में, ब्यावर (राजपूताना) के सेठ दामोदर दास राठी की मिल में आप १५०) मासिक पा रहे थे, उस समय सेठजी आपको ८००) मासिक पर मिल का मैनेजर बनाना चाहते थे; पर आप हिन्दी लिखने के लिए इतने व्याकुल हो उठे कि वैसी अच्छी नौकरी छोड़कर 'श्रीवेंकटेश्वर-समाचार' का सम्पादन करने के लिए बम्बई चले गये। सेठजी ने वहाँ तक पीछा किया। पर आपने यही कहकर पिण्ड छुड़ाया कि हिन्दी से अलग रहा नहीं जाता।

पहले-पहल सन् १८८४ ई० में आपने हिन्दी के क्षेत्र में प्रवेश किया था। उस समय इलाहाबाद-हाईकोर्ट में ४०) मासिक वेतन पर आप पबलिक-प्रॉसिक्यूटर का ब्रीफ तैयार करते थे। वहीं 'प्रयाग-समाचार' के सम्पादक पण्डित देवकीनन्दन त्रिपाठी ने आपको हिन्दी लिखने के लिए उत्साहित किया। जैसी हिन्दी आप बोलते थे वैसी ही लिखने लगे। अभ्यास बढ़ता गया। चसका लग गया, खूब लिखने लग गये, धड़ल्ले से बोलने भी लगे।

उन्हीं दिनों प्रयाग में एक हिन्दू-सभा थी, जिसके सभापति थे म्योर-सेण्ट्रल-कॉलेज के संस्कृत-प्रोफेसर पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य्य एम० ए०, और सदस्य थे माननीय मालवीयजी आदि। उसी सभा के वार्षिकोत्सव में कालाकाँकर के स्वर्गीय राजा रामपाल सिंहजी आपका ओजस्वी हिन्दी भाषण सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। सन् १८८५ ई० में १००) पर आप राजा साहब के यहाँ नियुक्त हुए। पर हिन्दी का वियोग फिर अखरने लगा।

सन् १८८६ में आप अपने घर आये और वहाँ से कई बार बुलाये जाने पर भी लौटकर फिर नहीं गये। 'इण्ट्रेन्स' की परीक्षा की तैयारी करने लगे। परिवार के भरण-पोषण के लिए 'ट्यूशन' करके पढ़ते थे। ईश्वर की कृपा से उसी साल (सन् १८८६ ई० में) पास हो गये। पास होते ही 'भारत-मित्र' में नौकरी मिल गई। सुबह-शाम नौकरी करते थे और दिन में विद्यासागर-कॉलेज में एफ० ए० श्रेणी में पढ़ते थे। सन् १८८८ ई० मे एफ० ए० पास हुए और सन् १८९० में अँगरेजी के बी० ए० (ऑनर्स) हुए। इसी साल आपके सम्पादकत्व में साप्ताहिक 'हिन्दी-वंगवासी' का जन्म हुआ; पर पढ़ाई न छूटी। सन् १८९४ ई० में बी० एल० भी पास कर लिया। किन्तु उत्कट हिन्दी-प्रेम के कारण अदालत की कुर्सी तोड़ने का सौभाग्य प्राप्त न हुआ।

सन् १९०० ई० तक 'हिन्दी-वंगवासी' में रहकर आप बाबू बालमुकुन्द गुप्त के बुलाने से 'भारत-मित्र' में चले गये। उसमें आप छोटी-छोटी मौलिक कहानियाँ लिखने लगे। 'शिवशम्भु का चिट्ठा' भी आपने ही शुरू किया था। पर आपका लिखा अंश न तो

'चिट्ठा' ही पुस्तकाकार छपा और न कहानियों का ही संग्रह प्रकाशित हुआ। हाँ, आपका लिखा 'सती सुखदेई'-नामक मौलिक उपन्यास 'भारत-मित्र' कार्यालय से निकला है। हिन्दी-वंगवासी-कार्यालय से भी आपकी कई पुस्तकें निकल चुकी हैं—बँगला-महाभारत के आदि-सभा और वन-पर्वों का तथा विलायत की चिट्ठी, भगवद्गीता और संस्कृत के एक ज्योतिष-ग्रंथ का हिन्दी-अनुवाद। इसके सिवा वहीं से आपका लिखा 'सिक्ख-युद्ध' नामक स्वतन्त्र ग्रंथ निकला है। एक 'शिवाजी की जीवनी' भी आपने वहीं लिखी थी, जो 'हिन्दी-वंगवासी' के उपहार में बाँटी गई थी।

'भारत-मित्र' में लगभग डेढ़-दो वर्ष रहकर आप 'वेंकटेश्वर' में (बम्बई) चले गये। पर वहाँ लार्ड कर्जन के दिल्ली-दरबार (१९०४ ई०) तक ही रहे। फिर प्रयाग में पण्डित द्वारका प्रसाद चतुर्वेदी की सहयोगिता से आपके ही सम्पादकत्व में 'उपन्यास-कुसुम' नामक मासिकपत्र निकला; पर एक ही अङ्क निकलकर बन्द हो गया; क्योंकि आप उसी समय भारत-धर्म-महामण्डल के मैनेजर नियुक्त होकर मथुरा चले गये। 'मण्डल' में सवा दो वर्ष रहे—'निगमागमचन्द्रिका' का सम्पादन और यत्र-तत्र धार्मिक भाषण करके 'मण्डल' का संगठन करना आपका काम था। जब 'मण्डल' मथुरा से काशी आया, तब आप फिर सन् १९०५ ई० में १५०) पर सकुटुम्ब बम्बई के 'वेंकटेश्वर' में चले गये। किन्तु बंगाल में स्वदेशी-आन्दोलन आरम्भ होते ही फिर स्वदेश आये और सन् १९०६ से १९०९ तक अपने थाने के इलाके में अकेले ही इतना स्वदेशी-प्रचार किया कि एक पैसे का भी विदेशी वस्त्र न बिकने पाया।

उस आन्दोलन के अन्त (१९१० ई०) में आप फिर 'भारत-मित्र' में आये। पर रासायनिक अनुसन्धान का ऐसा शौक चर्राया कि सन् १९१२ में 'भारत-मित्र' से अलग हो गये। फलतः पूँजी के अभाव से रसायनशाला भी आपको ऋणग्रस्त बनाकर कालग्रस्त हो गई। तब आप ब्यावर के उक्त सेठजी के यहाँ चले गये और वहाँ से हिन्दी के लिए बिलबिलाते हुए बम्बई को भागे, जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है।

सन् १९१४ ई० में योरोप का महाभारत आरम्भ हुआ। उसी साल आपने 'वेंकटेश्वर' को दैनिक कराया। किन्तु अनबन हो जाने के कारण एक ही वर्ष के बाद २००) की नौकरी छोड़कर 'कलकत्ता समाचार' में चले आये। पर 'समाचार' में भी एक ही वर्ष टिके और सन् १९१६ ई० में फिर बम्बई के 'समाचार' में पहुँचे। इस बार वहाँ वेंकटेश्वर-सम्पादक के अतिरिक्त १००) पर बम्बई के प्रसिद्ध घनेश्वर गोस्वामी गोकुलनाथजी के अँगरेजी-हिन्दी-शिक्षक भी रहे। फिर दो वर्ष के बाद गोस्वामीजी ने २५०) पर अपना सलाहकार नियुक्त कर लिया। इसलिए सम्पादन-कार्य छोड़ देना पड़ा।

गोस्वामीजी की अनुमति से आपने वंगभाषा में 'शुद्धाद्वैतदर्शन' नामक ग्रंथ लिखा। आपसे गोस्वामीजी इतने संतुष्ट रहते थे कि सन् १९२३ ई० में बीमार होकर घर आने पर भी महीनों तक आपको १००) मासिक देते रह गये। किन्तु स्वस्थ होने पर आपने गंगा-तट पर ही वृद्धावस्था बिताने का निश्चय किया; अतएव कहीं बाहर न

जाकर स्वर्गीय देशबन्धुदास के यहाँ ३००) पर आन्दोलक नियुक्त हुए; पर हिन्दू-मुस्लिम-पैक्ट के सम्बन्ध में मतभेद होने के कारण वह काम भी छोड़ बैठे। तब दानवीर बिडलाजी की ओर से १५०) पाने लगे—कलकत्ता के 'वणिक् प्रेस' से निकलनेवाले साप्ताहिक 'श्रीसनातनधर्म' का सम्पादन करना और महाभारत की कथाएँ लिखना, यही काम था।

आजतक आपका परिचय कभी हिन्दी में प्रकाशित नहीं हुआ।

बंगाल के 'नादरा' ग्राम (पोस्ट बोगरा, जिला चौबीस परगना) में, सन् १८६३ ई० के आश्विन मास में, आपका शुभ जन्म हुआ था। आपके पिता पण्डित आनन्दचन्द्र चक्रवर्त्ती पुराने ढर्रे के आस्तिक एवं निष्ठावान् ब्राह्मण थे। आपकी माता श्रीमती इच्छामयी देवी बँगला पढ़ी-लिखी और बड़ी दयावती थीं। आपके छोटे भाई प्रबोधचन्द्र चक्रवर्त्ती कलकत्ता में 'ईस्ट-बंगाल-रेलवे' के 'बुकिङ्ग-सुपरवाइजर' हैं। आपकी एकमात्र बहन भक्तिमती देवी 'यथा नाम तथा गुणः' के अनुसार बड़ी श्रद्धालु हैं। आपके चार पुत्र और चार विवाहित कन्याएँ हैं। आपकी पत्नी श्रीमती हेमन्त कुमारी देवी अभी जीवित हैं—बँगला और कुछ अँगरेजी जानती हैं। आपके पिता ने सन् १८७९ ई० में एक साधारण गृहस्थ की सुशीला बालिका से ही आपका विवाह किया था। उसी साल गाजीपुर के विक्टोरिया-स्कूल से आपने अँगरेजी मिड्ल पास किया था। वहाँ आपके मामा अफीम के महकमे में नौकर थे और उन्होंने ही बोगरा के छात्रवृत्ति-विद्यालय से हटाकर गाजीपुर के उक्त स्कूल में भर्त्ती कराया था। बोगरा के विद्यालय में पाँच से ग्यारह वर्ष की उम्र तक आपने बँगला पढ़ी और एक वर्ष घर पर मुग्धबोध व्याकरण तथा रघुवंश। अर्थात् १२ वर्ष की अवस्था में मामा के यहाँ पढ़ने गये; पर पढ़ाई में वाधा पड़ने के कारण उसी नगर में अपने एक विद्वान् मौसेरे भाई के यहाँ चले गये।

किन्तु अँगरेजी-मिडल पास करने और विवाहित होने के बाद ही पिता का देहान्त हो जाने से एकाएक आपके असमर्थ कन्धों पर कुटुम्ब-पालन का दुस्सह भार आ पड़ा; पर अल्हड़ नवयुवक और असहाय होने पर भी आप तनिक विचलित न हुए। लड़के पढ़ाकर परिवार के पालन-पोषण का काम चलाने लगे। दस बजे रात से पहले कभी आपको अपनी पाठ्य-पुस्तकें देखने का अवकाश नहीं मिलता था।

उसी समय के पढ़ाये हुए विद्यार्थियों में से एक इलाहाबाद-हाईकोर्ट के वर्त्तमान जज जस्टिस लाल गोपाल मुकुर्जी हैं, जिन्हें आपने दो वर्ष तक गाजीपुर में पढ़ाया था। पर जब पिता की मृत्यु के बाद गाजीपुर से घर आये तब जीविका के लिए कलकत्ता में बहुत खाक छानी; लेकिन आखिर लाचार होकर स्त्री के सुनहरे हार की शरण लेनी पड़ी। उसे बेचकर आपने साग-भाजी का रोजगार शुरू किया। देहात से कलकत्ता के बाजार में नाव पर साग-भाजी लाते थे। कुछ ही दिनों में ७०) नफा हुआ। मगर गाँववाले साग बेचने के कारण जब जातिच्युत करने की धमकी देने लगे, तब ७०) लेकर सपरिवार फिर गाजीपुर चले गये और वहाँ से २०) मासिक वेतन तथा कुटुम्ब-भरण का व्यय

पाकर एक धनी व्यापारी की दूकान पर प्रयाग चले गये, जहाँ पाँच वर्ष का गड़बड़ हिसाब दुरुस्त कर मालिक को अत्यन्त सन्तुष्ट कर दिया।

किन्तु किंचित् दुर्व्यवहार के कारण वह नौकरी छोड़ देनी पड़ी और उसी दिन इलाहाबाद के लोकोमोटिव डिपार्टमेण्ट में २०) मासिक पर नियुक्ति हो गई। पर वहाँ भी दुर्भाग्य ने पीछा न छोड़ा! बड़े साहब से बिगड़कर नौकरी छोड़ बैठे और उसी समय पहले-पहल 'प्रयाग-समाचार' द्वारा हिन्दी-संसार में प्रविष्ट हुए। केवल प्रचण्ड स्वाभिमान के कारण ही आपने यावज्जीवन बार-बार दरिद्रता का आलिंगन किया है। लक्ष्मी-सरस्वती के सापत्न्य के आप साक्षात् उदाहरण हैं।[1]

—मासिक 'सरस्वती' (प्रयाग); भाग २६, खंड २, संख्या ५;
नवम्बर, सन् १९२५ ई०

---

[२]

हिन्दी-पत्रों में पं० अमृतलाल चक्रवर्त्ती को ऋण-मुक्त करने के लिए दो हजार रुपये की अपील छपी देखकर दुःख तो बहुत हुआ; पर आश्चर्य कुछ भी नहीं। वह हिन्दी-लेखक ही कैसा जो ऋणग्रस्त न हो? आज हिन्दी की उन्नति देखकर छाती फूल उठी है, पर उस उन्नति की ज्वाला को अपनी हड्डियाँ जला-जलाकर धधकानेवाले लेखकों की दयनीय दशा पर कोई दो बूँद आँसू भी नहीं गिराता। अधिकांश हिन्दी-लेखकों की आर्थिक दशा तो शोचनीय ही देखी-सुनी जाती है। कम-से-कम दो-चार दर्जन अच्छे-से-अच्छे हिन्दी-लेखकों की आर्थिक स्थिति तो अकेला मैं ही जानता हूँ—जो बेचारे पैसे के अभाव से ठीक समय पर चिट्ठियों का जवाब देने के लिए टिकट तक नहीं पाते। अब और इससे अधिक दयनीय दशा क्या होगी?

अगर आज चक्रवर्त्तीजी ऋणी और दरिद्र हैं तो यह कोई नई बात नहीं है। हिन्दी-लेखक होने के कारण उन्हें ऐसा होना ही चाहिए था। हिन्दी की सेवा में उन्होंने अपना जीवन खपा दिया, उन्नति के अनेक अन्य मार्गों को सहर्ष त्यागकर एकमात्र हिन्दी की सेवा में ही लगन लगाये रहे; पर सदैव आर्थिक संकट ही झेलते रहे। उनके अभाव-जनित कष्टों को मैंने प्रत्यक्ष देखा और उन्हीं के मुँह से स्पष्ट सुना भी है। जिस समय वे अखिल-भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (वृन्दावन) के सभापति हुए थे, उस समय उनके पास वहाँ जाने का रेलभाड़ा तक नहीं था—कुछ साहित्यिकों के चंदे से उनका राह-खर्च जुटाया गया था। वे अपने दुखड़े सुनाते-सुनाते रो पड़ते थे। उनकी उस करुणाजनक असहायावस्था को बन्धुवर पं० रमेशचन्द्र त्रिपाठी भली-भाँति देख चुके हैं, जो

१. इस लेख के आरम्भ और मध्य की दो-चार अनावश्यक और अप्रासंगिक पंक्तियाँ निकाल दी गई हैं।—ले०

उन दिनों मेरे साथ 'उपन्यास-तरंग' (कलकत्ता) के सम्पादक थे, और आजकल 'श्रीकृष्ण-सन्देश' के सम्पादकीय विभाग में हैं, जहाँ चक्रवर्त्तीजी के लिए चन्दे की रकम जमा की जा रही है ।

'श्रीकृष्ण-सन्देश' से पहले तो इस विषय में 'हिन्दी-वंगवासी', 'श्रीवेंकटेश्वर-समाचार' और 'भारतमित्र' को आगे बढ़कर काम करना चाहिए; क्योंकि चक्रवर्त्तीजी इन तीनों के सम्पादक रह चुके हैं । ये तीनों मिलकर चाहते तो सुबह-शाम में चक्रवर्त्तीजी को ऋणमुक्त कर देते; पर वे नई चाल चलना नहीं चाहते । 'वेंकटेश्वर' और 'भारतमित्र' के मालिकों में इतनी शक्ति अवश्य है कि वे चाहें तो सहज ही चक्रवर्त्तीजी को उऋण कर दें । किन्तु उन्हें तो यह यश और पुण्य पाने की कोई अभिलाषा ही नहीं है । तब फिर केवल हिन्दी-प्रेमियों को ही अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए—जहाँ तक मेरा अनुमान है, दो-तीन हजार रुपयों का एकत्र हो जाना हिन्दी-संसार के लिए कोई बड़ी बात नहीं है ।

चक्रवर्त्तीजी की जीवनी तो कहीं आज तक छपी ही नहीं । मैंने वृन्दावन के साहित्य-सम्मेलन के समय (नवम्बर, १९२५ ई० में) आपकी सचित्र विस्तृत जीवनी 'सरस्वती'[१] में पहले-पहल लिखी थी ।

सिद्धान्त-सम्बन्धी मतभेद से लाचार हो, स्वाभिमान में धक्का लगते ही, आप तुरत नौकरी छोड़ बैठते थे । कई साल आपने बेकारी में काटे । अब तो काफी बूढ़े भी हुए—बुढ़ापा, गरीबी, चिन्ता, तीनों के शिकार ! फिर भी हिन्दी की स्मृति-मात्र से पुलकित हो उठते हैं । आज भी हिन्दी लिखते-पढ़ते हुए आनन्द-गद्गद हो जाते हैं । केवल आत्म-सम्मान और विचार-स्वातन्त्र्य की रक्षा के लिए ही जीवन-भर डावाँडोल स्थिति में पड़े रह गये । दरिद्रता को बार-बार गले लगाया, पर स्वाभिमान न छोड़ा । तेजस्विता से अपने ब्राह्मणत्व और सिद्धान्त पर डटे रहे, एक इंच भी कभी किसी दशा में डिगे नहीं, ऐसे प्रचण्ड स्वाभिमानी हिन्दी-सेवक को अन्तिम समय में चाहे जैसे शान्ति मिले वैसा ही उद्योग हम हिन्दीवालों को करना चाहिए । ऐसे विद्वान् ब्राह्मण का जो दारिद्र्य दूर करें—दुःखमोचन करें—तत्काल उपकार करें, वे धन्य हैं ।[२]

—मासिक 'सरोज' (कलकत्ता); पुष्प १, दल ८, पौष, सं० १९८५ वि०, १९२८ ई०

[३]

चक्रवर्त्तीजी के प्रथम दर्शन का सौभाग्य लखनऊ में प्राप्त हुआ था । वहाँ अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का पाँचवाँ अधिवेशन था । कविवर पंडित श्रीधर पाठक सभापति थे । जहाँ तक स्मरण है, चक्रवर्त्तीजी ने एक किसी प्रस्ताव पर भाषण करते हुए स्त्री-शिक्षा की वर्त्तमान पद्धति का विरोध किया था । जब स्त्रियों में सम्मेलन-परीक्षा के

---

१. 'सरस्वती' में छपी जीवनी ही यहाँ भी उद्धृत थी । अतः उद्धरण निकालकर थोड़ा-सा अंतिम अंश आवश्यक समझकर रहने दिया है ।—ले०

२. इस लेख का जो अंश काटकर निकाला गया है, वह इसीके प्रथम भाग में विद्यमान है ।—ले०

प्रचार के लिए, उत्तीर्ण महिलाओं को पदक-पुरस्कार आदि देकर उत्साहित करने का प्रसंग आया, तब परम विनोदी पंडित बदरीनाथ भट्ट ने एक पुर्जे पर यह लिखकर चुपके से मंच की ओर बढ़ा दिया कि प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होनेवाली देवी को चक्रवर्त्तीजी एक रजत-पदक देंगे। टंडनजी ने मुस्कुराते हुए पुर्जा पढ़कर ज्योंही घोषणा की, चक्रवर्त्तीजी तमतमाकर उठ पड़े और बड़े ओजस्वी शब्दों में बोले—"सचमुच जो देवी अपने ही घर में अपने ही भाई या पति से साहित्य की शिक्षा पाकर परीक्षोत्तीर्ण होगी, उसे मैं रजत-पदक ही नहीं, दरिद्र ब्राह्मण होते हुए भी, रत्न-खचित स्वर्णपदक दूंगा।" इस पर खूब हँसी हुई, सारा पंडाल गूँज गया। यह बात संभवत: सन् १९१४-१५ ई० की होगी।

चक्रवर्त्तीजी का वह वाक्य आजतक स्मृति-कुञ्ज में गूँज रहा है—"दरिद्रता मेरी चिरसंगिनी है, जिसका बड़ा लाड़ला है स्वाभिमान और छोटी लाड़िली है भावुकता।" सचमुच उनका लाड़ला प्रचंड उद्दंड था, पर लाड़िली तो बस करुणा की सहेली ही थी। दरिद्रता की गोद में पले हुए स्वाभिमान को अंग लगाना सबका काम नहीं है। ऐसा ही स्वाभिमान उनके अंग लग गया था। कभी-कभी वे एकान्त में उसे फुसलाते-बहलाते, पुचकारते और थपकियाँ देते कि कुछ देर भी तो सो जाय; पर वह तो सहलाते ही और भी सिर उठाकर तन जाता—जैसे स्पर्श-मात्र से भुजंग झट फन फैला देता है!

एक बार देशबन्धु चित्तरंजन दास ने उनके अभावों की करुण कहानी सुनी। उन्हें सादर बुलाकर अपने स्वराज-दल का प्रचार-कार्य करने के लिए दो सौ रुपये मासिक वेतन पर व्याख्याता नियुक्त किया। किन्तु संयोगवश एक बार उनके आत्माभिमान को जरा-सी ठेस लगी, तुरत ठुकरा दिया निगोड़ी नौकरी को—वह भी कब? जब दुर्दिन के घने जंगल में अभाव का बाघ दाँत काढ़े सामने खड़ा था!

'हिन्दोस्तान,'[1] 'हिन्दी-वङ्गवासी'[2] और 'वेंकटेश्वर-समाचार'[3] का सम्पादकत्व भी आत्माभिमान की बलिवेदी पर ही उत्सर्गीकृत हुआ था। उन दिनों अखबार के मालिक की इच्छा अत्यन्त निरंकुश थी। सम्पादक को विना दिखाये ही मालिक ने अपने एक कुटुम्बी के विवाह की सूचना अपने अखबार में छपवाने के लिए प्रेस में कम्पोज करा दी। जब प्रूफ आया सम्पादक के सामने, ब्रह्म जाग उठा। उधर हठीले मालिक अड़ गये, इधर सम्पादक। इस खींचतान में पूँजीपति की विजय हुई। श्रमजीवी सम्पादक ने तत्क्षण बिस्तर समेटा। मालिक ने पगड़ी तक पाँव पर रख दी; पर सम्पादक का स्वाभिमान तो समुद्र-शासक राम का अमोघ बाण-सन्धान था! अभावों की आँच में, तपे हुए स्वाभिमान-स्वर्ण की दामिनी-दमक से मालिक के स्वर्ण-मदान्ध नेत्रों में चकाचौंध छा गई! बेचारे सजलनयन भावुक सम्पादक चुपचाप निकल पड़े खुदा की राह पर!

वे बहुत अच्छे वक्ता थे। उनकी वाणी में बहुत ओज और प्रवाह था। बोलते समय जोश से भरकर हाथ-पैर भी खूब हिलाते-पटकते थे। जैसी संस्कृत-बहुल भाषा

१. हिन्दी-दैनिक पत्र, जिसे कालाकाँकर-नरेश राजा रामपाल सिंह ने निकाला था।

२. हिन्दी-साप्ताहिक, कलकत्ता।

३. हिन्दी-साप्ताहिक, बम्बई।

लिखते थे वैसी ही बोलते भी थे। बंगाली होने के कारण बीच-बीच में लच्छेदार सामासिक शब्द भी स्वभावतः बोल जाते थे। जैसा भव्य डीलडौल था वैसा ही ऊँचा और घन-गंभीर कंठस्वर भी। प्रायः बोलते-बोलते इतना अधिक उत्तेजित हो उठते कि मुँह से झाग आने लगता।

पढ़ने के समय गाजीपुर (युक्तप्रान्त) में रह चुके थे, इसलिए भोजपुरी भी बोल लेते थे—ठेठ देहाती भी। बंगाली होते हुए भी उन्होंने अपना सारा जीवन केवल हिन्दी की ही सेवा में बिताया। वे हिन्दी के जैसे उद्भट लेखक थे वैसे ही बँगला के भी; पर अपने योगक्षेम के लिए राष्ट्रभाषा को छोड़ अपनी मातृभाषा की शरण कभी न ली। जीवन के अंतिम दिनों में, जब उनकी कार्यक्षमता क्षीण हो गई और आर्थिक स्थिति भी शोचनीय ही नहीं—दयनीय हो गई, बँगला में पुस्तकें लिखने के लिए कलकत्ता के कई प्रकाशकों ने उन्हें प्रेरित किया और प्रलोभन भी दिये; किन्तु उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि हिन्दी के सिवा किसी दूसरी भाषा में नहीं लिखेंगे; क्योंकि जीवन-भर यही लिखा है और आखिरी दम तक यही लिखते रहेंगे। बँगला के कई अखबार उन्हें साग्रह अपनाने को सहर्ष तैयार थे; यदि वे चाहते तो उन्हें सम्पादक की कुर्सी पर बिठाकर वे निहाल हो जाते; किन्तु उनका हिन्दी-सेवा-व्रत सदैव अटल रहा। अपनी टेक के वे ऐसे पक्के थे, और इस टेक के निबाहने में अद्भुत त्याग भी दिखाया। उपवास तक किया; पर किसी के आगे हाथ न पसारा।

जब मैं 'मतवाला'-मंडल (कलकत्ता) में था, वे हिन्दी-पुस्तक-एजेन्सी के स्वामी श्रीबैजनाथजी केडिया के वणिक् प्रेस में रहते और वहीं से प्रकाशित साप्ताहिक 'सनातनधर्म' का सम्पादन करते थे। उसी प्रेस में काम करनेवाले मेरे एक मित्र श्रीरमेशचन्द्र त्रिपाठी थे, जो कुछ दिनों बाद मेरे साथ 'उपन्यास-तरंग' के सम्पादक हुए और यह सचित्र मासिक पत्र भी वहीं से निकला था। इन्हीं त्रिपाठीजी के द्वारा उनसे परिचय हुआ। फिर तो वे ऐसे सरल और सहृदय निकले कि आत्मीयता का आलोक फैलाकर शीघ्र ही मेरे मन से संकोच का अंधकार दूर कर दिया। उनके सत्संग से लाभ उठाने का अच्छा अवसर मिला।

वे कितनी सादगी से रहते थे! देखकर श्रद्धा तो होती थी; पर करुण पीड़ा भी कुछ कम नहीं। वृन्दावन के सोलहवें साहित्य-सम्मेलन के सभापति तो चुन लिये गये; पर पास पैसे नहीं कि वहाँ जाने योग्य कपड़े बनवावें! जमीन में बिछी हुई एक पुरानी दरी पर फटी सीतलपाटी सोने-बैठने के लिए, न जाने कब का पुराना एक कम्बल ओढ़ने के लिए! ओढ़न-डासन का यह हाल; छाता-जूते का इससे भी गया-बीता! सिर्फ दो ही कुर्ते और दो धोतियाँ, जिन्होंने साबुन के सिवा धोबी का मुँह कभी न देखा! मैंने 'मतवाला'-सम्पादक श्रीमहादेवप्रसादजी सेठ से सारा हाल कहा, मुन्शी नवजादिक लालजी श्रीवास्तव से भी। दोनों सज्जन स्वयं उनके पास पहुँचे; बहुत आग्रह किया कि वृन्दावन जाने के योग्य कपड़े सिलवाये और खरीदे जायँ। पर वे तो रोने लग गये। वे तो ईश्वर से भी अपनी गरीबी पर दया की भीख माँगनेवाले जीव नहीं थे, फिर मनुष्य की

सहानुभूति उन्हें क्यों न विकल करती। रोते-ही-रोते कहने लगे—"मैं विना कोई काम किये किसी प्रकार की आर्थिक सहायता किसीसे भी नहीं ले सकता। बस इसी दशा में किसी तरह वृन्दावन चला जाऊँगा।"

आखिर वृन्दावन से लौटने के बाद कोई साहित्यिक काम करा लेने का आश्वासन देने पर मार्गव्यय और वस्त्रादि का मूल्य लेने को तैयार हो गये। मैंने एक प्रश्नावली तैयार कर उनकी जीवनी लिखने के लिए उनसे सामग्री भी प्राप्त कर ली। वह जावनी 'सरस्वती' में छपी, जब श्रीबख्शीजी उसके सम्पादक थे।

बंगाल के 'नावरा' गाँव (जिला चौबीस-परगना) में, संवत् १९२० में, उनका जन्म हुआ था। 'श्रीमद्भगवद्गीता' और 'गीतगोविन्द' उनके सबसे प्रिय ग्रंथ थे। दोनों ही करीब-करीब कंठस्थ थे। हिन्दी-गद्य में दोनों ही की टीका भी लिखी है। प्रायः बातचीत के के प्रत्येक प्रसंग पर बड़ी ओजस्विता से गीता के श्लोक कहा करते। गीतगोविन्द के ललित पदों का पारायण भी बड़े प्रेम से किया करते। बड़े विनोद-रसिक भी थे। मेरे मित्र रमेशचन्द्र जी शृङ्गार-रस से विरक्त रहा करते थे, अतः एक दिन उनसे कहने लगे—"देखो त्रिपाठी, जयदेव की इन पंक्तियों में कैसा मनोरम चित्र अंकित है—'चन्दनचर्चितनीलकलेवरपीतवसनवनमाली, केलिचलन्मणिकुण्डलमण्डितगण्डयुगस्मितशाली'—अर्थ समझते हो?"

रमेशजी को सकुचाते देख हँसकर बोले—'तुम कैसे युवक हो जी'?' रमेशजी ने बात का रुख पलटते हुए पूछा—"अच्छा, यह तो कहिए, अपनी लिखी पुस्तकों में आपको सबसे ज्यादा कौन पसन्द है?" कहने लगे—"मुझे तो 'सती सुखदेई' उपन्यास और 'देश की बात' के सिवा अपनी कोई पुस्तक पसन्द नहीं है, पसन्द अगर सचमुच पूछते हो तो अपने लिखे कुछ सम्पादकीय अग्रलेख ही हैं, मगर अब उन्हें पुस्तक-रूप में छापेगा कौन?"

ठीक ही तो कहा। मासिक 'विश्वमित्र' में उन्होंने कुछ आत्मसंस्मरण लिखे थे, वे भी तो आजतक पुस्तकाकार धारण न कर सके, फिर लेख-संग्रह या उनकी ग्रंथावली की चिन्ता किसे होगी! उनका 'चन्दा' उपन्यास आजकल सम्मेलन की उत्तमा-परीक्षा में स्वीकृत पाठ्य है, यही पर्याप्त है! हिन्दी-संसार उनको बिलकुल भूल चुका है! पर उनकी सेवा, त्याग-तपस्या और लगन की कद्र करानेवाला समय कभी तो आवेगा ही।

—मासिक 'हिमालय' (पटना); वर्ष १, अंक १; माघ २००२ वि०।

'ईश' कवि

सन् १८५७ ई० के गदर के समय से उज्जैन-वंशावतंस बाबू कुँवर सिंह की वीरता और रणधीरता इतिहास-प्रसिद्ध है। शाहाबाद-जिले (बिहार) के जगदीशपुर नामक कस्बे में बाबूसाहब की राजधानी थी। जगदीशपुर से एक-डेढ़ कोस दक्खिन-पच्छिम की ओर, हरी-भरी अमराइयों से घिरा हुआ, दिलीपपुर नाम का एक बड़ा-सा गाँव है। बाबू साहब के कुछ वंशधर दिलीपपुर के सुप्रतिष्ठित रईस हैं।

'ईश' कवि वहीं (दिलीपपुर) के निवासी थे। उनका शुभ जन्म संवत् १८९६ वि० आश्विन-पूर्णिमा को, जगदीशपुर के गढ़ में, हुआ था। उनके पिताजी का नाम बाबू तुलसीप्रसाद सिंह था। वे संस्कृत, हिन्दी, उर्दू और फारसी के प्रकाण्ड पंडित थे। उनके तीन पुत्र और दो कन्याएँ थीं। कन्याओं का विवाह प्रतापगढ़ जिले (युक्तप्रांत) की 'भदरी सम्सपुर' रियासतों में हुआ है। उनके पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र महाराज कुमार बाबू विश्वनाथ प्रसाद सिंह ही वर्त्तमान हैं, जिनके बा० गौरीशंकरप्रसाद सिंह, बा० दुर्गाशंकरप्रसाद सिंह[1] और बा० उमाशंकरप्रसाद सिंह नाम के तीन पुत्र हैं।

'ईश' कवि का पूरा नाम था—महाराजकुमारबाबू नर्मदेश्वरप्रसाद सिंह। उनके हृदय में युवावस्था से ही काव्यानुराग उत्पन्न हुआ। किन्तु वे छत्तीस वर्ष की अवस्था से ग्रंथ-रचना करने लगे। उनकी सबसे पहली रचना का नाम है 'शिवा-शिवशतक', जिसको सुप्रसिद्ध संग्रहकार डुमराँव-राज्य-निवासी पंडित नकछेदी तिवारी 'अजान' कवि ने सन् १८९२ ई० में काशी के भारत-जीवन प्रेस से प्रकाशित कराया था। यह 'शतक' पहले 'शैवशाक्त-मनरंजिनी' नाम से 'कविवचनसुधा,[2] में छप चुका था। उक्त 'अजान' कवि की सहकारिता से ही उन्होंने डुमराँव में मिले हुए 'मदनमंजरी'-नामक काव्य-ग्रंथ का संशोधन और संपादन कर भारत-जीवन प्रेस द्वारा प्रकाशित कराया था।

आपकी दूसरी रचना का नाम है—'शृंगार-दर्पण', जिसको दिलीपपुर-निवासी काव्य-मर्मज्ञ श्रीमान् पंडित धनंजय पाठक ने सन् १८८९ ई० में स्वयं प्रकाशित किया था। पाठकजी महाराज अभी तक जीवित हैं—आपके पास प्राचीन हिन्दी-काव्य-ग्रंथों की हस्तलिपियों का दर्शनीय संग्रह है—आपके पास 'सरस रस' नामक प्रसिद्ध काव्य-ग्रंथ की बड़ी प्रामाणिक हस्तलिखित कापी मौजूद है—कविजी के अंतरंग दरबारियों में इस समय आप ही जीवित हैं।

'ईश' कवि की तीसरी प्रकाशित गद्य-रचना है—'धर्मप्रदर्शिनी', जिसको उन्होंने[3] सन् १९०६ ई० में स्वयं प्रकाशित कर विद्वानों और राजों-महाराजों में वितरित किया था। यह तीन सौ पृष्ठों का एक आदर्श नीति-ग्रंथ है और इसके प्रत्येक पृष्ठ से उनका पाण्डित्य प्रकट होता है। इसके अन्त के १९ पृष्ठों में उनकी भक्ति-वैराग्यपूर्ण कविताएँ हैं। एक-दो उदाहरण देखिए—

ईश लसो तुम मम हिये, जो हिय तव कर माँह।
ज्यों कर में दर्पण लसत, दर्पण में मुख छाँह ॥ १ ॥

---

१. श्रीदुर्गाशंकरप्रसाद सिंह हिन्दी के सुपरिचित साहित्यसेवी हैं। उन्होंने हिन्दी में अनेक पुस्तकें लिखी हैं, जो प्रकाशित हो चुकी हैं। उनकी एक बड़ी पुस्तक (भोजपुरी के कवि और काव्य) बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से प्रकाशित हुई है, जो उनके अनेक वर्षों के शोध का परिणाम है।—ले०

२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा प्रकाशित प्रसिद्ध पत्रिका।

३. इस लेख में 'ईश' जी के लिए कहीं 'आप' और कहीं 'उन' (सर्वनाम) का प्रयोग हुआ था; परन्तु 'उन' का ही प्रयोग अधिक था, अतः 'आप' की जगह भी 'उन' ही कर दिया गया है।—ले०

हम जानत नहिं आपको, तुम जानत हौ मोहि।
जब तुम मोहि जनाइ हो, जानि भूलिहौं तोहि ॥ २ ॥
सब नैनन मैं नैन तुव, प्रतिबिम्बित दिन रैन।
तेरे ई नैनान में, बिलसत सबके नैन ॥ ३ ॥

लगे हाथों 'शिवा-शिवशतक' और 'शृंगार-दर्पण' के भी कुछ उदाहरण देख लीजिए। बड़ी मधुर रचनाएँ हैं।

कवित्त

सरद घटा के संग चपला छटा है कैधों घनसार माँह कैधो केसर लकीर है।
कैधों सत्यजुग माँह द्वापर को सीव सोहैं कैधों हास्य संग ही किरन रस वीर है।
मलै सो मिली है कैधों चम्पक की लतिका यों ईश्वरप्रसाद शिवा-शिव की नजीर है।
देवगुर दिप्ति कला ससि पै परी है कैधों रजत अटा सों लगी कंचन जँजीर है ॥१॥

× × ×

अगुन गुनाकर त्रिसूलधर सूलहर हौ साकार निराकार बहु नाम हौ अनाम।
अंजना के पति हौ निरजंन कृपाल काल ग्यानातीत ग्यानगम्य घोर रूप हौ ललाम।
गोचर अगोचर अरूप हो अनंत रूप व्यक्त हो अव्यक्त तमगुनी हौ प्रकासधाम।
कामद हो काम दहो सर्वधारी सर्वद हो सर्व सर्व ते परे हो तुमको करौं प्रनाम ॥ २ ॥
(शिवा-शिवशतक)

बरवै छंद

देखि पीठ पर बेनी हिए विचार।
मेरु सिखर ते निकरी जमुना धार ॥ १ ॥ (वेणी-वर्णन)
चिक्क बरुनी पल परदा गृह सित नैन
मरकत आसन सोहत पुतरी मैन ॥ २ ॥ (नेत्रपुतली-वर्णन)
स्याम रूप पीवत ये नैन सदाहिं।
पलक अधर सोइ स्याही कजरा नाहिं ॥ ३ ॥ (काजल-वर्णन)
नासा दीप-सिखा है संसै नाहिं।
लखो धूम भ्रू छायो ऊपर ताहि ॥ ४ ॥ (नाक-वर्णन)
रच्यौ काम करिगरवा या जबहिं कपोल।
बसि गइ तासु पुतरिया मनहुँ अलोल ॥ ५ ॥ (कपोल-तिल-वर्णन)

जटित नीलमनि पग में पायल जाग।
मनहुँ जगत की अँखियाँ पग रहि लाग ॥६॥ (पायजेब-वर्णन)
जेहि हरि उदर माहँ बहु लोक रहंत।
बड़े सोउ गुनि नैनन में निबसंत ॥७॥ (नेत्रदीर्घता-वर्णन)

उनकी रचनाओं में प्राचीन कवियों के भावों की छाया भी कहीं-कहीं मिलती है। जैसे उपर्युक्त दो (६,७) अंतिम छंदों में क्रमशः द्विजदेव और भिखारीदास[१] की निम्नलिखित रचनाओं की छाया—

........टटकी।........गयंदन की मटकी।....लोगन की अँखियाँ अटकीं ॥१॥ (द्विजदेव)
....ते हरि 'दास' बसे इन नैनन, एते बड़े दृग राधिका तेरे ॥१॥ (भिखारीदास)

उनकी एक अप्रकाशित रचना है 'पंचरत्न'। इसे उन्होंने अपने अंतिम जीवनकाल में रचा था। वि० संवत् १९७१ की फागुन सुदी अष्टमी को प्रातःकाल अपने निवास-स्थान पर उनका स्वर्गवास हो गया, इसलिए 'पंचरत्न' प्रकाशित न हो सका। इस अप्रकाशित ग्रंथ में पाँच 'तरंग' हैं। प्रथम तरंग में देवस्तुति, द्वितीय में रास-विलास-वर्णन, तृतीय में समस्या-पूर्तियाँ, चतुर्थ में ऋतुवर्णन और पंचम में भक्तिवैराग्यपूर्ण भजन। 'देवस्तुति' में 'श्रीविहारी नवरत्न' शीर्षक के अंदर जो नव कवित्त हैं, वे सुखसागर कवि की 'चित्त-विनोदिनी' में संगृहीत होकर छप चुके हैं। 'चित्तविनोदिनी'-नामक पुस्तक संवत् १९५७ में भारत-जीवन प्रेस से निकली थी। उसके रचयिता बाबू रामशरण सिंह (उपनाम सुखसागर कवि) आजमगढ़ जिले के 'रोआँ'-ग्रामनिवासी थे और पूर्वोक्त जगदीशपुर के निवासी महाराज कुमार बाबू रघुनाथप्रसाद सिंहजी रईस के दरबार में कारिंदा थे।

(१) पंचरत्न की प्रथम तरंग के एक-दो बिन्दु का स्वाद लीजिए—

छोटी-छोटी रेख भृकुटी की अति नीको लसैं, अधखुली पलकों में आँखैं मनो भरी लाज।
उन्नत सो भाल रंचि उन्नत सो नासिका है, गोल-गोल अरुन कपोल सुख सोभा साज।
अधर सो पानि लाल आँगुरी छबीली छोटी, तामे छोटे-छोटे नख हीर के कनी से राज।
साँवरे सलोने अंग-अंग द्युति की तरंगे, सोई जसुदा के गोद प्रगट बिहारी आज ॥१॥

बाहन तो निज बूढ़ो ही बल पै दासन को गज बाजि सुचाल जू।
आपु बाघम्बर धारो सदा जरि अम्बर औरन हेत रसाल जू।
साँप को हार गरे निज राजत दीनन देत मनान को माल जू।
नेकु निहारे निहाल करो सिव साईं तिहारी नई यह चाल जू ॥२॥

---

१. द्विजदेव और भिखारीदास की रचनाओं का संकेत-मात्र ही यहाँ दिया गया है; क्योंकि संकेतित रचनाएँ बहुत प्रसिद्ध और हिन्दी-पाठकों में सुपरिचित हैं।—ले०

(२) द्वितीय तरंग से

बन ऊजरी फूली अगस्त कली सर ऊजरी सोहीं कुमोदिनियाँ।
नभ ऊजरी तारे कतारे लसी जनु ऊजरी हीरन की कनियाँ।
भई ऊजरी चंद दुचंद प्रभा अति ऊजरी पूनो की चाँदनियाँ।
रितु पाइ कै ऊजरी सारद की भई ऊजरी रंग सभी दुनियाँ ॥१॥

(३) तृतीय तरंग में डुमरांव-नरेश स्व० महाराजा राधाप्रसाद सिंह बहादुर, सी० आई० ई०; काशीनरेश स्वर्गीय महाराजा ईश्वरीप्रसाद-नारायण सिंह बहादुर जी० सी० एस्० आई०; स्वनामधन्य स्व० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और सूर्य्यपुराधीश स्व० राजा राजराजेश्वरीप्रसाद सिंहजी (प्यारे कवि) तथा काशीस्थ भारत-जीवन प्रेस की दी हुई समस्याओं की पूर्त्तियाँ संगृहीत हैं। यहाँ केवल भारतेन्दुजी की एक समस्या की पूर्त्ति देखिए—

छिति छाई बिछाई सुचाँदनी-सी यह चाँदनियाँ चित चोरै लगी।
कछु सीतल हीतल को करती सुखदाइनी नैन-चकोरै लगी।
जनु कीरति 'ईस' दिगीसन लों तन ताप तिनूकनि तोरै लगी।
सरदीय सुधाकर की किरनैं दिन द्वै ते पियूष निचोरै लगी ॥१॥

(४) चतुर्थ तरंग से 'ऋतु-दर्शन'

दृग कंज अली अलकावलि है किसलय पद पानि लसैं बिलसै।
ससि आनन अंबर जोन्ह जरी कुसुमावली भूषन से सरसै।
कविकोकिल 'ईस' कलाप करै बिकसी कली मंदहि मंद हँसै।
कहि कौन जसो जुन होत बसी सुरभी रितु पातुर के दरसै ॥१॥

(५) पंचम तरंग का एक भजन

सिव आजु बने सुख सावन हैं।
गरल कंठ छबि श्याम घटा की बृषभ बायु चढ़ि आवन है।
छन छन छटा न यह चपला की तीनो नैन डरावन है।
घरहरात घनघोर घटा ज्यों डमरू सबद सुनावन है।
सेत बासुकी हार बिराजत बकुल पाँति मनभावन है।
बरसत धारा धराकास लौं लटकों जटा सुभावन है।
'ईस' कृपा जेहि के उर अंतर ऐसो ध्यान सुहावन है।
ताके भीतर बाहर हूँ यह सावन मोद बढ़ावन है ॥१॥

—मासिक 'माधुरी' (लखनऊ); वर्ष ५, खंड २, संख्या ६; आषाढ़, ३०३ तुलसी-संवत्

बिहार के सबसे बूढ़े दो कलाकार

[१]

बिहार के सबसे बूढ़े दो कलाकार हैं—(१) पंडित चन्द्रशेखरधर मिश्र; (२) प्रोफेसर ईश्वरीप्रसाद वर्मा। मिश्रजी भारतेन्दु-युग के साहित्यसेवी हैं। वर्माजी भारत-प्रसिद्ध चित्रकार हैं।

साहित्य और कला में बड़ा गाढ़ा नाता है। साहित्य की सृष्टि करना भी एक कला है। चित्र बनाना तो प्रसिद्ध कला है ही। दोनों कलाकारों में पहले की अवस्था इस समय चौरासी (८४) वर्ष की है और दूसरे की पचहत्तर (७५) वर्ष की। परमात्मा से प्रार्थना है कि दोनों ही कम-से-कम सौ साल जरूर जीवें। दोनों ही बिहार के गौरव हैं—दोनों ही पर बिहार को गर्व है। पहले का जन्म-स्थान चम्पारन-जिले का रत्नमाला गाँव है, दूसरे का है पटना-सिटी का लोदीकटरा मुहल्ला।

मिश्रजी की ८४वीं जयन्ती आगामी पौष-कृष्ण-द्वितीया, गुरुवार (२४ दिसम्बर, १९४२ ई०) को पड़ेगी। उस दिन आपके दीर्घजीवी होने के लिए कम-से-कम बिहार की हिन्दी-संस्थाओं में अवश्य, विधिवत् ईश्वर-प्रार्थना होनी चाहिए। ईश्वर की दया से आप अभी पूर्ण स्वस्थ हैं।

पूर्ण स्वस्थ तो वर्माजी भी हैं। वे तो अभी नौजवानों के भी कान काटते हैं। बड़े फुर्तीले और जोशीले हैं, बल्कि रँगीले भी हैं। स्वयं तो सदा प्रसन्न रहते ही हैं, दूसरों को भी प्रसन्नता की प्रसादी बाँटते फिरते हैं। जब देखिए तब हँसमुख ही दीख पड़ेंगे। जान पड़ता है, हर घड़ी उनके हृदय में उमंग की तरंग लहराती रहती है—बुढ़ापा कभी पास फटकने नहीं पाता। कोई बुड्ढा कह दे तो लड़ने को कमर कस लें। दो कमासुत जवान लड़के छाती छलनी कर गये, एकमात्र कन्या विधवा हो गई, होनहार पोता भी जाता रहा, तब भी तबीयत में वही रंगीनी है।

मिश्रजी का हाल देख और भी अचम्भा होता है। चौरासी की उम्र में मोती की लड़ी-सी बत्तीसी देख अचरज न होगा तो क्या होगा ? अभी इतने टाँठे हैं कि मोटिया टाँघन की तरह खड़ाऊँ पहने खटाखट सीढ़ी पर चढ़ जाते हैं। सो भी काशी की सीढ़ी। खड़ाऊँ ही बराबर पहनते हैं, जूता नहीं। तेल की मालिश रोज-रोज कराते हैं। खाते हैं खूब बढ़िया चावल, चक्की का पीसा आटा, देहात का घी। उनकी रसोई की सफाई और पवित्रता देखने ही योग्य है।

वर्माजी तो कलाकार ही ठहरे। बड़े कलापूर्ण ढंग से रहते हैं। दाढ़ी में कभी कोई बाल की खूंटी झाँकती नजर न आवेगी। नहा-धोकर कंघी करेंगे, कभी सुरमा लगा लेंगे, कभी लाल बिन्दी दे लेंगे, और अगरबत्ती जलाकर एक ठिकाने रख देंगे। यह धूपबत्ती उनकी खास प्यारी चीज है। दियासलाई की पेटी और मैसूरी कस्तूरी बत्ती हमेशा साथ रखते हैं। जब बन-ठनकर बैठ जायँगे, तब सुनिए किस्से-कहानियाँ, लटके-लतीफे—बस, अपनी ही सुनायेंगे, आपकी एक न सुनेंगे। इस उम्र में भी बोलने से थकते नहीं। आवाज

मृदंग की तरह पक्की और ठोस। ठहाका ऐसा लगाते हैं कि जवानी भी झेंप जाती है। न जाने कितनी स्फूर्त्ति है उनके तन-मन में।

मिश्रजी तो वैद्यराज ही हैं। बहुत ही प्रसिद्ध और यशस्वी वैद्य हैं। बड़े विद्वान और परोपकारी वैद्य हैं। अस्सी पार करके भी उनका स्वस्थ रहना उचित ही है। किन्तु वे दवा के सहारे स्वस्थ नहीं हैं; केवल संयम के बल पर। अपने गाँव में सार्वजनिक औषधालय और संस्कृत-विद्यालय खोल रक्खा है। अपनी सारी सम्पत्ति उसी के लिए दे डाली है। स्वयं अब काशी-वास करते हैं। बरसों से काशी छोड़ कहीं आते-जाते नहीं। भदैनी मुहल्ले में लोलार्क-कुंड पर अपने ही मकान में रहते हैं। पहले जब कलकत्ता जाते थे, भारत-प्रसिद्ध चिकित्सक कविराज गणनाथ सेन के अतिथि होते थे। वहाँ अपने साथ शुद्ध चिकनी मिट्टी तक ले जाते थे; चावल दाल और घी-आटा तो हर जगह साथ चलता ही था। नीम की छँटी-फटी दाँतून और नीम का खरका भी दाँत खोदने के लिए साथ रखते थे—यद्यपि दाँत इतने सघन हैं कि खरका करने की जरूरत ही नहीं।

नियमित जीवन, नियमित आहार, यही उनके स्वास्थ्य का रहस्य है। प्रातः-सन्ध्या पूजा-पाठ और रोगियों की सेवा-सहायता तथा बचे हुए समय में स्वाध्याय और भगवद्-भजन। इतनी ही दिनचर्या है—बँधी रूटीन। अगर बातचीत करने लगेंगे तो पग-पग के प्रसंग पर संस्कृत और हिन्दी की सूक्तियाँ सुनायेंगे। पुराने संस्मरणों के तो कुबेर ही हैं। स्मृतिशक्ति अद्भुत है! आँखों की जोत और आँतों की क्रिया में रत्ती-भरबल नहीं पड़ा है। इसका कारण भी और कुछ नहीं, दृढ़ संयम है।

वर्माजी की तन्दुरुस्ती का भेद भी यही है। खुद कहा करते हैं—जवानी में भी मैं खूब तड़के उठकर निबट-नहा लेता था। खान-पान के समय और रहन-सहन के ढंग में कभी कोई हेरफेर नहीं होने पाता था। आज भी वही क्रम चल रहा है। जरा कभी उनका फल खाना देखिए, खुद बड़ी नफासत से छीलेंगे, तराशेंगे। कभी समूचा चीनिया केला मुँह में डाल लेंगे और कभी सींक से उसके कतरे गोदकर खायेंगे। कभी सन्तरे की फलियाँ चूसते-चूसते चुपके से आपके पास आकर आपकी आँखों में उसके छिलके का रस निचोड़ देंगे—'देखोजी, इसमें कितनी तरावट है। आँख की रोशनी निखर जाती है!'

उनकी मौज-मस्ती बस देखने और अनुभव करने की चीज है। बालकों को तो उनके ऐसा तरंगी संगी मिल ही नहीं सकता। जहाँ-कहीं बालकों को देख लेंगे, उनके साथ ऐसी गुटबन्दी कर लेंगे कि माँ-बाप भी देखकर चकित हो जायँगे। बाल-गोपाल की मंडली में पूरे कुँवर-कन्हैया बन जाते हैं—वही नटखटपन, वही चुलबुलापन, उसी तरह मटकेंगे, हा-हा-हू-हू करेंगे और अनेक देशों के निराले नाच दिखाकर बालकों को मुग्ध कर देंगे। कभी कागज-पेंसिल लेकर किसी बालक का विचित्र चित्र खींच देंगे—बेडौल, बेढंगा, भयानक। लड़के हँसते-हँसते लोटनकबूतर बन जायँगे। कभी दो बालकों की तस्वीर खींचकर कुश्ती में एक को कलाबाजी खिला झट ललकार देंगे कि

दूसरे से भिड़कर तुरत फैसला कर ले, और खुद पंच भी बन जायँगे। उनके तमाशों का ब्योरा देना कठिन है।

मिश्रजी ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में युक्तप्रान्त के पूरबी और बिहार के पच्छिमी जिलों में हिन्दी का बहुत प्रचार किया था। अनेक नगरों और ग्रामों में आपने हिन्दी की सभाएँ स्थापित की थीं। भारतेन्दुजी से मिलकर प्रायः इस विषय में सलाह किया करते थे। 'विद्याधर्म-दीपिका'-नामक एक हिन्दी-मासिक पत्रिका अपने खर्च से छपवाकर सब हिन्दी-प्रेमियों को मुफ्त बाँटते थे। उस समय हिन्दी-प्रेमियों की संख्या बहुत कम थी। आजकल ऐसा कोई करे तो दिवाला निकल जाय। उस समय के पत्रों में आपके अनेक लेख और कविताएँ छप चुकी हैं। खड़ी बोली में कविता करने के लिए उस समय जब कवियों से प्रेरणा की गई तब आप ही की कविता सबसे सुन्दर समझकर चुनी गई। आपके लेख अधिकतर हिन्दी के प्रचार के सम्बन्ध में होते थे। आपके साहित्यिक लेखों में अधिकतर संस्कृत-साहित्य की बातें रहती थीं। आप संस्कृत में बहुत अच्छी कविता करते हैं। संस्कृत के महाकाव्यों के सुन्दर श्लोक आपके लेखों में जगह-जगह मिलते हैं। शब्दों की व्युत्पत्ति आपसे सुनिए तो अध्ययन की कुछ थाह लगे।

इस बुढ़ापे में भी आप 'आविष्कार' नामक एक मासिक पत्र काशी से निकालते हैं। आपकी लिखी 'आरोग्य-प्रकाश' नामक पुस्तक के कई संस्करण हो चुके हैं और हजारों प्रतियाँ खप चुकी हैं। उसमें आपके आयुर्वेदिक आविष्कार का वर्णन है।

आपने गूलर की पत्ती और छाल तथा फल से अनेक भयंकर रोगों के दूर करने की नई चिकित्सा-प्रणाली निकाली है। आपकी बनाई हुई 'उदुम्बर-सार' नामक दवा अनेक असाध्य रोगों पर अचूक राम-बाण सिद्ध हुई है। महामना मालवीयजी और डाक्टर राजेन्द्र प्रसादजी ने भी आपके उस आविष्कार की बड़ी प्रशंसा की है। गूलर सब जगह मिलनेवाली चीज है। उसके फल और पत्ते से अनेक हताश रोगियों और गरीबों का आपने उपकार किया है। निर्धन रोगियों के लिए आपने गूलर (उदुम्बर) को कल्पवृक्ष सिद्ध कर दिया है। इधर आपने 'आत्मकथा'[१] भी लिखी है, जो अगर छप गई तो पिछले साठ वर्षों की बहुत-सी पुरानी साहित्यिक बातें प्रकट हो जायँगी।

वर्माजी की आत्मकथा भी बड़े काम की चीज होती। मगर वे खुद लिख नहीं सकते, लिखा सकते हैं। मगर इस देश में ऐसे गुणग्राही हैं ही नहीं, जो एक बूढ़े कलाकार के अनुभवों को लिखकर अपने साहित्य को सौंप दें। चित्रकला-सम्बन्धी बहुत-सी पुरानी बातें वर्माजी के साथ ही लुप्त हो जायँगी, यह सोचकर दुःख होता है। वे भारतीय चित्रकला के विषय में बहुत-सी ऐसी बातें जानते हैं, जिनके जानकार अब शायद ही कहीं मिलें। वे दस बरसों से पेन्शन पाकर पटना में विश्राम कर रहे हैं, जहाँ उनके सबसे छोटे पुत्र श्रीमहावीरप्रसाद चित्रकार अपना व्यवसाय करते हैं।

---

१. मैंने अनेक बार उनसे आत्मकथा लिखने का साग्रह अनुरोध किया था और उन्होंने लिखना शुरू भी कर दिया था, पर उसे पूरा न कर सके और जो कुछ लिख चुके थे वह भी उनके देहान्त के बाद नहीं मिला।—ले०

वर्माजी कलकत्ता के गवर्नमेंट आर्ट-स्कूल में प्रोफेसर थे। अन्त में वाइस प्रिन्सिपल होकर पेन्शन ली। बंगाल के प्रसिद्ध चित्रकारों में बहुतेरे उनके शिष्य हैं और आज अच्छे ओहदे पर हैं। बंगाल के गवर्नरों और एक बड़े लाट ने भी उनसे हाथी-दाँत पर चित्र बनवाकर प्रशंसा-पत्र दिया है। कई गवर्नरों और अँगरेज अफसरों की मेमों और लड़कियों ने उनसे चित्रकला की शिक्षा पाई है। उन्होंने हिन्दी में चित्रकला पर एक पुस्तक[१] भी लिखी है, जो लगभग छप चुकी है। वे संगीत-मर्मज्ञ भी हैं। सितार बहुत अच्छा बजाते हैं और गाते भी हैं। उनकी बाँसुरी बजाने के समय की भावभंगी कभी देखिए तो आँख और कान साथ ही तृप्त हो जायँ।

—'बालक' (मासिक) (पटना); वर्ष १६, अङ्क ७-८; जुलाई-अगस्त, १९४२ ई०

[२]

'उदुम्बर-सार' के आविष्कर्त्ता पंडित चंद्रशेखर धर मिश्र

गुरोरधीताखिलवैद्यविद्यः पीयूषपाणिः कुशलः क्रियासु।
गतस्पृहो धैर्यधरः कृपालुः शुद्धोऽधिकारी भिषगीदृशः स्यात्॥

महात्मा गांधी के विश्वविख्यात अमोघ अस्त्र 'सत्याग्रह' की जन्मभूमि होने के कारण बिहार-प्रान्त का 'चम्पारन' जिला बहुत प्रसिद्ध हो गया है। उसी जिले में 'रत्नमाला' नाम का एक गाँव है, जो 'बगहा' डाकखाने के हलके में पड़ता है। गाँव का नाम (रत्नमाला) जिले के नाम (चम्पारण्य) से कम सुन्दर नहीं है; किन्तु इन दोनों को अलंकृत और गौरवान्वित करनेवाले पण्डित चन्द्रशेखरधर मिश्र का नाम तो और भी सुन्दर है। इसका एक कारण है, आपमें नामानुकूल गुण भी हैं। आपके नाम का लोग अर्थ करते हैं 'कैलास'। कैलास ही के समान शुभ्र और शिवाधार आपका नाम भी है, वह यश की धवलता से धवलित लोक-कल्याण का आधार-भूत है।

आप अपने जिले के एक प्रतिष्ठित जमींदार हैं और प्रसिद्ध वैद्यराज भी; पर आपकी जमींदारी और चिकित्सा की आय का अधिकांश केवल जनता के उपकार में ही व्यय होता है। इसीलिए आप सदैव आर्थिक संकटों से घिरे रहते हैं। फिर भी लोकोपकार के शुभ-कार्य से आप कभी विमुख नहीं होते। आपके इष्ट-मित्र और कुटुम्बी आपकी उदारता और परोपकारिता को आपका अवगुण समझते हैं; पर आप इन्हीं गुणों को अपना जीवनाधार मानते हैं।

आप सैकड़ों हताश रोगियों को जीवन-दान दे चुके हैं। जलोदर, मस्तिष्क-वृद्धि, शोथ, हृद्रोग, जीर्णज्वर, श्वास आदि रोगों की चिकित्सा में आशातीत सफलता दिखाकर,

---

१. यह पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है। इसमें चित्र अंकित करने के लिए विविध प्रकार के पक्के भारतीय रंगों को तैयार करने की विधियाँ बताई गई हैं।—ले०

आप काफी कीर्त्ति कमा चुके हैं। इन रोगों के आप सिद्धहस्त चिकित्सक हैं। अन्य कई भयंकर रोगों के रोगी भी आपकी चिकित्सा से चंगे होकर, आज तक आपके कीर्त्ति-स्तम्भ बने हुए हैं।

अपने गाँव 'रत्नमाला' में आपने एक आयुर्वेद-विद्यालय खोल रखा है। उसमें कई विद्वान अध्यापक हैं। विद्यालय के संचालन का व्यय-भार आप ही वहन करते हैं। विद्यार्थियों को वहाँ भोजन-वस्त्र भी दिया जाता है। आपके दातव्य औषधालय से गरीब देहातियों को बड़ा लाभ पहुँचता है। असमर्थ और असहाय रोगियों को मुफ्त दवा के सिवा भोजन, विश्राम-गृह और मार्ग-व्यय तक मिलता है। आपके पास प्रायः ऐसे रोगी देखे जाते हैं, जो स्वजन की तरह आपके यहाँ निर्द्वन्द्व रहकर खाते-पीते, दवा कराते और चंगे होकर घर चले जाते हैं। आपके श्रीचंद्रोदय औषधालय का नाम सार्थक-सा है।

निखिल भारतवर्षीय वैद्य-महासम्मेलन की ओर से आपको 'चिकित्सक-चूड़ामणि' की उपाधि मिली है। बिहार-पण्डित-सभा (पटना) ने आपको 'वैद्यरत्न' की उपाधि से विभूषित किया है। इसी प्रकार विद्यालंकार, आयुर्वेदाचार्य, कवीन्द्र आदि उपाधियाँ भी आपको मिली हैं। कलकत्ता की आयुर्वेद-सभा के अध्यक्ष महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन सरस्वती ने उक्त सभा की ओर से आपको एक मान-पत्र दिया था। वह अभिनन्दनोत्सव महामना मालवीयजी की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ था। आप बिहार प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति-पद को भी सुशोभित कर चुके हैं। बिहार-प्रान्त के आप पुराने साहित्य-सेवी हैं। आज से पैंतालीस वर्ष पहले आप 'विद्या-धर्म-दीपिका' नाम की मासिक पत्रिका निकालते थे। वह बिना मूल्य ही बाँटी जाती थी। उसे आप बरसों ग्राहकों को मुफ्त देते रहे। 'हिन्दी-कोविद-रत्नमाला'[१] में आपकी साहित्यिक जीवनी प्रकाशित हो चुकी है। इस समय आपकी अवस्था पचहत्तर वर्ष की है।

आपने गूलर के पत्तों से 'उदुम्बर-सार' नाम की एक ऐसी दवा तैयार की है, जो अनेक रोगों पर असर करती है। कान, आँख, नाक, दाँत, जीभ और चमड़े के अनेक असाध्य रोगों पर उसका अभीष्ट प्रभाव देखा गया है। साँप, बिच्छू आदि के डंक पर भी वह यथेष्ट गुणद सिद्ध हुई है। बहुत-से अनुभवी डॉक्टरों और कविराजों ने उसकी बड़ी प्रशंसा की है। उसकी व्यवहार-विधि आपके पास छपी हुई मिलती है, जिसमें सैकड़ों रोगों पर उसके प्रयोग की विधि बताई गई है।

यदि आप किसी स्वतंत्र देश में उत्पन्न हुए होते, तो अबतक सारे संसार में आपकी प्रसिद्धि हो गई होती; किन्तु भारतवर्ष में तो आत्म-विज्ञापन 'दम्भ' कहलाता है। जहाँ आत्म-प्रशंसा की गणना पाप में है, वहाँ पुराने ढंग का संस्कृतज्ञ मनुष्य किस प्रकार अपने गुणों को प्रकट कर सकता है? और सच तो यह है कि विदेशी

---

१. यह पुस्तक दो भागों में सचित्र छपी थी। इसके लेखक बाबू श्यामसुन्दर दासजी थे। इसके बाद उन्होंने 'हिन्दी के निर्माता' नामक पुस्तक दो भागों में तैयार की, जो इंडियन प्रेस (प्रयाग) की सरस्वती-सीरीज में छपी है।—ले०

दवाओं ने, राजाश्रय के प्रताप से, देशी दवाओं का गला दबा रखा है—यद्यपि देशी दवाएँ शुद्धता और गुणकारिता में उनसे कहीं बढ़ी-चढ़ी हैं।

आपके द्वारा आविष्कृत 'उदुम्बर-सार' पर अनेक माननीय पुरुषों की महत्त्वपूर्ण सम्मतियाँ प्राप्त हैं, जिनमें से एक-दो यहाँ देना पर्याप्त है—

(१) महामना मालवीयजी—'आयुर्वेद के असामान्य और उत्कृष्ट विद्वान् उपकार-परायण पण्डित चन्द्रशेखरधर मिश्रजी ने गूलर के पत्तों के अद्भुत गुणों का विकास कर लोक का बड़ा उपकार किया है। और इस उपकार के लिए वे मनुष्य-जाति की कृतज्ञता के अधिकारी हैं। पण्डितजी का 'यज्ञाङ्गप्रकाश' वा 'गूलरगुणविकाश' नामक लेख उनके आयुर्वेद की योग्यता के साथ-साथ उनके संस्कृत और हिन्दी के पाण्डित्य का भी उदाहरण है।'

(२) महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन सरस्वती, एम्०ए० और डॉक्टर यामिनीभूषण राय, एम्० ए० (कलकत्ता)—'इस समय आपने सम्पूर्ण जनता के हितार्थ गूलर-पत्र उदुम्बर-सार के नाम से अमृत को आविष्कृत किया है, जो शस्त्र-चिकित्सा (सर्जरी) और शरीर-चिकित्सा में महोपयोगी हो रहा है। यह अपना गुण सब औषधों से अधिक प्रकाशित करता है और इसकी दी हुई आरोग्यता चिरस्थायिनी होती है। हमने बीमारी की कठिन अवस्था में इस्तेमाल किया और कहीं फेल नहीं किया।'

आपके आयुर्वेद-विद्यालय के सम्बन्ध में भी बहुत-सी ऐसी ही सम्मतियाँ प्राप्त हैं। उनमें से एक-दो यहाँ उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा—

(१) राजा पटेश्वरी प्रतापनारायणसिंह (बस्ती)—'आप अपने आयुर्वेद-विद्यालय के लिए दूसरों से सहायता नहीं लेते—दान देने पर भी स्वीकार नहीं करते, यह आपकी परोपकार-परायणता का प्रमाण है।'

(२) स्कूलों के निरीक्षकों की सम्मतियों का सारांश—'चन्द्रोदय-आयुर्वेद-विद्यालय में निरीक्षण करने के लिए अकस्मात् पहुँचने पर देखने में आया कि पढ़ाई का काम बड़े ठिकाने से चल रहा है। विद्यालय के प्रबन्धक पण्डित चन्द्रशेखरधर मिश्र ने संस्था के लिए एक प्रकार से अपने को बरबाद कर डाला है। इसके स्थायित्व और अभ्युदय के लिए आप पर करीब बावन हजार रुपये का कर्ज लद गया है। विद्यालय के साथ एक आयुर्वेदिक-चिकित्सालय (अस्पताल) भी सम्बद्ध है, जहाँ रोगियों को नियमित रूप से औषध और भोजन दिया जाता है। विद्यार्थियों को भी सब तरह की सुविधाएँ दी जाती हैं। हमारा अनुरोध है कि मिश्रजी सरकारी सहायता के लिए प्रार्थना-पत्र दें।'

आपने संस्कृत में 'यज्ञाङ्गप्रकाश' और हिन्दी में 'गूलरगुणविकाश' नामक पुस्तकें लिखी हैं। 'चिकित्साचन्द्रोदय' और 'स्वास्थ्य-विधान' नामक पुस्तकें बरसों पहले की लिखी हुई हैं। पशुओं की चिकित्सा में भी आप बड़े दक्ष हैं। पागल स्यार-कुत्ते के काटे हुए कई आदमी आपकी दवा से अच्छे हो चुके हैं। अब आप स्थायी रूप से काशी-वास कर रहे हैं।

—साप्ताहिक 'जागरण' (काशी); वर्ष १, अंक ४६; १० जुलाई, १९३२ ई०

[३]

प्रोफेसर ईश्वरीप्रसाद वर्मा[1]

प्रोफेसर ईश्वरीप्रसाद वर्मा कितने बड़े कलाकार हैं—यह बहुत कम लोग जानते हैं। इसका एक कारण है। आप पुराने ढंग के आदमी हैं। आजकल की नई दुनिया में आप नहीं खप सकते; क्योंकि अपने गुणों का विज्ञापन करना नहीं जानते। चित्रकला में आप अत्यन्त निपुण हैं। परन्तु अपनी कला का ढिंढोरा पीटने की कला में निपुण नहीं हैं। आजकल कीर्त्ति कमाने के जो उपाय हैं, उन्हें आप पसन्द नहीं करते। इस लेख का मसाला 'ढूँढ़ना पड़ा' है।

इस समय आप पचहत्तर वर्ष के जवान हैं। बुढ़ापे का कोई लक्षण आपमें नहीं है। सिर्फ कुछ सफेद बाल और कुछ झुर्रियाँ पचहत्तर की पताकाएँ हैं। बन-ठन में, तबीयत की मौज में, बोलचाल की मिठास में, रहन-सहन के बाँकपन में, स्वभाव की हरएक तह में जवानी की लहर है। पता नहीं, कैसा गेहूँ खाया है।

इन दिनों आप बिहार-प्रान्त के 'आरा'-नगर में रहते हैं। वहाँ के धनी-मानी रईस बाबू निर्मलकुमार जैन आपकी कला का बड़ा आदर करते हैं। मुंगेर के स्वर्गीय राजा देवकीनन्दन भी आपकी कला के सच्चे पारखी थे। आपकी कला के चाहक विहार में इने-गिने ही हैं। बाहर कौन हैं, इसका आपको भी पता नहीं।

आपका शुभजन्म पटना-सिटी के लोदीकटरा मुहल्ले में हुआ था। आपके पितामह रायसाहब प्यारेलाल अँगरेजी पलटन में सूबेदार-बहादुर—सरवेयर (Surveyor)—थे। आपके पिता मुंशी फकीरचंदलाल भी पलटन ही में ड्राइंग के महकमे के सुपरवाइजर (Supervisor) थे। पटना के पास ही दानापुर में अँगरेजी फौज की छावनी है। वहीं से पेंशन लेकर मुंशीजी मध्यभारत की 'जावरा' रियासत में नौकर हो गये। उनका जन्म इलाहाबाद में हुआ था। कभी-कभी आप कहते भी हैं—हमारे बाप-दादा फौजी जीव थे, बाप का तो जन्म ही हुआ था फौजी छावनी में। इसीलिए लश्करी जोश बुढ़ापे की नसों में भी है।

कला का संस्कार आया माता के कुल से। आपकी माता भी चित्रकला की पंडिता थीं। उनका नाम था स्वर्णकुमारी। मगर प्यार का घरेलू नाम था 'सोनादेई'। यह उपनाम ही अधिक प्रसिद्ध था। उन्हीं से बचपन में आप चित्रकला सीखा करते थे। उनके पिता, आपके नाना, राय शिवलाल भी पटना नगर के ही निवासी थे। उनका जन्म पटना शहर में ही हुआ था। ऐसा विचित्र संयोग कि उनके पिता—आपके परनाना—का नाम भी राय फकीरचन्द ही था, जिनका जन्म मुर्शिदाबाद (बंगाल) में हुआ था। मुर्शिदाबाद के साथ एक पुरानी कहानी भी है।

---

१. 'बालक' के गत वर्ष के रजत-जयंती अङ्क में वयोवृद्ध श्रीवर्माजी की कुछ विशेषताओं का वर्णन, संक्षिप्त संस्मरण के रूप में, छप चुका है। इस लेख में उनकी जीवनी है।—ले०

आपके नाना राय शिवलाल के पुरखे नौहरलाल और मनोहरलाल 'देवल-प्रताप गढ़' (राजपूताना) से दिल्ली जाकर शाही दरबार में चित्रकार हुए। जहाँगीर के समय में मनोहरलाल को 'राय' की उपाधि मिली। शाहजहाँ के समय तक वे दिल्ली में रहे। औरंगजेब के समय में कला का कल्ला दबा दिया गया। बेचारे मनोहरलाल मुर्शिदाबाद के नवाबी दरबार में चले आये। ये ही मनोहरलाल मुगल-काल के इतिहास में मनोहरदास के नाम से प्रसिद्ध चित्रकार हैं।

शाह मीरन के अत्याचारों से ऊबकर मनोहरलाल के वंशधर राय धनीराम मुर्शिदाबाद छोड़ पटना चले आये। पटना के नवाब (मुहम्मद) के दरबार में रहने लगे। चित्रकला में जो 'पटना-कलम' प्रसिद्ध है, उसका श्रीगणेश इन्हीं धनीराम ने किया था। वर्माजी के परनाना—उपर्युक्त राय फकीरचन्द—इन्हीं धनीराम के पुत्र थे।

आपके नाना राय शिवलाल अच्छे चित्रकार थे। उनकी कला ने अँगरेज-अधिकारियों का ध्यान खींचा। उस समय पटना में 'मिस्टर टेलर' कमिश्नर थे। वे कला के शौकीन थे। उन्होंने राय शिवलाल का आदर किया। राय शिवलाल ने उनके द्वारा उत्साह पाकर अँगरेजी चित्रकला भी सीख ली। उनके अंकित किये हुए चित्र आज भी कई जगह देखे जाते हैं। पटना शहर के पच्छिम दरवाजा मुहल्ले में एक नानकशाही संगत (गुरुद्वारा) है। उसमें राय शिवलाल के बनाये कई चित्र अब भी देखने योग्य हैं। राय शिवलाल भी नानकपंथी ही थे। उनके कई चित्र पटना-निवासी पुराने खानदानी रईसों के यहाँ भी पाये जाते हैं। उनका घर एक प्रकार का चित्रकला-विद्यालय था।

राय शिवलाल के भाई मुंशी जयरामदास भी सिद्धहस्त चित्रकार थे। भारतीय शैली की चित्रकला में तो कुशल थे ही, बिहार के चीफ कमिश्नर मिस्टर ड्वाली के उत्साहित करने से अँगरेजी-चित्रकला भी सीख ली। इन्हीं दोनों भाइयों के कारण पटना-कलम में हिन्दुस्तानी और अँगरेजी शैलियों की मिलावट झलकती है, ऐसा कहा जाता है।

वर्माजी के पिता परदेसी थे, इसलिए नाना की देखरेख में ही आप पले। आपकी माता भी हमेशा मायके में ही रहती थीं। उनके सिवा आपने उन्नीस-बीस वर्ष की उम्र तक नाना से भी चित्रकला सीखी। ननिहाल में रहते हुए ही आपका ब्याह चौदह साल की उम्र में हुआ था। 'आरा' नगर के महादेवा मुहल्ले में मुंशी जगरूपलालजी एक जमींदार थे, जिनके पुत्र मुंशी मनोहरलाल 'रतलाम' (मध्यभारत) में रेलवे के कर्मचारी थे। इन्हीं की कन्या से आपका विवाह हुआ। आपके प्रथम पुत्र श्रीनारायण प्रसाद वर्मा का जन्म आरा में ही हुआ था। वे अब इस संसार में नहीं हैं। वे भी बहुत अच्छे चित्रकार थे। अन्तिम समय में वे सुलतानगंज (भागलपुर) से निकलनेवाली 'गंगा' पत्रिका के खास चित्रकार रहे। वहीं उनकी बूढ़ी माता, आपकी पत्नी, का देहान्त हुआ था—सन् १९३१ ई० में २६ दिसम्बर को![1]

---

१. इस वृद्धा देवी को मैंने देखा था। सिर के बाल सन हो गये थे। माँग के बाल झड़ गये थे। बीच में सिन्दूर की चौड़ी रेखा दमकती थी।—ले०

आपके दूसरे पुत्र रामेश्वर प्रसाद वर्मा का जन्म पटना में हुआ था। वे भी अब इस लोक में नहीं हैं। वे तो भारत-प्रसिद्ध चित्रकार थे। इंगलैंड जाकर उन्होंने चित्रकला की उच्चतम शिक्षा प्राप्त की थी। किन्तु, स्वदेश में आने के कुछ ही दिनों बाद, वे अचानक चल बसे! 'सरस्वती', 'माधुरी', 'बालक' आदि पत्र-पत्रिकाओं में उनके अनेक आकर्षक चित्र प्रकाशित हो चुके हैं। बर्दवान (बंगाल) के स्वर्गीय महाराजा उनको पुत्र-तुल्य मानते थे। राजघराने के बालक-बालिकाओं के कला-शिक्षक वे ही थे। बिहार में सूर्यपुरा के राजा साहब और 'बालक'-सम्पादक श्री रामलोचन शरणजी से उनका अत्यन्त गाढ़ा स्नेह था। उनके मरने से हिन्दी-संसार का एक अपूर्व कलाकार जाता रहा!

आपके तीसरे पुत्र श्रीमहावीरप्रसाद वर्मा का जन्म मथुरा में हुआ था। वे लखनऊ और कलकत्ता के 'गवर्नमेंट स्कूल ऑफ आर्ट्‌स' में अध्यापक रह चुके हैं। अब पटना में सिनेमा-सम्बन्धी चित्रकला का व्यवसाय करते हैं। 'लेकर पेंटिंग (Lacquer Paintings[1])' उनका खास विषय है। उनके बनाये हुए इस ढंग के कई चित्र आज भी लदंन के इंडिया-हाउस में शोभा पा रहे हैं।

आपकी चौथी सन्तान—पुत्री श्यामा देवी—का जन्म 'जावरा' (मध्यभारत) में हुआ था। आपके प्रथम दो पुत्र तो बिछुड़ ही गये, यह पुत्री भी विधवा है—आरा-नगर के 'जैन बाला विश्राम' में बोर्डिंग सुपरिटेंडेंट है। एक कलाकार के कोमल हृदय पर ऐसी-ऐसी गहरी और करारी चोटें पड़ीं! प्रभु की अनोखी इच्छा!

आपकी इन चार सन्तानों के जन्म भिन्न-भिन्न स्थानों में हुए; क्योंकि अपने नाना के मरते ही आप देशाटन को निकले और हमेशा यहाँ से वहाँ रमते रहे। बीस साल की उम्र से आज तक 'रमता योगी' बने हुए हैं। शुरू में नानिहाल से निकले तो पिता के पास 'जावरा' गये। वहाँ चार साल रहकर पिता के साथ ही मथुरा आये। पिता संन्यासी होकर मथुरा से कुछ दूर, बरसाने के पास, 'डोमन वन' में रम रहे। अब सारे परिवार का भार आपपर अचानक आ पड़ा। लगभग पचीस साल का अनाड़ी जवान, सिर पर चिन्ताओं का भारी बोझ; फिर भी मस्ती में कसर न आई, सितार और शतरंज पर हाथ मँजते रहे।

किसी भी कला में सिद्धहस्त होना चाहिए, दोस्तों की कमी नहीं रहने पाती। सितार से ऐसा तार बँधा कि ठिकाना लग ही गया। वृन्दावन-निवासी एक पंडित काशीनाथजी थे, जो साँवलियाजी के मन्दिर के पास 'पुरानी शहर' मुहल्ले में रहते थे। उन्हीं के घर में आप बरसों रहे। यह मैत्री आपकी चित्रकला और संगीत-कला के प्रभाव से उत्पन्न हुई थी।

मथुरा में सेठ लक्ष्मीचन्द बड़े धनाढ्य, पुण्यात्मा और देश-भर में प्रसिद्ध नछत्री पुरुष हो गये हैं। उन्हीं के भाई थे सेठ रघुनाथ दास, जिनके पुत्र सेठ लक्ष्मणदास को सरकार ने 'राजा' की उपाधि दी थी। राजा साहब के पास लगभग डेढ़-दो सौ सिपाही थे।

१. लाख (चपड़ा) और स्पिरिट (Alcohol) मिलाकर तैयार किये हुए वारनिश से बनाये गये चित्र।

उन सिपाहियों के रहने का जो 'वाड़ा' था, उसके प्रबन्धकर्त्ता हुए वर्माजी। सिपाहियों के साथ कलाकार नहीं खप सकता, मगर आप सिर्फ कलाकार ही नहीं हैं। इस दुनिया में शायद ही कोई ऐसा समाज हो जहाँ आप न खप सकें!

आप सेठजी के (अथवा, राजा साहब के) सिपाहियों के सरदार नाममात्र के थे, आपका मुख्य काम था सेठजी को सितार सुनाना। आपकी संगीत-कला पर ही मुग्ध होकर सेठजी ने आपको अपने दरबार में रक्खा। धीरे-धीरे जब वे आपकी दूसरी कलाओं से भी परिचित हुए, तब आपका इतना अधिक आदर-मान करने लगे कि लार्ड किचनर (जंगी लाट) जब उनके अतिथि होकर पधारे तब उन्होंने लाट साहब से आपकी भी मुलाकात कराई। आगे चलकर तो बहुतेरे लाट आपकी कला के गुन-गाहक बने।

चित्रकला की तरह संगीत-कला भी आपने अपने नाना से ही सीखी थी। आपके नाना के कोई सन्तान नहीं थी। उन्होंने आपको होनहार देख अपनी कुल-परम्परा सौंप दी।

मथुरा में अपनी कलाओं का सम्मान देखकर भी आपने कलकत्ता जाने का विचार किया; क्योंकि भारत की राजधानी उस समय वहीं थी। इसलिए कला के विकास का विस्तृत क्षेत्र भी वहीं मिल सकता था। वहाँ जाकर विदेशी कम्पनियों के लिए साड़ियों के पाढ़ और छींटों की जमीन के नये-नये 'डिजाइन' (ढाँचे या चित्र) बनाने लगे। इसके बाद वहाँ के 'गवर्नमेंट स्कूल ऑफ आर्ट्‌स' में प्रोफेसर नियुक्त हुए। आठ वर्ष बाद स्थानापन्न 'वाइस-प्रिंसिपल' होने का सुअवसर आया। उसके बाद 'हेड असिस्टेंट टीचर' हुए। अन्त में स्थायी रूप से 'वाइस-प्रिंसिपल' होकर सन् १९३२ ई० में पेंशन पाई।

उपर्युक्त सरकारी कला-विद्यालय में प्रोफेसर होने का सुयोग सहसा प्राप्त हुआ था। महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के भाई श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर जगत्प्रसिद्ध कलाकार हैं। उनसे आपकी बड़ी घनिष्ठता हो गई थी। आपकी कला में शुद्ध भारतीयता की छाप देखकर वे बड़े सन्तुष्ट और अनुकूल थे। उनकी दौहित्री (नातिन) को आपने ही चित्रकला सिखलाई थी। उन्होंने कला-विद्यालय के प्रधान अध्यापक 'हॉवेल (Howell)' साहब[1] से आपका परिचय कराया। हॉवेल साहब बड़े कलाप्रेमी और गुणग्राही थे। कलाकार भी ऊँचे दर्जे के थे। आपको अपनी संस्था में ही नहीं रक्खा, सदा आपको उत्साहित भी करते रहे। जापान के एक नामी चित्रकार (कोष्टु-शोडा) जब कलकत्ता आये थे, तब आपको जापानी चित्रकला भी सीख लेने का सुअवसर दिया। हॉवेल साहब के उत्साह-दान से ही आप जापानी चित्रकला में भी प्रवीणता प्राप्त कर सके। रेशम पर आपके बनाये हुए एक 'वाटर-कलर' चित्र[2] की प्रशंसा जापान के

---

१. हॉवेल साहब का सचित्र परिचय 'बालक' (जून, १९३५ ई०; वर्ष ८, अङ्क ६) में छप चुका है। —ले०

२. 'काकोमोनो' नामक एक जापानी चित्रपट होता है। रेशम पर बना हुआ चित्र उसी पर 'माउंट (mount)' किया जाता है—मढ़ा जाता है। उसके मढ़ने में भी आपने बड़ी कला-कुशलता दिखाई थी। —ले०

'कोका' नामक अखबार ने भी की थी। इतना ही नहीं, हॉवेल साहब की गुणग्राहकता ने आपको अनेक प्रकार के लाभ पहुँचाये।

भारत के वायसराय लार्ड हार्डिंज ने आपसे हाथी-दाँत पर अपना चित्र बनवाया था। हाथी-दाँत पर बहुरंगा चित्र अंकित करने की कला आपकी सबसे बड़ी विशेषता है। इस कला पर आपका एकाधिपत्य-सा है। आपसे अपना चित्र बनवाकर वायसराय बहुत प्रसन्न हुए। कलकत्ता जाने पर आपको बराबर मुलाकात का मौका देते रहे। लेडी हार्डिंज ने आपसे भारतीय संगीत-शास्त्र के अनुसार समस्त राग-रागिनियों के चित्र बनवाये थे। एक अँगरेज अफसर की मेम ने हिन्दुओं की सन्ध्या-गायत्री के आसनों और मुद्राओं के बहुरंगे चित्र अंकित कराये थे। दिल्ली में सम्राट् पंचम जार्ज को जो अभिनन्दन-पत्र दिया गया था—राजतिलक के समय, उसे 'वेलम' (Vellum)[१] पर आपने ही बनाया था', जिसके लिए आपको साढ़े तीन हजार रुपये मिले थे। आपकी उत्कृष्ट कला का वह एक नमूना आज भी लंदन के इंडिया-हाउस की शोभा बढ़ा रहा है।

बंगाल के गवर्नर लार्ड कारमाइकल की लेडी ने आप ही से उस 'सर्टिफिकेट (प्रमाणपत्र)' का अलंकृत ढाँचा (डिजाइन) बनवाया था, जो कला-विद्यालय में चित्रकला सीखनेवाली बालिकाओं को परीक्षोत्तीर्ण होने पर दिया जाता था। बंगाल ही के गवर्नर लार्ड लिटन की लेडी ने आपसे आलंकारिक चित्रकला सीखी थी। ये दोनों लेडियाँ आपको बहुत मानती थीं। विक्टोरिया-मेमोरियल (कलकत्ता) की चित्रशाला की अध्यक्षा श्रीमती 'पर्सी ब्राउन' (Percy Brown)[२] को भी आपने ही चित्रकला की शिक्षा दी थी। इन महाशया का मूल नाम था 'मिस मूरियल टैलबर्ट'। काश्मीर के पोलिटिकल एजेंट 'टैलबर्ट' साहब की ये पुत्री थीं। ये तो आपका आदर करने में भारतीय परम्परा की गुरुभक्ति दरसाती थीं। इनके पति पर्सी ब्राउन साहब भी आपकी बड़ी प्रतिष्ठा करते थे।

आधुनिक चित्रकार विदेशी रंगों का व्यवहार करते हैं। आप भारतीय पद्धति से देशी रंग स्वयं तैयार कर लेना जानते हैं। भारतीय रंगों के मसाले आपको कंठस्थ हैं। भारतधर्म-महामंडल (काशी) के संरक्षक देशी नरेशों ने आपको 'चित्रकला-विशारद' की उपाधि दी है। शिकागो (अमेरिका) की विश्व-प्रदर्शनी से आपको अष्ट धातु का एक सुन्दर पदक मिला है। बर्दवान (बंगाल) के स्वर्गीय नरेश आपको बड़े प्रेम से सुनहले पिंजड़े में बर्दवान में ही रखना चाहते थे; पर आप तो ऐसे सैलानी जीव हैं कि कभी कहीं एक अड्डे पर टिकते ही नहीं। हाँ, इस समय तो आरा में अड्डा बँधा है—शायद ससुराल के नाते।

—मासिक 'बालक', (लहेरियासराय, दरभंगा); वर्ष १७, अङ्क ४; अप्रैल, १९४३ ई०

१. दुम्बे के चमड़े पर रासायनिक मसाले से पालिश करके अमिट सुनहले अक्षरों में वह 'ऐड्रेस' लिखा गया था। उसी बनाये हुए चमड़े को 'वेलम' कहते हैं। —ले०

२. श्रीमती पर्सी ब्राउन भारतीय चित्रकला में एकान्त अनुराग रखती थीं। आपकी लिखी 'इंडियन पेंटिंग' पुस्तक प्रसिद्ध है। —ले०

एक नवीन आयुर्वेदिक आविष्कार

उपयुक्त उत्तेजन एवं प्रयोजनीय प्रोत्साहन के अभाव से हमारे देश के अनेक आविष्कारों की कीर्त्ति लुप्त हो चुकी और अभी तक लुप्त होती जा रही है। पाश्चात्य जगत् में छोटे-मोटे आविष्कारों की भी धूम मच जाती है; पर हमारे देश में विज्ञानाचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय और स्वनामधन्य अध्यापक जगदीशचन्द्र वसु-जैसे जगत्प्रसिद्ध वैज्ञानिकों की कीर्त्तिकथा भी कुछ विशेष श्रेणी के शिक्षितों तक ही परिमित रह जाती है। फिर भी बंगाली लोग 'राय' और 'वसु' महाशयों की काफी कद्र करते हैं। किन्तु हिन्दी-संसार अभी ऐसे मामलों में बहुत कम दिलचस्पी लेता है, हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में इस तरह की चर्चा बहुत कम देखने में आती है। सौभाग्य से आज एक हिन्दी-साहित्यसेवी द्वारा किये गये नवाविष्कार की सूचना मिली है। उसे मैं हिन्दी-प्रेमियों के सामने पेश करता हूँ। आशा है, इस विषय के जानकार सज्जन इस आविष्कार-चर्चा पर गंभीरतापूर्वक विचार करेंगे।

रत्नमाला (बगहा, चम्पारन, बिहार)-निवासी पंडित चन्द्रशेखरधर मिश्र से हिन्दी-संसार अवश्य परिचित होगा। आप प्राचीन साहित्यसेवियों में से हैं। आप बिहार-प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के पाँचवें अधिवेशन (पटना) के भी सभापति हो चुके हैं। 'हिन्दी-कोविद-रत्नमाला' में आपकी सचित्र जीवनी प्रकाशित है। हिन्दी के आरंभिक युग में आप ही 'विद्याधर्म-दीपिका'-नामक मासिक पत्रिका का निःशुल्क वितरण करते थे। आप हिन्दी और संस्कृत की कविता एवं समस्या-पूर्त्ति करने में बड़े सिद्धहस्त हैं। आपकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। आपकी कितनी ही रचनाओं में प्रशंसनीय चमत्कार देखने को मिलता है।

इसके अतिरिक्त आप एक पीयूषपाणि वैद्य भी हैं; पर स्वार्थ या लोभ तो आपको छू नहीं गया। केवल परोपकार की प्रेरणा से ही आप रोगियों की दवा करते हैं। अब तक हजारों असाध्य रोगियों को प्राणदान दे चुके हैं। आपकी चिकित्सा-प्रणाली को बड़े-बड़े ओहदे के अफसरों, हाकिमों, बैरिस्टरों और हाईकोर्ट के जजों ने सर्वान्तःकरण से सराहा है, जिसके प्रमाणपत्र देखने से ही आपके गुणों का पता लगता है।

आप एक अच्छे प्रतिष्ठित जमींदार भी हैं और आपका अधिकांश धन केवल परोपकार में ही खर्च होता है। आपके घर पर एक आयुर्वेद महाविद्यालय और एक संस्कृत-पाठशाला है। उनके संस्थापक, संचालक, संपोषक आप ही हैं। आपकी परोपकार-वृत्ति देखकर ही माननीय मालवीयजी आपका बड़ा सम्मान करते हैं।

अनेक सार्वजनिक संस्थाओं और सरकार की ओर से आपको आयुर्वेदाचार्य, चिकित्सक-चूड़ामणि, विद्यालंकार, वैद्यरत्न एवं कवीन्द्र आदि, उपाधियाँ मिली हैं। किन्तु आपको इन उपाधियों का कुछ भी गर्व नहीं।

आपकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आप रोगियों से फीस नहीं लेते, बल्कि अपनी ओर से उन्हें भोजन और वस्त्र भी देते हैं। कुत्ता, सर्प आदि जहरीले जंतुओं के

विष की तो आप अद्भुत चिकित्सा करते हैं। 'कसौली' आदि में सरकार की ओर से जो पागल सियारों और कुत्तों के काटे हुए आदमियों की चिकित्सा होती है, उससे फी सदी सिर्फ ९५ रोगी ही प्रायः आराम होते हैं; पर आपकी चिकित्सा से हजारों में शायद ही एक-दो रोगी—सो भी नियमानुसार चिकित्सा न कराने के कारण—आराम न होते हों।

'कसौली' की चिकित्सा-प्रणाली में रुधिर में विष-प्रवेश हो जाने पर प्रायः चिकित्सा व्यर्थ होती है; किन्तु आपकी चिकित्सा उस दशा में भी फलवती ही होती है। इधर आपने विस्फोटक (मसूरिका या शीतला) की चिकित्सा-प्रणाली पर भी बड़ी खोज की है। संभव है, आपकी इस खोज से संसार का बहुत-कुछ कल्याण हो; क्योंकि शीतला के कितने ही असाध्य रोगी भी—जिसको वैद्य-डाक्टरों ने कोरा जवाब दे दिया था—आपकी नई खोजवाली पद्धति से बिल्कुल आराम हो गये हैं। जलोदर, मस्तिष्क-वृद्धि, जीर्णज्वर, शोथ, हृद्रोग, श्वास आदि असाध्य रोगों के तो आप बहुत ही अच्छे और यशस्वी चिकित्सक हैं। किन्तु, इतना सब कुछ होते हुए भी, आपका संतोष और सारल्य सर्वथा सराहनीय है। वास्तव में आपने रोग-पीड़ितों के लिए अपना जीवन ही अर्पित कर दिया है।

अस्तु, आपके नवाविष्कृत आयुर्वेदिक औषध का नाम है 'उदुंबर-सार'। यह गूलर के पत्तों का सत है। यह एक ऐसा अभूतपूर्व आविष्कार है, जिससे थोड़े खर्च और कम परिश्रम में ही असंख्य प्राणियों का कल्याण साध्य हो सकता है। यह सौ में कम-से-कम अस्सी रोगों के लिए तो परम सिद्ध महौषध है। बड़े-बड़े डाक्टरों और कविराजों ने इसकी अमोघता और उपयोगिता को मुक्तकंठ से स्वीकार किया है। कान, आँख, दाँत और जीभ की सब प्रकार की बीमारियों के लिए यह अचूक रामबाण सिद्ध हुआ है। दाँत का 'पायरिया' और जीभ का 'कैंसर'-सरीखा भयानक रोग भी इसके सामने टिक नहीं सकते। इसके सिवा आग से जला हुआ फोड़ा, प्रमेह, सुजाक आदि (यहाँ तक कि डाइबेटिज और स्टि्रकचर भी) अनेक भयंकर रोगों पर भी यह सदा सफल ही होता देखा गया है।

कलकत्ता के एक विद्वान् डाक्टर 'Indian Medical Record' के सुयोग्य संपादक ने इस नवाविष्कृत महौषध के विषय में आविष्कर्त्ता महाशय—उक्त मिश्रजी—को लिखा था—"कालाज्वर के एक रोगी को कलकत्ता के तीन प्रसिद्ध डाक्टरों ने एकदम जवाब दे दिया था और यहाँ तक बतलाया था कि एक सप्ताह के अंदर तुम नहीं बचोगे; किन्तु आपकी इस दवा ने तीन ही सप्ताह में उसे आशातीत लाभ पहुँचाया और दो महीने के अंदर वह बिल्कुल भला-चंगा हो गया। शरीर के कितने ही बाहरी और भीतरी रोगों पर मैंने इसको तीर की तरह असर करते पाया है।"

कलकत्ता के सुप्रसिद्ध विद्वान्, कविराज, महामहोपाध्याय श्रीगणनाथ सेन सरस्वती, एम्० ए०, एल० एम्० एस्० तथा स्वर्गीय कविराज श्रीयामिनीभूषण राय, एम्० ए०, एम्० बी० ने भी मिश्रजी को स्पष्ट लिखा था—"आशा है, अनतिदूर भविष्य में संसार-भर के वैद्यों के लिए आपका यह महौषध एक अद्भुत अस्त्र सिद्ध होगा और मनुष्य-मात्र के लिए

इससे सस्ता तथा हितकर कोई दूसरा औषध न रह जायगा। निस्सन्देह आपका आविष्कार स्तुत्य है।"

बस, धन्य होगा वह दिन, जब मिश्रजी के इस स्वदेशी आविष्कार—'उदुंबर-सार'—को लोग लोककल्याण की कामना से अपनायेंगे और आयुर्वेद-मर्मज्ञ सज्जन इसकी वास्तविकता की जाँच-पड़ताल करने में सद्भाव के साथ प्रवृत्त होंगे। मैं तो यह भी नहीं जानता कि आयुर्वेद किस चिड़िया का नाम है। केवल आयुर्वेद के प्रेमियों का ध्यान आकृष्ट रहने के लिए ही, संस्कृत और अँगरेजी तथा हिन्दी के कुछ पैम्फलेटों से मसाला इकट्ठा करके मैंने यह लेख लिखा है।

—'सुधा' (लखनऊ); वर्ष १, खण्ड २, सं० ६; आषाढ़, तुलसी-संवत् ३०५

आचार्य द्विवेदीजी

[१][1]

इलाहाबाद के सचित्र साप्ताहिक 'भारत' में, आज से पाँच वर्ष पूर्व, उसके सुयोग्य सम्पादक पण्डित वेंकटेशनारायण त्रिपाठी, एम्० ए० ने आचार्य द्विवेदीजी का चारु चरित लिखा था। वह २८ अक्टूबर, १६२८ और ११ नवम्बर, १६२८ के अङ्क में प्रकाशित हुआ था। यहाँ उसका आवश्यक अंश संकलित किया जाता है। कहते हैं कि द्विवेदीजी का ऐसा संस्मरण आजतक कहीं नहीं निकला।

[क]

प्रथम परिचय

आज से लगभग २१ साल पहले की बात है। उस समय यह लेखक कानपुर के एक कॉलेज में पढ़ता था। पूज्यपाद पं० देवीप्रसाद शुक्ल भी लेखक[2] के अध्यापक थे। उन्हीं की जिह्वा से हमलोगों ने पहली बार द्विवेदीजी की प्रशंसा सुनी और उन्हीं के द्वारा उनके दर्शन का सौभाग्य भी हमलोगों को प्राप्त हुआ। जबतक मैं कानपुर में रहा, तबतक, इतवार के दिन, जूही[3] की यात्रा, हमलोगों के जीवन का एक अनिवार्य अंग

१. यह लेख मेरा लिखा हुआ नहीं है, संकलित किया हुआ है। प्रेमचन्दजी द्वारा सम्पादित साप्ताहिक 'जागरण' के 'संकलन' स्तंभ के लिए मैं प्रायः पत्र-पत्रिकाओं से महत्त्वपूर्ण लेखों का मुख्यांश संकलित किया करता था। —ले०

२. वेङ्कटेशनारायण तिवारी

३. जूही (कानपुर) में द्विवेदीजी का कमर्शल प्रेस था, जहाँ वे अपने गाँव (दौलतपुर, रायबरेली) से आकर कभी-कभी ठहरा करते थे। कई बार 'सरस्वती' के सम्पादकीय पते में भी 'जूही' स्थान का उल्लेख रहता था। —ले०

बनी हुई थी। जेठ की तपती हुई दोपहरी हो या भादों का कीचड़, सब इतवार हमलोगों के लिए समान थे। भोजन करने के उपरान्त, हम चार-पाँच मित्र, कभी पैदल और कभी इक्कों पर, रवाना हो जाते थे; और जूही पहुँच तथा घंटे, दो घंटे के लिए मूक श्रोता बनकर द्विवेदीजी की साहित्य-चर्चा को सुनते रहते थे। उनकी बालोचित विनम्रता, उनकी सादगी, उनका समय का सदुपयोग आदि गुणों ने हमलोगों के वीरोपासक हृदयों में उनके प्रति वह भाव पैदा कर दिया, जो उसी समय मिलेगा, जब चिता के ऊपर हमारा भौतिक शरीर पंचत्व को प्राप्त हो जायगा।

द्विवेदीजी का चित्र

द्विवेदीजी के चित्र को देखिए। उसमें आपका ध्यान उनके उन्नत ललाट और घनी भौहों की ओर विशेष रूप से जायगा। यदि उन्नत ललाट उनकी मनस्विता का सूचक है, तो भ्रकुटी-विशेष उनके संकल्प की दृढ़ता और उद्देश्य में 'तल्लीनता' की द्योतक है। उनमें क्या वात्सल्य-भाव है! मित्र या भक्त के लिए यदि द्विवेदीजी के हाड़ या चाम की भी जरूरत पड़े, तो हँसते हुए वह दधीचि की तरह उन्हें देने में तनिक भी संकोच न करेंगे। 'संकोच' शब्द का इस सम्बन्ध में प्रयोग द्विवेदीजी के साथ अन्याय करना है। नहीं, संकोच तो ऐसे मामलों में उनके पास भी फटकने की धृष्टता न करेगा। ऐसे अवसरों पर द्विवेदीजी अपने मित्र या भक्त को मुसीबत से बचाने के लिए अपने सर्वस्व को न्योछावर करने में मित्र के ऊपर एहसान करने का अनुभव भी नहीं करते। मित्र का एहसान उलटा उनके ऊपर होता है कि उसकी बदौलत द्विवेदीजी को आत्मसमर्पण का अवसर मिला। एक बार नहीं, अनेक बार, मित्र या भक्त में द्विवेदीजी की तल्लीनता कार्य-रूप में देखी गई है।

एकच्छत्र राज की तैयारी

हिन्दी-संसार में उनका एकच्छत्र राज रहा है। उसके लिए उन्होंने कभी चेष्टा नहीं की। हाँ, हिन्दी की सेवा करने के लिए अपनेको योग्य बनाने में, द्विवेदीजी ने जिस लगन के साथ प्रारम्भ ही से कोशिश की, उसकी कहानी प्रत्येक नवयुवक के लाभ के लिए सोने के अक्षरों में अंकित करना आवश्यक है। किसी राजा या ताल्लुकेदार के घर में इनका जन्म नहीं हुआ। सुव्यवस्थित ढंग से पढ़ने का अवसर उन्हें कभी प्राप्त न हो सका। रायबरेली, उन्नाव, फतेहपुर फिर उन्नाव और उसके बाद बम्बई के चक्कर थोड़े ही वर्षों के अन्दर द्विवेदीजी ने लगाये; लेकिन सरस्वती की आपके ऊपर कृपा थी। हजार कठिनाइयों के होते हुए भी किसी विघ्न-बाधा की परवा न कर, यदि दिन में अवसर मिला, तो दिन में और अगर न मिला, तो रात ही में सही, उन्होंने सरस्वती की पूजा की। हजारों आदमी सब तरह की सुविधा होने पर भी नहीं पढ़ पाते और लाखों अनुकूल साधना के न होने के कारण बे-पढ़े ही रह जाते हैं; लेकिन द्विवेदीजी संसार के उन इने-गिने आदमियों में हैं, जो खुद अपने भाग्य के निर्माता होते हैं। इंगलैण्ड के साहित्यिक इतिहास में इस तरह के कई उदाहरण मौजूद हैं। हिन्दुस्तान में भी ऐसी मिसालें कहीं-कहीं और कभी-कभी मिल जाती हैं।

विद्योपार्जन में त्याग

हमारे एक मित्र ने द्विवेदीजी की सरस्वती की पूजा में तल्लीनता की एक बड़ी ही फड़कती हुई घटना बताई है। आप जब रेलवे की नौकरी करते थे, तब एक पंडित आपको संस्कृत पढ़ाने के लिए आया करते थे। पण्डितजी को आप कुछ माहवारी रुपया भी दिया करते थे। आपका संस्कृत पढ़ना और उसके लिए खर्च करना उस समय भी न छूटा, जब आप अपनी नौकरी से इस्तीफा देकर कुछ दिन तक बेरोजगार घर पर बैठे रहे। आपने घर के आवश्यक खर्च में कमी कर दी; परन्तु संस्कृत पढ़ने के इस खर्च में कोई कमी नहीं की।

द्विवेदीजी की विनम्रता

अँगरेजी, संस्कृत, उर्दू, बँगला, गुजराती और मराठी भाषाओं पर आपको अद्भुत अधिकार है; लेकिन साथ ही उनमें अद्भुत विनम्रता भी है। एक दफा इस लेखक ने विनीत भाव से द्विवेदीजी के अँगरेजी भाषा के ऊपर अधिकार पर अपने आश्चर्य को प्रकट करने की धृष्टता की। उत्तर में आपने कहा—"मुझे अँगरेजी का ज्ञान भला कहाँ ?" जिन्होंने द्विवेदीजी के अँगरेजी में लिखे हुए पत्रों को पढ़ा है, वे ही यह बता सकते हैं कि उनकी भाषा में कितना ओज और चमत्कार होता है।

हिन्दी-गद्य के सफल विधायक

उन्होंने हिन्दी-गद्य को जो नया रूप और गौरव दिया है, वह जबतक हिन्दी-भाषा जीवित है, तबतक चिरस्थायी रहेगा। इस लेखक ने हरिश्चन्द्र, प्रताप,[१] भट्ट,[२] और व्यास[३] के गद्य-लेखों को एक बार नहीं, अनेक बार, श्रद्धा और सम्मान के साथ पढ़ा है, उनकी कृतियाँ हिन्दी के साहित्य-रत्नों में बहुमूल्य हैं; लेकिन उनके समय के हिन्दी-गद्य को लीजिए और आजकल के गद्य से उसकी तुलना कीजिए। आपको सहज ही में इस बात का पता लग जायगा कि तब और अब के गद्य में जमीन और आसमान का फर्क है। उस समय उसका शैशवकाल था। उसमें अब प्रौढ़ावस्था की परिपक्वता आ गई है। इस समय हर प्रकार के भावों और विचारों को सरलता के साथ व्यक्त करने की उसमें जो शक्ति है, वह पिछले समय के गद्य में न थी। तब हिन्दी-गद्य ठीक जेठ की गंगाजी के समान था। उसके उथले जल पर हलके विचारों की छोटी-छोटी नौकाओं को कुशल साहित्यिक मल्लाह बहुत सम्हाल कर खेते थे। द्विवेदीजी की बदौलत, अब उसी गद्य-धारा में गहराई आ गई है और उसका विस्तार भी अब बहुत बढ़ गया है, जिसपर गम्भीर भावों और गहन विषयों के बड़े-बड़े जलपोत सुगमता के साथ पार हो जाते हैं। अथक परिश्रम से उन्होंने हिन्दी-गद्य के धुँधले हीरे को लेकर अपनी प्रतिभा की खराद पर बार-बार चढ़ाया और तबतक उसे चढ़ाते ही चले गये, जबतक उसके अनन्त पहलों से अभूतपूर्व आभा न जगमगाने लगी। उन्होंने हिन्दी-गद्य को परिष्कृत, परिमार्जित और संस्कृत बना दिया। उसकी शैली में

१. प्रतापनारायण मिश्र। २. बालकृष्ण भट्ट। ३. अम्बिकादत्त व्यास।

अराजकता के स्थान में एक नियमित सत्ता उन्हीं के प्रयत्न से स्थापित हो गई। सुव्यवस्थित गद्य की चिरस्थायी शैली का सबसे बड़ा और प्रतिष्ठित नायक भावी इतिहास-लेखक द्विवेदीजी ही को स्वीकार करेगा।

द्विवेदीजी और डॉक्टर जान्सन

द्विवेदीजी की टक्कर का साहित्यिक संसार में अगर कोई महारथी हुआ है, तो वह डॉक्टर जान्सन ही है। जिन लोगों ने अँगरेजी-साहित्य के इतिहास का पारायण किया है, उन्हें इसके बताने की आवश्यकता नहीं कि बहुत-सी बातों में डॉक्टर जान्सन और पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी में समानता है। डॉक्टर जान्सन ने अपनी कृतियों से उतना नहीं, जितना अपने प्रतिभाशाली व्यक्तित्व के द्वारा अँगरेजी-साहित्य के विकास की गति और क्रम को प्रभावित किया है। इस समय भी अँगरेजी-साहित्य के गद्य और पद्य के संग्रहों में विद्यार्थी को डॉ० जान्सन के फुटकर लेख या पद्य पढ़ने को मिल जाते हैं; लेकिन डॉक्टर जान्सन का नाम यदि अमर है, तो केवल इसी कारण कि उनकी प्रतिभा की छाप अँगरेजी-साहित्य पर इस तरह से लगी है कि यदि सदियों तक क्रूर काल उसको मिटाने की चेष्टा करेगा, तो भी उसे कामयाबी न होगी। इसी तरह से, लेखक को इसमें सन्देह नहीं है कि द्विवेदीजी की सम्पूर्ण ग्रन्थावली को आज से १०० वर्ष बाद लोग पढ़ेंगे। उस समय के गद्य-पद्य के संग्रह में बीसवीं सदी के हिन्दी-साहित्य की शैली के नमूनों के रूप में, उसके लेख सम्मिलित जरूर होंगे। डॉक्टर जान्सन की तरह उन्होंने हिन्दी-गद्य के व्यवस्थित विकास में अन्यतम भाग लिया है। इस दृष्टि से द्विवेदीजी हिन्दी-गद्य के यदि स्रष्टा या निर्माता नहीं हैं, तो उसके सबसे बड़े विधायक तो अवश्य हैं। दोनों ही अपने-अपने समय के अद्वितीय समालोचक हुए हैं। डॉक्टर जान्सन ही की तरह द्विवेदीजी के साहित्यिक कोड़ों की चोट से बहुत-से अनधिकार चेष्टा करनेवाले लेखकों को समय-समय पर तिलमिलाना पड़ा है। दोनों ही असाधारण पाण्डित्य के कारण विद्वन्मंडली के पूजास्पद हुए हैं। डॉक्टर जान्सन ही की तरह द्विवेदीजी में भी मैत्री का अपूर्व गुण है।

मातृभाषा का अपूर्व प्रेम

इस गुण में द्विवेदीजी और स्व० बंकिमचन्द्र चटर्जी में बहुत बड़ी समानता है। एक बार लेखक द्विवेदीजी के दर्शनों के लिए जूही गया था। द्विवेदीजी ने उससे हिन्दी में लिखने के लिए कहा। उसने खेद प्रकट किया कि मैं हिन्दी नहीं लिख सकता। उन्होंने उत्तर दिया—'तुम हिन्दी क्यों नहीं लिख सकते? पढ़े-लिखे हो, उच्च शिक्षा पाई है। क्या यह तुम्हारा धर्म नहीं है कि तुमने पश्चिम से ज्ञान की जो उपलब्धि की है, उसको उन तक पहुँचाओ, जिनके लिए भाषा-भेद के कारण वहाँ के साहित्य-निधि के अनेक दरवाजे सदा के लिए बंद हैं?'

इसपर उन्होंने उस बातचीत का जिक्र किया, जो बंकिम बाबू और स्व० रमेशचन्द्र दत्त में इसी संबंध में हुई थी। बंकिम ने दत्त से कहा—'आप अँगरेजी में तो

लिखते हैं; यह खुशी की बात है; लेकिन साथ ही इसका दुःख भी है कि बंगाली होते हुए आप बँगला-साहित्य के प्रति बिल्कुल उदासीन हैं। बंगला में पुस्तकें आप क्यों नहीं लिखते ?'

इसपर दत्त बोले—'क्या करूँ, बँगला में लिख नहीं सकता।' यह सुनकर बंकिम बाबू बिगड़ उठे। उन्होंने कहा—'आप बँगला में लिख नहीं सकते? बंगाली होकर बँगला में लिख नहीं सकते, कितने अचरज की बात है!' दत्त ने कहा—'कैसे लिखूँ!' बंकिम बाबू ने उत्तर दिया—'उसी भाषा में लिखिए, जिसमें आप घर में बातचीत करते हैं।'

यह सुनकर दत्त हँस पड़े। उन्होंने कहा—'लेकिन वह भाषा तो साहित्यिक भाषा न होगी।' बंकिम बाबू ने कहा—'आप जो भाषा लिखेंगे वही साहित्यिक भाषा होगी।'

बाद द्विवेदीजी ने कहा—'साहित्य की भाषा मामूली बोलचाल की भाषा से भिन्न नहीं है। इसलिए, तुमको चाहिए कि तुम हिन्दी में लिखो। हिन्दी से अनभिज्ञ होना तुम्हारे लिए कलंक की बात है। जिस मातृभाषा के कारण तुम्हें घर और समाज में अनेक तरह की सुविधाएँ हैं, उसके ऋण से तुम आंशिक रूप में भी तबतक उऋण नहीं हो सकते, जबतक तुम हिन्दी की सेवा का प्रयत्न न करोगे। उसको उन्हीं का भरोसा है, जो इस समय विश्वविद्यालयों में शिक्षा पा रहे हैं। क्या तुम विश्वासघात कर कृतघ्न बनना चाहते हो?'

इस लेखक को मालूम है कि ऊपर जिस बातचीत का जिक्र है, उसी तरह की बातचीत वह उन सब नवयुवकों से किया करते थे, जो उनके पास यदा-कदा, दर्शनों के लिए, पहुँच जाते थे। न जाने कितने लोगों को द्विवेदीजी ने हिन्दी लिखने के लिए उत्साहित किया। लेखक को यह अच्छी तरह से मालूम है कि आजकल के बहुत-से लब्धप्रतिष्ठ लेखकों को द्विवेदीजी ने कलम पकड़कर हिन्दी लिखना सिखाया; और जब उनकी अबोध उँगलियाँ अनभ्यास के कारण ऊटपटाँग लिख जाती थीं, तब द्विवेदीजी गुरुवत् स्नेह और सहानुभूति के साथ घंटों बैठकर उनकी बालोचित भूलों को सुधारने में अपना अनमोल समय खर्च करते थे। बहुत-से लेखकों के लेख ऐसे आते थे, जिनमें द्विवेदीजी की काट-छाँट के बाद लेखक के नाम के अतिरिक्त और कुछ न रह जाता था। उसमें सारी करामात द्विवेदीजी ही की थी, नाम केवल लेखक का होता था! [१]

१. यह बात अक्षरशः सत्य है। द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ का काम करते समय, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा में संचित, 'सरस्वती' में प्रकाशित रचनाओं की पाण्डुलिपियाँ मैंने आद्यन्त देखी थीं। उनमें बड़े-बड़े साहित्यकारों की रचनाओं पर द्विवेदीजी का घोर परिश्रम देखकर उनके प्रति अनायास श्रद्धा होती थी। द्विवेदी-युग की 'सरस्वती' के सभी अंकों की प्रेस-कॉपी वहाँ सुरक्षित है। उसका उपयोग अब साहित्यिक गवेषणा के काम में होना चाहिए। —ले०

द्विवेदीजी और 'सरस्वती'

द्विवेदीजी और 'सरस्वती' इन दोनों में इतना अभिन्न सम्बन्ध हो गया है कि इनमें से एक का नाम लेते ही दूसरे का नाम आप-से-आप होंठ पर आ जाता है। जिस दिन द्विवेदीजी 'सरस्वती' के सम्पादक के आसन पर आकर बैठे, वह दिन हिन्दी-साहित्य के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित होगा। किस शान से उन्होंने 'सरस्वती' का सम्पादन किया! जबतक वह उसके सम्पादक रहे, तबतक 'सरस्वती' हिन्दी की चीज थी। लोग उत्सुकता और कुतूहल के साथ उसके प्रत्येक अंक के प्रकाशन की प्रतीक्षा करते थे। हर अंक में द्विवेदीजी की सर्वतोमुखी प्रतिभा की एक नई छटा लोगों को दिखाई देती थी। द्विवेदीजी के समय की 'सरस्वती' में जान थी। जीवन की चहल-पहल थी। सत्य की पिपासा से व्याकुल, वह दुर्गम पर्वतों और दुरूह गुफाओं में अमृत-सलिल के ढूंढने के लिए सदैव तत्पर थी। वह जीवन-संग्राम में शत्रुओं से मुकाबिला करने के लिए सदैव खड्गहस्त रहती थी। बड़े-बड़े महारथियों ने उससे मोर्चा लिया, अपने तरह-तरह के दाँव-पेंच दिखाये, हर तरह से पैंतरे बदले और तलवार चलाने के अपने जौहर से देखनेवालों को चकित भी कर दिया; लेकिन 'सरस्वती' की महावीरी गदा के सामने उनकी एक भी न चली। द्विवेदीजी सम्पादन के मूल-मंत्र को अच्छी तरह से जानते थे। पत्र या पत्रिका की जान विवादग्रस्त विषयों को छेड़ना है। उन्होंने अपने समय में 'सरस्वती' में न जाने कितनी बार ऐसे मसलों को जनता के सामने रक्खा। पुराने और गम्भीर विषयों को तत्समालोचक की तीव्र और तीक्ष्ण सहानुभूति के सहारे आधुनिक पाठकों के लिए नवीनता के साथ मनोरंजक बनाने में द्विवेदीजी ने साहित्य में वही काम किया, जो मैथ्यू आरनाल्ड ने अपनी समालोचनाओं के द्वारा अँगरेजी-साहित्य के लिए किया।

आजतक हिन्दी-जगत् में द्विवेदीजी के पाये का कोई दूसरा सम्पादक नहीं हुआ। द्विवेदीजी के जन्म लेने के थोड़ी ही देर बाद एक पंडित ने उनकी जिह्वा पर सरस्वती का एक बीज-मंत्र लिखा था, उस समय किसको यह मालूम था कि आगे चलकर यही नवजात शिशु संसार में 'सरस्वती'-सम्पादक के नाम से प्रसिद्ध होगा।

× × ×

[ख]

इंडियन प्रेस के संस्थापक और स्वामी बाबू चिन्तामणि घोष के स्वर्गारोहण के बाद 'सरस्वती' का एक श्रद्धांक सन् १९२८ ई० में प्रकाशित हुआ था। उसमें स्वयं आचार्य द्विवेदीजी ने स्वर्गीय चिन्तामणि बाबू की जो स्मृतियाँ अंकित की थीं, उनमें कुछ पंक्तियाँ ऐसी भी हैं, जिनसे द्विवेदीजी के जीवन पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। अतएव उक्त लेख से ये पंक्तियाँ अविकल उद्धृत की गई हैं—

"चिन्तामणि बाबू ने हिन्दी की कुछ ऐसी रीडरें प्रकाशित कीं, जो स्कूलों में जारी हो गई। बस, फिर तो जन-साधारण और शिक्षा-विभाग के अधिकारियों का ध्यान

इंडियन प्रेस की ओर इतना आकृष्ट हो गया कि उसकी बराबर उन्नति ही होती गई। बात कोई ३५ वर्ष पहले की है। मुझे कारणवश उन रीडरों की समालोचना प्रकाशित करनी पड़ी, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। उस समालोचना से उन रीडरों के लेखकों की आत्मा को कष्ट पहुँचा। चाहिए तो था कि उन रीडरों की प्रतिकूल आलोचना करनेवाले मुझसे घोष बाबू भी नाराज हो जाते; पर वे थे बड़े उदार और बड़े कार्य्य-कुशल। उन्होंने उलटा मुझे बधाई दी। अपने मैनेजर बाबू गिरिजाकुमार घोष को बुंदेलखंड की पहाड़ियाँ पार करके मेरे पास झाँसी भेजा। मैं उस समय परतन्त्र था; अवकाश बहुत कम मिलता था। मैंने बहुत कहा-सुना, पर चिन्तामणि बाबू के सज्जनोचित व्यवहार ने मुझपर विजय पाई। मैंने 'शिक्षा-सरोज' नाम की एक पुस्तकमाला, कई भागों में लिख दी। वह छपी भी, परन्तु मेरी कृतपूर्व आलोचना से कुछ लोग ऐसे विचलित हो गये थे कि उन्होंने रीडरों की भाषा ही बदल दी। मेरी पुस्तकें यथापूर्व प्रचलित भाषा में लिखी गई थीं। अस्तु, रीडरों की मेरी उस समालोचना की कृपा से मेरा परिचय चिन्तामणि बाबू से हो गया।

"'शिक्षा-सरोज' लिखे जाने के बाद 'सरस्वती'-सम्पादन के काम के लिए मैं चुना गया। 'सरस्वती' का सम्पादन-कार्य्य मुझे मिलने पर कुछ लोगों ने बड़ा कोलाहल मचाया। उन्होंने घोष बाबू से कहा—'यह मनुष्य बड़ा घमण्डी, बड़ा कलहप्रिय, बड़ा तुनुकमिजाज है। इससे तुम्हारी कभी न पटेगी। तुमने बड़ी भूल की। साल के भीतर ही यह महाभारत मचा देगा।' परन्तु यह सारा भय निर्मूल साबित हुआ। १८ वर्ष के दीर्घ काल में कभी एक बार भी ऐसा मौका न आया, जिसमें इस तरह की कोई बात हुई हो। घोष बाबू ने अपना फर्ज अदा किया, मैंने अपना। किसी ने भी इसमें त्रुटि न होने दी। विवाद, वितण्डा और कलह हो कैसे? यह कुछ तो हुआ ही नहीं, घोष बाबू ने मुझे यह सार्टिफिकेट अवश्य दिया—'हिन्दुस्तानी सम्पादकों में मैंने वक्त के पाबन्द और कर्त्तव्य-पालन के विषय में दृढ़प्रतिज्ञ दो ही आदमी देखे हैं, एक तो रामानन्द[1] बाबू, दूसरे आप।' उनकी इस सम्मति से मैंने अपने को कृतार्थ समझा।

"उस समय हिन्दी में अच्छी पत्रिकाएँ कम थीं। जो थीं भी, उनका प्रचार कम था, इससे अनेक ग्रंथकारों और प्रकाशकों की इच्छा रहती थी कि यदि 'सरस्वती' की समालोचनाओं में उनकी पुस्तकों की प्रशंसा निकल जाय तो कुछ कापियाँ जरूर बिक जायँ। इस कारण लोग बहुधा चिन्तामणि बाबू से सिफारिश कराने आते थे। परन्तु जहाँ तक मुझे याद है, उन्होंने कभी इस तरह की कोई सिफारिश मुझसे नहीं की। अपने मित्रों और परिचित जनों तक से उन्होंने सदा यही कहा कि सम्पादक की स्वतंत्रता-हरण करने का हक हमें नहीं। मेरी समालोचनाओं से कितने ही सज्जन उद्विग्न हो उठते थे। वे उनका खण्डन करते थे। कटूक्तियों से काम लेते थे। मुझपर तरह-तरह के इलजाम लगाते थे। उन्हें सुनकर चिन्तामणि बाबू कभी-कभी खूब हँसते, मजाक करते और

१. अँगरेजी-मासिक 'मॉडर्न रीभीयू' के सम्पादक थे।—ले०

कहते—'आपकी उम्र बढ़ जायगी। इन्हें आप आशीर्वाद समझिये, इन खण्डनात्मक लेखों से इंडियन प्रेस और 'सरस्वती' का अच्छा विज्ञापन हो रहा है।'

"इस तरह की प्रत्यालोचनाओं पर उन्होंने कभी अप्रसन्नता नहीं प्रकट की; परन्तु जिस तरह मैं इंडियन प्रेस और 'सरस्वती' को अपनी ही मिलकियत समझकर उनकी सेवा में दत्तचित्त रहता था, उसी तरह उन दोनों ने भी कभी मुझे अपने से भिन्न नहीं समझा। एक दफे मैं एकाएक बीमार पड़ गया। जिगर बहुत बढ़ गया। हलके से भी हलका भोजन न पचने लगा। डाक्टरों ने डरा दिया। उनकी बातचीत से सूचित हुआ कि शायद मेरी परमायु समाप्ति की सीमा के निकट है। इसपर मैंने तीन-चार दिन में धीरे-धीरे सामग्री एकत्र करके 'सरस्वती' की अगली तीन संख्याओं का मसाला एक ही साथ प्रेस को भेज दिया। मैंने लिखा कि 'यदि डाक्टरों का अनुमान सही निकले, तो मेरे बाद भी तीन महीने तक 'सरस्वती' समय पर निकलती रहे—यह सूचना न देनी पड़े कि सम्पादक के मर जाने से वह देर से निकल सकी या बन्द रही। तीन महीने में कोई दूसरा सम्पादक मिल ही जायगा।

"इस चिट्ठी को पाते ही चिन्तामणि बाबू ने अपने मैनेजर गिरिजा बाबू को दूसरी ही गाड़ी से कानपुर रवाना किया। वहाँ उतरते ही उन्होंने दूसरे दर्जे की गाड़ी का एक कमरा 'रिजर्व' कराने के लिए स्टेशन-मास्टर को दरखास्त दे दी। मेरे स्थिति-स्थान पर आकर उन्होंने मुझे इलाहाबाद ले जाना चाहा। कहा—'बड़े बाबू आपका इलाज वहाँ एक नामी डाक्टर (शायद अविनाश बाबू) से करावेंगे। गाड़ी 'रिजर्व' करा आया हूँ। सबको साथ लेते चलिए।' यह सुनकर मेरे नेत्रों से आनन्दाश्रु टपक पड़े, जिन्हें गिरिजा बाबू ने अपने रूमाल से पोंछा। कुटुम्बियों ने मुझे इलाहाबाद न जाने दिया। अन्न का सर्वथा त्याग और केवल बकरी के दूध के थोड़े-थोड़े ग्रहण से मैं अच्छा हो गया।

"चिन्तामणि बाबू से मिलने गया तो मुझसे लिपटकर उन्होंने अलौकिक प्रेम का प्रदर्शन किया। बोले—'सरस्वती' और इंडियन प्रेस के हितचिन्तकों के आप शिरोरत्न हैं।' उनके ऐसे विचार केवल उनकी उदारता के सूचक थे। मैंने उनकी इतनी कृपा का मुस्तहक अपने को तो कभी समझा नहीं। मैंने जो कुछ किया, सिर्फ इतना ही कि 'सरस्वती' की कापी सदा समय पर भेजी; कभी एक दफे भी इसमें त्रुटि नहीं होने दी। बस। चिन्तामणि बाबू की कृपाओं का कहाँ तक उल्लेख करूँ। मुझे अस्वस्थ देख, विना दरखास्त ही के, उन्होंने मुझे दो दफे एक-एक साल की रियायती छुट्टी दे दी। इस सम्बन्ध में मैं पण्डित देवीप्रसाद शुक्ल का भी अत्यन्त कृतज्ञ हूँ; क्योंकि मेरा काम उन्होंने बड़ी लगन के साथ निबाहा, और विश्वास कीजिये, बदले में उन्होंने हम लोगों की केवल कृतज्ञता ही ग्रहण की। 'सरस्वती' का काम छोड़ने पर भी इंडियन प्रेस की कृपा मुझपर जो पूर्ववत् बनी हुई है, इसका कारण चिन्तामणि बाबू और उनके उत्तराधिकारियों की उदारता के सिवा और कुछ नहीं।"

× × ×

[ग]

जिस समय आचार्य द्विवेदीजी कानपुरवाले अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष हुए थे, उस समय महात्मा गांधी के 'हिन्दी-नवजीवन' और 'त्यागभूमि' के सम्पादक पण्डित हरिभाऊ उपाध्याय ने मद्रास के 'हिन्दी-प्रचारक' में 'सम्पादक-श्रेष्ठ' शीर्षक एक लेख लिखा था। उसमें भी आचार्य द्विवेदीजी के ही संस्मरण थे। पण्डित हरिभाऊजी आचार्य द्विवेदीजी के समय में 'सरस्वती' के सहकारी सम्पादक रह चुके हैं। अतएव उनके लिखे संस्मरण का विशेष महत्त्व है। उसकी कुछ चुनी हुई पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

"कमरे के अन्दर जाते ही मैंने एक बूढ़े पुरुष को खड़ा देखा। विशाल और उठी हुई भौहों के बीच से तीक्ष्ण आँखों ने मेरी ओर देखा। मैंने चरणों में प्रणाम किया। खासा लम्बा डील, भव्य; परन्तु बुढ़ापे की चुगली (Talebearing) खानेवाला मुख-मण्डल, विशाल और प्रतिभा की रेखाओं से अंकित ललाट, लम्बी रोबदार (प्रतापी) मूँछें—ये उस बूढ़े के आसाधारण पुरुष होने की साक्षी दे रहे थे। सिर पर चार छः आनेवाली छोटी-सी टोपी, बदन में एक मामूली कुरता। कमर में छोटी-सी पतली धोती, पैर में देहाती जूता—ये सादगी के चिह्न उसकी महत्ता को और भी मेरी नजरों में बढ़ा रहे थे। जब उसने अपने खाने के लिए सिर्फ भुने हुए आलू मँगवाये तब तो मैं मुग्ध हो गया। मैंने मन में कहा—'मैं जैसे जीवित आदर्श को चाहता था, वैसा ही ईश्वर मुझे देना चाहता है। ये ही बूढ़ा साहित्य-सेवी 'सरस्वती'-भक्त, सम्पादक-श्रेष्ठ, पूज्यवर पं० महावीर प्रसादजी द्विवेदी हैं, जिनको अपनी स्वागत-समिति के सभापति बनाने का दुर्लभ सौभाग्य कानपुर-निवासियों को तथा कानपुर के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को प्राप्त हुआ है।'

"द्विवेदीजी के समय में 'सरस्वती' बँगला को छोड़कर तमाम देशी भाषाओं में सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्रिका समझी जाती थी। द्विवेदीजी महाराज की सरल, सुबोध, अनूठी लेखन-शैली, उनकी निर्भीक सत्य-प्रीति और तेजस्विता, उनकी बहुदर्शिता और मर्मज्ञता, उनकी नियम-निष्ठा, श्रमशीलता, साधन-बहुलता और कार्य-दक्षता को ही 'सरस्वती' को इस उच्च कोटि में चढ़ाने का श्रेय प्राप्त है। स्वावलम्बन और कार्यकुशलता—ये श्रीद्विवेदीजी के रग-रग में भरे हुए हैं।

"गरीब ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न होकर ३) रु० मासिक सरकारी वजीफे पर रूखी दाल-रोटी से पेट भरकर, साधारण हिन्दी-अँगरेजी पढ़कर, कुछ वर्षों तक रेलवे में मुलाजिमत करके इन्हीं तीन गुणों के बदौलत आपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक नया ही अध्याय लिख डाला है। सरल लेखन-शैली, खड़ी बोली की कविता, समाज में प्रतिष्ठित और आदरणीय माने जानेवाले भूत और वर्त्तमानकालीन लेखकों और कवियों की कृतियों की तीव्र समालोचना का आदर जबतक हिन्दी-साहित्य-संसार में

रहेगा, तबतक द्विवेदीजी हिन्दी-साहित्य के एक युग-निर्माता की दृष्टि से माने जायँगे। द्विवेदीजी की 'सरस्वती' ने कितने ही नये हिन्दी-लेखक और कवि निर्मित कर दिये और कितने ही अन्य भाषा-भाषियों को हिन्दी का प्रेमी और हिन्दी-साहित्य का आदर-कर्त्ता बना दिया।

"द्विवेदीजी हिन्दी के तो आचार्य हुए हैं—संस्कृत, अँगरेजी, उर्दू, बँगला, मराठी और गुजराती के भी अच्छे ज्ञाता हैं। संस्कृत-साहित्य का तो आपने विशेष रूप से अध्ययन किया है। मराठी के प्रसिद्ध कवि मोरोपन्त की 'केकावली' पर मैंने उनके पेन्सिल के नोट जगह-जगह देखे हैं। काव्यानुरागी और काव्य-मर्मज्ञ उनके मुकाबले आज शायद ही कोई हिन्दी-सम्पादक हो। एक ओर महाकवि कालिदास के सर्वश्रेष्ठ काव्य 'रघुवंश' का, भारवि के क्लिष्ट और गूढार्थ-गर्भ 'किरातार्जुनीय' का सरल हिन्दी-अनुवाद, कालिदास के 'कुमारसंभव, का स्वतंत्र पद्यानुवाद, श्रीहर्ष के 'नैषध-चरित' की चर्चा आदि, और दूसरी ओर 'मिल' की 'Liberty' का, 'स्पेन्सर' के 'Education' का स्वतंत्र सरल हिन्दी-अनुवाद, उनके संस्कृत और अँगरेजी-भाषा के गंभीर ज्ञान का नमूना है। 'सम्पत्ति-शास्त्र', 'हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति' उनके शास्त्रीय विषयों की विद्वत्ता और 'महाभारत' बँगला में उनकी अप्रतिहत गति का प्रमाण है। द्विवेदीजी अपने समय के एक ही सम्पादक, गहन विषयों के ग्रन्थ-लेखक और ऊँचे दरजे के समालोचक हैं।"

[घ]

गत मार्च की 'माधुरी' में हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक और समालोचक श्री कालिदास कपूर, एम्० ए०, एल्० टी० ने 'द्विवेदीजी के संस्मरण' लिखे हैं। उस लेख की कुछ पंक्तियाँ विशेष ध्यान देने योग्य हैं। उनसे आचार्य द्विवेदीजी के जीवन का अद्भुत महत्त्व प्रकट होता है—

"दिसम्बर, १९१७ ई० की सरस्वती में मैंने द्विवेदीजी का 'समालोचना-सत्कार'-शीर्षक एक लेख देखा। प्रतिवाद-स्वरूप कुछ लिखने की धृष्टता सूझी। 'समालोचना'-शीर्षक एक लेख लिखा। लेख के साथ एक पत्र—बिलकुल शुष्क—सम्पादक-'सरस्वती', जुही, कानपुर के पते से—लिख मारा कि दो पैसे का टिकट लेख के साथ भेजा जा रहा है; यदि लेख नापसन्द हो, तो वापस कर दिया जाय। द्विवेदीजी का लौटती डाक से पोस्टकार्ड मिला। पहला वाक्य था—'आप तो पड़ोस ही में छिपे रुस्तम निकले।' लेख स्वीकृत कर लिया और आज्ञा की कि 'समालोचना का आदर्श सामने रखते हो, तो पथ-प्रदर्शक भी बनो। लिखो कोई समालोचना, देखें कैसी लिखते हो।' द्विवेदीजी मुझ-जैसे कच्चे लेखकों को साहित्य-सेवा के लिए किस प्रकार प्रोत्साहित किया करते थे, यह इस अपनी बीती कथा से प्रकट है। मैं लेख लिखकर द्विवेदीजी की सेवा में भेजा करता। द्विवेदीजी प्रोत्साहन देते रहते। लेखों का संशोधन कर उनका प्रकाशन करते रहते। यों क्रमशः उन्होंने मेरे लिए साहित्य-सेवा का मार्ग निर्दिष्ट कर दिया। हिन्दी लिखना सिखा दिया।

"एक बार हमने दौलतपुर की यात्रा की। कानपुर से बिन्दकी-रोड पहुँच गये। थर्ड क्लास वे-साइड स्टेशन का अनुभव बहुत समय पश्चात् हुआ था। प्लेटफॉर्म पर अन्धकार, मुसाफिरखाने में भी अन्धकार। उषःकाल के लिए थोड़ी ही देर प्रतीक्षा करनी पड़ी। एक बैलगाड़ी ठीक की और गंगा की ओर चल दिये। दौलतपुर गंगा के बायें किनारे पर राय-बरेली जिले में है। और बिन्दकी-रोड फतेहपुर जिले में गंगा के दाहिने किनारे लगभग ८ मील है। ग्रैंड-ट्रंक-रोड कानपुर से प्रयाग की ओर जाती है। यह बिन्दकी से गंगाघाट के मार्ग पर मिलती है, परन्तु बिन्दकी से गंगा के किनारे तक पक्की सड़क नहीं है, कच्चा रास्ता है, और वह भी इतना ऊबड़-खाबड़ कि बैलगाड़ी भी मुश्किल से चल सकती है। नौ बजे के लगभग गंगातट पर पहुँचे। नाव के ठेकेदार की प्रतीक्षा में लगभग दो घंटे लग गये; पार पहुँचकर एक मजदूर मिल गया। उसने सिर पर सामान लादा और तीन मील चलकर दौलतपुर पहुँच गये।

"दौलतपुर के कितने ही भव्य चित्र कल्पना-जगत् में बना रक्खे थे। आज उस ग्राम के दर्शन हुए। शेक्सपियर के स्ट्रैटफोर्डवाले मकान में कोई विशेष बात नहीं है, न चित्रकूट में तुलसीदास की कुटी में ही कुछ विशेषता है, जिसमें बैठकर उन्होंने रामचरितमानस की रचना की। विशेषता केवल उन भावों में है जो हमारे हृदय में किसी महान् आत्मा के उस स्थान से सहयोग करने पर उत्पन्न होते हैं। वही विशेषता दौलतपुर की है। चारों ओर खेत, बीच में मिट्टी के कच्चे मकान, उन्हीं में एक पक्का घर—जिसमें हमारे साहित्यिक देवता का अभी अस्तित्व है—और जिसमें किसी समय उसकी स्मृति ही शेष होगी! लगभग एक बजे द्विवेदीजी के घर के सामने पहुँचे। दुमंजिला मकान, मर्दाना द्वार एक ओर और जनाना दूसरी ओर। मकान के आगे नीम के वृक्ष से आच्छादित एक ऊँचा कच्चा चबूतरा, सामने पतली गली को छोड़कर एक ओर मन्दिर, बीच में बगीचे का दरवाजा और दूसरी ओर गोशाला। सफाई और किफायत की शिक्षा लेना चाहते हो, तो द्विवेदीजी की बैठक का निरीक्षण करो। पुस्तकें और पत्रिकाओं की फाइलें चारों ओर सफाई से चुनी हुई, कुर्सी, मेज, तखत और द्विवेदीजी का चमरौधा जूता—किसी पर गर्द का निशान नहीं, फर्श पर कहीं स्याही का दाग नहीं। सुना है, नौकर झाड़ू देता है; परन्तु आप सन्तुष्ट नहीं होते। जरूरी सफाई आपही के हाथों होती है। किफायत का हिसाब यह कि आये हुए पत्र एवं पत्रिकाओं के कवरों को भी बेकार नहीं जाने देते, कायदे से, काटकर उनपर लिखते हैं। एक ओर यह किफायत देखिए और दूसरी ओर द्विवेदीजी के त्याग पर ध्यान दीजिए।

"बातचीत के सिलसिले में मालूम हुआ कि द्विवेदीजी ने अंगरेजी-शिक्षा रायबरेली में पायी। घर का पिसा आटा लादकर प्रति रविवार दौलतपुर से रायबरेली तक पैदल जाते। रोटी बनाना आता न था। इसलिए दाल में आटे के पेड़े बनाकर डाल देते और उबले हुए आटे के फलों तथा दाल से पेट-पूजा करते। इस निर्धन बालक ने यौवनावस्था में सरकारी नौकरी को तिलांजलि देकर साहित्य-सेवा का मार्ग ग्रहण किया

और वृद्धावस्था में अपने लेखों की कमाई—सात हजार रुपये के लगभग—हिन्दू-विश्व-विद्यालय को अर्पित कर दी।

"तीसरे पहर द्विवेदीजी के साथ खेतों की सैर करने गये। लगभग बीस-पचीस बीघे जमीन है। कुछ आम के बाग भी हैं। द्विवेदीजी को जो कुछ फल मिलते हैं, वे वही हैं जो दौलतपुर में पैदा होते हैं। मालूम हुआ, उनका स्वास्थ्य आम की फसल में अच्छा रहता है। आम खाकर दूध पीने से अच्छी निद्रा आती है। फिर थोड़ा-बहुत साहित्यिक कार्य भी कर लेते हैं।

"संध्या होने पर हम दोनों चबूतरे के तखत पर बैठे-बैठे वार्त्तालाप का आनन्द लेते रहे। द्विवेदीजी अपने साहित्यिक अनुभवों की कथा सुनाते रहे। उस समय उन्होंने रामचरितमानस के वह अंश भी सुनाये, जो उन्हें बहुत प्रिय थे। कहते-कहते वह आनन्द से विह्वल हो गये और मेरी भी वही दशा हो गई।"

—साप्ताहिक 'जागरण' (काशी) द्विवेदी-अभिनन्दन-अङ्क; वर्ष १, अङ्क ३६;
१ मई, सन् १९३३ ई०

[२]

द्रोणाचार्य का एकलव्य

मैं केवल एक बार आचार्य द्विवेदीजी के आराध्य चरणों का स्पर्श कर कृत्य-कृत्य हुआ था—काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा में, आज से लगभग दस वर्ष पूर्व। अचानक, कुछ घंटों के लिए वे काशी आ गये थे। काशी के सहृदय कलाविद् राय कृष्णदासजी के आदेश से बड़ी शीघ्रता में एक अभिनन्दन-पत्र लिखा गया। श्रीप्रवासीलालजी वर्मा के सहयोग से, प्रेमचन्दजी के 'सरस्वती प्रेस' में, दो घंटे के अन्दर ही, उसे छपवा लाया। तुरत वह पढ़ा गया। द्विवेदीजी ताँगे पर सवार हुए। मैंने साहित्यिक ऋषि के चरण-रेणु का अमृतांजन आँखों में लगाया। फिर कभी वैसा सौभाग्य प्राप्त न हुआ। पहले तो कभी हुआ ही न था।

एक धुँधली स्मृति और है। अखिलभारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का छठा अधिवेशन प्रयाग में हुआ था। बाबू श्यामसुन्दर दासजी सभापति थे। भारतेन्दु-सखा 'प्रेमघन' जी भी पधारे थे। दूर ही से एक सज्जन ने बतलाया, वहीं द्विवेदीजी भी बैठे हैं—बगलबन्दी और पंडिताऊ टोपी तथा चमरौधा पहने, साहित्यिकों के पुरोधा की तरह! वही प्रथम दर्शन एकलव्य की साधना बन गया।

आरा की नागरी-प्रचारिणी सभा में 'सरस्वती' की पुरानी और नई प्रतियाँ बराबर पढ़ा करता था; मेरे साहित्यिक गुरु पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा का यही आदेश था। इसलिए मन में 'सरस्वती'-सम्पादक के दर्शन की बड़ी उत्कट लालसा थी। तीर्थराज प्रयाग में दर्शन तो हुए; पर चरण-स्पर्श का साहस न हुआ। बार-बार दूर से ही मन-ही-मन प्रणाम किया।

इस प्रथम दर्शन से भी पहले स्वप्न-दर्शन ! प्रयाग ही में । उस समय इंडियन प्रेस विश्वविद्यालय के अति निकट था—आज के स्थान पर नहीं । मित्रवर कुमार देवेन्द्र प्रसाद जैन की 'प्रेमकली', 'प्रेम-पुष्पांजलि' आदि प्रसिद्ध पुस्तकें इंडियन प्रेस में ही छप रही थीं । मैं उनके साथ वहाँ महीनों रहा । प्रायः नित्य प्रेस में जाना पड़ता । एक दिन देखा—बरसाती में बग्घी खड़ी है; प्रेस के मालिक चिन्तामणि बाबू साफ कपड़े की एक गठरी हाथ में लिये एक देहाती ब्राह्मण को घोड़ागाड़ी में चढ़ाने जा रहे हैं । मैं कविवर सत्यनारायणजी की 'प्रेमकली' कविता का प्रूफ देखने में लीन था । गाड़ी चली गई । चिन्तामणि बाबू की ओर संकेत कर कुमार साहब मुझसे बोले—"देखा आपने, कैसे गुणग्राही हैं, पीछे-पीछे चपरासी खाली हाथ गया, द्विवेदीजी की गठरी स्वयं अपने हाथों ले गये ।" कलम छोड़कर मैंने सिर थामा—'अरे, यह द्विवेदीजी थे ? मैं अच्छी तरह दर्शन भी न कर सका !" कुमार साहब ने आश्वासन दिया—"पुस्तकें निकल जायँ तो उनके घर चलकर मिलेंगे भी ।" पर गाँठ की छूटी मणि फिर कहाँ मिलती है । वह झलक-झाँकी सपने की सम्पत्ति हो रही ।

हाँ, उपर्युक्त अभिनन्दन-पत्र लेकर जब द्विवेदीजी चले गये तब रायसाहब से मैंने निवेदन किया कि 'सभा' की ओर से द्विवेदीजी को एक सर्वाङ्गसुन्दर अभिनन्दन-ग्रंथ दिया जाना चाहिए । रायसाहब के मन की बात सामने आई । उन्होंने भगीरथ प्रयत्न किया । उनके उद्योग-रथ में मेरे दुर्बल कंधे भी भिड़े । वह कई महीनों के लगातार परिश्रम की बड़ी लम्बी कहानी है—यहाँ छोड़िए उसे । मैं महीनों इंडियन प्रेस में बैठकर अभिनन्दन-ग्रंथ तैयार कराता रहा; पर जब उसके समर्पण का समय आया तब मेरे पाँच वर्ष के पुत्र (अर्द्धेन्दुशेखर आनन्दमूर्त्ति) पर शीतला भवानी का भयंकर आक्रमण हुआ । काशी से तार पाते ही मैंने प्रेस से प्रस्थान किया । उस दिन से एक-डेढ़ महीने तक दरवाजे के बाहर न निकला । काशी में अभिनन्दन-समारोह हो रहा था, मैं व्यग्र बच्चे की शुश्रूषा में व्याकुल था । वर्त्तमान 'सरस्वती'-सम्पादक शुक्लजी मेरा बकस-बिस्तर प्रेस से लाकर दे गये; पर मैं उन्हें प्रणाम करने के सिवा धन्यवाद भी न दे सका । उत्सव का केन्द्र सभा-भवन मेरे मकान से सौ गज से अधिक दूर न था । पर मैं तो दूसरी ही दुनिया में था । महीनों से पूजा के फूल सँजोता रहा, पर पूजा के समय 'देवता' के दर्शन से भी वंचित रहा । 'प्रसाद' जी से सुना कि ओरछा-नरेश मोटर-बोट से रायसाहब के गंगा-तटस्थ भवन में द्विवेदीजी के दर्शन करने आते थे । पर उस समय का कोई भी आनन्द मेरे भाग्य के बाँटे का नहीं था । श्रीमैथिलीशरणजी और रायसाहब, द्विवेदीजी का लिखा हुआ एक श्लोक मुझे दे गये और कह गये कि आचार्य का हृदय सहानुभूति से विह्वल है; पर अस्वस्थ हो जाने से यहाँ तक आने में असमर्थ हैं—बच्चे को यह आशीर्वाद दिया है । उस श्लोक में बच्चे के आरोग्य-लाभ के लिए जगदम्बा की प्रार्थना थी । 'रंक की निधि' की तरह उसे इस तरह तह में छिपाकर रख लिया है कि इस समय वह यहाँ उपस्थित नहीं; पर कभी-न-कभी वह प्रकाश में आ ही जायगा ।

द्विवेदीजी जब काशी से घर चले गये तब एक पत्र लिखकर बच्चे का समाचार पूछा। मैं अभाग्यवश प्रयाग के 'द्विवेदी-मेला' में भी न पहुँच सका। क्योंकि शीतला के कोप से बच जाने पर भी बच्चा साल भर शय्याग्रस्त रहा। तब भी द्विवेदीजी ने दौलतपुर जाकर कृपापत्र भेजा कि प्रयाग क्यों नहीं आये—सुना है कि आर्थिक कष्ट में हो, क्या बात है, निस्संकोच लिखो। उनकी ममता जब याद आती है, हिन्दी-संसार सूना नजर आता है।

अभिनन्दन-ग्रंथ की छपाई जब समाप्त हो चली तब द्विवेदीजी के कुछ खास चित्रों के सम्बन्ध में उनसे पत्र-व्यवहार करना पड़ा। उन्होंने बड़ी उदासीनता से उत्तर दिया कि शुक्लजी (वर्त्तमान 'सरस्वती'-सम्पादक) से सबका परिचय मिल जायगा—मुझसे बार-बार पूछकर मेरे भगवद्भजन में बाधा देना ठीक नहीं। अभिनन्दनग्रंथ के विषय में उनको एकदम विरक्त देखा। बहुत आग्रह और अनुनय-विनय करने पर उन्होंने प्रश्नावली माँग भेजी और प्रश्नों के सामने 'हाँ' या 'नहीं' लिखकर भेज दिया। जान पड़ता था कि अभिनन्दन-ग्रंथ उन पर लादा जा रहा है। उन्होंने एक बार स्पष्ट ही लिख दिया कि आत्मविज्ञापन और आत्मश्लाघा के काम में मुझे घोर मानसिक ग्लानि हो रही है—इस विषय में मुझे अब और न छेड़ो।

जिस समय में अभिनन्दन-ग्रंथ का काम कर रहा था उसी समय रायसाहब ने श्रीमान् बाबू श्यामसुन्दर दासजी से अनुमति दिला दी कि 'सभा' में द्विवेदीजी का जो निजी संग्रहालय है उसमें से कुछ खास चीजें मैं देख सकूँ। मैं केवल पाण्डुलिपियों के बंडलों को देखने लगा। जितने दिनों तक द्विवेदीजी 'सरस्वती' के सम्पादक रहे, उतने दिनों की 'सरस्वती' की प्रेस-कापी उन्होंने 'सभा' में दे दी है। प्रति वर्ष का बंडल अलग-अलग है। एक बंडल में हर महीने की नत्थी अलग-अलग है। उसमें आजकल के बड़े-बड़े साहित्य-सेवियों की रचनाओं की दयनीय दशा देखकर मेरी तो आँख खुल गई है। अब कौन सम्पादक उतना परिश्रम करेगा। द्विवेदीजी की प्रकाशित पुस्तकों की पाण्डुलिपियाँ भी 'सभा' को मिली हैं। 'हिन्दी-महाभारत' की हस्तलिखित कापी का विशाल बंडल देखकर द्विवेदीजी की लगन और सुव्यवस्था पर बड़ा विस्मय हुआ। पांडुलिपियों के अतिरिक्त चिट्ठियों और अखबार की कतरनों के भी कई बंडल हैं। खेद है, मुझे एक पखवारे से अधिक अवकाश न मिल सका। वहाँ महीनों 'रिसर्च' (अनुसन्धान) करने की जरूरत है। हरएक बंडल से एक-एक लेख तैयार हो सकता है। मैं थोड़े समय के अन्दर जो कुछ नोट कर सका, उससे एक बड़ा लम्बा-सा लेख तैयार हो गया, जो प्रेमचन्दजी के 'हंस' में दो-तीन महीने तक छपता रहा। उसे पढ़कर द्विवेदीजी ने बड़े खेद के साथ मुझे एक पत्र लिखा कि हमारे जीते-जी वह लेखमाला न छपती तो हम बड़ी शान्ति से अपने जीवन का अन्तिम भाग बिता पाते। मैंने अपने नोटों को जरूरी कागजों के बंडल में डाल दिया—लेखमाला यहीं समाप्त हो गई। इस तरह मैंने देखा कि द्विवेदीजी अपनी बड़ाई सुनना तनिक भी पसंद नहीं करते। मैं उन नोटों के आधार पर 'अभिनन्दन-ग्रंथ' के लिए लेख लिखनेवाला था। रायसाहब की आज्ञा मिल

चुकी थी। पर ईश्वर की कुछ ऐसी इच्छा हुई कि अपने पुत्र की बीमारी के कारण मैं लिख न सका। अगर कहीं मेरा वह लेख छप जाता तो द्विवेदीजी 'अभिनन्दन-ग्रंथ' को देख-देखकर अन्तकाल तक मानसिक क्लेश पाते रहते। परमात्मा ने एक बड़े भारी दुखदायक कर्म से मुझे बचाया। ईश्वर जो करता है, अच्छा ही करता है।

—मासिक 'बालक', लहेरियासराय (दरभंगा); वर्ष १३, अङ्क ५, मई, १९३१ ई०

[२]

श्रद्धेय आचार्य द्विवेदीजी ने काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा को जो अपना ग्रन्थभाण्डार दान दिया है, उसमें 'सरस्वती' की पुरानी प्रेस-कॉपी, उस समय की बहुत-सी चिट्ठियों और अखबारों की कतरनों के बंडल भी हैं। जिस समय द्विवेदी अभिनन्दन-ग्रन्थ छपवाने का काम मुझे सौंपा गया उस समय सभा के प्रधान मन्त्री श्रीरायकृष्णदासजी के आदेश से मैं उन प्रेस-कॉपियों, चिट्ठियों और कतरनों के बंडलों के टटोलने में इस उद्देश्य से प्रवृत्त हुआ कि अभिनन्दन-ग्रन्थ के लिए 'द्विवेदीजी के जीवन पर एक व्यापक दृष्टि' नामक लेख तैयार किया जाय।

द्विवेदीजी के दान दिये हुए ग्रन्थ-संग्रह से सभा की आठ अलमारियाँ भरी हैं और बंडलों से दो। शायद आचार्य द्विवेदीजी की आज्ञा प्राप्त किये विना उन बंडलों को कोई खोल नहीं सकता। इसलिए सभा के जीवन सर्वस्व बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने द्विवेदीजी को पत्र लिखकर अनुमति मँगा दी। इतनी सुविधा होने पर भी, समयाभाव के कारण, मैं सिर्फ एक ही दर्जन बंडलों की छानबीन कर सका। इस छानबीन में करीब एक डेढ़ हफ्ते का समय लगा होगा। लेकिन यह काम कम-से-कम एक-डेढ़ महीने का था। सब बंडलों की छानबीन करने के लिए नियमित रूप से छः महीने का समय लगाने की आवश्यकता है। मैं तो सरसरी निगाह से कुछ ही बंडलों को देख सका। किन्तु अभाग्यवश उपर्युक्त लेख लिखने का सुअवसर न मिला। इसलिए जितने नोट मेरे पास हैं, सब 'हंस' के पाठकों की भेंट कर देने का विचार है। आशा है, इससे उनका मनोरंजन भी होगा, और, गत द्विवेदी-सप्ताह में आचार्य द्विवेदीजी के सम्बन्ध की जिन बातों की चर्चा कहीं नहीं हो सकी है, उनकी जानकारी भी हो जायगी। इस समय यहाँ एक ही नोट दे रहा हूँ—

मानहानि का अभियोग

अजमेर के आर्यभास्कर प्रेस से संवत् १९६४ (सन् १९०७ ई०) में एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी। उसका नाम है 'भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास और उसकी सभ्यता'। उसके लेखक हैं पण्डित बाबूराम शर्मा।

यह शर्माजी पहले आगरा के साप्ताहिक 'आर्यमित्र' के सम्पादक थे, किन्तु अभियोग के समय में उसके प्रिण्टर थे। इनकी उक्त पुस्तक के पृष्ठ ३४ पर 'आर्य' शब्द की व्युत्पत्ति लिखी गई है। यह पुस्तक भी बंडल में है।

सितम्बर १९०८ की 'सरस्वती' के पृष्ठ ४१५ पर 'आर्य शब्द की व्युत्पत्ति' शीर्षक एक लेख छपा था। वह बँगला 'प्रवासी' में प्रकाशित श्रीमहेशचन्द्र घोष के एक लेख के आधार पर लिखा गया था। उसी लेख के सम्बन्ध में १६ नवम्बर, १९०८ ई० के 'आर्यमित्र' में पण्डित नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ ने एक आलोचनात्मक लेख लिखा था; किन्तु इसके पहले ही २४ सितम्बर और १ अक्तूबर, १९०८ ई०.के 'आर्यमित्र' में क्रमशः एक लेख छपा था। उस लेख का शीर्षक था 'सरस्वती में आर्य'। उसके लेखक थे कोई मथुरानिवासी वि० एन्० शर्मा। वह लेख व्यक्तिगत आक्षेपों से भरा हुआ था। उसी पर द्विवेदीजी ने बीस हजार का मानहानि का दावा करने का नोटिस दिया था। वह नोटिस २४ अक्तूबर, १९०८ ई० के 'आर्यमित्र' में सम्पादकीय मन्तव्यों के साथ छपा था। हिन्दी के यशस्वी कवि और कानपुर के प्रतिष्ठित वकील राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने द्विवेदीजी की ओर से नोटिस दिया था। फलस्वरूप उक्त वि०एन्० शर्मा ने २४ सितम्बर १९०९ के 'आर्यमित्र' में अपना 'क्षमापत्र' प्रकाशित किया। उस क्षमाप्रार्थना के नीचे 'आर्यमित्र' के प्रिण्टर (बाबूराम शर्मा, भूतपूर्व सम्पादक) और पब्लिशर (कपूरचन्द) का दुःखप्रकाश बड़े-बड़े अक्षरों में छपा था। इस क्षमा-प्रार्थना के सम्बन्ध में २७ फरवरी, १९०९ ई० के 'बिहारबन्धु' (पटना) में निम्नलिखित सम्पादकीय टिप्पणी निकली थी—"....जिसमें द्विवेदीजी की विद्या, बुद्धि और चरित्र पर भी निष्ठुरता से प्रहार किया था। द्विवेदीजी ने उस लेख को अपमानसूचक समझकर अपने मान की मरम्मत के लिए अदालती कारवाई करने का नोटिस दिया था। द्विवेदीजी को 'एंग्लो वर्नेक्यूलर पण्डित' बतलानेवाले वि० एन्० शर्मा ने मुआफी माँग ली है।"

स्वयं वि० एन्० शर्मा ने भी २७ सितम्बर, १९०९ ई० को 'काला-महल' (मथुरा) से एक प्राइवेट पत्र लिखकर द्विवेदीजी से क्षमा माँगी थी। उस पत्र में शर्माजी ने घोर पश्चात्ताप प्रकट किया है। पत्र के अन्त में नीचे 'वशंवद' आदि लिखकर बड़ी नम्रता दिखाई है। यहाँ तक लिखा है कि 'देखें यह परिताप कब तक दूर होता है!'

इस मुकदमे के सब कागज-पत्र एक ही बंडल में हैं। उन्हें अच्छी तरह पढ़कर उस समय के इस आन्दोलन का खासा इतिहास लिखा जा सकता है। बंडलों के अन्दर कागजों का सिलसिला देखकर आचार्य द्विवेदीजी के अपूर्व संग्रहानुराग पर बड़ा आश्चर्य होता है। चिट्ठियों के लिफाफे, रजिस्ट्री और तार की रसीदें, अखबारों के रैपर और कटिङ्ग, सब सुरक्षित और सुव्यवस्थित रक्खे हैं। मुकदमे का ब्रीफ (खुलासा) स्वयं द्विवेदीजी ने अँगरेजी में लिखा है। वास्तव में द्विवेदीजी के समान संग्रही हिन्दी-जगत् में कोई नजर नहीं आता।

द्विवेदीजी की लिखी पुस्तकें

द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ के निमित्त मुझे द्विवेदीजी के सम्बन्ध में जो लेख लिखना था उसके लिए में शुरू से ही द्विवेदीजी की लिखी हुई सब पुस्तकों की नामावली तैयार कर रहा था। दिन-दिन वह नामावली बढ़ती गई। उसके संशोधन में वर्त्तमान 'सरस्वती' सम्पादक शुक्लजी ने बड़ी सहायता दी।

पंडित यज्ञदत्त शुक्ल बी० ए० ने भी द्विवेदीजी की पुस्तकों की एक सूची बनाई थी। आचार्य द्विवेदीजी पर उनका एक लम्बा लेख अभिनन्दन-ग्रन्थ के अंत में छपा है। शायद उसी लेख के लिए उन्होंने पुस्तक-सूची तैयार की थी। वह द्विवेदीजी के सम्बन्धी हैं। इसलिए उनकी बनाई हुई सूची विशेष प्रामाणिक हो सकती है। 'सरस्वती' सम्पादक शुक्लजी के अनुरोध से उन्होंने अपनी सूची मुझे दे देने की कृपा की। मैंने अपनी और उनकी सूची एकत्र करके द्विवेदीजी की सेवा में भेज दी। उसमें द्विवेदीजी ने यत्र-तत्र संशोधन मात्र कर दिया। गत द्विवेदी-सप्ताह में द्विवेदीजी की आदरणीय साहित्य-सेवा की चर्चा तो बहुत हुई है; पर अभी तक कहीं उनकी लिखी पुस्तकों की पूरी सूची नहीं छपी है। अतएव 'हंस' के पाठकों की सेवा में वह पुस्तक-सूची उपस्थित की जाती है—

पद्य

(१) देवीस्तुति, (२) विनयविनोद, (३) महिम्नस्तोत्र, (४) गङ्गालहरी, (५) स्नेहमाला, (६) विहार-वाटिका, (७) काव्यमंजूषा, (८) कुमारसम्भवसार, (९) कविताकलाप (सम्पादित संग्रह), (१०) सुमन (काव्यमंजूषा का संशोधित संस्करण), (११) अमृतलहरी (यमुनालहरी का अनुवाद)।

गद्य

(१) भामिनीविलास, (२) बेकनविचाररत्नावली, (३) हिन्दी-कालिदास की समालोचना, (४) हिन्दी-शिक्षावली के तृतीय भाग की समालोचना, (५) अतीत स्मृति, (६) स्वाधीनता, (७) शिक्षा, (८) सम्पत्तिशास्त्र, (९) नाट्यशास्त्र, (१०) हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति, (११) हिन्दी-महाभारत, (१२) रघुवंश, (१३) मेघदूत, (१४) कुमारसम्भव, (१५) किरातार्जुनीय, (१६) नैषधचरित-चर्चा, (१७) विक्रमांकदेवचरितचर्चा, (१८) कालिदास की निरंकुशता, (१९) आलोचनांजलि, (२०) आख्यायिका-सप्तक, (२१) कोविद-कीर्त्तन, (२२) विदेशी विद्वान्, (२३) जलचिकित्सा, (२४) प्राचीन चिह्न, (२५) चरितचर्या, (२६) पुरावृत्त, (२७) लोअर प्राइमरी रीडर, (२८) अपर प्राइमरी रीडर, (२९) शिक्षासरोज (रीडर, पाँच भाग), (३०) बालबोध या वर्णबोध (प्राइमर), (३१) जिले कानपुर का भूगोल, (३२) आध्यात्मिकी, (३३) औद्योगिकी, (३४) रसज्ञरंजन, (३५) कालिदास, (३६) वैचित्र्यचित्रण, (३७) विज्ञानवार्त्ता, (३८) चरितचित्रण,

(३९) विज्ञविनोद, (४०) समालोचना-समुच्चय, (४१) वाग्विलास, (४२) साहित्य-संदर्भ, (४३) वनिताविलास, (४४) महिलामोद, (४५) अद्भुत आलाप, (४६) सुकविसंकीर्त्तन, (४७) प्राचीन पंडित और कवि, (४८) संकलन, (४९) विचारविमर्श (५०) पुरातत्त्व-प्रसङ्ग, (५१) साहित्यालाप, (५२) लेखांजलि, (५३) साहित्यसीकर, (५४) दृश्यदर्शन, (५५) अवध के किसानों की बरबादी, (५६) कानपुर के साहित्य-सम्मेलन का स्वागत-भाषण, (५७) आत्मनिवेदन (काशी के अभिनन्दनोत्सव में दिया भाषण) इत्यादि।

पद्य की पुस्तकों में नं० १ से नं० ६ तक बहुत पुरानी हैं। नं० १ सन् १८९२ ई० में और नं० २ सन् १८८९ ई० में छपी थी। गद्य की पुस्तकों में भी नं० १ से नं० ५ तक बहुत पुरानी हैं। नं० ६ और ७ अँगरेजी से अनुवादित प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। नं० ११ और १२ अनुवादित होने पर भी मौलिक के समान आनन्दप्रद हैं। यही बात नं० १३ से १७ तक की पुस्तकों के विषय में कही जा सकती है। द्विवेदीजी की अनुवादित पुस्तकें भी शुद्ध मौलिक प्रतीत होती हैं।

नं० ७ से ३२ तक की पुस्तकें सम्भवतः इण्डियन प्रेस (प्रयाग) से निकली हैं। नं० ६ का प्रकाशक हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय (बम्बई) है। नं० ३३, ३४ और ३५ जबलपुर के राष्ट्रीय मंदिर से, नं० ३६ और ३७ नवलकिशोर प्रेस (लखनऊ) से तथा नं० ३८ और ३९ हिन्दी प्रेस (प्रयाग) से प्रकाशित हैं। नं० ४० के प्रकाशक हैं रामनारायण लाल (इलाहाबाद) और नं० ४१ के हैं वैदेहीशरण, हिन्दी-पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय (बिहार)। नं० ४२ से ४७ तक का प्रकाशन लखनऊ के गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय द्वारा हुआ है। नं० ४८ और ४९ को काशी के भारती-भण्डार ने प्रकाशित किया है। नं० ५० चिरगाँव (झाँसी) के साहित्यसदन से, नं० ५१ पटना के खड्गविलास प्रेस से, नं० ५२ कलकत्ता की हिन्दीपुस्तक-एजेन्सी से, नं० ५३ प्रयाग के तरुण-भारत-ग्रन्थावली-कार्यालय से, नं० ५४ मतवाला-मण्डल (कलकत्ता) से और नं० ५५ काशी के ज्ञानमण्डल-कार्यालय से प्रकाशित हैं।

नं० १४ से २६ और नं० ३२ से ५४ तक की पुस्तकों में अधिकतर 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों और सम्पादकीय नोटों का ही संग्रह है। कुछ लेख अन्य पत्रिकाओं के भी हैं। फिर भी मेरा खयाल है कि द्विवेदीजी के बहुत-से छोटे-बड़े लेख अभी तक पुस्तकाकार में संगृहीत नहीं हुए हैं। मैंने मोटे तौर पर हिसाब लगाकर देखा है कि पचीस-तीस वर्षों के अन्दर आचार्य महोदय ने बीस हजार पृष्ठों से भी अधिक लिखा है!

—मासिक 'हंस' (काशी); वर्ष ३, संख्या ८, मई, १९३३ ई०

[४]

सम्मेलन का सभापतित्व

साहित्य-सम्मेलन-सम्बन्धी एक अलग ही बंडल है। उसमें अखबारों की कतरन, चिट्ठियाँ और तार हैं। यह तो प्रसिद्ध ही है कि आचार्य द्विवेदीजी सदा सम्मेलन का सभापतित्व अस्वीकृत करते रहे। कारण चाहे जो रहा हो, पर बंडल की सामग्री से बहुत-सी ऐसी बातों का आभास मिलता है, जिनपर ध्यान देकर विचार करने से रहस्य के क्षितिज तक पहुँचने की संभावना प्रतीत होती है। किन्तु उन बातों की चर्चा का समय अभी नहीं आया है। विवादास्पद बातों को छोड़कर यहाँ केवल कुछ मनोरंजक बातें ही दी जाती हैं।

प्रथम सम्मेलन (काशी) के सभापति महामना मालवीयजी हुए थे। द्वितीय सम्मेलन (प्रयाग) के लिए आचार्य द्विवेदीजी ने 'हिन्दी की वर्त्तमान अवस्था' शीर्षक एक लेख लिखा था। उसकी छपी (रिप्रिण्ट) कॉपी जब उनके पास पहुँची तब उसमें अशुद्धियाँ नजर आईं। द्विवेदीजी ने छपी कापी में ही शीर्षक के पास कोने में लिख दिया—'Well done (शाबास)! फिर उन्होंने सारा लेख पढ़कर संशोधन भी कर डाला। यहाँ एक नमूना काफी होगा। छठे पेज के पहले कॉलम में एक वाक्य छपा है—'कोश और व्याकरण रटकर कोई अन्धा लेखक नहीं हो सकता।' इसमें द्विवेदीजी ने 'अन्धा' को 'अच्छा' बनाया है!

तृतीय सम्मेलन (कलकत्ता) सन् १९१२ ई० में हुआ था। बिहार-प्रान्त के वर्त्तमान प्रमुख नेता राजेन्द्र बाबू उसके मंत्री थे। उन्होंने मार्गशीर्ष कृष्ण १२, संवत् १९६९ को निमंत्रण के साथ एक पत्र भेजा। द्विवेदीजी ने ११-१२-१२ को उत्तर दिया—'शरीर स्वस्थ नहीं, जाड़ों में इतनी दूर सफर नहीं कर सकता।' इसके पूर्व कार्त्तिक शुक्ल ९, संवत् १९६९ को राजेन्द्र बाबू लेख के लिए एक पत्र लिख चुके थे, जिसका उत्तर द्विवेदीजी ने २०-११-१२ को दिया था—'मेरा शरीरारोग्य बिगड़ा हुआ है। ऐसी दशा में कोई अच्छा लेख नहीं लिख सकता। क्षमा कीजिए।'

आचार्य द्विवेदीजी आरम्भ ही से सम्मेलन के प्रति इतने उदासीन क्यों हो गये, इसका रहस्य बतलाने के अधिकारी आचार्य द्विवेदीजी ही हैं। हाल के 'आत्मनिवेदन' में भी उन्होंने इस पर कुछ प्रकाश नहीं डाला है। इसलिए उसकी चर्चा असामयिक और अप्रीतिकर है।

चतुर्थ सम्मेलन (भागलपुर) के समय, प्रयाग की स्थायी समिति के अधिवेशन में उपस्थित होने के लिए, प्रधान मंत्री श्रीपुरुषोत्तमदासजी टंडन ने द्विवेदीजी को एक पत्र (श्रावण कृष्ण ३, संवत् १९ ०) लिखा—'....अवश्य पधारने की कृपा करें। द्विवेदीजी ने २७-७-१३ के पत्र में वही पेटेंण्ट वाक्य लिख भेजा। साथ ही, भागलपुरी-सम्मेलन के सभापति-निर्वाचन के लिए दो नाम भी भेजे—बाबू श्यामसुन्दर दास और पंडित रामावतार शर्मा।

इसी प्रकार, जब भागलपुर के, स्वागत-समिति के, मंत्री ने ४-९-१९१३ को द्विवेदीजी के पास तार दिया (जो चक्कर खाता हुआ कानपुर से दौलतपुर गया और फिर कानपुर आकर मिला), तब भी द्विवेदीजी ने वही पेटेण्ट उत्तर दिया। वहाँ के तार का मजमून यह था—"Unanimously elected president of Fourth Hindi Sahitya Sammelan, wire acceptance.[१]" इसके उत्तर में द्विवेदीजी ने ८-९-१३ को तार दिया—"Ill-health prevents acceptance !"[२]

ठीक यही हाल षष्ठ सम्मेलन (लाहौर) का हुआ। डी० ए० वी० कॉलेज के राजाराम शास्त्री ने १-११-१५ के पत्र में द्विवेदीजी से सभापतित्व के लिए विशेष अनुरोध किया। फिर ३-११-१५ को तार भी दिया—"Reception Committee elected you president to-day, wire acceptance at once[३]" द्विवेदीजी ने तार द्वारा उत्तर दिया—"Ill-health prevents acceptance !"

शास्त्रीजी के तार से पहले भी एक तार आया था। हिन्दू-सभा (लाहौर) के मंत्री श्रीग्वालचन्द्र ने ता० २-११-१९१५ को तार दिया था—"Hon'ble Rai Bahadur Ramsaran Das and other leading Hindus anxious to elect you president of forthcoming Hindi Conference, wire acceptance[४]" इसका उत्तर भी द्विवेदीजी ने वही दिया, उसी दिन—"Regret ill-health prevents acceptance !"

ता० २ को ही एक तार और आया था। पंडित दीनदयालु शर्मा और भगवानदास प्लीडर ने उसे भेजा था—"All leading Hindus insist on your accepting presidentship of Hindi Conference, kindly wire acceptance[५]". इसके उत्तर में भी उसी दिन द्विवेदीजी ने वह पेटेण्ट वाक्य रवाना किया—"Ill-health prevents acceptance !"

इस अमर वाक्य में अनेक प्रकार के भाव भरे हैं। यदि उन सबका अच्छी तरह विश्लेषण किया जाय तो हिन्दी-संसार में बुढ़िया आँधी आ जायगी !

इस बण्डल के कागज-पत्र देखने से दो बीहड़ प्रश्न मन में उठते हैं—(१) आचार्य द्विवेदीजी सम्मेलन के लिए क्या हमेशा अस्वस्थ ही रहते थे ?—(२) तो फिर वे 'सरस्वती' को कैसे सदा समय पर सर्वाङ्गसुन्दर निकालते रहे ?

१. आप सर्वसम्मति से चतुर्थ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति चुने गये हैं। तार द्वारा स्वीकृति भेजिए।

२. 'स्वीकृति में अस्वस्थता बाधक'।

३. स्वागत-समिति ने आज आपको सभापति चुना है, तुरत तार से स्वीकृति भेजिए।

४. माननीय रायबहादुर रामसरनदास और अन्य प्रमुख हिन्दू आपको आगामी हिन्दी (साहित्य)-सम्मेलन का सभापति चुनना चाहते हैं, तार द्वारा स्वीकृति भेजिए।

५. हिन्दी-कानफरेन्स के सभापतित्व के लिए सभी प्रमुख हिन्दू, आग्रहपूर्वक आपकी स्वीकृति चाहते हैं, कृपया तार से स्वीकृति भेजिए।

विभक्ति-विचार-वितंडा

हिन्दी में विभक्ति को सटाकर लिखना चाहिए या हटाकर, इसका झगड़ा सन् १९०९ में उठा था। सटाऊ और हटाऊ सिद्धान्त की लड़ाई में कई अखबारों ने भाग लिया था। वेंकटेश्वर-समाचार (बम्बई), अभ्युदय (प्रयाग), भारतजीवन (काशी), भारतमित्र और हितवार्त्ता (कलकत्ता) के उन सब अंकों का संग्रह द्विवेदीजी के एक बंडल में है। जिनमें पक्ष-विपक्ष के लेख छपे थे। द्विवेदीजी विभक्ति को अलग लिखने के पक्ष में थे। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल, लाला भगवानदीन, बाबू भगवानदास हालना आदि अलगाऊ सिद्धान्त के समर्थक थे। पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र, पण्डित अमृतलाल चक्रवर्त्ती, पण्डित अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, पण्डित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी आदि सटाऊ सिद्धान्त का पक्ष लिये हुए थे।

द्विवेदीजी के संग्रह में उपर्युक्त साप्ताहिकों के जितने अंक सुरक्षित हैं, उनकी तालिका यहाँ दी जाती है। जब कभी इस साहित्यिक विवाद के सम्बन्ध में कोई सिद्धान्त स्थिर किया जायगा, तब इनकी खोज जरूर होगी—

[१] 'वेंकटेश्वर-समाचार' ४, १८, २५ जून; २३, ३० जुलाई; ६, १३, २०, २७ अगस्त; और ३ सितम्बर (१९०९)। [२] 'अभ्युदय' (सम्पादक पण्डित सत्यानन्दजोशी बी० ए०)—२३, ३० जुलाई; ६ अगस्त; १०, १७, २४ सितम्बर (१९०९)। [३] 'भारतजीवन'—३१ मई; ७, १४ जून (१९०९)। [४] 'भारतमित्र' (सम्पादक पण्डित अमृतलाल चक्रवर्त्ती)—३१ जुलाई; ७, २१ अगस्त; ४ सितम्बर (१९०९)। [५] 'हितवार्त्ता'—३, २४ जून; १, ८, १५, २२, २९ जुलाई; ५, १२, १९, २६ अगस्त; २, १६, २३, ३० सितम्बर; ७, १४, २१ अक्तूबर (१९०९)।

'हितवार्त्ता' में निन्नानवे फी सदी लेख वाजपेयीजी के हैं। उन्होंने लालाजी, शुक्लजी और हालनाजी के लेखों का खण्डन किया है। विभक्ति मिलाकर लिखने के पक्ष में सम्पादकीय लेख भी लिखे हैं। कई अङ्कों में विभक्ति-विचार-विषयक स्वतंत्र लेखमाला है। उसमें वाजपेयीजी की गम्भीर विचारशैली और विद्वत्ता दर्शनीय है।

'भारतमित्र' में चक्रवर्त्तीजी ने भी इस विषय पर सम्पादकीय लेख लिखे हैं। उन्होंने विभक्ति-सम्मेलन करने का प्रस्ताव किया है। ता० ७ अगस्त के अङ्क में स्वर्गीय अम्बिकादत्त व्यास के लिखे हुए एक पोस्टकार्ड का ब्लॉक छपा है, जिसमें विभक्ति सटी हुई है। ता० ३१ अगस्त के अङ्क में मिरजापुर-निवासी साहित्योपाध्याय बदरीनाथ शर्मा वैद्य ने व्यासजी के पोस्टकार्ड का खंडन किया है।

'अभ्युदय' के २३ और ३० जुलाई तथा ६ अगस्त के अंकों में पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का लेख छपा है। वह बड़ा युक्तिपूर्ण और संग्रहणीय है। सितम्बर के तीन अङ्कों में हालनाजी का लेख छपा है। पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र को खूब उत्तर मिला है। युक्तियाँ हृदयग्राहिणी हैं।

इसी प्रकार 'वेंकटेश्वर-समाचार' में भी पक्ष-विपक्ष के कई लेख हैं। इन सब पत्रों के लेखों में कटुता की मात्रा भी काफी है। आक्षेपों की विशेष कमी नहीं है। लेखकों की मनोवृत्ति कहीं छिपने नहीं पाई है। उस युग के साहित्यिक वायुमण्डल का आभास मिल ही जाता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि कलकत्ता और बम्बई के सिवा सब जगह के अखबारों और किताबों में आज तक विभक्ति अलग ही देखने में आती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आचार्य द्विवेदीजी की विजय सर्वोपरि है। संस्कृत के प्रखर विद्वान् और अनन्य अनुरागी होते हुए भी द्विवेदीजी हिन्दी के पक्के हिमायती रहे। उन्होंने हिन्दी को स्वतंत्र भाषा बनाया और उसके परिष्कृत रूप को स्थिरता एवं सजीवता प्रदान कर वह अलभ्य यश लूटा, जिसके लिए देवता भी ईर्ष्या करते होंगे।

—मासिक 'हंस' (काशी); वर्ष ३; संख्या ६, जून, १६३३ ई०

साहित्याचार्य पांडेय रामावतार शर्मा एम्० ए०

चमड़े की आँखें असली आँखें नहीं हैं, असल आँख तो विद्या है, जो विद्या-रूपी आँख से हीन है, वह चमड़े की आँखों के रहते हुए भी अन्धा है। चमड़े की आँखों से अपने आसपास की ही चीजें देखी जा सकती हैं; पर विद्या-रूपी आँख से इस लोक की ही नहीं—तीनों लोक की सब चीजें देख पड़ती हैं। इतना ही नहीं, चमड़े की आँखों से हम आज के इसी क्षण की बातें देख पाते हैं, मगर विद्या-रूपी आँख से हम हजारों वर्ष की बीती बातों के सिवा सैकड़ों वर्ष आगे की बातें भी देख लेते हैं। इसीलिए विद्या एक अनमोल धन है। वह जिसके पास है, असल में वही धनी है। दुनिया में जितने धनी हैं, समय पाकर गरीब हो सकते हैं, मगर विद्या का धनी तो समय पाकर और भी अगड़धत्त धनवान बन जाता है।

ईश्वर की कृपा से बिहार को भी एक ऐसे ही अगड़धत्त धनवान मिले हैं, उनके पास राज-रियासत नहीं है, फिर भी वे बिना तिलक के राजा हैं। उन्होंने विद्या की गहरी-से-गहरी खान में बरसों मेहनत करके ऐसे-ऐसे अनमोल रत्न पाये हैं कि बड़े-बड़े महाराजाधिराजों के ताज में जड़े हुए जवाहर भी उनकी बराबरी नहीं कर सकते। इसका कारण जानते हो ? विद्या की देवी सरस्वती माता ने अपने चरणों में उनकी अगाध प्रीति देखकर उनके सिर पर हाथ फेर दिया। बस वे विद्या के कुबेर बन गये। उन्हींका नाम है पण्डित रामावतार शर्मा !

शर्माजी छपरा के निवासी सरयूपारीण ब्राह्मण हैं। आपका शुभ जन्म विक्रम-संवत् १९३४ में हुआ था। आपके पिता पण्डित देवनारायण शर्मा संस्कृत के विद्वान और

धर्मात्मा थे। वे बहुत पैसेवाले तो न थे, मगर विद्या के प्रेमी तो थे ही; पाँच ही वर्ष की अवस्था से आपको पढ़ाने लगे। उसी समय से आप बड़े होनहार मालूम होने लगे। गूढ़-से-गूढ़ बात को भी झट समझ लेते थे। पढ़ने में ऐसी लगन लगी कि बारह वर्ष की अवस्था में ही संस्कृत की प्रथम परीक्षा पास कर गये। और, परीक्षा भी प्रथम श्रेणी में पास हुए। उसी समय से छात्रवृत्ति पाने लगे। यहाँ तक कि हर एक परीक्षा में छात्रवृत्ति पाते चले गये।

लगभग बीस वर्ष के हुए, तो पिताजी स्वर्गवासी हो गये। उस समय आप इण्ट्रेंस पास कर चुके थे। तब आपकी विधवा माता ने अपने गहने बेचकर आपको पढ़ाना शुरू किया। उसी अवस्था में आप काशी की संस्कृत की साहित्याचार्य परीक्षा में सर्वोत्तम हुए। काशी के यशस्वी विद्वान पण्डित गंगाधर शास्त्री आपके गुरु थे। आपकी गुरुभक्ति से वे बहुत प्रसन्न रहते थे, और आपकी चोखी बुद्धि की बड़ी प्रशंसा भी किया करते थे।

एफ्० ए० और बी० ए० पास करके चौबीस वर्ष की अवस्था में आप एम्० ए० पास हुए। एम्० ए० होने के बाद काशी के हिन्दू-कालेज में अध्यापक नियुक्त हो गये। वहाँ लगभग चार-पाँच वर्ष काम करके उन्नीस वर्ष की अवस्था में पटना-कॉलेज के प्रोफेसर होकर पटना चले आये। तब से आज तक आप उसी जगह पर काम कर रहे हैं। बीच में दो-तीन साल काशी के हिन्दू-विश्वविद्यालय में संस्कृत-विभाग के प्रधान होकर गये थे।

संस्कृत के आप बहुत ही बड़े विद्वान हैं। भारतवर्ष के प्रसिद्ध विद्वानों में आपकी गिनती की जाती है। विदेश के संस्कृत-प्रेमी विद्वान भी आपकी योग्यता के कायल हैं। किन्तु संस्कृत के बड़े-बड़े पण्डित हिन्दी को तुच्छ समझते हैं। सो बात आपमें नहीं है। आप हिन्दी के सच्चे प्रेमी हैं। संस्कृत की तरह हिन्दी में भी आपने अनेक लेख और कई ग्रन्थ लिखे हैं। अखिल-भारतवर्षीय (सप्तम) हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (जबलपुर) के सभापति भी हो चुके हैं। आजकल आप संस्कृत का एक बड़ा भारी कोष तैयार कर रहे हैं। वह छपने पर संसार में अपने ढंग का अकेला ही कोष होगा।

इतने बड़े विद्वान होकर भी आप बड़े मिलनसार हैं। आजकल के समयानुकूल नवीन सुधार को आप बहुत पसंद करते हैं। समाज-सुधार के विषय में आपकी युक्तियाँ बड़ी जबरदस्त होती हैं। उन्हें कोई काट ही नहीं सकता। क्योंकि अपनी एक-एक युक्ति के लिए सैकड़ों पुष्ट प्रमाण तैयार रखते हैं। साधारण बातचीत में भी आप ऐसी अच्छी-अच्छी बातें कह जाते हैं कि चित्त मुग्ध हो जाता है। अपने परिश्रम और विद्या के बल से ही आप इतने बड़े प्रतिष्ठित हुए हैं।

—मासिक 'बालक' (लहेरियासराय, दरभंगा); वर्ष १, अंक २, फाल्गुन, संवत् १९८२ वि०

आचार्य श्यामसुन्दरदासजी

आचार्य श्यामसुन्दरदासजी के प्रथम दर्शन का सौभाग्य लखनऊ में मुझे प्राप्त हुआ था। अखिल-भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का पंचम अधिवेशन कविवर पंडित श्रीधर पाठकजी के सभापतित्व में वहीं हुआ था। कालीचरण हाई स्कूल के आँगन में सुन्दर पंडाल बना था। उस समय वे ही उस स्कूल के हेडमास्टर थे। यह सन् १९१४ ई० की बात है।

उस सम्मेलन में पंडित अमृतलाल चक्रवर्त्ती, पंडित विनायक राय साठे, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पंडित मुखराम चौबे 'गुणाकर', श्रीहरिश्चन्द्र वेदालंकार आदि के भाषण बड़े मनोरंजक हुए थे।

चक्रवर्त्तीजी ने स्त्री-शिक्षा पर बोलते हुए खूब हँसाया था। वयोवृद्ध साठेजी ने भी अपने लिए 'सट्ठा तब पट्ठा' कहकर बहुत हँसाया था। कविवर 'पूर्ण' जी ने उर्दू के गढ़ में रहनेवाले हिन्दी के विरोधियों को अपनी तत्काल रची हुई मनोहर कविताएँ सुनाकर मुँहतोड़ जवाब दिया था। उनका आशुकवित्व देखकर लोग चकित रह गये थे। स्वामी सत्यदेवजी का भाषण अत्यन्त ओजस्वी था। 'गुणाकर' जी ने अपने भाषण के के एक प्रसंग में कहा था—मैं 'सागर' का निवासी हूँ; पर वह सागर नहीं, जिसमें सीपी होती है, बल्कि वह 'सागर', जो 'सी० पी०' (मध्यप्रदेश) में है।' श्रीहरिश्चन्द्रजी वेदालंकार ने सम्मेलन को पंजाब की ओर से निमंत्रण दिया था। किन्तु सुनने में आया कि उसी साल वे स्वनामधन्य राजा महेन्द्रप्रताप के प्राइवेट सेक्रेटरी होकर विदेश चले गये; इसीलिए सम्मेलन का छठा अधिवेशन लाहौर में न हो सका, सम्मेलन के ही नगर (प्रयाग) में हुआ।

वे (हरिश्चन्द्रजी) महात्मा मुन्शीरामजी (स्वामी श्रद्धानन्द) के सुपुत्र थे। महात्मा मुन्शीरामजी भी सम्मेलन के चतुर्थ महाधिवेशन (भागलपुर, बिहार) के सभापति हुए थे। उसमें दुर्भाग्यवश मैं न गया था। किन्तु मेरे साहित्य-गुरु पूज्य पंडित ईश्वरीप्रसादजी शर्मा कहते थे कि बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी की 'रामकहानी' पर, जो युक्तप्रान्त के शिक्षा-विभाग में स्वीकृत पाठ्य-पुस्तक थी, अत्यन्त ओजस्वी भाषण किया था। संभवतः बिहार में उनका वही प्रथम पदार्पण और प्रथम भाषण था। शर्माजी उनकी वक्तृत्व-शक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा किया करते थे।

लखनऊ-सम्मेलन में भी गुरुवर शर्माजी मेरे साथ ही थे। हिन्दी के सर्वप्रथम भावात्मक मौलिक उपन्यास (सौन्दर्योपासक) के यशस्वी सुलेखक बाबू व्रजनन्दन सहाय 'व्रजवल्लभ' भी गये थे। इन्हींकी प्रेरणा से लौटती बार हमलोग अयोध्या में भी उतरे, और वहाँ हनुमन्निवास में सुप्रसिद्ध संत श्रीसीतारामशरण भगवानप्रसादजी 'रूपकला' के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त किया।

वे महात्मा भी हिन्दी के परमभक्त थे। उन्होंने 'भक्तमाल' की बहुत विशद टीका रची है। वे पहुँचे हुए रामोपासक संत थे। वे छपरा (सारन) जिले के

निवासी थे। जब लखनऊ-सम्मेलन की स्वागत-समिति की सुव्यवस्था की चर्चा चली, तो उन्होंने श्रीमुख से स्पष्ट कहा कि जहाँ बाबू श्यामसुन्दरदासजी ही स्वयं कर्त्ता-धर्त्ता हैं, वहाँ तो सुव्यवस्था का होना अनिवार्य ही है।

महात्मा अधिक नहीं बोला करते, केवल सूत्र-रूप में मितभाषण किया करते हैं। उन महात्माजी की यह बात बाबू श्यामसुन्दरदासजी के सम्बन्ध में अक्षरशः चरितार्थ होती है। बाबू साहब की संघटनात्मक शक्ति और सुव्यवस्था का ज्वलन्त उदाहरण काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा है। सभा और वे तो परस्पर पर्याय थे।

जैसा पहले कह आया हूँ, छठा सम्मेलन लाहौर में न हो सका। वहाँ हुआ बारहवाँ अधिवेशन, जिसके सभापति थे हास्यरसावतार पंडित जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी। 'सभा' के अनुमोदन से प्रकाशित 'सरस्वती' के सम्पादन का भार सँभालते ही पूज्य आचार्य द्विवेदीजी ने अपने सम्पादित ग्रंक के आरम्भ में ही बाबू साहब का चित्र प्रकाशित करके उसके नीचे यह प्रशस्ति दी थी—

मातृभाषा के प्रचारक विमल बी० ए० पास।
सौम्य शीलनिधान बाबू श्यामसुन्दरदास॥

हास्यरसावतार चतुर्वेदीजी ने इसीके वजन पर अपनी प्रशस्ति (!) आप ही लिखी थी—

पितृभाषा के बिगाड़क समल एफ० ए० फिस्स।
जगन्नाथप्रसाद वेदी बीस कम चौबिस्स॥

पंडित ईश्वरीप्रसादजी बड़े विनोदी थे, लखनऊ में जब श्यामसुन्दरदासजी और चतुर्वेदीजी विशिष्ट साहित्यिकों के दल के साथ प्रतिनिधियों के निवास-स्थानों में घूम रहे थे, शर्माजी ने चतुर्वेदीजी को उकसाकर यह पद्य कहवाकर ही छोड़ा। यद्यपि यह पद्य श्यामसुन्दरदासजी पहले पढ़ चुके थे, तथापि चतुर्वेदीजी के मुख से साक्षात् सुनकर बहुत हँसे और दो-तीन बार कहवाकर सुन लेने के बाद कहने लगे कि द्विवेदीजी की कविता की यह 'पैरोडी' (Parody) बहुत अच्छी बन पड़ी है। पहले-पहल वहीं 'पैरोडी' (विडम्बना-काव्य) शब्द कानों में पड़ा था।

लखनऊ से लौटने पर ईश्वरीप्रसादजी को इसका चसका लगा। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कोई कविता देख लेते थे तो झट उसकी 'पैरोडी' लिख डालते थे। किन्तु विवाद-भय से उस समय मूल कविता का संकेत नहीं देते थे। उनके कुछ विडम्बना-काव्य 'चना-चबेना' नामक हास्यरसात्मक पद्यबद्ध पुस्तक में प्रकाशित हैं। यह पुस्तक कलकत्ता-प्रवास के समय स्वयं उन्होंने ही प्रकाशित की थी—विक्रमाब्द संवत् १९८१ (१९२४ ई०) में, जिन दिनों 'मतवाला' निकल रहा था। सौभाग्यवश उन्हीं दिनों बाबू श्यामसुन्दरदासजी अपने पुत्र के विवाह के निमित्त कलकत्ता पधारे थे। चोरबगान के एक मकान में बरात ठहरी थी।

'मतवाला'-सम्पादक बाबू महादेवप्रसाद सेठ भी श्यामसुन्दरदासजी के सजातीय (खत्री) थे। इसलिए 'मतवाला'-मंडल के सभी सदस्य बाबू साहब के स्वागतार्थ बरात के जनवासे में गये थे। पंडित ईश्वरीप्रसादजी भी थे। मुन्शी नवजादिकलाल श्रीवास्तव ने यह बात छेड़ दी कि लखनऊ-सम्मेलन में आपही के मुख से 'पैरोडी' शब्द सुनकर ईश्वरीप्रसादजी 'मतवाला' में प्राय: उस तर्ज की कविता दिया करते हैं। इसपर बाबू साहब बहुत हँसे और शर्माजी की पीठ ठोककर कहने लगे—'एकाध चटपटी चीज सुनाओ भाई'। यही उनके शब्द हैं। शर्माजी ने तुलसीदास के वर्षा-वर्णन की विडम्बना सुनाई। फिर तो बाबू साहब ने उनसे और भी कई अन्य हास्य-रसात्मक पद्य सुने—लेखक-प्रकाशक-संवाद, सम्पादकजी, लेख की माँग आदि रचनाएँ सुनकर खूब खुलकर हँसे और 'मतवाला' की भी बहुत तारीफ की।

बाबू साहब बहुत गंभीर प्रकृति के पुरुष थे, तब भी साहित्यिक मनोविनोद से उन्हें कोई घृणा न थी। एक बार मैं, जब काशी में साहित्यिक पाक्षिक 'जागरण' का सम्पादक था, लेख और सम्मति के लिए बाबू साहब की सेवा में पहुँचा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी और पंडित केदारनाथ पाठक वहाँ बैठे थे। शुक्लजी वैसे गंभीर विचार के होते हुए भी बड़े विनोदप्रिय व्यक्ति थे। पाठक जी को लोग 'चलता-फिरता पुस्तकालय' और 'साहित्यिक संस्मरणों के भंडारी' कहा करते थे। वे काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय के अध्यक्ष थे। मैंने देखा कि आचार्य द्विवेदीजी के विषय में पाठकजी विनोद-भरी बातें सुना रहे हैं और दोनों आचार्य हँस-हँसकर आनन्द ले रहे हैं।

हाँ, तो छठा सम्मेलन प्रयाग में, राय रामप्रसाद साहब के बाग में, हुआ था। श्यामसुन्दरदासजो ही सभापति थे। एकदम काला कोट-पैण्ट, गोल काली फेल्टकैप, तितलीनुमा बूटेदार नेकटाई, तगड़ा शरीर, भव्य डीलडौल के कारण प्रभावशाली व्यक्तित्व, सब तरह से बाबू साहब का रूप आकर्षक था। भारतेन्दु-सखा पण्डित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' उस सम्मेलन में पधारे थे और आचार्य द्विवेदीजो भी। प्रेमघनजी की भौंहों के बीच में पँचरंगी बिन्दी सबका ध्यान बरबस खींच रही थी। उनका हरिश्चन्द्री ठाट देखकर अनुमान होता था कि स्वयं भारतेन्दुजी ही सम्मेलन में आ गये हैं। उनकी आकृति-प्रकृति से वस्तुत: भारतेन्दु का ही आभास मिलता था।

आचार्य द्विवेदीजी की घनी मूँछों और घनी भौंहों के ऊपर प्रशस्त ललाट तेजस्विता से चमक रहा था। चमरौधा जूते और बगलबन्दी पर पण्डिताऊ गोल टोपी में भारतीय संस्कृति की झलक थी। दूसरे दिन बन्द गले के कोट और ऊनी लैसवाली किश्तीनुमा टोपी में आधुनिकता के भी दर्शन हुए।

उसी सम्मेलन में मंजुलमूर्त्ति पण्डित जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी ने बँगला के लेख 'अनुप्रासेर अट्टहास' के जवाब में 'अनुप्रास का अन्वेषण' नामक हास्यरसपूर्ण निबन्ध पढ़ सुनाया था। चौबेजी का बसन्ती साफा बाँधे मन्द-मन्द मुस्कान के साथ झूम-झूमकर निबन्ध पढ़ना आज भी मानों आँखों के सामने नाच रहा है।

श्यामसुन्दरदासजी ने जैसी ओजस्विता के साथ भाषण किया, सम्मेलन के मंच पर वैसी छटा बहुत कम देखने में आई। उनका अन्तिम मौखिक भाषण तो और भी आकर्षक रहा। उनकी शानदार 'स्पीच' पर टकटकी बँध गई। अपने समय के वे सर्वश्रेष्ठ हिन्दी-वक्ता थे। हिन्दुस्तानी एकेडमी (प्रयाग) में, हिन्दुस्तानी के विरोध और हिन्दी के पक्ष-समर्थन में, उनका जो जोशीला भाषण हुआ था, उसके सुननेवालों का कहना है कि बाबू साहब उतने आवेश में भाषण करते कभी नहीं देखे गये। सर सुलतान अहमद के तर्कों की उन्होंने चिन्दी उड़ा डाली! वे हिन्दी के अनन्य भक्त थे, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं। उन्हींके सदुद्योग से भारतीय विश्व-विद्यालयों में हिन्दी की पैठ और पूछ हुई। उन्हीं के परिश्रम से एम० ए० कक्षा तक के पाठ्य-ग्रंथ तैयार हुए। उन्हीं के प्रयत्न से हिन्दी का विराट् शब्दकोष बना और हिन्दी-भाषा के विकास का नवयुग लानेवाली 'सरस्वती' पत्रिका निकली, जिसके द्वारा आचार्य द्विवेदीजी की प्रकृष्ट प्रतिभा का प्रसाद प्राप्त हुआ तथा उनकी चिरस्मरणीय साहित्य-सेवा से हिन्दी का अभूतपूर्व उपकार हो सका।

आज जिस साहित्य-सम्मेलन के कारण हिन्दी का व्यापक प्रभाव सर्वत्र दीख पड़ता है, उसका बीज-वपन करके उसकी जड़ जमानेवाले भी बाबू साहब ही थे। हिन्दी के प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों की खोज का लग्गा लगाकर उन्होंने ही हिन्दी-साहित्य के इतिहास की नींव मजबूत की। भारत-सरकार से लिखापढ़ी कर और बहुत लड़-झगड़कर हिन्दी की सभी जब्त पुस्तकों की एक-एक प्रति 'सभा' के आर्य-भाषा पुस्तकालय में गुप्त रूप से सुरक्षित रखवाने में उन्होंने अविश्रान्त श्रम किया था। उनकी इस दूरदर्शिता का मूल्य तब मालूम हो सकेगा, जब हिन्दी स्वतंत्र राष्ट्र की भाषा बनकर अपने लुप्त साहित्य के उद्धार में प्रवृत्त होगी।

श्रीद्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रंथ के प्रकाशन के समय लगभग डेढ़-दो साल तक मुझे पुराकृत पुण्यवश उनके निकट सम्पर्क का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। काशी के यशोधन कलाविद् श्रीमान् राय साहब (राय कृष्णदासजी) और बाबू साहब के सतत संलग्न रहने से ही वह अद्वितीय ग्रन्थ तैयार हो सका था।

मैं ग्रन्थ की पूरी प्रेस-कापी लेकर बाबू साहब की चिट्ठी के साथ जब इण्डियन प्रेस में गया, तब कहीं जान पड़ा कि इण्डियन प्रेसवाले उनकी बात की कितनी कद्र करते हैं। मैं वहाँ प्रेस के ही अन्दर अतिथिशाला में महीनों रहा और यह देखकर बहुत प्रभावित हुआ कि बाबू साहब की एक-एक बात पर ध्यान देने में प्रेस के सभी लोग आशातीत तत्परता दिखा रहे हैं। एकबार थोड़ी देर और मामूली भूल हो जाने पर उन्होंने ऐसी कड़ी चेतावनी दी कि फिर कभी वैसा प्रसंग ही न आया।

उनका अनुशासन बहुत ही कठोर था। काम में साधारण-सी चूक या अनावश्यक विलम्ब होनेपर बिल्कुल बेलौस होकर ऐसी डाँट बताये थे कि उनका रुख देखकर मन में भय-विस्मय होने लगता था। ग्रन्थ-सम्पादन के सम्बन्ध में दिये हुए उनके आरंभिक आदेश और सुझाव बड़े महत्त्व के थे। प्रयाग से मुझे प्रति सप्ताह काशी आकर उन्हें

दिखाना पड़ता था कि सप्ताह-भर में कितना काम हुआ है। उनकी आज्ञा से ही मेरे लिए साप्ताहिक रेलवे 'पास' लिया गया था। वे लेखों और संस्मरणों को बड़ी कड़ाई से जाँचते और खरी सलाह देते थे। इस विषय में मुरौवत—मुलाहजा छूकर भी नहीं। समय के इतने पाबन्द थे कि एक बार संयोगवश सात के बदले साढ़े सात बजे मेरे पहुँचने पर वे दूसरे काम में लग गये, निराश लौटना पड़ा।

ईश्वर की दया से उनकी दृष्टि में मेरी सेवाएँ सन्तोषजनक प्रतीत हुईं, इसलिए उनका स्नेहभाजन बनकर मैंने उनकी कृपा भी प्राप्त की। उनके कृपा-प्रदर्शन के प्रसंगों का उल्लेख अनावश्यक विस्तार होगा।

'सभा' की स्वर्ण-जयन्ती के समय उनके अंतिम दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उस समय उनका जरा-जर्जर शरीर देखकर बहुत दुःख हुआ। सिर काँप रहा था। चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गई थीं। मैं हाथ जोड़े सामने खड़ा था, उन्होंने घूरकर पहचाना—कंधे पर स्नेह-वरद हाथ रखकर कहा—'अच्छी तरह हो न ? मैं तो बुढ़ापे से लाचार हो गया, अब चन्द रोज का मेहमान हूँ।' उनके ये करुण-कातर शब्द सुनकर बड़ी पीड़ा हुई। दो आदमियों ने बाजू में हाथ लगाकर उन्हें कुर्सी पर बिठाया। उस पुरुषसिंह की यह दशा देखकर बहुत दुःख हुआ। उन्होंने हिन्दी की सेवा में अपने-आपको खपा डाला। पारिवारिक विपत्तियों से भी उनका स्वास्थ्य बहुत लच गया। बड़े लड़के (कन्हैयाजी ?) की असामयिक मृत्यु से उनके कोमल हृदय को गहरा धक्का लगा था। फिर दुबारा पुत्रशोक ने उनके दिल को छलनी कर डाला।

उनकी आर्थिक अवस्था भी कुछ बहुत अच्छी न थी। एक बार उन्होंने स्पष्ट कहा था कि रायबहादुरी गले में ढोल आ पड़ी है—ढलती उम्र में यह बला आ गई! उस समय इण्डियन प्रेस ने उनके लिए एक मोटर भेज दी थी। उन्हीं दिनों द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रंथ की तैयारी हो रही थी। एक दफा उस 'कार' में बैठते-बैठते कहने लगे—"न जाने यह 'कोढ़ में खाज' कहाँ से आ गई, हमारे लिए यह मोटर आफत ही है, जब इसे आना चाहिए था, तब तो आई ही नहीं।" किन्तु यह विरक्ति केवल बाह्याडम्बर के प्रति थी। उनके मन में कभी धन की हाय न समा सकी।

उन्हें सन्तोष यदि न हुआ तो केवल हिन्दी-सेवा से ही। हिन्दी के अभ्युदय-सम्बन्धी उनके स्वप्न शायद अजर-अमर शरीर पाने पर भी पूरे न हो पाते। हिन्दी की उन्नति के लिए उनकी कल्पनाएँ गगनचुम्बिनी थीं। अपने जीवन-काल में उन्होंने हिन्दी की जितनी वृद्धि देख ली, उतने से उन्हें कभी तृप्ति न हुई। वे कहते थे कि मार्कण्डेय की आयु पाने पर ही हिन्दी की सेवा से जी भर पाता। हिन्दी के लिए उनमें अथाह ममता थी।

निश्चय ही कहीं-न-कहीं हिन्दी-संसार में उनकी आत्मा अवतीर्ण हो चुकी होगी; क्योंकि उनके अन्तःकरण में एकमात्र हिन्दी-सेवा की ही कामना थी, मुक्ति की नहीं। इसलिए जो लोग उनकी अनन्य हिन्दी-भक्ति का सहज स्वरूप देख चुके हैं, उन्हें

विश्वास है कि अपनी वह संघटनात्मक शक्ति और प्रबन्धकुशलता लेकर वे फिर हिन्दी की गोद भरने आ गये होंगे। तथास्तु।

—साप्ताहिक 'विश्वबन्धु' (कलकत्ता); दीपावली-विशेषांक, १९४५ ई०

रायबहादुर हीरालालजी

रायबहादुर हीरालालजी का जीवन शुद्ध स्वावलम्बन का वस्तुपाठ है। साधारण स्थिति से उठकर उच्च पद को पहुँचनेवाले महापुरुष की आत्मशक्ति परमात्मा ने उन्हें दी थी, किन्तु सामान्य शिक्षक से अत्युच्च शासनाधिकारी होने पर भी वे आदर्श विनय की विभूति थे। उनकी नम्रता में ही उनकी महत्ता थी।

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा का वार्षिकोत्सव था। लगभग सात-आठ साल पहले की बात है। उसी महोत्सव में महामना मालवीयजी द्वारा भारत-कला-भवन की आधार-शिला रक्खी गई थी। शिलान्यास-महोत्सव के दिन महामहोपाध्याय रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचन्दजी ओझा सभापति थे। किन्तु वार्षिकोत्सव के सभापति रायबहादुर हीरालालजी थे। उस अवसर पर प्रयाग-विश्वविद्यालय के यशस्वी इतिहासाचार्य डॉक्टर रामप्रसादजी त्रिपाठी ने 'सम्राट् अकबर' पर बड़ा महत्त्वपूर्ण भाषण दिया था। हिन्दू-विश्वविद्यालय के पुरातत्त्वाचार्य (अब स्वर्गीय) श्रीराखालदास बंद्योपाध्याय ने 'मोहनजोदड़ो' की अद्भुत कहानियाँ सुनाकर चकित कर दिया था। विद्वद्वर श्री जयचंद विद्यालंकारजी का भी भाषण हुआ था।

मैंने उस वार्षिकोत्सव का विस्तृत विवरण 'मतवाला' (कलकत्ता) में लिख भेजा था, जो 'मतवाला' के दो-तीन अंकों में छपा था। पर रहता था मैं काशी में ही। वार्षिकोत्सव बड़े समारोह से चार-पाँच दिनों तक होता रहा। मैं उसकी सब बैठकों में शामिल हुआ और देखता रहा कि प्रधान सभापति श्री हीरालालजी कितनी शांति और गंभीरता से सभा-संचालन कर रहे हैं।

उसी अवसर पर श्रद्धेय बाबू श्यामसुन्दरदासजी को 'कोशोत्सव-स्मारक-ग्रंथ' अर्पित किया गया था। कोश (हिन्दी-शब्द-सागर) के अन्य सम्पादकों को भी सुनहली घड़ी, फाउण्टेनपेन, दुशाला आदि दिया गया था। प्रधान कोश-सम्पादक बाबू साहब को जब ग्रंथ अर्पित हो चुका, तब हीरालालजी और बाबू साहब में कुछ विनोद भी हुआ, पर उस विनोद का रस दोनों अभिन्न मित्रों में ही रह गया। मैं केवल दोनों वयोवृद्ध साहित्य-सेवियों की मुसकान का ही आनन्द ले सका। जान पड़ा कि हीरालालजी की गंभीरता में विनोद-प्रियता का भी पुट है। उनकी शीतल हँसी में साहित्य की मृदु सुगंध थी। उनकी वाणी की मंथर गति इस बात को सिद्ध करती थी कि वे सच्चे 'रिसर्च स्कॉलर' हैं—अपनी ही लगन में लीन रहनेवाले पुरातत्त्वान्वेषी हैं।

वे अपने साथ 'फोनोग्राफ' के बहुत-से 'रेकार्ड' लाये थे, जिन्हें सुनाकर उन्होंने उपस्थित सज्जनों का बड़ा मनोरंजन किया था। प्रत्येक रेकार्ड सुनाने से पहले वे उसका

पूरा विवरण कह देते थे। मध्यप्रदेश की जंगली जातियों की बोलियों का अनुसंधान, संग्रह और विश्लेषण करने में उन्होंने कितना परिश्रम किया है—यह उस सभा में उपस्थित सज्जनों की विस्मय-वृद्धि का कारण बन गया। जब वे 'गोंड'-जाति की स्त्रियों के गीतों का भाव समझाने लगते थे, तब मंडप में अट्टहास गूंज उठता था। पर स्वयं वे केवल मुस्कुराकर ही रह जाते थे।

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के वे कई साल तक सभापति थे और उसकी प्राचीन शोध-संबंधिनी त्रैमासिक पत्रिका के सम्पादक भी। उसमें उनके गवेषणा-पूर्ण लेखों को जिसने पढ़ा है, उसके हृदय में आज भी उनका अभाव खल रहा है। 'मध्यप्रदेश में रावण की लंका, नामक उनकी प्रसिद्ध लेखमाला के अनेक अंश विविध पत्र-पत्रिकाओं में छपकर हिन्दी पाठकों के कौतूहल की वृद्धि करते रहे। कई पत्रों में उनके लेखों का कुछ विरोध भी देखने में आया; पर वे अपने विरोधियों को भी बड़ी ही संयत भाषा में उत्तर देते थे और अपनी खोज को सप्रमाण सिद्ध करने में हृदयग्राही एवं युक्तिसंगत तर्कों को उपस्थित करते थे।

जब मैं 'माधुरी' के सम्पादकीय विभाग में काम करता था तब श्रीदुलारेलालजी भार्गव के पास आये हुए उनके पत्रों को पढ़कर आश्चर्य होता था। जिस अध्ययनशील विद्वान को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त थी, जो पुरातत्त्वेतिहास का मर्मज्ञ माना जाता था, वह इतना नम्र था कि हम आधुनिक लेखकों को उससे सबक लेना चाहिए। मुझे आज तक उनके एक पत्र का यह वाक्य याद है—'मेरे ऐसे एकांत-प्रिय ग्रंथकीट से अच्छी लिखावट की आशा न कीजिएगा।' अब ऐसा कौन लिखेगा?

जिस समय मैं इंडियन प्रेस में रहकर द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रंथ का काम करता था, उस समय उस ग्रंथ में छपने के लिए आये हुए उनके एक लेख के विषय में उनसे पत्र-व्यवहार करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वह लेख शायद उनके क्लर्क या नकलनवीस का लिखा हुआ था। उसे पढ़ने पर मुझे कुछ भ्रम हुआ; किन्तु पत्र लिखने पर उस भ्रम का उन्होंने संशोधन कर दिया। फिर एक पत्र लिखकर पूछा कि और कोई भ्रम हो तो सूचित कीजिए अथवा बाबू श्यामसुन्दर दासजी से शंका-समाधान कर लीजिए, उनका वह लेख ('ठाकुर जगन्मोहन सिंह') अभिनन्दन-ग्रंथ में छपा है। उसमें उन्होंने अपने बालपन की एक बात लिखी है। प्रसंगवश उतना ही अंश यहाँ उद्धृत करता हूँ—

"जब आप ('ठाकुर जगन्मोहन सिंह') काशी से लौटकर अपने घर जाते समय कटनी (मुड़वारा) में ठहरे, तब वहाँ के मिडिल स्कूल के शिक्षकों ने आपको अपनी शाला के अवलोकन के लिए निमंत्रित किया। निमंत्रण स्वीकार कर आपने केवल निरीक्षण ही न किया, वरन् प्रत्येक कक्षा की परीक्षा भी ली। जब आप हिन्दी की तीसरी कक्षा में पहुँचे और उसकी परीक्षा ली, तब इन पंक्तियों के लेखक को पारितोषिक प्रदान कर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। उस कक्षा के शिक्षक संस्कृतज्ञ थे। वे ठाकुर साहब की रुचि से अनभिज्ञ न थे। अकस्मात् बोले—'"होनहार बिरवान के होत चीकने पात'—यह लड़का संस्कृत अच्छी पढ़ेगा।" मैंने तबतक संस्कृत का नाम भी न

सुना था। मैंने समझा, कदाचित् भूगोल आदि के समान ही संस्कृत भी कोई विषय होगा। इसलिए छुट्टी पाते ही एक पैसे का कागज खरीद लाया। शिक्षक के पास जाकर निवेदन किया—'आप इसपर संस्कृत लिख दीजिए, मैं उसे दो-एक दिन में पढ़ डालूँ।' शिक्षक बड़े कृपालु थे, उत्साह भंग न किया। बड़ी चतुराई के साथ समझा-बुझाकर अपना पिंड छुड़ाया। तात्पर्य यह कि ठाकुर जगन्मोहन सिंह के प्रथम तथा अन्तिम दर्शन उसी समय हुए थे। ठीक स्मरण है, वे बड़े तेजस्वी पुरुष थे। उस समय वे बीस वर्ष के रहे होंगे।"

ऊपर के उद्धरण से रायबहादुर हीरालालजी के जीवन पर कैसा प्रकाश पड़ता है, यह सहृदय-हृदय-संवेद्य है। वे अपनी जाति और अपने प्रान्त की विभूति तो थे ही, भारत और उसकी राष्ट्रभाषा हिन्दी के भी गौरव थे।

—मासिक 'हैहय-क्षत्रिय' (कटनी, मध्यप्रदेश); हीरालाल-स्मृति-अंक;
भाग ३२, संख्या १, जनवरी-फरवरी, १९३६ ई०

पंडित बदरीनाथ भट्ट

अपनी पहली साहित्यिक यात्रा में ही मुझे भट्टजी के दर्शन हुए थे। अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का पंचम अधिवेशन लखनऊ में होने जा रहा था। आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा का प्रतिनिधि दल बड़े उत्साह से प्रस्थित हुआ। दल का संघटन, बड़ा सुन्दर था—बाबू जयबहादुर बैंकर—सभा के जन्मदाताओं में एक प्रमुख व्यक्ति, सभा के तात्कालिक सभापति; बाबू व्रजनन्दन सहाय—'सौन्दर्योपासक' और 'लालचीन' नामक उपन्यास के लेखक, महाकवि मैथिल-कोकिल विद्यापति को बँगला-साहित्य से हिन्दी-साहित्य में लानेवाले प्रथम व्यक्ति, सभा के मंत्री; प्रोफेसर बदरीनाथ वर्मा, एम्० ए० काव्यतीर्थ—तब बी० एन्० कॉलेज (पटना) के अध्यापक, अब बिहार-विद्यापीठ के प्राण और बिहार में राष्ट्रीय आन्दोलन के निःस्पृह सेवक; मनोरंजन-मूर्त्ति पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा—मेरे पूज्य साहित्य-गुरु और भट्टजी के घनिष्ठ मित्र; बाबू अवधबिहारी शरण, एम्० ए० बी० एल्०—'मेगास्थनीज का भारत-विवरण' नामक पुस्तक के लेखक; बाबू शुकदेव सिंह—सभा के पेटेण्ट पुस्तकालयाध्यक्ष और मंडली के संघटनकर्त्ता; बाबू कृष्णजी सहाय; बाबू शिवशंकरप्रसाद गुप्त; बाबू नित्यानन्द गुप्त—सभा के अन्यतम पदाधिकारी; और मैं—उस समय आरा के एक हाई-स्कूल में हिन्दी-शिक्षक।

मंडली 'चली सुभग कविता-सरिता सों' और मार्ग में, काशी में, 'मिलेउ महानद सोन सुहावन' बाबू जयरामदास गुप्त—'उपन्यास-बहार' के सम्पादक और शुद्ध बनारसी रंग के पक्के रंगसाज। बड़ा आनन्द रहा। लगभग बीस वर्ष हो गये, आज तक वैसी आनन्ददायिनी साहित्यिक यात्रा नसीब न हुई। रास्ते के स्टेशनों पर साहित्यानुरागियों के दल मिलते गये। 'यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा

द्रवन्ति'—सभी ओर की नदियाँ उमड़कर आनन्द-सागर की ओर चली जा रही थीं। वास्तव में वह साहित्य-सम्मेलन आनन्द-सागर ही था।

उसके बाद और भी कई अधिवेशन देखने में आये; पर वह छटा न रही। उसके दूसरे ही साल सम्मेलन-केन्द्र प्रयाग में छठा अधिवेशन हुआ, जिसके सभापति वही बाबू श्यामसुन्दरदासजी थे, जो लखनऊवाले अधिवेशन के सफल कर्णधार थे; पर वह बात न रही—यद्यपि इस (छठे) में भी पूज्य आचार्य द्विवेदीजी पधारे थे; भारतेन्दु-सखा कविवर 'प्रेमघन'जी भी उपस्थित थे, जिनकी त्रिकुटी (भ्रूमध्य) पर लाल-हरे-पीले-नीले बिन्दुओं की अपूर्व शोभा थी; हास्यरसावतार पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने 'अनुप्रासेर अट्टहास' के उत्तर में 'अनुप्रास का अन्वेषण' शीर्षक सरस निबन्ध सुनाकर सबको लोटन-कबूतर बना दिया था।

लखनऊ के पंचम सम्मेलन का आतिथ्य आज तक बहुतों को याद होगा। स्वनाम-धन्य बाबू श्यामसुन्दरदासजी का प्रबन्ध-कौशल देखने ही योग्य था। कालीचरण हाई स्कूल के प्रशस्त आँगन में सुसज्जित पंडाल बना था। बाबू साहब ही उन दिनों उसके हेडमास्टर थे, जिस पद पर आज श्रीकालीदासजी कपूर, एम्० ए० विराजमान हैं—हिन्दी के सुयोग्य समालोचक और सहृदय साहित्यसेवी। पंडाल के मंच पर लब्धकीर्त्ति साहित्यसेवीगण शोभायमान थे—कविवर पं० श्रीधर पाठक (सभापति), 'पूर्ण'जी, टंडनजी, 'हरिऔध'जी, पं० अमृतलाल चक्रवर्त्ती, स्वामी सत्यदेव, पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, श्रीहरिश्चन्द्र वेदालंकार—प्रोफेसर इन्द्र विद्यावाचस्पति के प्रतिभाशाली भाई, जो राजा महेन्द्र प्रताप के साथ विदेश चले गये और जिनकी स्मृति ही अवशिष्ट है।

मंच के नीचे, सामने ही, अखबारों के रिपोर्टरों की जगहें थीं। श्रीगणेशशंकर विद्यार्थी और पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा एक साथ ही बैठे थे। उनके बीच में थे पं० बदरीनाथ भट्ट। पानी पिलानेवाले जब आते तब भट्टजी कहते—'गोमती का पानी तो नहीं है?' विद्यार्थीजी और शर्माजी कहते—'नाक दबाकर पीना, लखनऊ का पानी है—निहायत पुर-असर, कहीं लग न जाय।......'

पंडाल में पैसा-फंड की झोली घुमाई जा रही थी। जब वह फेरी लगाती हुई भट्टजी के सामने आई, उन्होंने अपनी मुट्ठी से एक चिट उसमें गिरा दिया—पहले ही से उस पर लिखकर रखे हुए थे—

"एक पैसा, तीन धेले (अँगरेजी पाई)
दो खुदा की राह पर।"

ठीक यही वाक्य था, और इसी तरह लिखा हुआ! झोलीधर स्वयंसेवक ने कहा—'कुछ दीजिए भी।'

भट्टजी ने छूटते ही कहा—"आपको सभा-सम्मेलनों का नियम मालूम है? अपील करनेवाला व्यक्ति कभी कुछ नहीं देता! मैं अपीलांट हूँ। चिट पढ़िए।"

पत्र-प्रतिनिधि-मंडल अट्टहास कर उठा।

उस अधिवेशन में पं० सत्यनारायणजी कविरत्न भी पधारे थे, उनका देहाती बाना और कविता-पाठ की सुरीली शैली अबतक भूली नहीं है। भट्टजी ने उनसे एकान्त मित्रमंडली में बिरहा गवाया था—अहीरों का अलग, धोबियों का अलग; धोबी और धोबिन का सवाल-जवाब अत्यन्त सरल साहित्यिक !

भट्टजी विनोद का कोई अवसर चूकते न थे।

सम्मेलन-परीक्षा में उत्तीर्ण होनेवाले विद्यार्थियों को पुरस्कार दिया जा रहा था। परीक्षा में सम्मिलित होने के निमित्त महिलाओं को प्रोत्साहन देने के लिए कुछ अच्छे पुरस्कारों की घोषणा भी हो रही थी। महिलाओं की साहित्य-शिक्षा के विषय में पं० अमृतलालजी चक्रवर्त्ती का अत्यन्त ओजस्वी भाषण हो रहा था। महिला-परीक्षार्थियों को तरह-तरह के पुरस्कार देने की सूचनाएँ पंडाल के कोने-कोने से आ रही थीं। भट्टजी ने भी पेन्सिल से एक चिट पर सूचना लिखी और मंच की ओर बढ़ा दिया। उसमें लिखा था—"जो महिला सम्मेलन-परीक्षा के साहित्य-विषय में सबसे अधिक अंक पावेगी, उसे चक्रवर्त्तीजी स्वयं स्वर्णपदक देंगे।"

ध्यान रहे, चिट के साथ एक पैसा भी था—पुरस्कारार्थ सहायता-स्वरूप !

अब तो चक्रवर्त्ती दहाड़ने लगे—"अवश्य ही मैं साहित्य-विषय में सबसे अधिक अंक पानेवाली महिला को स्वर्णपदक दूँगा, बशर्ते वह साहित्य की पाठ्य-पुस्तकों को किसी दूसरे से न पढ़कर अपने ही पतिदेव से पढ़ेगी। अपने ही पति द्वारा साहित्य की शिक्षा पाकर जो महिला साहित्य-परीक्षा में सर्वोच्च अङ्क प्राप्त करेगी, उसे मैं रत्नखचित स्वर्णपदक दे सकता हूँ। किसी दूसरे से साहित्य पढ़नेवाली को मैं ताम्रपदक भी नहीं दे सकता।"

भट्टजी ने बड़ी गम्भीर मुद्रा धारण कर पूछा—"अगर परीक्षार्थिनी के पतिदेव 'देवानां प्रिय' हुए तो क्या होगा ? और क्वाँरी परीक्षार्थिनी का साहित्यिक पतिदेव कहाँ मिलेंगे ? तब तो यह नियम बना देना ही अच्छा है कि साहित्यिक पतियों की पत्नियाँ ही परीक्षा दे सकती हैं।"

इसपर खूब कहकहा लगा।

लखनऊ-सम्मेलन में 'पूर्ण' जी की चमत्कारपूर्ण कविताओं ने खूब रसरंग बरसाया। उस अवसर पर भट्टजी के प्रासंगिक विनोदों ने हँसाते-हँसाते लोटपोट कर दिया। मंच के नीचे एक दूसरी ही दुनिया थी।

लखनऊ-सम्मेलन में प्रयाग के कविवर पं० माधव शुक्ल की नाटक-मंडली आई थी। उसमें स्वर्गीय पं० बालकृष्ण भट्ट के ज्येष्ठ सुपुत्र पं० महादेव भट्ट ने 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में 'पाप' का अद्भुत अभिनय दिखाया था। उस समय भी भट्टजी ने अपने समयानुकूल विनोदों से दर्शकों को खूब हँसाया था।

लखनऊ से हमारी मंडली अयोध्या होती हुई आरा आई। अयोध्या में सखी-सम्प्रदाय के आचार्य श्रीभगवानप्रसादजी के दर्शन और सत्संग का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

हनुमन्निवास में रूपकला-कुंज उनका निवास-स्थान था। भक्तप्रवर की वह प्रेम-मधुर झाँकी बड़ी प्रभावशालिनी थी।

भट्टजी से गुरुवर ईश्वरीप्रसादजी की बड़ी घनी मैत्री थी, इसीलिए मुझपर भी भट्टजी का बड़ा स्नेह था। शर्माजी ने आरा से मासिक 'मनोरंजन' निकाला था, जिसमें भट्टजी प्रायः लिखा करते थे। 'मनोरंजन' के ग्राहकों को वार्षिक उपहार देने के लिए भट्टजी ने अपनी लिखी 'मनोरंजन' नामक पुस्तक की सैकड़ों प्रतियाँ मुफ्त ही भेज दी थी। पंडित मन्नन द्विवेदी गजपुरी भी 'मनोरंजन' में बराबर लिखते थे। यह गुट्ट गोलमाल-कारिणी सभा का समर्थक था।

शर्माजी जब आगरा में मासिक 'धर्माभ्युदय' के सम्पादक थे, मैं भी वहाँ एक-डेढ़ महीने तक रहा था। भट्टजी प्रायः प्रतिदिन गोकुलपुरा से बेलनगंज आते थे। प्रेस में घंटों बैठकवाजी होती थी। वर्त्तमान 'आगरा-पंच'-सम्पादक और आगरा-नागरी-प्रचारिणी सभा के मंत्री श्रीमहेन्द्रजी भी उस साहित्यिक बैठक में रहा करते थे। एक बार कविवर बाबू मैथिलीशरण गुप्त भी आगरा आये थे। ताजमहल के आँगन में शर्माजी, भट्टजी और गुप्तजी का एक साथ फोटो लिया गया था। शर्माजी के मरने के बाद जब कभी भट्टजी से भेंट हुई, उस फोटो का हाल मुझसे पूछा करते थे।

उसी साल दिल्ली में इकतीसवीं या तैंतीसवीं काँगरेस हुई थी, जिसमें पहले-पहल किसान-प्रतिनिधियों का निःशुल्क प्रवेश हुआ था, और जिसके सभापति थे महामना मालवीयजी महाराज, उन दिनों बिक्री के टिकट पर ही प्रतिनिधियों का प्रवेश होता था; चुनाव का झमेला न था। आगरा-दल के साथ मैं भी यू० पी० के ब्लॉक में बैठा था, और महेन्द्रजी भी। भट्टजी का विनोद वहाँ भी अपना रंग बरसा रहा था। वयोवृद्ध पंडित अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, जो उस समय 'भारतमित्र' के सम्पादक थे, एक प्रस्ताव पर बोलने के लिए मंच पर आये। दुबले-पतले बूढ़े आदमी, अनायास मुँह से निकल गया—'जो मास्टर[1] हमें डेढ़ सौ बरसों में भी योग्य न बना सका. . . .।' कहकर ज्योंही पीछे लौटे, त्योंही सभापति ने रोका; फिर आगे की ओर मुड़ना पड़ा—दुबारा अन्तिम वाक्य की स्पष्ट व्याख्या करनी पड़ी। जब वे कठोर को कोमल बनाकर लौटने लगे, तब भट्टजी बोले—"यहाँ भी मैटर का सम्पादन और प्रूफ-संशोधन करना पड़ा। सम्पादक की प्रवृत्ति कहीं पिण्ड नहीं छोड़ती।" इसपर विद्यार्थीजी बहुत हँसे।

इसी प्रकार महामना मालवीयजी गो-वध और हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रश्न की चर्चा करते हुए अपने अन्तिम भाषण में स्वयं रो पड़े। भट्टजी बोल उठे—"हमारे मालवीयजी महाराज ने अपने आँसुओं पर गजब का कब्जा कर रखा है; यदि इनका कण्ठ गद्‌गद और स्वर भरा न होता, तो लोग यही समझते कि इनके हाथ में जो रूमाल है, उसमें पिपरमिंट लगा है।"

सब लोग हँसने लगे। ब्लॉक गूँज उठा।

---

१. अँगरेज शासक।

मैं गया था आगरा-दल के साथ; पर ठहरा था 'पाटलिपुत्र'-सम्पादक बाबू सोनासिंह चौधरी के साथ 'हिन्दी-प्रचारक'-कार्यालय में, जिसके सम्पादक थे पंडित शिवनारायण द्विवेदी। 'हिन्दी-प्रचारक' साप्ताहिक था; पर उस अवसर पर उसके दैनिक संस्करण भी निकल रहे थे। बाबू सोनासिंह चौधरी भी बड़े विनोदी थे। पंडित ईश्वरीप्रसादजी के साथ भट्टजी और विद्यार्थीजी दो बार चौधरीजी के यहाँ आये; क्योंकि चौधरीजी को अपने रुग्ण शरीर के कारण कहीं आने-जाने में बड़ी कठिनाई होती थी। भट्टजी उनको 'स्थावर देवता' कहते थे।

संयोगवश झालरापाटन के राजकवि पं० गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' एक बार चौधरीजी से मिलने आये। जाड़े के दिन थे। रूईदार पाजामा, रूईदार अँगरखा, सिर पर बड़ा-सा साफा, लम्बा-तगड़ा शरीर। कवि का असली भारतीय रूप, जैसा अब केवल मुंशी अजमेरीजी का देखने में आता है। भट्टजी ने उस रूप की साहित्यिक स्तुति तैयार कर डाली, जिसे विद्यार्थीजी ने जुमा-मस्जिद की सीढ़ियों पर बैठकर भट्टजी से बार-बार सुना और ठहाका लगाया। कवि के रूप का वह प्रशंसात्मक वर्णन बड़ा ही अनूठा था। वह कविता पं० ईश्वरीप्रसादजी की नोटबुक में थी, जिसे वे कभी-कभी गाकर सुनाते थे; पर वह नोट-बुक उनकी आकस्मिक मृत्यु के मुख में साथ ही चली गई !

दिल्ली से मैं अकेला चौधरीजो के साथ मथुरा-वृन्दावन चला गया, और जब आगरा लौटा, तब भट्टजी शायद बम्बई या कहीं बाहर चले गये थे। फिर उनसे लखनऊ में ही भेंट हुई, जहाँ वे विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रोफेसर थे, और मैं 'माधुरी' के सम्पादकीय विभाग में काम करता था। वे विश्वविद्यालय से लौटकर प्रतिदिन सन्ध्या समय 'माधुरी'-कार्यालय में पहुँच जाते थे। श्रीदुलारेलाल भार्गव के साथ बड़े मजे की चुहलबाजी होती थी, जिसका रस लेकर पं० कृष्णविहारी मिश्र रईसी हँसी हँसा करते थे। भार्गवजी और भट्टजी में अन्तरंग मित्र की भाँति बातें होती थीं, और उनकी सरसता तब और भी बढ़ जाती थी, जब प्रोफेसर दयाशंकर दुबे पहुँच जाते थे। दुबेजी भी प्रायः नित्य ही आते थे। कभी-कभी प्रोफेसर आद्यादत्त ठाकुर भी उस विनोद-गोष्ठी को सजीव बना जाते थे। किसी-किसी दिन पांडेयजी (पंडित रूपनारायणजी) के उपस्थित रहने पर अट्टहास का समा बँध जाता था। उस समय की बातें लिखने से लेख बहुत बढ़ जायगा; किन्तु एक बात तो लिखनी ही पड़ेगी।

जिस दिन हिन्दू-मुसलिम-दंगा शुरू हुआ, उस दिन अमीनाबाद पार्क में शाम को भट्टजी भी हमलोगों के साथ ही बैठे थे। चिराग-बत्ती के बाद ही दंगे का हुल्लड़ मचा और उसके कुछ ही देर पहले पांडेयजी हमलोगों से विदा होकर घर की ओर बढ़े थे। शायद पार्क में प्रोफेसर दुबेजी बैठे ही थे। पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी के साथ भट्टजी विनोद-भरी बातें कर ही रहे थे कि होहल्ला शुरू हुआ। अपनी साइकिल लेकर भट्टजी हँसते हुए ही भागे और शन्तिप्रियजी के साथ में जूते छोड़ भागा। दंगे के बाद भेंट होने पर खूब हँसी हुई, और बराबर ही यह चर्चा हँसाती रही। दंगे के सम्बन्ध में 'मतवाला' में मेरा लेख पढ़कर भट्टजी लाटूश रोड के अपने मकान में इतना

अधिक हँसे कि आँखों में आँसू आ गये। उनकी वह हँसी आज भी आँखों में आँसू ला रही है।

'मतवाला' के आरम्भिक युग में भट्टजी यदा-कदा व्यंग-विनोद लिखा करते थे। होलिकांक कभी उनकी चटपटी रचना से खाली न रहता था। लखनऊ के बाद काशी में जब कभी उनसे भेंट हुई, 'मतवाला' को उन्होंने बराबर स्मरण किया और उसके लिए अफसोस भी जाहिर किया।

मेरे सम्पादकत्व में जब काशी से साहित्यिक पाक्षिक 'जागरण' निकला, तब उसके 'क्षण भर'-वाले विनोदात्मक स्तम्भ के सम्बन्ध में उन्होंने एक पत्र में लिखा था—"'मतवाला' के मजार पर चिराग जलाने के लिए बधाई"। पाक्षिक जागरण को शुद्ध साहित्यिक रूप में प्रकाशित करने के विषय में उन्होंने उसके प्रकाशक पं० विनोदशंकर व्यास को कई उत्साहवर्द्धक पत्र लिखकर उत्तेजन दिया था और प्रथमांक के लिए बहुत पहले ही से लेख लिखकर भेज दिया था। पं० विनोदशंकर व्यास के पितामह भारतेन्दु-सखा पं० रामशंकर व्यास का विवाह भट्टजी की सगी फूफी (बुआ) से हुआ था, जो आज तक जीवित हैं। भट्टजी ने अपने स्वर्गीय पिता पं० रामेश्वर भट्ट ('रामचरितमानस' और 'विनयपत्रिका' के प्रसिद्ध टीकाकार) के श्राद्ध में जो थालियाँ अपनी बुआ को दी थीं, उनपर भट्टजी का नाम अंकित देखकर अब आह उठती है। इस प्रकार व्यासजी द्वारा प्रकाशित पाक्षिक 'जागरण' पर भट्टजी का स्नेह स्वाभाविक था। उसमें 'डुकृञ् करणे' आदि विचित्र नामों से उन्होंने कुछ विनोदात्मक पद्य भी लिखे थे, जिनमें कवित्व के चमत्कार के साथ शुद्ध और सरस विनोद की मात्रा भी पर्याप्त थी।

गत वर्ष काशी में जब भट्टजी वैद्यराज त्र्यम्बक शास्त्री से दवा कराने आये थे, तब बहुत ही दुर्बल हो गये थे; किन्तु उनकी विनोदप्रियता कृश नहीं हुई थी। उस चिन्ता के अवसर पर भी उनके मुँह से यह सुनकर हँसी ही आती थी कि 'मृत्युंजय की नगरी में एक पंथ दो काज सिद्ध करने आये हैं—मौत भी लोहे का चना चबा रही है, आराम से नहीं निगलने पावेगी।'

वे तो निश्चित रूप से जानते थे कि मृत्यु के साथ लड़ाई ठनी हुई है; पर कभी कदराते न थे, अम्लान मुख से क्रूर भावी का तिरस्कार करते थे। प्रसन्नता ने बड़े प्रेम से उन्हें वरण किया था। विनोद उनका चिर-सहचर था। वैसी प्रफुल्ल आत्मा हिन्दी-संसार में अब नजर नहीं आती।

—मासिक 'विशाल भारत' (कलकत्ता); वर्ष १४, अङ्क ५, पूर्ण अङ्क ८३, अगहन, १९९१ वि०; नवम्बर, १९३४ ई०

कविवर माधव शुक्ल

कविवर पंडित माधव शुक्ल से मेरा सर्वप्रथम परिचय लखनऊ में हुआ था। अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का पंचम अधिवेशन पं० श्रीधर पाठक के सभापतित्व में वहाँ के कालीचरण हाईस्कूल में हुआ था, जिसके हेडमास्टर बाबू श्यामसुन्दरदास उस समय थे। यह संवत् १९७१ वि० (सन् १९१४ ई०) की घटना है।

उस अवसर पर वहाँ प्रयाग की हिन्दी-नाट्य-परिषद् ने 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक का अभिनय किया था। उसमें शुक्लजी ही राजा हरिश्चन्द्र थे। स्वनामधन्य पं० बालकृष्ण भट्ट के ज्येष्ठ सुपुत्र पं० महादेव भट्ट ने 'पाप' का स्वांग धारण किया था। यह प्रसंग उस नाटक में नया जोड़ा गया था। भट्टजी का अभिनय बड़ा ही स्वाभाविक, प्रभावशाली और विनोदपूर्ण हुआ था। डोम का स्वांग धारण किया था श्रीमुद्रिकाप्रसाद ने, जो मेरे जिले (शाहाबाद) के निवासी थे; पर इलाहाबाद में बैंक की नौकरी करते थे।

नाटक बड़ी सफलता के साथ खेला गया। शुक्लजी ने अपने नाट्य-कौशल से दर्शकवृन्द को मुग्ध कर दिया। उस समय मेरे साहित्य-गुरु पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा भी वहाँ गये हुए थे। उन्होंने शुक्लजी के अभिनय से उत्साहित होकर अपने नगर (आरा) में लौटते ही 'मनोरंजन-नाटक-मण्डली' संगठित कर 'सत्यहरिश्चन्द्र' का अभिनय उसी शैली पर किया।

शुक्लजी ने वहाँ हमलोगों से कहा था कि हिन्दी-प्रचार तथा साहित्यानुराग-वृद्धि के लिए नाटक ही अमोघ साधन है। वास्तव में जिसने वहाँ नाटक देखा, वह हिन्दी का लोहा मान गया। शुक्लजी का अभिनय इतना चित्ताकर्षक होता था कि दर्शक अपने हृदय पर अमिट छाप लेकर घर लौटते थे।

फिर उसके बाद दूसरे ही साल छठे साहित्य-सम्मेलन[1] में, जो प्रयाग में बाबू श्यामसुन्दरदास के सभापतित्व में हुआ था, शुक्लजी के लिखे हुए 'महाभारत' (पूर्वार्द्ध) नाटक का अभिनय हुआ। उसके दर्शकों में भारतेन्दु-सखा पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' और आचार्य द्विवेदीजी भी थे। शुक्लजी ने भीम की भूमिका में अपना ओजस्वी अभिनय दिखाया। दुर्योधन थे पं० रासबिहारी शुक्ल और कर्ण पं० वेणीप्रसाद शुक्ल और धृतराष्ट्र थे पं० महादेव भट्ट। इन तीनों का अभिनय ऐसा हुआ कि न भूतो न भविष्यति।

मैंने 'माधुरी' में 'बंगीय रंगमंच'[2] पर एक लम्बा लेख लिखा था। उसमें इस 'महाभारत' के अभिनय का विवरण दिया था, जिसे पढ़कर शुक्लजी ने बड़ा उत्साह प्रकट किया था।

१. यह छठा अधिवेशन लाला रामप्रसाद के बाग में हुआ था।—ले०

२. यह लेख (बंगीय रंगमंच) 'रचनावली' के तीसरे खण्ड में छपा है।—ले०

भीम के रूप में शुक्लजी को जिसने देखा है, वही उनके विशाल व्यक्तित्व और तेजस्वी स्वरूप की कल्पना आज भी कर सकता है। आज तक मैंने वैसा मर्मस्पर्शी दृश्य नहीं देखा था। हिन्दी-संसार में वैसा 'हरिश्चन्द्र' और वैसा 'भीम' आजतक कहीं भी किसी रंगमंच पर दृष्टिगत न हुआ। शुक्लजी का तगड़ा शरीर, प्रकाण्ड डीलडौल, मेघगम्भीर वाणी और उद्भट वीरत्व हिन्दी-संसार में आज भी दुर्लभ है।

उस अभूतपूर्व अभिनय को देखकर प्रयाग में उपस्थित अनेक प्रतिनिधियों ने उनसे अनुरोध किया था कि इस 'महाभारत'-नाटक का उत्तरार्द्ध भी लिख डालिए। पर आज तक उत्तरार्द्ध के दर्शन नहीं हुए और अब तो उसके रचने में समर्थ शुक्लजी के भी दर्शन दुर्लभ हो गये! कलकत्ता नगर में रहते समय मैंने अनेक बार उनसे निवेदन किया था कि उत्तरार्द्ध पूरा करके 'रामायण'-नाटक भी उसी ढंग का लिख डालिए; किन्तु पारिवारिक प्रपंचों में फँसकर वे अपनी उत्कट इच्छाओं को भी साथ ही लेते गये।

शुक्लजी से मैं इतना प्रभावित हुआ कि लखनऊ और प्रयाग के परिचय के बाद उनसे प्रायः पत्र-व्यवहार करने लगा। असहयोग-आंदोलन के आरम्भिक युग में आरा (बिहार) से 'मारवाड़ी-सुधार' नामक सचित्र मासिक पत्र निकला, जिसका मैं ही सम्पादक था। उसमें शुक्लजी की सचित्र जीवनी प्रकाशित हुई थी, जिसके लिए मुझे बहुत दौड़-धूप करनी पड़ी थी; क्योंकि शुक्लजी अपनी सचित्र जीवनी छपवाना पसंद नहीं करते थे।

उक्त पत्र कलकत्ता के बालकृष्ण प्रेस में छपता था, जहाँ से सन् १९२३ ई० में 'मतवाला' निकला था। वह प्रेस बालकृष्ण भट्ट के नाम पर या उनकी स्मृति-रक्षा के विचार से स्थापित हुआ था। इसलिए शुक्लजी कभी-कभी उस प्रेस में जाते थे; क्योंकि भट्टजी में उनकी बड़ी श्रद्धा-भक्ति थी। इसके सिवा प्रेस के मालिक बाबू महादेवप्रसाद सेठ और उनके अभिन्न मित्र मुन्शी नवजादिकलाल श्रीवास्तव से शुक्लजी की बड़ी घनिष्ठता थी। मैं भी उसी प्रेस में रहता था। हमलोग भी प्रायः शुक्लजी के पास मिलने-जुलने जाया करते थे। वे कॉटन-स्ट्रीट में रहते थे—शायद मकान नं० ९३ में, अब ठीक याद नहीं।

बड़ी-बड़ी कठिनाइयों के बाद उन्होंने अपनी जीवनी की सामग्री दी और चित्र भी बड़े संकोच से ही दिया। जीवनी छपने पर जब उन्हें वह अङ्क मैंने दिया, तो वे बहुत सकुचाये और नम्रता के साथ ग्लानि प्रकट करने लगे। ऐसे वे निरभिमान और विनयी थे। अहंकार तो उनमें लेशमात्र भी न था। बात-बात में मुस्कान की माधुरी। जैसी मीठी मुस्कान, वैसा ही प्रचंड अट्टहास। उनके चेहरे पर विषाद की रेखा कभी देखने में न आई; जब देखिए चिरप्रसन्न!

कलकत्ता में उनके द्वारा स्थापित हिन्दी-नाट्य-परिषद् के कई अभिनयों और उत्सवों तथा प्रीतिभोजों में सम्मिलित होने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था; क्योंकि वे तो इतनी कृपा रखते थे कि कभी-कभी 'रिहर्सल' देखने के लिए भी सप्रेम बुला लेते थे। जब किसी नाटक का अभ्यास-क्रम चलने लगता था तो कह देते थे कि

अमुक दिन अवश्य देख जाइए। कलकत्ता के रंगमंचों पर उनके अनेक अभिनय देखने के सुअवसर मिले थे; पर आज वे दृश्य दूसरा ही प्रभाव उत्पन्न कर रहे हैं।

असहयोग-युग में उन्होंने पं० लक्ष्मीकांत भट्ट आदि के सहयोग से अनेक राष्ट्रीय चित्र प्रकाशित किये थे। चित्रों की रचना में शुक्लजी की कल्पना और अनोखी सूझ देखने ही योग्य थी। बड़े आकार के उन चित्रों की एक-एक प्रति उन्होंने बड़े स्नेह से मुझे दी थी। और आज भी जिन सज्जनों के पास वे चित्र होंगे, उस युग की महिमा का स्मरण कराते होंगे। उन चित्रों में शुक्लजी का हृदय, आदर्श, मस्तिष्क और चरित्र स्पष्ट अंकित है। कई चित्रों में उनकी नाटकीय प्रतिभा की झलक है।

कलकत्ता से जब मैं काशी चला आया, तब एक बार शुक्लजी वहाँ आये और उन्होंने पहले ही सूचना दे दी कि मिलकर जो पूछना हो सो पूछिए, लिखकर भेजना पार नहीं लगेगा।

बात यह थी कि मैं 'माधुरी' में हिन्दी की नाटक-मण्डलियों पर एक लेखमाला[1] लिख रहा था, जिसके लिए प्रयाग और कलकत्ता की नाट्य-परिषदों का विवरणात्मक इतिहास शुक्लजी से माँगा था।

काशी में मिलने पर उन्होंने लेखमाला को बहुत पसंद किया और दोनों परिषदों का इतिहास लिखने के लिए आवश्यक बातें भी नोट करा दीं। 'माधुरी' में वह लेख उसी समय छपा भी था। हिन्दी की साहित्यिक नाटक-मण्डलियों पर वह लेखमाला पढ़कर उन्होंने मुझे बहुत उत्साहित किया था। पत्र-व्यवहार द्वारा एक योजना भी बनी थी; पर अब उसकी चर्चा निष्प्रयोजन ही नहीं, दुःखप्रद भी प्रतीत होती है।

संवत् १९७७ वि० (सन् १९२० ई०) में अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का एकादश अधिवेशन (कलकत्ता) डॉक्टर भगवान दास के सभापतित्व में हुआ था। मैं उन दिनों वहीं था। शुक्लजी ने सम्मेलन में हिन्दी की महिमा का गान करते हुए जो मंगलाचरण किया था, उसकी स्मृति आज भी शरीर को रोमांचित कर देती है। जिस सम्मेलन में वे उपस्थित रहते थे, उसमें मंगलाचरण उनके सिवा दूसरा नहीं कर सकता था। सारे पंडाल को गुंजानेवाला वज्र-गम्भीरनाद किसके कण्ठ में था कि उनका स्थान ग्रहण करता?

कलकत्ता में जब पंजाब-केसरी लाला लाजपत राय की अध्यक्षता में हिन्दू-महासभा का अधिवेशन[2] हुआ था, तब शुक्लजी का मंगल-गान सुनकर व्याख्यानवाचस्पति पं० दीनदयालु शर्मा ने उनकी पीठ सहलाते हुए उसी समय मंच पर कहा था—'सचमुच तुम राष्ट्रभाषा-कानन-केसरी हो!' शुक्लजी जिस सभा के मंच से दहाड़ते थे, बड़े-से-बड़े पंडाल में सन्नाटा छा जाता था।

---

१. इस लेखमाला के जो लेख मिल सके, वे 'रचनावली' के तीसरे खण्ड में छपे हैं।—ले०

२. सन् १९२४ ई० में।

अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन का बीसवाँ अधिवेशन भी कलकत्ता में ही हुआ था। रत्नाकरजी उसके सभापति थे। यह विक्रम-संवत् १९८७ (सन् १९३० ई०) की बात है। उस समय में सुलतानगंज (भागलपुर) से निकलनेवाली 'गंगा' मासिक-पत्रिका का सम्पादक था और वहीं से कलकत्ता गया था। उसी अवसर पर हिन्दी-रंगमंच की स्थापना के लिए एक योजना बनी थी। उसमें शुक्लजी, नटवरजी[1] आदि का सहयोग प्राप्त हुआ था। किन्तु योजना कार्यान्वित न हो सकी! डेढ़-दो साल बाद जब काशी में शुक्लजी के दर्शन हुए, तो उक्त योजना के सम्बन्ध में उन्होंने हँसकर कहा—ऐसी योजना केवल कागजी घोड़े दौड़ाने से सफल नहीं हो सकती, इसके लिए पर्याप्त कोष चाहिए और व्यापारिक दृष्टि से हिन्दी-रंगमंच को संचालित करनेवाला कोई उदार धनी भी चाहिए, जो शुद्ध साहित्य के प्रचार का महत्त्व समझता हो।'

शुक्लजी वीर-रसात्मक अभिनय की कला में अद्वितीय थे। वे केवल स्वांग भरनेवाले अभिनेता न थे। उनका सिद्धांत भी वैसा ही आदर्शपूर्ण था, जैसा उनका अभिनय। जिस समय उनका एकमात्र जामाता छत से गिरकर मर गया था, वे राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण जेल में थे। उनके शोक-संतप्त परिवार की कारुणिक दशा देखकर जब उनसे यह प्रस्ताव किया गया कि क्षमा-याचना करके शोक-विह्वल परिवार को सान्त्वना देने चलिए, तब उन्होंने स्पष्ट स्वर में कहा था—"मैं हरिश्चन्द्र और महाराणा प्रताप का अभिनय करनेवाला व्यक्ति हूँ, ऐसे भीषण आघात से विचलित होकर क्षमा-प्रार्थना करना असम्भव है।"

बस, इसी एक वाक्य में शुक्लजी का उज्ज्वल चरित्र और आदर्श जीवन चमक रहा है। वे सच्चे वीर पुरुष थे। उनके अंग-प्रत्यंग से, उनके प्रत्येक शब्द से, पुरुषत्व प्रकट होता था। मैंने पौरुष को साकार और सजीव उसी पुरुषसिंह में देखा। हिन्दी-संसार में अब वैसी मूर्त्ति नहीं दीख पड़ेगी। उनकी सहृदयता, भद्रता और भव्यता भूलती ही नहीं। उनके गुणों का कहाँ तक बखान करूँ। अनेक प्रसंग हैं। उनका उल्लेख करके टुक सोई व्यथा को जगाना नहीं रुचता।

—मासिक 'विशाल भारत' (कलकत्ता); भाग ३३, अङ्क ५; मई, १९४४ ई०

कर्मवीर श्रीमूलचन्द्रजी

मैंने सबसे पहले कलकत्ता महानगर में ही, सन् १९२० ई० में, श्रीमूलचन्द्रजी के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त किया था। मैं आरा (बिहार) की 'मारवाड़ी-सुधार-समिति' के मासिक मुखपत्र 'मारवाड़ी-सुधार' का सम्पादक था। वह कलकत्ता के बालकृष्ण प्रेस में छपता था—जहाँ से सन् १९२३ ई० में 'मतवाला' निकला था। इसलिए मैं बराबर वहीं रहता था, मेरे साहित्य-गुरु पूज्य पण्डित ईश्वरीप्रसादजी शर्मा उन दिनों श्रीरामलालजी

१. श्रीललितकुमार सिंह 'नटवर' (मुजफ्फरपुर)।

बर्मन के यहाँ साहित्य-विभाग के प्रधान थे। वे ही आपसे मिलने गये। मैं भी दर्शनोत्कण्ठावश उनके साथ चला गया, ११५ हरिसन रोड के मकान में। देखा, एक प्रभावशाली व्यक्तित्ववाला, खासे-तगड़े डीलडौल का, प्रशान्त गम्भीर पुरुष एकाग्रचित्त कुछ लिख रहा है।

मोटे खद्दर का कुर्त्ता, जिसमें खादी के ही बटन टँके थे; सिर पर गांधी-टोपी और पूज्य मालवीयजी की तरह ललाट पर शुभ्र चन्दन का गोल टीका। पैरों में मोटे दल का पंजाबी जूता। ओठों में डूबी हुई मधुर मुस्कान। मन्द-मन्द स्वर में केवल काम की ही बातें, फालतू एक शब्द नहीं! मैं पण्डितजी के साथ वहाँ के अनेक हिन्दी-लेखकों से मिल आया; पर ऐसा धीरोदात्त पुरुष कहीं नहीं दीख पड़ता था। मैं बहुत प्रभावित हुआ।

दो साल तक लगातार निकलकर 'मारवाड़ी-सुधार' ने चिरविश्राम ग्रहण किया; क्योंकि अखिल-भारतीय-मारवाड़ी-अग्रवाल-महासभा का मासिक मुखपत्र 'मारवाड़ी-अग्रवाल, के निकल जाने पर इसकी आवश्यकता न समझी गई। फिर भी मैं कई साल तक वहीं रह गया। 'मतवाला'-मण्डल ही प्रधान अड्डा था। इसलिए अनेक बार आपसे मिलने का सुअवसर प्राप्त हो सका। कभी मुन्शी नवजादिक लालजी श्रीवास्तव के साथ, कभी पण्डित चन्द्रशेखर पाठक[1] के साथ, कभी पण्डित नरोत्तम व्यास[2] के साथ, आपके पास जाने और पत्र-प्रकाशन तथा पत्र-संचालन के सम्बन्ध में आपके दृढ़ संकल्प की चर्चा सुनने का सुयोग मिलता रहा।

कभी-कभी पण्डित ईश्वरीप्रसादजी दल बाँधकर आपके यहाँ पहुँच जाते थे; क्योंकि आपका स्थान साहित्य-सेवियों का एक अड्डा-सा था। बाबू महादेवप्रसाद झुनझुनवाला[3] (बड़तल्ला में जिनकी पुस्तक की दूकान थी), पण्डित देवनारायण

---

१. पाठकजी बिहारशरीफ (बिहार) के निवासी थे। कलकत्ता में 'पाठक-कम्पनी' उनकी प्रकाशन-संस्था थी। उन्होंने अँगरेजी के प्रसिद्ध उपन्यास 'वैनिटीफेयर' का हिन्दी-अनुवाद 'मायापुरी' नाम से किया था। उनकी सचित्र जीवनी मैंने 'मारवाड़ी-सुधार' में छापी थी। ये 'मतवाला'-मण्डल के सदस्यों में थे।—ले०

२. व्यासजी श्रीरामलाल बर्मन के प्रकाशन-विभाग में काम करते थे। हिन्दी में उनकी कई पुस्तकें निकली थीं। नाट्यकला-विषयक एक मासिक पत्र भी निकाला था। अब बम्बई की किसी चलचित्र-संस्था में हैं।—ले०

३. उनका भारत-पुस्तक-भण्डार साहित्यसेवियों का स्वागत-सत्कार करने के लिए बड़ा प्रसिद्ध था। उनके मस्तिष्क को पण्डित ईश्वरीप्रसादजी 'प्रकाशन-योजनाओं का विशाल कारखाना' कहा करते थे। कलकत्ता के धनाढ्य मारवाड़ी-समाज में उनकी अच्छी साख और धाक थी। यदि उनकी असामयिक मृत्यु न होती, तो हिन्दी में कई आकर-ग्रन्थ निकल गये होते। संसार-भर के पुस्तकालयों और हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं का बृहदाकार इतिहास तैयार करने की योजना के लिए उन्होंने बहुत-से साधनों का संग्रह किया था।—ले०

द्विवेदी[1] (अफीम चौरस्ता में श्रीनिहालचन्दजी[2] की पुस्तक की दूकान के सामने ही जिनकी पुस्तक की एक दूकान थी), पण्डित रामगोविन्द त्रिवेदीजी[3] वेदान्तशास्त्री (जो सरकार लेन में भारती प्रेस खोलकर पुस्तक-प्रकाशन कर रहे थे), बाबू बलदेवप्रसाद[4] खरे (जो खन्ना प्रेस में रहकर नाटक लिखते-छपाते थे); इस चतुरंग चौकड़ी के साथ जब कभी हमलोग जाते थे, आपसे बातें करने का अवसर खो देना पड़ता था। तब केवल पण्डित उमादत्त शर्मा[5] ही आतिथेय बनते थे। उन दिनों शर्माजी भी आपके सहयोगियों में थे। आप तो एकान्त भाव से अपने काम में दत्तचित्त रहते थे। जान पड़ता था, आपका एक-एक क्षण बहुमूल्य है। समय के उसी सदुपयोग का फल है कि आज आप हिन्दी-संसार के गौरवालंकार बने हुए हैं। वस्तुतः आप हिन्दी-संसार के 'लार्ड नार्थक्लिफ' हैं।

जिन दिनों अफीम-चौरस्ता के नुक्कड़ पर एक मकान में आपका कम्पोजिङ्ग प्रेस था, जहाँ से आपने 'लिबर्टी' नामक एक अँगरेजी-संवादपत्र भी निकाला था, उन दिनों आपका अनवरत परिश्रम देखते ही बनता था। आपकी वह कार्य-संलग्नता आज फूली-फली है, जिसे देख प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी गर्व का अनुभव कर रहा है। अहोरात्र परिश्रम करने की वैसी सच्ची लगन हिन्दी-पत्रकार-जगत् में केवल श्रद्धेय गणेशशंकरजी विद्यार्थी में ही देखी-सुनी गई, और तो किसी में नहीं। उस समय आपके पास प्रेस की कोई मशीन नहीं थी, कुछ टाइपमात्र थे। खयाल कीजिए, बड़ाबाजार में अखबार कम्पोज होता और छपता अपर-चितपुर रोड के बर्मन-प्रेस में। व्यवस्था, सम्पादन, दौड़धूप—सारा काम अधिकतर आप ही स्वयं करते। श्रीरामलालजी बर्मन आपकी

१. आप मिर्जापुर (उत्तरप्रदेश) जिले के निवासी हैं। बड़े सहृदय साहित्यसेवी और सफल उपन्यासकार हैं। अब ज्ञानमण्डल (काशी) में ग्रन्थप्रकाशन-विभाग के प्रमुख संचालक हैं। साहित्यिक रसिकता और संस्मरणों के आप धनी हैं।—ले०

२. इन्होंने ही श्रीनिरालाजी का 'रवीन्द्र-कविता-कानन' पहले-पहल प्रकाशित किया था। कलकत्ता के अच्छे प्रकाशकों में थे। अब काशी में बड़ा सुन्दर प्रकाशन-कार्य कर रहे हैं, मासिक 'हिन्दीप्रचारक' भी निकालते हैं।—ले०

३. शास्त्रीजी के प्रेस में, मेरी कहानियों का संग्रह 'महिला-महत्त्व' नाम से, पहले-पहल छपा था, जो आगे 'विभूति' नाम से निकला। मेरा 'देहाती दुनिया' उपन्यास भी पहले-पहल वहीं छपा; परन्तु प्रकाशित हुआ बरसों बाद पुस्तक-भण्डार (लहेरियासराय) से। शास्त्रीजी 'धूसी' (दिलदारनगर, गाजीपुर) के निवासी हैं। 'वैदिक साहित्य' आपकी प्रसिद्ध पुस्तक है। ऋग्वेदसंहिता का और विष्णुपुराण का हिन्दी-अनुवाद तथा 'दर्शन-परिचय' भी आपकी उत्तम पुस्तकें हैं। 'गंगा' (सुलतानगंज, भागलपुर) के सम्पादकीय विभाग में आपके साथ मैं भी एक वर्ष तक था। संपादन-कला के अच्छे मर्मज्ञ हैं।—ले०

४. खरे जी हास्यरस के अच्छे अभिनेता थे। उनके कई नाटक उसी समय प्रकाशित हुए थे।—ले०

५. शर्माजी ने 'निराला' जी की कई पुस्तकें प्रकाशित की थीं। उनका अपना स्वतंत्र प्रकाशन-व्यवसाय था। पत्रकार अच्छे थे।—ले०

पक्की धुन देखकर कहा करते 'इनकी सफलता आले पर रखी हुई है।' यद्यपि बर्मनजी कोई भविष्यद्रष्टा नहीं थे, तथापि दूरदर्शी तो अवश्य ही थे। उनकी बात आज प्रत्यक्ष ही सत्य दीख पड़ती है। शायद उनके कण्ठ में बसा जगन्नियन्ता ही बोल रहा था। सचमुच अपने भाग्य के विधाता आप स्वयं ही हैं।

कुछ ही दिनों बाद मैंने देखा, गेंडा-तालाब पर एक विशाल भवन में आपका कारबार बड़े पैमाने पर बड़े ठाट से चल रहा है। मुन्शी नवजादिकलालजी श्रीवास्तव के साथ में आपसे मिलने गया। उसी मकान के ऊपरवाले तल्ले में आप सपरिवार रहते भी थे। उस समय तक पण्डित उमादत्त जी शर्मा भी आपके सहकारियों में थे। जहाँ तक स्मरण है, मासिक 'विश्वमित्र' भी निकल चुका था और धड़ल्ले से चल भी चुका था। आपने प्रसंगवश श्रीमुन्शीजी से कहा था—"'स्टेट्समैन' की तरह हिन्दी का भी एक ही दैनिक भिन्न-भिन्न नगरों से निकाला जा सकता है।" मुन्शीजी ने छूटते ही कहा—'क्यों नहीं, मगर यह काम आपके सिवा दूसरा नही कर सकता।' आप आकाश की ओर आँख उठाकर मुस्कुरा पड़े। क्या वह कोई ईश्वरीय संकेत था?

मुन्शीजी लौटे तो रास्ते में आपके ही सुदृढ़ अध्यवसाय की शतधा प्रशंसा करते हुए कहने लगे—"श्री मूलचन्द्रजी की कर्मनिष्ठा बड़ी प्रबल है। ये निकट भविष्य में ही हिन्दी-जगत् को वह सुदिन दिखाकर छोड़ेंगे जब इनका 'विश्वमित्र' भारत के अन्य प्रमुख नगरों से भी शान के साथ निकलने लगेगा।"

निश्चय ही मुन्शीजी भी कोई भविष्यवक्ता नहीं थे; पर जो कोई आपके कर्मठ-जीवन की झाँकी पा लेता था, वही अनायास कह उठता था कि आपकी ध्रुव निष्ठा किसी दिन खूब रंग लायेगी। आखिर 'पंचमुखे परमेश्वर'—कहावत चरितार्थ होकर ही रही।

आज जिसे देखना हो, देख ले कि कार्यतत्परता का कैसा विलक्षण परिणाम होता है। आप इसके मूर्त्तिमान प्रमाण हैं। आपका धैर्य और साहस अगली पीढ़ियों के लिए महान आदर्श है।

हिन्दी-संसार में स्वनामधन्य श्रीमूलचन्द्रजी के ही भगीरथ-प्रयत्न से दैनिक, साप्ताहिक और मासिक 'विश्वमित्र' के रूप में 'साहित्यिक त्रिपथगा' का अवतरण हुआ, जो त्रिलोकपावनी गंगा की तरह कलकत्ता, बम्बई और दिल्ली में अखण्ड गति से प्रवाहित होती हुई—साहित्यक्षेत्र को सिक्त करके शस्यश्यामल बनाती हुई—यश के महासागर की ओर सवेग अग्रसर हो रही है। ईश्वर से यही प्रार्थना है कि 'युगान्तरकारी प्रलय' उपस्थित होने पर भी, हमारे हिन्दी-जगत् का 'यह तपोधन साहित्यिक भगीरथ' 'त्रिवेणी-तट के अक्षयवट' की तरह अक्षुण्ण बना रहे। तथास्तु।

—साप्ताहिक 'विश्वमित्र' (कलकत्ता); रजत-जयंती-विशेषांक,

सन् १९४२ ई०

प्रेमचन्दजी

[१]

बीसवीं सदी की दूसरी बीसी का श्रीगणेश असहयोग-आन्दोलन के साथ हुआ था। मैं उस आन्दोलन के वेग में बहकर कलकत्ता पहुँचा। वहाँ हिन्दी-पुस्तक-एजेन्सी की दूकान में, जो उस समय हरिसन रोड और चित्तरंजन-पथ के संगम के पास थी, प्रेमचन्दजी के सर्वप्रथम दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मेरे साहित्यिक गुरु पण्डित ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने उनके सामने मुझे 'मारवाड़ी-सुधार'-सम्पादक के रूप में पेश किया था। उन्होंने अपने प्रथम कहानी-संग्रह 'सप्तसरोज' की एक प्रति मुझे आशीर्वाद-स्वरूप देने की कृपा की।

पहली भेंट एक आकस्मिक घटना थी। दूसरी बार उनके साथ घनिष्ठता बढ़ाने का सुयोग मिला, लखनऊ में। मैं 'माधुरी' और गंगा-पुस्तक-माला के सम्पादन-विभाग में काम करता था। कुछ दिनों बाद वे भी 'माधुरी' के सम्पादक होकर आये। उसी समय उनका 'रंगभूमि'-नामक बड़ा उपन्यास वहाँ छपने के लिए आया था। उसकी पूरी पाण्डुलिपि उन्होंने पहले-पहल देवनागरी-लिपि में अपनी ही लेखनी से तैयार की थी। श्रीदुलारेलालजी भार्गव ने गंगा-पुस्तक-माला के नियमानुसार उसकी प्रेस-कापी तैयार करने के लिए मुझे सौंपी। प्रेमचन्दजी ने उतना बड़ा पोथा पहले-पहल नागराक्षर में लिखा था, उसका ऐतिहासिक महत्त्व था। वह पाण्डुलिपि (प्रेस-कापी) यदि आज कहीं सुरक्षित होती!!

उस समय 'माधुरी'-सम्पादन-विभाग अमीनाबाद-पार्क से उठकर लाटूश-रोड में आ गया था। पण्डित कृष्णबिहारी मिश्र जी भी सम्पादकीय विभाग में थे। वे बड़ी शान्त प्रकृति के गंभीर साहित्यसेवी हैं। उनके विनोद बड़े सरस और हास्योत्तेजक होते थे। वायुमण्डल को गुँजानेवाला प्रेमचन्दजी का ठहाका और बात-बात में मिठास भरनेवाली मिश्रजी की मुस्कान—दोनों अतुलनीय।

वह नागरी-लिपि में लिखा पहला उपन्यास दर्शनीय था। शायद ही कहीं लिखावट की भूल हो, तो हो। भाषा तो उनसे कोई बरसों सीखे। लेखनी का वेग ऐसा कि संयोगवश ही कहीं कट-कुट मिले। कथावस्तु की रोचकता लिपि-सुधार में बाधा देती थी। घटनाचक्र में पड़ जाने पर सम्पादन-शैली के निर्धारित नियम भूल जाते थे। ध्यान से भाषा पढ़ने के कारण कितने ही सुन्दर प्रयोग सीखने का सुअवसर मिला।

उर्दू के बहुत-से लखनवी लेखक और बाहरी उर्दू-लेखक भी उनसे मिलने और सलाह लेने के लिए प्रायः कार्यालय में आते रहते थे। उर्दू के साहित्य-संसार में उनकी बड़ी धाक और प्रतिष्ठा थी। उर्दू के साप्ताहिक 'प्रताप' (लाहौर) में वे प्रायः कहानी भेजा करते थे। कई कहानियों की फारसी-लिपि मैंने देखी थी। वह बहुत साफ-सुथरी लिखावट थी। उनके अक्षर छोटे होते थे। वे शिकस्त हरूफ लिखने के आदी नहीं थे। भाषा तो उनकी चेरी थी।

उस समय पण्डित शान्तिप्रिय द्विवेदी भी उसी कार्यालय में थे। हम दोनों साथ ही रहते थे। शान्तिप्रियजी उन दिनों खूब हँसा-हँसाया करते थे। पंडित कृष्णबिहारीजी की चुहलें और प्रेमचन्दजी के चुटकुले दोनों का रंग निराला होता। मिश्रजी कभी-कभी हिन्दी के अनूठे दोहे सुनाते और प्रेमचन्दजी उर्दू के ला-सानी लतीफे। उनका अट्टहास सुनकर कार्यालय के कर्मचारी उन्हें एक-टक देखने लग जाते। शान्तिप्रियजी को दोनों ही महारथी बहुत प्यार करते थे और उनसे दिल भी बहलाते थे। छुट्टी के दिन प्रेमचन्दजी से मिलने जाने पर 'शिरनी' जरूर मिलती थी। कार्यालय में भी पान उन्हींका चलता था। घर पर बराबर गुड़गुड़ी पीते रहते थे। चिलम शायद ही कभी ठण्ढी होती थी। तम्बाकू खूशबूदार खुद खरीद लाते थे। उनका 'सखुन-तकिया' सुनकर मिश्रजी के भी अट्टहास का फव्वारा फूट पड़ता था। उसी तरह काशी में 'प्रसाद' जी का भी। राय कृष्णदासजी के शब्दों में—"हिन्दी-संसार के दो अनोखे ठहाकेबाज—'प्रसाद' और प्रेमचन्द !"

काशी में जब प्रसाद और प्रेमचन्द एकत्र होते, तब मानों ठहाकेबाजी की होड़-सी लग जाती। दोनों दिल खोलकर हँसते। बनारस-कोतवाली के पिछवाड़े नारियल-बाजार में प्रसादजी की लगभग सवा सौ वर्ष पुरानी दूकान है—जर्दा-सुरती-सुँघनी की। उसके सामने के तख्ते पर प्रसादजी की साहित्यगोष्ठी जमती थी। उस समय हिन्दी-संसार का कौन ऐसा साहित्य-महारथी था, जो उस तख्तपोश पर कुछ देर न बैठा हो। प्रेमचन्दजी ने प्रसादजी के एक ऐतिहासिक नाटक पर अपने 'हंस' में लिख दिया था—'गड़े मुर्दे उखाड़ना' इत्यादि। पर उसके बाद ही जब दोनों मिले, तब पहले की तरह खुले दिल से ही हँसे-बोले। किसी के दिल में कोई मैल नहीं। बात-बात में खिलखिलाते और उनके जोरदार ठहाके सुनकर बगल की अटारियों से अप्सराओं की मृदु-मन्द-मधुर खिलखिलाहट भी गूँज उठती।

जब काशी में प्रेमचन्दजी ने पहले-पहल सरस्वती प्रेस खोला, तब मैं भी काशी में ही रहता था। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के पासवाले मैदागिन-पार्क के पश्चिमोत्तर कोने पर एक छोटे-से मकान में प्रेस खुला। छोटे-से खुले ओसारे में आफिस था। लखनऊ के बाद वहीं उनके दर्शन होते रहे। मैं बराबर उनकी सेवा में पहुँचा करता। शाम को प्रेस में दिन-भर की आमदनी का हिसाब जोड़ा जाता। कर्मचारियों को रोज कुछ-न-कुछ देना ही पड़ता। सबकी माँग रोज नहीं पूरी होती थी। किन्तु प्रेमचन्दजी सबके सामने आमदनी का हिसाब रख देते और कहते, इतने पैसे में तुम्हीं लोग अपने और मेरे लिए ब्योंत कर दो, मुझे पान-तम्बाकू और एक्का-भाड़ा-भर देकर बाकी आपस में बाँट लो। उनको हँसते-हँसते ऐसा कहते सुनकर सब कर्मचारी भी हँसने लगते। फिर रुपया चाहनेवाले अठन्नी पर और अठन्नी माँगनेवाले चवन्नी पर ही प्रसन्नता से सन्तोष करते। जिस दिन मजदूरों की माँग पूरी हो जाती, उस दिन प्रेमचन्दजी बहुत प्रसन्न हो जाते थे। अपने कर्मचारियों से उनकी हार्दिक सहानुभूति थी। श्रमिक-वर्ग के लिए अपनी रचनाओं में उन्होंने जो सद्भाव प्रदर्शित किये हैं, वे उनकी बोलचाल और व्यवहारों में भी प्रत्यक्ष दीख पड़ते थे। जरूरतमन्द के सामने वे अपनी जरूरतों को भूल जाते थे।

सब कर्मचारियों को यथायोग्य पैसे दे चुकने के बाद वे बचे-खुचे पैसे लेकर मैदागिन से चौक चले जाते। कई बार मैं भी उनके साथ उधर गया। लखोचौतरा पहुँचकर एक ढोली पान खरीदते। एक तमोली उनका मोदी था। उसीसे रोज ढोली लेते। वह भी अच्छी चुनकर देता। छाते को कन्धे पर सीधा रखकर उसके पिछले छोर में रूमाल में बँधी ढोली लटका लेते और पिछले छोर में मुश्की तम्बाकू की पोटली। कभी-कभी पैसे कम पड़ जाते तो अपने गाँव का एक्का खोजते हुए कुछ दूर पैदल ही चल पड़ते, या पिसनहरिया तक ही किसी एक्के पर जाकर, आगे फिर गाँव तक पैदल चलते थे। इस कठिनाई का वर्णन प्रेस में बैठे-बैठे हँस-हँसकर किया करते थे। किसी दिन कहते कि अरदली-बाजार या बरुना-पुल तक पैदल जाने के बाद गाँव का एक्का मिला था। एक बार कपड़े का फीतेदार जूता खरीदा तो उसकी एँड़ी दबाकर चप्पलनुमा बना ली। और कहने लगे कि एँडीदार जूते से पैदल चलने में कष्ट होता था, इसलिए उसे चप्पल कर दिया। प्रेस की आर्थिक दशा से वे चिन्तित तो रहते थे, पर उनके स्वाभाविक अट्टहास में कोई अन्तर नहीं पड़ता था।

कुछ दिनों बाद सरस्वती प्रेस जब मृत्युञ्जय-महादेव के पास एक बड़े फाटक के अन्दर प्रशस्त भवन में चला गया, तब आर्थिक स्थिति में कुछ सुधार हुआ। मुद्रण-कला-विशेषज्ञ श्रीप्रवासीलाल वर्मा उस समय प्रेस के प्रबन्धक थे। उन्हीं दिनों मासिक 'हंस' और साप्ताहिक 'जागरण' का प्रकाशन प्रेमचन्दजी के सम्पादकत्व में चल रहा था। दोनों पत्रों में प्रायः मेरी रचनाएँ छपती थीं। मेरे लिखे 'क्षण-भर' (व्यंग्य-विनोद) पर खूब हँसा करते थे। मैं कालभैरव के पास रहता था और बहुधा प्रेस में जाया करता था। मैंने देखा कि प्रेमचन्दजी अपने आश्रितों पर सदैव कृपालु रहे। इसीलिए प्रेस-मजदूर भी उनका बड़ा लिहाज करते थे। किसी के अपराध पर भी वे क्रोध करने के बदले हंसते ही थे। बहुत दिनों तक उनके सम्पर्क का सौभाग्य रहा, अनेक प्रसंगों पर उनकी उदारता और सहृदयता देखने के सुयोग मिले, पर कभी उन्हें क्रोध करते देखा ही नहीं। साधारण बोलचाल में भी वे सूक्तियाँ कह जाते थे। एक दफा कहा था—'गुस्सा पी जाने पर आबे-हयात (अमृत) बन जाता है'। उनके लेखों की तो बात ही क्या, उनकी चिट्ठियों में भी सूक्तियाँ मिल जाती हैं।

उनकी धर्मपत्नी श्रीमती शिवरानी देवीजी का एक गल्प-संग्रह सरस्वती प्रेस से निकला था। उसकी भूमिका उन्होंने मुझसे लिखवाई। उनका सहज स्नेह उत्साह-वर्द्धक था। वे स्वयं दूसरों की लिखी कहानियों का संग्रह तैयार करने लगे, तो उसमें मेरी भी एक कहानी रख दी। वे लेख लिखने के लिए विषय भी बतलाते थे।

कभी-कभी प्रेस में बैठे-ही-बैठे लेखादि का संशोधन करते, सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिखते और पत्रोत्तर देते। किन्तु अधिकतर ये काम घर से ही करके लाते थे। प्रेस में लिखते समय देखा कि बड़ी तेजी से लेखनी चलती, मगर कहीं काटने या बदलने की नौबत नहीं आती। जान पड़ता था कि लेखनी सजग होकर विचारधारा के साथ बेधड़क चल रही है। साप्ताहिक के लिए अग्रलेख भी एक ही साँस में लिख डालते। देश और

समाज की सभी समस्याओं पर वे बड़े ठोस और निर्भीक विचार प्रकट करते थे। कोई क्षेत्र उनकी लेखनी से अछूता न बच सका। राजनीति और साहित्य की क्या चर्चा, धर्म का क्षेत्र भी अछूता न रहा। उनके सम्पादकीय लेखों का संग्रह यदि प्रकाशित होता तो देशोन्नति का कोई पहलू उनसे छूटा नजर नहीं आता।

प्रेमचन्दजी की लेखनी ने हिन्दी को एक लोकप्रिय शैली दी और जनता के जीवन का कोना-कोना छान डाला। राष्ट्र के हृदय की धड़कन का वे अनुभव करते थे। युग की वाणी को उन्होंने स्वर दिया। उनकी रचनाओं ने हिन्दी और उर्दू की अभिन्नता सिद्ध की। किन्तु उनके जीवनकाल में हिन्दीवालों से अधिक उर्दूवालों ने ही उनका सम्मान किया। प्रसिद्ध मुसलमान नेता मौलाना मुहम्मद अली एक उर्दू-साप्ताहिक 'हमदर्द' दिल्ली से निकलते थे। उसमें प्रेमचन्द्रजी की कहानियाँ प्रायः छपा करती थीं। उनको पुरस्कार के रूप में प्रति कहानी एक गिनी मिलती थी। वह गिनी मखमली 'केस' में पार्सल से आती थी। उन दिनों गिनी का क्या दाम था, मुझे याद नहीं, पर कई बार मैंने गिनी देखी थी। हिन्दी-पत्रों से मिले पुरस्कार पर वे हँसकर चुप रह जाते थे। हाँ, उन्होंने हिन्दी-साहित्य की चिरस्मरणीय सेवा करके जो प्रचुर पुण्य कमाया, उसका सुफल आज उनके उत्तराधिकारी भोग रहे हैं। हिन्दी के प्रकाशकों से ऊबकर वे एक बार सिनेमा की दुनिया में भी गये थे। परन्तु बम्बई से लौटकर वे विचित्र कहानियाँ सुनाकर हँसा-हँसाया करते थे। उस दुनिया के उनके अनुभव सुनकर मनोरंजन तो होता ही था, पर घृणा भी होती थी। वहाँ के रहस्यों और अनुभवों को सुनाकर उन्होंने प्रसादजी को भी खूब हँसाया था। विनोद का सुअवसर वे कभी चूकते नहीं थे। एक बार हनुमानजी की पूजा में अध्यापक रामदास गौड़ के घर गये थे तो गौड़जी से कहने लगे—'आपका घर सचमुच अजायबघर है—जिसमें हनुमानजी तो रहते ही हैं—भूतप्रेत भी रहते हैं।'

अन्तिम दिनों में तो प्रसादजी का और उनका लगभग रोज का साथ रहा। वे काशी में बेनिया-बाग के पास रहते थे। प्रतिदिन प्रातः-सन्ध्या दोनों महारथी साथ-साथ बेनिया-पार्क में टहला करते थे। चहलकदमी के साथ साहित्यिक चर्चा भी होती चलती थी। वे प्रसादजी के सामने ही उनकी भाषा पर अपने विचार स्पष्ट व्यक्त कर देते थे और प्रसादजी हँसते-मुस्कुराते सुन भी लेते थे। दोनों साहित्य-सम्राटों के मतभेद कभी आपस में टकराये ही नहीं। दोनों जहाँ मिल बैठते, उनकी बातें सुनने से जी न भरता।

प्रेमचन्दजी की खूबियाँ कोई कहाँ तक बखानेगा! उनकी स्मृतियाँ जैसी सुखदायिनी हैं, वैसी ही दिलदर्द को कुरेदनेवाली भी। उनका जीवन उनकी रचनाओं में प्रतिबिम्बित है। वे जैसा लिखते थे, वैसा आचरते भी थे। उनके हृदयोद्गार में मानवता के सन्देश भरे-पड़े हैं। उनके यश के विस्तार से उनके जीवन की महत्ता मापी जा सकती है। उनके गढ़े हुए कितने ही पात्र साहित्य के इतिहास में अमर रहेंगे।

भाषा, भाव, विचार, चरित्र-चित्रण आदि क्षेत्रों में क्रान्ति करनेवाले ऐसे पुण्यश्लोक कलाकार के प्रति आज प्रत्येक सहृदय साहित्यिक की श्रद्धा निवेदित और वन्दना-उन्मुख है ।

—मासिक 'पाटल' (पटना); अगस्त, १९५४ ई०

[२][1]

विराट् हिन्दी-संसार के घर-घर में प्रेमचन्द का प्रवेश हो चला था। यह सौभाग्य किसी आधुनिक लेखक को प्राप्त नहीं है। पद्य-जगत् में मैथिलीशरण और गद्य-जगत् में प्रेमचन्द, दोनों पर हिन्दी-जगत् में तुलसीदास की लोकप्रियता की सघन छाया पड़ी है।

प्रेमचन्दजी से मैं गत बारह बरसों से परिचित था। बीच के दो-तीन साल तो ऐसे सौभाग्यशाली रहे कि प्रतिदिन उनके दर्शन और सत्संग का लाभ मिलता रहा। नित्य एक-दो घण्टा समय उनके 'सरस्वती प्रेस' में बीतता था। साहित्यिक संलाप के अतिरिक्त सामाजिक और राजनीतिक चर्चा भी छिड़ती थी। एक कोई बात छेड़ देना काफी था, फिर सुनिए उनके धुआँधार विचार। जैसे धारा-प्रवाह लिखते थे, वैसे ही बोलते भी थे—सभा-सोसाइटी में विशेष न सही, साहित्य-गोष्ठी में खूब। वार्त्तालाप की वाक्यावली को अट्टहास के विराम-चिह्नों से ओजस्विनी बना देते थे। आज भी वह उन्मुक्त हँसी कानों में गूँज रही है। काहे को अब वैसा कोई मस्तमौला पैदा होगा! ना:!

जब मैं 'मतवाला'-मण्डल से 'माधुरी' के सम्पादकीय विभाग में गया, श्रीदुलारेलालजी भार्गव ने कृपापूर्वक पत्रिका के अतिरिक्त कुछ पुस्तकों के संशोधन का काम भी दिया। पहले 'एशिया में प्रभात' और 'भवभूति' की कापियाँ मिलीं। सौभाग्यवश भार्गवजी मेरी सेवा से संतुष्ट हुए, और मुझे प्रेमचन्दजी के सुप्रसिद्ध उपन्यास 'रङ्गभूमि' की पाण्डुलिपि प्राप्त हुई, जो पहले से भार्गवजी के पास आ चुकी थी।

मैं सहम गया। सप्तसरोज, सेवा-सदन और प्रेमाश्रम कलकत्ता में पढ़ चुका था—साहित्य-जगत् में उनकी जो स्तुति-चर्चा होती रहती थी, उसकी भी धाक मेरे दिल पर काफी थी। मैं उनकी कृतियों और कीर्त्ति-कथाओं से तो परिचित था; पर उनके नित्य दर्शनों से वंचित! मैंने यह भी सुना था कि वे पहले उर्दू में कहानी या उपन्यास लिख जाते हैं, फिर किसी हिन्दी के जानकार से नागराक्षरों में लिखवाते हैं। पर जब 'रंगभूमि' की कॉपी मिली, मेरे आश्चर्य और आनन्द का ठिकाना न रहा। सारी कॉपी प्रेमचन्द जी की ही लिखी हुई थी। दो मोटी जिल्दों में खासा एक बड़ा पोथा, छोटे-छोटे अक्षर, घनी लिखावट; कहीं काट-छाँट नहीं; मानों पूरी पुस्तक एक साँस में लिखी गई हो!

भार्गवजी की गंगा-पुस्तक-माला की पुस्तकों का सम्पादन जिन नियमों के अनुसार होता है, उन नियमों को मैं जान चुका था; क्योंकि भार्गवजी के सम्पादकत्व के कारण 'माधुरी में भी उन्हीं नियमों का पालन करना पड़ता था। जब मैं 'रङ्गभूमि' की कापी पढ़ने लगा, नियमों का ध्यान छूट गया, मन रीझकर भाषा की बहार लूटने लगा। पचासों

१. इस लेख का शीर्षक 'प्रेमचन्दजी की अनन्त स्मृतियों के कुछ कण' छपा था।—ले०

पन्ने उलट जाने के बाद अचानक उत्तरदायित्व का ज्ञान होता, फिर पीछे लौटकर नियमों की पाबंदी करनी पड़ती। कुछ हिन्दी-शब्दों की लिखावट में भूल मिलती थी और कुछ के उपयुक्त प्रयोग में भी। वाक्यावली और वर्णन-शैली तो गंगा की धारा-सी स्वच्छ और सवेग थी। बँधे नियमों के अनुसार कुछ अक्षर बदलने पड़े। कुछ मात्राएँ इधर-उधर हुईं, कुछ प्रसंगानुकूल यथोचित शब्द चस्पाँ किये गये। प्रेस-कॉपी तैयार हो गई। भार्गवजी ने देखकर पास किया। छपाई के काम में हाथ लगा।

उसी समय प्रेमचन्दजी का शुभागमन हुआ। प्रथम दर्शन में ही मेरे चित्त पर उनके हृदय की महत्ता की सत्ता स्थापित हो गई। खास तौर से उनकी सुविधा के लिए 'लाटूश रोड' में एक नया मकान लिया गया था। उसीमें श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त भी लगभग एक-डेढ़ मास ठहरे थे—किसी वयोवृद्ध कुटुम्बी की चिकित्सा करा रहे थे। 'माधुरी' का सम्पादन-विभाग भी, अमीनाबाद-पार्क के गंगा-पुस्तक-माला-कार्यालय से उठकर, उसी मकान में चला गया। वह अमीनाबाद से थोड़ी ही दूर था। रास्ते में भार्गवजी का मकान पड़ता था और पण्डित बदरीनाथ भट्ट का भी। उन दिनों पण्डित कृष्णबिहारी मिश्रजी भी 'माधुरी' के सम्पादकीय विभाग में थे। प्रेमचन्दजी, मिश्रजी और भट्टजी का जब समागम होता था, हँसी के फव्वारे आकाश चूमने लगते थे।

मिश्रजी की रईसी हँसी सामने की मेज पर ही उछलती थी और प्रेमचन्दजी का ठहाका ऊँची छत से टकराकर खिड़कियों की राह सड़क पर निकल जाता था—भट्टजी की हँसी उसे पकड़ न पाती थी। दिल खोलकर तीनों हँसते थे। आज वह हँसी कितने ही दिमागों में गूंज रही है—बेचैन किये डालती है। उनकी स्मितपूर्वाभिभाषिणी मुख-मुद्रा और उनका अक्लांत अट्टहास—यही दोनों, जो कभी आँखों और कानों में औत्सुक्य और उल्लास भर देते थे, अब उद्वेगजनक हो रहे हैं।

कितनी ही सन्ध्याएँ अमीनाबाद-पार्क में हरी घास पर बैठे बीतीं—पार्क के एक कोने में उस कचालू-रसीलेवाले की दूकान पर, जहाँ ताल्लुकेदारों और रईसों की मोटरें भी खड़ी होती हैं, दही-बड़े और मटर की कितनी ही दावतें हुईं—'रङ्गभूमि' में 'सूरदास' का स्वांग रचनेवाले प्रकृत व्यक्ति की सच्ची कहानियों पर कितने ही कहकहे उड़े—जितने दिन लखनऊ में रहे, बड़े सुखावह दिन बीते।

जब कभी 'माधुरी'-सम्पादक पाण्डेयजी (पण्डित रूपनारायणजी) और प्रोफेसर दयाशंकर दुबे—जो उन दिनों लखनऊ-विश्वविद्यालय में थे—पहुँच जाते, प्रेमचन्दजी की हँसी से खासी टक्कर लेते; और एक बार तो कविवर गुप्तजी के सम्पर्क से मुन्शी अजमेरी जी भी पहुँच गये, जिन्होंने तरह-तरह की हँसी हँसकर प्रेमचन्दजी के अट्टहास का दम तोड़ दिया। पण्डित कृष्णबिहारीजी यह पूछे विना न रह सके—'आज दोनों मुन्शी हँसी के दंगल में भिड़े। आखिर कौन चित हुआ?' प्रेमचन्दजी नुमाइशी हँसी हँसते हुए पहले ही बोल उठे—'मैं पीठ के बल नहीं, (मूं) मुँह के बल गिरा।' इसपर खूब कहकहा मचा।

'रंगभूमि' के विषय में और भी कई बातें कहने की हैं; पर इस प्रकरण में उनके उल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं।

लखनऊ के दंगे के बाद मैं पुनः 'मतवाला'-मण्डल (कलकत्ता) में आ गया। कभी-कभी चिट्ठी-पत्री होती रही—विशेषतः उस समय, जब वणिक प्रेस और हिन्दी-पुस्तक-एजेंसी के मासिक 'उपन्यास-तरंग' का मैं सम्पादन करने लगा।

चिट्ठियों का ताँता उस समय खूब बँधा, जब वे 'माधुरी' के सम्पादक थे और बनारस में उनके 'सरस्वती-प्रेस' का प्रबन्ध-भार ग्रहण करने के लिए श्रीप्रवासीलाल वर्मा मालवीय के निमित्त मैं पत्र-व्यवहार कर रहा था। उस समय में भी काशी में ही रहकर लहेरियासराय (बिहार) के पुस्तक-भण्डार का साहित्यिक कार्य-सम्पादन कर रहा था; और कई पुस्तकें सरस्वती-प्रेस में भी छपती थीं। उन दिनों श्रीगुरुराम विश्वकर्मा 'विशारद'—जो प्रेमचन्दजी के गाँव के पड़ोसी हैं और उनको 'भैया' कहा करते थे—प्रेस के प्रबन्धक थे और जो उक्त वर्माजी के हट जाने के बाद पुनः उसी स्थान पर वर्त्तमान हैं।

लखनऊ चले जाने के पहले प्रेमचन्दजी जबतक घर पर रहे, नित्य इक्के से प्रेस आया करते थे। मैं भी भण्डार की पुस्तकों की देखरेख के लिए प्रायः नित्य ही प्रेस में जाता था। कम्पनीबाग (मैदागिन पार्क) के पूरबी छोर पर काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा है और पच्छिमी छोर पर सड़क के किनारे सरस्वती-प्रेस था। पुराना मकान, अँधेरा, गन्दा, बड़ी रद्दी हालत थी प्रेस की। रोज ही वे प्रेस की फिक्र में परेशान रहते थे। मेरे हाथ में 'भण्डार' का जो काम था, उसमें से जितना उनका प्रेस सहूलियत से कर सकता था, उतना तो मैं दे ही देता था, और भी परिचितों से काम दिलवाता था। किन्तु प्रेस और हाथी का पेट—दोनों बराबर। पोसाता न था। चिन्ता-चक्र चल ही रहा था कि वे लखनऊ चले गये। तब प्रवासीलाल जी की बात छिड़ी। मैं भी बीच में पड़ा। लिखा-पढ़ी होते-होते बात तय हो गई।

वर्माजी प्रेस को मध्यमेश्वर से उठाकर मृत्युञ्जय-महादेव रोड पर ले गये। स्वनामधन्य कलाविद् श्रीरायकृष्णदासजी का एक नया मकान था। वह प्रेस के लिए बड़ा शुभ एवं लाभप्रद सिद्ध हुआ। कम-से-कम प्रेस की ओर से प्रेमचन्दजी निश्चिन्त हो गये। वर्माजी के काम से संतुष्ट भी रहे। एक सुयोग्य मनुष्य के साथ सम्बन्ध स्थापित कराने में सहायक होने के कारण मुझपर भी अत्यधिक स्नेह रखते थे। यदि लखनऊ से कभी एक दिन के लिए भी आते, तो तुरत प्रेस का आदमी मुझे बुलाने पहुँच जाता। एक बार तो वर्माजी की नियुक्ति के समय लखनऊ से सीधे मेरे मकान पर आ धमके। उस समय मैं काल-भैरव की चौमुहानी पर रहता था और वर्माजी भी मेरे पड़ोसी ही थे। प्रेमचन्दजी ने किसी प्रकार का सन्देह या असमंजस नहीं प्रकट किया; खुले दिल से वर्माजी को अपनाया। जाते समय बनारसी पान का चौघड़ा मुँह में लेते हुए कहने लगे—'आज सुख की नींद सोऊँगा, बड़ा भारी बोझ उतर गया, प्रेस बला हो गया था।'

जब वे लखनऊ में ही थे, तब 'हंस' निकालने का आयोजन होने लगा। 'हंस' की जन्म-कथा यहाँ अप्रासंगिक होगी, अतएव इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि साहित्य-जगत् के यशोधन कलाकार श्रीजयशंकर प्रसादजी ने 'हंस' का नामकरण किया और प्रेमचन्दजी की स्वीकृति लेकर वर्माजी ने उसके प्रकाशन का श्रीगणेश कर दिया। प्रेमचन्दजी लखनऊ से ही कहानियाँ और टिप्पणियाँ भेजा करते थे। किन्तु 'प्रसाद' जी की योजना के अनुसार 'हंस' में केवल दो ही स्तम्भ रह सके—'मुक्ता-मंजूषा' और 'नीर-क्षीर-विवेक'। 'प्रसाद'जी की स्कीम में कहानियों की प्रधानता नहीं थी। पर प्रेमचन्दजी के सम्पादकत्व में तो कहानियों की ही प्रधानता हो सकती थी; अतएव 'हंस' बहुत दिनों तक कथा-साहित्य का ही मुखपत्र रहा। 'हंस' के साथ एक इतिहास लगा है।

बीच में एक-डेढ़ साल मैं काशी से बाहर रहा, यद्यपि आने-जाने का सम्बन्ध बना रहा। उस अवधि में 'गङ्गा' मासिक पत्रिका का सम्पादक रहा। जब कहानी के लिए प्रेमचन्दजी को पत्र लिखा, स्पष्ट उत्तर मिला कि "आप मेरे 'हंस' के लिए मुफ्त लिखा करते हैं, इसलिए मैं राजा[1] की पत्रिका के निमित्त मुफ्त नहीं लिखूँगा, काफी पुरस्कार दिलवाइए।" मैं परिस्थिति देखकर चुप रह गया; क्योंकि जब मैं 'माधुरी' के सम्पादकीय विभाग में था, तब प्रेमचन्दजी को फी पेज चार रुपये के हिसाब से पुरस्कार दिया जाता था। उतना पुरस्कार देकर उनकी कहानी लेना 'गंगा' ने पसंद नहीं किया, यद्यपि 'भारत-भारती' की समालोचना लिखने पर प्रोफेसर रामदास गौड़ को फी पेज पाँच रुपये के हिसाब से पुरस्कार दिया गया था!

'गङ्गा' का सम्पादन-कार्य छोड़कर मैं फिर काशी चला आया। तबतक प्रेमचन्दजी भी 'माधुरी' को छोड़कर काशी आ गये थे। इस बार उन्होंने 'मुक्ता-मंजूषा' का भार मुझे सौंपा और यथासाध्य पुरस्कार देना भी स्वीकृत किया; क्योंकि मैं बेकार था! बेकारी में उनके प्रेस से बड़ी सहायता मिली—पारिश्रमिक के रूप में ही सही। कभी-कभी हँसी में कह भी देते थे—'आप बेकार हैं, मैं निराकार हूँ!

सरस्वती-प्रेस में घण्टों बैठकबाजी होती थी। पान की गिल्लौरियों का दौर चलता रहता था। लखनऊ के विचित्र पान की चर्चा करते हुए खूब हँसा करते थे—अपने मशहूर 'सखुन-तकिया' की बौछारों से लखनवी पान का खूब सम्मान करते थे! खुद कहते भी थे—"मेरा यह 'तकिया-कलाम' तो उर्दू-साहित्य-गोष्ठी का प्रसाद है। गनीमत है कि बोलने की तरह लिखने में यह नहीं टपक पड़ता। कहीं किसी के खत में लिख जाय, तो दोनों की मिट्टी खराब हो।"

अपने प्रेस की पुस्तकों के विज्ञापन के लिए वे बहुत दिनों से एक साप्ताहिक पत्र निकालने का इरादा कर रहे थे। पुस्तक-मन्दिर (काशी) द्वारा प्रकाशित शुद्ध साहित्यिक 'जागरण' जब मेरे सम्पादकत्व में छः महीने तक पाक्षिक निकलकर बन्द हो गया, तब

१. भागलपुर जिले के गंगातटस्थ कृष्णगढ़ (सुलतानगंज) से बनैली-राज्य के कुमार कृष्णानन्दन सिंह 'गंगा' के संचालक थे।—ले०

उन्होंने अपने सम्पादकत्व में उसे साप्ताहिक रूप में निकालना शुरू किया। तब मेरे साथ और अधिक घनिष्ठता बढ़ी। प्रेस में काफी देर तक वे भी बैठते थे और मैं भी वहीं बैठकर अखबार पढ़ता या प्रूफ-करेक्शन करता। प्रेस में मेरी कोई नौकरी न थी; पर कुछ-न-कुछ साहित्यिक काम करते रहने का व्यसन तो था ही। सबसे बड़ा लाभ था उनका सत्संग।

उनकी बातचीत से कोई-न-कोई नई बात रोज सीखने को मिल जाती थी—नया मुहावरा, नई शैली, कोई नया शब्द कोई नई युक्ति या उक्ति। बोलने लगते थे तो जबान लड़खड़ाती न थी और चूकती भी न थी। उर्दू के पण्डित थे, हिन्दी के गढ़ में बचपन से रहते आये। अध्ययन और अनुभव भी कम नहीं, कलम उठाते ही मँजी भाषा की धारा चल पड़ती।

उनकी चिट्ठी भी कहानी का मजा देती थी। कभी-कभी पोस्टकार्ड की दस-बीस लाइनों में ही बड़े-बड़े सिद्धान्त और तत्त्व-महत्त्व की बातें कह जाते थे, बीच में कहीं मधुर विनोद का पुट भी धर देते थे! कमाल की लेखन-शैली थी। पढ़ने लगने पर मालूम होता था कि लेखक की लेखनी कहीं साँस न लेकर सरपट दौड़ी जा रही है और मन अनायास उसके पीछे लगा चला जाता है।

'जागरण' के लिए प्रति सप्ताह अग्रलेख और सम्पादकीय नोट, 'हंस' के लिए भी प्रतिमास वही कभी-कभी एक कहानी भी, अन्य पत्रों की माँग पूरी करने के लिए कम-से-कम महीने में एक-दो कहानी जरूर, उपन्यास लिखने का सिलसिला अलग। इतना अधिक लिखने पर भी अकीर्त्तिकर कुछ भी न लिखा। जिस विषय को लेखनी छू देती, वही मानों सजीव हो उठता था। लेखनी अथ से इति तक एक-सी शान से चलती थी। मस्तिष्क में सोचने की शक्ति जैसी तीव्र, वैसी ही उँगलियों में लिखते रहने की। तो भी पैसे का अभाव दूर न हुआ। 'हंस' और 'जागरण' में बराबर घाटा ही रहा, पुस्तकें काफी बिकती न थीं। हिन्दी के प्रकाशकों से कुछ मिलता न था! 'भारत-भारती' के बराबर उनकी किसी पुस्तक के संस्करण न हुए! बल्कि हिन्दीवालों से उर्दूवाले कहीं अधिक गुणग्राहक निकले, क्योंकि उनकी उर्दू-पुस्तकों का बाजार पंजाब में बहुत अच्छा था, ऐसा वे स्वयं प्रायः कहा करते थे। यह भी कहा करते थे कि मौलाना मुहम्मद अली अपने 'हमदर्द' के लेखों पर मुझे जितना पुरस्कार देते थे, उतना हिन्दी-पत्रों के सम्पादक नहीं दे सकते—कभी-कभी मौलाना मनीआर्डर न भेजकर गिन्नी ही पार्सल में भेजते थे।

कहाँ तक लिखूँ। बातें बहुत हैं। लिखते समय बातों की फौज नजर आती है, उन्हें कतारों में सजाना कठिन है। जो लिखते-लिखते अपना हाड़-मांस गलाकर जीवन निछावर कर गया, उसके बारे में जितना भी लिखा जाय, थोड़ा ही होगा[१]।

—मासिक 'विश्वमित्र' (कलकत्ता); वर्ष ५, अंक २, कार्त्तिक, विक्रम-संवत् १९९३; नवम्बर १९३६ ई०

---

१. इसमें तीन चित्र छपे थे–(१) मुन्शी प्रेमचन्द जी; (२) मुन्शी प्रेमचन्दजी बैठे कुछ लिख रहे हैं; (३) मृत्यु से कुछ दिन पूर्व रोग-शय्या पर लिया गया चित्र।—ले०

महाकवि 'प्रसाद' का व्यक्तित्व

निर्गुण ब्रह्म जब सगुण रूप में व्यक्त होता है तब 'व्यक्ति' का अस्तित्व दीख पड़ता है। वास्तव में व्यक्ति तो अव्यक्त की ही अभिव्यक्ति है।

अतल जल-तल को भेदकर जब कमल निकलता है तब सरोवर की निराकार शोभा साकार और सजीव हो उठती है। कमल की कोमलता, प्रफुल्लता, सुगन्ध, कांति, रंगीनी, चिकनाई-लुनाई आदि गुण-समष्टि से ही उसके दिव्य रूप की मनोहरता प्रभावशालिनी होती है।

मनुष्य के भी गुण ही पुंजीभूत होकर उसके व्यक्तित्व को आकर्षक बनाते हैं। शील, शक्ति, सौन्दर्य ने मिलकर मर्यादापुरुषोत्तम का तेजस्वी रूप खड़ा कर दिया था।

स्मितपूर्वाभिभाषी प्रसाद जी का व्यक्तित्व, विशिष्ट मानवोचित गुणों के कारण, बड़ा हृदयग्राही था। उनकी सरल वाणी की मधुरिमा, उनके मुक्त हास्य की विमलता, उनके स्वस्थ शरीर की गठन, उनके सुखद शील की आर्यता, उनके स्वार्जित पांडित्य की प्रौढ़ता, उनके सहिष्णु स्वभाव की कुलीनता, उनकी सद्यःफला स्मृति-शक्ति की प्रखरता, उनके सामाजिक जीवन की उच्चता, उनके निष्कपट व्यवहार की शालीनता, उनकी निस्पृह साहित्य-सेवा की महत्ता सबने मिलकर उनके व्यक्तित्व को विशद बनाया था। वैसा मोहक और उत्प्रेरक व्यक्तित्व आज हिन्दी-जगत् में सावधानता से टटोलना पड़ेगा।

व्यक्तित्व के निर्माण में जिन सद्गुणों के पारस्परिक सहयोग की अपेक्षा होती है, उनसे वे विभूषित थे, इसका प्रत्यक्ष अनुभव उन्हीं लोगों को होगा, जो कुछ दिनों तक उनके साथ रहकर उनके जीवन को बहुत निकट से देख चुके होंगे।

उनकी रचनाओं में उनका विचार-वैभव और भाव-सौष्ठव देखिए, उनकी चिन्तन-धारा और कल्पना-शक्ति देखिए, उनका अभिव्यंजन-कौशल और पाण्डित्य-प्रकर्ष देखिए, सर्वत्र उनके व्यक्तित्व का ओज-तेज ही दृष्टिगोचर होगा। मनीषियों के मतानुसार साहित्यकार का व्यक्तित्व उसके रचे हुए साहित्य में भी प्रतिफलित होता है।

जिन लोगों को उनके व्यक्तित्व का साक्षात्कार नहीं हुआ, जिन्हें उनके समीप सम्पर्क का सौभाग्य सुलभ नहीं हुआ, वे तो अब उनकी रचनाओं में ही उनके व्यक्तित्व की विभूतियाँ देख सकते हैं।

किन्तु, जो बरसों उनसे बराबर मिलते-जुलते रहे, उनके संसर्ग के सुख का अनुभव करते रहे, उनके वाग्विलास का आनन्द लेते रहे, उनके राग-द्वेष-रहित हृदय के उद्गार सुनते रहे, उनके अलौकिक व्यवहारों में स्निग्धता देखते रहे, उनके सदाचार और सौहार्द का सौरभ पाते रहे, वे तो अब उनके व्यक्तित्व के समीक्षक न होकर समुपासक ही हो सकते हैं। विश्वनाथजी की कृपा से मैं भी उनमें एक हूँ।

व्यक्तित्व का सच्चा मूल्यांकन है कीर्त्ति का विस्तार। आधुनिक भारतीय साहित्य में, हिन्दी की ओर से 'प्रसाद' का व्यक्तित्व ही प्रतिनिधित्व कर रहा है। अनुदिन उनके साहित्य की प्रतिष्ठा बढ़ रही है, यह उनके आदर्श व्यक्तित्व का ही पुण्यबल है।

आज व्यक्तित्व की परिभाषा शतरूपा हो गई है। पर सच तो यह है कि व्यक्तित्व की परख में विद्या-बुद्धि से पहले आचार-विचार का ही स्थान है। वस्तुतः चरित्र का ही दूसरा नाम व्यक्तित्व है। चरित्र जिसमें नहीं, उसमें व्यक्तित्व भी नहीं। चरित्र जिसमें नहीं, उसका कवित्व भी कागज का फूल है।

भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने श्रीमद्भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय में ज्ञान के स्वरूपों का वर्णन किया है (श्लोक ७ से ११ तक) और सोलहवें अध्याय के आरम्भ में ही दैवी सम्पदा का भी। उन्हें देखने से पता लगता है कि व्यक्तित्व के निर्माण के लिए किन गुणों की आवश्यकता होती है और व्यक्ति के किन लक्षणों से उसका व्यक्तित्व तेजोमय अथवा चित्ताकर्षक प्रतीत होता है।

प्रसादजी के व्यक्तित्व में उनके लक्षण, स्वभाव, आचार-विचार चरित्र, ज्ञान, साहित्य आदि, सबकी सत्ता मिश्रित थी। इसलिए उसमें एक मोहिनी शक्ति थी, जो सुहृदजनों को अपनी ओर आकृष्ट करती थी और परोत्कर्षासहिष्णु व्यक्तियों को भरमाती भी थी।

—मासिक 'प्रसाद' (काशी); 'प्रसाद'-विशेषांक, वर्ष २, अङ्क १-२, अप्रैल १९५५ ई०

श्रद्धेय विद्यार्थीजी[1]

१

सन् १९१८ ई० में दिल्ली की तेंतीसवीं काँगरेस हुई थी। लोकमान्य तिलक सभापति चुने गये थे। किन्तु उनके वलायत चले जाने से महामना मालवीयजी सभापति हुए। स्वागताध्यक्ष थे हकीम अजमल खाँ (अब स्वर्गीय)। मैं उन दिनों 'आरा' (बिहार) के टाउन-स्कूल में हिन्दी-शिक्षक था। पूज्य पं० ईश्वरीप्रसादजी शर्मा (अब स्वर्गीय) आगरा से निकलनेवाले सचित्र मासिक पत्र 'धर्माभ्युदय' के सम्पादक थे। उन्हीं की सलाह से मैं 'आरा'-नागरी-प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय को दुरुस्त कर रहा था। उनका बड़ा आग्रह था कि एक बार इधर आकर 'ताजमहल' जरूर देख जाओ। मैं सुअवसर की ताक में था। दशहरे की छुट्टी से पहले ही उनका कृपा-पत्र आया कि जल्दी-से-जल्दी आगरा आओ, 'धर्माभ्युदय' के मालिक सेठ लक्ष्मीचन्दजी की सरस्वती-लाइब्रेरी को ठीक करना है, आने-जाने का कुल खर्च मिलेगा।

मैं तो ऐसे सुयोग की ताक में था ही, पत्र पाने के कुछ ही दिनों बाद आगरा चला गया। वहाँ लाइब्रेरी की सुव्यवस्था में करीब एक महीना लग गया। ग्रन्थ-सूची तैयार हुई। बहुत-से हस्त-लिखित ग्रन्थ भी थे। परिश्रम यथेष्ट हुआ। पारिश्रमिक भी मिला, किन्तु एक पैसा भी घर लौटकर न आया। कभी ताजमहल की सैर, कभी शिवपुरी-पहाड़ी की सैर, कभी किले की सैर, कभी सिकन्दरा की सैर; कभी कचालू और दालमोट पर

---

१. प्रतापी सम्पादक श्रीगणेशशङ्कर विद्यार्थी।

हाथ साफ हो, कभी मलाई की कुल्फी पर, कभी दही-बड़े पर। चौतरफी सैर होती रही। मौज के दिन कटते रहे। पंडित बदरीनाथ भट्ट, श्रीयुत महेन्द्रजी, बाबू हजारीलाल जैन 'प्रेमी' आदि प्रायः शर्माजी से मिलने आते। डटकर बैठकबाजी होती। साहित्य-चर्चा भी खूब होती। चुहल भी उड़ती। समय बड़े आनन्द से कट जाता। कैसे थे वे दिन !

२

एक रोज विद्यार्थीजी का पत्र शर्माजी के पास आया कि दिल्ली की काँगरेस में जरूर चलिए, भेंट होने पर बातें होंगी। विद्यार्थीजी से शर्माजी का बहुत पहले का परिचय था। सन् १९१३ ई० में जब 'प्रताप' शुरू-शुरू निकला, तब शर्माजी उसके प्रथमांक से ही उसके नियमित पाठक बन गये। आरा में अपने घर पर चार-पाँच आदमियों को अथ से इति तक 'प्रताप' पढ़ सुनाना उनका नित्य का काम था। बड़े जोशीले और निराले ढंग से पढ़ते थे। विद्यार्थीजी के अग्रलेखों को सिर्फ पढ़कर सजीव बना देते थे। कविताएँ भी बहुत अच्छे ढंग से पढ़ते थे। उनसे लालाजी (स्वर्गीय कविवर 'दीन' जी) कहा करते थे कि कविता कोई करे, पढ़ते आपही हैं। सचमुच उनके मुख से 'प्रताप' की प्रत्येक पंक्ति सबलोग बड़े चाव और ध्यान से सुना करते थे। बीच-बीच में समझाते भी चलते थे। उन दिनों उनका घर 'प्रताप' की पाठशाला बन रहा था।

खैर, विद्यार्थीजी का पत्र पाते ही शर्माजी ने मुझे वहीं रोक रखा। मैं भी काँगरेस में (दिल्ली) गया। आगरा के बेलनगंज मुहल्ले के नवयुवकों की एक खासी टोली थी। सेठजी के एक लड़के फूलचन्दजी भी थे। किन्तु हमलोग बाबू सोना सिंह चौधरी (अस्तङ्गत 'पाटलिपुत्र' के स्वर्गीय सम्पादक) के यहां जाकर ठहरे। चौधरीजी के साथ उनके सहकारी पं० रामानन्द द्विवेदी (अब स्वर्गीय) भी थे। वहाँ साहित्यिक मण्डली भी जुटती थी।

पंडित शिवनारायण द्विवेदी (अब स्वर्गीय) उन दिनों दिल्ली से निकलनेवाले साप्ताहिक 'हिन्दी-समाचार' के सम्पादक थे। काले कश्मीरे का कोट-पैण्ट डाटे प्रायः पहुँचा करते; क्योंकि चौधरीजी उन्हीं के अतिथि थे। 'समाचार'-कार्यालय के पास ही एक मकान में डेरा-डण्डा था। द्विवेदीजी बड़े सहृदय और एक अच्छे कहानी-लेखक होने के कारण बड़े भावुक भी थे। चौधरीजी एक नम्बर के मसखरा थे। शर्माजी भी लटके-लतीफे छोड़ने में बड़े उस्ताद थे।

जिस समय झालरा-पाटन के पण्डित गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' रुईदार पाजामा और लम्बा रुईदार अचकन पहने हुए चौधरीजी के पास पहुँचे, खासा साहित्य-सम्मेलन हो गया। 'नवरत्न' जी का डीलडौल और भड़कीला पहनावा थोड़ी देर के लिए मनोरंजन का साधन बन गया। उन्होंने ही कहा कि विद्यार्थी जी भी मिले थे। बस शर्माजी निकल पड़े विद्यार्थी जी की तलाश में। 'जिन ढूंढ़ा तिन पाइयाँ।' किले के मैदान में काँगरेस का पण्डाल था। हमलोग लपके चले जा रहे थे। पीछे से शर्माजी के कन्धे पर किसी ने हाथ रखा—'कहाँ दौड़े जा रहे हो जी ?'

शर्माजी ने पीछे मुड़कर देखा। दोनों गले मिले। मैंने देखा, मोटे दल के शीशेवाले चश्मे में से दो तेजस्विनी आँखें झाँक रही हैं। पतले-पतले होंठ, चमकीले दाँत, गोल सफेद फेल्टकैप, लम्बा ओवरकोट। बात-बात में मस्ती-भरी ठहाके की हँसी। तेज जबान, चुस्त भाषा, शब्द-शब्द पर जोर! कभी ललाट में सोचावट की सिकुड़न, कभी जोश से तमतमाया हुआ चेहरा। मुंह से निकले हुए प्रत्येक शब्द पर हृदय के बल की गहरी छाप। राजनीतिक चर्चा का सिलसिला चलने पर कभी झुँझलाहट, कभी तीव्रता, कभी गंभीरता, कभी दाँतों से ओठ चाँपकर मुष्टिबद्ध भुजा को हथेली पर पटक-पटक कर अपनी निश्चयात्मिका बुद्धि का प्रदर्शन! मैं मुग्ध हो-हो कर देखता जाता था। कैसा प्रभावशाली था वह प्रथम दर्शन!

३

दूसरी बार। शायद १९२१ या २२ ई० की बात है। मैं 'आरा' से निकलने-वाले सचित्र मासिक पत्र 'मारवाड़ी-सुधार' का सम्पादक था। उसकी सहायता के निमित्त मैं कानपुर के धर्नी-धोरी मारवाड़ियों से मिलने गया। 'प्रताप'-कार्यालय में उतरा। फीलखाना मुहल्ले में फीलखाने के समान ही मकान! अन्दर जाने पर नये रँगरूट सम्पादक को किसी ने पहचाना नहीं; पर थोड़ी देर बाद भिषग्रत्न पण्डित शिवनारायण मिश्रजी पहुँचे, तो मैंने अपनी पूर्व-सूचना का हवाला देकर परिचय दिया। बड़े तपाक से मिले। सुहृद की तरह पेश आये। सुबह का वक्त था। नहाने-धोने के लिए सम्पादकीय कमरे से बाहर पिछवाड़े की छत पर आया, तो यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि ऐसे खँड़हर में से 'प्रताप'-जैसा प्रभावशाली पत्र किस तरह निकलता है! एक टूटे-फूटे मकान के अन्दर रहकर देश की इतनी बड़ी सेवा करना महापुरुष का ही काम हो सकता है।

मैं काशी, प्रयाग, बम्बई और कलकत्ता में अखबारों के सजीले आफिसों को देख चुका था, जहाँ बिजली की रोशनी, पंखे और टेलीफोन की माया फैली हुई थी। किन्तु 'प्रताप'-कार्यालय किसी गरीब किसान की झोपड़ी-सा प्रतीत हुआ। न कहीं कोई सजावट, न कहीं कुछ भड़कीलापन। जानपड़ा—जनता की सेवा करने की धुन में किसी को बाहरी आडम्बर की चिन्ता ही नहीं है। पत्र को सर्वाङ्गसुन्दर और सर्वोपयोगी बनाने की इतनी सच्ची लगन; और जिस मकान से पत्र निकलता है उसकी भग्नावस्था पर कुछ ध्यान ही नहीं! इस परमहंसी ठाट में कितनी ऊँची महापुरुषता झलकती थी, मैं समझ ही न सका।

थोड़ी ही देर बाद खद्दर की गांधी-टोपी और खद्दर का कोट पहने तथा कन्धे से खद्दर का थैला लटकाये एक सज्जन ने कमरे में प्रवेश किया। मिश्रजी बोले, आपही[1] पालीवालजी हैं—'प्रताप' के वर्त्तमान सम्पादक। मैंने उठकर अभिवादन किया। बड़ी सहृदयता से मिले। किसी नौसिखिया सम्पादक के साथ एक प्रभावशाली पत्र के प्रतिष्ठित

१. पं० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल।

सम्पादक का इस तरह दिल खोलकर मिलना मैंने आज तक अपने जीवन में कहीं नहीं देखा है। 'प्रताप'-कार्यालय के अन्दर शायद कोई जादूभरा वायुमंडल है या क्या है, सो मैं नहीं कह सकता। पर पहले-पहल पण्डित शिवनारायण मिश्रजी की मिलनसारी देखकर ही मेरे चित्त पर अपूर्व प्रभाव पड़ा।

कई नामी-गरामी सम्पादकों के पास पहुँचकर मैं ठोकर खा चुका था। सुना है, 'भारत-धर्म-महामण्डल' के स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज प्रायः लोकमान्य तिलक को भी 'ज्ञान-राज्य का बालक' कहा करते हैं। उसी तरह मैं भी उस समय जहाँ-कहीं जाता, पत्र-सम्पादकों की नजरों में 'साहित्य-राज्य का बालक' ही जँचता था। कितने ही सम्पादक तो जरा बोलते भी न थे; स्वागत-सत्कार की क्या कथा! किन्तु पालीवालजी का बन्धुत्व, उनकी उदारता और सरलता देखकर मैंने बहुत बड़ा सबक सीखा। 'प्रताप'-कार्यालय जन्मभूमि की भाँति सुखकर प्रतीत हुआ। बिलकुल घर का-सा बर्त्ताव, जरा भी तकल्लुफ नहीं।

पालीवालजी ने बड़े स्नेह के साथ मुझे अपने पास बिठाकर उन मारवाड़ी नवयुवकों और हिन्दी-प्रेमी सेठों के नाम लिखवाये, जिनसे मिलकर मैं सफलता पा सकता था। मुझे ठीक याद है, पहला नाम था बाबू नवलकिशोर भरतिया बी० ए० का; जिनसे मिलकर सचमुच मैं बड़ा संतुष्ट हुआ।

कुछ देर बाद 'नवीन' जी और 'कौशिक' जी एक साथ ही कार्यालय में दाखिल हुए। परिचय हुआ। कहकहा मच गया। 'नवीन' जी कुर्सी पर झूम-झूम कर गाने लगे। कविता बड़ी हृदयग्राहिणी थी। स्वर में बड़ा ओज था। भाव-भंगी उसे सजीव बना रही थी। और, वह दिन कौन-सा था? ठीक उसी दिन श्रद्धेय विद्यार्थीजी लखनऊ-जेल से शायद नैनी-जेल में जाने के लिए करीब ३-४ बजे शाम की गाड़ी से कानपुर होकर गुजरनेवाले थे। हँसते-खेलते सब लोग स्टेशन पहुँचे। थोड़ी देर में गाड़ी आई। एक डब्बे की खिड़की से दिव्य झाँकी मिली! चश्मा वही था; लेकिन फेल्ट-कैप की जगह गांधी-टोपी और ओवर कोट की जगह खद्दर के कुर्त्ते ने ले ली थी। दाढ़ी एक नई विशेषता थी। चेहरे पर वैसी ही हँसी, बोल-चाल में वही बेफिक्री, मिलने-जुलने में वही बन्धुत्व। सबसे हँस-हँसकर मिले; कुशल-मंगल पूछा; किन्तु यहाँ तो करुणा-मिश्रित आनन्द से गला ऐसा रुँधा हुआ था कि हृदय की श्रद्धा सर्वथा स्तब्ध ही रह गई। इस दुबारे दर्शन का स्मारक-चिह्न वह प्लैटफार्म-टिकट आज भी मेरे पास सुरक्षित है।

४

तीसरी बार लखनऊ में दर्शन हुए। मैं 'माधुरी' के सम्पादकीय विभाग में काम करता था। उस समय श्रीदुलारेलालजी भार्गव के गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय (अमीनाबाद-पार्क) में ही उसका ऑफिस था। उस आफिस के पास ही काँगरेस-कमिटी का भी दफ्तर था। मैं पण्डित शान्तिप्रिय द्विवेदी के साथ ऑफिस से निकलकर पार्क के ईर्द-गिर्द सड़कों पर टहल रहा था। इतने में ताँगे पर जाते हुए विद्यार्थीजी के दर्शन का अचानक सौभाग्य प्राप्त हुआ। हमलोगों के अभिवादन करते ही वे हँसते हुए ताँगे से उतर पड़े।

हम दोनों के कंधों पर अपनी भुजाएँ रखकर बीच में हो लिये और हाल-चाल पूछते हुए आगे बढे। जब आगे-पीछे से कोई गाड़ी या मोटर की आवाज आती, तब हमलोगों को बाहु-पाश में समेटकर किनारे कर लेते। चहल-कदमी करते हुए शरबत की एक दूकान पर पहुँचे। पूछने लगे, किस चीज का शरबत पीजिएगा। हमलोगों का हृदय तो कृतज्ञता के भार से दबा जा रहा था, किस मूँह से नीबू या अनार का कहते!

आखिर शरबत पीने के बाद जब मैं जेब से पैसे निकालकर अपनी वेवकूफी और तंगदिली का इजहार करने लगा, तब बड़े जोर का ठहाका लगाकर बोले—"वाह शिवपूजनजी! आप झूठमूठ अपने को ईश्वरीजी का शिष्य बताते हैं—उनमें तो इतना तकल्लुफ नहीं है। आपको 'माधुरी' वाले कितना देते हैं? आप कितना बचाकर घर भेजते हैं?"—यह कहते हुए उन्होंने अपनी जेब से रुपया निकालकर शरबतवाले की ओर फेंक दिया। इसके बाद बोले—"मैं आज रहूँगा कल फिर मुलाकात और बात-चीत होगी; एक जरूरी काम से जा रहा हूँ।"

हमलोगों ने नतमस्तक होकर करबद्ध प्रणाम किया। उन्होंने हमलोगों की पीठ थपथपाते हुए कहा—'खूब जी लगाकर साहित्य-सेवा करते जाइए, पुरस्कार या प्रशंसा की आशा कभी न कीजिएगा। हाँ, कभी आवेगा समय......।'—कहते हुए ही ताँगे पर सवार हुए और चल दिये।

शान्तिप्रियजी बड़े भावुक नवयुवक हैं। खुलकर विद्यार्थीजी की बड़ाई का बखान करने लगे। मैं तो मुग्ध था। जिह्वा लज्जित थी। हृदय संकोच में धँसा जा रहा था। मनकी सुमिरनी पर यही जप रहा था—'कितना विशाल हृदय है..!'

दूसरे दिन मैं अकेला ही जा मिला। ताँगे पर साथ-साथ स्टेशन ले गये। बातों के सिलसिले में कहने लगे—"आप 'टॉड—राजस्थान' की घटनाओं के आधार पर बालकों और नवयुवकों के लिए रोचक कहानियाँ लिखिए। प्रकाश-पुस्तकालय (कानपुर) से मैं प्रकाशित करा दूँगा। आपकी भाषा मुझे पसन्द है।"

मैं हें-हें-हें-हे करके रह गया! वे बोलते ही गये—"जन्माष्टमी करीब है। 'प्रताप' का एक सुन्दर अंक निकालने का इरादा है। एक सप्ताह में कुछ लिख भेजिए।" मैं कृतज्ञ होकर बोला—"मेरा लेख 'प्रताप' में छपने योग्य न होगा।" ठठाकर हँस पड़े, पीठ ठोंकी और समझा कर कहने लगे—"आत्म-विश्वास कभी न छोड़ना चाहिए। मनमें ऐसी दृढ़ धारणा बँधी होनी चाहिए कि मैं जो कुछ लिखूंगा, वह निश्चय ही काम की चीज होगी; निकम्मी चीज कभी कोई लिखूंगा ही नहीं।"

मैंने नम्रतापूर्वक आदेश को शिरोधार्य किया। ताँगा स्टेशन पहुँचा। गाड़ी आई। वे मेरा कंधा पकड़कर झकझोरते हुए बोले—"मैं ईश्वरीजी को उलाहना भेजूंगा कि शिवपूजनजी को ऐसा संकोची और निरीह क्यों बना रखा है।"

मेरी कृतज्ञता मौन होकर उस उज्ज्वल मूर्त्ति की ओर देखती रह गई। गाड़ी खुली। सादर सविनय प्रणाम कर मैं विदा हुआ। हृदय पर आभार का असह्य भार लेकर मैं इक्के पर सवार हुआ।

मैंने 'प्रताप' के जन्माष्टमी-अंक के लिए लेख भेजा। वह लेट-लतीफ होने के कारण लौट आया ! वही लेख पण्डित रामनरेश त्रिपाठी द्वारा सम्पादित 'कवि-कौमुदी'[१] नामक मासिक पत्रिका में छपा।

५

चौथी बार कलकत्ता में दर्शन हुए। मैं 'मतवाला'—मण्डल में दूसरी बार लखनऊ से लौटकर आया था। ६—३ बलराम-डे-स्ट्रीट में पूज्य पं० ईश्वरीप्रसादजी शर्मा के साथ सपरिवार रहता था। शर्माजी के यहाँ उन दिनों 'दैनिक प्रताप' बराबर आता था। एक दिन कलकत्ता के पत्रों में श्रद्धास्पद विद्यार्थीजी के शुभागमन की सूचना देखने में आई। शर्माजी ने शाम को उनसे मिलने का प्रोग्राम बनाया। मगर बीच ही में घर-बैठे विद्यार्थीजी आ मिले ! शर्माजी से कहने लगे—"प्रताप की सहायता के लिए अर्थ-संग्रह करने आया हूँ भाई। दैनिक में बड़ा खर्च है। इतने दिनों से कलकत्ता में गोटी जमाये बैठे हो, कुछ दिलवाओ। लेकिन देने-लेने की बात तो पीछे होगी, पहले रसगुल्ले खिलाओ। देखता हूँ, 'दैनिक प्रताप' की पूरी फाइल तुम्हारे पास है। सब जुगाकर रखते जा रहे हो क्या ?"

शर्माजी ने झट रुपया निकाल कर मुझे दिया कि ट्राम से जाकर बागबाजार के रसगुल्ले ले आओ। विद्यार्थीजी ने मेरी हथेली पर से रुपया उठाकर अपनी जेब में डालते हुए कहा—'इनको क्यों हैरान करोगे, मैं रास्ते में उधर खा लूंगा।' अट्टहास से कमरा गूंज उठा।

फिर मेरे विषय में पूछने लगे—"'माधुरी' को क्यों छोड़ आये भाई ? 'मतवाला' में कौन-कौन हैं ? उसे हिन्दी का वलायती 'पंच' बनाओ। कभी-कभी वह बेतरह ढाल लेता है। गन्दे और टुच्चे मजाक से जनता की रुचि भ्रष्ट होती है, शुद्ध विनोद से साहित्य परिपुष्ट होता है। निर्दोष व्यंग्य-विनोद से भी तो मतवालापन निबह सकता है ? कभी-कभी वह सनककर कीचड़ उछाल देता है। हँसी तो जरूर आती है; मगर साथ ही घृणा भी पैदा होती है।"

मैंने हाथ जोड़कर कहा—'एकबार पधारकर मतवाला-मण्डल को भी कृतार्थ कीजिए। आज या कल, किसी समय, जब अवकाश हो।'

खेद प्रकट करते हुए बोले—"माफ करो भाई, फिर कभी आना पड़ा, तो कोशिश करूँगा; इस बार तो बिलकुल समय नहीं है। और, मुझे वहाँ ले जाकर क्या करोगे ? मैं कोई साहित्यिक थोड़े हूँ, मैं तो एक मामूली किसान हूँ बस। किसान को दिल्लगी से क्या निस्बत, वह तो रोटी के लिए परेशान रहता है। मर-भुक्खों को दिल्लगी नहीं सूझती, वह तो बाबुओं के दिल-बहलाव की चीज है। मैं बाबू नहीं हूँ, खेतिहर हूँ—खेतिहर—ठेठ किसान ! क्यों शर्माजी ?"

शर्माजी—'आप जो हैं सो हमलोग जानते हैं, दुनिया जानती है; आप नहीं जान सकते।'

१. यह लेख रचनावली के तीसरे खण्ड में १३२ पृष्ठ पर छपा है।–सं०

विद्यार्थी जी—ऐसा ?

शर्माजी—हाँ, और क्या !

वि०—अच्छा, तो तुम्हीं बताओ, मैं क्या हूँ—सच कहना ईमान से।

श०—आप किसान नहीं, किसानों के अन्नदाता हैं, पीड़ितों और त्रस्तों के भयत्राता हैं, और हैं धुरन्धर सम्पादकाचार्य !

वि०—धुरन्धर ? हा:-हा:-हा:-हा: ! लेकिन भाई, मैं 'अन्नदाता' नहीं हूँ। 'अन्नदाता' लोग तो राजपुताने के राजमहलों में—जनानखानों में—चहेतियों के बीच में-रहते हैं !

कमरे में हँसी का फव्वारा फूट पड़ा !

—मासिक 'हंस' (काशी), वर्ष ३, अंक १-२ (विशेषाङ्क); जुलाई, १९३३ ई०

'मनोरञ्जन'-सम्पादक पण्डित ईश्वरीप्रसाद शर्मा

[१]

मिश्रटोला (आरा)[1] के शाकद्वीपीय ब्राह्मण कभी दिग्विजयी विद्वान् हो गये हैं। हिन्दी के सर्वप्रथम गद्यलेखक पंडित सदल मिश्र भी इसी वंश के थे। इसी प्रसिद्ध कुल के स्वनामधन्य पण्डित शार्ङ्गधर मिश्र तंत्र-शास्त्र के पारदर्शी विद्वान् समझे जाते थे। पण्डित ईश्वरीप्रसाद शर्म्मा उन्हीं के इकलौते सुपुत्र हैं।

आपका जन्म १९५० संवत् की आषाढ़ी पूर्णिमा को हुआ था।

"होनहार बिरवान के होत चीकने पात"—यह कहावत आपके बचपन के आचरणों से ही आप पर सत्य संघटित होती है। बचपन में आप अपने पिता के पास बैठे हुए कलम लेकर कागज पर यों ही टेढ़े-मेढ़े निशान बनाया करते थे। पूछने पर कहते, "अपनी दुलहिन को चिट्ठी लिख रहा हूँ।" आपकी यह मधुर प्रकृति आपके साहित्यिक जीवन के साथ-साथ आपके सदा प्रसन्न स्वभाव का भी परिचय देती है।

अस्तु, आपकी सात ही साल की उम्र में आपके पिताजी का देहान्त हो गया। उसी समय आप एक अँगरेजी-स्कूल में भर्ती किये गये जब थर्ड क्लास के विद्यार्थी थे, तभी से आपके हृदय में हिन्दी का अनुराग उत्पन्न हुआ, और आप स्थानीय नागरी प्रचारिणी सभा (आरा) के पुस्तकालय में आने-जाने लगे। सबसे पहले सन् १९०६ ई० में काशी के 'भारत-जीवन' पत्र में आपने लेख लिखना आरंभ किया। तब से आप बराबर पुस्तकें, लेख, कविताएँ लिखते रहते हैं।

1. दक्षिण बिहार का एक प्रमुख नगर।

हिन्दी में आपकी लिखी हुई, अनुवादित, संगृहीत तथा सम्पादित पचासों पुस्तकें हैं। अभी-अभी आपने 'सिपाही-विद्रोह' का एक बड़ा ही अच्छा इतिहास लिखा है। वह इस विषय की सर्वोत्तम पुस्तक समझी जाती है। आपकी 'सीता', 'शकुन्तला', 'सती पार्वती' आदि पुस्तकें स्त्रियों के लिए बड़े महत्त्व की तो हैं ही, किन्तु उनकी लेखन-शैली भी कुछ ऐसी निराली है कि हिन्दी में वे अपने ढंग की एक ही मानी जाती हैं। वहीं[1] से आपकी सर्वश्रेष्ठ रचना 'श्रीरामचरित्र' भी प्रकाशित हुआ है। प्रोफेसर सकलनारायण शर्मा के शब्दों में वाल्मीकि-रामायण का ऐसा सुन्दर सार-संकलन हिन्दी में दूसरा नहीं है। यह आपकी कीर्त्ति को स्थायी रखने के लिए यथेष्ट है।

सन् १९११ ई० में हिन्दू-कालेज (बनारस) छोड़ने के बाद आप आरा के के० जे० एकाडमी हाईस्कूल में मास्टरी करने लगे। फिर सन् १९१४ ई० में 'पाटलिपुत्र' के सहकारी सम्पादक होकर पटना गये; परन्तु दो ही सप्ताह में उसके प्रधान सम्पादक हो गये। प्रधान सम्पादक[2] के लौट आने पर आप फिर सहकारी के पद पर काम करते रहे। परन्तु उनसे कुछ मनमुटाव हो जाने के कारण वह पद छोड़कर आप वहाँ से चले आये।

सन् १९१२ ई० में बिहार का सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्र 'मनोरंजन' प्रकाशित हुआ। उसका आपने ऐसी योग्यता से सम्पादन किया कि हिन्दी-संसार आज भी उसकी याद करता है। उसके साथ आपका नाम हिन्दी में प्रसिद्ध हो गया। पण्डित सकलनारायण शर्मा के कलकत्ता चले आने पर साल-भर आपहीं ने 'शिक्षा' का भी सम्पादन किया। कुछ दिन आपने गया की 'लक्ष्मी' का भी सम्पादन किया। वहाँ से आप, 'धर्माभ्युदय' नामक त्रैमासिक पत्र का सम्पादन करने के लिए आगरा चले गये। फिर आप वहाँ से कलकत्ता चले आये। तब से आप स्थानीय बर्मन प्रेस में साहित्य-विभाग के अध्यक्ष हैं।

आप हिन्दी-गद्य के सुलेखक हैं। कविता भी आप लिख लेते हैं। आपको हास्य-रस की कविताओं में अच्छी सफलता मिलती है। हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत, अँगरेजी, बँगला, गुजराती और मराठी का भी आपको अच्छा ज्ञान है। बँगला तो आप इतनी अच्छी जानते हैं कि उस भाषा में आप एक ग्रन्थ[3] ही लिख रहे हैं।

आप बड़े, ही सरल, मृदुभाषी, हँसमुख और मिलनसार हैं। आपने आरा में एक नाटक-मण्डली स्थापित कर रखी है, जो हिन्दी के अच्छे-अच्छे नाटकों का अभिनय किया करती है। अभी-अभी आपका लिखा 'सूर्योदय' नामक नाटक उसी मण्डली द्वारा सफलतापूर्वक खेला गया है। इसमें शर्माजी भी रंगमंच पर उतरे थे और अपने पार्ट में आर्ट की अच्छी योग्यता दिखाई थी। इस तीस साल की उम्र में ही आप हिन्दी-संसार में प्रसिद्ध हो गये हैं और हिन्दी के सुलेखकों में अपने लिए एक विशेष स्थान प्राप्त कर लिया है। गत दो वर्षों तक आरा की नागरी-प्रचारिणी सभा के प्रधान मंत्री आप ही थे।

---

१. रामलाल बर्मन कम्पनी, चितपुर रोड, कलकत्ता।

२. डॉक्टर काशी प्रसाद जायसवाल।

३. आपने 'पंजाब हत्याकाण्ड' नामक हिन्दी-पुस्तक का बँगला में अनुवाद किया था।—ले०

आपके कोई पुत्र-सन्तान नहीं, केवल चार कन्याएँ हैं। उनमें से बड़ी कन्या का विवाह गत फाल्गुन में हो गया है। ईश्वर आपको दीर्घजीवी करें। आपके उत्साह को देखते हुए हमें यही आशा है कि आप सदैव इसी तरह मातृभाषा की श्री-साधना में लगे रहेंगे।

—साप्ताहिक 'मतवाला, (कलकत्ता); वर्ष १, संख्या ३३, चैत्र-शुक्ल ८, संवत् १९८१ वि०, शनिवार, १२ अप्रैल, १९२४ ई०

[२][1]

हिन्दी का अभाग्य कहूँ या अपना—पण्डित ईश्वरीप्रसादजी इस संसार में अब न रहे! हिन्दी के कितने ही सेवक मिलेंगे, भले हो अब आगे जल्दी वैसे न मिलें जैसे कि पण्डित जी थे, किन्तु हमें तो अब वैसा स्नेहपरायण पथ-प्रदर्शक नहीं मिलेगा, यह निश्चित है। साहित्य-क्षेत्र में हमारा पदार्पण उन्हीं की कृपा से हुआ था और सदैव उन्हीं के सत्परामर्शों के बल पर हम अबतक उन्नति-पथ पर अग्रसर होते आये हैं। उनकी स्नेहशीलता और ममता पर जितना हमारा दावा था, उतना शायद ही संसार में किसी को— उनके आत्मीयों को भी—नसीब हो। उनकी असली जीवनी यदि हम लिखने बैठें, तो पार लगना मुश्किल है—डायरी के पन्ने की तरह हृदय के पर्दे-पर्दे में उनकी वास्तविक जीवनी अंकित पड़ी है।

पण्डितजी बिहार प्रान्त के आरा नगर के निवासी थे। हिन्दी के आदि गद्य-लेखक पण्डित सदल मिश्र के वंशधरों में यदि वह न हुए होते, तो एक प्रकार से उनका वंशवृक्ष निष्फल ही कहा जाता। इनके पिता पंडित शार्ङ्गधर मिश्र बड़े सिद्ध तांत्रिक थे—बड़े-बड़े अफसर अपनी ओहदा बढ़वाने के लिए उनकी सेवा में तत्पर रहा करते थे। उनके छोटे भाई पण्डित श्रीधर मिश्र भी अच्छे तांत्रिक थे। इन्होंने पितृहीन पण्डितजी को पाला-पोसा और पढ़ाया-लिखाया। इनके भी दो पुत्र हैं—पण्डित गुरुदेवप्रसाद मिश्र बी० ए० बी० टी० (हेडमास्टर, गया जिला-स्कूल) और पण्डित आनन्देश्वरीप्रसाद मिश्र, जो पटना हाईकोर्ट में नौकर हैं और फटबॉल के सुप्रसिद्ध खेलाड़ी हैं। पण्डित गुरुदेवजी तो ईश्वरीजी को पुत्रवत् मानते थे और वे भी इन्हें पितृतुल्य पूज्य।

पण्डित गुरुदेवजी आदर्श सदाचारी और एकान्तप्रिय विद्याव्यसनी थे, उन्हीं के प्रभाव से ईश्वरीजी स्कूल-कॉलेज के कुसंगों से बचकर घोर विद्याव्यसनी बन सके। यहाँ तक कि लिखने-पढ़ने के व्यसन में उन्होंने खेल-तमाशे और मेले-महोत्सव को भी भुला दिया। फिर तो ऐसे सिद्धहस्त लेखक हो निकले कि कलम उठाने पर एक ही बैठक में सैकड़ों पेज रगड़ डालते थे—कलम भी डाकगाड़ी की तरह दौड़ती थी (मगर पिरोते थे मोती, बड़े ही खुशखत थे) और दनादन आगे बढ़ती हुई लक्ष्य पर पहुँचकर ही दम लेती थी। तारीफ यह कि एक बार लिखकर दुहराना या काट-छाँट करना या गोद-गाद करना तो वे जानते ही न थे—जैसे ब्रह्मा की टाँकी लिखते हों, जो एक बार लिखी जाकर फिर मिटाई नहीं जाती। देखते-ही-देखते बड़े-बड़े लेख लिख डालना मानों उनके बायें हाथ का खेल था। कभी-कभी ताश भी खेलते जाते, बतियाते भी

1. इस लेख का शीर्षक था 'स्वर्गीय ईश्वरीप्रसाद शर्मा'।—ले०

रहते और दर्जनों चिट्ठियाँ भी लिखते चले जाते। कमाल का लेखन-कौशल था। गजब की प्रतिभा थी। मजा यह कि बँगला, अँगरेजी, हिन्दी, संस्कृत—सब में एक ही रंग—वही हस्तलाघव, वही रचनापटुता, वही सिद्धहस्तता, वही मँजी शैली। क्या कहूँ, हिन्दी का एक अनमोल लाल लुट गया, और हमारा जो लुटा सो तो हमारा दिल ही जानता है।

पण्डितजी अनुवादक भी बड़े पक्के थे। मराठी, गुजराती, बँगला, अँगरेजी, संस्कृत—सबके अनुवाद में उनकी एक-सी गति थी। मराठी से अनुवादित उनका 'रत्न-दीप' उपन्यास, गुजराती से अनुवादित उनकी जैन धर्म-सम्बन्धी पुस्तकें, बँगला से अनुवादित उनकी अनेक प्रसिद्ध (गल्पों और उपन्यासों की) पुस्तकें, अँगरेजी से अनुवादित, उनकी 'प्रेम-गंगा' (गंगा-पुस्तकमाला, लखनऊ से प्रकाशित) और 'प्रेमिका' (हिन्दी-पुस्तक-भण्डार, लहेरियासराय से प्रकाशित) हैं, तथा संस्कृत से हिन्दी-अनुवाद करने के लिए प्रसिद्ध नवलकिशोर प्रेस से वाल्मीकीय रामायण के विषय में बहुत दिनों से पत्र-व्यवहार भी हो रहा था। अनुवाद करते समय भी वे कभी अपनी लिखावट में काट-छाँट नहीं करते थे। एक हाथ में मौलिक पुस्तक और दूसरे में लेखनी—बस एक-एक बार में परिच्छेद-के-परिच्छेद खतम कर डालते थे। कभी-कभी तो ऐसा देखा है कि एक-एक पेज पढ़कर मूल पुस्तक रख देते और दनादन उसका अनुवादित आशय लिखते चले जाते थे।

स्मृति-शक्ति गजब की थी। बातचीत में प्रायः ऐसी-ऐसी समयोपयुक्त—अवसरानुकूल—मार्केदार सूक्तियाँ कह जाते थे कि सुननेवाले का दिल फड़क उठता था। अच्छे-अच्छे श्लोक, हिन्दी के दोहे और कवित्त, उर्दू की गजलें और शेर ऐसे मौके पर सुनाते कि मजा आ जाता था। तारीफ यह कि 'अलिफ-बे' की पहचान भी नहीं और उर्दू-मिश्रित भाषा लिख दें, तो बड़े-बड़े उर्दूदाँ बाग-बाग हो उठें—उर्दू-शब्दों या शेरों के उच्चारण में भी ज़बान की वही तेजी, वही सफाई, वही फिज़ाहत कहाँ तक कहें, उनके ये सब गुण हिन्दी-प्रेमियों से छिपे नहीं हैं।

किन्तु साथ ही उनमें एक-दो अवगुण भी थे। वे बड़े खर्राच और स्पष्टवादी थे। मुक्तहस्तता भी ऐसे परले सिरे की थी कि उसे फिजूलखर्ची भी कहें, तो कोई हानि नहीं और स्पष्टवादिता भी ऐसी कि उसे निरङ्कुशता भी कह सकते हैं—किसी के रंज की जरा भी परवा नहीं, कह डालेंगे उसी दम जो कहना होगा। और, सुबह अगर कुबेर की सम्पत्ति भी मिल जाय, तो शाम तक फूंक-तापकर छुट्टी! कमाते खूब थे, मगर अभाव कभी दूर न हुआ। फिर भी मौके पर अन्धाधुन्ध खर्च करने के लिए न जाने कहाँ से उनके हाथ पर रुपया चला आता था। दो लड़कियों की शादी की; आनन-फानन दो-तीन हजार बरस गया—शादी का खर्च देखकर दुनिया दंग।

दो लड़कियों की शादी तो कर चुके थे, जिसमें एक बड़ी गत वर्ष मर गई, मगर अभी दो और हैं। पुत्र हुआ ही नहीं, पुत्रियों को ही पुत्रवत् मानते थे, बल्कि जहाँ तक कहने में हम तनिक अतिशयोक्ति नहीं समझते कि बड़े-बड़े धनियों के

लड़कों को भी उतना लाड़-प्यार नसीब होना दुर्लभ है, जितना वे अपनी कन्याओं का करते थे। कहते थे, वही हमारी देवियाँ हैं, इन्हीं की पूजा और तृप्ति में हमारी आन्तरिक शान्ति बसती है। उनके समान कन्याओं का आदर हमने बहुत ही कम परिवारों में देखा है।

अह! पण्डितजी कैसे मस्त जीव थे। उस दिन कलकत्ता से भैया उग्र और पण्डित चन्द्रशेखर पाठक का पत्र मिला कि वे मरने पर भी मुस्कुराते थे। वे अक्सर कहा करते थे कि 'मियाँ चिरकीं' की तरह मरने पर भी हम तुम लोगों को हँसाये विना न मानेंगे। और, वस्तुतः विनोदी भी अव्वल नम्बर के थे। तरह-तरह के चुटकुले, लतीफे, हँसी के नुस्खे हर वक्त ज़बान के छोर पर तैयार, चाहे जब जैसी सुन लीजिये। हँसाते-हँसाते पेट फुला देते थे।

नाटक में अक्सर मजाक का पार्ट करते थे, फिर तो दर्शकों को बुलबुल कर छोड़ते थे। (उनके लिखे कई मौलिक नाटक भी छप चुके हैं।) खासे मनोरंजन-मूर्ति थे और अपनी विनोद-विलासिनी प्रकृति की रस-सिद्धता को चरितार्थ करने के लिए ही उन्होंने सन् १९१२ ई० में हिन्दी मासिक 'मनोरंजन' निकाला था, जिसकी उन दिनों बड़ी धूम थी। किन्तु एक टुटपुँजिया फक्कड़ गृहस्थ होकर भी दो साल तक वे किस तरह 'मनोरंजन' की झाँझरी नैया खेते रहे, यह हमीं जानते हैं।

पण्डितजी की पुस्तकें हिन्दीकी सभी प्रसिद्ध ग्रन्थमालाओं में निकली हैं; उनके लेख भी प्रायः 'सरस्वती', 'माधुरी' आदि में निकलते थे, उनके द्वारा सम्पादित 'मनोरंजन' ('शिक्षा' और 'पाटलिपुत्र' में भी सहकारी रह चुके थे), 'लक्ष्मी,' 'श्रीविद्या,' 'धर्माभ्युदय' आदि से भी हिन्दी-प्रेमी अपरिचित नहीं हैं, उनकी दर्जनों मौलिक, बीसियों अनुवादित पुस्तकें भी काफी प्रचार पा चुकी हैं, फिर 'हिन्दूपंच' ने इस शुद्धि-संगठन-युग में उनकी लोकप्रियता को बहुत बढ़ा दिया है। 'मतवाला' में प्रकाशित उनकी विनोद-व्यंग्य-भरी कविताएँ जिसने पढ़ी हैं, वह उनके सिद्धान्तों के साथ-साथ उनकी जिन्दादिली का भी अनुमान कर सकता है; फिर 'हिन्दूपंच भी तो इसके लिए 'हाथका कंगन' है।

उस दिन 'हिन्दू-पंच' के मामले से छुटकारा पाकर सबकी बधाइयाँ लेकर, सबके अभिनन्दनों का नम्र उत्तर देकर आपने हमारे पास सपरिवार विश्वनाथ-दर्शन के लिए काशी आने की सूचना दी थी, पर कौन जानता था कि राजकीय कारागार से मुक्त होते ही ईश्वरीय कारागार से मुक्त हो जायेंगे। लेकिन थे बड़े बुलन्द इकबालवाले—कहीं हाईकोर्ट का फैसला सुनने से पहले ही इस तरह दो घंटे की चटपटी बीमारी से मर जाते तो सारा संसार उनकी आकस्मिक मृत्यु को संदिग्ध दृष्टि से देखता, और बधाइयों की जगह निन्दाओं की बौछारें भी होतीं। वे जैसे धर्मनिष्ठ, आस्तिक, सहृदय, उदार और साहित्यानुरागी थे, ठीक वैसी ही उनकी मृत्यु हुई—चुटकियों में शान्ति और कीर्त्ति ले उड़े! अफसोस!!

—दैनिक 'आज' (काशी); श्रावण, विक्रम-संवत् १९८४

[३][1]

"धाता द्वारा सृजित जग ही मेदिनी बीच पा के।
पा के खोया रतन कितने प्राणियों ने अनेकों॥
वैसा प्यारा रतन 'हम' ने हाथ से आज खोया।
पा के ऐसा रतन अब लौं है न खोया किसी ने॥"[2]

'कविता-कौमुदी' के द्वितीय भाग में स्वर्गीय पण्डित सत्यनारायण कविरत्न का परिचय लिखते हुए लखनऊ-विश्वविद्यालय के हिन्दी-प्रोफेसर पण्डित बदरीनाथ भट्ट बी० ए० ने अन्त में लिखा है—

"कुछ लोगों की राय है कि इनके उठ जाने से हिन्दी-संसार का एक रत्न खो गया, सच है, हमारा क्या खो गया, यह हमीं जानते हैं।"

शोकविह्वलता के कारण चित्त इतना अधीर हो रहा है कि श्रद्धेय भट्टजी की इस उक्ति से बढ़कर कोई बात इस समय मुझे नहीं सूझती। पण्डितजी के अचानक चल बसने से कुछ लोग सोचते होंगे कि हिन्दू जाति का एक कट्टर भ त उठ गया। कुछ लोग समझेंगे—हिन्दी-साहित्य-भाण्डार का एक अनमोल लाल लुट गया। कुछ लोग कहेंगे, हिन्दी-भाषा के चमन की एक चहकती हुई बुलबुल उड़ गई! कलकत्ता में तो बहुत-से लोग यह गुनते होंगे कि साहित्यिक मण्डली का हँसी का फव्वारा ही सूख गया। किन्तु लाख सोचने पर भी मेरे ध्यान में नहीं आता कि मेरा क्या लुट गया? जिन भाग्यवानों के लिए पण्डितजी 'दिलवस्तगी का सामान' थे, जिन मौजियों के लिए वे 'मस्ती के झरने' थे, वे कहीं और अपना ठिकाना ढूँढ ले सकते हैं—जिन सहृदयों के दिल की मीठी गुदगुदी थे, जिन साहित्य-विलासियों के लिए वे रस का छलकता हुआ लबालब प्याला थे, वे भी कहीं-न-कहीं कोई जरिया ढूँढ ही निकालेंगे! किन्तु मैं अभागा अब अपना वह पण्डितजी' कहाँ पाऊँगा—कहाँ ढूढ़ूँगा?

वह मंजुल मूर्त्ति—वह मनोरंजन मूर्त्ति—वह विनोद-विकसित मधुर मुखश्री—वह चैतन्य-संचारक स्मित-पूर्वाभिभाषित्व—हा हन्त! कैसे बताऊँ! अगर कहूँ, कि मेरे जीवन की एक स्फूर्त्तिशालिनी शक्ति जाती रही, तो भी हृदय का प्रकृत भाव सर्वथा अव्यक्त ही रह जायगा। इस समय बस इतना ही कहने भर की शक्ति है—"हा! पण्डित जी! आपसे मुझे ऐसी आशा न थी!!!"

सुप्रसिद्ध यशस्वी विद्वान् श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल बार-एट-लॉ जिस समय शुरू-शुरू पटना के अस्तंगत साप्ताहिक 'पाटलिपुत्र' का सम्पादन कर रहे थे। उस समय 'पण्डितजी' उनके सहकारी थे। उन्हीं दिनों तत्कालीन बड़े लाट की पत्नी की

१. इस लेख का शीर्षक 'हा! पण्डित जी!!' था।
२. 'प्रिय प्रवास' (हरिऔध)।

असामयिक मृत्यु पर 'पण्डितजी' ने एक बड़ा ही सुन्दर कारुणिक शोकोद्गार 'पाटलिपुत्र' में लिखा था। उसका इतना अंश मेरी डायरी में नोट है—

"कौन कह सकता है, कब क्या होगा? अभी-अभी जो प्रखर किरणों का जाल फैलाये, अपनी उज्ज्वल प्रभा से जगत् की आँखों में चकाचौंध पैदा कर रहे हैं, उनको कब एक मेघ का टुकड़ा आकर ढँक लेगा—यह कभी किसी ने जाना है? यह जो मनोहर लतिका कुसुम के भार से झुक रही है, उसके कुसुम-निचय को कब कोई निष्ठुर माली आकर तोड़ लेगा, यह कोई बतला सकता है? यह जो हमारे बड़े प्रेम के, बड़े आदर के, बड़ी पूजा और श्रद्धा के पात्र मनुष्यगण नजर आते हैं, कुटिल काल कब उनको अपने जाल में बाँध ले जायगा—यह जानना हम क्षुद्र मानवों की बुद्धि के परे है। नित्य कितनी माताओं की गोद सूनी होती है, कितनी संसारानभिज्ञ बालक-बालिकाओं के माथे पर से उनके प्यारे माता-पिता की प्रेममयी छाया हट जाती है, कितनी कुसुम-कोमलांगी कामिनियों का अपने हृदयेश्वर से चिरवियोग हो जाता है, कितने ही पुरुष अपनी एकमात्र जीवनसंगिनी प्रेममूर्त्ति प्रियतमाओं को चिर-काल के लिए अनन्त निद्रा में सो जाते हुए देखते हैं, पर क्या मृत्यु के वशवर्त्ती होने के दो दण्ड भी पूर्व किसी को मालूम रहता है कि अभी-अभी कैसा विषम वज्रपात होनेवाला है? नहीं।"

हाय! मुझे क्या पता था कि 'पण्डितजी' के ये 'वाक्य' किसी दिन उन्हीं पर चरितार्थ होंगे!—हा!! आज से बारह वर्ष पहले ही आप चुपके-चुपके अपने विषय में ऐसी भविष्यवाणी कर गये थे? जिस समय आप निज-सम्पादित 'धर्माभ्युदय' के दिसम्बर (१९१८) अङ्क के लिए आगरा के सरस्वती-प्रेस के ऑफिस में बैठे-बैठे 'क्या मर चले?' शीर्षक पद्य लिख रहे थे। उस समय यदि मैं जानता कि उस पद्य की ये पंक्तियाँ आप अपनी ही भावी छलना का संकेत करके लिख रहे हैं, तो उसी दम आपकी प्रवञ्चनामयी लेखनी को छीनकर कहीं यमुना में डाल देता—

"हमारी कोई याद क्यों कर करेगा?
सभी के दिलों को दुखा के चले!
कोई जग से हँसकर हँसाकर चले!
हम आँसू का दरिया बहाकर चले!"

अभी उस दिन, आज से शायद दो ही एक सप्ताह पहले, मैंने पण्डितजी की जीवनी 'हिन्दूपंच' में पढ़ी थी, तो सोचा था कि आप लोगों को पण्डितजी की वास्तविक

जीवनी उनके कारागार-वासी होने पर सुनाऊँगा। किन्तु 'मेरे मन कछु और था—बिधना के कछु और'! इसलिए और का और ही हो गया—वे एकाएक संसार-कारागार से ही मुक्त हो गये। अब उस वास्तविक जीवनी का रुख ही पलट गया। जो 'हौसला' था, वह 'दर्द' में बदल गया! 'चुहल' की जगह 'चोट ने छीन ली!

ऐसा सिद्धहस्त सम्पादक हिन्दू-हित की लदी-लदाई नैया को मँझधार छोड़कर कहाँ चला गया! इस समय मुझ शोकाकुल पर दया करके एक स्वर से यही प्रार्थना कीजिए—

"सच्चे स्नेही सुहृद-जन के ईश्वरी मिश्र-जैसे।
हिन्दी-भाषा अथच हिन्दू-जाति के प्रेम-डूबे॥
हे विश्वात्मा! भरत-भुवि के अङ्क में और आवे।
ऐसी व्यापी विरह-घटना किन्तु कोई न होवे॥"[1]

—साप्ताहिक 'हिन्दूपञ्च' (कलकत्ता); वर्ष २, अङ्क ७, ४ अगस्त, १९२७ ई०; श्रावण शुक्ल ७, संवत् १९८४ वि०

[४]

पं० ईश्वरीप्रसादजी की श्रीकृष्ण-भक्ति

(पण्डितजी का व्रजयात्रा-प्रसङ्ग)

स्वर्गीय पं० ईश्वरीप्रसादजी वंश-परम्परा के अनुसार शाक्त थे, किन्तु अन्य शैव शाक्तों की तरह ऐसे अनुदार अथवा संकीर्ण विचारवाले नहीं थे कि शक्ति की उपासना में अन्धे होकर अन्य देवताओं के प्रति अश्रद्धा रखें। वे सदा अपने गाढ़े समय में भगवती आदिशक्ति की विधिवत् पूजा किया करते थे और वस्तुतः उनका संकट टल भी जाता था; किन्तु अवसर पड़े वे भगवान् राम और कृष्ण का यश बखानने से भी अघाते न थे। उनके लिखे हुए 'श्रीरामचरित्र' और 'सीता' नामक मौलिक ग्रन्थों को पढ़कर सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि भगवान् रामचन्द्र और जगदम्बा जानकी के प्रति उनकी कैसी श्लाघ्य श्रद्धा-भक्ति थी।

मैंने स्वयं देखा है, कई बार स्वरचित 'श्रीरामचरित्र' और 'सीता' के विशिष्ट अंशों को स्वयं पढ़कर सुनाते समय वे अश्रु-गद्गद-कंठ होकर भाव-विभोर हो जाते थे। उनकी यह भावुकता आज भी आँखों के सामने से हटाये नहीं हटती।

मुझे अच्छी तरह याद है, जिन दिनों शुरू-शुरू कविवर 'हरिऔधजी' का महाकाव्य 'प्रियप्रवास' प्रकाशित हुआ था, उन दिनों पण्डितजी आरा में अपने घर पर ही

---

१. 'प्रियप्रवास' के अन्तिम पद्य का परिवर्तित रूप।—ले०

रहते थे; प्रतिदिन वे अपने पूज्य पितृव्य भजनानन्दी स्व० पं० श्रीधर मिश्रजी को 'प्रियप्रवास' बड़े सुरीले ढंग से सुनाया करते थे। पड़ोस के कई कृष्णभक्त प्रतिदिन उनका सस्वर पढ़ना सुनने आते थे। इसका एक कारण था। वे इतने ललित स्वर में पढ़ते थे कि उस तरह मधुर कंठ से किसी को 'प्रियप्रवास' पढ़ते मैंने आज तक कहीं नहीं सुना। यदि 'हरिऔधजी' उनकी वह सुस्वर-लहरी एक बार भी सुन लेते, तो प्रोफेसर लाला भगवान दीन की तरह अनायास कह उठते, कि 'भाई ईश्वरी! कविता की रचना तो मैं करता हूँ; किन्तु मधुर स्वर से पढ़कर तुम्हीं उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करते हो।'

वास्तव में लालाजी (दीनजी) की 'वीर-पंचरत्न' नामक पुस्तक की वीर-रसात्मक कविताएँ पढ़ते समय पंडितजी उसमें जान डाल देते थे—सुननेवाले फड़क उठते थे। मुस्कुरा-मुस्कुराकर वंशी-मधुर-कंठ से जब कोई कविता पढ़ने लगते थे, तो रूप खड़ा कर देते थे। 'प्रियप्रवास' के शुरू जमाने में वे आरा में जिधर चलते थे, गली-गली गुनगुनाते फिरते थे—

"प्रिय पति, वह मेरा प्राणप्यारा कहाँ है?
दुख-जलनिधि-डूबी का सहारा कहाँ है?
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ।
वह हृदय हमारा नैनतारा कहाँ है?"

कभी-कभी आरा की नागरी-प्रचारिणी सभा में बैठे-बैठे, जब कि सब लोग वाचनालय की मेज पर अखबारों के पढ़ने में लीन रहते थे, अचानक दर्द-भरे गले से पिहक उठते थे—

"मुझ विजित-जरा का एक आधार जो है।
वह परम अनूठा रत्न सर्वस्व मेरा॥
धन मुझ निधनी का लोचनों का उजाला।
सजल जलद की-सी कान्तिवाला कहाँ है?"

बस, सब लोग एक साथ ही चौकन्ने होकर उनकी तरफ देखने लग जाते थे और वे मुस्कुराकर चुप हो जाते थे। उनके विनोद और उनकी चुहलबाजियाँ जो दिन-रात हमलोगों की मित्र-गोष्ठी में हुआ ही करती थीं, जब याद पड़ती है, तो कलेजा टूक-टूक हो जाता है।

आज से लगभग नौ-दस साल पहले की घटना है। पंडितजी आगरा में 'धर्माभ्युदय' के सम्पादक थे और मैं आरा के एक स्कूल में हिन्दी-शिक्षक था। मेरे मन में आगरा का 'ताजमहल' देखने की उत्कट लालसा थी। मगर अंटी में दाम नहीं था कि लालसा पूरी हो। मैंने पंडितजी को पत्र लिखा। उन्होंने स्नेहपूर्ण आश्वासन देते हुए वचन दिया कि तुम्हें बुलाने का प्रयत्न कर रहा हूँ। ईश्वर की कृपा से 'धर्माभ्युदय' के

अध्यक्ष सेठ लक्ष्मीचन्दजी की 'जैन-लाइब्रेरी' सुधारने के लिए उन्होंने राह-खर्च भेजकर मुझे साग्रह बुलाया। मैंने वहाँ जाकर लगभग एक महीने में उस अस्त-व्यस्त दशा में पड़ी हुई सर्वाङ्गसुन्दर लाइब्रेरी को भली भाँति सुधार दिया—अक्षरानुक्रम और विषयानुक्रम से खूब बढ़िया संख्याबद्ध ग्रन्थ-सूची तैयार करके पुस्तकें सजा दीं। तब-तक दिल्ली-कांगरेस का समय आ पहुँचा। उस तेंतीसवीं बैठक के सभापति माननीय मालवीयजी थे। फिर मैं, पंडितजी और उक्त सेठजी के सहृदय सुपुत्रों के साथ दिल्ली गया। वहाँ 'हिन्दी-समाचार' के कार्यालय में स्वर्गीय पंडित शिवनारायण द्विवेदी (सम्पादक) के यहाँ हमलोग ठहरे। वहीं 'पाटलिपुत्र' के प्रधान सम्पादक विनोद-मूर्त्ति (स्वर्गीय) सोना सिंह चौधुरी और उसके सहकारी सम्पादक (स्वर्गीय) पं० रामानन्द द्विवेदी भी उतरे थे। दिल्ली से हमलोग उक्त चौधुरीजी और द्विवेदीजी के साथ ब्रजभूमि के दर्शन को चले।

पंडितजी और चौधुरीजी का मेल ढोल-मँजीरे का मेल था। रास्ते भर वह विनोद-विलास रहा कि जिसका नाम ! दिल्ली से मथुरा तक 'रसखान' के 'सवैयों' की खूब छूट रही। मथुरा में पण्डे के घर पहुँचने पर कपड़े उतारते-उतारते पण्डितजी वहाँ भी 'प्रियप्रवास' का पारायण करने लग गये—

"मधुकर ! सुन तेरी श्यामता है न वैसी।
अति अनुपम जैसी श्याम के गात की है ॥
पर जब नयनों से देख लेती तुझे हूँ।
छवि उर खिंच जाती श्यामली मूर्त्ति की है ॥"

चौधुरीजी की बात आज तक नहीं भूलती। पंडितजी के यह पद्य कहते ही वे कह उठे—"यार ईश्वरी ! तुम्हारे मुँह से ऐसे मीठे सुर में कोई कविता सुनकर जी करता है, कि तुम्हारा गला काट लूँ। अगर मूँछ मुड़ाकर रास-मंडल में शामिल हो जाओ, तो कितने ही कृष्णोपासक कंठी-माला तोड़कर तुम्हारे पीछे पड़ जायें।"

मगर पंडितजी कब चूकनेवाले थे—एक नम्बर के हाजिरजवाब ! छूटते ही बोल उठे,—"अगर आप 'कुब्जा' बनने को राजी हों, तो मैं 'कृष्ण' बन सकता हूँ; क्योंकि आपका शरीर स्वभावतः वक्र है और मेरा गला स्वभावतः मुरली-मधुर !" इस पर बड़ी हँसी हुई। आह ! कैसे थे वे दिन !

दूसरे दिन विश्राम-घाट पर जब पंडितजी अपने रसीले गले से 'साटी लिये उगिलावत माटी' वाला सवैया छेड़ा, तो यमुना के तीर पर खड़े-खड़े चौधुरीजी झूमने लग गये। उनकी वह मुग्धा दृष्टि—उनकी वह रसानुभूतिमयी तन्मयता अचिन्त्य तृप्ति से भरी जान पड़ी। उस समय का एक-एक दृश्य अनूठा था !

फिर उसी दिन जब एक्के पर वृन्दावन की यात्रा हुई, तो रास्ते भर यही चर्चा छिड़ी गई, कि 'माखनचोरजी' भी अव्वल दर्जे के दिल्लगीबाज थे—उनकी निष्कलंक

छेड़खानियों में जो माधुर्य है, वह आजकल के भुस-भरे सूखे दिमागों में तबतक नहीं आ सकता, जबतक उतना ही काफी दूध-माखन खाने को न मिले। रास्ते में जो वृन्दावन के कुंज-झाड़ आदि मिलते जाते थे, उनपर भी तरह-तरह की एक-से-एक सरस उक्तियाँ जड़ी जाती थीं और सबमें भगवान् श्रीकृष्ण के उस आनन्दामृतमय बाल्यकाल की सुखद स्मृतियों की छाप लगी होती थी। पहले-पहल वहीं, पंडितजी के ही मुख से, मैंने यह श्लोक सुना था—

'अनेकजन्मार्जितपापचौरं चौराग्रगण्यं पुरुषं नमामि ॥'

यमुना की दिव्य रेत पर—'प्रेम-महाविद्यालय' के सामने—कुछ देर साहित्यिक बैठक हुई। उक्त चौधुरीजी की इच्छा के अनुसार 'श्रीकृष्ण की वंशी' पर कवित्त-सवैया-दोहे कहे जाने लगे। चौधुरीजी भी एक नम्बर के कथक्कड़ ही थे—मौके-मौके की चीज उन्हें खूब याद थी। पर यहाँ केवल पंडितजी के ही कहे हुए कुछ दोहे लिखूँगा, जो मेरी नोट-बुक में पंडितजी की कलम से ही लिखे मौजूद हैं—

"सुर-कुल-हिय कुल-कानि-तरु काटी बंसी-तान।
सिथिल अंग चंचल खसे, बेधित मन्मथ बान॥
यातें सुरपति कोप करि तनिक न लायो बार।
ब्रज-महि ऊपर सात दिन, बरसत मूसलधार॥
जब-जब तरनि-सुताप से, व्याकुल ब्रज चहुँ ओर।
तब-तब बंसी-तान से, घिरि आवत घनघोर॥
बदन सुधाकर सर विमल, लोचन कंज नवीन।
हरि मुख बंसी लसत जनु, हरित रंग के मीन॥
सुधा पान किय अमर-गन, तबहुँ असुर दुख दीन।
जब बंसी-धुनि पान किय, सुर-दुर्लभ पद लीन॥
जैसे राखत जतन करि, घर सम्पति धन सूम।
तैसे बंसी को हरी, जुगवत हैं मुख चूम॥
तनु तमाल तरु फूल पर, विम्बाफल गहि कीर।
तापर बंसी विहगवर, बोलत अमृत बीर॥"

पंडितजी के ही लेखानुसार ये दोहे 'दाउदनगर' (गया)-निवासी बाबूलाल वैश्य-रचित 'वंशी-प्रताप-शतक' के हैं। इनके भावों को परखकर पाठक देखें कि इनमें कवित्व और माधुर्य कितना है? इन दोहों का सस्वर पाठ करते समय पंडितजी की मुखश्री की जो छटा थी, वह अबतक मेरी स्मृति की आँखों में झलक रही है।

न जानें, अवसर-अवसर पर कहने के लिए कितनी चीजें वे याद किये रहते थे। वृन्दावन के तट से दूर हटी हुई यमुना को देखकर कहने लगे—"आखिर यमुना ठहरी निठुर, यमराज की ही बहन तो; किस क्रूरता से वृन्दावन की शोभा की हत्या कर डाली है! इस काले हृदयवाली को अपनी श्रीहीनता की भी नहीं सूझी—दूर हटकर ब्रजयात्रियों से बीचवाली रेत को खाक छनवाती है। अहा! कालिन्दी-कूल पर वृन्दावन की वह कैसी छवि रही होगी।"

यह कहकर 'प्रियप्रवास' के छन्द की सधी लय से यह श्लोक कहने लगे। इसको ऐसे लयदार ढंग से गाया कि चौधुरीजी ने तो वहीं इसे लिख लिया; पर मेरी नोटबुक में आगरा लौटने पर खुद उन्होंने ही लिख दिया—

"वृन्दारण्ये तपनतनया-तीर-वानीर-कुञ्जे
गुञ्जन्मञ्जु-भ्रमर-पटली-काकली-केलिभाजि।
आभीराणां मधुर-मुरली-नाद-संमोहितानां
मध्ये क्रीड़न्नवतु नियतं नन्दगोपालबालः॥"

इसी प्रकार वृन्दावन में लखनऊ के शाहजी का संगमर्मर-मन्दिर, रंगजी का किलानुमा विशाल मन्दिर, वंशीवट, केलिकुञ्ज आदि के दर्शन करते समय पंडितजी जिस सहृदयता और भावुकता से भगवान् कृष्ण-सम्बन्धी श्लोक और छन्द-कवितादि कहते जाते थे, वह उनकी पुलकावली-पूर्ण भावभंगी और श्रीकृष्णानुराग की मस्ती में झूमने की प्रकृति आज एकाएक याद आकर हृदय में उथल-पुथल मचा रही है। इसलिए अब अधिक कुछ न लिख सकने के कारण, अन्त में, निम्नलिखित श्लोक लिखकर बस करता हूँ, जिसे पण्डितजी ने वृन्दावन से प्रस्थान करते समय चौधुरीजी को मधुर स्वर में सुनाया था और आगरा लौटकर मेरी नोट-बुक में खुद लिख दिया था। इसी श्लोक को एक बार पंडितजी ने कलकत्ता में 'सेनापति'-सम्पादक पं० रामगोविन्द त्रिवेदी वेदान्तशास्त्री को, उनके समाधिस्थ 'भारती'-प्रेस में सुनाया था, तो वे प्रशंसात्मक स्वर में कहने लगे कि 'भारतधर्म-महामण्डल' (काशी) के स्वामी दयानन्द बी० ए० के सिवा किसी के कण्ठ से आज तक ऐसे ललित स्वर में कोई श्लोक सुनने में नहीं आया।

पंडितजी का जो कल-कण्ठ-स्वर किसी दिन कानों में मोहन की मुरली-धुन की तरह गूँजता था, वह समय के फेर से आज हृदय में तीर की तरह वेधता है।

"दोर्भ्यां दोर्भ्यां व्रजन्तं व्रजसदनजनाह्वानतः प्रोल्लसन्तं
मन्दं-मन्दं हसन्तं मृदुमधुरवचो मेति मेति ब्रुवन्तम्।
गोपालीपाणितालीतरलितवलयध्वानमुग्धान्तरालं
वन्दे तं देवमिन्दीवरविमलदलश्यामलं नन्दबालम्॥"

'हिन्दूपंच' (श्रीकृष्णाङ्क); वर्ष २, अङ्क ८, भाद्रकृष्ण जन्माष्टमी, संवत् १९८४ विक्रमीय

[५][1]

बिहार-प्रान्त के 'आरा' नगर में शाकद्वीपीय ब्राह्मणों का एक मशहूर मुहल्ला है—'मिश्रटोला'। उसमें पहले बड़े-बड़े धुरन्धर दिग्विजयी पंडित हो चुके हैं। हिन्दी के आदि-गद्य-लेखक पंडित सदल मिश्र वहीं के थे। उनके प्रपौत्र वयोवृद्ध पं० रघुनन्दन मिश्र[2] आजतक जीवित हैं। हमारे पंडितजी भी इसी वंश-वृक्ष के एक विकसित सुमन थे। मिश्रटोले में पंडितजी का परिवार बड़ा शिक्षित और प्रतिष्ठित तथा गण्यमान्य है। पंडितजी के पितामह का नाम पं० पिनाकधर मिश्र और पिता का नाम पं० शारंगधर मिश्र तथा चाचा का नाम पं० श्रीधर मिश्र था। इस समय तीनों में कोई जीवित नहीं हैं।

पंडितजी के धर्मनिष्ठ पिता सन् १९०० ई० में मरे थे, जब पंडितजी की अवस्था सात वर्ष की थी। माता का देहान्त सन् १९०९ ई० में हुआ था। किन्तु माता-पिता की जगह चाचा-चाची ने ले ली। पंडितजी के चाचा स्व० पं० श्रीधर मिश्रजी बड़े आत्माभिमानी, स्वावलम्बी, संतोषी और भजनानन्दी थे।

उन्होंने ही बचपन से पंडितजी को पाला-पोसा, पढ़ाया-लिखाया, ब्याहा और बढ़ाया। वे पंडितजी को 'बच्चनजी' कहकर पुकारते थे। घर पर पंडितजी के प्यार का नाम यही था। पंडितजी के लँगोटिया साथी उनको 'दीना' या 'दीनानाथ' कहा करते थे।

उनके दो चचेरे भाई हैं—पं० गुरुदेवप्रसाद मिश्र बी० ए०, बी० टी०, जो 'गया' के जिला स्कूल के असिस्टेंट-हेडमास्टर हैं और पं० आनन्देश्वरीप्रसाद मिश्र पटना के हाईकोर्ट में अच्छी तनख्वाह पर नौकर हैं तथा फुटबॉल के अच्छे खिलाड़ी भी हैं।

पं० गुरुदेवजी को तो पंडितजी पिता-तुल्य मानते थे; पर पं० आनन्देश्वरीजी से भाईचारा चलता था। इन दोनों छोटे भाइयों की शिक्षा-दीक्षा और सारी उन्नति का श्रेय उक्त पं० गुरुदेवजी को है, जो एक अविरल आदर्श पुरुष हैं—बड़े ही शांतचित्त, एकान्तप्रिय, विद्याव्यसनी, मननशील, सुचरित्र, गम्भीर, मनस्वी और आस्तिक। वे अपनी हाथ की अच्छी लिखावट के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। अगर वे जी लगाकर लिख दें तो छापे से मुकाबला कर देखिए—हू-ब-हू प्रेस-प्रिण्ट। उनकी अध्ययन-शीलता और उनका सद्ग्रंथानुशीलन अनुकरणीय है। पंडितजी स्वयं उनको अपनी सारी

१. इस लेख का शीर्षक 'स्वर्गीय पंडित ईश्वरीप्रसादजी शर्मा' था।

२. इनको मैंने स्वयं देखा था। इनके पौत्र श्रीभगवतीप्रसाद मिश्र आरा-टाउन-स्कूल में मेरे विद्यार्थी थे। इन्होंने मिश्रटोले की गली में अपना वह पुराना कच्चा मकान मुझे दिखाया था, और उसका वह कमरा भी दिखलाया था, जिसमें उनके प्रपितामह पं० सदल मिश्र का जन्म हुआ था।—लेखक

उन्नति का श्रेय देते थे और प्रायः कहा करते थे कि उनके अभाव में हमारा विद्यार्थी-जीवन भ्रष्ट हो गया होता।

वास्तव में बात ऐसी ही थी। बचपन से ही पं० गुरुदेवजी ने अपने दोनों छोटे भाइयों को पढ़ाई और खास तौर से चाल-चलन पर ऐसी कड़ी निगाह रखी, कि दोनों ही अपने आगे के जीवन में सब तरह से सुखी हुए। ईश्वर की कृपा से तीनों भाइयों में ऐसा सद्‌भाव और भ्रातृ-स्नेह था कि कोई सगे-चचेरे की परख नहीं कर सकता था।

पंडितजी के चाचा तो अपने दोनों पुत्रों से भी अधिक पंडितजी को ही मानते थे। और, चाची का तो फिर कहना ही क्या? वे तो खास देवी हैं। उन्होंने तो पंडितजी की माता का मोह मिटा दिया था। वे अपने को तीन पुत्रों—सुयोग्य पुत्रों—की माता मानकर गर्व करती थी। आज उस स्नेहमयी वृद्धा जननी के हृदय में जो असह्य वेदना है, उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। पंडितजी के मरने के बाद उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कह कर यह व्रत ग्रहण किया है कि चाहे कोई कहीं रहे, मैं बच्चनजी की स्त्री को जिन्दगी भर अपनी आँखों के सामने रखूँगी। धन्य है मातृ-हृदय का वात्सल्य-भाव!

सन् १९११ ई० में पंडितजी का विवाह 'गया'-जिले के 'सिकरिया'-गाँव में हुआ था। पंडितजी का दाम्पत्य जीवन बड़ा ही सुखमय था। घर में स्त्री का आदर जैसा होना चाहिए और उनकी आवश्यकताओं की पूर्त्ति का कहाँ तक ध्यान रखा जा सकता है, यह पंडितजी ने व्यावहारिक रूप से आचरण करके प्रत्यक्ष दिखा दिया था। वे बड़े गर्व से अपने को पत्नी-भक्त कहा करते थे—यहाँ तक कि अपने को 'स्त्रैण' तक कहने में भी तनिक हिचकते न थे। पत्नी की सुविधाओं का जितना खयाल वे रखते थे, बहुत कम लोग रखते होंगे। पत्नी को भी उस अभिन्न प्रेम पर अत्यन्त गर्व था। किन्तु ईश्वर ने वह गर्व इस तरह खत्म कर दिया कि कुछ कहते नहीं बनता। उनको सब सुख है—सास का हृदय माता के हृदय को परास्त करनेवाला है, जेठ का हृदय पिता के स्थान की पूर्त्ति करनेवाला है—किसी वस्तु का अभाव नहीं है, किन्तु वह सौभाग्य-गर्व—वह पति-सुख—वह दाम्पत्य जीवन का सन्तोष अब कौन दे सकता है?

पंडितजी अपनी पत्नी को तो अथाह मँझधार में छोड़ ही गये। अपने प्यारे भाइयों के दिलों पर भी शोक का बड़ा ही जबरदस्त धक्का दे गये। वे अपने परिवार के शृंगार थे—गृहस्थी की शोभा थे—सबके हाथों के खिलौने थे।[1]

—साप्ताहिक 'हिन्दूपंच' (कलकत्ता); वर्ष २, अङ्क ११, १५ सितम्बर १९२७ ई०;
आश्विन कृष्ण ४, संवत् १९८४ वि०

[६][2]

"अघटितघटितं घटयति सुघटितघटितानि दुर्घटीकुरुते।
विधिरेव तानि घटयति यानि पुमान्नैव चिन्तयति॥"

---

१. यहाँ से आगे की कई पंक्तियाँ असामयिक और अनावश्यक समझकर निकाल दी गई हैं।—ले०
२. इस लेख का शीर्षक था 'स्वर्गीय-पंडित ईश्वरी प्रसाद शर्मा'।

हिन्दी के जितने साहित्य-सेवी इधर मरे हैं, उनमें 'हिन्दूपंच' के सम्पादक पं० ईश्वरीप्रसाद मिश्र की मृत्यु कुछ विचित्र-सी हुई है। दो बजे रात तक अखबार का मैटर लिखते रहे; तीन बजे बीमार पड़े; छः बजते-बजते छुट्टी! ऐसी मृत्यु सबको नहीं नसीब होती। वे जैसे सहृदय थे, मृत्यु ने भी उनके साथ वैसी ही सहृदयता दिखलाई।[1]

काशी के हिन्दू-कॉलेज में आपके अंतरंग सहपाठियों में स्वर्गीय कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन (प्रसिद्ध 'प्रेम-मंदिर'-पुजारी) थे, और वर्त्तमान सरस्वती-सम्पादक पं० देवीदत्त शुक्लजी भी। किंतु अचानक बहुत बीमार पड़ जाने से आपको पढ़ाई छोड़नी पड़ी। तब आरा के 'कायस्थ जुबिली एकाडमी' हाई-स्कूल में हिन्दी-शिक्षक नियुक्त हुए। इसी स्कूल में पढ़े भी थे। सन् १९०५ ई० के स्वदेशी-आंदोलन-युग में, इसी स्कूल की एक मीटिङ्ग में, हिन्दी में आपका पहला व्याख्यान हुआ, और इतना सुन्दर हुआ कि आप की होनहारी पर बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँधी जाने लगीं।

जिस समय पंडितजी एण्ट्रेंस क्लास में थे। उसी समय खूब धड़ल्ले से हिन्दी में लेख लिखने लगे थे। जिन दिनों स्वर्गीय पंडित विजयानन्द त्रिपाठी (श्रीकवि) काशी के 'भारतजीवन' के सम्पादक थे, उन्हीं दिनों सन् १९०९ ई० में—पंडितजी का पहला लेख (गद्य-काव्य) 'भारतजीवन' में छपा था। उस समय पंडितजी सेकेंड-क्लास के छात्र थे। इनकी लिखी सबसे पहली पुस्तक 'चंद्रकुमार'—उपन्यास है, जिसका प्लाट घर की मजूरिन के मुँह से सुनी हुई एक कहानी के आधार पर रचा गया था। उसके बाद 'हिरण्यमयी' का नंबर है। फिर तो आपने अनेक पुस्तकें लिखीं और अनुवादित कीं। इस समय पंडितजी की अनुवादित और मौलिक पुस्तकों की संख्या लगभग ८०-९० तक पहुँच चुकी है।

जैसे मौलिक लिखने में आप हातिम थे, वैसे ही अनुवाद करने में भी। बँगला, मराठी, गुजराती, संस्कृत, अँगरेजी—सब भाषाओं के अनुवाद में एक समान सिद्धहस्त थे। सबसे बड़ी सिफ़त यह थी कि एक बार जो लिख जाते थे—चाहे अनुवाद हो या मौलिक—कभी उसमें कहीं काट-छाँट नहीं करते थे। लेखनी बड़े सर्राटे से चलती थी; पर कितना भी तेज लिखते, अक्षर सुडौल ही होते थे। साथ ही, भाषा भी मँजी हुई। मुहावरेदार—उसमें लोच, फड़क और रवानी होती थी। जिस किसी विषय को उठाते थे, उसपर बड़ा ही दिलचस्प मजमून बाँधते थे। जैसा कमाल का हस्त-लाघव था, वैसा ही रचना-कौशल भी, और स्मृति-शक्ति भी गजब की! जैसे ही प्रतिभाशाली, वैसे ही विनोदी। अजीब तबीयत पाई थी।

सन् १९१२ ई० में पंडितजी ने आरा से सचित्र हिन्दी-मासिक 'मनोरंजन' निकाला, जो पूरे दो साल तक यथेष्ट प्रसिद्धि प्राप्त कर बंद हो गया। फिर कुछ दिन

---

१. यहाँ से आगे का थोड़ा अंश काटकर निकाल दिया गया है; क्योंकि उसका भाव इस लेखमाला के कई स्थलों में आ चुका है।—ले०

पटना के अस्तंगत 'पाटलिपुत्र' पत्र के सहकारी सम्पादक रहे, जब कि शुरू-शुरू उसके प्रधान सम्पादक थे सुप्रसिद्ध विद्वान् बाबू काशीप्रसाद जायसवाल बार-एट-लॉ। उसके बाद गया की नामशेष मासिक पत्रिका 'लक्ष्मी' का सम्पादन-भार ग्रहण करके गया में एक-डेढ़ साल तक रहे। साथ-ही-साथ वहाँ की 'श्रीविद्या' नामक मासिक-पत्रिका का भी सम्पादन करते थे। वहाँ से पुनः आरा में आकर घर बैठे पटना की साप्ताहिक 'शिक्षा' का सम्पादन करने लगे।

आगरा के मासिक 'धर्माभ्युदय' के प्रथम अङ्क से ही पंडितजी ने सम्पादन आरंभ किया। उसमें आधा अंश गुजराती का भी रहता था। कुछ दिनों के बाद पंडितजी ने उसे सर्वाङ्ग हिन्दी-मय कर डाला। लगभग दो-ढाई साल उसका सम्पादन करके कलकत्ता की हरिदास-कम्पनी में चले गये। वहाँ भी दो-ढाई साल से ज्यादा न रहे। अंत में कलकत्ता के ही बर्मन प्रेस में जा पहुँचे। उस प्रेस के अध्यक्ष बाबू रामलाल वर्मा के साथ ऐसी घनिष्ठता हो गई कि अंत तक वहीं रहे, और उक्त वर्माजी ने इधर जब साप्ताहिक 'हिन्दूपंच' निकाला, तो एक वर्ष तक उसका झंडा ऊँचा करके उसी की सेवा में लगे रहकर—गत २२ जुलाई को कलकत्ता में ही अचानक चल बसे।

हाँ, वर्माजी के यहाँ काम करते हुए भी—उन्हीं की सलाह से—लगभग एक-डेढ़ साल तक कलकत्ता की 'माहेश्वरी-पंचायत' में २००) मासिक पर कुछ घंटे काम कर आया करते थे। अंधाधुंध कमाते थे और शाहखर्च भी परले सिरे के थे! आज अगर हाथ में सौ रुपये आ गये तो कल शायद ही टेंट में धेला भी बचे। खाने-पीने में बेतरह खर्च करते थे। चार-पाँच तरह की तरकारियाँ और तिलौड़ी-पापड़ के बिना चौका नहीं चेतते थे। सुबह से रात तक, मामूल भोजन के अलावा चार-पाँच बार डबल नाश्ता भी करते थे, सो भी तरह-तरह की चीजें—कभी रसगुल्ला, कभी सोहन-पापड़ी, कभी घासीराम के चने, कभी कचालू रसीला। बाजार में निकलते थे, तो जेब खाली करके ही घर लौटते थे। फल के बाजार से गुजरे तो अंगूर की पेटियाँ और संतरे-केले लिये बिना कहाँ चैन! रास्ते में सड़क पर चलते-चलते एकाएक खड़े हो गये—गुलाबी रेवड़ी खाने लगे, मूँगफलियाँ छील-छीलकर उड़ाने लगे, गँडेरी चूसने लगे, लेमनेड सोडा-वाटर की बोतलें ढालने लगे! विचित्र बाल-स्वभाव था।

कोई हित-मित्र खाने-पीने का निमंत्रण दे जाय, तो निश्चित समय से आध घंटा पहले ही उसके यहाँ जा धमकें। पाँत के इधर पत्तल में पूरियाँ पड़ीं, उधर आँखें बचाकर लुकमा उठा—अचार-मिठाई आते-आते तक यहाँ जय लक्ष्मी-नारायण! जैसी रसना तेज, वैसी ही लेखनी तेज, और स्मरण-शक्ति तो सबसे बढ़कर तेज—हर-एक मौके पर ऐसी-ऐसी फबती हुई सूक्तियाँ, चुभते चुटकुले और लटके-लतीफे सुनाते कि बस, तबीयत फड़क उठती थी। हँसाने के लिए एक-से-एक नुस्खे निकालते थे—न जाने कब की और कहाँ की सुनी याद रखते थे।

आरा में उन्होंने स्वयं एक मनोरंजन-नाटक-मंडली खोली थी, जिसमें अक्सर वे ही मज़ाक का पार्ट करते थे। उन दिनों उनके अभिनय का ऐसा गहरा रंग जमा कि लोग टूट पड़ते थे। एक बार आरा की 'नागरी-प्रचारिणी सभा' के वार्षिकोत्सव पर आपने स्वर्गीय पंडित शिवनाथ शर्मा ('आनन्द'-सम्पादक)-रचित 'नागरी-निरादर' नामक प्रहसन खेलवाया, और खुद उसमें मौलवी बने—हू-ब-हू खासे लखनवी उस्ताद! फिर तो मुशायरे में ऐसा लुत्फ़ दिखाया कि लोग लट्टू हो गये।

इधर कुछ दिनों से व्यंग्य-विनोद-भरे पद्य भी लिखने लग गये थे। कलकत्ता के 'मतवाला' में पहले बराबर हास्यरसात्मक गद्य-पद्यमयी रचनाएं लिखा करते थे। फिर तो 'हिन्दूपंच' द्वारा खूब ही खजाना खाली किया, और खजाना खाली होते ही संसार को भी खाली कर गये।

उनकी लिखी मौलिक पुस्तकों में श्रीरामचरित्र, सीता, सूर्योदय (नाटक), रँगीली दुनिया (नाटक), सिपाही-विद्रोह, पंचशर (गद्य-काव्य) आदि और अनुवादित पुस्तकों में अन्नपूर्णा का मन्दिर (बँगला से), इंदुमती (मराठी से), प्रेम-गंगा और प्रेमिका (अँगरेजी से), जल-चिकित्सा (बँगला से) आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। उनका बँगला-हिन्दी-कोष और पंजाब-हत्याकाण्ड का बँगला-अनुवाद उनके बँगला-ज्ञान के अच्छे नमूने हैं। गुजराती से अनुवादित पुस्तकें उनके नाम से नहीं, बल्कि दूसरे एक जैनी प्रकाशक के नाम से निकली हैं। अनुवादित पुस्तकों में अधिकतर बँगला के उपन्यास और गल्पें हैं। 'किन्नरी' आदि एक-आध नाटक भी हैं।

वे पद्य-रचना में भी एक प्रकार से सिद्धहस्त ही थे। उनके लिखे नीति-शिक्षापूर्ण सरस पद्यों का संग्रह 'सौरभ' नाम से छपा तो था; पर अप्रकाशित ही रह गया! पंजाब-हत्याकाण्ड का बँगला-अनुवाद भी छपकर अप्रकाशित ही रह गया। उनका नया लिखा हुआ 'मान-मर्दन' नाटक भी अभी तक अप्रकाशित ही है। हाँ, विनोद-व्यंग्यमयी पद्य-रचनाएँ 'चना-चबेना' के नाम से स्वयं उन्होंने ही प्रकाशित की थीं।

इधर पण्डितजी ने अपने एक पत्र में मुझे लिखा था—

"सुना है, 'सुधा' में एक स्तम्भ 'व्यंग्य-विनोद' का भी खुल रहा है। उसमें अब छूटकर लिखूंगा। पद्यबद्ध व्यंग्य-विनोद में खूब रसरंग बरसाऊँगा। पहला वार भारतीय युवकों के मार्ग-कंटक नेताओं पर, जो भारत की भोली-भाली जनता के भाग्य के ठेकेदार हैं। दूसरा वार धर्मग्रंथ-भारवाही शास्त्रियों पर, जिनके हाथ में समाज की नकेल है। तीसरा वार मोटरों पर मटरगश्ती करनेवाले—जनता के ईश्वर-प्रेरित प्रतिनिधि—लेकचरार देशभक्तों पर। इसी प्रकार समझ लो—लगातार लिखने का इरादा कर लिया है। अगर जेल में गया, तो सारी सोचावट वहीं लिपिबद्ध कर लूंगा। हाँ, 'देशबन्धु'[१] और 'अलीबन्धु'[२] के प्रति हिन्दुओं की ओर से एक 'अभिनन्दन-पत्र' भी

१. सुप्रसिद्ध नेता देशबन्धु चित्तरंजन दास।

२. खिलाफ़त-आन्दोलन में महात्मा गांधी के साथी मौलाना शौकत अली और मौलाना मुहम्मद अली।

लिखूंगा। वह तो निहायत दिलचस्प और पुर-मज़ाक़ होगा। 'सुधा' नई-नई निकलेगी, तो एक ओर जहाँ उसकी अन्य विशेषताओं की धूम मचेगी, वहाँ दूसरी ओर इससे भी खासी खलबली मचेगी। देखो, यह प्रोग्राम कहाँ पूरा होता है—"जेल में या मुकदमे के अनुकूल फैसले के बाद घर पर विश्राम-काल में।"

कृपया 'विश्राम' और 'काल' शब्द पर ध्यान दीजिए ! हा हन्त !!'

—मासिक 'सुधा' (लखनऊ); वर्ष १, खंड १, संख्या ३, आश्विन, ३०५ तुलसी-संवत् (१९८४ वि०), अक्टूबर १९२७ ई०

[७][2]

आरा-निवासी पंडित ईश्वरीप्रसादजी विलक्षण प्रतिभा लेकर संसार में आये थे। उनको लोग 'मनोरंजन-मूर्त्ति' कहा करते थे। यदि वे मनोरंजन-मूर्त्ति न होते तो अपनी ईश्वरदत्त प्रतिभा-शक्ति से हिंदी की बहुत अधिक सेवा कर सकते। किंतु उनका मन बड़ा तरंगी था, कहीं किसी काम पर ज्यादा देर तक टिकता ही न था। जितनी योग्यता और शक्ति ईश्वर ने उन्हें दी थी, यदि वे उनका ठीक उपयोग कर पाते, तो वे बहुत-कुछ कर जाते। पर अपनी सैलानी तबीयत और दोस्त-परस्ती की लत से लाचार थे। बिना हँसे-हँसाये उनका खाना नहीं हजम होता था। उनके साहित्यिक संगी-साथी यही देखकर चकित रहते थे कि दिन-रात इष्टमित्रों के यहाँ घूमते-फिरते रहने पर भी वे किस तरह लिखने-पढ़ने का समय निकाल पाते हैं। पर बात यह थी कि वे दो-चार घंटे में ही उतना लिख-पढ़ लेते थे, जितना हमलोग दिन-रात-भर में।

जब वे आरा में रहते, बैठकबाजी में ही दिन निकल जाता, हर घड़ी मित्र-गोष्ठी जमी रहती। शहर में निकल पड़ते, तो खास-खास दोस्तों के यहाँ चक्कर जरूर लगा आते। कहीं गपशप, कहीं हँसी-दिल्लगी, कहीं गाना-बजाना, कहीं कविता-पाठ। विशेषता यह कि गपशप और हँसी-दिल्लगी में भी साहित्यिक पुट खूब ! कहीं तो रसगुल्ले के साथ गुलछर्रे उड़ रहे हैं, कहीं ताश ही जम गया है। जिसके यहाँ पहुँच जाते, वह समझ जाता कि अब हँसी-मजाक के सिवा कोई जरूरी-से-जरूरी काम भी न हो सकेगा। अगर कोई कुछ लिख रहा हो और वे अचानक आ पहुँचे, तो कलम-दावात-कागज छीनकर अलग रख देंगे—'क्या जो है सो दिन-रात कलम-घिसघिस किया करते हो !' यदि वहाँ पोस्टकार्ड पड़े होंगे, देखते-देखते पाँच-छः चिट्ठियाँ लिख डालेंगे। कमीज-कुर्त्ते की जेब टटोलने लगेंगे, नौकर को पान और शरबत लाने के लिए बाजार भेज देंगे। आतिथेय मुँह ताकता रहेगा, अतिथि स्वयं अपने आतिथ्य का प्रबन्ध कर लेगा ! तकल्लुफ से कोई तअल्लुक नहीं। फिर थोड़ी देर में कहेंगे—'सड़क पर अभी आ रहा था, तो हलवाई

---

१. यह लेख 'शाकद्वीपीय ब्राह्मण-बन्धु' (बम्बई) के 'ईश्वरी-अंक' (वर्ष ३, अंक ५, कार्त्तिक, संवत् १९८४ वि०) में भी उद्धृत हुआ था।

२. इस लेख का शीर्षक था 'पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा'।

मिहीदाने के लड्डू बना रहा था, खूब सोंधी सुगन्ध उड़ रही थी!' मित्र का लड़का बगल में बैठा पढ़ रहा है, फट उसके आगे पड़ी किताब ले लेंगे—'जाओ, दूकानदार से कहना कि बाबूजी आध सेर ताजा लड्डू माँग रहे हैं।' बाबूजी बेचारे मुँह ताक रहे हैं और शर्माजी सिर हिला-हिलाकर हँस रहे हैं—'बहुत दिनों पर आज हाथ लगे हो यार!'

आरा तो शर्माजी का घर ही था, कलकत्ता और आगरा के प्रवास में भी मैंने उनका यही रवैया देखा। कलकत्ता में उनके साथ एक ही मकान में रहता था। आगरा और गया में भी उनके साथ दो-दो महीने रहने का अवसर मिला था। सर्वत्र के मित्रों से उनका एक ही तरह का व्यवहार था।

बर्मन प्रेस (कलकत्ता) में काम करते-करते फुर-से बाहर निकल गये। पहुँचे पंडित चन्द्रशेखर पाठक के घर। पाठकजी के घर की बनी पान की गिलौरियाँ और सुगंधित सुरती उन्हें बहुत पसंद थी। लेकिन उनके पहुँचते ही पाठकजी समझ जायँगे कि बाग-बाजार के रसगुल्लों के विना इन्हें गिलौरियाँ फीकी लगेंगी। वहाँ से उठकर पंडित रामगोविन्द त्रिवेदी वेदान्तशास्त्री के भारती-प्रेस में पहुँच जायँगे और तुरत गुलाबी कुल्फी का प्रस्ताव पेश कर देंगे। इसी प्रकार, किसी दिन 'मतवाला'-मंडल पर धावा बोलेंगे, किसी दिन श्रीमहादेव प्रसाद झुनझुनूवाला के 'भारत-पुस्तक-भंडार' पर, जो बड़तल्ला-मुहल्ले में उन दिनों साहित्यिकों का अड्डा-सा था। झुनझुनूवालाजी को शर्माजी अपना सिनेमा-थिएटर-एजेण्ट कहा करते थे। जिस दिन भारत-पुस्तक-भंडार में भीमचन्द्र नाग की दूकान के मीठे 'संदेस' उड़ते, उस दिन सिनेमा-थिएटर का प्रोग्राम जरूर ही बनता—यह निश्चित-सा था।

ऑफिस-टाइम के बीच में ही प्रतिदिन एक-दो घंटे के लिए बाहर निकल पड़ते थे। नौकरी के बंधन की परवा कभी की ही नहीं। कहा करते, 'रोज जेब में त्यागपत्र लेकर ऑफिस जाता हूँ!' ऑफिस जाने पर झटपट अपना काम कर लेते और जाकर श्रीरामलाल वर्मा के पास गपशप करने लगते। उनके यहाँ थोड़ी देर हँस-बोलकर पंडित नरोत्तम व्यास के पास जा बैठते, फिर श्रीकार्त्तिकेयचरण मुखोपाध्याय से छेड़-छाड़ करने पहुँच जाते। उनके आ जाने पर अगर आगे पड़ा काम न छोड़ा जाय, तो कलम छीनकर आलमारी के ऊपर रख देंगे और दावात मेज के नीचे! वर्माजी प्रायः कहते रहते—'तुम न खुद काम करते हो, न दूसरों को करने देते हो'—पर वे वर्माजी की बात सुन-सुनकर केवल मुस्कुराया करते। वर्माजी भी विवश थे—समझ न पाते कि हर घड़ी हँसने-हँसाने में लगे रहने पर भी किस प्रकार ये अपना सारा काम निबटा लेते हैं।

काम तो कैसा भी हो, वे उसे उँगलियों पर नचा डालते थे। जब लिखने लगते, लेखनी में बिजली की तेजी रहती, शब्द और भाव मानों हाथ जोड़े खड़े रहते, एक शब्द भी काटते नहीं, अक्षर भी खूब सुडौल, मोती पिरोने में वैसा हस्तलाघव कभी देखा नहीं।

दिल्ली की काँगरेस में अमर शहीद श्रीगणेशशंकरजी विद्यार्थी ने कहा—'तुम्हें आगरा से दिल्ली आने के लिए इसी कारण पत्र लिखा था कि पूरी-पूरी रिपोर्ट 'प्रताप' को

मिल जायगी ।' वही हुआ भी । शर्माजी ने सभी नेताओं के भाषण लिख डाले । तारीफ यह कि बैठे थे हमलोगों के साथ प्रतिनिधियों के 'ब्लॉक' में और अँगरेजी के भाषणों का भी सारांश लिखते चले जाते थे ।

'हिन्दूपंच' (कलकत्ता) का सम्पादन करते समय जब जेल जाना पड़ा, जेलखाने से ही अपने मुकदमे का 'ब्रीफ' अँगरेजी में लिख भेजा, जिसे देखकर प्रभात बाबू बारिस्टर ने सहसा प्रश्न किया—'यह किस बारिस्टर का लिखा हुआ है ?' पर जब कहा गया कि स्वयं सम्पादक ने ही लिखकर भेजा है, तब प्रभात बाबू विस्मय-विस्फारित नेत्रों से 'ब्रीफ' देखकर दंग रह गये ।

सन् १९२६ ई० में श्रीबेनीपुरीजी ने कलकत्ता पहुँचकर उनसे अनुरोध किया कि 'मेरी कॉरेली' के लिखे 'थेल्मा' उपन्यास का अनुवाद कर दें । अँगरेजी की किताब भी खरीदकर उन्हें दे आये । मगर टाल-टूल करते-करते शर्माजी ने हफ्तों बिता दिया । एक दिन मैंने तकाजा किया तो कहने लगे—'अभी मौज नहीं आती, देखा जायगा ।' जब मैं कई दिन बार-बार याद दिलाने लगा, तब अनायास झक में आकर बोल उठे—एक पखवारे में पूरी प्रेस-कॉपी जरूर दे दूँगा । सचमुच वैसा ही किया । पूरी पुस्तक का अनुवाद रातों-रात रगड़कर रख दिया[1] ।

'पंजाब-हत्याकांड'-जैसी मोटी पुस्तक का बँगला-अनुवाद एक ही महीने में करके श्रीनिहालचन्द्र वर्मा (कलकत्ता) को दे डाला । 'बँगला-हिन्दी-कोष'[2] उनके तीन ही महीने के परिश्रम का फल है । यह परिश्रम भी कभी लगातार नहीं होता था—रोज एक-दो घंटे के हिसाब से चलता था; क्योंकि बीच-बीच में उन्हें चुहलबाजियों के अवसर चाहिए ही थे ।

आगरा-प्रवास में भी मासिक 'धर्माभ्युदय' का सम्पादन और प्रकाशन हँसी-खेल में ही करते थे । कभी पण्डित बदरीनाथ भट्ट आ गये, तो सारा दिन साहित्यिक हास्य-विनोद में ही बीत गया । कभी श्रीमहेन्द्रजी (वर्त्तमान 'साहित्य-सन्देश'-संचालक) आदि मित्रों के साथ ताजमहल, आगरा-दुर्ग, सिकन्दरा, शिवपुरी, इस्तमादुद्दौला का मकबरा आदि की ओर निकल गये । सैर-सपाटे में, तरह-तरह की अच्छी चीजें खाने में, मेले-तमाशे में, मित्रों को अदबदाकर छेड़ते फिरने में उन्हें बड़ा सुख मिलता था । जब प्रेस के गुजराती मैनेजर श्रीप्राणशंकरजी 'धर्माभ्युदय' के मैटर के लिए तकाजा करने लगते थे, तब बस एक-दो दिन में ही अथ से इति तक सारा मैटर तैयार कर दे देते थे । रचनाओं का संशोधन इतनी दक्षता से करते थे कि साधारण रचना भी रोचक बन जाती थी । प्रूफ के संशोधन में भी उतने ही पटु थे । मेज पर गड्ड-के-गड्ड प्रूफ पड़े रहेंगे, जहाँ लेखनी हाथ में ली कि मेज साफ !

---

१. यह अनुवादित पुस्तक 'प्रेमिका' नाम से पुस्तक-भंडार, पटना द्वारा प्रकाशित है ।
२. यह कोष हरिदास एण्ड कम्पनी (कलकत्ता) से प्रकाशित हुआ था ।

कई काम एक साथ ही करते थे, तब भी फुर्ती और हाथ की सफाई वैसी ही रहती थी। कम्पोजिटर और मशीनमैन उनकी विचित्र शक्ति देख चकित-स्तम्भित रहते थे। किसी का हाथ रुकने नहीं पाता था। कॉपी और प्रूफ के संशोधन के साथ-साथ अँगरेजी या बँगला से अनुवाद भी करते जाते थे, अखबार के लिए अग्रलेख और टिप्पणी लिखकर भी देते जाते थे, और यह सब काम करते हुए ही कविता-गान भी करते रहते थे!

कविताएँ असंख्य कंठस्थ थीं। जी चाहे ब्रजभाषा की सुन लीजिए, खड़ीबोली की, उर्दू की, बँगला की, संस्कृत की, चाहे जो फरमाइश कीजिए। 'प्रियप्रवास' और 'भारत-भारती', 'वीर-पंचरत्न' और 'त्रिशूल-तरंग', 'जयद्रथ-वध', और 'रंग में भंग'—ये काव्य-ग्रंथ जिन दिनों प्रकाशित हुए थे, शर्माजी इनके अनेक पद्य उठते-बैठते और चलते-फिरते भी गुनगुनाया करते थे। लाला भगवान दीनजी ने उनकी पीठ ठोंकते हुए कहा था—'वीर-पंचरत्न' की रचना करते समय मुझे उतना आह्लाद नहीं हुआ था, जितना तुम्हारे मुख से उसे सुनकर हो रहा है। तुम अपनी ओजस्विनी पाठ-शैली से पद्यों में जान डाल देते हो।''

'प्रिय-प्रवास' और भारत-भारती' के भी कई सर्ग कण्ठाग्र थे। जिस रस की कविता सुनाते थे, अपनी भाव-भंगी और स्वर-लहरी से उस रस का रूप खड़ा कर देते थे। लौकिक व्यवहार का कोई ऐसा प्रसंग नहीं, जिसके अनुकूल संस्कृत के श्लोक और उर्दू के शेर उन्हें याद न हों। हर मौके पर फिट होनेवाली सूक्तियाँ सुन लीजिए, किस्से और लटके-लतीफे सुन लीजिए; वैसा हर-फन-मौला अब कोई नजर नहीं आता!

उर्दू का 'अलिफ-बे' भी नहीं जानते थे, मगर उर्दू-शब्दों का उच्चारण इतना चुस्त-दुरुस्त होता कि पूरे मौलाना जान पड़ते। आरा में उन्होंने 'मनोरंजन-नाटक-मंडली' स्थापित की थी। उसके द्वारा 'सत्यहरिश्चन्द्र', 'मयूरध्वज' आदि कई नाटक अभिनीत हुए थे। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में उन्होंने डोम का स्वांग धारण किया था और 'मयूरध्वज' में भगवान श्रीकृष्ण का। उनका अभिनय-कौशल जिसने देखा है, वही कह सकता है कि वे कैसे स्वाभाविक अभिनेता थे। एक बार 'नागरी-निरादर'-नामक प्रहसन खेला गया, जिसमें वे मौलाना के वेश में रंगमंच पर उतरे थे। उनकी जबानदानी ने बड़े-बड़े मौलवियों को भी हैरत में डाल दिया। 'पारिजात' के संचालक पण्डित रामदहिन मिश्रजी उनको मौलाना की भूमिका में देखकर हँसते-हँसते लोट गये थे। तारीफ यह कि नाटक के रिहर्सल (अभ्यास) में वे प्रायः अपना पार्ट अदा नहीं करते थे; किन्तु रंगशाला में जब उनका जोहर खुलता था, दर्शक मुग्ध और स्तब्ध हो जाते थे। अभिनय का अभ्यास कराते समय वे स्त्री-पात्रियों को भी बड़े ठिकाने से भाव-भंगिमा सिखाते थे, गानों का तर्ज भी वही ठीक करते थे, वेशभूषा की सजावट खुद ही करके अभिनेताओं को रंगमंच पर भेजते थे।

नाटक खेलने और देखने के वे बड़े शौकीन थे। कलकत्ता में रोज नाटक देखते थे। स्टार-थिएटर में 'कृष्णार्जुन' और मनमोहन थिएटर में 'सीता' लगातार सालभर

देखते रहे, कभी नागा न किया। ऑफिस से आने के बाद का वही बँधा प्रोग्राम था। निबट-नहाकर नाटक देखने चले, जेबों में मूँगफली और सूखे मेवे भर लिये। रास्ते में कहीं मीठे बिस्कुट पर मन चल गया, कहीं कचालू रसीला चखने लगे, कहीं ईख की गड़ेरियाँ चूसने लग गये, कहीं छिले कसेरू और सिंघाड़े जेब में भर लिये। जब नाटकाभिनय के बीच में अवकाश हुआ, नमकीन तिकोने समोसे की तलाश करने लगे, और ऊपर से पानी की जगह संतरे का शरबत तो चाहिए ही! पैसे को ठीकरा कर देने में तनिक भी हिचक नहीं!

कलकत्ता-प्रवास में मैंने देखा, किसी-किसी महीने में पाँच-सात सौ रुपये कमा लेते थे। कविराजों के सूची-पत्रों के हिन्दी-अनुवाद से काफी रकम आती थी। मगर अंटी में छदाम का नाम नहीं। न अभाव कभी दूर हुआ और न उन्हें कभी खला। भला अभाव अखरता ही क्यों, जब मित्रों और परिचितों के पैसे भी उनके अपने ही पैसे थे। मित्रों के साथ अपने-पराये पैसे का भेद नहीं रखते थे। ट्राम-टैक्सी के भाड़े में, सिनेमा-थिएटर के टिकट में, कभी मित्रों के आर्थिक सहयोग की प्रतीक्षा नहीं करते थे। घर से जेब भरकर निकलेंगे और लौटेंगे खाली हाथ! आपस में लेन-देन का हिसाब-किताब रखते ही न थे। रुपये-पैसे, चाहे मित्र के हों या उनके अपने, खर्च में कुछ भी शील-संकोच नहीं। न अपना जुगाना जानते थे, न मित्र का झूँसना। जबतक पाकेट गरम है, गंगा की अखंड धारा बहती रहेगी। बाजार में निकलने पर पैसे त्राहि-त्राहि पुकारने लगते थे। चीजें खरीदने से उनका जी न भरता था। खाने-पीने और पहनने की महँगी-से-महँगी चीज भी खरीदे विना न मानते। अपनी चार कन्याओं के लिए प्रतिदिन कुछ-न-कुछ खरीद लाते।

धनी घरानों में लड़कों का भी वैसा लाड़-प्यार न होता होगा, जैसा वे लड़कियों का करते थे।

कभी हाथ रोकने पर झट कह बैठते, 'वर्त्तमान हमारा है, भविष्य भगवान का।'

आद्याशक्ति के वे उपासक थे। दुर्गासप्तशती के अनेक प्रकरण जिह्वाग्र। मुस्कुरा-मुस्कुराकर ललित कंठ से स्तोत्रों का पाठ सुनाने लगते तो तन्मय हो जाते। उनके पिता बहुत अच्छे तांत्रिक थे और उनके चाचा भी। बचपन में ही वे मातृ-पितृ-विहीन हो गये। पर उनके चाचा तो पिता के भी कान काटते थे। उनके मरने पर उनके शोकाकुल चाचा अधिक दिन जी न सके। उनके बड़े चचेरे भाई पंडित गुरुदेवप्रसाद मिश्र भी उन्हें पुत्रवत् मानते रहे। आज भी इन्हीं के साथ उनकी पत्नी रहती हैं। ये बड़े अनुशासन-प्रिय व्यक्ति हैं और कई सरकारी स्कूलों के हेडमास्टर रह चुके हैं। इनके अनुशासन का आतंक उनपर इतना अधिक था कि इनके सामने न कभी बैठते थे और न बोलते-बतियाते थे। इन्हें देखते ही उनकी जबान बंद हो जाती थी। राम-लक्ष्मण का-सा भाई-चारा था। वैसा अदब-लिहाज, वैसी श्रद्धा-भक्ति और वैसा वात्सल्य स्नेह अब क्वचित्-कदाचित् ही देख पड़ता है। वे हमेशा भायप निबाहने का खयाल रखते थे।

इसीलिए उनका पारिवारिक जीवन बहुत सुखमय था, सामाजिक जीवन तो उनकी मिलनसारी से सुखमय था ही।

उनके चाचा प्रायः कहा करते थे—'हमारे 'दीनानाथ'[1] के पिता एक सिद्ध पुरुष थे। उन्हींके पुण्य-प्रताप से 'दीना' ने ऐसी शक्ति और कीर्त्ति पाई है। भलुहीपुर (आरा) के डिप्टी संतप्रसाद उनके अनन्य भक्त और शिष्य थे। डिप्टी साहब की सन्तति-वृद्धि के लिए उन्होंने कठोर अनुष्ठान किया था।[2] उन्हींके आशीर्वाद से 'दीना' पर जगदम्बा की इतनी कृपा है।"

जगदम्बा की कृपा में शर्माजी का दृढ़ विश्वास था। जब कहीं से नई आमदनी होती थी, जगदम्बा के दर्शनार्थ कालीघाट (कलकत्ता) अवश्य जाते थे। 'रामचरित्र'-नामक बृहत् ग्रंथ के प्रकाशित होने पर बनैली-नरेश राजा कीर्त्यानन्द सिंह बहादुर ने उन्हे एक हजार रुपये सम्मान-पुरस्कार दिये थे; क्योंकि वह ग्रंथ राजाबहादुर को ही समर्पित हुआ था। उस समय शर्माजी ने विशेष रूप से जगदम्बा की आराधना की थी। इससे आजकल के लोग समझेंगे, वे पुराने खयाल के आदमी थे। मगर खयाल तो उनके बावन तोले पाव रत्ती नये युग के ही अनुकूल थे। सिर्फ आस्तिकता और श्रद्धा-निष्ठा ही पुरानी थी; क्योंकि वह वंश-परम्परागत संस्कृति थीं।

उनके नये विचार उनकी सभी रचनाओं में स्पष्ट झलकते हैं। उनकी लिखी और सम्पादित तथा अनुवादित पुस्तकों की संख्या लगभग डेढ़ सौ है। इनके अतिरिक्त लगभग डेढ़-दो दर्जन पुस्तकें उन्होंने दूसरों के नाम से या दूसरों के लिए लिखी हैं। अखबारों और साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में जो अनेक रचनाएँ छप चुकी हैं, वे अलग हैं। उनके समय के किसी बिहारी लेखक ने उनकी बराबरी में लेख, कविता या पुस्तक नहीं लिखी। गद्य के तो वे लब्धकीर्त्ति लेखक थे ही, पद्य भी उतनी ही फुर्ती से रचते थे। उनके पद्य अधिकतर व्यंग्य-विनोदपूर्ण होते थे, यों तो कितने ही स्वागत-गान, नाटकीय गीत, पद्यबद्ध अभिनन्दनपत्रादि उनके लिखे हुए हैं; पर 'मतवाला' और 'हिन्दूपंच' के सिवा उनके पद्य अन्य पत्र-पत्रिकाओं में कभी प्रकाशित न हुए। उनके हास्यरसात्मक पद्यों का संग्रह मैंने कलकत्ता-प्रवास के समय प्रकाशित किया था—'चना-चबेना', जिसमें फिर दूसरे संग्रह (कचालू रसीला) के प्रकाशन की भी सूचना दी गई थी; पर उनके असामयिक निधन से अनेक पद्य पड़े रह गये। उनकी अनेक स्फुट रचनाएँ बहुत ही सुन्दर हैं—गद्य और पद्य दोनों; किन्तु अब इस युग में उन पुरानी चीजों का मूल्य आँकनेवाले गुणग्राही बहुत कम हैं। नहीं तो उनकी केवल मौलिक रचनाएँ ही एक बृहत् ग्रंथावली के लिए पर्याप्त हैं।

उनकी चिट्ठियाँ भी बहुत मजेदार होती थीं। यदि उनका संग्रह प्रकाशित हो तो साहित्य की एक अनूठी चीज होगी। प्रतिदिन दस-बीस चिट्ठियाँ लिखा करते थे।

१. यही उनका प्यारा घरेलू नाम था। घर और पड़ोस के लोग 'दीना' ही कहते थे।
२. जस्टिस सुखदेवप्रसाद वर्मा (पटना हाईकोर्ट) उन्हीं डिप्टी साहब के सुपुत्र थे। —ले०

कभी किसी छुट्टी के दिन एक-एक पैकेट पोस्टकार्ड और लिफाफे लिख भेजते थे। उस समय हिन्दी-संसार के सभी प्रसिद्ध लेखकों और सम्पादकों से उनका परिचय और पत्राचार था। उनके पास साहित्यिकों की चिट्ठियों का जो मूल्यवान् संग्रह था, उसकी रक्षा न हो सकी।

उनके पास पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं का भी बहुत अच्छा संग्रह था; पर उस दर्शनीय संग्रह की भी रक्षा न हो सकी, जिसके कई अनिवार्य कारण हैं। जिस पुस्तक की ख्याति सुन पाते थे, शीघ्र खरीद लाते थे। मुफ्तखोर पाठक वे नहीं थे। कलकत्ता में सभी बँगला-पत्रों के विजयांक हर साल खरीदते थे और अँगरेजी-पत्रों के भी। छुट्टियों के दिन पुरानी पुस्तकों की दूकान पर जाकर दो-दो घंटे चुनाव करते थे। एक बार 'पियर्सन्स मैगजिन' के पुराने अङ्क उठा लाये। उनमें कुछ कहानियाँ पसंद आ गईं। दस-पन्द्रह दिनों में ही उनका अनुवाद कर 'प्रेम-गंगा'-नामक पुस्तक तैयार कर ली, जो लखनऊ की गंगा-पुस्तकमाला में प्रकाशित और बनैली-राज्य के कुमार रमानन्द सिंह को समर्पित हुई, जिसके लिए कुमार साहब ने आदरपूर्वक बुलाकर पाँच सौ रुपये दिये।

उन्हें जहाँ कोई चीज जँच गई; झट उसे हिन्दी में ले लेते थे। अनुवाद करने में तो अगिया-बैताल थे। निरुपमा देवी का 'अन्नपूर्णा-मन्दिर' (उपन्यास) और क्षीरोद-प्रसाद विद्याविनोद का 'किन्नरी' (नाटक) एक साथ खरीद लाये। दोनों को दो रात जगकर पढ़ डाला और एक-एक सप्ताह में ही दोनों का अनुवाद निबटा डाला। एक बार लिख जाने पर फिर कभी दुहराते न थे। कभी-कभी मुझे पढ़ने के लिए देते थे। जो कुछ लिखते थे, पहली ही बार, नकल करने-कराने की जरूरत नहीं पड़ती थी, फिर भी लिखावट की सफाई देखकर दंग रह जाना पड़ता था। वैसा मश्क कलम का धनी बिहार में पैदा हो गया, नहीं तो उसकी कीर्त्ति लुप्त न हो पाती।

—त्रैमासिक 'पारिजात' (पटना); फरवरी १९४६ ई०

'प्रणवीर'-सम्पादक श्रीराधामोहन गोकुलजी

विक्रम-संवत् १९२२ के पौष-मास की त्रयोदशी को, अवध-प्रान्त के गोपालगंज (प्रतापगढ़) में, सिंहल-गोत्री अग्रवाल-वंश के श्रीलाला गोकुलचंदजी के घर में, आपने जन्म-ग्रहण किया।

बारह वर्ष की अवस्था तक आपने कानपुर में रहकर साधारण भाषा-ज्ञान के साथ-साथ महाजनी बही-खाता एवं हिसाब-किताब की शिक्षा प्राप्त की, पश्चात् अँगरेजी की शिक्षा-प्राप्ति के लिए आप आगरा गये। वहाँ बाल्यावस्था में ही विवाह के बन्धन में जकड़ जाने के कारण यद्यपि आप अधिक समय तक अध्ययन न कर सके, तथापि आप हताश नहीं हुए।

आगरा छोड़कर गृहस्थ-जीवन व्यतीत करते हुए भी आपने प्रवेशिका (एण्ट्रेन्स)-परीक्षा पास ही कर ली। यद्यपि अँगरेजी में आपने प्रवेशिका-परीक्षा ही पास की है, तथापि योग्यता में ग्रेजुएट भी आपका लोहा मानते हैं। अँगरेजी के अलावा उर्दू का भी आपको अच्छा ज्ञान है। छात्रावस्था में आप उर्दू की कविताएँ बनाने के भी शौकीन थे। हिन्दी के तो आप पूर्ण विद्वान हैं।

सन् १८८९ ई० में श्री पं० प्रतापनारायण मिश्र की सुसंगति से आपको हिन्दी-कविता करने का भी शौक हो गया। कविता-सम्बन्धी कई अच्छी पुस्तकें लिखकर आप प्रकाशित करा चुके हैं। आपने हिन्दी में अभी तक लगभग पन्द्रह पुस्तकें लिखी हैं और पाँच या छः पत्रों का सम्पादन किया है।

आगरा में एक बार स्वामी दयानन्द सरस्वती से आपकी भेंट हुई थी। आप पक्के आर्य्यसमाजी हैं। समाज-सुधार-सम्बन्धी अपने विचारों की पुष्टि के लिए आपने 'सत्य-सनातन धर्म' नाम का एक पत्र भी निकाला था। विचार आपके प्रौढ़ हैं। पहली ही मुलाजमत के समय स्मिथ नामक एक अँगरेज से आपकी खटपट हो गई। आपके हृदय में आत्माभिमान जाग्रत हुआ और आपने न केवल सरकारी मुलाजमत को ही अन्तिम नमस्कार कर लिया, प्रत्युत बड़े-बड़े अफसरों द्वारा प्राप्त प्रमाणपत्रों को भी फाड़कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया। उस समय आपकी आयु केवल बीस वर्ष के करीब थी। उसी समय से नौकरशाही के प्रति आपके हृदय में घृणा उत्पन्न हुई, जो उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है। उसी समय से आप राष्ट्रीय-काँगरेस-आन्दोलन में भाग लेने लगे। राजनीति में आप लोकमान्य तिलक को अपना गुरु मानते हैं; किन्तु साथ ही महात्मा गांधी पर भी आपकी पूरी श्रद्धा है।

आप प्रारम्भ से ही बड़े कार्यशील हैं। जिस काम में आप लगते हैं, पूरे उत्साह के साथ लगते हैं। 'नीतिदर्शन' और 'देश का धन' नाम की पुस्तकें एवं 'विज्ञान' आदि पत्र आज भी आपके गौरव को बढ़ा रहे हैं।

सन् १९०६ ई० में आप आगरा में स्वदेशी-आन्दोलन का कार्य करते थे। उसी समय आप पर सरकार की कड़ी नजर पड़ी। विद्यार्थियों को मुफ्त आर्थिक सहायता देने के रूप में अबतक आप कुछ-न-कुछ करते ही रहते हैं।

कलकत्ता और नागपुर में काँगरेस-द्वारा महात्माजी का असहयोग-कार्यक्रम स्वीकृत हो जाने पर नागपुर में 'असहयोग आश्रम' की स्थापना हुई। महात्मा भगवानदीनजी और श्रीसुन्दरलालजी जब गोरी सरकार के मेहमान बन गये, तब अन्त में आपसे आश्रम का कार्य-भार सँभालने की प्रार्थना की गई। आपने कहा—'यद्यपि मैं शरीर से बहुत अशक्त हो गया हूँ, तथापि राष्ट्राज्ञा का पालन करने के हेतु मैं चलता हूँ।' उसी समय से आप 'समाजसेवक' का सम्पादन भी करने लगे। 'समाजसेवक' बन्द हो जाने पर 'प्रणवीर' प्रकाशित किया गया, तो उसके सम्पादक भी आप ही हुए।

आपको नागपुर में कार्य करते पूरे चार मास भी न होने पाये थे कि सरकार ने आपको गिरफ्तार कर लिया। उस समय आपने जो बयान दिया था, उस बयान के अक्षर-अक्षर में देशभक्ति एवं जोश की झलक पाई जाती है। मुक्त होने पर आपने अपने स्वभावानुसार पुनः पहले से भी अधिक जोश के साथ कार्यारम्भ कर दिया। फिर आगरा के मिल-मजदूरों के संगठन की ओर आपका ध्यान गया। मजदूरों और मिल के संचालकों ने सरकारी अफसरों का कहना न मानकर आपका कहना माना। तब तो सरकारी कर्मचारी बड़े क्रुद्ध हुए। फलतः आप गिरफ्तार कर लिये गये। आपको पुनः एक वर्ष की सख्त सजा दे दी गई। उस समय भी आपने जो बयान दिया, वह बड़ा महत्त्वपूर्ण है। बयान में वर्त्तमान भारत-सरकार को ईश्वरीय नियमों के विरुद्ध चलनेवाली बताते हुए उसके विरुद्ध अप्रीति का प्रचार करना आपने अपना कर्त्तव्य बताया।

आपका अबतक का जीवन-चरित्र स्वदेश-प्रेम, स्वदेश-सेवा एवं कष्ट-सहन का एक ऐसा उत्कृष्ट एवं सजीव उदाहरण है, जो स्वदेश-सेवा की भावना रखनेवाले किसी भी देश-भक्त नवयुवक के कर्त्तव्य-पथ में सहायक हो सकता है।[1]

—साप्ताहिक 'मतवाला' (कलकत्ता); वर्ष १, संख्या २८, फाल्गुन कृष्ण ११, १९८० वि०, शनिवार, १ मार्च, १९२४ ई०

'मतवाला'-सम्पादक महादेवप्रसाद सेठ

सन् १९२० ई० में महात्मा गान्धी के असहयोग-आन्दोलन की आँधी उठी। उस समय मैं आरा (बिहार) के टाउन-स्कूल में हिन्दी-शिक्षक था। मैं भी असहयोगी खद्दरधारी होकर हाइस्कूल से निकला और नये स्थापित राष्ट्रीय विद्यालय में हिन्दी-शिक्षक हो गया। उसमें भी असहयोगी विद्यार्थी ही अधिक थे।

---

१. जब मैं 'मतवाला-मण्डल' (कलकत्ता) के सम्पादकीय विभाग में काम करता था, तब श्रीराधामोहन गोकुलजी 'मतवाला-मण्डल' में प्रायः नित्य आते थे। मुन्शी नवजादिक लाल श्रीवास्तव से आपकी बहुत पुरानी जान-पहचान थी। जब मुन्शीजी साप्ताहिक 'वीर भारत' (कलकत्ता) के सम्पादक थे, तब आप उसमें बड़े जोशीले लेख लिखा करते थे। विधवा-विवाह के आप बड़े पक्षपाती थे। कई विधवाश्रमों और अनाथालयों की सेवा-सहायता में आप बराबर तत्पर रहते थे। शुद्धि और अछूतोद्धार के आन्दोलनों में आपका निरंतर सक्रिय सहयोग रहा। बहुत-वृद्ध होने पर भी आप सभा-सम्मेलनों में अत्यन्त निर्भीकता से उत्तेजनापूर्ण भाषण करते थे। अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में अपनी लेखनी और वाणी से आपने हिन्दू-संगठन का काम बड़े उत्साह से किया था। गोरी नौकरशाही के प्रति आपके उद्धत विचारों को सुनकर बार-बार यह आशंका होती थी कि आप कब कहाँ गिरफ्तार हो जायँगे, कुछ ठीक नहीं। पुलिस और जेलखाने के अधिकारी आपको 'बहुत खतरनाक' समझते थे। जेल से छूटते समय आप स्पष्ट कह दिया करते थे कि हमारा स्थान सुरक्षित रखना, हम फिर शीघ्र ही आयेंगे। वैसे निडर लेखक, वक्ता और सम्पादक उस समय हिन्दी-संसार में कम ही लोग थे।—लेखक

उक्त टाउन स्कूल में एक मारवाड़ी नवयुवक हरद्वारप्रसाद जालान मैट्रिक क्लास में पढ़ते थे। उनको मैं स्कूल के सिवा घर पर भी पढ़ाता था। वे बड़े धनी घराने के थे। उन्होंने 'मारवाड़ी-सुधार-समिति' नामक एक संस्था कायम की थी। उसकी ओर से एक सचित्र मासिक पत्र (मारवाड़ी-सुधार) उन्होंने निकालना चाहा। मैंने छः महीने तक राष्ट्रीय विद्यालय में पढ़ाकर उक्त पत्र का सम्पादन-भार ग्रहण कर लिया।

उन दिनों आरानिवासी सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी पण्डित ईश्वरीप्रसाद शर्मा कलकत्ता के नामी प्रकाशक श्रीरामलाल वर्मा के यहाँ काम करते थे। उन्होंने पत्र की छपाई के लिए बालकृष्ण प्रेस से बातचीत की। सब बातें तय होने पर मैं कलकत्ता चला गया और वहीं रहकर पत्र छपवाने लगा।

बालकृष्ण प्रेस के मालिक महादेवप्रसाद सेठ ही थे। उनके साथ मुन्शी नवजादिक लालजी श्रीवास्तव भी रहते थे। पर मुन्शीजी पटना-सिटी-निवासी किशोरीलाल चौधुरी के 'भूतनाथ'-कार्यालय के मैनेजर थे। यह कार्यालय मछुवाबाजार में था, जहाँ सुगन्धित तेल और साबुन का रोजगार होता था। वहाँ मुन्शीजी की बड़ी प्रतिष्ठा थी!

बालकृष्ण प्रेस उस समय विद्यासागर-कॉलेज के पिछवाड़े शंकरघोष लेन (नं० २३) में था। प्रेस के मकान के एक अंश में विवेकानन्द-सोसाइटी के कुछ संन्यासी रहते थे। उन लोगों के साथ 'निराला' जी भी रहा करते थे। वे 'समन्वय' नामक मासिक पत्र का सम्पादन करने के लिए पूज्य आचार्य महावीरप्रसादजी द्विवेदी की प्रेरणा से आये थे।

'मारवाड़ी-सुधार' लगातार दो साल तक निकलता रहा। मैं उसके सम्पादन और प्रकाशन के कार्य से अवकाश पाकर मारवाड़ी-समाज के केन्द्र-स्थलों में भी जाता था। इस प्रकार दो वर्ष की अवधि में राजस्थान, इन्दौर, बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, कानपुर, भागलपुर, मुजफ्फरपुर, झरिया, रानीगंज आदि अनेक स्थानों की यात्रा करनी पड़ी। संरक्षकों और ग्राहकों की संख्या काफी बढ़ी।

जब अखिलभारतीय मारवाड़ी-अग्रवाल-महासभा का मासिक मुखपत्र 'मारवाड़ी अग्रवाल' कलकत्ता से निकलने लगा, तब निश्चय किया गया कि 'मारवाड़ी-सुधार' बन्द कर दिया जाय; क्योंकि एक ही उद्देश्य के दो अलग-अलग पत्रों की आवश्यकता नहीं है। पत्र बन्द होने पर महादेवप्रसादजी सेठ ने मुझसे अपने प्रेस में रहने के लिए साग्रह अनुरोध किया। दो वर्ष मेरा परिश्रम देखकर उन्हें सन्तोष हुआ था। मेरे मन में भी साहित्य-सेवा की लगन थी।

उन दिनों 'अवतार' नामक हास्य-रसात्मक बँगला-साप्ताहिक निकलता था। मुन्शीजी उसके नियमित पाठक थे। उसीको देखकर सेठजी ने हिन्दी में एक व्यंग्यविनोद-पूर्ण साप्ताहिक पत्र निकालने का विचार किया। मुन्शीजी और निरालाजी से भी उन्होंने सलाह की। दोनों की राय से बात पक्की हो गई। पत्र का नाम चुना गया

'मतवाला' और उसका अधिकांश भार मुझे सौंपा गया। इस तरह सेठजी ने मेरे लिए साधन जुटाया।

सेठजी मिर्जापुर (उत्तरप्रदेश) के एक धनाढ्य खत्री-परिवार के सदस्य थे। उनके घराने में पत्थर का रोजगार बहुत दिनों से होता था। कलकत्ता-नगर में उस समय केवल उन्हीं का घराना पत्थर का एकमात्र व्यापारी था। नीबूतल्ले में गद्दी या आढ़त थी। संभवत: अब भी है। परिवार उनका बहुत बड़ा और सम्मिलित था। सब लोग वंशानुगत व्यवसाय में ही व्यस्त रहते थे। किन्तु सेठजी का मन उस धन्धे में नहीं लगता था।

सेठजी जब नवयुवक थे, उनका एक लेख द्विवेदी-युग की 'सरस्वती' में छपा था। छात्रावस्था से ही वे हिन्दी के अनन्य प्रेमी थे। अपने अभिभावकों की इच्छा के विरुद्ध वे घर से निकल पड़े। सबसे पहले वे प्रयाग गये। वहाँ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में श्रीपुरुषोत्तमदासजी टण्डन से मिले और साहित्य-सेवा का कोई काम देने के लिए निवेदन किया। टण्डनजी ने उनकी हिन्दी-सेवा की श्रद्धा और उमंग देखकर पन्द्रह रुपये मासिक वेतन का एक काम उन्हें सौंपा। उस समय वही सुलभ था।

जब सेठजी के परिवार में यह संवाद पहुँचा कि वे पन्द्रह रुपये पर नौकरी कर रहे हैं, तब उन्हें घर बुलाकर गुरुजनों ने समझाया कि अपना चमका हुआ व्यापार छोड़कर यदि हिन्दी का ही काम करना है; तो कुल-परम्परागत प्रतिष्ठा के अनुकूल कुछ करो। उसके बाद वे कलकत्ता चले आये और अपने घराने की गद्दी से कई हजार की पूँजी लेकर पुस्तक-प्रकाशन का श्रीगणेश किया। मुन्शी नवजादिकलाल श्रीवास्तव से उनकी मैत्री हो गई। दोनों साथ ही रहने लगे। खान-पान सम्मिलित था, किन्तु प्रकाशन-व्यवस्था पर सेठजी का ही एकाधिपत्य था।

सेठजी ने जो पुस्तक सबसे पहले प्रकाशित की थी, उसका नाम 'स्वराज्य' था। मुन्शीजी की एक पुस्तक 'गृहिणी-कर्त्तव्य' नाम से निकली थी। तीसरी पुस्तक थी—'मिस्र की स्वाधीनता'—जिसके लेखक थे श्रीसम्पूर्णानन्दजी (उत्तरप्रदेश के वर्त्तमान मुख्य मंत्री)। और भी कई पुस्तकें छपी थीं। किन्तु छपाई आदि में ही पूंजी समाप्त हो गई; क्योंकि पुस्तकों की बिक्री से जो पैसे आते थे, वे भोजन-वस्त्र में लग जाते थे। अत: उन्होंने एक प्रेस खोलने के लिए आढ़त से काफी बड़ी रकम माँगी। यद्यपि सम्मिलित परिवार से मनचाही रकम नहीं मिली, तथापि कामचलाऊ प्रेस तो खुल ही गया। स्वनामधन्य साहित्य-महारथी पण्डित बालकृष्ण भट्ट के शुभ नाम पर प्रेस का नामकरण हुआ। भट्टजी को ही वे त्यागी तपस्वी साहित्यसेवी मानते थे। मुन्शीजी के सहयोग से प्रेस चल निकला। भूतनाथ-कार्यालय के अतिरिक्त अन्यान्य कारखानों से भी मुन्शीजी प्रेस के लिए काम लाते थे। परन्तु इस सहयोग और सहायता के लिए मुन्शीजी कभी कुछ लेते न थे। हाँ, सेठजी उनको अपना बड़ा भाई समझते थे।

जब 'मतवाला' निकलने लगा, तब सेठजी ने मुन्शीजी से नौकरी छोड़ देने का साग्रह अनुरोध किया। मुन्शीजी कुछ दिन बात टालते रहे। उन्हें हिचकते और सकुचाते

देख एक दिन सेठजी ने कुंजियों का गुच्छा उनके आगे रखकर कहा—"आज से सारा कारबार आप सँभालिए, मैं केवल अध्ययन में ही समय लगाऊँगा।"

मुन्शीजी ने स्पष्ट कहा—'हमलोगों की मैत्री के लिए यह बात घातक होगी। कदाचित् मुन्शीजी के भीतर का ब्रह्म यह भविष्यवाणी कर रहा था!

सेठजी बड़े अध्ययनशील व्यक्ति थे। विशेषतः इतिहास की पुस्तकों के स्वाध्याय का उन्हें अनुराग था। अँगरेजी और हिन्दी की कोई महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक पुस्तक हाट-बाट में कहीं देख लेते थे तो उसे खरीदे बिना चैन नहीं पाते थे। अँगरेजी की शिक्षा में उन्होंने कोई डिगरी नहीं पाई थी, पर योग्यता बड़ी अच्छी थी। अँगरेजी समझने और समझाने में बड़े दक्ष थे। अँगरेजी का हिन्दी-अनुवाद करने में भी बड़े सिद्धहस्त थे। अँगरेजी के इतिहास-ग्रन्थों से उन्होंने बहुत-से भारत-गुण-गान-सम्बन्धी उद्धरण चुनकर हिन्दी में उनका अनुवाद किया था। मूल और अनुवाद साथ ही छपवाना चाहते थे। किन्तु वह काम पूरा न हो सका। कारण, पढ़ने में जितना उनका मन लगता था उतना लिखने में नहीं।

उनके विचार सुनने में बड़े ओजस्वी होते थे। यदि वे अपने विचारों को लिख पाते, तो निस्सन्देह प्रभावशाली लेखक होते। मनन और चिन्तन में ही अधिक लीन रहते थे। प्रेस और पत्र का काम बढ़ने पर जब स्वाध्याय में बाधा पड़ने लगी, तब प्रायः झुँझलाने लग गये।

सेठजी बड़े मौजी जीव थे। प्रतिदिन संध्या समय बूटी छानकर चुप बैठे हुक्का पीते रहते और एक ऐसी बात कह कर मुन्शीजी को छेड़ देते कि वे कुछ देर बोलते रह जाते। इसी तरह निरालाजी को भी छेड़कर उनकी अटूट वाग्धारा में गोते लगाया करते। मुन्शीजी को राजनीतिक और सामाजिक प्रश्नों पर छेड़ते थे तथा निरालाजी को दार्शनिक एवं साहित्यिक प्रश्नों पर। दोनों को छेड़कर चुपचाप मजा लेने का अभ्यास उनके लिए बड़ा सुखद था। मुन्शीजी की जबान बहुत चुस्त-दुरुस्त थी। बीच-बीच में वे उर्दू के शेर भी कहा करते थे। निरालाजी के प्रवचनों में अँगरेजी, संस्कृत और बँगला के उद्धरणों की बहार होती थी।

निरालाजी का आदर-सत्कार जैसा सेठजी करते थे, वैसा किसी ने नहीं किया। उनको हमेशा इस बात का खयाल रहता था कि निरालाजी को कभी कोई अभाव न खले। निरालाजी की सेवा में तत्पर रहना उनके लिए बड़ा आनन्ददायक था। उन्होंने निरालाजी को हथेली का फूल बना लिया था। कलाकार की कला-कुशलता पर रीझना वे जानते थे। कवि के गुणों पर वे लट्टू थे। कहना तो यह चाहिए कि वे निरालाजी के सच्चे उपासक बन गये थे।

जब वे किसी कलाविद् को भली-भाँति परख लेते थे, तब उसके आराधक बन जाते थे। विलक्षण प्रतिभा के धनी पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' का सम्मान भी उन्होंने अपूर्व ही किया। उग्रजी के आराम का इन्तजाम करने में ही वे चैन पाते थे। उग्रजी की

लेखनी का जादू उन पर ऐसा छा गया कि वे उस पर निछावर हो गये। कलात्मक चमत्कार के पारखी का कलाकार के हाथ बिक जाना सर्वथा स्वाभाविक है।

सेठजी के स्वभाव में मिर्जापुरी अक्खड़पन था। बोलते समय उनके एक-एक शब्द में काफी ओज होता था। तर्क या विवाद में वे कभी झुकते नहीं थे। अपनी युक्तियों को वे बड़ी शक्तिशालिनी वाणी में उपस्थित करते थे। आवेश और उल्लास के समय उनके चेहरे पर लाली छा जाती थी। उनके गोरे मुखड़े की वह लाली शीतला के दागों पर भी हावी हो जाती थी। घोर पढ़वकू होने के कारण वे लिक्खाड़ तो नहीं थे, मगर भाषा की शुद्धता परखने में बड़े प्रवीण थे। निरालाजी और मुन्शीजी के साथ, व्याकरण-संगत भाषा पर, प्रायः विचार-विनिमय किया करते थे। उग्रजी की भाषा उन्हें सबसे ज्यादा पसन्द थी।

निर्भीक सम्पादक के रूप में सेठजी सचमुच आदर्श थे। 'मतवाला' के लिए उनका फरमान था कि चाहे कोई कितना भी बड़ा हो, जरा भी लचे तो धरकर रगड़ डालो। जेल जाने के लिए वे हमेशा तैयार रहते थे। बराबर उत्तेजना देते रहते थे कि निर्द्वन्द्व होकर खूब मस्ती से लिखो, जो आ पड़ेगा, सो झेला जायगा। आखिर उनको जेल जाना ही पड़ा। तब भी 'मतवाला' के स्वर की बुलन्दी उन्होंने बराबर कायम रखी। उनकी ज्वलन्त देशभक्ति किसी स्थिति में किसी क्षण मन्द नहीं पड़ी। कभी-कभी 'मतवाला' पढ़कर कह देते थे कि अमुक स्थल अथवा प्रसंग में 'टोन' कुछ नरम हो गया है। उनकी सदैव यही इच्छा रहती थी कि 'मतवाला' की कसौटी हरदम खरी रहे और सच्ची बात कहने में कभी किसी का मुलाहजा न किया जाय।

सेठजी सुरुचिसम्पन्न सौन्दर्योपासक थे। जड़ पदार्थ का भी सौन्दर्य उनके लिए आकर्षक था। किसी व्यक्ति के किसी एक अङ्ग का सौन्दर्य भी उनकी प्रशंसा का पात्र बन जाता था। वे कभी-कभी निरालाजी की मुस्कुराती हुई आँखों और उग्रजी की सुनहली जुल्फों की तारीफ किया करते थे। देखे हुए सौन्दर्य की समीक्षा वे बड़ी बारीकी से करते थे। एक बार चिड़ियाखाने में एक रंगीन चितकबरा पहाड़ी साँप देखकर लगभग आध घंटे तक उसकी शोभा निरखते रहे। 'बोटानिकल गार्डेन' में एक वृक्ष से लिपटी हुई लता देखकर झूमने लग गये। एक पुष्प-प्रदर्शनी में, मुन्शीजी के विरोध करने पर भी, उन्होंने एक रुपये में एक लाल गुलाब खरीद लिया और उसके लिए एक नफीस गुलदान खरीदकर अपने सिरहाने सजाया।

जब सावन की घटा घुमड़ती और बिजली कौंधती, तब सब काम छोड़ छत पर अपनी एकान्त कोठरी में जाकर छवि-छटा देखने में तन्मय हो जाते। झमाझम वर्षा में वे मिर्जापुर की कजली के दृश्यों का वर्णन सुनाने लगते थे। उनका कथन था कि सौन्दर्य में स्रष्टा का ऐश्वर्य देखना चाहिए।

सौन्दर्य-दर्शन में उनकी दृष्टि इतनी पैनी थी कि रास्ता चलते कहीं घोड़े की सुन्दर कनौती देख लेते, तो क्षण-भर ठिठक जाते। किन्तु उनकी सौन्दर्योपासना में कोई वासना नहीं थी।

सेठजी पत्नीव्रत पुरुष थे। मुग्ध चित्त से दाम्पत्य प्रेम की चर्चा करते कभी हिचकते न थे। बसन्त और बरसात में घर जाने की इच्छा प्रकट करने के बहाने से ऋतु की मादकता का वर्णन करने लगते। मुन्शीजी संकेत समझकर मीठी चुटकियाँ लेते हुए सब तैयारियाँ कर देते! मुन्शीजी ने मैत्री खूब निबाही।

भंग की तरंग में सेठजी प्रायः मौन रहना पसन्द करते थे। उस समय उनकी गम्भीरता और मुस्कान तथा उनके लँगोटिया साथी पण्डित रामानन्दजी[1] की चुहलबाजियाँ बड़ा रंग लाती थीं। पण्डितजी उर्दू-फारसी के जानकार और मजाक-पसन्द आदमी थे। वे ऐसे हँसोड़ थे कि मिर्जापुरी बोली में अश्लील हास्यविनोद सुनाते भी नहीं सकुचाते थे। सेठजी को 'मतवाला-मण्डलाधीश' कहकर तरह-तरह की स्तुतियाँ और सूक्तियाँ सुनाया करते थे। अब वैसे जिन्दादिल लोग कहीं नजर नहीं आते।

—मासिक 'सुप्रभात' (कलकत्ता); प्रथमाङ्क, सन् १६५५ ई०

मुन्शी नवजादिकलाल श्रीवास्तव

मुन्शी नवजादिकलाल श्रीवास्तव ही हिन्दी-संसार में ऐसे व्यक्ति थे, जो केवल 'मुन्शीजी' के नाम से प्रसिद्ध और परिचित थे। इनके पहले प्रेमचन्दजी, अजमेरीजी और सैयद अमीर अलीजी के नाम के साथ भी 'मुन्शी' शब्द का प्रयोग यदा-कदा देखा गया; पर वे केवल 'मुन्शी' नाम से कदाचित् कभी इतने प्रसिद्ध न हुए। किन्तु इनके लिए 'मुन्शीजी' पेटेण्ट हो गया था। वास्तव में ये 'मुन्शीजी' थे भी। इनकी यह उपाधि सर्वथा सार्थक थी। इनकी भाषा, बोल-चाल, रहन-सहन, पोशाक-पहनाव, सबमें मुन्शीपन की गहरी छाप थी। गुण भी तदनुकूल ही थे।

'मतवाला-मण्डल' में एक बार इनकम-टैक्स के लिए हिसाब की बहियाँ तैयार हो गईं। जब से श्रीमहादेवप्रसाद सेठ ('मतवाला'-सम्पादक) कलकत्ता में कारबार करने लगे, कोई सिलसिलेवार बही-खाता न था। अस्त-व्यस्त कागजों और रजिस्टरों को एकत्रित कर मुन्शीजी ने दिन-रात लगातार परिश्रम किया। आखिर तैयार ही कर डाला कई साल का चिट्ठा। उनका धैर्य, अध्यवसाय, लगन और श्रमशीलता देखकर पण्डित चन्द्रशेखर पाठक (मालिक, पाठक-कम्पनी, कलकत्ता) ने कहा था—'सचमुच आप पक्के मुन्शी हैं, इस काम में बड़े-बड़े मुनीम भी ऊब जाते!'

जिन दिनों मुन्शीजी यह खरीता तैयार कर रहे थे, उन दिनों 'मतवाला' की दस हजार प्रतियाँ छपती थीं। प्रेस की सारी व्यवस्था मुन्शीजी के हाथ में थी। कागज,

---

१. पण्डित रामानन्दजी के विषय में सुना है कि वे अब संन्यास ग्रहण करके मथुरा-वृन्दावन में निवास करते हैं। —लेखक

स्याही, ब्लॉक, सब का ब्योंत वही करते थे। प्रेस के कर्मचारियों को रोजाना मजूरी देना, समय पर वेतन बाँटना, चौके का भी इन्तजाम करना, एजेंटों और हॉकरों का हिसाब रखना, अखबार के लिए मैटर लिखना, कार्टूनों के लिए भाव ('आइडिया') सोचना, साथ-साथ हाट-बाजार भी करना, सारा काम अपने सिर उठा लिया था। यह कुल काम मुन्शीजी चुटकियों में उड़ा देते—कभी क्लान्त न होते।

मुन्शीजी बही-खाता लिखने में लगे हैं, 'मतवाला' के मैटर के लिए कम्पोजिटर सामने खड़ा है। मैटर लिख रहे हैं। रसोइया केदार महराज आ धमके—आटा-दाल नहीं है! तरकारियाँ रोज मुन्शीजी की पसन्द से ही बनती थी। साग-भाजी के लिए दोनों जून पुर्जा लिख देना भी उन्हीं का काम था। प्रतिदिन भंग-बूटी के मसाले में परिवर्त्तन करना उन्हीं की सुरुचि पर निर्भर था—आज कसेरू की भंग छने, कभी बेल, कभी फालसा, कभी सन्तरा, कभी अंगूर, कभी केसरिया रंग गाढ़ा, कभी आम का पन्ना!

सेठजी जब हाथ में शीशे का गिलास लेते, खुशरंग भंग की तारीफ में पाँच मिनट खर्च कर लेने के बाद ही चुस्कियाँ शुरू करते। उनके लिए खमीरा-मुश्की तम्बाकू का इन्तजाम कर रखना मुन्शीजी कभी न भूलते। भंग का बम-गोला चढ़ाकर जब वे (सेठजी) सबसे ऊपर के कमरे में चले जाते, मुन्शीजी उससे पहले ही वहाँ बागबाजार के रसगुल्लों का पुरवा रखवा देते।

सेठजी को मुन्शीजी अपने सगे छोटे भाई की तरह प्यार करते थे। और, सेठजी भी उनको अपना बड़ा भाई मानते थे। केवल मानते ही न थे, वैसा ही अदब भी करते थे। भंग की तरंग में जब किसी राजनीतिक या सामाजिक विषय पर बातें करते-करते सेठजी उत्तेजित हो बहकने लगते, मुन्शीजी झिड़क देते, बस सटक सीताराम!

सेठजी ने कभी मुन्शीजी के किसी काम में हस्तक्षेप न किया, स्याह-सफेद जो कुछ करें—मुन्शीजी। सेठजी उनको अपना सच्चा अभिभावक समझते थे—उनके संरक्षण में निश्चिन्त मौज करते थे। मुन्शीजी चाहे जली-कटी जो भी सुना दें, सेठजी कभी चूँ तक न करते। ऐसा सद्भाव मैंने बहुत कम देखा है।

सेठजी की एक बात से मुन्शीजी तबाह रहते। उन्हें (सेठजी को) इतिहास का बड़ा शौक था। जब अंगरेजी का कोई नया इतिहास-ग्रन्थ बाजार में देखते, आर्डर देकर चुपचाप चले आते। मुन्शीजी झुँझला उठते—'आपको मालूम नहीं था कि 'आजकल रुपये-पैसे की कैसी टान है, इस तरह के ब्योंत से तो प्रेस का खर्च नहीं पोसायेगा!' सेठजी सटक थामे तम्बाकू की कश लेते हुए मुस्कुराया करते!

मुन्शीजी रविवार या छुट्टी के दिन केवल सफाई का काम करते थे। झाड़ू देने की कला में उनके समान कुशल शायद ही कोई साहित्यसेवी हो! झाड़ू उठाते, तो कोने-अंतरे तक झाड़-बुहार कर फिट कर देते। फिर झाड़ू को भी धोकर धूप में रखते। ऑफिस की सभी चीजों को सरिया-सहेज कर यथा-स्थान लैस कर देते। किसी के जूते हों, झाड़-पोंछकर एक कतार में सजा देते। दावात की स्याही बदलते, कलम की निब।

कभी-कभी कलम-दावात को भी साबुन से नहलाते। चश्मे में साबुन, घड़ी में साबुन, कंघी में साबुन, चाकू तक में। लैम्प-लालटेन की भी जान न बचती! किसी चीज की सफाई में उनकी निगाह न चूकती। बिछावन को धूप में डालने की चिन्ता उन्हें थी, फिर कुर्सी के खटमल निकालने की चिन्ता कौन करता? 'स्टोव' को पॉलिश से साफ करने के बाद, जूतों पर भी खुद पॉलिश कर लेते। कपड़ों में साफा लगाने बैठते, तो अपने को रईस धोबी कहते। सेवा की मूर्त्ति थे मुन्शीजी!

जब कोई बीमार पड़ जाता, भले ही वह रसोइया या दरबान क्यों न हो, दवा-दारू की कौन बात, मल-मूत्र की सफाई करने में भी उन्हें हिचक या घिन न थी। सारा काम करते हुए ठीक समय पर पथ्य पहुँचा देते। आलस्य तो छू भी न गया था, दरबान रहते हुए भी स्वयं डॉक्टर के यहाँ दौड़ जाते। रोगी को अपने विनोदों से सदा प्रसन्न रखते। उनकी हरएक हरकत में बुजुर्गी थी।

प्रति सप्ताह 'मतवाला की बहक' लिखना उन्हीं के जिम्मे था, 'अग्रलेख' और 'चलती चक्की' मेरे जिम्मे। संयोगवश इसमें कभी-कभी हेर-फेर भी हो जाता था। पर नियमित क्रम यही था। जब मैं 'माधुरी' में चला गया, मुन्शीजी अकेले ही सब कर लेते थे। पीछे भाई उग्रजी ने आकर उनका भार हल्का कर दिया। किन्तु जबतक 'मतवाला' कलकत्ता में रहा मुन्शीजी की लेखनी ही उसे चमकाये रही। मिर्जापुर चले जाने पर मुन्शीजी की लेखनी का प्रसाद उसके लिए दुर्लभ हो गया। परिणाम किसी से छिपा नहीं। मुन्शीजी जीवन-भर इसके लिए पछताते रहे।

'मतवाला' के लिए मुन्शीजी ने जो महान् त्याग किया था, उससे उनकी महत्ता का प्रत्यक्ष परिचय मिलता है। मछुआबाजार में पटना-सिटी-निवासी श्रीकिशोरीलालजी चौधुरी का तेल-साबुन-इत्र का मशहूर कारखाना था—'भूतनाथ'-कार्यालय। उसी में मुन्शीजी काम करते (मैनेजर) थे; पर रहते थे सेठजी के साथ। सेठजी के घराने की एक पत्थर की गद्दी नीबूतल्ला में थी—शायद अब भी है; पर मुन्शीजी से बन्धुत्व स्थापित हो जाने के बाद सेठजी उन्हीं के साथ बराबर रहते थे। मुन्शीजी की प्रेरणा से ही सेठजी ने 'सुलभ-ग्रन्थ-प्रचारक-मण्डल' खोला था, जिससे कई पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं, जिनमें मुन्शीजी की लिखी एक 'गृहिणी-कर्त्तव्य' भी थी। मुन्शीजी के ही उद्योग से युक्तप्रान्त के वर्त्तमान शिक्षा-मंत्री सम्पूर्णानन्दजी की 'मिस्र की स्वाधीनता' नामक पुस्तक भी प्रकाशित हुई थी।

'भूतनाथ' कार्यालय में तीन-चार हजार रुपये सालाना का छपाई का काम होता था। यह काम मुन्शीजी के हाथ में था। इसी के भरोसे, मुन्शीजी के अश्वासन पर, सेठजी ने प्रेस खोला। हिन्दी के आदर्श साहित्य प्रेमीपण्डित बालकृष्ण भट्ट के नाम पर प्रेस का नामकरण हुआ—बालकृष्ण प्रेस, जो पहले कार्नवॉलिस स्ट्रीटवाले आर्य-समाज-मन्दिर के पिछवाड़े नं० २३ शंकरघोष लेन में था। पीछे विद्यासागर-कॉलेज के पास उसी लेन के मकान नं० ६ में चला आया।

'माधुरी' से लौटने पर मैं दुबारा इसी दूसरे मकान में पुनः 'मतवाला'-मण्डल का सदस्य हुआ। इस मकान में बिजली भी लग गई थी। 'भूतनाथ'-कार्यालय के काम के लिए मुन्शीजी को अन्य प्रेसों से कुछ कमीशन भी मिल जाता था, जिसे चौधुरीजी भी जानते थे। पर मुन्शीजी ने सेठजी के लिए उस लाभ को तिलांजलि देकर सारा काम बालकृष्ण प्रेस को दिलवा दिया। इतना ही नहीं, 'मतवाला' निकलने पर जब मुन्शीजी की अहर्निश सेवा की आवश्यकता आ पड़ी, मुन्शीजी ने विना किसी मीन-मेष के नौकरी छोड़ दी। उस समय उनको एक सौ रुपये मासिक वेतन मिलता था। चौधुरीजी उनका बड़ा आदर करते थे, कारखाने के सब लोगों पर उनकी धाक थी, चौधुरीजी के परिवार में उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। बड़े आराम का काम था। स्वतंत्रता इतनी थी कि टाइम का कोई बन्धन न था।

मुन्शी जी तेल-साबुन-इत्र के राजा थे—सौगात और खैरात बाँटा करते थे। किन्तु इन सारी सुविधाओं को लात मारकर मुन्शीजी ने 'मतवाला' को अपनाया। मुन्शीजी के हट जाने से चौधुरीजी की अपार क्षति हुई, पर दोनों के सद्‌व्यवहार में कोई बट्टा न पड़ा। चौधुरीजी के भतीजे कनका बाबू पूर्ववत् नित्य 'मतवाला'-मण्डल में आकर उन्हें सिनेमा-थिएटर दिखाने ले जाते थे। तेल-साबुन की छूट अब भी जारी थी। पर मुन्शीजी को अब आर्थिक कठिनाइयाँ चपेटने लगीं। फिर भी मुन्शीजी ने कभी पश्चात्ताप नहीं किया!

हाँ, 'मतवाला' जब मिर्जापुर चला गया, मुन्शीजी की आँखों के सामने स्वार्थमय संसार का असली रूप खुल गया। सेठजी ने मुन्शीजी के घोर विरोध की कुछ भी परवा न की। इसकी कसक मुन्शीजी के दिल से कभी न गई। उस समय की उनकी चिट्ठियाँ करुणा की अजस्र निर्झरिणी हैं। क्या साहित्यसेवियों की ऐसी चिट्ठियों के प्रकाशन का भी कोई युग आयेगा!

आखिर कनका बाबू ने मुन्शीजी को फिर आश्रय दिया। चौधुरीजी के मकान में ही रहने लगे। 'मस्त मतवाला' साप्ताहिक और 'सरोज' मासिक का जन्म हुआ। किन्तु अर्थाभाव ने यहाँ भी टाँग अड़ाकर मुन्शीजी की अग्नि-परीक्षा ली। पर मुन्शीजी प्रारब्ध को कोसनेवाले न थे। भाग्यचक्र का प्रताड़न सहते-सहते उनका कलेजा पोढ़ हो गया था। साफ कहा करते थे—मैंने जीवन-भर के लिए दरिद्रता-देवी को आलिङ्गित किया है; यह मेरे ही साथ चिता पर सती होगी।'

अन्त में वही हुआ! आज उनके अबोध बच्चों को सनाथ करनेवाले अनाथ-नाथ ही हैं! हिन्दी की सेवा में अपना रक्त-मांस और हड्डी-पसली गलानेवाले साहित्यसेवियों की असहाय सन्तानों के लिए हिन्दी-संसार ने आज तक कोई स्थायी आर्थिक व्यवस्था नहीं की है! यह प्रश्न अनेक बार हिन्दी-संसार के सामने आया; पर इसका महत्त्व किसीने न समझा। हिन्दी-पत्रकारों को भी इसकी चिन्ता नहीं, और साहित्य-सम्मेलन आदि संस्थाओं को गरीबों की सुधि लेने का अवकाश कहाँ!

अस्तु ! मुन्शीजी कलकत्ता से हताश होकर प्रयाग पहुँचे । 'चाँद' के संचालक श्रीरामरख सिंहजी सहगल ने उनका सारा दुःख हर लिया । उस समय मुन्शीजी ने स्पष्ट लिखा था—"साहित्यिक व्यसन की पूर्त्ति के लिए ही मैंने 'भूतनाथ'-कार्यालय का परित्याग किया था । मुझमें त्याग की ओर कोई ऊँची भावना न थी । किन्तु मेरी दृष्टि में जो तुच्छ त्याग था, वह जगदाधार की दृष्टि में महान् प्रतीत हुआ, जिसका फल भी उसने दे दिया । मैं शान्तिपूर्ण स्थान पर पहुँच गया । यदि नियति की नीयत ठीक रही, तो आशा है कि यहाँ भी उतने ही आराम से जिन्दगी कट जायगी, जितने सुख से चौधरीजी के यहाँ कटती रही ।"

परन्तु कहना पड़ेगा कि नियति की नीयत ठीक न थी, सहगलजी जब 'चाँद' से अलग हो गये, मुन्शीजी का सन्तोष अत्यन्त कृश हो गया । सहगलजी ने उन्हें बड़े सम्मान से रखा था । फिर सहगलजी के अनुज ने भी यथाशक्य निबाहा । किन्तु अन्त में 'चाँद' के नये संचालकों के साथ मुन्शीजी न निभ सके । इसका कारण मुन्शीजी का अखण्ड स्वाभिमान है । उसमें ठेस लगते ही मुन्शीजी की आत्मा ग्लानि में गड़ जाती थी । केवल आत्माभिमान में ठोकर लगने पर ही उनकी आँखें सजल होती थीं, और कभी नहीं ।

'चाँद' का वियोग उनके लिए असह्य हुआ, कारण चाहे जो रहा हो, उसकी चर्चा यहाँ अप्रासङ्गिक भी है; पर मुन्शीजी की तात्कालिक स्थिति से सारा हिन्दी-संसार परिचित है । हिन्दी-जगत् ने खुली आँखों उनकी दयनीय दशा देखी; पर कोई सहारा न दे सका । कैसी करुणाजनक स्थिति है 'बेचारे' साहित्यसेवियों की !

अन्ततोगत्वा मुन्शीजी फिर कलकत्ता पहुँचे । इस बार समाधि-गत साप्ताहिक 'हिन्दूपंच' को नवजीवन-प्रदान किया । मेरे पूज्य साहित्य-गुरु स्वर्गीय पण्डित ईश्वरीप्रसाद शर्मा मुन्शीजी के अनन्य मित्रों और 'मतवाला'-मण्डल के सदस्यों में थे । 'हिन्दूपंच' का पुनरुद्धार करके मुन्शीजी बड़े संतुष्ट हुए । मुझे लिखा—'किसी तरह ईश्वरीजी की स्मृति जगा रहा हूँ; पर आशा नहीं कि अधिक दिनों तक कलम की खुजली मिट सकेगी ।' उनके अक्लान्त मस्तिष्क के बल पर 'हिन्दूपंच' कुछ दिन चलता रहा; पर किसान के परिश्रम पर छूछे बादलों ने पानी फेर दिया !

'हिन्दूपंच' से हताश होकर मुन्शीजी अपने सिर पर मँड़लाते हुए बुढ़ापे की ओर घूरने लगे । छोटे-छोटे बच्चों की चिन्ता उनके मस्तिष्क में रह-रहकर ठोकरें मारने लगी । विवाह के योग्य सयानी लड़की उनके धीर-गम्भीर हृदय में अशान्ति की पनडुब्बी बनकर साहस-पोत का पीछा करने लगी । अब भवसागर के केवट का सहारा सूझ पड़ा । इससे पहले कभी उनके मन पर कातरता की छाया न पड़ी थी । किन्तु उनके चित्त में उत्पन्न हुई स्वाभाविक करुणा उनकी स्वावलम्बन-भावना की सौत न बन सकी । उन्होंने आत्म-सम्मान और आत्मविश्वास की बागडोर ढीली न की । परमात्मा ने उनके जीवन-संकट को सुमार्ग पर लगा दिया । साप्ताहिक 'जागृति' (कलकत्ता) के उदारमना संचालक श्री मिहिरचन्द धीमान् ने मुन्शीजी को बड़ी सहृदयता से अपना लिया ।

मुन्शीजी सदैव अपना सुख-दुख मेरे पास दिल खोलकर लिखा करते थे। मेरा दिल भी उनके सामने जितना खुलता था, उतना और किसी साहित्यसेवी के सामने नहीं। एक-दूसरे को अपना दुखड़ा सुनाकर मन को तोष-बोध दे लेता था। मुन्शीजी ने 'जागृति' का सम्पादन-भार ग्रहण करते ही मुझे लिखा—'धीमान्जी ने मेरे सम्बन्ध में अपना 'हिन्दी-भूषण' पद सार्थक कर दिया। मेरे आसन्न बुढ़ापे पर दया करके परमेश्वर ने कलकत्ता में दूसरे महादेवप्रसाद सेठ को पैदा कर दिया। आशा है कि सेठजी के बिछुड़ने से दिल पर जो नासूर था, वह अब भर जायगा।"

उनकी यह अन्तिम आशा दीनबन्धु की दया से बहुलांश में पूरी हुई। धीमान्जी की सहायता के रूप में प्रभुवर ने उन्हें बुढ़ापे की लकुटी दे दी। आज हिन्दी-संसार भी धीमान्जी के सौजन्य पर स्तुति-सुमनाञ्जलि छोड़ रहा है।

मुन्शीजी ने अपनी आकस्मिक मृत्यु से कुछ ही सप्ताह पूर्व अपनी छाती का पत्थर उतार दिया था—बड़ी लड़की का ब्याह करके शान्ति की साँस ले ही रहे थे कि अनन्त शान्ति ने अपनी भुजाओं में समेट लिया। इसमें सन्देह नहीं कि वे जीवन-संग्राम में वीरतापूर्वक जूझ गये; पर महाप्रस्थान की अन्तिम घड़ियों में उनका हृदय कितना उद्विग्न रहा होगा, इसकी कल्पना बड़ी रोमांचकारिणी है। जिस स्नेह से उन्होंने अपने बच्चों का लालन-पालन किया था, उसकी स्मृति आज वृश्चिक-दंशन-सी पीड़ा दे रही है!

प्रयाग में जब वे 'चाँद'-सम्पादक थे, मैं इंडियन प्रेस में रहकर 'द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रंथ' छपवा रहा था। प्रेस से थोड़ी ही दूर पर 'कटरा' मुहल्ले में वे रहते थे। मैं प्राय: दूसरे-तीसरे दिन उनके यहाँ जाया करता। 'मतवाला' की पुरानी स्मृतियों को उधेड़ते हुए मुन्शीजी कहा करते—'इस जीवन में अब वैसे दिन न बहुरेंगे।' उन्होंने 'मतवाला' पर अपने भविष्य को निछावर कर दिया था। कभी-कभी आवेश में यहाँ तक कह उठते—"यदि 'निराला' जी और आप फिर 'मतवाला-मण्डल' के सदस्य बनने को तैयार हो जायँ, तो मैं उसकी कब्र कुरेदने के लिए कमर कस सकता हूँ।" किन्तु यह मनोरथ तो तास का महल था! साहित्यिकों के हवाई महल को पृथ्वी अपनी छाती पर टिकने नहीं देती।

निरालाजी 'मतवाला-मण्डल' के सर्वप्रिय एवं सर्वाधिक सम्मान्य सदस्य थे। नं० २३ शंकरघोष लेनवाले मकान के ऊपर के तल्ले में रामकृष्ण मिशन और विवेकानन्द-सोसाइटी का एक शाखा-कार्यालय था। उसके लिए सेठजी ने दो कमरे भाड़े पर उठा दिये थे। वहाँ से हिन्दी में मासिक 'समन्वय' निकलता था। वेदान्त-विषयक अति उत्तम पत्र था। उसके विद्वान् संचालक स्वामी माधवानन्द एम० ए०—जो कुछ साल बाद कैलिफोर्निया (अमेरिका) की विवेकानन्द-सोसाइटी के संचालक होकर विदेश चले गये—स्वयं अचार्य द्विवेदीजी के पास जाकर 'निराला'जी को माँग लाये। पूज्य द्विवेदीजी ने ही 'समन्वय' के लिए उपयुक्त सम्पादक का चुनाव कर दिया। आचार्य के इस चुनाव से स्वामीजी बड़े संतुष्ट थे। सर्वतंत्र-स्वतंत्र निरालाजी को वे बड़े आदर से अपने ही साथ

रखते थे । इस तरह निरालाजी सौभाग्यवश ही 'मतवाला' को मिल गये थे । मुन्शीजी उनसे हँसी-मजाक में कह देते थे—'महाराज ! आपको पाकर हम लोगों ने 'आकाश-कुसुम' तोड़ लिया है । हमलोगों के सिवा इस संसार में 'गूलर का फूल' किसी ने न देखा होगा ।" निरालाजी आँखों में मुस्कुराकर मुन्शीजी के विनोद का रस लेते ।

निरालाजी भी सेठजी की तरह मुन्शीजी का उचित सम्मान करते थे । यहाँ तक कि उपर्युक्त मिशन के सभी कार्यकर्त्ता, जो बड़े विद्वान् और सच्चे त्यागी लोकसेवक थे, मुन्शीजी को आदरणीय मानते थे । मुन्शीजी उन विरक्त संन्यासियों को भी निरालाजी के सम्बन्ध में विनोद-भरी चुटकियाँ सुनाकर हँसा देते थे । निरालाजी पर सेठजी और मुन्शीजी की समान ममता थी । निरालाजी 'समन्वय' के प्राण थे और 'मतवाला'-मण्डल के अलंकार । उनपर 'मण्डल' को बड़ा गर्व था ।

मुन्शीजी ने एक बार एक नवागन्तुक साहित्यसेवी को निरालाजी का परिचय विचित्र ढंग से दिया—"हमारे यहाँ एक क्रान्तिकारी कवि हैं । उनको आपने देखा है ? पद्म-पलाशलोचन, आजानुबाहु, काकपक्षधारी, वृषभस्कन्ध और कोकिलकण्ठ हैं । उनकी उँगलियाँ अजन्ता-गुहा के चित्रों की छवि छीनती हैं । उनकी मांस-पेशियाँ ग्रीस-रोम की मूर्त्तियों की याद दिलाती हैं । सुए की टोंट-सी उनकी नासिका और अनारदाने-से उनके दाँत देखकर आप घपले में पड़ जायँगे । जब वे भुजदण्ड ठोंककर अपने प्रशस्त वक्षःस्थल का विस्तार दिखाते हैं, बुद्धि पगुरी करने लगती है । डीलडौल पंजाबी, बोलचाल बैंसवाड़ी, खानपान बंगाली, रहन-सहन वेदान्ती । जनेऊ को साबुन लगाकर धूप में रख देते हैं, तो जबतक कोई उसकी याद न दिलावे, तबतक उसका ध्यान छोड़ अपनी धुन में मस्त रहते हैं । 'सजीव रसगुल्ले' के बड़े प्रेमी हैं । 'केंचुआ-छन्द' के आदि-कवि हैं । उनकी शंख-ध्वनि से हिन्दी-जगत् में हड़कम्प छा गया है ।"

इसी तरह की बहुत-सी विनोद-भरी बातें निरालाजी के सम्बन्ध में कहकर अन्त में नाम बतलाया । नवागन्तुक साहित्यसेवी महोदय खूब हँसे—वे थे पण्डित रामगोविन्द त्रिवेदी वेदान्तशास्त्री, जो 'मतवाला' निकलने के बाद उस दिन पहले-पहल प्रेस में आये थे । इस परिचय में कहे गये सब शब्द मुन्शीजी के हैं, मेरे नहीं ।

उनमें एक बात बड़ी विलक्षण यह थी कि संस्कृत-से अनभिज्ञ होते हुए भी बँगला के संसर्ग से संस्कृत-बहुल भाषा भी लिख लेते थे और उर्दू-फारसी के तो उस्ताद हो थे ।

मुन्शीजी उर्दू-मिडिल पास करके ही कलकत्ता चले आये थे । ट्राम में काम न मिला, डाक-विभाग में भी बड़ी कठिनाई से पैठ हुई; क्योंकि अँगरेजी नाम-मात्र जानते थे । हिन्दी से भी यथोचित परिचित न थे । किन्तु ठेठ देहात से सीधे कलकत्ता-जैसे महानगर में नये-नये आये थे, महत्त्वाकांक्षाओं से हृदय भरा हुआ था । स्वाध्याय और स्वावलम्बन ने उनकी उच्चाकांक्षाओं को सनाथ किया । सबसे पहले पण्डित सदानन्द शुक्ल और श्रीयशोदानन्दन अखौरी से परिचय हुआ । इसके बाद फिर

श्री रामानन्द द्विवेदी से मैत्री हुई, जो साप्ताहिक 'वीर भारत' में काम करते थे। क्रमशः श्रीहरिकृष्ण जौहर, पण्डित अमृतलाल चक्रवर्त्ती आदि लब्धप्रतिष्ठ पत्र-सम्पाकों से परिचय बढ़ा। अन्त में साहित्यानुराग को सफल करके ही छोड़ा।

डाकिया का थैला उतार फेंकने के बाद जब वीर-भारत'-कार्यालय की कुर्सी पर बैठे, तब अर्थ-संकट ने उस प्रवेश-द्वार पर ही यह विज्ञप्ति दिखला दी कि इस पथ के पथिक को मेरी ही छत्रच्छाया में रहना होगा। मुन्शीजी कहा करते थे—"डाकिया रहने पर भी हाथ कभी खाली नहीं रहता था; मगर अखबार की कुर्सी पर आसन जमाते ही 'पास-बुक' दिन-दिन छीजने लगी। वेतन 'अकथनीय' था, साहित्य-प्रेमी मित्रों की संख्या बढ़ चुकी थी, इसलिए 'पास-बुक' भी अधिक दिन सँभाल न सकी ? दो-चार कारखानों में सुबह-शाम जाकर चिट्ठी-पत्री करनी पड़ती थी, ठेलठालकर ही दिन काटते थे।"

यहाँ तक कि बालकृष्ण प्रेस खुल जाने पर भी, जब वे चौधुरीजी के यहाँ काम करते थे। दो प्रसिद्ध कविराजों के यहाँ हिन्दी-उर्दू की चिट्ठियाँ पढ़ सुनाने और उनका उत्तर लिख देने के लिए नित्य सन्ध्या समय जाया करते थे। मैं 'मतवाला' निकलने के दो साल पहले से ही बालकृष्ण प्रेस में रहता था; क्योंकि मेरे सम्पादकत्व में निकलनेवाला मासिक 'मारवाड़ी-सुधार' उसी प्रेस में छपता था। मुन्शीजी बाहर से काम करके थके-माँदे आते थे और प्रेस में भी सुबह और रात का समय प्रूफ देखते, दिन-भर का खर्च साफ बही पर उतारते और बँगला से अनुवाद करके 'सुलभ ग्रन्थ-प्रचारक-मण्डल' के लिए प्रेस की खुराक जुटाने में ही लगा देते थे। परिश्रम करने की स्फूर्त्ति उनके शरीर में बराबर बनी रही, यही उनकी सफलता का रहस्य है।

मुन्शीजी ने कलकत्ता का 'खोलावाड़ी-युग'[1] देखा था, इसलिए बहुत-सी पुरानी बातें सुनाया करते थे। उनके साथ कलकत्ता का एक संग्रहणीय संस्मरण चला गया। बाबू बालमुकुन्द गुप्त और पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र के समय की साहित्यिक बातें उनके मुख से सुनने में बड़ा आनन्द आता था।

साहित्य-सेवियों से पुराने संस्मरण लिखाने की प्रथा हिन्दी-संसार में नहीं है। जिसका परिणाम यह हो रहा है कि अनेक महत्त्वपूर्ण पुरानी बातें विस्मृति के गर्भ में विलीन होती जा रही हैं। मुन्शीजी के साथ इस तरह की बहुत-सी चीजें चली गईं।

मुन्शीजी पुराने साहित्यसेवियों और पत्रों तथा पुस्तकों का बड़ा आदर करते। पुरानी पुस्तकों की दूकान पर एकाध घण्टा अड़कर निश्चय ही कोई पुरानी चीज ढूंढ निकालते थे। श्रीराधामोहन गोकुलजी में उनकी बड़ी श्रद्धा थी। गोकुलजी प्रायः मुन्शीजी के पास आया करते थे। एक बार मैंने मुन्शीजी से कहा कि पण्डित अमृतलाल चक्रवर्त्ती अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति चुने गये हैं; पर उनके

---

१. बाँस के बने मकान, जो कलकत्ता नगर के अन्दर जगह-जगह पाये जाते थे। —ले०

पास पैसे नहीं हैं कि वृन्दावन जाने के लिए कपड़े बनवायें या अपना लिखित भाषण छपवायें या रेलभाड़े का जुगाड़ करें, और स्वाभिमानवश किसी से कहते भी नहीं !

मुन्शीजी उसी दिन चक्रवर्त्तीजी से मिले, इधर-उधर से चन्दा करके उनकी आवश्यकता पूरी कर दी, भाषण भी छपवा दिया, जिसके लिए भावुक-शिरोमणि चक्रवर्त्तीजी अश्रुरुद्ध कण्ठ से आशीर्वाद देते न अघाये।

मुन्शीजी का स्नेह मुझपर सदैव एक-रस बना रहा। मेरे तीसरे विवाह की बरात में पहुँचने के लिए अपनी पत्नी को रोग-शय्या पर छोड़कर चले आये। बरात में अपने साथ उस बड़ी लड़की को भी लेते आये, जिसका ब्याह इस साल हुआ है; क्योंकि सात-आठ वर्ष की हो जाने पर भी वह लड़की हमेशा मुन्शीजी के साथ ही रहती थी। मेरी बरात में केवल साहित्यसेवी ही बराती थे; पर मुन्शीजी के विवाह की कहानी किसी को मालूम न थी; इसलिए सबको आश्चर्य हुआ कि रुग्णा माता को यह लड़की किस तरह छोड़ आई। किन्तु पीछे सबको यह सुनकर और भी आश्चर्य हुआ कि मुन्शीजी की तीनों पत्नियाँ सगी बहनें थीं। अट्टहास से दिशाएँ गूँज उठीं। पण्डित चन्द्रशेखर पाठकजी प्रायः मुन्शीजी को छेड़ते थे—'एक ही घर में तीन सेंध ! अच्छा नम्बर लगाया !'

मुन्शीजी के सम्बन्ध में इतनी अधिक बातें कहने की हैं कि इस लेख में सबका समावेश होना असम्भव है। इस समय इतना ही लिखना दुखी हृदय का दुस्साहस है।[1]

—मासिक 'विश्वमित्र' (कलकत्ता); वर्ष ७, खण्ड १४, अंक ६, भाद्र १९९६ वि०, सितम्बर, १९३९ ई०

जन-गण-मन के पारखी पराड़करजी

पूज्य (बाबूराव विष्णु) पराड़करजी के प्रथम दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था सन् १९२४ या २५ ई० में। जहाँ तक स्मरण है, लखनऊ के साम्प्रदायिक दंगे से बचकर मैं काशी आया था। मेरे साथ पंडित शान्तिप्रिय द्विवेदी भी थे। हम दोनों ही 'माधुरी' के सम्पादकीय विभाग में साथ ही काम करते थे।

काशी पहुँचने पर भाई उग्रजी ने मुझे पराड़करजी की सेवा में उपस्थित किया। उन दिनों मुन्शी कालिकाप्रसाद भी 'आज' के सम्पादन-विभाग में काम करते थे। उनसे पराड़करजी ने मेरा बयान लिखने को कहा, मेरे प्राण-संकट का वृत्तान्त सुनकर बड़ी सहानुभूति भी दिखाई। कुछ ऐसा स्मरण होता है कि मुझसे कुछ आँखों-देखा वर्णन लिखवाकर छापा भी।

---

१. इस लेख में दो चित्र छपे थे—(१) स्वर्गीय मुन्शीजी, मृत्यु के दो महीने पहले का चित्र। (२) मुन्शीजी के अन्तिम दर्शन। अरथी के पास बाबू मूलचन्दजी अग्रवाल, श्रीमिहिरचन्द धीमान्, हिमकरजी तथा मुन्शीजी का ज्येष्ठ पुत्र प्रकाशचन्द्र आदि।

विहार के 'पुस्तक-भंडार' की साहित्यिक पुस्तकमालाओं को सम्पादित करके छपवाने के लिए सन् १९२६ या २७ में मैं काशी में रहने लगा। अधिकतर पुस्तकें ज्ञानमण्डल प्रेस में ही छपती थीं। पराड़करजी के छोटे भाई पंडित माधवरावजी प्रेस के मैनेजर थे। मैं बराबर प्रेस में जाया करता था। प्राय: पराड़करजी के घर पर भी जाना पड़ता था। उन्हीं दिनों उनके निकट सम्पर्क का सुअवसर मिला।

किन्तु वे बहुत कम बोलते थे। बात-चीत भी बहुत कम करते थे। काम की बात कहकर मौन हो जाते थे। उनका सारा समय स्वाध्याय में ही लगता था। दो-चार बातें कहकर अध्ययन-मनन में लीन हो जाते थे। फिर उन्हें छेड़ने की हिम्मत नहीं होती थी। उनके पास कभी फालतू समय था ही नहीं।

प्रथम दर्शन के समय जब भाई उग्रजी ने उनको मेरा परिचय दिया, तब उन्होंने हँसकर पूछा था—'तुम तो शान्त स्वभाव के मालूम होते हो, 'मतवाला' के योग्य लेख कैसे लिख लेते थे ?'

जैसे पहाड़ के सामने जाते ही ऊँट अपनी ऊँचाई भूल जाता है, वैसे ही मैं सकुचाकर रह गया—कुछ उत्तर देते न बना। तब भी उन्होंने सलाह दी कि पंडित बालकृष्ण भट्ट, पण्डित प्रतापनारायण मिश्र, बाबू बालमुकुन्द गुप्त आदि की रचनाएँ पढ़ जाओ।

मैं दण्डपाणि भैरव की गली में रहता था। मेरी दूसरी पत्नी मृत्यु-शय्या पर थीं। मैं पीयूषपाणि वैद्यराज पं० त्र्यम्बक शास्त्री से दवा कराना चाहता था। छोटे पराड़करजी कभी-कभी प्रेस जाते समय मेरे घर पर आ जाते थे—प्रूफ लेने के लिए। उन्होंने मुझे दु:खी और व्यग्र देखकर बड़े पराड़करजी से कह दिया कि संकोच के मारे शिवजी आपसे नहीं कहते—उनको शास्त्रीजी के नाम एक सिफारिशी चिट्ठी चाहिए।

दूसरे दिन मैं प्रेस में गया तो पराड़कर जी ने मुझे पास बुलाकर हाल पूछा और झिड़का भी कि तुम संकोचवश बेचारी की जान से खिलवाड़ कर रहे हो। झट एक पत्र लिखकर दे दिया। शास्त्रीजी के पास गया तो पत्र देखकर उन्होंने कहा कि पराड़करजी की चिट्ठी लाये हो तो तुमसे फीस या दवा का दाम नहीं लूँगा।

पराड़करजी ने आधी फीस और दवा की आधी कीमत लेने के लिए लिखा था। शास्त्रीजी जब रोगियों को देखने निकलते थे, तब मेरे घर भी आ जाते थे। 'आज' कार्यालय जाते-आते समय दो-तीन बार स्वयं पराड़करजी भी हाल-चाल पूछने आये थे। उस समय चमरगलिया में उनका मकान था।

शास्त्रीजी की दवा से पत्नी अच्छी हो चली। तब उसके पिता उसे बक्सर (बिहार) में गंगातट पर रखने के लिए ले गये। वहाँ चरित्र-वन के एक मठ में उसका देहान्त हो गया। मैं ज्ञानमण्डल में बैठा प्रूफ शोध रहा था कि तार आ गया।

छोटे पराड़करजी मुझे अधीर देख उनके पास ले गये। उन्होंने अपना दृष्टान्त देकर तोष-बोध दिया। फिर 'आज' में समवेदना भी प्रकट की। साधारणजन से इतनी सहानुभूति, छुटभैयों पर इतना स्नेह, आज कौन रखता है ?

शोकोद्वेग से मेरा स्वास्थ्य कुछ लच गया। मैं क्वीन्स कॉलेज के पास तेलियाबाग के एक बगीचे में स्वास्थ्य सुधारने गया। गृह-प्रवेश करते ही छत से अचानक गिर गया। दाहिने पैर की हड्डी टूट गई। पराड़करजी दोनों भाई मुझे देखने पधारे। महीनों बाद चंगा होने पर जब उनका चरण-स्पर्श करने गया, तब सिर पर हाथ फेरते हुए बोले—'दुर्घटना से बचा हुआ मनुष्य दीर्घायु होता है, तुमसे ईश्वर को अभी कुछ काम लेना है।'

मैं हाथ जोड़े आशीर्वाद सुनता रहा।

मैं फिर शहर में आकर काल-भैरव के पास, भुतही इमली की गली में, रहने लगा। मेरे मकान के सामने से रोज पराड़करजी प्रेस जाते-आते गुजरते थे। संयोगवश एक दिन दरवाजे पर मुझे देखा। मेरे दोनों पैरों में, घुटने से पावपीठ तक उकवथ (सरस दाद) हो गया था। कुछ क्षण ठिठककर घाव का हाल पूछा और शाम को अपने घर बुलाया। उनके किसी कुटुम्बी या सम्बन्धी को कभी यह रोग हुआ था। मैं गया तो उस व्यक्ति के अनुभव सुनाने लगे। उस व्यक्ति का रोग जिस दवा से छूटा था, वह उनको याद थी (पर मुझे आज याद नहीं !)। उन्होंने नुस्खा लिखवा दिया। यह भी बतलाया कि प्रतिदिन शुद्धता से सूर्य-नमस्कार करना होगा और रविवार को नमक छोड़ना पड़ेगा। तबसे वह रोग मुझे नहीं हुआ। आज भी रविवार को अलोना खाता हूँ।

श्रद्धेय श्रीलक्ष्मणनारायण गर्देजी जब कलकत्ता से काशी आये, तब लक्ष्मीनारायण प्रेस से 'श्रीकृष्ण-सन्देश' फिर निकाला। उस समय श्रीगणपति कृष्ण गुर्जरजी प्रेस के मैनेजर थे। उन्होंने 'मतवाला'-शैली के व्यंग्य-विनोद लिखने के लिए बड़ा आग्रह किया। गर्देजी ने भी आदेश दिया। मैं प्रायः लिखने लगा। कुछ दिनों बाद जब वह पत्र बन्द हो गया, तब एक दिन पराड़करजी के घर पर गुर्जर जी अकस्मात् मिल गये। उन्होंने हँसते-हँसते वह भेद खोल दिया। पराड़करजी ने छूटते ही उनसे कहा—'तुम पत्रकार नहीं हो, इसलिए यह रहस्य पचा नहीं सके, सम्पादक अपने गुमनाम लेखक का पता कभी नहीं देता; कुशल है कि पत्र बन्द हो चुका है।'

काशी के प्रसिद्ध साहित्य-सेवी पंडित विनोदशंकर व्यास ने मेरे सम्पादकत्व में साहित्यिक पाक्षिक 'जागरण' निकाला था। मैं आशीर्वाद के लिए पराड़करजी के पास गया। प्रोत्साहन के हेतु 'आज' में टिप्पणी लिखने के लिए भी निवेदन किया। उन्होंने बड़ी मिठास के साथ समझाया—"आज' में पत्र-परिचय छप सकता है, पर टिप्पणी लिखने की बात दो वर्ष की गति-विधि देख लेने के बाद ही सोचूँगा।"

में सहम गया। मुझे कदराया देख उन्होंने ढाढ़स बँधाया—"दूसरों के प्रोत्साहन का आसरा छोड़कर अपने परिश्रम का भरोसा करो। जो सम्पादक अपने पत्र के लिए सम्मति माँगता फिरता है, उसको लेख की भीख भी नहीं मिलती और जो अपने बल-बूते पर लगन से पत्र को उपयोगी बनाता है, उसके पास अनायास लेख पहुँचते रहते हैं।"

मेरी तीसरी शादी की बात चलने लगी। छोटे पराड़करजी से उनको भनक मिली। मेरी आनाकानी का भी उन्हें पता लगा। संयोगवश एक दिन प्रेस से लौटती बार भेंट हो गई। बातचीत करते अपने घर ले गये। कहने लगे—"अगर तुम्हारे मन में विवाह की वासना है, तो दम्भ मत करो; कोई सन्तान नहीं है और चालीसा नहीं लगा है, तो सयानी लड़की से ब्याह करो, ब्याह की उम्र रहते जबरदस्ती अपनी वासना को दबाना और कमजोरी छिपाना खतरनाक है, वैराग्य हार्दिक होना चाहिए।"

ब्याह के बाद जब उन्हें भोज का निमंत्रण देने गया तब उन्होंने हँसकर कहा—"प्रौढ़ के विवाह का भोज तृप्तिकर नहीं होता, पुत्र-जन्म का जेवनार ही रुचिकर होता है।"

में लज्जित तो हुआ, पर उनके विनोद को आशीर्वाद ही माना। सचमुच साल के भीतर ही उनका आशीर्वाद सफल हुआ। तब उन्हें सादर पधराकर मुँह मीठा कराया।

गत वर्ष (१९५४ ई० में) जब उसी लड़के का ब्याह काशी में हुआ, तो मेरा निमंत्रण पाकर वे बरात में भी आये। उनका शरीर सर्वथा शिथिल था, आँखों की ज्योति बहुत मन्द हो गई थी, सहारा देने पर ही चल सकते थे। फिर भी उन्होंने हिन्दी के नाते मुझे बड़ाई दी। जब दुल्हे ने उनका चरण-स्पर्श किया और मैंने याद दिलाया कि यह वही लड़का है, जिसके जन्म में आपने मिठाई खाई थी, तब हँसकर बोले कि ऐसे ही नव-विवाह की मिठाई स्वादिष्ठ होती है।

वास्तव में उन्होंने मिठाइयों से भरी तश्तरी पर भरपूर कृपा की। जनवासे से कन्यागृह तक मेरे साथ रिक्शा पर गये। कुछ दूर पतली गली में पैदल भी चलना पड़ा। दूसरों के कन्धों पर हाथ रखकर चले। मैंने जब कहा कि आपको बहुत क्लेश पहुँचा रहा हूँ, तो बोले कि मुझे तो सुख का ही अनुभव हो रहा है। भला उनकी सहृदयता की महिमा कौन बखानेगा ?

जनवासे में एक बात उन्होंने मार्मिक वेदना के साथ कही थी। वही उनकी अन्तिम वाणी इन कानों में गूँज रही है। बोले—"देखो जी, काशी के महाराष्ट्र-समाज में एक ही व्यक्ति मुझसे उम्र में बड़ा है। ज्योतिषी ने मुझसे कहा था कि आप दीर्घजीवी होंगे। यह दीर्घ जीवन मेरे लिए अभिशाप बन गया। मुझसे सब छोटे तो आगे चले गये और मैं स्थाणु बन गया हूँ। प्रियजनों का वियोग सहने के लिए ही मैं दीर्घायु पैदा हुआ !'

अन्तरात्मा की वह करुण भाषा ! मानों भीतर का ब्रह्म बोल गया।

पराड़करजी की सचित्र जीवनी हिन्दी-संसार में सबसे पहले 'बालक' में छपी थी। श्रीनारायण राजाराम सोमण[1] ने उनको बहुत घेरा। उपर्युक्त गुर्जरजी भी उनके पीछे पड़ गये। जब उन्होंने देखा कि इन दोनों से किसी तरह पिण्ड न छुटेगा; तब जीवनी छापने की अनुमति दी। सामग्री तो सोमणजी और गुर्जरजी ने इधर-उधर से जुटाई, फोटो भी औचक ही लिया गया।

उनको आत्मविज्ञापन बिलकुल पसन्द नहीं था। वे कभी किसी सभा-सम्मेलन में भी जाना नहीं चाहते थे। घर से ज्ञानमण्डल तक ही उनकी अपनी दुनिया थी। नाक की सीध पर चुपचाप आते-जाते थे, दायें-बायें ताकते भी नहीं थे। राजनीतिक हवा का रुख और देश की नाड़ी पहचानने में ही सदैव तल्लीन रहते थे। उनकी प्रत्येक साँस में राष्ट्र की हितैषणा थी। राष्ट्र के गौरव की रक्षा और उसकी सेवा के लिए ही उन्हें 'आज' का उत्कर्ष अभीष्ट था।

जनता के दिल की धड़कन का वे अपने भीतर अनुभव करते थे। इसीलिए उनकी दूरदर्शिता का लोहा नेता भी मानते थे। वे जीवन का प्रत्येक क्षण स्वाध्याय द्वारा ज्ञानार्जन में ही बिताते। पत्रोत्तर देना भी उनके लिए झंझट का काम था। एक दफा उन्होंने 'आज' में टिप्पणी लिखी कि सर्वथा अनिवार्य आवश्यकता होने पर ही पत्र लिखना चाहिए और पत्र न मिले तो समझो कि कुशल-मंगल है।

राष्ट्र-भाषा का बड़ा उपकार हो, यदि 'आज' में प्रकाशित पराड़करजी की प्रत्येक पंक्ति संगृहीत होकर प्रकाशित हो जाय। सुसम्पादित ग्रंथावली ही वास्तविक स्मारक होगी। साहित्य की भी श्रीवृद्धि होगी। विश्वनाथजी की ऐसी प्रेरणा हो।

—साप्ताहिक 'आज'-विशेषांक (काशी); २३ जनवरी, १९५५ ई०

[२]

सम्पादक-स्रष्टा पराड़करजी

पूज्य पराड़करजी ने 'आज' के माध्यम से कई सुयोग्य सम्पादकों का निर्माण किया। यही काम आचार्य द्विवेदीजी ने भी किया था। हिन्दी में सम्पादन-कला का विकास-इतिहास जो जानते हैं, वे इसके साक्षी हैं।

दैनिक पत्र को लोकोपयोगी और लोकप्रिय बनाने की कला उन्होंने बड़ी सफलता से प्रदर्शित की। दैनिक पत्र को स्थायी साहित्य की वस्तु बनाकर उन्होंने प्रत्यक्ष दिखा दिया। इसीलिए उनके देहान्त के उपरान्त भी 'आज' में वही ओज है, 'आज' के ही सिर पर ताज है।

१. श्रीसोमणजी महाराष्ट्र-ब्राह्मण हैं, अतः पराड़करजी के सजातीय होने के कारण उनके परिवार से बहुत हिले-मिले थे। उस समय आप पुस्तक-भण्डार के विद्यापति प्रेस में मैनेजर थे। आप भी बड़े हिन्दी-प्रेमी और साहित्यानुरागी व्यक्ति हैं तथा मुद्रण-कला के अच्छे जानकार हैं। काशी के प्रसिद्ध लक्ष्मीनारायण प्रेस में बहुत दिनों तक बड़ी सफलता के साथ काम कर चुके हैं। —लेखक

द्विवेदीजी से उनकी समता इस अर्थ में भी है कि वे गहन-से-गहन विषय को भी सरल-से-सरल बनाकर जनता को हृदयङ्गम करा देते थे। अन्तरराष्ट्रीय कूटनीति, मुद्रास्फीति, राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, साम्प्रदायिक एकता आदि गूढ़तम विषयों के स्पष्ट समझाने में वे सिद्धहस्त थे।

उनकी भाषा संस्कृतनिष्ठ होती थी, परन्तु सुबोध। 'हिन्दुस्तानी' को वे 'खिचड़ी' के बदले 'खचड़ी' भाषा कहते थे। उनका कहना था कि वह कभी भारतीय सभ्यता और संस्कृति की वाहिनी नहीं हो सकती। उन्होंने अखबारी दुनिया में अपने गढ़े हुए अनेक नये शब्दों के सिक्के चला दिये। पत्रकारिता के क्षेत्र में उनकी लेखनी एक टकसाल-सी थी।

वे जनता की रुचि और प्रवृत्ति खूब पहचानते थे। लोकमत का दिशा-संकेत करके वे जन-नायकों को भी प्रभावित करते रहे। इसीलिए राष्ट्रीय आन्दोलन के तूफान में 'आज' ने अविचल प्रकाश-स्तम्भ का काम किया।

बिहार में जो प्रलयकारी भूकम्प सन् १९३४ ई० में हुआ था, उसमें काशी भी डोली थी। मैं उस समय लहेरियासराय (दरभंगा) मे था। किन्तु मेरा परिवार काशी में था। विश्वनाथजी की कृपा से मेरी पत्नी और मेरे छोटे बच्चे सकुशल रहे। पर मैं उनके लिए बहुत चिन्तित था। बिहार की बरबादी सुनकर मेरी पत्नी ने मेरे नौकर को पराड़करजी के पास भेजा। उन्होंने नारी-हृदय की व्यग्रता का अनुमान करके अपने छोटे भाई माधवरावजी को मेरे घर पर सान्त्वना देने के लिए भेजा। इतना ही नहीं, पचीस रुपये भी भेज दिये और मेरी कुशलता का संवाद भी भेज दिया।

जब एक सप्ताह बाद मैं किसी तरह काशी पहुँचा तब देखा कि पराड़करजी का एक पुर्जा आया था, जिसमें मेरे सुरक्षित होने का आश्वासन दिया गया था। उस समय रेल-तार के नष्ट हो जाने से उत्तर-बिहार का कोई निश्चित समाचार नहीं मिलता था। फिर भी उन्होंने अनजाने ही अन्दाज से वैसा लिख दिया था। उस पुर्जे ने मेरी अधीर पत्नी की प्राण-रक्षा की। नहीं तो घबराहट के मारे कोई दुर्घटना हो जाती।

जब मैंने उनके पास जाकर चरण-स्पर्श किया, तब हँसकर कहने लगे कि 'हमने जान-बूझकर तुम्हारी सुरक्षा की सूचना दे दी थी, हमें आशा थी कि हमारा अनुमान ठीक निकलेगा, हम धैर्य छोड़कर तुम्हारे परिवार को हताश कर देते, तो अनर्थ हो जा सकता था।'

उनका धैर्य तो अटल था ही, उनकी सूझ भी बड़ी अनोखी रही। मेरे विषय में कुछ न जानते हुए भी उन्होंने एक अनाथ परिवार को ढाढ़स देने के लिए अनिश्चित बात को निश्चित रूप में लिख दिया। उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव हुआ। मेरे लौटने में देर होने पर भी उन्होंने मेरे घर में कोई आशंका न पैदा होने दी। कितना दृढ़ उनका आत्मविश्वास था!

सचमुच शुभचिन्तक की अन्तरात्मा का आशीर्वाद भगवान् अवश्य सफल करते हैं। मेरी पत्नी कहा करती थीं कि 'हमलोगों के लिए विश्वनाथजी ही पराड़करजी बन गये, वे खोज-खबर न लेते, तो मैं हाय-हाय करके मर जाती।'

मेरा उनसे कोई विशेष सम्बन्ध न था। मेरी देख-रेख में छपाई का कुछ काम ज्ञानमण्डल में होता था। उनके प्रिय अनुज माधवरावजी से ही मेरा अधिक लगाव था। मैं 'आज' में शायद ही कभी कुछ लिखता था। फिर भी उनका स्नेह और उनकी सहानुभूति का पात्र मैं बना रहा। अत्यन्त साधारण परिचय होने पर भी कौन किसकी इतनी सुध लेता है। किन्तु यह तो उनकी मनुष्यता की महिमा थी कि वे सामान्य साहित्यिक व्यक्ति के भी सुहृद् ही प्रमाणित होते थे।

मैं जब पचीस रुपये लौटाने गया, तब उन्होंने भूकम्प की प्रलयकारी लीला का आँखों-देखा वर्णन लिखने का आदेश दिया। मैंने 'आज' के कई अंकों में विस्तृत विवरण लिखा। किन्तु उनकी उदारता की कहानी बीस वर्ष बाद आज लिख रहा हूँ।

काशी के धन्वन्तरि पंडित त्र्यम्बक शास्त्री उनकी अपनी बिरादरी के थे और मित्र भी। किन्तु शास्त्रीजी जब वृद्धावस्था में एक कुमारी कन्या से नई शादी करने लगे, तब पराड़करजी ने 'आज' द्वारा खुल्लमखुल्ला उसका लगातार विरोध किया। प्रौढ़ावस्था में उन्होंने स्वयं विधवा-विवाह किया था। समाज-सुधार के मामले में वे किसीसे पीछे नहीं थे। शास्त्रीजी कट्टर सनातनी थे। छोटे पराड़करजी (माधवरावजी) भी सनातनधर्म के श्रद्धालु अनुयायी थे। फिर भी दोनों भाई राम-लक्ष्मण थे। सिद्धान्त-सम्बन्धी मतभेद का कुछ भी प्रभाव भ्रातृस्नेह पर नहीं पड़ा था। शास्त्रीजी की मैत्री भी विचार-विभेद से दूषित नहीं हुई। किन्तु पराड़करजी निर्भय होकर उचित बात कहने से कभी न चूके। महान् व्यक्तियों में मतभेद के कारण मनोमालिन्य नहीं होता।

जहाँ तक मुझे याद है, स्वतंत्रता-संग्राम के दिनों में, राष्ट्र की विभिन्न समस्याओं पर, पराड़करजी ने 'सदाशिव' नाम से 'आज, के अंकों में, एक लेखमाला लिखी थी। उनके सम्पादकीय लेखों के साथ उनके गुमनाम लेखों का भी संग्रह छपना चाहिए।

उन्होंने सत्याग्रह के युग में जो 'रणभेरी' बजाई थी, उसके भी क्रान्तिकारी लेखों का प्रकाशन अत्यावश्यक है। वह पत्रिका कब, कहाँ, किधर से निकलकर लोगों के हाथ में पहुँच जाती थी, यह अँगरेजी-राज्य की पुलिस लाख चेष्टा करके भी न जान सकी। वह पराड़करजी की लेखनी का जादू नौकरशाही के सिर पर चढ़कर बोलता रहा। पर उस पत्रिका के स्रोत या सूत्र का पता किसी तरह न लग सका। वह पराड़करजी के ही अमोघ अस्त्र की माया थी। काशी की गलियों में पुलिस के सिर पर 'रणभेरी' की प्रतियाँ अचानक बरसती थीं और पुलिस आसमान ताकती रह जाती थी।

पराड़करजी ने आज के द्वारा देश, समाज, धर्म, साहित्य और संस्कृति की जो सेवा की है, वह चिरस्मरणीय रहेगी और ईमानदार इतिहासकार ही उसका यथार्थ

मूल्यांकन कर सकेगा। वह सधी हुई सेवा-प्रणाली 'आज' की जीवन-पद्धति बन गई है। हो सकता है कि युगानुसार उसका क्रमशः विकास भी हो, पर वास्तव में वह पराड़करजी की ही देन है।

मासिक 'पाटल' (पटना); वर्ष ३, अङ्क ४; जनवरी-फरवरी, १९५५ ई०

श्रीपारसनाथ सिंह

श्रीपारसनाथ सिंहजी द्विवेदी-युग के साहित्य-सेवी थे। हिन्दी-जगत् में वे कवि, आलोचक, निबन्धकार, पत्रकार और इतिहासकार के रूप में सुपरिचित थे। उनके समान बहुज्ञ और बहुश्रुत विद्वान् के असामयिक निधन से हिन्दी की बड़ी हानि हुई है। उनके गम्भीर स्वाध्याय और शास्त्रानुशीलन का जो फल हिन्दी को मिलनेवाला था, वह नहीं मिल सका। उनकी मेधाशक्ति के प्रसाद से साहित्य वंचित रह गया!

उनसे पहले-पहल कलकत्ता में भेंट हुई थी। सन् १९२० में ई० असहयोगी होने के बाद ही मैं मासिक 'मारवाड़ी-सुधार' का सम्पादक होकर कलकत्ता गया। उस समय वे 'स्वतंत्र' के संपादकीय विभाग में सहायक थे। ऑफिस-टाइम के बाद वे प्रायः पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी के पास जाया करते थे। पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा और पं० सकलनारायण शर्मा[1] से उनकी बड़ी घनिष्ठता थी। ये दोनों भी चतुर्वेदीजी के यहाँ बराबर आते-जाते थे। चतुर्वेदीजी के घर पर सुबह-शाम साहित्यिक जमघट में केवल भाषा-संबंधी विचार-विमर्श होता था। उसमें चतुर्वेदीजी और दोनों शर्माजी के साथ उनकी (पारस बाबू की) जो तर्क-युक्ति-सहित बातचीत होती थी, उससे उनकी मननशीलता का पता लगता था।

एक बार उन्होंने चतुर्वेदीजी के यहाँ साहित्यिकों की चिट्ठियों की भाषा पर विचार होते समय आचार्य महावीरप्रसादजी द्विवेदी का एक पत्र दिखलाया था। उनमें द्विवेदीजी ने उन्हें बधाई दी थी। उन्होंने (पारस बाबू ने) महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक बँगला-कविता का हिन्दी-पद्यानुवाद किया था। वह कविता 'सरस्वती' में छपी थी। उसका शीर्षक संभवतः 'संध्या का दीप' था। द्विवेदीजी को उनका अनुवाद बढ़िया जँचा था, इसलिए प्रोत्साहन का पत्र लिखा था कि अनुवाद में मौलिक कविता का आनन्द मिलता है।

उनके पास पंडित पद्मसिंह शर्मा के भी बहुत-से पत्र थे। यदि उनके पास आये हुए साहित्यिक पत्र कहीं सुरक्षित हों, तो उनका संग्रह करके छपवाना चाहिए। उनकी अप्रकाशित रचनाओं का भी प्रकाशन शीघ्र होना आवश्यक है।

---

१. पं० सकलनारायण शर्मा उस समय कलकत्ता-विश्वविद्यालय में संस्कृत के व्याख्याता थे। वे आरा-नगर के निवासी और 'आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा के संस्थापकों में थे। पटना की साप्ताहिक पत्रिका 'शिक्षा' का उन्होंने अनेक वर्षों तक सम्पादन किया था। वे संस्कृत, हिन्दी और बँगला के उद्भट वक्ता थे।—ले०

जब मैं सुलतानगंज (भागलपुर) से प्रकाशित 'गंगा' मासिक पत्रिका का संपादक था, तब उन्होंने 'वैशाली'-सम्बन्धिनी एक लेखमाला लिखी थी। गुणग्राही साहित्यकारों ने उस लेखमाला की बड़ी प्रशंसा की थी। उससे उनकी गवेषणात्मक प्रवृत्ति का पता लगता था।

नालन्दा और विक्रमशिला नामक प्राचीन विश्वविद्यालयों पर उन्होंने अनुसंधान-पूर्ण लेख लिखना शुरू किया था; पर उस लेखमाला को पूरा नहीं कर सके। फिर भी अत्यन्त कार्य-व्यस्त रहते हुए वे जो साहित्य-सेवा करते थे, वह उनकी ज्ञान-गरिमा और प्रतिष्ठा के अनुकूल थी।

पटना से जब 'हिमालय' निकला, तब फिर मैंने और भाई बेनीपुरीजी ने उनका स्मरण किया। उन्होंने बड़ी कठिनाई से समय निकालकर 'खाँ साहब' का रेखा-चित्र इतनी स्वाभाविकता से अंकित किया था कि 'हिमालय' के सुधी पाठकों ने उनसे और भी लिखवाने का आग्रह किया।

उनकी लेखमालाओं से पता चलता है कि वे एक सिद्धहस्त शैलीकार भी थे। स्कूल में उन्होंने उर्दू-फारसी पढ़ी थी और संस्कृत तथा बंगला का अध्ययन स्वतंत्र रूप से किया था। उनकी संस्कृत-बहुल शैली भी परिमार्जित और ललित होती थी। 'खाँ-साहब' में वे उर्दूदाँ दीख पड़ते हैं; पर वह भी मुहावरेदार हिन्दी की हास्यरसात्मक शैली है।

आचार्य शुक्लजी ने शैली के विचार-प्रसंग में लिखा भी है कि हास्यरस अथवा व्यंग्य-विनोद की रचनाओं में उर्दू-मिश्रित शैली खूब फबती है। किन्तु उनकी उर्दू-मिश्रित शैली भी बोलचाल की भाषा का निखरा हुआ रूप प्रदर्शित करती है। वे लिखते समय सदैव भाषा के शुद्ध एवं सरल रूप पर ध्यान रखते थे। उनकी कविताएँ भी प्रांजल भाषा का रूप दरसाती हैं।

भारतीय पक्षियों पर उन्होंने जो पुस्तक लिखी है, उससे उनके ज्ञान-क्षेत्र के विस्तार का पता चलता है। एक बार मैं पटना के 'सर्चलाइट-प्रेस' में उनसे मिलने गया, तो देखा कि उनका ज्योतिष-शास्त्र-संबंधी अध्ययन चल रहा है। अँगरेजी के बड़े-बड़े ग्रन्थ उनके चारों ओर पड़े थे। उसी विषय के संबंध में वे कुछ चर्चा करने लगे। उस समय उनके पाण्डित्य के प्रति मेरे मन में अनायास श्रद्धा उत्पन्न हो आई।

मेरे चिरपरिचित साहित्यिक मित्र पं० विश्वम्भरनाथ जिज्जा[1] एक बार उनके साथ पटना आये, तो मिलने पर मुझसे कहने लगे कि जब वे बोलकर कुछ लिखवाने लगते हैं, तब उनकी विलक्षण स्मृति-शक्ति देख बड़ा आश्चर्य होता है। सचमुच वे सरस्वती के वरद पुत्र थे।

साहित्य में उनकी प्रतिभा जैसी प्रखर थी, वाणिज्य-व्यवसाय और उद्योग-धंधे में भी उनकी बुद्धि वैसी ही तीव्र थी। अपनी बुद्धि के चमत्कार और मस्तिष्क की उर्वरता

---

१. पं० विश्वम्भरनाथ 'जिज्जा' हिन्दी के प्रसिद्ध कथाकार और पत्रकार हैं। बहुत दिनों से वे प्रयाग के लीडर प्रेस में दैनिक 'भारत' के सम्पादकीय विभाग में सहकारी हैं।—ले०

के प्रभाव से ही वे कई बड़े-बड़े कारखानों के सफल संचालक हो सके थे। उनकी बहुमुखी प्रतिभा ने लक्ष्मी और सरस्वती का परम्परागत सौतिया-डाह मिटा दिया था।

उन्होंने पंडित पद्मसिंह शर्मा के निबन्धों का संग्रह प्रकाशित कराया था। वे साहित्यिकों की कीर्त्ति-रक्षा के बड़े हिमायती थे। अवसर पाकर साहित्यिकों की सहायता भी किया करते थे। बहुत-से गरीब विद्यार्थियों को अज्ञात रूप से आर्थिक सहायता देते थे। मैंने एक बार एक छात्र को उनके पास भेजा था। वह बेचारा सफल-मनोरथ होकर लौटा और उनकी उदारता और सहृदयता की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगा। किन्तु उनके परोपकार के काम कभी प्रकाश में नहीं आये। वे कीर्त्ति और प्रतिष्ठा की कामना से सदा दूर ही रहे।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से जब उनकी 'जगत्-सेठ' नामक पुस्तक पर एक हजार रुपये का पुरस्कार मिला था, तब मैंने परिषद् के कार्य-विवरण में छापने के लिए उनका सचित्र परिचय माँगा था। उन्होंने बहुत अनुनय-विनय करने पर भी अपना परिचय छपवाना स्वीकार नहीं किया। तब मैंने बहुत आग्रह करके उन्हें इस बात पर राजी किया कि दूसरे किसी सूत्र से प्राप्त करके मैं काम चलाऊँ। ऐसे वे निःस्पृह, संकोची और विनयी थे।

परिषद् के वार्षिकोत्सव में पुरस्कार लेने के लिए वे स्वयं आने में बहुत सकुचाते रहे। उस दिन वे पटना के अस्पताल में थे। प्रयत्न करके वे लाये जा सकते थे; पर आत्म-विज्ञापन उन्हें अभीष्ट न था। आखिर में ही पुरस्कार-द्रव्य और ताम्रपत्र लेकर उनके पास अस्पताल में गया। उस समय की उनकी कारुणिक मुखमुद्रा और सजल दृष्टि आज भी नहीं भूलती। उनके गद्गद कंठ से कोई वाणी नहीं निकली। ऐसे निष्काम साहित्यसेवी बहुत कम देखने में आते हैं।

उनके दिवंगत होने से बिहार का तो एक अनमोल लाल असमय लुट ही गया, हिन्दी-संसार का भी एक समर्थ इतिहासज्ञ जाता रहा।[1]

—दैनिक 'भारत' (प्रयाग) और दैनिक 'प्रदीप' (पटना), स्मृति-अङ्क,
नवम्बर १९५४ ई०

आचार्य गुलाबरायजी

'साहित्य-सन्देश' के लब्धकीर्त्ति सम्पादक डॉक्टर गुलाबरायजी को मैं सन् १९१४ ई० से ही जानता हूँ। आरा (बिहार) के प्रेम-मन्दिर से कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन (अब स्वर्गीय) ने उनकी दो पुस्तकें पहले-पहल प्रकाशित की थीं—"फिर निराशा क्यों?'

१. पटना के सर्चलाइट प्रेस में, १५ अक्तूबर (१९५४ ई०) को आठ बजे प्रातःकाल, उनका आकस्मिक निधन हुआ। मैंने और श्रीअनुपलाल मण्डल ने साथ जाकर उनके शव पर पुष्पाञ्जलि समर्पित की थी। —ले०

और 'मैत्री-धर्म'। इन दोनों पुस्तकों की छपाई मेरी ही देख-रेख में हुई थी। फिर 'मैत्री-धर्म' का नवीन संस्करण भी मेरी ही देख-रेख में पुस्तक-भण्डार (लहेरिया-सराय) से प्रकाशित हुआ था। इनके छपने से पहले भी मैं श्रीगुलाबरायजी का शुभ नाम सुन चुका था। वे छतरपुर-नरेश के साहित्य-मंत्री थे। मिश्रबन्धु भी छतरपुर-दरबार में ही थे। उन लोगों की प्रेरणा से महाराज ने बिहार के सुप्रसिद्ध साहित्य-सेवी बाबू व्रजनन्दन सहाय 'व्रजवल्लभ' को आमंत्रित करके सम्मानित किया था। व्रजवल्लभजी वहाँ से लौटने पर कहने लगे कि श्रीगुलाबरायजी की प्रतिष्ठा वहाँ दर्शन-शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् के रूप में है और उन्हीं के कारण वहाँ साहित्यकारों का आदर-मान होता है। आज 'व्रजवल्लभ' जी होते, तो उस समय के संस्मरण लिख सकते। कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन श्रीगुलाबरायजी की विद्वत्ता और दार्शनिकता से बहुत प्रभावित थे। वे भी आज होते, तो आरम्भिक युग के संस्मरण सुनाते।

जब मैं कलकत्ता के 'मतवाला-मण्डल' में था (सन् १९२३-२४ ई० में), तब श्रीगुलाबरायजी की 'नवरस' नामक प्रसिद्ध पुस्तक का प्रथम संस्करण आरा (बिहार) की नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से मैंने ही छपवाया था। फिर उसका परिवर्द्धित संस्करण भी वृहदाकार में प्रकाशित हुआ। इस तरह उनकी कई पुस्तकों का प्रूफरीडर होने के कारण मुझे उनकी विवेचनात्मक और विचारोत्तेजक शैली के अनुशीलन का आनन्द उपलब्ध हो चुका है।

श्रीगुलाबरायजी के अन्तिम दर्शन का सौभाग्य जयपुर में सम्भवतः सन् १९४४ ई० में हुआ था। उसके बाद फिर उनके साक्षात्कार का सुयोग सुलभ नहीं हुआ है। जयपुर में अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का महाधिवेशन गोस्वामी-गणेशदत्तजी के सभापतित्व में हुआ था। उस समय सर मिर्जा इस्माइल साहब रियासत के प्रधान मंत्री थे। सभी प्रतिनिधियों के पारस्परिक परिचय का समारोह विशेष आयोजन के साथ हो रहा था। मिर्जा साहब के साथ प्रमुख साहित्यसेवियों का फोटो लिया जा रहा था। राजर्षि टण्डनजी, पं० माखनलाल चतुर्वेदी, पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी आदि मिर्जा साहब के साथ अगली पंक्ति में खड़े थे। मैं श्रीगुलाबरायजी के साथ सभा से निकला तो पंक्तिबद्ध होने के बदले हम लोग आँखें बचाकर बाहर निकल गये। श्रीगुलाबरायजी हँसते हुए कहने लगे कि बहुत-से सज्जन बड़े शौक से कतार में शामिल हो गये हैं और कितने ही लोग पंक्ति के पीछे खड़े उचक-उचक कर फोटो खिचवा रहे हैं।

श्रीगुलाबरायजी के साहित्यिक विनोद बड़े सरस होते हैं। शिष्ट हास्य-व्यंग्य लिखने में उनका कौशल बड़ा हृदयग्राही है। निबन्ध और आलोचना लिखने में तो सिद्धहस्त हैं ही, पत्र-सम्पादन-कला में भी उनकी निपुणता जगजाहिर है। 'साहित्य-सन्देश' द्वारा उन्होंने निबन्ध-साहित्य और आलोचना-साहित्य का प्रतिमान बहुत ऊँचा किया है। सत्तर वर्ष के वृद्ध होकर भी वे आधुनिकतम साहित्यिक प्रगति और नवयुगीन विचार-धारा के साथ हैं। साहित्य-साधना में सतत संलग्न रहने से उनका शरीर अब

जरा-जर्जर हो चला है, पर उनकी शैली और चिन्तन-धारा पुरानी नहीं पड़ी है। जैसे पूज्य आचार्य द्विवेदीजी ने सुदीर्घ काल तक 'सरस्वती' द्वारा भाषा और साहित्य का निर्माण एवं परिष्कार किया था, वैसे ही श्रीगुलाबरायजी भी बरसों से 'साहित्य-सन्देश' द्वारा वर्त्तमान साहित्यिक आलोचना-पद्धति का उन्नयन कर रहे हैं। उनकी सेवाएँ साहित्य के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेंगी। उनकी ७०वीं जयन्ती के शुभ अवसर पर परमात्मा से यही प्रार्थना है कि साहित्य-क्षेत्र में उनका नेतृत्व सदैव हमारा पथ-प्रदर्शन करता रहे।

—'साहित्य-सन्देश' (आगरा); प्रगति-अङ्क, जनवरी-फरवरी, १९५८ ई०

बाबू जी० पी० श्रीवास्तव

साहित्य के नव रसों में हास्य एक प्रधान रस है। पढ़ने और सुननेवालों के लिए वह जितना ही मनोरंजक है, लिखनेवालों के लिए उतना ही कठिन है। हिन्दी के प्राचीन साहित्य में हास्य-रस की रचनाओं का अभाव तो नहीं है; पर प्रचुरता भी नहीं पाई जाती। किसी-किसी पुस्तक में हास्यरस की कुछ फुटकर कविताएँ इधर-उधर देखने को मिलती हैं। इसके बाद जब से आधुनिक हिन्दी का अवतार हुआ, तब से भारतेन्दु, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पंडित शिवनाथ शर्म्मा आदि कुछ प्रतिभाशाली लेखकों ने हास्यरस की रचना की ओर ध्यान दिया और उसमें सफलता भी पाई; परन्तु ऐसा कोई लेखक अबतक पैदा नहीं हुआ, जो केवल हास्य-रस में ही डूबा रहता हो, और जो इस क्षेत्र में सबसे श्रेष्ठ आसन पर बैठने का अधिकारी हो सके। केवल शुद्ध हास्य-रस का ही स्रोत प्रवाहित करने के लिए जिसकी लेखनी नित्य संचालित होती रहती हो, ऐसे लेखक का हिन्दी में अबतक अभाव-सा ही था। इस अभाव की पूर्त्ति 'गोण्डा' के वकील बाबू जी० पी० श्रीवास्तव के द्वारा बहुत-कुछ हुई है। आपका पूरा नाम बाबू गंगाप्रसाद है। पर साहित्य-संसार में आपका 'जी० पी०' नाम ही सर्वजनप्रिय है।

आपका जन्म बिहार-प्रान्त के छपरा-नगर में, एक प्रतिष्ठित कायस्थ-कुल में, २३वीं अप्रैल (सन् १८९१ ई०) को हुआ था। इनके पिता का नाम बाबू रघुनन्दनप्रसाद था। पहले ये लोग पटना के रहनेवाले थे; परन्तु पीछे कुटुम्ब-कलह के कारण छपरा में आकर रहने लगे। यहीं श्रीवास्तवजी के नाना का घर था। इसी समय इनके पिता नौकरी के सिलसिले में गोरखपुर चले गये। वहीं चार-पाँच वर्ष की अवस्था में श्रीवास्तवजी की शिक्षा आरंभ हुई। पहले आपको उर्दू पढ़ाने के लिए एक मौलवी साहब रखे गये। उनसे और चंचल-स्वभाव श्रीवास्तवजी से कैसी गहरी छनती थी, इसका कुछ खाका आपकी 'लम्बी दाढ़ी' नामक पुस्तक के 'मौलवी साहब' नामक प्रबन्ध में खिंचा हुआ है।

गोरखपुर के स्कूलों में मास्टरों की मार-पीट के डर से आपने बहुत दिन तक पढ़ने का नाम नहीं लिया, इसलिए इनके नाना इन्हें हथुआ ले गये और वहीं के राज-हाई-स्कूल में भर्ती करा दिया। क्रमशः रेल की नौकरी में बदलते-बदलते इनके पिता 'गोंडा' चले आये और यहीं घर बनाकर रहने लगे। तब इन्होंने श्रीवास्तवजी को नाना के यहाँ से बुलवा लिया और यहीं के जिला-स्कूल में भर्ती करा दिया। सदा से बिहार में रहने के कारण यहाँ की उर्दू इन्हें बड़ी कठिन प्रतीत हुई, इसलिए ये संस्कृत पढ़ने लगे। थोड़े ही दिन बाद इनके पिता की बदली समस्तीपुर (दरभंगा) को हो गई; पर इनके नाना गोंडा चले आये थे, इसलिए इन्हें समस्तीपुर नहीं जाना पड़ा।

सन् १९०७ ई० में एण्ट्रेंस-परीक्षा पास कर ये लखनऊ-केनिङ्ग-कॉलेज में पढ़ने के लिए गये। सन् १९१० ई० में आपने एफ्० ए० की परीक्षा पास की। इसी साल आपके क्लास में गंगाप्रसाद नाम का एक और विद्यार्थी आया था, इसीलिए आपने अपने को संक्षिप्त नाम से ही परिचित करना आरंभ किया। लखनऊ में ही श्रीवास्तवजी ने लिखने का श्रीगणेश किया। कॉलेज और होस्टल के जीवन की मधुरता और विचित्रता ने आपको हास्य-रस के लेख लिखने की ओर आपसे-आप प्रवृत्त कर दिया। उसी समय से आप काशी के 'इन्दु' नामक पत्र में हास्य-रस से भरी हुई कहानियाँ लिखने लगे।

सन् १९१२ ई० में जब आरा से पण्डित ईश्वरीप्रसाद शर्म्मा ने अपना 'मनोरंजन' नाम का मनोरंजक मासिक पत्र निकाला, तब श्रीवास्तवजी उसके नियमित लेखक हुए। आपकी सबसे अच्छी कहानी 'मौलवी साहब' इसी पत्र में छपी थी। सन् १९१३ ई० में बी० ए० पास कर ये वकालत पढ़ने के लिए प्रयाग चले गये। दो वर्ष बाद, १९१५ ई० में, वकालत पास कर गोंडा चले आये और वकालत करने लगे। यहाँ आकर जम जाने पर आप अपनी रचनाएँ पुस्तकाकार प्रकाशित करने लगे। अबतक दर्जनों पुस्तकें छप चुकी हैं और कितनी ही छपने को हैं। सभी पुस्तकें एक-से-एक बढ़कर हैं।

सारे हिन्दी-संसार ने आपको हास्य-रस का श्रेष्ठ लेखक मान लिया है। गुजराती में भी आपकी पुस्तकों के अनुवाद हुए हैं और उसी भाषा के सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्र 'बीसवीं सदी' ने पहले-पहल आपके गुणों पर रीझकर आपकी सचित्र जीवनी छापी थी। आपके 'उलट-फेर' नामक नाटक की भूमिका गोंडा के बहुभाषाभिज्ञ सेशन-जज मिस्टर आर० पी० डिउहर्स्ट ने लिखी थी और आपकी शत-मुख से प्रशंसा की थी। इस नाटक की प्रशंसा में प्रयाग के 'पायोनियर' ने कई कॉलम खर्च किये थे। हिन्दी के भिन्न-भिन्न पत्रों ने आपको समय-समय पर हिन्दी का 'मौलियर', 'डिकेंस', 'मार्कट्वेन' आदि कहकर आपका सम्मान किया है। युक्तप्रदेश की सरकारी रिपोर्ट ने भी आपकी रचनाओं की खूब दिल खोलकर प्रशंसा की है।

आप नाटक, विशेषतया प्रहसन, लिखने में बड़े सिद्धहस्त हैं। आजकल के 'नाटककार कहलानेवाले' बहुत-से लोगों को आपकी पुस्तकें पढ़कर कुछ सीखना चाहिए। आपके प्रहसन बायस्कोप-फिल्मों के द्वारा प्रदर्शित किये जाने योग्य हैं। कलकत्ता की

एक कम्पनी ने पहले आपसे इसके लिए लिखा-पढ़ी की थी; पर पीछे शायद वह कम्पनी ही टूट गई, इसलिए फिलम नहीं तैयार हुए। यदि और कोई कम्पनी यह काम करे, तो लोग 'चार्ली-चैंपलिन' के चलचित्रों से चौगुने चाव के साथ इनके नाटकों के फिल्म देखेंगे, इसमें सन्देह नहीं। नाटक लिखने के अतिरिक्त आप स्वयं एक कुशल अभिनेता भी हैं। आपने गोंडा के नवयुवक वकीलों को लेकर एक नाटक-मण्डली बना रखी है, जिसमें आप स्वयं भी हास्यरस का अंश ग्रहण करते और सर्वथा सफल होते हैं।

श्रीवास्तवजी से हिन्दी का शृंगार हुआ है, इसमें सन्देह नहीं। ईश्वर करें आप दीर्घजीवी हों और इसी तरह माता हिन्दी का सिर ऊँचा करते रहें।

इन पंक्तियों के लेखक को श्रीवास्तवजी से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है और उसने देखा है कि केवल इनकी लेखनी ही इतनी चुलबुली नहीं है; किन्तु ये अपने जीवन में भी बड़े ही हँसमुख, हाजिर-जवाब, दूर की सोचनेवाले और मिलनसार हैं। एक बार इन्होंने जिससे दोस्ती की, उससे सदा निभाते चले आते हैं। समाज-सुधार के आप बड़े भारी पक्षपाती हैं और केवल बातें ही नहीं बघारा करते, बल्कि जैसा कहते हैं, वैसा ही आचरण भी करते हैं। इसलिए समाज से आपका सदैव युद्ध छिड़ा रहता है; परन्तु उसकी कुछ भी परवा न कर, ये अपना काम करते जाते हैं। इस विषय में ये बड़े वीर हैं और इसीलिए इनकी सदा विजय होती है। 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे, जे आचरहिं ते नर न घनेरे।' श्रीवास्तवजी ऐसे ही बिरले मनुष्यों में हैं।

—साप्ताहिक 'मतवाला' (कलकत्ता); वर्ष १, संख्या ३४, चैत्र शुक्ल १५, संवत् १९८१; शनिवार, १९ अप्रैल, १९२४ ई०

महाकवि निराला

[१]

विवेकानन्द-सोसाइटी (कलकत्ता) से जब हिन्दी-मासिक 'समन्वय' निकालने का निश्चय हुआ तब उसके योग्य एक सम्पादक की खोज में, सोसाइटी के विद्वान् संन्यासी स्वामी माधवानन्द एम्० ए० सीधे आचार्य द्विवेदीजी के पास पहुँचे। द्विवेदीजी ने ही निरालाजी को चुनकर सोसाइटी में भेजा।

कहते हैं, महात्मा गांधी ने नेहरू-सा नगीना चुना था। महापुरुष सचमुच सच्चे पारखी होते हैं। द्विवेदीजी ने निराला-सा नगीना परखा। प्रतिभा की जो परख उन्होंने की, उसका लोहा अब कौन न मानेगा?

निरालाजी को पाकर सोसाइटी धन्य हुई। स्वामी माधवानन्दजी के सामने ज्यों-ज्यों निरालाजी का जौहर खुलता गया, त्यों-त्यों वे द्विवेदीजी की सौंपी हुई थाती को अनमोल रतन की तरह जुगाने लगे।

'मतवाला'-मण्डल के मकान में ही उक्त सोसाइटी भी थी। मैंने स्वयं देखा था, स्वामीजी बराबर निरालाजी की सेवा और सुख-सुविधा का ध्यान रखते थे। यहाँ तक कि वे सदा निरालाजी का मुँह जोहते रहते।

निरालाजी का शील-सौजन्य ही ऐसा है कि एकबार जो पारस परसेगा, वह सोना होकर रहेगा। 'मतवाला'-सम्पादक श्रीमहादेवप्रसाद सेठ का जब सम्पर्क हुआ, तब वे निरालाजी के हाथों बिक-से गये। उनके समान निराला-भक्त आजतक कोई हुआ ही नहीं। यदि आज वे होते, तो निरालाजी को कभी कोई विक्षिप्त नहीं कहने पाता।

सोसाइटी के अन्य संन्यासी लोग भी निरालाजी का बड़ा सम्मान करते थे। वे सभी बंगाली थे और बँगला-भाषा तो निरालाजी के लिए मातृभाषा के समान ही है। उन विद्वान् संन्यासियों से दार्शनिक बातचीत में निरालाजी ही बीस पड़ते थे। बंग-साहित्य-सम्बन्धी संलाप में भी निरालाजी ही वजनदार निकलते थे। स्वामी वीरेश्वरानन्दजी ने एक बार उनकी विलक्षण तर्कशक्ति पर विस्मित होकर कहा था—'एमन की मानुषेर मेधा ?!!'

'मतवाला'-सम्पादक सेठजी कभी-कभी कोई बात छेड़कर बहस का मजा लेने के लिए मुन्शी नवजादिक लाल श्रीवास्तव और निरालाजी को भिड़ा देते थे। मुन्शीजी तो सचमुच मुन्शी थे, मगर निरालाजी की सरस्वती जब मुखर होती थीं, तब उस विवाद का दृश्य देखने योग्य होता था। निरालाजी को मुन्शीजी भी इसीलिए उत्तेजित करते जाते थे कि अधिक-से-अधिक उनकी वाग्विदग्धता का आनन्द लिया जा सके। निरालाजी की तार्किकता की तारीफ यह थी कि उसमें कहीं से असंयम नहीं आ पाता था। उनकी स्मृति-शक्ति और युक्तियुक्त बात का कायल होना ही पड़ता था।

'मतवाला' में निरालाजी की कविता तो बराबर छपती ही थी, समालोचना भी वहीं लिखते थे, पर उसमें अपना कल्पित नाम देते थे—गरगजसिंह वर्मा। उन्होंने 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं पर कुछ अंकों में लगातार लिखा। उस समय भी आदरणीय बख्शीजी ही सम्पादक थे। आचार्य द्विवेदीजी की इतनी अधिक ममता 'सरस्वती' पर थी कि उन्होंने रोषवश 'मतवाला' के एक अंक का विधिवत् सम्पादन करके डाक से भेज दिया। द्विवेदीजी ने उस अंक को आद्यन्त रँग डाला था। उसे पाकर निरालाजी इतना अधिक हँसे कि उतनी देर तक उन्हें अविराम हँसते मैंने कभी नहीं देखा। उस समय उनकी बैसवाड़ी बोली में द्विवेदीजी की स्तुति सुनने योग्य थी।

निरालाजी कुछ दिन काशी में रहे थे। मैं भी उन दिनों वहीं था। प्रसादजी के साथ खूब बैठक होती थी। मध्य गंगा में बजड़े पर कविता-पाठ भी हुआ था। निरालाजी ने हारमोनियम बजाकर 'श्रीरामचन्द्र कृपालु भजु मन' पद गाया था। प्रसादजी ने परोक्ष में उनकी बड़ी प्रशंसा की थी। साहित्य और संगीत दोनों शास्त्रों में उनकी असाधारण गति देखकर प्रसादजी बहुत प्रभावित हुए थे। प्रसादजी राग-द्वेष-रहित

व्यक्ति थे। उन्होंने उसी समय निरालाजी को कई बार तौलकर कहा था कि हिन्दी को ईश्वर की देन है निराला। वह भविष्यवाणी आज प्रत्यक्ष है।

'पंचवटी' कविता का पाठ करते समय निरालाजी की भाव-भङ्गी देखकर मुन्शीजी को बंगीय रंगमंच के कुशल अभिनेताओं की भंगिमा याद हो आती थी। निराला की नाट्यकला भी जिसने कभी देखी है, उसकी आँखों में आज भी उनका कौशल कौंधता होगा।

अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का महाधिवेशन कलकत्ता-विश्वविद्यालय के सिनेट-हॉल में हुआ था। कविवर रत्नाकरजी अध्यक्ष थे। हॉल से बाहर निकलकर निरालाजी सामने के पार्क (वेलिङ्गडन स्क्वायर) में खड़े हो गये। कुर्त्ता उतार दिया। छाती तानकर भुजाओं की मांस-पेशियों को उभाड़ने और तौलने लगे। सिर पर जुल्फें झूम गईं। चारों ओर से तमाशा देखनेवाले आ जुटे। शक्ति और सौन्दर्य का पुंज वह निराला बस निराला ही था।

राजस्थानी चित्रकार पं० मोतीलाल शर्मा की चित्रावली कलकत्ता में प्रकाशित हुई। उसके चित्रों के नीचे निरालाजी ने व्रजभाषा में परिचयात्मक कविताएँ लिखीं। उन्हें पढ़कर कालपी-निवासी श्रीकृष्णबलदेव वर्मा चकित होकर मुन्शीजी से काफी देर तक तारीफ करते रहे। वर्माजी महाकवि केशवदास के विशेषज्ञ माने जाते थे। 'विशाल भारत' वाले व्रजमोहन वर्मा के वे चचा थे।

साहित्य-सहकार की सभी शाखाओं पर कलकूजन करनेवाला 'निराला'-कोकिल हिन्दी-संसार का वसन्त-बसीठी है! सरस्वती-पूजा के दिन जन्म लेनेवाला सरस्वती का वर-पुत्र वाणी की वीणा को झंकृत करते रहने के लिए शतायु हो—वीणावादिनि वर दे।[1]

—गणतंत्र-दिवस, पटना; सन् १९५५ ई०

[२]

निरालाजी के संस्मरण

सन् १९२१-२२ में, कलकत्ता में, पहले-पहल श्री निरालाजी से मेरा परिचय हुआ। मैं वहाँ बालकृष्ण प्रेस में रहता था, जो विद्यासागर-कॉलेज के पास था। प्रेस के मकान के ऊपरवाले खंड में 'विवेकानन्द सोसाइटी' के कुछ संन्यासी रहते थे। उनमें से स्वामी माधवानन्दजी, एम्० ए० 'समन्वय' नामक हिन्दी मासिकपत्र निकालते थे। उसके लिए वे एक सुयोग्य सम्पादक की तलाश में पूज्य आचार्य द्विवेदीजी के यहाँ गये थे। आचार्य द्विवेदीजी ने ही उन्हें बड़े आग्रह और आदर से निरालाजी का नाम बतलाया। स्वामीजी बड़े आग्रह और आदर से निरालाजी को कलकत्ता लाये। आचार्य द्विवेदीजी के स्नेहपूर्ण आदेश से निरालाजी भी संन्यासियों की मंडली में चले आये। उस समय तक

---

१. श्रीवसन्त-पंचमी के अवसर पर प्रयाग में मनाई जानेवाली निराला-जयन्ती के लिए लिखित। —लेखक

निरालाजी का लेख 'सरस्वती' में निकल चुका था। उनकी विशुद्ध भाषा-शैली से आचार्य द्विवेदीजी बहुत प्रभावित और आकृष्ट हुए थे। विवेकानन्द-सोसाइटी में आ जाने पर भी निरालाजी ने विद्वान् संन्यासियों पर अपनी योग्यता और सुशीलता की छाप बिठा दी। मैंने देखा था कि वहाँ विवेकानन्द सोसाइटी के बड़े-बड़े विद्वान् संन्यासियों पर भी निरालाजी की दार्शनिक ज्ञान-गरिमा का सिक्का जम गया था और वे लोग निरालाजी को बड़े आदर-मान से रखते थे। निरालाजी के भोजन-वस्त्र और उनकी आवश्यकताओं पर स्वामी माधवानन्दजी और स्वामी वीरेश्वरानन्दजी का विशेष ध्यान रहता था।

सन् १९२३ ई० में उक्त बालकृष्ण प्रेस से प्रसिद्ध हिन्दी साप्ताहिक 'मतवाला' निकला था। 'मतवाला'-मंडल में 'मतवाला'-सम्पादक श्रीमहादेवप्रसाद सेठ, मुंशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव, श्रीनिरालाजी, पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा, पं० रामगोविन्द त्रिवेदी वेदान्तशास्त्री, पं० चन्द्रशेखर पाठक आदि साहित्यिक सज्जन सम्मिलित थ। मैं भी उसका एक सदस्य था। सेठजी और मुंशीजी के साथ ही मैं भी रहता था। जब निरालाजी 'मतवाला'-कार्यालय में आकर बैठते और साहित्यिक विषयों पर बातचीत के सिलसिले में अपने विचार प्रकट करने लगते थे, तब उनकी ज्ञान-गरिमा का विस्तार देखकर आश्चर्य के साथ-साथ गौरव का भी अनुभव होता था!

'मतवाला' में कविता और समालोचना निरालाजी के स्वीकृत करने पर ही छपती थी। सेठजी और मुंशीजी उनका जितना आदर करते थे, उतना अब शायद ही किसी साहित्यिक को किसी प्रकाशक से मिल सके। पूज्य आचार्य 'द्विवेदीजी' को जो सम्मान 'इंडियन प्रेस' के स्वामी श्रीचिन्तामणि घोष से मिला था, वही सम्मान सेठजी से निरालाजी को मिला। निरालाजी अहर्निश इतने चिन्तनशील रहते थे कि उन्हें अपने शरीर और वस्त्र की भी सुधि नहीं रहती थी। वे निरन्तर अपनी चिन्तन-धारा में इस प्रकार निमग्न रहते थे कि सामने ही होनेवाली बातचीत भी नहीं सुन पाते थे। कभी-कभी उनसे सेठजी और मुंशीजी बातें करने लगते थे तो बात-चीत के अन्त में उन लोगों को यह जानकर हँसी आती थी कि निरालाजी ने कुछ भी नहीं सुना या समझा। वास्तव में वे अन्यमनस्क होकर किसी की बात का तिरस्कार नहीं करते थे, बल्कि वे स्वभावतः बाह्य ज्ञान-शून्य रहते थे।

कभी-कभी चिन्तन में तल्लीन बैठे-बैठे वे एकाएक इस तरह चौककर सजग हो उठते थे, मानों अतल जल में गहरी डुबकी लगाकर अभी-अभी बाहर निकले हों। वे सदा प्रसन्न मुद्रा में रहा करते थे। कभी-कभी नंग-धड़ंग कार्नवालिस स्ट्रीट तक निकल जाते और यहाँ तक कि ठनठनिया बाजार तक उसी वेश में चले जाते। रास्ते में चलते समय भी वे ऐसे गम्भीर चिन्तन में मग्न रहते थे कि किसी पथिक से टकरा जाने तक की आशंका रहती थी। इसलिए जब सेठजी या मुंशीजी उनके साथ चलते थे, तब उनका नेतृत्व करते थे और उनकी बाँह पकड़कर अगल-बगल किया करते थे। कभी तो मौज में आकर निरालाजी खूब बन-ठनकर और शरीर तथा वस्त्र को भली-भाँति सौरभ-सम्पन्न करके बाहर निकलते थे। उन्हें उमंग में देखकर सेठजी उनकी जेब में प्रायः दस-पाँच का नोट

डाल दिया करते। परन्तु यह नोट लौटकर कभी नहीं आता था और न साथ कोई सामान लाता था। कारण यह था कि रास्ते में अगर कोई भिखारी निरालाजी के सामने हाथ फैलाता था तो अनायास जेब में हाथ डालकर जो कुछ अपने पास होता था, वह हँसते-हँसते दे डालते थे। द्रव्य अथवा किसी प्रिय से प्रिय पदार्थ के सहर्ष त्याग में निरालाजी को कभी रंचमात्र भी संकोच नहीं होता था। अर्थ का लोभ या मोह उनमें कभी देखा ही नहीं गया। अपने इष्ट मित्रों के लिए तो उनके पास कुछ भी अदेय नहीं है। आतिथ्य-सत्कार करने में भी वे अपनी पूँजी का कुछ भी ध्यान नहीं रखते। जरूरतमन्दों और गरीबों की मदद में उनकी कितनी कमाई खपी होगी, इसका अन्दाज लगाना अत्यंत कठिन है।

उनका मस्तिष्क एक अघट खजाना-सा जान पड़ता था—जब वे अपनी कोई रचना तैयार करने लगते थे; क्योंकि कभी किसी ग्रंथ की सहायता लेकर कोई निबन्ध या समालोचना लिखते वे नहीं देखे गये। अपनी रचनाओं की तो बात ही क्या, दूसरे कवियों की रचनाएँ भी उन्हें बहुत अधिक कंठस्थ हैं। वे खड़ीबोली के सिवा ब्रजभाषा में भी बहुत अच्छी कविता करते हैं। कलकत्ता के मारवाड़ी चित्रकार श्रीमोतीलाल शर्मा के चित्र-संग्रह में सभी चित्रों का परिचय उन्होंने ब्रजभाषा की कविता में लिखा था। उनकी सबसे पहली कविता-पुस्तक 'अनामिका' उपर्युक्त बालकृष्ण प्रेस से निकली थी। वह समग्र उन्हें कंठस्थ थी। जब वे स्वाभाविक अभिनय की भाव-भंगिमा से उसे सुनाते थे, तब उनकी शिराएँ तन जाती थीं। मुँह से फेन निकलने लगता था और आँखें तक लाल हो जाती थीं। पूर्ण युवावस्था के सुडौल शरीर से ओजस्विनी वाणी के साथ किया हुआ वह अभिनय देखकर 'मतवाला'-सम्पादक सेठजी पुलकित होकर निरालाजी को अँकवार में भर लेते थे। शृंगार, वीर और करुण रस के अभिनय में निरालाजी अत्यन्त कुशल हैं। मुंशी नवजादिक लाल भी उनको प्रायः 'योगभ्रष्ट योगी' कहा करते थे और पं० चन्द्रशेखर पाठक का कहना था कि निरालाजी का डीलडौल ठीक-ठीक प्राचीन आर्यों की आकृति के समान है। तथा उनकी हाथ की उँगलियाँ एवं उनके नेत्र अजन्ता के चित्रों का स्मरण कराते हैं। निरालाजी सचमुच एक सहृदय और आदर्श मानव हैं।

महाकवि निराला-अभिनन्दन-ग्रंथ (कलकत्ता); १५ सितम्बर, १९५३ ई०

प्रेम-मन्दिर के प्रेमी पुजारी का परलोक-प्रस्थान

अघटितघटितं घटयति सुघटितघटितानि दुर्घटीकुरुते।
विधिरेव तानि घटयति यानि पुमान्नैव चिन्तयति॥

कौन जानता था कि प्रेममन्दिर का गगनचुम्बी कलश एकाएक अनभ्र वज्रपात से चूर्ण हो जायगा? कौन कह सकता था कि प्रेम-मन्दिर का अखण्ड दीप बुझाने के लिए

अकस्मात् आँधी आ जायगी ? किसको मालूम था कि हिन्दी-संसार की नई प्रेम-फुलवारी का यहीं अन्तिम वसन्त है ? किसको आशा थी कि प्रेम-प्रासाद अचानक भयानक भूकम्प से भूमिसात् हो जायगा ? कोई सोचता भी न था कि प्रेम-प्रशान्त-सागर में प्रलयंकरी वाडवाग्नि की ज्वाला प्रकट होगी। किन्तु, हा ! हन्त !! अनन्तगति भगवान् की ज्वलन्त लीला देखकर कहना पड़ता है कि 'योऽर्थोऽसंभावनीयस्तमपि घटयते क्रूरकर्मा विधाता !'

हाय ! लिखते हुए लेखनी लड़खड़ाती है, आँखें उमड़ी आती हैं, प्राण पीड़ा से व्याकुल हो उठते हैं, कलेजा काँप-काँपकर वृश्चिक-दंशन की वेदना बर्दाश्त कर रहा है और हृदय में हाहाकार मचा हुआ है; किन्तु 'वज्रादपि कठोराणि' हृदय को कुलिश-कर्कश समझकर कहना ही पड़ता है कि हिन्दी-संसार का एक जगमगाता हुआ नक्षत्र टूट पड़ा ! पाठकों को सुनकर आश्चर्य होगा; किन्तु असंभव को भी संभव कर दिखलानेवाली उस महती ईश्वरीय शक्ति की महिमा जाननेवाले के लिए इस असार संसार में कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं है।

आधुनिक हिन्दी-संसार में ऐसा कोई प्रेमी मनुष्य नहीं है, जो आरा-निवासी कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन की हिन्दी-सेवा से सुपरिचित न हो। कुमार देवेन्द्रप्रसाद इस पाप-परितापपूर्ण संसार का परित्याग कर एक ऐसे लोक में चले गये, जहाँ केवल सात्त्विक प्रेम का राज्य है। इस संसार-पारावार को वे प्रेमपोत द्वारा पार कर गये, उन्हें माया की छाया नहीं छू सकी। उन्हें द्वेष का दावानल दग्ध नहीं कर सका। जबतक वे इस संसार में रहे, तबतक उनके लिए न तो यहाँ कहीं पराभव रहा, न पीड़ा रही, न पश्चात्ताप रहा और न प्रतारणा ही रही। वे अलौकिक पवित्र प्रेम की प्रतिमा थे। शायद वे शापस्खलित होकर धराधाम को धन्य बनाने आये थे।

सभी हिन्दी-प्रेमियों के लिए देवेन्द्रप्रसाद का देहावसान अत्यन्त उद्वेगजनक हुआ है। भला देवेन्द्रप्रसाद के समान लोकोत्तर प्रेमी का लोक-लीला-संवरण किस हिन्दी-हितैषी के हृदय में उथल-पुथल न मचा देगा। उनकी सराहनीय साहित्य-सेवा का पथावरोध हिन्दी-संसार और जैन-समाज दोनों के लिए घोर निराशाजनक और दुःखवर्द्धक हुआ है ! कम-से-कम आधुनिक उन्नतिशील हिन्दी-संसार को तो कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करना पड़ेगा कि देवेन्द्रप्रसाद का स्थान अभी कुछ अधिक समय तक शून्य रहेगा। संभव है, भारत में उनकी तुलना के अनेक प्रेमी पुरुष हों, किन्तु बिहार के वक्षस्थल पर तो वे एक ही हीरक-हार थे ! उनकी मृदु-मंजु-मधुर वाणी, उनका उत्कट विद्या-व्यसन, उनकी स्वाभाविक सरलता, उनकी चित्ताकर्षिणी विनयशीलता और अद्भुत कार्य-क्षमता बड़ी अपूर्व थी। जो उनसे मिलता था, बस, उन्हीं का हो रहता था। उनकी मिलनसारी और उनका सद्व्यवहार कोई भूल नहीं सकता था। जिन हिन्दी-प्रेमियों ने उनकी चिकनी-चमकीली और रँगीली-रसीली पुस्तकें देखी या पढ़ी होंगी, वे उनकी सौन्दर्योपासकता, सुरुचिपूर्णता और स्वच्छता-प्रियता कभी भूल नहीं सकते।

उनकी अवस्था जब तीन मास की थी, तभी उनके प्रखर प्रतिभाशाली पिता गंगा-गर्भ में जल-समाधि-मग्न हो गये। जिस दिन वे संयोगवश पटना में डूब गये, उसी दिन बी० एल० परीक्षा का फल प्रकाशित हुआ, जिसमें वे प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए थे। पितृहीन शिशु कुमार देवेन्द्र को लेकर उनकी दुःखिनी माता अपने मायके चली आईं। उनके मामा बाबू नन्दूलाल आरा के बड़े भारी जमीन्दार और रईस हैं। उनके पिता और पितामह भी आरा-नगर के प्रतिष्ठित धनाढ्य -महाजन थे। उनके पिता के मरते ही उनकी सारी पैतृक सम्पत्ति गोतिया-दायादों ने तहस-नहस कर दी। किन्तु कुमार देवेन्द्र के हृदय में जो पूर्वजन्मार्जित प्रचुर सौभाग्य-सम्पत्ति संचित थी, उसे अजस्र मातृस्नेह ने बड़ी सावधानी से सुरक्षित रक्खा।

आरा-जिला-स्कूल से इण्ट्रेन्स पास करके वे १९१० ई० में सेण्ट्रल-हिन्दू-कॉलेज (बनारस) में दाखिल हुए। कुमार के बाल्य-सहचर तथा मेरे श्रद्धास्पद गुरुवर पंडित ईश्वरीप्रसादजी शर्मा ('मनोरंजन'-सम्पादक) भी काशी में कुमार के कॉलेज-सहपाठी रहे। किन्तु उस समय यह कोई कल्पना भी नहीं करता था कि ये दोनों बाल्य-बन्धु अपने भावी जीवन को साहित्य-सेवा द्वारा स्मरणीय और धन्य बनावेंगे। उसी समय देवेन्द्रप्रसाद ने विश्वप्रेम-संघ स्थापित करके अनेक कॉलेज-छात्रों को उनका सदस्य बनाया था। कॉलेज के प्रसिद्ध प्रिंसिपल जौर्ज सिडनी अरण्डेल साहब कुमार को बहुत मानते और प्यार करते थे। उनकी लिखी हुई 'The way of Service' नामक पुस्तिका का 'सेवाधर्म'[1] नामक हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित करके कुमार ने उन्हीं के चरणों में समर्पित कर अपनी अगाध गुरुभक्ति का परिचय दिया है।

कुमार देवेन्द्रप्रसाद ने 'सेण्ट्रल-जैन-पबलिशिङ्ग-हाउस' स्थापित किया था। इस संस्था की ओर से उन्होंने 'जैन-धर्म-ग्रंथमाला' (अँगरेजी में) प्रकाशित करनी शुरू की थी। उक्त ग्रंथमाला में बहुत बड़े-बड़े ग्रंथ निकल चुके हैं, जो अपने सिद्धहस्त लेखकों की चित्तचमत्कारिणी एवं विस्मयानन्ददायिनी अप्रतिम प्रतिभा के जीते-जागते चित्र हैं। उन ग्रंथों की अनुपम छपाई और सुघराई देखने ही योग्य है। जर्मनी, इङ्गलैण्ड और अमेरिका तक के उदार विद्वानों ने उन ग्रंथों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उन ग्रंथों में दस रुपये तक मूल्य के बृहदाकार ग्रंथ[2] हैं, जिनकी सजावट देखकर विलायत के प्रकाशकों के ललाट में भी सिकुड़न पड़ गई थी। उन सर्वाङ्गसुन्दर पुस्तकों के एजेण्ट न्यूयार्क, शिकागो, लन्दन, पेरिस, बर्लिन आदि विश्व-विश्रुत नगरों में भी मौजूद हैं। किन्तु ये सारी बातें याद पड़ने पर भी अब भूली हुई-सी मालूम पड़ती हैं।

१. इस पुस्तक का मेरे द्वारा किया हुआ हिन्दी-अनुवाद 'रचनावली' के दूसरे खण्ड में प्रकाशित है।—ले०

२. कुमार देवेन्द्र के प्रकाशित किये हुए जैनधर्म-सम्बन्धी ग्रंथों में हरदोई (उत्तर-प्रदेश) के बारिस्टर श्रीचम्पतराय जैन का लिखा हुआ 'द की ऑफ् नॉलेज' नामक ग्रन्थ सबसे बड़ा और दस रुपये मूल्य का था।—ले०

देवेन्द्रप्रसाद ने सन् १९१०-११ ई० में ही हिन्दी की तीन पुस्तकें प्रकाशित की थीं—स्वरचित 'ऐतिहासिक स्त्रियाँ' और 'अध्यापिका जानकीबाई की जीवनी' तथा अग्रवाल-कुल-कमलिनी साध्वी श्री पण्डिता चन्दाबाई (जैन-महिलारत्न) द्वारा लिखित 'उपदेशरत्नमाला'। ये तीनों पुस्तकें उन्होंने हिन्दी-माता के चरणों में पहले-पहल बड़ी श्रद्धा के साथ अर्पित की थीं। फिर सन् १९१५ ई० में 'प्रेममन्दिर' की स्थापना हुई, जिसके द्वारा प्रेमकली, प्रेमपुष्पांजलि, त्रिवेणी आदि अनूठी पुस्तकें प्रकाशित हुईं; जिन्हें देखकर हिन्दी-संसार में एक बार खलबली-सी मच गई। प्रेमोपहार-पुस्तकमाला, त्रिलोक-मोहिनी-माला और कन्या-विद्यावलम्बिनी-पुस्तकमाला आदि प्रकाशित करके प्रेममन्दिर ने थोड़े ही दिनों में मैदान मार लिया। 'शान्तिधर्म', 'मैत्री-धर्म', 'सौभाग्य-रत्नमाला', 'उपदेशरत्नमाला' और 'रसाल-वन' आदि कई अच्छी-से-अच्छी और परम नेत्ररंजक पुस्तकें प्रेममन्दिर (आरा) से निकलीं और उनकी बाह्याभ्यन्तरीण मनोहरता और नवीनता तथा विलक्षणता देखकर सभी हिन्दी के विद्वानों और सम्पादकों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हुए कुमार देवेन्द्र को साधुवाद से प्रोत्साहन-प्रदान किया। कहते हुए हृदय विदीर्ण हुआ जाता है कि अब उस प्रेममन्दिर में भीमान्धकार का राज्य है, न उसके उत्तुंग शिखर पर यश की ध्वजा फहरा रही है और न उसके अन्दर शान्ति का घण्टा बज रहा है। केवल निराशा, केवल अशान्ति, केवल किंकर्त्तव्यविमूढ़ता और केवल अस्तव्यस्तता चारों ओर भीषण रूप धारण किये विचरण कर रही है। वह प्रेममन्दिर आज यममन्दिर से भी अधिक भयप्रद प्रतीत हो रहा है !

मैं तो ईश्वर से आन्तरिक प्रार्थना करता हूँ कि कुमार का प्राणाधार प्रेममन्दिर संसार में स्थायी रहे, ताकि प्रेमपुष्पोद्यान के वे शोभावर्द्धक सुमन सदा विकसित रहें, जिनके शुचि सौरभ से हिन्दी-जगत् का दिग्दिगन्त आमोदित हो चुका है।

कुमार देवेन्द्र को भारत, इंगलैण्ड, जर्मनी और अमेरिका के स्वनामधन्य विद्वानों से पत्र-व्यवहार करने का सदा सुअवसर मिला करता था। कई देशी और विदेशी विद्वानों से उनकी बड़ी घनिष्ठता थी। फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका और इङ्गलैण्ड की कई विद्वत्समितियों ने उन्हें पदक, प्रशंसापत्र और पदवियाँ देकर सम्मानित किया था। किन्तु इन सब बातों को वे बिलकुल गुप्त रखते थे। अब उस अमानी की इन संचित सम्पत्तियों का उपयोग कौन करे ? हाँ, उनका यश इन्हें पाकर पुष्ट हो सकता है।

कुमार देवेन्द्रप्रसाद में सचमुच प्रेम की विचित्र बिजली भरी हुई थी। उनका रूप जितना रमणीय था, उनके वचन उतने ही मनोमोहक थे। उनकी प्रकृति में मधुरता और शान्ति की पुट लगाकर ब्रह्मा ने अपनी सृष्टि में एक अनोखी वस्तु बना डाली थी। किन्तु न जाने, क्या समझकर उसने असमय ही उसे तोड़ दिया।

कुमार देवेन्द्र सुन्दर-सुन्दर चित्रों, पुस्तकों, प्राचीन पदार्थों और महात्मा-वाक्यों का संग्रह करने में बड़े शौकीन और सुजान थे। प्रेममन्दिर की सुसज्जित शोभा देखकर मुग्ध रह जाना पड़ता था। उन्हें बड़ी-बड़ी अच्छी लाइब्रेरियों, हरी-भरी फुलवारियों और खुले मैदानों में जाने पर हार्दिक प्रसन्नता प्राप्त होती थी। इण्डियन प्रेस (प्रयाग) में

पहुँचते ही वे प्रफुल्लित हो जाते थे। नदी-तट पर पहुँचकर वे परितुष्ट होकर आन्तरिक आनन्द व्यक्त करने लगते थे। प्रकृति की सहज सुषमा निरीक्षण करने में उनको बड़ी तृप्ति मालूम होती थी। कभी-कभी वे बाल-सूर्य की ओर स्थिर दृष्टि करके, श्वास रोककर, जोर से दौड़ते थे और इसी प्रकार प्रातःकाल का व्यायाम सम्पन्न करते थे। सन्ध्या समय एकान्त में बैठकर साहित्यिक चर्चा करके वे सन्तोष अनुभव करते थे। उन्हें फलाहार से बड़ा प्रेम था। देहरादून से सेब और प्रयाग से अमरूद का पार्सल प्रति सप्ताह उनके पास पहुँचता ही रहता था। अन्न तो बहुत कम खाते थे, किन्तु खा चुकने के बाद ताजे फल की टोकरी की खूब खबर लेते थे। एक बार एक साल तक उन्होंने मिष्टान्न खाना बिलकुल त्याज्य कर दिया था। पूछने पर उन्होंने कहा था कि एक अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिए ऐसा व्रत कर लिया है। सचमुच संकल्प पूर्ण होने पर ही उन्होंने मधुर पदार्थ का रसास्वादन किया और उसी समय चिट्ठी के बहुत-से कागज (लेटर-पेपर) छपवाये, जिनपर उठे हुए अक्षरों में लिखवाया कि 'सकल्पमात्रेण मदीयसिद्धिः'।

चिट्ठी लिखने का उन्हें असाध्य रोग हो गया था। सैकड़ों तरह के सुन्दर-सुन्दर लेटर-पेपर और लिफाफे अपने पास रखते थे। स्वस्तिका आदि चिह्न बनवाकर विलायत से लेटरपेपर-लिफाफे मँगवाते थे। सोने और चाँदी के एक-से-एक सुन्दर 'सेफ्टी पिन' उनके पास सदा मौजूद रहते थे। उन्हें 'वाटरमैन' वा 'स्वान' के सिवा कलम-दावात से लिखना कभी रुचता ही न था। मैं तो उनके आरा रहने पर बराबर प्रेममन्दिर में जाया करता था। किन्तु जब कभी जाता था, तब उन्हें पुस्तकों और पत्रों से घिरा हुआ और कुछ लिखने या पढ़ने में नितान्त निमग्न पाता था।

वे कभी शहर में घूमने नहीं निकलते थे। निकलते भी थे तो 'मनोरंजन'-कार्यालय में, जैन-सिद्धान्त-भवन में, डाकखाने में, या मेरे गरीबखाने तक जाते थे। उन्हें जबतक डाक नहीं मिलती थी, तबतक अधीर रहते थे। जब चिट्ठीरसाँ को देखते थे, तब प्रफुल्लित हो उठते थे। चिट्ठियों का उत्तर देने में कभी विलम्ब नहीं करते थे। रात को दो-तीन बजे तक जाग-जागकर चिट्ठियों का जवाब लिखते रहते थे। उनकी चिट्ठी की भाषा बड़ी ओजस्विनी, संक्षिप्त, किन्तु भावपूर्ण और सरस होती थी। वे धारा बाँधकर अँगरेजी लिखते और बोलते थे। उनकी प्रकाशित हिन्दी और अँगरेजी की कुल पुस्तकों की संख्या पचास के लगभग है। उनकी पुस्तकों के प्रचार का प्रमाण यही है कि उनके तीन-तीन, चार-चार संस्करण हो चुके हैं। इसलिए रोज उन्हें पचासों पार्सल तैयार करने पड़ते थे। वे स्वयं पार्सल बाँधते थे, लेबिल लिखते थे और साटते थे, बी० पी० का फार्म भरते और रजिस्टर पर चढ़ाते थे। किन्तु उनके ये सारे काम इतने साफ-सुथरे होते थे कि देखनेवाले को आश्चर्य्य होता था कि इतनी शीघ्रता से किस प्रकार वे इतना काम तमाम कर डालते हैं।

काम पूरा करने की धुन में वे खाना-पीना तक भूल जाते थे। वे अपनी सभी वस्तुएँ अच्छी तरह सजाकर रखते थे। यहाँ तक कि अँधेरे में भी वे जिस वस्तु को लेना

चाहते थे, उसी पर उनका हाथ पड़ता था। जब मैं उनके साथ प्रयाग के क्रिश्चियन-कॉलेज के फिलाडेल्फिया-होस्टेल में रहता था, तब उन्होंने एक अजीब काम कर दिखाया। मैं तो चकित हो गया। रात को दो बजे वे उठे और दियासलाई ढूँढने लगे। मैंने याद दिलाई कि सलाई चौके से लौटकर नहीं आई। पर वे अँधेरे में ही उठ बैठे और टेबुल-कुर्सी से जा लगे। बीस-पचीस चिट्ठियाँ अँधेरे में ही रगड़कर रख दीं, कार्ड-लिफाफों पर पता भी लिख मारा। फिर कुछ किताबों का पैकेट भी बाँधा। सबपर टिकट लगाकर एक ओर सज दिया। मैं कहता जाता था कि अँधेरे में सब परिश्रम निष्फल जायगा। किन्तु प्रातःकाल होते ही म दुरुस्तगी देखकर दंग रह गया।

कहाँ तक कहूँ? कहा नहीं जाता। उनके न रहने से हिन्दी का एक आधार भंग हो गया। जैन-समाज-रूपी जहाज का एक विशाल पतवार छिन्न-भिन्न हो गया। प्रेम-चमन की चहकती हुई बुलबुल उड़ गई! न जाने कितनी और कैसी उच्च अभिलाषाएँ और आकांक्षाएँ उनके साथ ही विलीन हो गईं। वे आरा में एक बड़ा-सा 'प्रेम प्रेस' खोलना चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि स्त्री-शिक्षा की एक अद्वितीय मासिक पत्रिका निकाली जाय। उन्होंने स्त्री-शिक्षा-प्रचार और नारी-जाति की सेवा तथा उन्नति करने में अपने जीवनोद्देश्य की सफलता समझ रखी थी।

भारत के समस्त जैनतीर्थों के दुष्प्राप्य चित्र उन्होंने संग्रह किये थे और उनपर पुरातत्त्ववेत्ता विद्वानों से गवेषणापूर्ण ऐतिहासिक विवरण और टिप्पणी लिखवाई थीं। उस ग्रंथ में २० सहस्र मुद्रा व्यय करने का प्रबन्ध कर रहे थे। उस ग्रंथ को वे हिन्दी में प्रकाशित करते; यह और भी महत्त्वपूर्ण बात होती। हिन्दी के भाण्डार में वह अमूल्य ग्रंथरत्न नहीं आ सका, इसका भी कम दुःख नहीं है। किन्तु दुःख करने से क्या होगा, उनकी लालसा उनके साथ ही सती हो गई, उनके भावी कार्य्य अब भूत के अतल गर्भ में धँस गये!

उनकी प्रथम पत्नी का देहान्त चार वर्ष पूर्व ही हो चुका था। इस वर्ष दिल्ली में उनकी दूसरी शादी हुई थी। द्वितीय पत्नी 'प्रेमलता' देवी के नाम से ही प्रेममन्दिर का प्रकाशन-कार्य करना उनको अभीष्ट था, जैसा कि नये 'रसाल-वन' से प्रकट है। किन्तु वह 'रसाल-वन' अब 'विकराल वन' हो गया। उसके प्रकाशित होते ही वसंत के बदले उसमें पतझड़ आ गया! सूखे पत्तों के ढेर में बेचारी प्रेमलता का सर्वस्व भूल गया! मेरा क्या भूल गया, सो ईश्वर ही जानता है। शोक के अथाह समुद्र में अपनी वृद्धा जननी और नव-विधवा को निराधार छोड़कर और जैन-समाजोद्धार का जहाज मँझधार में विना पतवार के छोड़कर, गत होली से एक सप्ताह पूर्व, वे कलकत्ता में शीतला-रोग से पीड़ित होकर काल-कवलित हो गये।

मित्रता का संस्कार कुछ ऐसा था कि मैं भी कलकत्ता आ गया था। वे कलकत्ता जाने के समय मुझसे स्वयं मिले थे। किन्तु मुझ गरीब को क्या मालूम कि यही अंतिम भेंट है। मैं पूज्यपाद पं० ईश्वरीप्रसादजी के साथ उनसे मिलने गया, तो देखा कि वे शीतला-रोग की वेदना से मूर्च्छित हुए जाते हैं। मेरे तो होश उड़ गये, पसीने निकल आये;

क्योंकि जीवन में वैसा रोमांचकारी, हृदयद्रावक और भयंकर दृश्य मैंने कभी नहीं देखा था ! उफ् ! मृत्युशय्या पर वे तड़प रहे थे, उद्विग्नता उनके रोम-रोम में सुई चुभाती थी, वे त्राण चाहते थे, पर प्राण पलायमान होने को प्रस्तुत थे। मेरी इन जड़ीभूत अभागिनी आँखों ने वह जीवन और मरण का भीषण संग्राम देखा था। हाय ! कुमार के कमनीय कलेवर को मृत्यु-राक्षसी बड़ी भयंकरता और निर्दयता से लीलती जाती थी। अंग-अंग पर यम-यंत्रणा का आतंक जमता जाता था !

उधर कलकत्ता के बड़तल्ला मुहल्ले में हजारों बिजली-बत्तियों का दीपक बल उठा और इधर हिन्दी-संसार तथा जैन-समाज का एक देदीप्यमान दीपक बुझ गया। भगवान् भास्कर के अस्त होते ही देवेन्द्रप्रसाद की ज्योतिरात्मा अस्तंगत हो गई। दूसरे ही दिन कलकत्ता के दैनिक पत्रों ने आँसू बहाये और दूसरे ही सप्ताह में सम्मेलन ने शोक मनाकर हिन्दी-माता के आँसू पोंछे। किन्तु तीस वर्ष के होनहार इकलौते प्यारे पुत्र और प्रेमप्रवीण पति के बिछोह से व्यथित वृद्धा माता और हत-श्री पत्नी के हृदय का जबरदस्त तूफान अब कोई ईश्वरीय शक्ति भी शान्त नहीं कर सकती।[१]

—मासिक 'चैतन्यचन्द्रिका' (पटनासिटी); वर्ष १, खंड २, संख्या २;
चैत्र-पूर्णिमा, सं० १९७८ वि०, सन् १९२१ ई०

श्रीदामोदरसहाय सिंह 'कविकिंकर'

श्रीदामोदरसहाय सिंह 'कविकिंकर' आजकल उत्तर-बिहार के एक जिले में 'डिस्ट्रिक्ट-इंसपेक्टर-ऑफ-स्कूल्स' हैं। आप हिन्दी के बहुत पुराने लेखक और कवि हैं। 'सरस्वती' और 'मर्यादा' आदि प्रसिद्ध पत्रिकाओं में आपकी रचनाएँ प्रायः देखने में आती थीं। आज भी आपकी कविताएँ 'सरस्वती' और 'माधुरी' आदि साहित्यिक पत्रिकाओं में देखने को मिलती हैं। गद्य और पद्य—दोनों की रचना में आप समान रूप से कुशल हैं। पहले तो आप केवल व्रजभाषा में ही कविता किया करते थे, और इस क्षेत्र में आपने यथेष्ट सफलता और कीर्त्ति भी पाई है, पर कुछ दिनों से अब खड़ी बोली में भी उसी शान-बान से बड़ी सरस-सुन्दर कविता करने लगे हैं। आपकी सर्वतोमुखी प्रतिभा ने चतुरस्र सफलता पाई है, यह बड़ी प्रशंसा की बात है।

आपका शुभ जन्म १४ दिसम्बर (१८७५ ई०) को बिहार प्रान्त के 'छपरा' शहर में हुआ था, जहाँ आपके पिता मुंशी शिवशंकरसहाय सिंह जी—मुख्तार थे।

---

१. स्वर्गीय कुमार देवेन्द्र की स्मृति में लखनऊ के एडवोकेट श्रीअजितप्रसाद जैन ने एक वर्ष तक हिन्दी-साप्ताहिक 'देवेन्द्र' प्रकाशित किया था। कुमार देवेन्द्र द्वारा प्रकाशित अन्तिम हिन्दी-पुस्तक का नाम 'महिलाओं का चक्रवर्त्तित्व' था।—ले०

वे नगर के बड़े यशस्वी और प्रतिष्ठित पुरुष थे। आपकी माता तो आपके बहुत बचपन में ही स्वर्ग सिधार चुकी थीं; पर आपके पिताजी भी आपको ग्यारह साल की उम्र में ही अनाथ कर गये। उस समय आपकी शिक्षा-दीक्षा आपके पूज्य चचेरे भाई मुन्शी हीरालाल सहाय की देख-रेख में होने लगी। आप बचपन से ही बड़े होनहार और प्रतिभाशाली थे—चौदह वर्ष की ही उम्र में आपने छात्रवृत्ति के साथ मिडिल वर्नाकुलर पास किया और छपरा-जिला-स्कूल से सन् १८९४ ई० में इण्ट्रेन्स, तथा १८९७ ई० में ही बी० एन्० कॉलेज (पटना) से एफ्० ए० पास किया। किन्तु इसके बाद घरेलू झंझटों के कारण बी० ए० की परीक्षा में पास न हो सके। अन्त को सन् १९०० ई० में रिविलगंज (छपरा) के मिडिल-इंगलिश-स्कूल में आप प्रधानाध्यापक नियुक्त हुए; फिर कुछ दिनों तक छपरा-जिला-स्कूल में भी शिक्षक रहे, बाद को सन् १९०३ ई० में मुँगेर जिले में स्कूलों के सबइन्सपेक्टर हो गये। तब से बिहार के भिन्न भिन्न जिलों गया, आरा, दरभंगा, छपरा आदि—में उक्त पद पर आपने बड़ी योग्यता से अपना उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करके प्रचुर प्रतिष्ठा और कीर्त्ति अर्जन की है। हाँ, उसी दरम्यान सन् १९२६ ई० में आपने एल्० टी० परीक्षा भी पास कर ली।

इतने महत्त्वपूर्ण पद पर रहकर भी आप हिन्दी की सेवा बड़ी लगन से किये जा रहे हैं, और आपका हिन्दी-साहित्य-विषयक ज्ञान बड़ा ही उन्नत एवं भरपूर है, साहित्यानुराग तो आपके हृदय में बालपन से ही झलकने लगा था—प्रायः इतिहास-भूगोल आदि पाठ्य विषयों को स्वयं पद्यबद्ध बनाकर आप याद किया करते थे, और अपने सहपाठियों के मनोविनोद के लिए भी प्रायः कविताएँ बना दिया करते थे। आपकी कुशाग्र बुद्धि और तीक्ष्ण प्रतिभा को देखकर केवल आपके शिक्षक ही सन्तुष्ट न रहते थे, बल्कि उस समय के डिपुटी-इन्स्पेक्टर-ऑफ्-स्कूल्स पं० शिवनारायण त्रिवेदी तो इतने प्रसन्न एवं आकृष्ट हुए कि उन्होंने आपको सहर्ष पुरस्कार भी दिया था।

आपका निवास-स्थान सारन (छपरा)-जिले का 'शीतलपुर' नामक ग्राम है, जो बड़े ही प्रतिष्ठित कायस्थों की एक अच्छी बस्ती है। आप भी दूसरे श्रीवास्तव कायस्थ—पांडेय-वंश के हैं। आपके शुद्ध आचार-विचार और आपकी सच्ची आस्तिकता को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि आप वास्तव में शिक्षित कायस्थ-वर्ग के लिए एक आदर्श व्यक्ति हैं। आपके पूर्वज मुगल-बादशाह 'शाहजहाँ' के समय में राजकीय प्रतिष्ठा पाकर 'चिरैयाकोट' से आकर उक्त 'शीतलपुर' में बसे थे। आपने अपने गाँव में 'हिन्दी-मन्दिर' नाम से एक प्रकाशन-भवन तथा पुस्तकालय भी खोल रक्खा है, जिसके द्वारा 'मोदक', 'मोहनभोग', 'रसाल', 'घरौंदा' आदि कई बालोपयोगी रोचक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

बड़े सौभाग्य और सन्तोष की बात है कि आपके सुयोग्य पुत्र श्री जगन्नाथप्रसाद सिंह भी हिन्दी की सेवा में ऐसे तत्पर होते जा रहे हैं कि अब उन्होंने हिन्दू-विश्वविद्यालय से कॉलेज-शिक्षा छोड़कर सर्वतोभावेन हिन्दी-सेवा को ही अपना लिया है—फलस्वरूप उनकी अनेक बालोपयोगी रचनाएँ 'माधुरी', 'मनोरमा', 'बालक' आदि पत्रों में अक्सर छपती रहती हैं।

आपके वास्तविक साहित्यिक जीवन का सूत्रपात उस समय हुआ था, जब आप छपरा के जिला-स्कूल में शिक्षक थे, जहाँ स्वनामधन्य स्व० साहित्याचार्य पं० अम्बिकादत्त व्यास 'सुकवि' भी शिक्षक थे, और उन्हीं के चिर-संसर्ग से आपमें हिन्दी-सेवा की विशेष प्रवृत्ति हुई। व्यासजी का आपपर अविरल स्नेह था और वे प्रायः आपकी प्रतिभा की बड़ी प्रशंसा किया करते थे, जिससे उत्साहित होकर आप पक्के साहित्य-व्यसनी हो गये। फिर तो अपनी साहित्यिक अनुरक्ति के कारण आप व्यासजी के ऐसे वात्सल्यभाजन हुए कि उन्होंने अपने 'साहित्य-नवनीत' नामक संग्रह में आपकी 'लंकादहन के पश्चात् हनुमान का पश्चात्ताप'—शीर्षक भिन्नतुकान्त कविता को भी साग्रह प्रदान किया। और, जब आप 'पटना' में थे, तब वहाँ वयोवृद्ध साहित्यसेवी आरा-निवासी बाबू शिवनन्दनसहाय के सहवास एवं प्रोत्साहन से आप काशी तथा पटना के तत्कालीन कवि-समाजों में समस्याओं की पूर्त्तियाँ भेजने लगे, जो उनके संग्रहों में क्रमशः प्रकाशित होती रहती थीं। यों तो आपकी रचनाएँ 'अभ्युदय', 'शिक्षा', 'श्रीकमला', 'शारदा', 'कमला', 'क्षत्रियमित्र', 'नागरी-प्रचारक', 'निगमागम-चन्द्रिका', 'मनोरंजन', 'महिला-दर्पण', 'साहित्य-पत्रिका', 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' (काशी और आरा) आदि पत्र-पत्रिकाओं में बराबर छपती रही हैं और आज भी वर्त्तमान-काल की कितनी ही प्रसिद्ध पत्रिकाओं में छपा करती हैं।

पर केवल स्फुट रचनाओं तक ही आपकी साहित्य-सेवा सीमित नहीं; आपने कई छोटे-बड़े ग्रन्थ भी लिखे हैं, जिनमें कुछ प्रकाशित और कुछ अद्यापि अप्रकाशित हैं। आपकी पुस्तकों में 'भ्रातृभाव' (गद्य) और 'भक्ति' (गद्य), 'राल' और 'नृपसूर्यास्त' नामक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। 'निगमन और आगमन' नामक एक गद्य-पुस्तक काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा भी प्रकाशित हुई है। 'वनिता-विनोद-समालोचना,' 'पाश्चात्य नैतिक दर्शन' आदि आपकी कई गद्य-पुस्तकें अप्रकाशित भी हैं। आपकी खड़ी-बोली की कविताओं का एक अच्छा-सा संग्रह शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है। इस समय आप 'कविता की भाषा' नामक विचारपूर्ण समालोचनात्मक ग्रंथ लिख रहे हैं। अभीतक आपकी कविताओं का कोई अच्छा संग्रह नहीं निकला था, यद्यपि 'कविता-कुसुम' नाम से एक छोटा-सा खड़ी-बोली का पद्य-संग्रह पहले प्रकाशित हो चुका है। अब इधर लहेरियासराय के सुप्रसिद्ध 'हिन्दी-पुस्तक-भंडार' से आपकी व्रजभाषा की कविताओं का एक सर्वाङ्गसुन्दर संग्रह 'सुधा-सरोवर' प्रकाशित हुआ है, जिसकी भूमिका में कविवर पं० रामनरेश त्रिपाठीजी लिखते हैं—

"मुझे व्रजभाषा की कविता बहुत ही प्रिय है। मेरे मित्र श्रीयुत दामोदर-सहाय सिंह ने तीस-पैंतीस वर्ष पहले से व्रजभाषा में कविता प्रारम्भ की थी। उनकी कुछ कविताओं का संग्रह 'सुधा-सरोवर' नाम से प्रकाशित हुआ है। 'सुधा-सरोवर' को पार करके मैं यह लिखता हूँ कि श्रीदामोदरसहाय सिंह ने अपना हृदय निचोड़कर यह सुधा-सरोवर भरा है। कितने ही भाव तो ऐसे हैं,

जो व्रजभाषा के अच्छे-से-अच्छे कवि के भावों के जोड़ के हैं। भाषा भी मुझे बड़ी सरस जान पड़ी है।

"व्रजभाषा के आधुनिक कवि-शिरोमणि मेरे प्रिय मित्र श्रीयुत जगन्नाथदासजी 'रत्नाकर' बी० ए० 'सुधा-सरोवर' के विषय में काशी से अपने १३ अक्टूबर, १९२८ ई० के पत्र में लिखते हैं—'सुधा-सरोवर' के आदि से अन्त तक अवलोकन का सौभाग्य तो इस समय मैं नहीं प्राप्त कर सकता; क्योंकि कल ही परसों में मैं फिर बाहर जा रहा हूँ। पर जहाँ-तहाँ से मैंने उसको देखा। इस बात से बड़ी प्रसन्नता हुई कि इस समय भी कोई-कोई महाशय व्रजभाषा बेचारी के गुणग्राहक और सहायक विद्यमान हैं। रचना प्रतिभापूर्ण और सुकवियों की-सी है। कोई-कोई कवित्त तो बहुत ही सुन्दर है और पुराने कवियों का स्मरण कराती है।"

जो व्रजभाषा की कविता के प्रेमी हों, उन्हें इस 'सरोवर' में एक बार अवश्य स्नान करना चाहिए।

'कविकिंकरजी' का स्वभाव बड़ा ही कोमल है, जैसा कि एक आदर्श साहित्यिक का होना चाहिए। आप बड़े सहृदय, सुरसिक, मधुरभाषी, सदाशय, कर्त्तव्यनिष्ठ, धर्मपरायण और श्रद्धालु व्यक्ति हैं। आप लगभग समस्त भारत के मुख्य-मुख्य तीर्थों का पर्यटन कर चुके हैं। आपकी धार्मिक सहिष्णुता, उदारता और समाज-सुधार-सम्बन्धी विचार बहुलांश में अभिनन्दनीय हैं। यहाँ तक कि स्कूलों में भी धार्मिक शिक्षा का प्रचार करने के आप बड़े पक्षपाती हैं, बल्कि इसी उद्देश्य से आपने बालकों के लिए दो पुस्तकें भी लिखी हैं—'बाल-संकीर्त्तन' और 'धार्मिक वार्त्तालाप', जो बिहार के स्कूलों में प्रचलित हैं। आपकी भक्ति-पक्ष की कविताओं से ही आपकी धर्मनिष्ठा और भगवद्भक्तिपरायणता का अनुमान किया जा सकता है। एक उदाहरण देखिए—

खायो कर अन्न दान देइ कछु जाचक कौं,
न्हायो करै गंग-धार माहिं प्रातकाल को।
'दामोदर' दायो करै दीन दारिद्री-जन पै,
नायो करै सीस साधु-सन्त महिपाल को।
जायौ करै दर्सन निमित्त नित मन्दिर में
चन्द्रभाल-सामुहे बजायो करै गाल को।
गायो करै बिसद गोविन्द के गुनानुवाद,
ध्यायो करै सुभग सरूप नन्दलाल को॥

अब आपकी एक शृंगारमयी रचना का रसास्वादन कीजिए। एक नायिका शिशिर-समीर को लक्ष्य कर कहती है—

छिन पै छिन कम्प करै तन में, पट छोरि सरीर उघार करै।
कच फेरै बिखेरैं 'दमोदर' त्यों, सब ही असिंगार सिंगार करै॥
हिय लावै कबौं गरते लगि कै, मुख-चुम्बन बार-हिं-बार करै।
यह 'सीत की बात' अगात-बसी, बर सो सबहीं व्यवहार करै॥

यद्यपि आपकी यह कविता महाकवि भर्तृहरि के 'शृंगार-शतक' के एक श्लोक का अनुवाद है, तथापि मूल के भावों का बहुत सुन्दर निर्वाह हुआ है।

लगे हाथों आपकी खड़ीबोली की रचना भी देख लीजिए। प्रेम के विषय में कैसी अनूठी उक्तियाँ हैं—

(१) जन्म-भर गोते लगाने जो पड़ें हर्ज क्या? नैराश्य के क्रासार में।
पर अनोखे प्रेमघन को नित्य ही पाइएगा प्रेम के दरबार में॥
(२) है अलौकिक काम तेरा लोक में, दौड़ना है धार पर तलवार को।
थाह पा सकता पपीहा! कौन है? छोड़ तुझको प्रेम-पारावार की!
(३) एक ही आशा-भरोसा है तुझे, एक ही बल एक ही विश्वास है।
जब वियोगी प्रेम से विह्वल हुआ, दूर होने पर भी प्रियतम पास है॥

आधुनिक शिक्षा का कुपरिणाम दर्शाते हुए आप कहते हैं—

एम० ए०, बी० एल० हैं जदपि, मुँह से कढ़ै न बोल।
अबा कबा समला दिये फिरते डामाडोल॥

आपकी रचनाओं में स्वाभाविकता एवं माधुर्य काफी है। कई कविताओं में आपकी सुरुचि और भावुकता तथा रसज्ञता स्पष्ट झलकती है। कविता-प्रेमी सज्जन आपके नवीन सुधा-सरोवर' में अवगाहन करके तृप्त होंगे, ऐसी आशा है।

—मासिक 'सरोज' (कलकत्ता); पुष्प १, दल १२; वैशाख, १९८५ वि०, १९२८ ई०

प्रोफेसर अक्षयवट मिश्र 'विप्रचंद्र'

प्रोफेसर अक्षयवट मिश्र 'डुमरांव' (शाहाबाद, बिहार) के निवासी थे। वे संस्कृत और प्राकृत के मर्मज्ञ विद्वान थे। संस्कृत और व्रजभाषा में बड़ी मधुर कविता करते थे। द्विवेदी-युग के यशस्वी गद्य-लेखकों में उनका प्रतिष्ठित स्थान था। 'सरस्वती' में उनकी अनेक रचनाएँ और लेखमालाएँ प्रकाशित हुई थीं। बँगला तो वे मातृभाषा की तरह जानते और बोलते थे। व्रजभाषा में आशुकवि के समान समस्यापूर्त्तियाँ करते थे। उन्होंने

संस्कृत में दोहा छंद चलाकर बड़ा नाम कमाया था। पंडित विजयानन्द त्रिपाठी के समान धुरंधर विद्वान भी इस युग में संस्कृत के दोहा-छंद को उनका आविष्कार कहा करते थे।

उन्होंने दोहा-छंद में 'राधा-माधव-विलास' नामक एक महाकाव्य ही लिख डाला था, जो कलकत्ता से प्रकाशित होकर संस्कृत के पंडितों में खूब सम्मानित हुआ था। संस्कृत में उनकी पाँच-छः कविता-पुस्तकें छपी थीं। हिन्दी की गद्य-पद्य-रचनाएँ भी आधे दर्जन से कम नहीं निकली थीं। संस्कृत और बँगला से उन्होंने लगभग एक दर्जन पुस्तकों का हिन्दी-गद्य-पद्य में अनुवाद किया था। यदि उनके सभी लेखों और पुस्तकों की खोज करके ग्रंथावली प्रकाशित की जाय, तो उसके कई बड़े खंड होंगे। उनकी समस्त रचनाओं को देखकर ऐसा अनुमान होता है कि जब से उन्होंने होश सँभाला, तब से अंतकाल तक अपने जीवन के क्षणों को केवल साहित्य-सृष्टि में ही लगाया।

उनके प्रथम दर्शन का सौभाग्य वर्त्तमान शताब्दी की पहली दशाब्दी में हुआ था। वह एक विलक्षण संयोग था। वह रोचक प्रसंग आज भी याद है।

'आरा' नगर के मिश्रटोला मुहल्ले में पंडित चक्रपाणि मिश्र एक पुराने ढंग के विद्वान थे। मैं जिस हाइस्कूल में पढ़ता था, उसीमें वे हेड पंडित थे। गोरा छरहरा शरीर, कलीदार अँगरखा, बँधाई पगड़ी, रेशमी दुपट्टा, आँखों में सुरमा, दाँतों पर सुनहली बिंदी, त्रिकुटी पर पँचरंगा तिलक, ललाट पर अर्द्धचंद्राकार त्रिपुंड, गले में रुद्राक्ष की माला, मुँह में पान की गिलौरी, हाथ में गोमुखी छड़ी, लंबा डीलडौल, स्वर बड़ा गंभीर! छात्रों को जितना ही प्यार करते, उतना ही लुच्चा-पाजी-बदमाश भी कहते थे। एक छात्र को उन्होंने कक्षा से निकाल दिया; क्योंकि वह बेंच पर तबले का ताल देकर 'दधि' शब्द का रूप गा रहा था—'दधि दधिनी-दधीनि—दध्ना-दध्ना-दध्ना...।'

वह छात्र मेरा सहपाठी था। उस समय मैं फारसी-उर्दू पढ़ता था। किन्तु अपने एक साथी का अपराध क्षमा कराने के लिए मैं भी उसके साथ पंडितजी के घर गया। वहाँ अक्षयवटजी विराजमान थे। अक्षयवटजी की ससुराल का मकान पंडितजी के मकान के सामने ही बगल में था। उन्होंने मेरे गाँव-घर का पता पूछा था। मेरे बतलाने पर यह जानकर प्रसन्न हुए कि उनके एक परिचित कथावाचक (पंडित रामयत्न पांडेय) मेरे पुरोहित हैं। पांडेयजी मेरे गाँव के निवासी नामी व्यास थे। अपने बचपन में उनके मुख से वाल्मीकीय रामायण और भागवत की ललित कथा मैंने भी सुनी थी। उनकी भी एक अलग कहानी है।

उसी समय अक्षयवटजी ने मुझे हिन्दी पढ़ने का उपदेश दिया। उनकी प्रेरणा से उत्साहित होकर मेरा सहपाठी भी आग्रह करने लगा। उन दिनों स्वदेशी आंदोलन का बड़ा जोर था। स्कूलों में बंगाली शिक्षकों की ही अधिकता थी। हेड पंडित और हेड मौलवी के सिवा एक-दो बिहारी शिक्षक थे, बाकी सब बंगाली। स्कूल में बंगभंग-दिवस मनाया जाता था। विशेषतः बंगाली छात्र ही उसमें सम्मिलित होते थे। सरस्वती-पूजा की भी यही दशा थी। बिहारी लड़के चंदा देते थे, पर पूजा-अर्चा और सारी व्यवस्था बंगाली लड़के ही करते थे।

उस समय मिश्रजी मेरठ (उत्तर-प्रदेश) में रहते थे। वहाँ के एक कॉलेज में उनके मित्र पंडित उमापतिदत्त शर्मा संस्कृताध्यापक थे। शर्माजी डुमराँव के पास चिलहरी गाँव के थे। आपने मिश्रजी से ही संस्कृत पढ़ी थी। आपने ही सबसे पहले, अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की स्थापना का प्रस्ताव अखबारों में छपवाया था। आरा की नागरी-प्रचारिणी सभा के संस्थापक पंडित सकलनारायण शर्मा आपके समर्थक थे। किन्तु, आपके आकस्मिक निधन से प्रस्ताव अन्यत्र कार्यान्वित हुआ।

× × ×

मैं सन् १९०९ ई० में इंट्रेंस क्लास का छात्र था। उस समय वह 'फर्स्ट-क्लास' कहलाता था। जब मैं सेकेंड क्लास से तरक्की पाकर उसमें आया, तब एकाएक हिंदी पढ़ने लगा।

पहले तो मैं स्कूल में शुरू से बराबर उर्दू-फारसी पढ़ता रहा, और एक अच्छा विद्यार्थी होने के कारण मौलवी साहब का कृपापात्र भी था; मगर इंट्रेंस में आते ही अचानक मेरा मन हिंदी की ओर बरबस झुक गया।

इसकी भी एक अलग कहानी है। उस कहानी के एक पात्र प्रोफेसर मिश्रजी भी हैं। आज उनका आशीर्वाद प्रत्यक्ष प्रकट है।

उस समय यह नियम था कि सोलह साल से कम उम्र का छात्र विश्वविद्यालय-परीक्षा के लिए 'सेंट-अप' नहीं होता था। स्कूल में नाम लिखाते समय उम्र घटाकर लिखाने की परिपाटी थी। अंत में वही मेरे सिर पर बजरी।

मैं बहुत उदास होकर सोचने लगा कि पढ़ाई छोड़ ही दूँ। पर उस निराशा में प्रोफेसर मिश्रजी के उपदेशों से बड़ा धीरज बँधा। वे न उपदेशते, तो मैं मूर्खता कर ही बैठता।

यद्यपि सन् १९१० ई० में इंट्रेंस की जगह मैट्रिकुलेशन हो गया, तथापि मिश्रजी के उत्साहित करने से मैं उदासी छोड़ मन लगाकर पढ़ने में जुट गया। इस प्रकार मिश्रजी के दुबारा दर्शन का सौभाग्य सन् १९०९ ई० में प्राप्त हुआ, जब उन्होंने फारसी-उर्दू के बदले संस्कृत-हिन्दी पढ़ने को उत्तेजित किया और हतोत्साह होने पर प्रोत्साहन भी दिया।

उन दिनों मिश्रजी डुमराँव के नाबालिग महाराज (श्रीनिवासप्रसाद सिंह) के शिक्षक थे। महाराज के साथ राँची में रहा करते थे। डुमराँव-राज्य के राजमन्दिर में उनके पिता प्रधान पुजारी थे।

मेरे साहित्यिक गुरु पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा का मकान भी आरा नगर के मिश्र-टोले में ही था। उनका बैठकखाना मिश्रजी का एक अड्डा था। जब कभी वे आरा में रहते, शर्माजी के घर पर गोष्ठी जम जाती। कभी-कभी उस गोष्ठी में पं० रामदहिन मिश्र, पं० पारसनाथ त्रिपाठी आदि साहित्यसेवी भी जुट जाते। जैसे शर्माजी मनोरंजन-मूर्त्ति और अक्षयवटजी लीलाधारी विनोदी, वैसे ही रामदहिनजी काव्यालंकारी और त्रिपाठीजी ठहाकेबाज!

पंडित ईश्वरीप्रसादजी मेरे स्कूल में हिंदी-शिक्षक थे। आरा की नागरी-प्रचारिणी सभा में प्रतिदिन वे जाया करते थे। वहाँ मैं भी नियमित रूप से जाकर वाचनालय में पत्र-पत्रिकादि पढ़ता था। उनके घर पर भी प्रायः जाता रहता था। उन्हीं के घर पर उर्दू-फारसी छोड़कर हिंदी पढ़ने के कारण, अक्षयवटजी ने मेरी पीठ ठोंककर आशीर्वाद दिया था। उनकी बड़े मार्के की एक बात आज भी याद है—

"नागरी में स्वरों और व्यंजनों का क्रम वैज्ञानिक है। स्वरों में चढ़ाव-उतार स्पष्ट है। व्यंजनों में भी लघु-गुरु का क्रम है। पाँचों वर्ग अनुस्वार से कीलित हैं। अनुस्वार में ओंकार (ॐ) की सत्ता है। लघु है जीव और गुरु है ब्रह्म। उदाहरण अँगरेजी और उर्दू में भी देख लो—के+एच्=ख, काफ+हे=ख; जी (ग)+एच् =घ, गाफ+हे=घ; इसी तरह पाँचों वर्ग हिंदी में देख जाओ। प्रत्येक वर्ग का पंचम वर्ण ही प्राण है। पाँच ही वर्ग, पाँच ही प्राण, पाँच ही तत्त्व। किंतु उर्दू का पहला अक्षर 'अलिफ' है। 'अ' तो ठीक है। अँगरेजी में भी 'ए' (A) ही है। भला 'ल' (लाम) और 'फ' (फे) अक्षर तो उर्दू-वर्णमाला में बहुत आगे हैं, फिर आरंभ के स्वर-अक्षर में दो व्यंजन किस तरह आ चिपके। नागरी में अक्षर से मात्रा अलग है। अँगरेजी में बोलते हैं 'पी' और उससे काम लेते हैं 'प' का और उर्दू में 'हे' से 'ह' का। यह गड़बड़ हिंदी के अक्षरों में नहीं है......।"

उनका यह लेक्चर बड़ा लंबा और दार्शनिक था। सब बातें याद भी नहीं। सारांश मात्र लिख रहा हूँ। विज्ञजन पल्लवित कर ले सकते हैं। वे अँगरेजी बहुत कम जानते थे और उर्दू तो उससे भी कम। किंतु व्रजभाषा के अच्छे कवि होने से फारसी के प्रचलित शब्दों से खूब परिचित थे। विद्वद्वर पंडित रामावतार शर्मा के संसर्ग से वे भी अँगरेजी-फारसी के शब्दों को संस्कृत के साँचे में ढाला करते थे।

× × ×

मेरठ और राँची के बाद मिश्रजी बराबर पटना में रहने लगे; किंतु उसके पहले उन्होंने काशी और अयोध्या में रहकर संस्कृत पढ़ी थी तथा मालवा के जैन विद्वान् विजयराजेन्द्र सूरि के साथ कई साल रहकर 'अभिधान-राजेन्द्र' कोष का निर्माण किया था। मालवा से लौटने पर वे कई साल कलकत्ता में भी रहे थे। वहाँ विशुद्धानंद सरस्वती-विद्यालय में अध्यापक रहकर मारवाड़ी-समाज में बड़ी प्रतिष्ठा पाई। कुछ दिन 'भारतमित्र'-संपादक स्वनामधन्य पत्रकार बाबू बालमुकुंद गुप्त के सहकारी भी रहे। उन्हीं दिनों बँगला और राजस्थानी भाषा सीखी।

वे कई प्रांतों की भाषा स्वाभाविक रीति से बोलते थे। मालवी भाषा बोलते समय कोई नहीं कह सकता था कि वे मालवीय नहीं हैं। मारवाड़ी-भाषा में उनके अनेक हास्य-कौतुक मैंने गोष्ठियों में देखे-सुने हैं। बँगला में उनके हास्य-विनोद सुनकर हँसते-हँसते लोट जाना पड़ता था। वे और पंडित ईश्वरीप्रसादजी जब कभी एकत्र हो जाते, लटके-लतीफों की बाढ़ आ जाती थी। पंडित विजयानंदजी त्रिपाठी (श्रीकवि) उनको महामहोपाध्याय पंडित रामावतार शर्मा के दरबार का विदूषक कहा करते थे।

सन् १९१४-१५ ई० की बात है। उन दिनों पटना से साप्ताहिक 'पाटलिपुत्र' निकलता था। आरंभ में उसके संपादक थे डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल और उनके सहकारियों में थे पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा तथा बाबू महावीरप्रसाद गहमरी (सुप्रसिद्ध 'जासूस'-संपादक बाबू गोपालराम गहमरी के अनुज)। उस समय के 'पाटलिपुत्र' में विद्वच्चक्रचूडामणि पंडित रामावतार शर्मा भी प्रायः लेख-कवितादि लिखा करते थे। उनकी एक व्यंग्यविनोदमयी कविता छपी थी 'काना-वर्करीयम्' (खण्डकाव्य)! उसकी एक पंक्ति थी—'कौन हो आप स्वामीजी घास खाते हरे-हरे!'

एक दिन, संयोग की बात, शर्माजी पंडित-मंडली में विराजमान थे। उनका दरबार देवताओं की सुधर्मा-सभा के समान सुशोभित था। अक्षयवटजी की रसमयी सूक्तियाँ अट्टहास से वायुमंडल को गुँजा रही थीं।

एक स्कूली पंडित ने अकस्मात् पहुँचकर देहाती भोलापन के साथ अपनी शंका प्रकट कर दी—'घास खाते हरे-हरे' कैसे शुद्ध है? 'घास' तो हिंदी में स्त्रीलिंग है, 'हरी-हरी' होना चाहिए।'

छूटते ही अक्षयवटजी बोल उठे—'महाराज! स्वामी वर्करानंदजी पुँल्लिंग ही घास चरा करते हैं।'

सारी सभा का हास्योल्लास चारों ओर व्याप्त हो गया।

मिश्रजी शृंगार-रस के बड़े प्रेमी थे। साहित्य में नग्न अश्लीलता को तो वे कोसते थे, पर कहा करते थे कि शब्द, वाक्य, अर्थ, भाव, कल्पना, छंद, अलंकार आदि का चमत्कारोत्कर्ष तथा आकर्षण जहाँ नहीं है, वहाँ अलबत अश्लीलता हो सकती है; किंतु जिसको वास्तविक साहित्य कहते हैं, उसमें अश्लीलता होती ही नहीं, यों तो मनुष्य के पैदा होने का तरीका भी अश्लील ही है।

वे पान बहुत खाते थे। कहते थे कि जो पान नहीं खाता उसका मुँह 'अपान' रहा करता है। पान के संबंध में उनके दो दोहे मुझे आज भी याद हैं—

लौंग कपूर इलायची पुंगीफल तांबूल।
जो नर कबहुँ न खात है सो खल खलु चंडूल ॥१॥
रति, क्रीड़ा, नाटक, सभा; यात्रा, पथ, संग्राम।
भोजनांत में पान बिनु; नर न लहै विश्राम ॥२॥

डुमरांव-महाराज के गढ़ में श्रीविहारीजी का दर्शनीय मंदिर है। उसमें जन्माष्टमी का महोत्सव हो रहा था। काशी की मशहूर मंगलामुखियों और लखनऊ के भांड़ों का दल आया था। उस समय राजधानी की रौनक देखते ही बनती थी। कई बार मैंने भी वह उत्सव देखा है। सुदूर देहात से हजारों लोग रोज आते थे। डुमरांव में चिड़ियां पालने के शौकीन बहुत थे। वे सुंदर पिंजड़े को बढ़िया कपड़े से ढककर हाथ में लिये तमाशा देखा करते थे। कोई-कोई पिंजड़ा भीतर खाली रहता था।

उसमें चुने हुए जोड़े चुराकर रख लिये जाते थे। एक दफा मिश्रजी का नया जूता वहाँ चोरी चला गया। उन्हें बड़ा अफसोस हुआ। खीजकर यह दोहा कहा—

दुम्मराँव के दोल में, अचरज हो भरपूर।
पेट पींजरा पैठि कै, जूता जात जरूर॥

पटना में उन्होंने कई अँगरेजों को संस्कृत और हिंदी पढ़ाकर कीर्त्ति और प्रतिष्ठा पाई थी। लगभग एक दर्जन अँगरेज-अफसर उनके चेले थे। वे तरह-तरह के साहित्यिक हास्य-विनोदों से विद्वान अँगरेजों का मनोरंजन किया करते थे। उनसे रसीले चुटकुले सुनने के लिए उन्हें वे छेड़ा भी करते थे। पटना ट्रेनिंग-कॉलेज के प्रिंसिपल थिकेट साहब को वे 'विहारी-सतसई' पढ़ा रहे थे। एक दिन प्रसंगवश 'नथुनी उतारना' मुहावरा सुनकर थिकेट साहब उनसे पूछ बैठे कि इस मुहावरे की उत्पत्ति बतलाइए; क्योंकि इसके शब्दों से आपका अर्थ नहीं खुलता।

मिश्रजी का प्रत्युत्पन्नमतित्व देखिए। झट बोल उठे कि अहा हा! आप इसमें पैठे नहीं, मेरे अर्थ की संगति इ..में चौकोर बैठती है; क्योंकि नथुनी उतारने का मतलब है किसी सुन्दरी युवती को अपनी प्रेयसी के रूप में अंगीकृत करना और प्रेम की स्वीकृति पर सबसे पहले स्फीत चुंबन की मुहर पड़ती है; किंतु नथुनी से चुंबन में झंझट होती है। इसलिए नथुनी उतारकर चुंबन द्वारा प्रेम की मुहर लगाई जाती है—यही इस मुहावरे की ध्वनि है।

मिश्रजी के इस मधुर साहित्यिक उत्तर से थिकेट साहब बड़े प्रसन्न हुए। वे मिश्रजी की सूझ-बूझ पर बहुत रीझे रहते थे। उन्हीं के प्रयत्न से मिश्रजी को सन् १९१५ ई० में पटना-कॉलेज की प्रोफेसरी मिली। संस्कृत और हिन्दी के प्रोफेसर के रूप में छात्र-समाज से उनको यथेष्ट प्रतिष्ठा मिली। उनकी वाक्पटुता विलक्षण थी। वे बात बनाते नहीं, बात सँवारते थे। बात-बात में करामात पैदा करने की कला में पारंगत थे।

पटना-डिवीजन के कमिश्नर ओल्डहम् साहब हिन्दी-प्रेमी अंगरेज थे। उनके पास तक मिश्रजी की पहुँच थी। कहीं सफर में सुना हुआ एक शब्द साहब के ध्यान में था, मिश्रजी से पूछ बैठे कि 'मनसायन' का अर्थ और उसकी व्युत्पत्ति बतलाइए। मिश्रजी की हाजिरजवाबी कभी चूकती न थी, तुरत बोल उठे कि भोजपुरी में यह शब्द खूब चलता है और इसका अर्थ है 'गुलजार' या 'मनोरंजक', परन्तु इसकी व्युत्पत्ति ढूंढ़ने की जरूरत नहीं, यह शुद्ध संस्कृत शब्द है, इसमें दो शब्दों की संधि है—मनस्—अयन (मोर्चा, केंद्र आदि), मन जहाँ मोर्चा बाँध दे, मन जहाँ केंद्रित हो जाय, मन जहाँ रम जाय, मन जहाँ बसना चाहे, वही जगह 'मनसायन' कहलाती है।

इसी तरह मिश्रजी सभी शब्दों की हीर निकाला करते थे। उनसे किसी भाषा का कोई शब्द कह दीजिए, उसे वे संस्कृत के धातु-प्रत्यय से सिद्ध कर छोड़ते थे। महामहोपाध्याय पंडित रामावतार शर्मा के दरबार में यही काम हरदम होता रहता था। मिश्रजी उस दरबार के हर-फन-मौला थे।

उस समय के संस्कृतज्ञ पंडितों का ज्ञान बड़ा ठोस था। अब भी जो पुराने बच गये हैं, वे पोथी का मुँह नहीं जोहते। मिश्रजी कभी-कभी कथावाचक का नाट्य करते थे। उस समय सचमुच व्यास बन जाते थे। मेरठ और कलकत्ता के मारवाड़ी-समाज में कथा बाँचकर उन्होंने काफी पैसा कमाया था। वाल्मीकीय रामायण, श्रीमद्भागवत और भगवद्गीता के अनेक स्थल उन्हें कंठस्थ थे। जब वे गोष्ठी में व्यास का अभिनय करने लगते थे, तब उनकी वाग्विभूति और विनोदलीला देखकर आश्चर्य और आनन्द का अपूर्व दृश्य उपस्थित हो जाता था।

पंडित ईश्वरीप्रसादजी बहुत अच्छे अभिनेता थे। उनकी अपनी मनोरंजन-नाटक-मंडली थी। उन्होंने मिश्रजी को रंगमंच पर उतारने की बड़ी चेष्टा की। परन्तु मिश्रजी सार्वजनिक अभिनयों में कभी सम्मिलित न हुए। वे केवल एकांत मित्रगोष्ठी में ही अपने साहित्यिक अभिनयों का प्रदर्शन करते थे। उनका 'कृपण' का रूपक बड़ा अनूठा था। पर बहुत आग्रह करने पर ही यदा-कदा दिखाते थे। 'कृपणता' की असंख्य कहानियाँ कहते और हँसाते-हँसाते भू-लोटन कबूतर का हाल कर देते थे। अभावों के इस युग में वैसे मस्ताने साहित्यिक नहीं दीख पड़ते।

बिहार में स्कूलों के इंस्पेक्टर प्रेष्टन साहब थे। वे मिश्रजी के शिष्य थे। मिश्रजी ने उनको संस्कृत-हिन्दी पढ़ाकर प्रसन्न किया था। अँगरेज अफसरों को उन्होंने अपने प्रखर पाण्डित्य से वश में कर लिया था। उनके मनोहर विनोदों से अँगरेज-विद्वान् खूब आनन्द उठाते थे। एक बार प्रेष्टन साहब ने पढ़ते समय पूछा कि स्त्री को वामांगी क्यों कहते हैं। मिश्रजी ने छूटते ही कहा कि स्त्री प्यार करने की चीज है और बाईं ओर गलबहियाँ डालकर दाहिनी ओर से प्यार करने में सुविधा होती है। युक्तियुक्त उत्तर से प्रेष्टन साहब खिल उठे।

पुस्तक-भंडार (पटना) के स्वामी श्रीरामलोचनशरण जी से मिश्रजी का बड़ा स्नेह-सम्बन्ध था। 'साहित्यविनोद' नामक एक बालोपयोगी पाठ्य पुस्तक कई भागों में 'भंडार' से निकली थी। उसके संपादकों में मिश्रजी के साथ मेरा नाम भी प्रकाशित था। मिश्रजी की आत्मकथा और निबंधावली भी 'भंडार' से प्रकाशित हो चुकी है। अपने जीवन के अंतिम दिनों में, अस्वस्थ रहते हुए भी, मेरे बार-बार आग्रह करते रहने पर, उन्होंने आत्मकथा लिखी थी। उसका प्रकाशन उसी साल हुआ था जिस साल (१९३९ई०) मैं पुस्तक-भंडार से छपरा के राजेन्द्र-कॉलेज में गया था। उसके थोड़े ही दिनों बाद वे लगभग पैंसठ वर्ष की आयु में गोलोकवासी हुए थे।

मिश्रजी की एकमात्र सन्तान उनकी कन्या हैं, जो भागलपुर में ब्याही हैं। वे अपनी पत्नी का बहुत आदर करते थे। पंडित ईश्वरीप्रसादजी उनको स्त्रैण तक कहते थे। किसी कारण पत्नी के अप्रसन्न होने पर वे बहुत खिन्न हो जाते थे और अनेक प्रकार से शुश्रूषा करके सन्तुष्ट करते थे। कभी-कभी आगत मित्रों को सुना-सुनाकर साहित्यिक स्तुति करने लगते थे—'नहीं मानोगी तो पपनियों से गुदगुदाऊँगा, तलवों को ओठों से

सहलाकर मेंहदी लगा दूँगा, पदांगुलियों को चूमकर महावर लगा दूँगा—तांबूलरंजित अधरेण इत्यर्थः....।'

इस तरह की उक्तियों के साथ हँसते भी जाते थे। मित्र-मंडली में प्रणय-कलह और अपनी उद्विग्नता का वर्णन निस्संकोच भाव से करते थे। 'सरल सुभाउ छुआ छल नाहीं'।

आरा-नगर के मिश्रटोला मुहल्ले में मिश्रजी की ससुराल का मकान जिस गली के पूर्वी छोर पर था, उसी गली के बीच में हिन्दी के आदिगद्यकार पंडित सदलमिश्र का मकान भी था। मिश्रजी ने ही मुझे पहले-पहल वह घर दिखलाया था। उस समय सदलमिश्रजी के अति वृद्ध प्रपौत्र रघुनंदन मिश्र जीवित थे। बाद जब मैं आरा-टाउन स्कूल में हिन्दी-शिक्षक था, तब रघुनन्दनजी के सुपुत्र भगवतीप्रसाद मिश्र मेरे विद्यार्थी थे। भगवतीप्रसाद उसी समय हिन्दी के एक होनहार लेखक बन गये थे। यदि आज वे जीते रहते तो सदलमिश्र की परंपरा कायम रहती। यदा-कदा वे मुझे अपने घर ले जाते तो उनके वृद्ध पिता दिखाने लगते थे कि इस कमरे में दादाजी पूजापाठ और उसमें बैठ लिखा-पढ़ा करते थे। खेद है कि सदलमिश्र का कोई स्मारक वहाँ न बन सका।

अपने अँगरेज-शिष्यों की सिफारिश से मिश्रजी १९१५ ई० में पटना-कॉलेज के प्रोफेसर हुए थे। उस समय वे कोट और अँगरेजी ढंग का जूता पहनने लगे। नहीं तो बराबर बंददार या घुंडीदार मिरजई और बगलबंदी पहनते थे। सिर पर मलमल का साफा अपने हाथों बाँधते थे। कभी गोल पंडिताऊ टोपी लगाकर निकलते। जूता दिल्ली-वाल या सलीमशाही होता था, पीछे प्रोफेसरी में पंप भी आ गया। पहले तो घुटनों के नीचे से समेटकर कच्छा-धोती भी पहनते थे, पर आगे चलकर पंडिताऊ धोती रह गई। जूते-कपड़े के शौक से बढ़कर पान और इत्र का शौक था। इत्रों के वे अच्छे पारखी थे। यह गुण उन्होंने अपने पिताजी से सीखा था।

हिन्दी के बंगाली कहानी-लेखक बाबू गिरिजाकुमार घोष पटना में खड्गविलास प्रेस के कुछ दिन मैनेजर थे। बाद इंडियन प्रेस में इलाहाबाद चले गये। द्विवेदी-युग की 'सरस्वती' में वे ही लाला पार्वतीनंदन के नाम से लिखते थे। अक्षयवटजी से बँगला के हिन्दी-अनुवाद पर घोष बाबू टीका-टिप्पणी करने लगे। पंडित रामदहिन मिश्र भी उपस्थित थे। दोनों ही बँगला के अभिज्ञ अनुवादक थे। घोष बाबू ठेठ बँगला के शब्द और वाक्य पूछने लगे। दोनों ने सबका सटीक उत्तर दे दिया। तब अक्षयवटजी ठेठ हिन्दी और भोजपुरी के कई शब्द पूछ बैठे—जैसे 'गुमसाँइन'[१]—जिनमें से एक का अर्थ भी घोषबाबू न टटोल सके। मिश्रजी प्रायः कहते भी थे कि पुराने रईस लड्डू-पेड़े छील-छीलकर खाते थे और हमलोग दिन-रात शब्दों को ही सुधारकर खाते हैं। बात भी ठीक थी। वे लोग मानों शब्द-विचार के व्यसनी थे।

---

१. बरसात में भींगा कपड़ा नहीं सूखता, तो उससे हर तरह की गंध निकलती है। उसी अधसूखे ओदा कपड़े की गंध को 'गुमसाँइन' कहते हैं।

मिश्रजी भगवान कृष्णचंद्र के अनन्य भक्त थे। रासलीला का नाट्य करते समय उनकी भावभंगी मनोमुग्धकर होती थी। खड़े होकर अंगभंगी द्वारा त्रिभंगी बाना का स्वांग भी दिखाते थे।

मालपूआ, मोहनभोग (हलुआ), लड्डू और खीर (तस्मई) खाना बहुत पसन्द करते थे। यहाँ तक कि प्रीति-भोज का निमंत्रण देने पर पूछ बैठते थे कि उसमें इन चीजों की तैयारी है या नहीं। नमकीन चीजों में खिचड़ी और फुलौरियों के शौकीन थे। बनाते भी बहुत अच्छे थे। खिचड़ी के बराबर ही घी होने पर उनकी तृप्ति होती थी। चावलों में बासमती को 'वसुमतीनन्दन' कहा करते थे।

मिश्रजी की स्नेहसिक्त कृपा मुझपर बराबर बनी रही। रुग्णावस्था में उनसे मैं प्रायः मिलता रहा। उन्होंने डुमरांव-महाराज के राजगुरु श्रीदुर्गादत्त परमहंस की जीवनी लिखी थी, जो एकलिपि-विस्तार-परिषद् (कलकत्ता) के मुखपत्र 'देवनागर' में पूरी छप चुकी थी और फिर पुस्तक-भंडार (पटना) से पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुई। उन्होंने मुझसे बड़ा आग्रह किया कि तुम्हीं इसकी भूमिका लिखो। मैंने भी आदेश-पालन किया। उन्हें परमहंसजी के कितने ही शास्त्रार्थ-प्रसंग कंठस्थ थे। जब उनकी वाग्धारा खुलती थी, तब सुनकर दंग रह जाना पड़ता था। महाराज के दरबार की असंख्य समस्या-पूर्त्तियाँ वे विभिन्न कवियों के स्वर में ही दुहराते थे। स्मरण-शक्ति बड़ी तीक्ष्ण थी।

—मासिक 'अवन्तिका' (पटना); मई, १९५५ ई०

स्वामी भवानीदयाल संन्यासी

[१]

स्वामी भवानीदयाल संन्यासी का नाम देश-देशांतर में भलीभाँति प्रसिद्ध है। स्वदेश से बढ़कर विदेशों में उनके यश का विस्तार है। देश और विदेश में जितनी ख्याति उनकी है, उतनी बहुत कम नेताओं की है। इसका एकमात्र कारण यह है कि उनके जीवन का प्रत्येक क्षण लोक-सेवा में ही व्यतीत होता है। उन्होंने अपनी मुक्ति के लिए संन्यास नहीं ग्रहण किया, स्वदेश-बंधुओं की मुक्ति के लिए ही सांसारिक सुखों का त्याग किया—चाहे वे देश-बंधु स्वदेश में बसते हों, या विदेश में; भारत में हों, या भू-मंडल के विभिन्न भागों में।

स्वामी विवेकानंद और स्वामी रामतीर्थ के बाद स्वामी भवानीदयाल संन्यासी ही एक ऐसे भारतभक्त संन्यासी हुए हैं, जिन्होंने भारत की सीमा से बाहर—समुद्र-पार के देशों में—'हिंदी, हिंदू और हिंदुस्तान' के मंत्र का शंख फूंका है। विवेकानंद और रामतीर्थ ने विदेशों में केवल 'हिंदू और हिंदुस्थान का डंका बजाया था, आपने

'हिंदी' की भी दुंदुभी बजाई—आर्य-संस्कृति की भी ध्वजा फहराई। अतः उन दोनों प्रातःस्मरणीय आत्माओं की तरह आप भी विशाल भारत के निर्माताओं में हैं।

आपकी सेवाएँ केवल राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक क्षेत्र में भी आपकी सेवाएँ स्तुत्य हैं। आपके आदर्श जीवन की यह चौमुखी प्रगति वास्तव में अतुलनीय है।

आजकल आप भारत में हैं। दक्षिणअफ्रिका के प्रवासी भारतवासियों की अधिकार-रक्षा का आंदोलन करने के लिए गत मार्च (१९३९ ई०) में आप भारत आये, और इसी अगस्त के मध्य में आप दक्षिण-अफ्रिका लौट जानेवाले हैं। इस साल आप ही नेटाल-इंडियन-काँगरेस के अध्यक्ष हैं। नेटाल के इतिहास में यह पहला ही प्रसंग है कि काँगरेस का प्रधान एक हिंदू चुना गया। सन् १८९४ ई० में महात्मा गांधी ने नेटाल-इंडियन-काँगरेस की स्थापना की थी। तब से अबतक कोई हिंदू इस पद पर प्रतिष्ठित नहीं हुआ था। किंतु आप सभी वर्ग के प्रवासी भारतीयों के हार्दिक अनुरोध से काँगरेस के सभापति चुने गये। दक्षिण-अफ्रिका में भारत-सरकार के एजेंट जेनरल सर सैयद रज़ाअली के विवाह के कारण नेटाल के हिंदू-मुसलमानों में कुछ दुर्भाव उत्पन्न हो गया था, उसे आपके चुनाव ने बहुत-कुछ दूर कर दिया है। आपका निर्विरोध निर्वाचन आपकी लोकप्रियता का स्पष्ट प्रमाण है।

[२]

बिहार-प्रांत के शाहाबाद-जिले में ससराम-सबडिवीजन के अंदर बहुआरा एक गाँव है। मुगलसराय से गया जानेवाली ग्रेंड-कॉर्ड-लाइन (ई० आई० आर०) के उत्तर करगहर (थाना) से यह गाँव लगभग पाँच-छह मील उत्तर है। सन् १९२७ ई० में २२ जून को मैं आपके दर्शन के लिए बहुआरा गया था। उस यात्रा का सचित्र विवरण मैंने संवत् १९८४ के श्रावण के 'बालक' में लिखा था।[१] किंतु इस दर्शन के पूर्व ही से, जब सन् १९२२ ई० में आपने जकब्स (नेटाल) से 'हिंदी' साप्ताहिक निकाला था, मैं आपसे परिचित था।

उपर्युक्त बहुआरा-ग्राम से ही आपके पिता बाबू जयरामसिंह कुली-प्रथा के शिकार होकर दक्षिण-अफ्रिका चले गये थे। वहाँ उन्होंने अपनी श्रमशीलता और सदाचारिता से प्रचुर द्रव्योपार्जन किया, साथ ही अपने सद्गुणों के प्रभाव से स्वदेशवासियों में ऐसे सर्वप्रिय हो गये कि ट्रांसवाल-इंडियन-एसोसिएशन के सभापति निर्वाचित हुए, तथा कर्मवीर गांधी के विश्वसनीय बंधु प्रमाणित होकर इतिहास के पृष्ठों में अमर बन गये। उनके विषय में महात्मा गांधी ने 'आत्मकथा' में लिखा है—

"मेरे पास आनेवाले मुवक्किलों में बिहार और दक्षिण-भारत के लोग अधिक थे, जिन्होंने अपनी माँगों की पूर्ति कराने के लिए अपनी एक सभा खोल रक्खी थी। उसमें कुछ तो बड़े उदार, सहृदय और आदर्श-चरित्र व्यक्ति थे। उनके नेता श्रीयुत जयरामसिंह से मुझे बहुत अधिक सहायता मिली। उत्तर एवं दक्षिण-भारत के अनेक

१. यह लेख रचनावली के तीसरे खण्ड के ४६८ पृष्ठ पर प्रकाशित है।

प्रवासी भाइयों से मेरी घनिष्ठता उन्हीं के द्वारा बढ़ी। मैं उनका वकील ही न रहा, उनका भाई बनकर उनके सुख-दुःख में भी सम्मिलित होता रहा।"

आपकी माता श्रीमती मोहिनीदेवी, जिनका मातृगृह युक्तप्रांत[1] में अयोध्या के निकट था, तथा जो परम सुन्दरी और पति-भक्ति-परायणा थीं, अपने पतिदेव के साथ ही दक्षिण-अफ्रिका चली गई थीं। इसलिए आपका शुभ जन्म दक्षिण-अफ्रिका के सुप्रसिद्ध और सर्वश्रेष्ठ नगर जोहांसबर्ग में, सन् १८९२ ई० की १० वीं सितंबर को, हुआ। जोहांसबर्ग की जन-संख्या इस समय पाँच लाख है। संसार में सबसे अधिक सोना यहीं की खानों से निकलता है। यही नगर महात्मा गांधी के सत्याग्रह का भी जन्म-स्थान है।

आपकी शिक्षा भी जोहांसबर्ग में ही हुई। वहाँ के सेंट सिप्रियन और वेस्लन मेथोडिस्ट स्कूल में आपने अँगरेजी की तथा पंडित आत्मारामजी गुजराती की पाठशाला में हिंदी की शिक्षा प्राप्त की। किन्तु स्कूल की पढ़ाई से आपने कोई प्रमाण-पत्र नहीं प्राप्त किया; केवल स्वाध्याय के बल से आपने अपनी योग्यता इतनी बढ़ा ली कि आज तक आपका जीवन निरंतर प्रगति के पथ पर अग्रसर होता जा रहा है।

[३]

सन् १९०४ ई० में अपने पिताजी के साथ आप भारत में पहले-पहल आये। आपकी माताजी का देहांत सन् १८९९ ई० में ही हो चुका था। आपके पिताजी ने अपने जन्म-स्थान—बहुआरा गाँव—को खरीद लिया। पड़ोस के गाँवों—इस्माइलपुर और तेंदुनी—का भी कुछ भाग खरीदा। इस तरह उन्होंने एक छोटी-सी अच्छी जमींदारी का स्वामित्व प्राप्त करके आस-पास के गाँवों में अपनी प्रतिष्ठा स्थापित कर ली। आपने यहाँ आने पर गाँव में ही हिन्दी का अभ्यास किया। विदेश में जन्म होने पर भी भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी का बीज आपके हृदय में वर्त्तमान था; क्योंकि अफ्रिका में भी घर पर माता-पिता से हिन्दी में बातें करने का थोड़ा अभ्यास हो चुका था। हिन्दी का वह बीज भारत का अनुकूल वायुमंडल पाकर पल्लवित होने लगा।

सन् १९०५ ई० में वंग-भंग के प्रबल आंदोलन का सूत्रपात हुआ। उसी समय आपके हृदय में देश-सेवा की लगन पैदा हुई। गाँव में एक राष्ट्रीय पाठशाला खोलकर आप देहाती बच्चों को विना फीस पढ़ाने लगे। आंदोलन-संबंधी पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ आप सदा पढ़ा करते थे। परिणाम यह हुआ कि गाँवों में, बाजारों में, मेलों में आप स्वदेशी-प्रचार पर व्याख्यान देते फिरने लगे। उसी दौरे में आपको देहात की पुरानी रूढ़ियों से बड़ी घृणा हुई।

सन् १९०९ ई० में आप आर्यसमाजी बन गये। आपने बहुआरा गाँव में भी आर्य-समाज खोला। गाँववालों ने आपको ही सभा का प्रधान बनाया। फिर आपने वहाँ एक वैदिक पाठशाला भी खोली। इसके बाद आपके ही उद्योग से ससराम शहर में

१. अब 'उत्तर-प्रदेश'।

भी आर्य-समाज की स्थापना हुई। समाज की इन सेवाओं के फल-स्वरूप आप सन् १९११ ई० में बिहार की आर्य-प्रतिनिधि-सभा के अवैतनिक उपदेशक बनाये गये। उसी समय पटना से निकलनेवाले 'आर्यावर्त्त'-नामक मासिक पत्र के सहकारी संपादक भी नियुक्त हुए।

आपका विवाह सन् १९०८ ई० में ही, शाहाबाद-जिले के सखरा गाँव में, हो चुका था। आपकी पत्नी श्रीमती जगरानीदेवी अपढ़ थीं, पर आपने स्वयं उन्हें शिक्षा देकर अपने काम के योग्य बना लिया। देवीजी आगे चलकर आपके सार्वजनिक जीवन में बहुत बड़ी सहायिका सिद्ध हुईं।

सन् १९११ के जून में, आपके पिताजी का देहांत होने पर, ऐसा गृह-कलह उठ खड़ा हुआ कि आपके चित्त में घोर विरक्ति उत्पन्न हो गई। आपके पिता ने दूसरा विवाह कर लिय था, जिससे एक पुत्री थी, और एक पुत्र। आपकी विधवा विमाता ने संपत्ति के बँटवारे का झगड़ा उठाया। आपके पिताजी वसीयतनामा लिख गये थे, जिससे झगड़े की कोई आशंका न थी। फिर भी आपने विमाता से विवाद नहीं किया, केवल अपने निर्वाह के लिए थोड़ी संपत्ति लेकर शेष सारी संपत्ति विमाता को सौंप दी। इसके बाद अपनी पत्नी और अनुज श्रीदेवीदयालजी के साथ दक्षिण-अफ्रिका चले गये। यह दिसम्बर, १९१२ ई० की बात है।

दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में आप सपरिवार 'डरबन' पहुँचे। चार दिन आप-लोग जहाज पर ही कैदियों की तरह बंदी रहे। अंत में भारत लौट जाने का नादिरशाही हुक्म मिला। तब महात्मा गांधी की प्रेरणा से पोलक साहब ने सुप्रीम कोर्ट का दरवाजा खटखटाया। वहाँ से आदेश मिलने पर इमिग्रेशन-अफसर ने, एक पारसी सज्जन रुस्तमजी से १०० पौंड की जमानत लेकर, आपलोगों को जहाज से उतरने दिया। सुप्रीम कोर्ट ने चौदह दिनों के अन्दर प्रवासाधिकार सिद्ध करने का अवसर दिया था। पर इस अत्यल्प अवधि के अन्दर कुछ भी न हो सका। अतएव आपलोग नेटाल-प्रांत के प्रधान नगर डरबन से ट्रांसवाल की ओर चल पड़े। वहाँ की सीमा पर वालकरस्ट में आप लोग पकड़े गये, मंजिस्ट्रेट के सामने मामला चला; आखिर प्रवासी भारतवासियों के हितैषी पोलक साहब की जमानत पर छूटकर आपलोग ट्रांसवाल में प्रवेश कर सके। इसके बाद फिर प्रिटोरिया की अदालत में भी मामला चला, किन्तु सरकार ने मुकदमा उठा लिया, और आपको प्रवासाधिकार प्राप्त हो गया।

ट्रांसवाल में आपके पहुँचते ही जागृति के युग का सुप्रभात हुआ। जर्मिस्टन नगर के नवयुवकों ने 'इंडियन यंगमेंस एसोसिएशन' स्थापित कर आपको ही उसका अध्यक्ष बनाया। यह १९१३ ई० की घटना है। और, इसी साल महात्मा गांधी ने सत्याग्रह-संग्राम की घोषणा की—विशेषतः भारतीय श्रमजीवियों पर लगे हुए तीन पौंड सालाना टैक्स को रद्द कराने के लिए। आपकी वीर पत्नी सत्याग्रह की लड़ाई में शामिल हो गईं। जब 'ऑरेंज-फ्री-स्टेट' की सीमा पर देवीजी गिरफ्तार न हुईं, तब नेटाल की ओर बढ़ीं। इधर आपने जर्मिस्टन में सत्याग्रह छेड़ा था; पर केवल छह घंटे जेल में रखकर आप छोड़

दिये गये। छूटते ही आप अपनी पत्नी के साथ युद्ध-पथ के पथिक हुए। दस सत्याग्रही महिलाओं और श्रीथंबी नायडू आदि कई सत्याग्रही पुरुषों के साथ आपने नेटाल की सीमा पार की। अपनी पत्नी और अन्य सत्याग्रही स्त्री-पुरुषों के साथ आप पकड़े तो गए, पर केवल रात-भर जेल में रखकर मुक्त कर दिये गये।

इसके बाद आपने न्युकास्ल पहुँचकर उस देशव्यापी हड़ताल का श्रीगणेश किया, जो दक्षिण-अफ्रिका के इतिहास में एक अमर अध्याय है। उस हड़ताल में लगभग पचीस हजार हिंदुस्तानी मजदूरों ने भाग लिया था, जिनमें से दस हजार जेल भी गये थे। आपको और आपकी पत्नी को तीन-तीन महीने का कठोर कारा-दंड मिला। उस समय देवीजी की गोद में सवा साल का बच्चा भी था। पति-पत्नी ने न्युकास्ल, पिटरमेरीत्सबर्ग और डरबन की जेलों में कैद की अवधि बिताई। इसी बीच कुछ शिकायतें दूर कराने के लिए आपलोगों को भूख-हड़ताल भी करनी पड़ी थी।

कारा-मुक्त होने पर, सन् १९१४ में, आप महात्मा गांधी के अखबार 'इंडियन ओपिनियन' के हिन्दी-विभाग के सम्पादक हुए। उस समय इस पत्र के सम्पादकीय विभाग में स्वयं महात्मा गांधी और प्रसिद्ध बैरिस्टर पोलक साहब भी थे। पर जब महात्माजी ने दक्षिण-अफ्रिका से स्वदेश की ओर प्रस्थान किया, तब आपका इस पत्र से सम्बन्ध-विच्छेद हो गया।

महात्माजी के भारत चले आने पर, सन् १९१४ ई० में, आपने जर्मिस्टन में 'ट्रांसवाल-हिन्दी-प्रचारिणी सभा' स्थापित की। साथ ही एक हिन्दी-रात्रि-पाठशाला और एक हिन्दी-फुटबॉल-क्लब भी खोला। इस तरह आपने प्रवासी भारतवासी भाइयों में 'हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्थान' का भाव जगाकर भारतीयता को पुष्ट किया। फिर अगले ही साल, सन् १९१५ ई० में, आपने नेटाल-प्रांत में भी हिन्दी-प्रचार का कार्यारंभ किया—न्युकास्ल, डेनहौसर, ग्लंको, हार्टिंगस्प्रुट, बर्नसाइड, लेडीस्मिथ, विनेन, जेकब्स आदि स्थानों में हिन्दी-प्रचारिणी सभाएँ और हिन्दी-पाठशालाएँ स्थापित कीं—डरबन के निकट क्लेर-इस्टेट में एक हिन्दी-आश्रम बनाया, जिसमें पाठशाला, पुस्तकालय और छापाखाने की व्यवस्था की गई। पाठशाला में आपकी देवीजी भारतीय बच्चों को निःशुल्क हिन्दी-शिक्षा देती थीं। आपने अपना समस्त पुस्तक-संग्रह पुस्तकालय को दे डाला। यहाँ तक कि आपने 'दक्षिण-अफ्रिका-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' भी स्थापित किया, जिसका प्रथमाधिवेशन लेडीस्मिथ-नगर में और द्वितीयाधिवेशन पिटरमेरीत्सबर्ग-नगर में हुआ था।

इस प्रकार आपके सतत सदुद्योग से प्रवासी भाइयों में हिन्दी-प्रेम की अनुदिन अभिवृद्धि होने लगी। डरबन से 'धर्मवीर'-नामक हिन्दी-साप्ताहिक निकलने लगा। सन् १९१७ और १९१८ ई० में आपने ही बड़ी योग्यता से उसका संपादन किया था। संपादन-कार्य करते हुए आप प्रवासी भाइयों में वैदिक धर्म का प्रचार भी करते जाते थे। किन्तु पत्र के स्वामी से मतभेद होने के कारण संपादकत्व छोड़ देना पड़ा।

इस समय तक प्रवासी भारतवासियों में आप बहुत लोकप्रिय हो चुके थे। आपकी सच्ची सेवा और लगन में सबकी बड़ी आस्था थी। इसलिए सन् १९१९ ई० में

आप दक्षिण-अफ्रिका के प्रवासी भारतवासियों का प्रतिनिधित्व करने के लिए अमृतसर की काँगरेस में भेजे गये। भारत आकर काँगरेस के खुले अधिवेशन में आपने प्रवासी भाइयों के दुखड़े सुनाये। उन्हीं दिनों बिजौलिया (मेवाड़) के किसानों का सत्याग्रह चल रहा था; उदयपुर-राज्य के अधिकारियों की ओर से उनपर घोर अत्याचार हो रहे थे। उसीके लिए एक जाँच-कमीशन बना। राजपूताना-मध्यभारत-सभा ने आपको भी कमीशन का सदस्य चुना। किन्तु कमीशन का कार्यारंभ होने से पहले ही प्रजावत्सल महाराणा ने अपना खास कमीशन बैठा दिया। इसलिए, १९२० ई० में, आप नेटाल लौट गये। फिर भी इस यात्रा में आपने मेवाड़, मध्यभारत, युक्तप्रांत और बिहार का दौरा करके सैकड़ों भाषण दिये, तथा अनेक महत्त्वपूर्ण सभाओं में योग देकर प्रवासी भाइयों के प्रति भारतीय जनता की सहानुभूति प्राप्त की।। इसी यात्रा में अपने पुत्र ब्रह्मदत्त और भतीजे कृष्णदत्त को वृन्दावन के गुरुकुल में प्रविष्ट कराया।

ईश्वर की दया से आज आपके सुपुत्र ने प्रशंसनीय साहित्यिक योग्यता प्राप्त कर ली है। हिन्दी में उनकी कई कहानियाँ छप चुकी हैं। 'प्रवासी-प्रपंच'[१] नामक उपन्यास उन्होंने लिखा है, जो भारत में ही प्रकाशित हो रहा है। वहाँ के अँगरेजी-पत्रों में भी उनकी कहानियाँ छपा करती हैं। हिन्दी और अँगरेजी, दोनों में वह बहुत अच्छी कहानियाँ लिखते हैं।

सन् १९२० ई० में नेटाल पहुँचने पर आप प्रवासी भाइयों के विशेष श्रद्धा-भाजन बन गये। सन् १९२१ ई० में आपने नेटाल-इंडियन-काँगरेस को नव-जीवन प्रदान किया। यह संस्थामृतप्राय हो चुकी थी; पर आपने नूतन संगठन-शक्ति से इसे प्रबुद्ध किया। प्रवासी भाइयों ने आपको ही इसका उप-सभापति बनाया, और उसी समय से अबतक आप बराबर इस पद पर बार-बार चुने जाते रहे हैं। इस साल तो आप उसके सभापति ही हैं।

प्रवासी भाइयों की सेवा का क्षेत्र दिन-दिन विस्तृत होने लगा। आपने एक सुसंचालित एवं सुसंपादित पत्र के अभाव का अनुभव करके डरबन के निकट जेकब्स नामक स्थान में अपनी पत्नी के नाम पर 'जगरानी-प्रेस' खोल दिया, और उसी प्रेस से, सन् १९२२ ई० में, 'हिन्दी' नामक साप्ताहिक पत्र निकाला, जो अँगरेजी और हिन्दी में बहुत ही सुन्दर निकलता था। 'हिन्दी' के प्रकाशन से एक मास पूर्व ही आपकी पत्नी का का देहांत हो गया। फिर भी आपने आगे बढ़े हुए पग को पीछे न हटाया। हाँ, देवीजी के आग्रह, अनुरोध एवं उत्साह से ही 'हिन्दी' का जन्म हुआ था, इसलिए उनकी स्मृति-रक्षा के निमित्त आपने प्रेस का नामकरण तदनुसार ही किया। देवीजी के निधन पर पोलक साहब ने लिखा था—"वे वीरांगना और देश-सेविका थीं तथा भारत की सच्ची पुत्री।" इसी प्रकार दीनबन्धु एंडरूज ने भी लिखा था—"गरीबों के लिए ही उनका जीवन था, और उन्हीं की सेवा करते-करते वे चल बसीं।" सचमुच जगरानीजी आदर्श पति की आदर्श पत्नी थीं।

---

१. यह उपन्यास पुस्तक-भंडार, पटना-४ से प्रकाशित हुआ है।—ले०

'हिन्दी' के सम्पादक, व्यवस्थापक, अध्यक्ष, सब-कुछ आपही थे। उसकी सम्पादन-शैली में आपकी साहित्यिक प्रवृत्ति एवं मनोवृत्ति की स्पष्ट छाप है। उसके अनेक विशेषांक बड़े महत्त्व के निकले थे। वैसे सर्वांग-सुन्दर विशेषांक भारत में भी बहुत ही कम साप्ताहिकों के निकले हैं। मेरे पास 'हिन्दी' पत्रिका बराबर आती थी। उसके विशेषांकों को देखकर आज भी चिंता होती है कि स्वामीजी साहित्य-क्षेत्र छोड़कर किधर भटक गये। उस पत्रिका का प्रचार दक्षिण-अफ्रिका और भारतवर्ष के अतिरिक्त केनिया, युगांडा, टंगानिका, मॉरिशस, फिजी, ट्रिनिडाड, डेमरारा, सुरीनाम आदि स्थानों के प्रवासी भारतीयों में भी था। अपने समय में वह समग्र प्रवासी भारतीयों की मुखपत्रिका बन गई थी। उसके प्रकाशन में बराबर आपने घाटा ही उठाया, फिर भी चार साल तक आपने बड़े सुन्दर ढंग से उसे निकाला। उसके अंक जहाँ-कहीं होंगे, आज भी आकर्षण के ही साधन प्रतीत होंगे।

जिस साल (१९२२ ई०) 'हिन्दी' निकली, उसी साल आपको वहाँ की इंडियन-काँगरेस का प्रतिनिधि बनकर गया की काँगरेस में सम्मिलित होने के लिए भारत आना पड़ा। आपके ही प्रयत्न से गया-काँगरेस में वह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था, जिसके अनुसार नेटाल-इंडियन-काँगरेस, ट्रांसवाल-ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन और केप-ब्रिटिश इंडियन कौंसिल-नामक संस्थाएँ भारतीय काँगरेस से सम्बद्ध कर ली गईं तथा दक्षिण-अफ्रिका के प्रवासी भारतवासियों को प्रतिवर्ष भारत की काँगरेस में दस प्रतिनिधि भेजने का अधिकार मिला।

पुनः, सन् १९२५ ई० में भी, एक शिष्टमंडल के सदस्य बनकर आप भारत आये। इसी साल दक्षिण-अफ्रिका में ऋषि दयानन्द की जन्म-शताब्दी मनाने के लिए एक कमेटी बनी थी, जिसके प्रधान आप ही चुने गये थे। लगातार सात दिनों तक बड़ी धूमधाम से शताब्दी-जयन्ती-महोत्सव होता रहा। इसी अवसर पर नेटाल-आर्य-प्रतिनिधि-सभा की स्थापना हुई, और इसके अध्यक्ष भी आप ही निर्वाचित हुए। लेडीस्मिथ-नगर में वैदिक परिषद् भी आपके ही सभापतित्व में हुई। इन शुभ कार्यों को सम्पन्न करके शीघ्र ही आपको भारत की यात्रा करनी पड़ी; क्योंकि सन् १९२५ ई० में ही यूनियन पार्लियामेंट में प्रवासी भारतवासियों के विरुद्ध 'एशियाटिक बिल' पेश किया गया, जिसका उद्देश्य यह था कि गोरों से भारतीयों की बस्ती बिलकुल अलग बसाई जाय। आपने भारतीयों को अछूत बनानेवाले इस अपमान-जनक कानून के विरुद्ध घोर आंदोलन खड़ा किया। नेटाल-इंडियन-काँगरेस की ओर से सम्पूर्ण नेटाल में सभाएँ हुईं, और सबमें आपके ओजस्वी व्याख्यान हुए।

साउथ-अफ्रिकन-इंडियन-काँगरेस की ओर से केप-टाउन में एक सभा हुई, जिसमें भारत भेजने के लिए एक डेपुटेशन (शिष्ट-मंडल) बनाया गया। उसमें केप, ट्रांसवाल और नेटाल की ओर से सात सदस्य चुने गये, जिनमें एक आप भी थे। सन् १९२५ ई० के दिसम्बर में कलकत्ता पहुँचकर, आपलोगों ने लॉर्ड रीडिंग से भेंट करके अपना वक्तव्य पेश किया। उस समय मैं 'मतवाला-मंडल' में था; आपका शिष्टमंडल ग्रैंड होटल में ठहरा था, इसलिए बराबर भेंट होती रही। उसी समय मैंने आपकी वह ऐतिहासिक

पुस्तक देखी थी, जो सन् सत्तावन के गदर पर हिंदी में लिखी गई थी, और जिसमें अँगरेज-इतिहासकारों के प्रमाण-वाक्य उद्धृत कर यह बतलाया गया था कि भारतीय स्वतंत्रता के उस प्रथम संग्राम का अन्त करने में कैसी क्रूरता दिखाई गई थी। किंतु वह पुस्तक आज तक प्रकाशित नहीं हुई।[1]

उसी यात्रा में आप कानपुर की काँगरेस में शामिल हुए थे। वहाँ आपने प्रवासी भाइयों के प्रश्न को राष्ट्रीय महासभा के सामने रखा, जिससे भारत-भर में यह चर्चा फैल गई, और इस भारतव्यापी आंदोलन का परिणाम यह हुआ कि उक्त बिल किसी प्रकार कानून का रूप न ग्रहण कर सका। अंततः केप-टाउन में राउण्ड टेबल-कॉन्फ्रेंस हुई—दक्षिण अफ्रिका की सरकार के साथ भारत-सरकार का समझौता हुआ। माननीय श्रीनिवास शास्त्री भारत के प्रथम राजदूत बनकर दक्षिण-अफ्रिका गये।

इस बार की भारत-यात्रा की स्मृति में आपने सन् १९२६ ई० में, अपने गाँव बहुआरा में, प्रवासी-भवन बनवाया। इस भवन के बनवाने में जनता से कोई सहायता नहीं ली थी, अपने पैसे से बनवाया था; पर इसमें जो पाठशाला थी, वह नेटाल के श्री ए० दुखन के खर्च से चलती थी। इसमें जो पुस्तकालय था, उसमें प्रवासी-साहित्य का दर्शनीय संग्रह था। मैंने जून, १९२७ ई० में प्रवासी-भवन जाकर वह अपूर्व संग्रहालय देखा था; पर अब उसका सारा सामान दक्षिण-अफ्रिका चला गया, और वहाँ डरबन-नगर की जेकब्स पहाड़ी पर आपके पुत्र और भतीजे ने पन्द्रह हजार रुपये लगाकर जो 'भवानी-भवन' बनवाया है, उसी में सुरक्षित है।[2] प्रवासी भारतीयों के सम्बन्ध का कोई ऐसा रेकर्ड नहीं, जो उसमें न हो। प्रवासी-भवन में अखबारों की कतरनों की सुव्यवस्थित फाइलें देखकर मैं दंग रह गया। किंतु अब वह प्रवासी-भवन भी नहीं है; क्योंकि स्वामीजी जमींदारी के साथ-साथ भवन भी बेचकर सदा के लिए आफ्रिका में जा बसे हैं। प्रवासी-भवन का संग्रहालय वहाँ ले जाने में आपके सैकड़ों रुपये खर्च हुए थे। 'भवानी-भवन' आपके नाम पर तो बना ही है, उसमें उन सब अभिनन्दन-पत्रों का भी संग्रह है, जो देश-विदेश में आपको प्राप्त हुए हैं।

---

१. भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम में स्वामीजी के जेल चले जाने पर उनके बहुत-से राजनीतिक कागज-पत्रों के साथ इस पुस्तक की पांडुलिपि भी अँगरेजी-राज्य की पुलिस के हाथ लग गई।—ले०

२. उस प्रवासी-भवन को सदा के लिए छोड़कर स्वामीजी स्वदेश चले आये थे। आपने अजमेर नगर के बाहर नवनिर्मित आदर्श नगर में 'प्रवासी-भवन' बनवाया। उसीमें अपना संग्रहालय भी सुरक्षित रखा। सन् १९४४ ई० में वहाँ जाकर मैंने प्रवासी-भवन के विशाल भवन को देखा था। उसमें प्रवासी भारतवासियों से सम्बन्धित प्रचुर सामग्री थी। अजमेर के प्रवासी-भवन से आपने 'प्रवासी' नामक मासिक पत्र भी निकाला था। आपके संग्रहालय में जितनी सामग्री मैंने देखी थी, उतनी सामग्री प्रवासी भारतवासियों के सम्बन्ध में वर्त्तमान भारत-सरकार के पास भी शायद ही हो। देशी-विदेशी दोनों प्रवासी-भवन आपके पुत्र और पुत्रवधू के अधिकार में है। अजमेर के प्रवासी-भवन की व्यवस्था आपके आर्यसमाजी मित्र पर निर्भर है। आपके पुत्र अब भी दक्षिण-अफ्रिका में ही रहते हैं।—ले०

हाँ, सन् १९२७ ई० में ही, श्रीरामनवमी के दिन, आपने संन्यास ग्रहण किया, पर अपना नाम नहीं बदला; क्योंकि पीड़ित देशबन्धुओं के मोक्ष के लिए ही गेरुआ बाना धारण किया था। अब आप सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि-सभा (दिल्ली) की ओर से वैदिक धर्म का प्रचार करने के लिए दक्षिण-अफ्रिका लौट गये, और दो बरसों तक वहाँ प्रचार-कार्य करते रहे—साथ-साथ काँगरेस का काम भी होता रहा।

सन् १९२९ ई० के अंत में आप पुनः भारत पहुँचे। उपनिवेशों से लौटे हुए प्रवासी भारतीयों की दशा की जाँच की। युक्तप्रांत, बिहार, बंगाल, मदरास, बम्बई आदि प्रांतों में दौरा करके प्रवासी भाइयों की दशा अपनी आँखों देखी, और उनके संबंध में आवश्यक सामग्री भी एकत्र की। इस प्रयत्न में सफल होने के लिए आपको दस हजार मील की यात्रा करनी पड़ी थी। आपने एक तात्कालिक (Interim) रिपोर्ट निकालकर भारत-सरकार से प्रार्थना की कि वह एक कमीशन नियुक्त कर इस मामले की जाँच कराये। सरकार ने आपकी प्रार्थना के अनुसार माननीय श्रीनटसेन और श्री ग्रे का एक कमीशन बिठा दिया। इसी यात्रा में आपने मद्रास में (सन् १९२९ ई० के अन्त में ही) नेटाल-हाउस का उद्घाटन किया था। यह भवन भारत-सरकार की ओर से बना है, जिसमें लूले, लंगड़े और अपाहिज प्रवासियों को आश्रय मिलता है।

सन् १९३० ई० में जब वेस्ट-इंडीज-द्वीप से भारतीयों को लेकर 'सतलज' जहाज कलकत्ता पहुँचा, तो बड़ी सनसनी फैल गई। अड़तालीस दिनों की यात्रा में चौवालीस भारतीय मर चुके थे। आपने पंडित बनारसीदासजी चतुर्वेदी के साथ मिलकर देश-भर में घोर आंदोलन किया। 'सतलज' के चले जाने पर बंगाल-सरकार ने एक कमीशन चुना, जिसमें चौबीस-परगना के मैजिस्ट्रेट तथा प्रोटेक्टर ऑफ् इमिग्रांट्स के साथ एक सदस्य आप भी चुने गये; किन्तु आपने उस कमीशन में बैठना अस्वीकृत कर दिया। आपकी इस नीति का समर्थन महात्मा गांधी ने भी किया था।

उसी समय लाहौर की काँगरेस में स्वाधीनता का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। आसेतु-हिमाचल विद्युत्प्रवाह दौड़ गया। स्वदेशोद्धार-युद्ध में आप भी सम्मिलित हो गये। बिहार को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। अपनी मातृभूमि (जिला शाहाबाद) के गाँव-गाँव में दौरा करके काँगरेस का उत्साहवर्द्धक संदेश सुनाया। जिला-काँगरेस-कमेटी ने आपको ही अपना सभापति चुना। जिला-भर में जागृति की लहर उमड़ पड़ी। १२ मार्च को जब महात्मा गांधी 'डांडी' की ऐतिहासिक यात्रा पर कूच करने लगे, आपको एक आशीर्वादात्मक तार देकर आपकी सफलता की कामना प्रकट की। किन्तु मार्च (सन् १९३० ई०) के अंत में आप आरा-स्टेशन पर गिरफ्तार कर लिये गये। उस दिन जिला-भर में हड़ताल मनाई गई। मामला चला। बक्सर, डुमराँव और जगदीशपुर के जोशीले व्याख्यानों पर राजद्रोह का आरोप हुआ।

ढाई वर्ष का कारावास-दंड मिला। हजारीबाग की सेंट्रल जेल में 'ए'-श्रेणी में रक्खे गये। वहाँ साल-भर रहना पड़ा। वहाँ बिहार के सभी प्रमुख नेताओं और प्रसिद्ध काँगरेस-कर्मियों का जत्था जुटा था। 'कारागार'-नामक हस्तलिखित मासिक

पत्र आपके संपादकत्व में निकलने लगा। उसके व्यवस्थापक थे मुजफ्फरपुर-निवासी श्रीमथुराप्रसादसिंह और चित्रकार थे गिद्धौर के कुमार कालिकाप्रसादसिंह। उसके 'सत्याग्रह-विशेषांक' में बिहार के प्रत्येक जिले के सत्याग्रह का इतिहास दिया गया था। उसके केवल छह अंक निकले थे, जिनकी पृष्ठ-संख्या १२०० थी। गांधी-इरविन-समझौते के बाद जब आपलोग मुक्त हुए, तब 'कारागार' के छह अंक बिहार-विद्यापीठ (पटना) को सौंप दिये गये। संभव है, पुलिस की तलाशी में वहाँ से वह अमूल्य वस्तु लुप्त हो गई हो।

सन् १९३० ई० में ही वृन्दावन के गुरुकुल में प्रथम प्रवासी-परिषद् हुई थी, जिसके प्रधान अध्यक्ष आप ही चुने गये थे। आपने भाषण लिखकर छपा भी डाला; पर ठीक उसी समय आरा में गिरफ्तार हो गये। अतः जेल जाते समय अपने परम मित्र पंडित बनारसीदासजी चतुर्वेदी ('विशाल भारत'-संपादक) को कार्य-भार सौंप दिया, जिन्होंने वहाँ जाकर आपका मुद्रित भाषण पढ़ा, और बड़ी योग्यता से परिषद् का संचालन किया।

उपनिवेशों से लौटे हुए प्रवासी भारतीयों के निमित्त आपके अनुरोध से सरकार ने जो कमीशन बिठाया था, उसकी रिपोर्ट असंतोषजनक निकली। इसलिए जेल से छूटते ही आपने अपनी विस्तृत रिपोर्ट मई, १९३१ ई० में प्रकाशित कर दी। देश-देशांतर में इस रिपोर्ट की चर्चा हुई। महात्मा गांधी और 'टाइम्स ऑफ् इंडिया' तक ने इसपर अग्रलेख लिखा। तब आपने देश-विदेश के प्रभावशाली पत्रों के अग्रलेखों का संग्रह पुस्तकाकार प्रकाशित किया—Public opinion on the Assisted Emigration Scheme under Indo-South African Agreement. केप-टाउन की दूसरी गोलमेज-परिषद् में इस रिपोर्ट की बड़ी चर्चा हुई, और अंत में केप-टाउन-समझौते (Cape Town Agreement) से प्रत्यागमन (Repatriation) की धारा (Clause) निकाल दी गई।

सन् १९३१ ई० में अखिलभारतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन श्रीरत्नाकरजी के सभापतित्व में कलकत्ता-विश्वविद्यालय के सिनेट-हॉल में हुआ था। सौभाग्यवश मैं भी उसमें उपस्थित था। उसी अवसर पर आपकी अध्यक्षता में अखिलभारतीय हिंदी-संपादक-सम्मेलन हुआ था, जिसके स्वागताध्यक्ष थे 'विश्वमित्र'-संचालक श्रीमूलचन्द्रजी अग्रवाल बी० ए०। उसमें स्वनामधन्य बाबू राजेंद्रप्रसादजी, पंडित अंबिकाप्रसादजी वाजपेयी, पंडित कृष्णकांतजी मालवीय, पंडित लक्ष्मणनारायणजी गर्दे आदि प्रतिष्ठित विद्वानों और पत्रकारों के भाषण हुए थे। आपके ही अनुरोध से मुझे पत्रकार-सम्मेलन का मंत्रिपद ग्रहण करना पड़ा। किन्तु एक अनिवार्य कारण से मुझे 'गंगा' का संपादकत्व छोड़कर सुलतानगंज (भागलपुर) से काशी चला जाना पड़ा, इसलिए कोई ठोस काम न हो सका—यद्यपि पंडित बनारसीदासजी चतुर्वेदी ने एक कार्यक्रम बनाकर उसके साथ आरंभिक व्यय के लिए दस रुपये भी भेज दिये थे।

सन् १९३१ ई० में ही देवघर (वैद्यनाथधाम) में बिहार-प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का दशम अधिवेशन हुआ था। उसके अध्यक्ष आप ही चुने गये थे। किन्तु उस समय बीमार रहने पर भी बिहार-रत्न राजेन्द्र बाबू के अनुरोध से आपको सभापतित्व अंगीकृत करना पड़ा। आपका भाषण बड़े महत्त्व का हुआ। उस समय आप 'आर्यावर्त्त' नामक हिन्दी-साप्ताहिक का संपादन कर रहे थे। यह पत्र बिहार की आर्य-प्रतिनिधि-सभा ने पटना से निकाला था। किन्तु सन् १९३२ ई० में भारत-सरकार के प्रवासी-विभाग के सदस्य सर मुहम्मद शफी और महात्मा गांधी से मिलकर, प्रवासी भारतवासियों के विषय में बातचीत करके आपको दक्षिण-अफ्रिका चला जाना पड़ा; इसलिए 'आर्यावर्त्त' अपने प्रधान संपादक के बिछुड़ते ही बंद हो गया।

उधर आप फ़िजी-द्वीप जाने की तैयारी करके जब दक्षिण-अफ्रिका पहुँचे, तब फ़िजी के गवर्नर ने दक्षिण-अफ्रिका के गवर्नर जनरल को तार देकर आपका फ़िजीवाला पासपोर्ट रद्द करा दिया। फ़िजी और भारत की कौंसिलों तथा देश-विदेश के पत्रों में इस प्रवेश-निषेध की बड़ी गरम चर्चा रही,पर फ़िजी की सरकार टस-से-मस न हुई। इसमें सबसे बड़ा विस्मयजनक कारण यह हुआ कि शाहाबाद के मैजिस्ट्रेट के सामने आपने राजद्रोह के अभियोग में जो बयान दिया था, जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है, उसे फ़िजी के 'पैसफिक प्रेस' नामक अखबार ने अविकल छाप डाला था। फ़िजी की कौंसिल में भी उस बयान की चर्चा हुई, और उसी के कारण वहाँ प्रेस-ऐक्ट भी पास हुआ।

सन् १९३३ ई० में, जब दूसरी बार आप नेटाल की आर्य-प्रतिनिधि-सभा के प्रधान चुने गये, आपने पूर्ववत् आर्य-धर्म की सोत्साह सेवा की। उसी समय, आपकी ही अध्यक्षता में, वहाँ 'दयानंद-निर्वाण-अर्द्धशताब्दी' मनाई गई। नेटाल-भर में यह महोत्सव बड़े समारोह से संपन्न हुआ। संयोगवश उसी साल दक्षिण-अफ्रिका में 'कलोनाइजेशन स्कीम' का झगड़ा उठ खड़ा हुआ। दूसरी गोलमेज-परिषद् (केप-टाउन) में भारत-सरकार और दक्षिण-अफ्रिका की सरकार ने मिलकर तय किया था कि भूमंडल में कोई ऐसा उपनिवेश ढूंढ़ा जाय, जिसमें भारत की बढ़ती हुई प्रवासी प्रजा को बसाने की व्यवस्था हो सके—साथ ही यहाँ के प्रवासी भारतवासी भी देखें कि प्राप्त उपनिवेश में उनके बसने की सुविधा है या नहीं। यही स्कीम थी। दक्षिण-अफ्रिका की भारतीय काँगरेस ने इस योजना में योग देने का वचन भी दिया; किन्तु जब कमीशन बैठा, काँगरेस के तीन-चार सदस्यों ने विरोधियों के साथ मिलकर अपना एक अलग दल खड़ा किया। फिर भी काँगरेस अपने वचन पर दृढ़ रही, और आप उसी दृढ़-संकल्प दल में थे। आपने नेटाल-भर में दौरा करके काँगरेस-पक्ष का समर्थन किया। मेरीत्सबर्ग-नगर के सिटी-हॉल में जब आप भाषण दे रहे थे, विरोधियों ने अवांछित रूप से हुल्लड़बाजी की। पर अंत में काँगरेस की ही विजय हुई—योजना का अंत हो गया, कमीशन ने काँगरेस के मत का ही समर्थन किया।

सन् १९३४ ई० में जब सम्राट् पंचम जॉर्ज के सुपुत्र दक्षिण-अफ्रिका पधारे, भारत-सरकार के एजेंट कुँवर सर महाराजसिंह ने आपको उनसे मिलाया। उस भेंट में

युवराज ने आपसे बातें भी कीं। यह भेंट डरबन के 'ड्रिल-हॉल' में हुई थी, जहाँ भारतीय कॉंगरेस की ओर से प्रिंस को भोज दिया गया था। फिर 'डरबन'-नगर के मेयर ने जिन नौ भारतीय नागरिकों को प्रिंस के स्वागत (Civic Reception) में आमंत्रित किया था, उनमें एक आप भी थे। मेयर ने ही प्रिंस से आपका प्रथम परिचय कराया। इससे स्पष्ट है कि राजा और प्रजा दोनों पक्ष के लोगों में समान भाव से आपकी प्रतिष्ठा है।

सन् १९३४ ई० में ही नेटाल-इंडियन-कॉंगरेस ने दक्षिण-अफ्रिका के गवर्नर-जनरल लॉर्ड क्लॉरेंडन को एक चाय-पार्टी दी थी, जिसमें बड़ौदा के आर्य-कन्या-महाविद्यालय की कन्याओं ने बाण द्वारा आपके गले में पुष्प-हार पहनाकर अद्भुत हस्त-कौशल दिखाया था। सन् १९३५ ई० में जब सम्राट् पंचम जॉर्ज के शासन की रजत-जयंती मनाई गई, तब डरबन-कॉरपोरेशन ने उसकी व्यवस्था के लिए भारतीयों की भी एक कमेटी बनाई थी, जिसके एक सदस्य आप भी थे। उसी साल की जनवरी में आप डरबन-नगर के कमिश्नर ऑफ् ओथ्स बनाये गये। डरबन-कॉरपोरेशन ने आपके सम्मान में एक सड़क का नाम 'दयाल-रोड' रख दिया है।

सन् १९३५ ई० के अंत में 'साउथ अफ्रिकन इंडियन कॉंगरेस' के प्रतिनिधि बनकर आप पुनः भारत आये। इसी यात्रा में आपने बिहार के गया-नगर में 'राजेन्द्र-आश्रम' का उद्घाटन किया, और लखनऊ की कॉंगरेस के खुले अधिवेशन में प्रवासी भारतीयों की दुःख-गाथा सुनाई—भारत-सरकार के प्रतिनिधि सर जगदीशप्रसाद और सर गिरिजाशंकर वाजपेयी से मिलकर प्रवासी भारतीयों की समस्या पर दो दिन बातें कीं—महात्मा गांधी और अन्य प्रमुख भारतीय नेताओं से भी प्रवासी-समस्या पर विचार-विनिमय किया, साथ-साथ समाचार-पत्रों में आंदोलन भी। इस प्रकार अपनी यात्रा सफल करके आप सन् १९३६ ई० में दक्षिण-अफ्रिका लौट गये, और वहाँ उक्त कॉंगरेस ने एक प्रस्ताव द्वारा आपकी सफलता का अभिनंदन किया।

इधर पाँच-छह साल से आप पोर्तुगीज ईस्ट अफ्रिका में वैदिक धर्म का प्रचार कर रहे हैं। सन् १९३७ ई० में पूर्व-अफ्रिका के प्रधान नगर लॉरेंसो मार्क्विस में आपके ही कर-कमलों से वेद-मंदिर की आधार-शिला रखी गई थी। उस शिलान्यास-महोत्सव का सचित्र विवरण भारतीय हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं में भी छपा था। वह वेद-मंदिर वहाँ के भारत-समाज की संपत्ति है, और उसमें पचास हजार से भी अधिक रुपये खर्च हुए हैं। उसमें भारतीय बालक-बालिकाओं को हिन्दी-माध्यम द्वारा धार्मिक और सांस्कृतिक शिक्षा भी दी जाती है।

आपकी लिखी हुई हिन्दी-पुस्तकों के नाम ये हैं—(१) दक्षिण-अफ्रिका के सत्याग्रह का इतिहास, (२) दक्षिण-अफ्रिका के मेरे अनुभव, (३) सत्याग्रही महात्मा गांधी, (४) हमारी कारावास-कहानी, (५) ट्रांसवाल में भारतवासी, (६) नेटाली हिन्दू, (७) शिक्षित और किसान, (८) वैदिक धर्म और आर्य-सभ्यता, (९) वैदिक प्रार्थना। इनके सिवा बहुत-सी छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ (ट्रैक्ट) भी हैं। कई हिन्दी-पुस्तकों की भूमिकाएँ भी बड़े महत्त्व की हैं। देश-विदेश के पत्रों में जो आपने

लेख लिखे हैं, और अनेक सभासमितियों में जो भाषण दिये हैं, उन सबका यदि संग्रह किया जाय, तो एक बड़ा भारी पोथा तैयार हो सकता है। पर हिन्दी-संसार में संग्रह-ग्रंथों का जैसा अभाव है, उसे देखते हुए यह आशा करना व्यर्थ है कि आपके लेखों और भाषणों का कोई सर्वांगपूर्ण सुसंपादित संग्रह निकट भविष्य में प्रकाशित हो सकेगा। हिन्दी में आपकी और आपकी सहधर्मिणी की एक छोटी-सी जीवनी बहुत दिन पहले निकली थी, जो अब अप्राप्य है; पर इधर 'अजीतमल' (इटावा) के 'इंडियन कलोनियल एसोसिएशन' से अँगरेजी में आपकी एक बृहत् जीवनी प्रकाशित हुई है, जिसके सुयोग्य लेखक हैं श्रीप्रेमनारायणजी अग्रवाल एम्० ए०। इस पुस्तक का मूल्य पौने दो रुपया है, और संभवतः इसका हिन्दी-संस्करण भी निकलनेवाला है। यह पुस्तक मुझे इस लेख के समाप्ति-काल में प्राप्त हुई; अतः मैं इसमें से पाठकों के लिए संतोषप्रद सामग्री-संकलन न कर सका। फिर भी अँगरेजी जाननेवाले पाठकों से मेरा सविनय अनुरोध है कि इस पुस्तक को अवश्य पढ़ें।

अंत में यह बतला देना अप्रसंगिक न होगा कि मैं भी शाहाबाद-जिले का ही रहनेवाला हूँ, जो स्वामीजी की पैत्रिक भूमि है; इसलिए मुझपर आपका अविरल स्नेह भी है। मेरे संग्रहालय में आपकी सैकड़ों चिट्ठियाँ और आपके सार्वजनिक कार्यों के अनेक मुद्रित विवरण संगृहीत हैं, जिनमें अखबारों की कतरनें भी काफी हैं। उन सबके आधार पर स्वामीजी का एक संस्मरण कभी लिखा जायगा; पर इस समय तो आपके भारतागमन के अवसर पर यह संक्षिप्त जीवन-परिचय ही पर्याप्त समझता हूँ। मेरा अनुभव है, सार्वजनिक नेताओं की सच्ची जीवनी अखबारों की कतरनों से ही तैयार हो सकती है।

—मासिक 'सुधा' (लखनऊ); वर्ष १३, खण्ड १, संख्या १; श्रावण ३१७ तुलसी-संवत्, सन् १९३९ ई०,

श्रीमती जगरानी देवी

दक्षिण-अफ्रिका से साप्ताहिक 'हिन्दी' निकलता है, उसके सुयोग्य सम्पादक पं० भवानीदयालजी संन्यासी हिन्दी-संसार में काफी प्रसिद्ध हैं। प्रवासी भारतवासियों की सेवा का उन्हें बड़ा व्यसन है, 'हिन्दी' द्वारा वे कितना महत्त्वपूर्ण काम कर रहे हैं, यह वही जानता है, जो नियमित रूप से 'हिन्दी' पढ़ता है। हम भारतवासी अपने प्रवासी भाइयों को भूले बैठे हैं। पर भवानीदयालजी उन्हींकी सेवा के लिए स्वदेश छोड़कर विदेश में टिके हुए हैं। वहाँ टिककर वे धनोपार्जन नहीं करते, राष्ट्रभाषा हिन्दी का झण्डा फहरा रहे हैं। इतना ही नहीं, आर्य-धर्म, भारतीय सभ्यता और हिन्दी-संस्कृत का प्रचार भी कर रहे हैं।

वे बिहारी हैं। मैं भी बिहारी हूँ। मेरा गाँव शाहाबाद (आरा) जिले में है। वहाँ से पंडितजी का गाँव आठ कोस के फासले पर पच्छिम-दक्खिन की ओर है। पंडितजी की धर्मपत्नी का नाम था 'जगरानी देवी'। वे भी मेरे ही जिले की थीं। मेरे जिले में सहसराम एक तहसील है, जहाँ शेरशाह का मशहूर रौजा है। उसी तहसील में शोणभद्र-नद के तट पर नासरीगंज एक अच्छी बस्ती है, जहाँ चीनी का मशहूर कारखाना है। नासरीगंज में थाना भी है, जिसके इलाके में 'सखरा' गाँव पड़ता है। वहीं जगरानीजी का जन्म हुआ था।

शोणभद्र-नद से तीन कोस पश्चिम 'सखरा' है। बस्ती अच्छी है। दृश्य वहाँ के बड़े अच्छे हैं। वहीं के थे बाबू रामनारायण राय जमींदार, जो जगरानीजी के पिता थे। आसपास के गाँवों में उनकी प्रतिष्ठा थी। उनकी पत्नी का नाम था श्रीमती बचन कुँवरि। इन्हें ही जगरानीजी की माता होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। ये अभी जीवित हैं, पर बाबू साहब इस लोक में अब नहीं हैं। ये पुराने ढर्रे की स्त्री हैं। इन्हें स्त्री-शिक्षा से सख्त नफरत है। पर वीर-माता हैं। इन्हीं के गर्भ से ४ जनवरी (१८९७ ई०) को जगरानीजी जन्मी थीं। जगरानीजी के दो भाई भी थे—नन्दकिशोर राय और यमुनाप्रसाद राय। यमुनाप्रसाद हाल ही मरे हैं। दो बहनें भी थीं। बड़ी बहन जाती रहीं, एक बहन और एक भाई वर्त्तमान हैं।

जिस देहात में मैं रहता हूँ, अथवा जिस देहात में जगरानीजी की जन्मभूमि है, वह ऐसी जगह है, जहाँ नई रौशनी या बीसवीं सदी की सभ्यता का बहुत ही धुँधला प्रकाश पहुँचा है। कुछ इने-गिने पढ़े-लिखे लोग, स्त्री-शिक्षा का मतलब (सिर्फ मतलब ही) भले ही समझते हों, पर जन-साधारण की दृष्टि में स्त्री-शिक्षा का कोई महत्त्व नहीं। स्त्री-शिक्षा का अस्तित्व वहीं तक है कि कहीं-कहीं दो-चार सुशिक्षित कायस्थों की स्त्रियाँ सिर्फ मामूली चिट्ठी-पत्री करना जानती हैं, वह भी कैथी अक्षरों में, देवनागरी की लिखावट का कहीं पता नहीं। ऐसे स्थान में जगरानीजी पैदा हुई थीं—'जिमि मरु-धरनि देवधुनि धारा'!

देवीजी को बचपन में तो किसी प्रकार की शिक्षा-दीक्षा मिली नहीं; क्योंकि माता-पिता तो ऐसे कूपमंडूकों के देश में रहते थे, जिनके यहाँ स्त्री-शिक्षा अशुभ मानी जाती है; परन्तु विवाह हो जाने पर पति के घर में उनकी शिक्षा आरम्भ हुई। शिक्षा का माध्यम बनी हिन्दी। देवीजी अच्छी हिन्दी जानती थीं। लिखती भी थीं और बोलती भी थीं। बारह वर्ष की अवस्था में शादी हुई और सोलह वर्ष की अवस्था तक देवीजी पूर्ण शिक्षिता हो गईं।

पंडित कौशल्या देवी के साथ जगरानीजी को चार महीनों तक रहना पड़ा था। इससे उनका बड़ा उपकार हुआ। उतने ही दिनों में उन्होंने पंचमहायज्ञ-विधि सीख ली। फिर भवानीदयालजी के सहवास से जो उन्हें लाभ पहुँचा, उसका तो कहना ही क्या? क्योंकि भवानीदयालजी आर्यसामाजिक सिद्धान्तों के भक्त थे और नवयुग के सुधार-सिद्धान्त के कट्टर पक्षपाती भी। उनके पिता श्रीयुत जयराम सिंह भी ट्रांसवाल-इंडियन-

एसोसिएशन के सभापति रह चुके थे, इसलिए अपनी पुत्रवधू की शिक्षा और स्वतंत्रता पर उनका भी विशेष ध्यान था।

एक तो उपयुक्त रीति से शिक्षा मिली, दूसरे पवित्र वायुमंडल में रहना पड़ा, तीसरे पतिदेव के आदर्श भावों और विचारों का प्रतिबिम्ब पड़ा, चौथे शिक्षा-दान का उद्देश्य बड़ा ऊँचा और महान् था, फिर क्यों न वे आदर्श विदुषी हों ?

आजकल के अधिकांश लोगों की ऐसी धारणा है कि पूर्ण शिक्षिता हो जाने पर स्त्री अपने पति की यथेष्ट सेवा नहीं करती। किन्तु उस श्रद्धालु महिला ने अपने आचरण से इस (भ्रमपूर्ण) धारणा को प्रत्यक्ष भाव से मिथ्या सिद्ध कर दिया था।

सन् १९१२ ई० के नवम्बर में भवानीदयालजी के साथ वे बम्बई गईं। वहाँ एक महीना ठहरीं। पहली दिसम्बर को दक्षिण-अफ्रिका के लिए पति के साथ प्रस्थान किया। २२ दिसम्बर को जहाज नेटाल पहुँचा। देवीजी की यही सबसे पहली समुद्र-यात्रा या विदेश-यात्रा थी। उस समय चार महीने का एक बच्चा भी गोद में था।

नेटाल पहुँचने पर अँगरेजी न जानने के कारण उन्हें जहाज से उतरने की आज्ञा नहीं मिली ! चार रोज जहाज पर ही रहना पड़ा ! आखिर, भवानीदयालजी के दौड़-धूप करने और ६००) जमानत जमा करने पर नेटाल की तट-भूमि में पैर रखने की आज्ञा मिली ! उतरकर वे अपनी ननद श्रीमती राजदेवीजी के यहाँ चली गईं। दो सप्ताह के लिए उन्हें घूमने-फिरने का जो आज्ञापत्र मिला, उसकी अवधि पूरी हो जाने के बाद वे फिर परतंत्रता अनुभव करने लगीं।

अधिकारी-वर्ग की चुप्पी या लापरवाही उनसे न सही गई। झट ट्रांसवाल के लिए चल पड़ीं। साथ में पति और देवर (देवीदयालजी) भी चले। भारत-भक्त मिस्टर हेनरी एस्० एल्० पोलक भी साथ ही थे। ट्रांसवाल की सीमा पर वे पकड़ी गईं और उनके ऊपर बिना आज्ञा ट्रांसवाल में प्रवेश करने का मुकदमा चलाया गया। इसके पहले जगरानीजी ने कभी अदालत के दर्शन न किये थे। मजिस्ट्रेट ने इस मामले को प्रिटोरिया भेज दिया। पर वहाँ सरकार की ओर से यह मुकदमा उठा लिया गया और जगरानीदेवी को अपने पति के साथ ट्रांसवाल और नेटाल में रहने की स्वतंत्रता मिल गई।

अगस्त, १९१३ ई० में सत्याग्रह का युद्ध छिड़ गया। इस युद्ध में भारतीय महिलाओं ने भी भाग लेना अपना धर्म समझा। सत्याग्रही वीरों की जो पहली टोली जेल में गई, उसमें भी श्रीमती गांधी आदि चार भारतीय महिलाएँ शामिल हुईं। इसका स्त्रियों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। स्थान-स्थान पर सरकारी कायदों का प्रतिवाद करने के लिए स्त्री-सभाएँ होने लगीं। सत्याग्रही स्त्रियों के सामने तीन बातें थीं—

(१) सन् १८९५ ई० के बाद आये भारतीय मजदूरों से ४५) सालाना 'कर' लेने की प्रथा बन्द कर दी जाय।

(२) भारतीय धर्मानुसार वैवाहिक सम्बन्ध स्वीकार कर लें।

(३) इस देश में जन्मे बालकों को केप-कॉलोनी जाने का अधिकार मिले।

सरकार ने इन बातों पर ध्यान न दिया। परिणाम यह हुआ कि भारतीय स्त्रियाँ जान पर खेलने तक को तैयार हो गईं। जगरानी देवी ने अपने पति से इस सत्याग्रह में शामिल होने की आज्ञा माँगी। पतिदेव स्त्री की इस प्रार्थना से बड़े प्रसन्न हुए, साथ ही उन्होंने महात्मा गांधीजी से भी राय ले लेने का अनुरोध किया।

जगरानी देवी महात्मा गांधी से मिलीं। महात्माजी ने जेल के कष्टों का वर्णन करते हुए पहले तो देवी को समझाया, पर जब उन्हें मालूम हो गया कि यह देवी जो कुछ भी सिर पर आ पड़े—सब सहन करने को तैयार है, तो उन्होंने बड़ी प्रसन्नता के साथ अनुमति दे दी और आशीर्वाद भी दिया।

सत्याग्रह बड़े जोरों से आरंभ हुआ। प्रायः सभी कोयले की खानों में काम करनेवालों ने हड़ताल कर दी। भंगियों तक ने काम बन्द कर दिया। धर-पकड़ शुरू हो गई। लोगों पर चाबुकों की वर्षा हुई। गोलियाँ चलीं। पर सत्याग्रह बढ़ता ही गया। जब श्रीभवानीदयालजी पकड़े गये और उन्हें तीन मास की सख्त कैद की सजा हुई, तो जगरानी देवी का उत्साह चौगुना बढ़ गया। उन्होंने बड़े आनन्द के साथ पति को विदाई दी। इसके बाद जगरानी देवी दस मद्रासी महिलाओं के साथ पकड़ी गईं और इन्हें भी तीन महीने की सख्त कैद हुई। जेल में इन्हें श्रीमती गांधी आदि की सेवा करने का भी अपूर्व अवसर मिला।

जेल से छूटने पर जगरानी देवी का चारों तरफ बड़ी धूमधाम से स्वागत किया गया। उनके छूटने के पहले ही से सेठ रुस्तमजी के घर पर ३०० के लगभग भारतीय और यूरोपीय महिलाएँ स्वागत के लिए उपस्थित थीं। इस समय जगरानी देवी की आयु केवल १९ वर्ष की थी। इस थोड़ी-सी आयु में जगरानी देवी ने देश-सेवा का जो परिचय दिया, वह अद्वितीय है।

यद्यपि अब वे इस संसार में नहीं हैं। उन्हें स्वर्गवासी हुए पूरे तीन साल हो गये; पर उनका नाम अब भी प्रवासी भाइयों की जबान पर है। दक्षिण-अफ्रिका से जो साप्ताहिक पत्र 'हिन्दी' निकलता है, वह उन्हीं के उत्साह का फल है। मिस्टर एण्ड्रूज के शब्द—'निर्धन और दलितों के लिए ही उनका जन्म हुआ और मृत्यु हुई'—वास्तव में उनके सच्चे विशेषण हैं। जगरानी देवी-जैसा आदर्श और अनुकरणीय चरित्र आज भारतीय बन्धुओं और माताओं को दूसरा नहीं मिल सकता।

—मासिक 'गृहलक्ष्मी' (प्रयाग); वर्ष १६, पंचम-षष्ठ दर्शन, श्रावण-भाद्रपद, १९८२ वि०, सन् १९२५ ई०

पंडित विनोदशंकर व्यास

मैं हिन्दी-पुस्तक-भंडार (लहेरियासराय, दरभंगा) के साहित्यिक प्रकाशन-विभाग की ओर से, लगभग तीन साल से, सम्पादन-कार्य के लिए, काशी में रह रहा हूँ। विगत

वर्ष उसकी एक पुस्तक-माला में छपने के लिए 'अशान्त' नाम का एक छोटा-सा उपन्यास आया। उसके शुरू में एक जगह मैंने 'किसी प्रेमिक-प्रेमिका की बातचीत' पढ़ी—

"तुमने रहीम का यह दोहा तो पढ़ा होगा?

कौन?

'रहिमन निज मन की व्यथा!'

हाँ।

एक बात पूछूँ?

क्या?

ठीक उत्तर दोगी?

बात भी तो सुनूँ।

तुम मुझे चाहती हो?

नहीं!

तो मैं भी तुम्हें नहीं चाहता।

न चाहो!

क्यों?

सो मुझे मालूम नहीं।

दोनों हँसने लगे।"

इसके बाद कुछ दूर आगे बढ़ने पर काशी के 'बुढ़वा-मंगल' मेले का वर्णन देखा—

"रात्रि का समय था। हल्की चाँदनी छिटक रही थी। गंगा की लहरें धीरे-धीरे बह रही थीं। चारों तरफ सैकड़ों सजीले कच्छे इधर-उधर तैर रहे थे। उन पर गैस की रोशनी चमक रही थी। घाटों पर भीड़ का कोलाहल हो रहा था। किसी बजड़े पर वेश्या का गान हो रहा था, कहीं हारमोनियम का मधुर स्वर हवा में गूँज रहा था, कहीं तबले की ठनक रात्रि की निस्तब्धता भंग कर रही थी। जिस कच्छे पर कोई प्रसिद्ध वेश्या अलापती, उसीके साथ सैकड़ों किश्तियाँ लहासी बाँध-बाँध कर डट जातीं—सहस्र-सहस्र नयन एक ही सौन्दर्य-बिन्दु पर केन्द्रित हो जाते—एक साथ ही हजारों कान एक ही स्वर-लहरी में बहने लग जाते। बजड़ों का समूह गंगा के गम्भीर वक्षःस्थल पर सौन्दर्य-संगीतमय आनन्द-तरंगमय प्रकाशपुंज पूर्ण रमणीय द्वीप के समान शोभायमान दीख पड़ता। नावों का झूमड़ बीच धारा में धीरे-धीरे बह रहा था। एकाएक 'वीणा'

गुनगुनाई, मानों वंशी के एक ही छेद में किसी सुकुमार कंठ ने धीरे-से बड़ी दर्दभरी सुरीली फूँक भर दी! एक साथ ही हजारों हाथ चुप-चुप का संकेत करने लगे!"

मैंने सोचा—यह कौन अक्खड़ लेखक है, जो इतनी शोखी से कलम चलाता है भाई! इसमें तो बनारसी बूटी की मस्ती झलकती है।

पढ़कर मैंने कॉपी रख दी। दिन-पर-दिन बीतने लगे। एक दिन मकान के तीसरे तल्ले की खिड़की पर बैठा था। नीचे से किसीने पुकारा—'शिवपूजनजी हैं?'

देखा—नीचे गली में एक गोरा-गोरा-सा खूबसूरत सफेदपोश नौजवान खड़ा है, जिसकी बिहँसी हुई बड़ी-बड़ी आँखें ऊपर की ओर, मेरी तरफ, देख रही थीं। लम्बे-लम्बे बाल नई धज से सँवारे हुए थे। सलोना-सा मुखड़ा, पतले-पतले होठों पर पान की सुर्खी। मोती-से चमकीले दाँत, मूँछें घुटी हुई, हाथ में पतली-सी नफीस छड़ी, पैरों में आबदार पम्प-शू, चुनी धोती, चुना कुर्ता—बड़ी बाँकी फबन थी! किन्तु उस छैल-छबीलेपन में भी साहित्यिक छटा थी।

फिर सोचा—इस अपरिचित चेहरे में इतना आकर्षण क्यों है! खैर, बुलाया, बैठाया, आरम्भिक शिष्टाचार सम्पन्न हुआ।

आते ही ऐसे मिले, मानों बरसों की घनिष्ठता है। मैं अवाक् था! मन में सोचता था—ईश्वर ने जैसी अलबेली सूरत दी है, वैसी ही खुलासा तबीयत भी।

बार-बार मेरी ओर देखकर मुस्कुराते, पर कहते कुछ नहीं। ऐसी प्रसन्न आत्मा—उस समय तक—मैंने दो-चार ही देखी थी। मालूम होता था जैसे आभ्यन्तरिक आनन्दानुभूति आँखों की खिड़की से झाँक रही है। चेहरे पर बेफिक्री की रोशनी थी, बातों में बेतकल्लुफी और रोम-रोम में उछलता हुआ आन्तरिक आनन्दोल्लास!

स्पष्ट परिचय के बाद मुझे यह जानकर बड़ा सन्तोष हुआ कि यही हैं पंडित विनोदशंकर व्यास, जिनकी कहानियाँ मैं 'इन्दु' और 'गल्प-माला' में पढ़ा करता था। वाह! छोटे-छोटे भावपूर्ण वाक्यों में कैसी मर्मभेदी कहानियाँ लिखते हैं। मानों गठीले बदनवाले भोटिया-जवानों की सजीली कत्तार खड़ी कर देते हैं।

मैं अनायास कह उठा—व्यासजी, आपकी कहानियों में मनोवैज्ञानिकता और स्वभाविकता एक खास सिफत होती है। भाषा और भाव पर आपकी निजी छाप पड़ी होती है।

व्यासजी बहुत सकुचाये। कुछ बोले नहीं। मैंने भ्रमवश पूछा—आप शायद स्वर्गीय साहित्याचार्य पं० अम्बिकादत्त व्यास के वंशधर हैं?

कुछ देर थमकर हँसते हुए बोले—मैं भारतेन्दु-सहचर स्वर्गीय पं० रामशंकर व्यास का पौत्र हूँ।

वही रामशंकर व्यास, जो भारतेन्दुजी के अंतरंग मित्रों में थे और जिन्होंने कई साल तक 'कविवचन-सुधा' और 'आर्य-मित्र' का सम्पादन किया था। बाबू

हरिश्चन्द्र को 'भारतेन्दु' की पदवी देने का पहले-पहल इन्हींने प्रस्ताव किया था। इनकी 'बात की करामात' जिसने पढ़ी है, वह कभी इन्हें भूल ही नहीं सकता।

खैर, व्यासजी के पिता पं० कालीशंकर व्यास भी हिन्दी के लेखक और कवि थे। इन्होंने पं० अम्बिकादत्त व्यास के 'पीयूष-प्रवाह' को दुबारा नये रंगढंग से निकाला था; किन्तु पचीस-छब्बीस वर्ष की अवस्था में ही स्वर्गवासी हो जाने के कारण ये अपनी प्रतिभा का विशेष चमत्कार न दिखा सके। 'सरस्वती' आदि में ये प्रायः लिखा करते थे। इनकी मृत्यु के समय व्यासजी केवल तीन-चार वर्ष के थे—जिनका जन्म ता० २० अक्टूबर (१९०३ ई०) को हुआ था और उनके पिता (पं० कालीशंकरजी) ता० ८ मई (१९०७ ई०) को स्वर्गवासी हुए थे।

असल में पंडित रामशंकर व्यास के कोई सन्तान न थी। पं० कालीशंकरजी उनके सगे चचेरे भाई पं० देवीप्रसादजी के पुत्र थे। किन्तु कालीशंकरजी को ही रामशंकरजी पुत्रवत् मानते थे—और उनकी असामयिक मृत्यु के बाद उन्हींकी औलाद को अपनी करके मानते थे, और ऐसा मानते थे कि शायद ही कोई अपनी औलाद को वैसा मानेगा। परन्तु विश्वनाथजी की ऐसी मर्जी कि यह व्यासजी जिस समय बारह-तेरह वर्ष के थे, वे (रामशंकरजी) भी चल बसे। आखिर उनकी वृद्धा एवं विदुषी पत्नी ने, जो अबतक जीवित हैं, इनके पालन-पोषण एवं शिक्षण का भार ग्रहण किया।

स्कूली कोर्स की किताबों में खोपड़ी खपाने की प्रवृत्ति व्यासजी में लड़कपन से ही न थी। इसलिए स्कूल और युनिवर्सिटी के सर्टिफिकेट को इन्होंने ताश और गुड्डी से अधिक महत्त्व नहीं दिया। यद्यपि वे स्कूल में भी बड़े होनहार छात्र थे, और उनकी प्रतिभा वहाँ भी बारूद ही बनी रही; पर खा-पीकर ठीक समय पर स्कूल जाना और निश्चित समय पर घर आना उनके स्वतंत्र स्वभाव के सर्वथा विपरीत था। वे कुछ ऐसे उद्दण्ड भी न थे कि घरेलू शासन न मानें, पर सैलानी तबीयत जरूर थी—क्रिकेट के मैदान में जितना जी लगता, उतना पढ़ाई के क्लास में नहीं—हारमोनियम और बंशी के साथ चित्त जितना एकाग्र होता, उतना कुत्ते-बिल्ली की कहानियोंवाली पुस्तकों के साथ नहीं।

जिस समय उनके टोले-मुहल्ले के सहपाठी किताब लेकर घोखने बैठते, उस समय वे हारमोनियम पर उँगलियों को नचाने में निमग्न रहते। जब उनके संगी-साथी कहीं लेक्चर और मीटिङ्ग में जाकर स्कूली नोटिस की पाबन्दी पूरी करते, तब वे वंशी लेकर गंगा के उस पार बालू की चिकनी रेत पर एकान्त में मौजें लेने चले जाते। हारमोनियम और वंशी—यही दो उनकी चिरसंगिनी थीं। इन्हींको लेकर सावन में बगीचे की बहार लूटते, इन्हींके साथ चाँदनी में किश्ती पर गंगा के हिलोरों के साथ डोलते, इन्हींके संग मान-मन्दिरघाट के अपने गंगातटवाले ऊँचे मकान की ऊपरी छत पर हवा को गुँजाया करते। भला कहाँ ऐसा एकान्तप्रिय संगीतमय जीवन और कहाँ वह स्कूल का बीहड़ तोता-रटन्त !

इस स्वच्छन्द जीवन का परिणाम क्या हुआ ? वंशानुगत संस्कृति ने जोर मारा, व्यासजी हिन्दी-साहित्य की ओर झुके, और सहारा मिला बाबू जयशंकर 'प्रसाद' जी का, जो हिन्दी-संसार के प्रथितयशा कहानी-लेखक, स्वनामधन्य नाटककार और सुकवि हैं। व्यासजी के साहित्यिक जीवन पर उनकी मृदु-मधुर साहित्यिकता की छाप खूब पड़ी है। और, यही कारण है कि व्यासजी उन्हें अपना पथप्रदर्शक मानते हैं। उनके सत्संग से व्यासजी ने जो अमूल्य धन पाया है, वह इनके जीवन की एक निधि है। यहीं पर यह दोहा याद आता है—

पारस मों अरु सन्त मो, बड़ो अन्तरो जान।
यह लोहा कंचन करै, करै सो आपु समान॥

व्यासजी को जब कहानियाँ लिखने की चाट लगी, तब पहले बड़ी कहानियों पर हाथ साफ किया, जिनका संग्रह 'नवपल्लव' के नाम से हिन्दी-पुस्तक-भंडार (लहेरियासराय) से हाल ही में निकला है। फिर छोटी कहानियों पर पड़े। इनपर ऐसा मँजा हाथ रखा कि कहानियों में कुछ नवयुग-सा उपस्थित कर दिया। छोटी कहानियों का संग्रह भी लखनऊ की सुप्रसिद्ध गंगा-पुस्तकमाला में 'तूलिका' नाम से निकला है, जिसकी एक-एक कहानी भाव और भाषा की अनूठी तस्वीर है। हिन्दी-कहानियों के चित्रपट को 'तूलिका' ने जिस खूबी से रंजित एवं चित्रित किया है, वह हिन्दी-कहानियों के रसिकों के लिए एक दर्शनीय वस्तु है।

अब, व्यासजी ने इधर एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया है—वह है 'मधुकरी' नाम से हिन्दी के सभी नये-पुराने सिद्धहस्त कहानी-लेखकों की चुनी हुई सर्वश्रेष्ठ कहानियों और उनकी सचित्र जीवनियों का संग्रह। साथ ही, कहानियों का प्रामाणिक इतिहास भी बड़े गवेषणापूर्ण ढंग से उसमें लिखा है, जिसके लिए इन्होंने अपनी अंटी से खर्च करके सैकड़ों रुपये की अँगरेजी-पुस्तकें खरीद कर पढ़ी हैं। केवल इतने ही से इनकी अध्ययनशीलता का कुछ पता चल सकता है। अभी हाल में एक कानूनी कहानी लिखने के लिए इन्होंने 'पिनल कोड' ही खरीदकर पढ़ डाला है! इस धैर्य और लगन की बलिहारी!

इन दिनों व्यासजी 'पतितों का देश' नामक उपन्यास लिख रहे हैं। इसमें विचित्र ही चरित्र अङ्कित किये गये हैं। 'अशान्त' जैसे छोटे उपन्यास में ही इन्होंने जो कुछ कौशल प्रदर्शित किया है, वह यद्यपि इनका आरम्भिक प्रयास है तथापि हिन्दी की रफ्तार परखनेवालों के ध्यान देने योग्य है; किन्तु हिन्दी में तो दाद उसीको मिलती है, जो बड़े लोगों के मन में खाज पैदा करता है!

—मासिक 'सरोज' (कलकत्ता); पुष्प १, दल ६, माघ, १९८५ वि०, १९२८ ई०

सम्पादकीय लेख

× × × × सम्पादक के लिखे हुए अधिकांश सामयिक लेख ऐसे होते हैं, जो प्रायः असामयिक नहीं होते। उनसे देश, समाज, धर्म, राजनीति और साहित्य की तत्कालीन अवस्था का परिचय मिल जाता है। × × × ×

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

× × × × सम्पादकीय लेखों में प्रकट किये गये सम्पादक के विचार व्यक्तिगत नहीं होते, वे राष्ट्र के जन-समुदाय की विचार-सरणि का प्रतिनिधित्व करते हैं। × × × ×

—बाबूराव विष्णु पराड़कर

सम्पादक का वक्तव्य

ब्रह्मा दक्षः कुबेरो यमवरुणमरुद्वह्निचन्द्रेन्दुरुद्राः।
शैला नद्यः समुद्रा ग्रहगणमनुजा दैत्यगन्धर्वनागाः
द्वीपा नक्षत्रतारा रविवसुमुनयो व्योम भूरश्विनौ च
संलीना यस्य सर्वे वपुषि स भगवान्पातु वो विश्वरूपः ॥

जगदाधार जानकीजीवन की असीम कृपा से आज यह 'मारवाड़ी-सुधार' लेखमाला के रूप में प्रकट होता है। जिस परमात्मा की कृपा से यह सारा संसार चलता है, वही 'सुधार' को भी सच्चे मार्ग पर स्थिर रखे। इस 'सुधार' को सुधा-धार से सींचनेवाले उदार सज्जनों के प्रति हम बड़ी कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

इसे मासिक पत्र के रूप में निकालने का विचार किया गया था, किन्तु आश्चर्य और दुःख के साथ कहना पड़ता है कि आज छः महीने का समय बीत गया, पर अभी तक डिक्लेरेशन पर प्रान्तीय सरकार की आज्ञा नहीं मिली। ग्राहकों, अनुग्राहकों, पाठकों एवं लेखकों के प्रबल अनुरोध तथा आग्रह से विवश होकर 'सुधार' को तबतक के लिए लेखमाला का रूप देना पड़ा, जबतक प्रान्तीय सरकार की आज्ञा नहीं मिलती। अतएव, इसी रूप में पाठक इसे तबतक के लिए स्वीकार करने की कृपा करें। जब सरकारी आज्ञा मिल जायगी, तब इसके रूप-रंग में आवश्यक हेर-फेर करके विशेष मनोहर और उपयोगी तथा चित्ताकर्षक बनाने की चेष्टा की जायगी। इस लेखमाला को प्रकाशित करने में भी बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ी हैं, किन्तु परमेश्वर की दया से सभी विघ्न-बाधाओं को पारकर बड़े सौभाग्य से यह लेखमाला भी उत्सुक प्रेमियों की सेवा में भेंट की जा सकी है। अपनी अड़चनों का हाल सुनाकर पाठकों को खिन्न बनाना अभीष्ट नहीं है। जिन महाशयों की सहायता से उत्साहित होकर यह 'सुधार' कर्मक्षेत्र में भेजा जा रहा है, उनको कोटि-कोटि धन्यवाद है।

इसका नामकरण इसलिए ऐसा किया गया कि यह 'आरा' की 'मारवाड़ी-सुधार-समिति'[1] का मुखपत्र होगा। अपने उद्देश्यों के प्रचार और मन्तव्यों की सिद्धि के लिए उक्त समिति का यही एकमात्र प्रधान साधन होगा। इसके नाम से ही इसका मुख्य उद्देश्य लक्षित होता है।

१. आरा-नगर के तीन मारवाड़ी—नवयुवकों—श्रीनवरंगलाल तुलस्यान, श्रीहरद्वार प्रसाद जालान और श्रीदुर्गाप्रसाद पोद्दार—ने सन् १९२० ई० में इस समिति की स्थापना की थी। वे ही इसके संचालक भी थे। 'मारवाड़ी-सुधार' इसी संस्था का मासिक मुखपत्र था। उसके प्रकाशन के लिए सरकारी आदेश मिलने में विलम्ब होने के कारण उसके आरम्भिक दो अङ्क लेखमाला के रूप में निकले थे।—ले०

इसका प्रधान उद्देश्य केवल मारवाड़ी-समाज की कुरीतियों को दूर करके उस समाज का वास्तविक परिष्कार करना ही है। इसके द्वारा समय-समय पर मारवाड़ी-समाज की कुप्रथाओं की तीव्र एवं निर्भीक आलोचना की जायगी। मारवाड़ी-जाति की उन्नति को अपना एकमात्र लक्ष्य बनाकर यह सदा निष्पक्ष भाव से अपने मन्तव्य पर डटा रहेगा। यदि इसके द्वारा मारवाड़ी-समाज का कुछ भी मंगल-साधन हो सका, तो यह अपना जन्म सार्थक समझेगा।

मारवाड़ी-समाज के अभ्युदय में तत्पर रहने के लिए ही इसने जन्म ग्रहण किया है। फिर भी यदि इसके मनोरथ छूछे पड़ गये, तो इसका जन्म तो निरर्थक होगा ही, मारवाड़ी-समाज पर भी सदा के लिए अमिट कलंक की छाप लग जायगी। कारण यह है कि जबतक मारवाड़ी-समाज इसे अपना निजो हितू समझकर नहीं अपनावेगा, तबतक इसे किसी जन्म में सफलता मिल भी नहीं सकती। इसलिए मारवाड़ी भाइयों से सविनय निवेदन है कि वे इस खयाल से कि मारवाड़ी-समाज में एक ऐसे उत्तम हितैषी और स्पष्टवादी मित्र तथा सच्चे सुधारक की अत्यन्त आवश्यकता थी, इसको सहृदयता के साथ अपनावें। यदि ऐसे एकान्त शुभचिन्तक का अनादर करके मारवाड़ी भाई अपनी उसी सत्यानाशिनी नींद में पड़े रहेंगे तो फिर उन्हें कुछ ही दिनों में बहुत पछताना पड़ेगा।

इस 'सुधार' का अवतार इसलिए आवश्यक समझा गया कि मारवाड़ी अग्रवाल-महासभा के सिवा अभी तक ऐसा कोई साधन नहीं है, जिसके द्वारा मारवाड़ी-समाज का सुधार और उत्थान संभव समझा जाय। जबतक कोई सर्वोत्तम साधन देखने में नहीं आता, तबतक यही अपनी शक्ति के अनुसार कुछ समाज-सेवा करने के विचार से प्रेरित होकर कार्य्यक्षेत्र में उतरता है। यदि मारवाड़ी भाइयों ने इसकी आवश्यकता का महत्त्व समझ लिया, तो यह आजन्म उनकी शुभकामना और वृद्धि में लीन रहकर कृतार्थ होगा।

यह कहना अनुचित न होगा कि मारवाड़ी जाति में सामाजिक सुधारों की बेहद गुंजाइश है। भारत की सबसे धनाढ्य जाति की जब यह दशा है, तब भला इस देश का शीघ्र कल्याण कैसे हो सकता है! सबसे बढ़कर सम्पत्तिशालिनी होकर भी यह जाति अपनी सामाजिक बुराइयों को नहीं जानती और यदि कुछ जानती भी है तो उसके निवारण का सफल प्रयत्न नहीं कर सकती। इसका कारण यह है कि इस जाति के लोगों में शिक्षा का सरासर अभाव है। मालदार मारवाड़ियों के पासंग में भी विद्वान् मारवाड़ी नहीं हैं; क्योंकि मारवाड़ियों को विद्या से बहुत कम अनुराग है। उनका जितना काफी समय और प्रेम उनके व्यवसाय में लग जाता है, यदि उसका कुछ हिस्सा भी विद्योपार्जन और शिक्षा-प्रेम में खर्च होता, तो वे आज भारत की डगमगाती नैया के कुशल कर्णधार हो सकते।

हित की बात सचमुच बड़ी कड़वी होती है। इसलिए कुछ भाइयों को ऊपर-वाली बात बेतरह खटकेगी, किन्तु अपने दृढ़ संकल्प और अटल नीति की ओर देखते

हुए ऐसा बरबस करना ही पड़ता है। जो मारवाड़ी-समाज के शुभचिन्तक हैं, उनके सामने सामाजिक कुरीतियों को उपस्थित करने में यह 'सुधार' कभी कोताही न करेगा। इस सुधार का जन्म उसी दिन चरितार्थ होगा जिस दिन इसके द्वारा मारवाड़ी-भाइयों में जातीय गौरव जाग उठेगा, राष्ट्रभाषा हिन्दी का अविरल अनुराग उत्पन्न हो जायगा और उनका हृदय देशाभिमान के भव्य भावों का भरपूर भाण्डार हो जायगा।

मारवाड़ी भाइयों से यही विनीत प्रार्थना है कि वे इस प्रतिज्ञा पर विश्वास रखें कि प्रतिमास इस 'सुधार' का अंग अच्छे-अच्छे हितकर लेखों से सुशोभित रहा करेगा। मारवाड़ी-समाज के सच्चे सुधारों के पक्षपाती विद्वानों के लिखे हुए उत्तम लेख, कविता, गद्य, कहानी, प्रहसन और नाटक तथा स्त्री-शिक्षा-सम्बन्धी लेख आदि इस लेखमाला में निकला करेंगे। साम्प्रदायिक मतभेदों, संकीर्ण विचारों, आधुनिक राजनीति के अनर्थकारी झगड़ों और व्यक्तिगत आक्षेपों को इस लेखमाला में कभी स्थान नहीं दिया जायगा। सब तरह के कलहों से किनारे रहकर केवल अपनी जाति और समाज में सदा नवीन युग का सच्चा सन्देश सुनाते रहना ही 'सुधार' का ध्येय होगा। जिस दिन मारवाड़ी भाइयों की आँखों के आगे प्राचीन आदर्शों की महत्ता की झलक दिखाकर यह 'सुधार' जातीय जागृति की जाह्नवी और भारतीय भावों की भागीरथी की निर्मल धारा से समस्त समाज को परिप्लावित कर देगा, उसी दिन इस प्रतिज्ञा की पूर्त्ति होगी।

हमारी समझ में मारवाड़ियों के जातीय महत्त्व की वृद्धि के लिए जिन अमोघ साधनों की आवश्यकता है, उनमें सर्वश्रेष्ठ है मारवाड़ी-अग्रवाल-महासभा में स्वीकृत प्रस्तावों को शीघ्र ही कार्य-रूप में परिणत करना। यदि करुणावरुणालय की कृपा दृष्टि इसी प्रकार 'सुधार' पर सुधावृद्धि करके साहस की सृष्टि करती रहेगी, तो उन निश्चित प्रस्तावों की सफलता के आन्दोलन में यही 'सुधार' कर्णधार बनने की चेष्टा करेगा। किन्तु सब कुछ आप भाइयों की ही सहानुभूति पर निर्भर है। अतएव सभी भाइयों से यही अन्तिम प्रार्थना है कि जिस प्रकार आपलोगों की स्वाभाविक उदारता पर विश्वास करके जाति-हित और समाज-सेवा के साथ-साथ हिन्दी-साहित्य-सेवा करने के लिए—अपनी असमर्थता पर क्षोभ न करके, किन्तु अपने दुस्साहस पर लज्जित होते हुए भी—यह 'सुधार' युगान्तर उपस्थित करनेवाली लेखमालाओं की घुड़दौड़ में सम्मिलित होने के लिए भेजा जाता है, उसी प्रकार आप लोग भी अब कृपा करके ऐसी उदारता दिखलावें कि यह 'सुधार' निराधार न होने पावे।

अन्त में हम उन सहृदय सहायकों के प्रति आन्तरिक कृतज्ञता प्रकट करना अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं; जिनकी ओजस्विनी लेखनी के सरस प्रसाद-वितरण से यदि हम वंचित रह जाते, तो सुधार का उद्धार ही नहीं होता—अधिक क्या कहें, उसका संसार-प्रवेश ही असंभव था। अतएव जिन महोदयों ने सुधार का सत्कार और उपकार किया है, उनका हम अनेक बार आभार अंगीकार करते हैं। अब हमारी अभिलाषा है कि

आप सभी भाई मिल-जुलकर ऐसा शुभ आशीर्वाद दीजिए कि यह 'सुधार' सफलता-देवी के अभय वरद पाणि-पल्लव की सघन-शीतल छाया में सुख-शान्तिपूर्वक निवास करे और अपने सब तरह के सच्चे सहायकों की कीर्त्ति-पताका का अखण्ड दण्ड बना रहे।

—मासिक 'मारवाड़ी-सुधार' (लेखमाला), आरा (बिहार); वर्ष १, अंक १;
चैत्र १९७८ वि०, १९२१ ई०

सेठ गोविन्ददास का एक पत्र

गत ता० ७ अप्रैल, सन् १९२१ ई० के 'सर्वेण्ट'[1] नामक अँगरेजी दैनिक पत्र में 'बम्बे क्रानिकल' से उद्धृत होकर जबलपुर-निवासी सेठ श्रीमान् गोविन्ददासजी का एक पत्र प्रकाशित हुआ था। उस पत्र का शीर्षक था—'मारवाड़ी और नवयुग'। संभवतः कुछ हिन्दी-पत्रों में भी वह पत्र छपा था। पत्र का आशय बड़ा महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक मारवाड़ी को उसपर विचार करना चाहिए। हम उस पत्र का सारांश यहाँ प्रकाशित करते हैं। आशा है, पाठकों को रुचिकर होगा —

"महात्मा गांधी ने इस बात की घोषणा की है कि यदि भारत की प्रत्येक जाति और समाज इस समय देश के महान् उद्देश्य को सफल करने में लग जाय, तो सात महीने में भारत स्वतंत्र हो सकता है।

"भारत के धनी-सम्प्रदाय में एक मारवाड़ी-समाज भी है। मारवाड़ी जैसे धनी हैं, वैसे ही उद्यमी भी। यदि वर्त्तमान काल में मारवाड़ी भी आगे बढ़ें और अपने देशबन्धुओं के साथ मिल-जुलकर काम करने लगें, तो उद्देश्य-सिद्धि में बड़ी सहायता पहुँचेगी। स्वराज्य प्राप्त करने के जितने साधन हैं, उनमें तीन से मारवाड़ियों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक तो राष्ट्रीय शिक्षा, दूसरा पंचायत और तीसरा विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार।

"यदि हमारे मारवाड़ी भाई चाहें तो राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार और प्रबन्ध करने में, पंचायत स्थापित करके चलाने में और विदेशी माल का बायकाट करके स्वदेश के घर-घर में चर्खे का प्रचार कर देने में उन्हें बड़ी सुविधा है और उनके लिए सफलता अवश्यम्भावी है। न जाने मारवाड़ी भाई अपने स्थापित विद्यालयों को राष्ट्रीय रूप देने में क्यों आगापीछा कर रहे हैं? विना किसी दलील या झगड़े के यह बात काफी तौर से साबित हो गई है कि सरकारी स्कूल और कॉलेज एक प्रकार की मशीन हैं, जिनसे हर साल केवल गुलाम पैदा होते हैं। मारवाड़ियों में स्वभावतः तीव्र व्यवसाय-

१. इस अँगरेजी दैनिक (कलकत्ता) के सम्पादक उस समय श्रीश्यामसुन्दर चक्रवर्त्ती थे। उनका नाटा कद था। बड़े ओजस्वी वक्ता और निर्भीक सम्पादक थे। क्रान्तिकारी दल के नेताओं में उनकी गणना थी। —ले०

बुद्धि होती है। इसलिए उनके लिए विशेषत: केवल औद्योगिक शिक्षा ही लाभकारिणी हो सकती है। यह बात अब बहुत ही कम भाइयों से छिपी हुई है कि मारवाड़ियों की संस्थाओं से मारवाड़ी-समाज का यथेष्ट उपकार नहीं हो रहा है। अब केवल यही एक उपाय है कि देश की जितनी संस्थाएँ मारवाड़ियों द्वारा संचालित होती हैं, वे सब-की-सब वर्धा के मारवाड़ी-विद्यालय का अनुकरण करें।

"इतना ही नहीं, मारवाड़ियों में मुकदमेबाजी भी खूब छूटकर होती है। मुकदमेबाजी तो उन्हें शीघ्र ही छोड़ देना उचित है। हम तो यह निर्भय होकर निस्संकोच कह सकते हैं कि आजकल प्रत्येक मारवाड़ी-परिवार में पैतृक सम्पत्ति का बँटवारा प्राय: मुकदमे लड़कर ही हो रहा है। मुकदमा लड़ना कितने भाइयों का दिलचस्पी का सामान हो गया है। इसका फल यह हो रहा है कि देश के करोड़ों रुपये पानी की तरह बहाकर नष्ट किये जा रहे हैं। कितने अच्छे-अच्छे धनाढ्य परिवार इस असाध्य रोग से नष्ट हो गये।"

"क्या पंचायत स्थापित करके आपस में ही हर एक मामले का निबटारा कर लेना हमारे भाइयों के लिए असम्भव है? सब भाइयों को सोचना चाहिए कि अदालत का फैसला ईश्वर का फैसला नहीं है। अदालत से अच्छा न्याय हमको अपने ही भाइयों से मिल सकता है।

"यदि मारवाड़ी भाई विदेशी चीजों की राह काट दें, तो देश का इतना उपकार हो कि कोई अनुमान भी नहीं कर सकता। यदि वे एक बार अपने मन में विचार करके अपने कर्त्तव्य पर ध्यान रखना निश्चित कर लें, तो उनके चित्त की सहज प्रवृत्ति उन्हें विवश करेगी कि वे अपना समय और अपनी सारी शक्ति बस स्वदेशी वस्त्र बनाने और खपाने में लगा देवें। उनकी आर्थिक शक्ति और उद्योग-बल का इतना प्रभाव पड़ेगा कि स्वदेशी माल धड़ल्ले से बिकने लगेगा।

श्रीमान् सेठजी ने इस पत्र द्वारा माहेश्वरी-महासभा और मारवाड़ी-अग्रवाल-महासभा का ध्यान आकर्षित किया था। विश्वास है कि उक्त संस्थाओं के संचालक राष्ट्रीय शिक्षा की उन्नति, औद्योगिक शिक्षा की सुव्यवस्था, पंचायतों की स्थापना और स्वदेशी वस्तु का प्रचार करने के लिए अपने-अपने समाज में निरन्तर आन्दोलन करेंगे।

मासिक 'मारवाड़ी-सुधार' (लेखमाला), आरा (शाहाबाद); वर्ष १, अंक २;
वैशाख, १९७८ वि०, सन् १९२१ ई०

गोरक्षा परम धर्म है

'समिति' के उपसभापति श्रीयुत बाबू महादेवलालजी तुलस्यान (डालटनगंज) ने एक छोटा-सा, किन्तु महत्त्वपूर्ण लेख भेजा है। वहीं के मारवाड़ी-हिन्दी-पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष पंडित कालूराम त्रिवेदी ने यह लेख लिखा है। पं० जी का विचार

प्रशंसनीय है। उसका सारांश यह है—

"आजकल चारों ओर से सुधार की आवाज आ रही है। देश-सुधार, कृषि-सुधार, शासन-सुधार और समाज-सुधार तथा जाति-सुधार की ओर समूचा देश दौड़ा जा रहा है। भगवत्कृपा से सुधार का चक्र मारवाड़ी-समाज की ओर भी घूम गया है। किन्तु मेरी समझ में सब सुधारों की जड़ गोरक्षा है; क्योंकि भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है। यहाँ किसानों की संख्या सबसे अधिक है। बिना गोरक्षा के ऐसे कृषक-सर्वस्व देश का कल्याण होना असम्भव है। 'कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्मस्वभावजम्' इस श्रीगीता-वाक्य के अनुसार व्यापार-प्रधान मारवाड़ी-जाति को गोरक्षा की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए। प्रत्येक वैश्य को अपने-अपने घर में, अनेक नहीं तो एक गाय अवश्य ही पालना चाहिए। यद्यपि इस देश में गोरक्षा के लिए मारवाड़ियों ने सबसे अधिक काम किया है, तथापि कुछ मारवाड़ी जो चमड़े का व्यापार करते हैं, उन्हें उस निन्दित कर्म से विरत होना चाहिए। जो लोग गोरक्षा वा गोपालन करने में असमर्थ हैं, उनको कम-से-कम चमड़े का रोजगार तो जरूर छोड़ देना चाहिए।"

अद्भुत अपील

समिति के सदस्य एक सेठजी के रामजन्म राम नामक मुनीम ने एक अजीब अर्जी भेजी थी। उसपर सेठजी की सही-सिफारिश भी मौजूद थी। मैंने उसे प्रकाशित करने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए सेठजी से क्षमा-प्रार्थना की थी। किन्तु वे रोम-रोम से बिगड़ उठे! उनकी बन्दरघुड़की ने मुझे चुप कर दिया। मेरी मौनता से हताश होकर उन्होंने कुछ त्यौरी बदलकर, कुछ गिड़गिड़ाकर और कुछ उत्सुक होकर, शैतान की अँतड़ी या भाँड़ की पगड़ी की तरह, लम्बी-सी एक चिट्ठी लिखी। उसका संक्षिप्त आशय उन्हींके शब्दों में सुनने योग्य है—"जब मारवाड़ियों के पत्र में मारवाड़ियों का लेख नहीं छपेगा, तब भला उससे लाभ ही क्या है। इससे अच्छा है कि पत्र को बन्द कर दीजिए। मैंने कभी लेख नहीं लिखा था। अपना जातीय पत्र समझकर मैंने पहले-पहल इसलिए कोशिश की थी कि मारवाड़ियों के साथ जरूर कुछ रियायत होती होगी। मैं तो यही समझकर सदस्य हुआ था कि अपनी जाति के पत्र पर सब तरह का हक (?) रहेगा (!) अगर आप लिखें तो इस लेख (?) की छपाई (?) भी मैं जल्द भेज सकता हूँ (!)"

बिना टीका-टिप्पणी के ही यह चिट्ठी मजेदार मालूम होती है। अब जरा अपील का खफ़ीफ़ मजमून भी सुन लीजिए—'मारवाड़ी भाइयो! खटमलदास बराबर मच्छड़दास, वल्द गन्दामल, खिताब झटपटराय, पेशा लहूचूसी, साकिन मौजे पलंगपुर, परगने तोशक, थाने तकिया, जिले मशहरी, मुझे अजहद दिक कर रहे हैं; मैं उनसे आजिज़ और तंग होकर अपनी चरपाई से बेदखल हो गया हूँ। मैं अपनी जोड़ू और लड़के-लड़कियों के साथ अपनी तबाही की हालत गुजारिश करके उम्मीदवार हूँ कि खटमलदास को लूट-मार कर मेरी चारपाई दखल दिला दी जायगी।" क्या मारवाड़ी-भाई यह अपील सुनकर कुछ भी दया न दिखावेंगे?

शेखावाटी-शिक्षामण्डल

उक्त मण्डल का प्रधान कार्यालय फतेहपुर (जयपुर) में है। मण्डल के अवैतनिक मन्त्री हैं बाबू रामकुमारजी नेवटिया। उन्होंने मण्डल का प्रथम वार्षिक विवरण प्रकाशित किया है। वही विवरण-पुस्तिका मुझे सम्मति-प्रकाशनार्थ प्राप्त हुई है। उसमें नवम्बर १९१९ से दिसम्बर १९२० तक की विस्तृत रिपोर्ट है। मण्डल का उद्देश्य है शेखावाटी-प्रान्त के शहरों और गाँवों की जनता में शिक्षा का प्रचार करना। रिपोर्ट देखने से मालूम होता है कि मण्डल के उत्साही कार्यकर्त्ताओं को उक्त उद्देश्य की सिद्धि में बहुत कुछ सफलता मिली है। किन्तु जिन राजस्थान-निवासियों के धन से भारत के अन्यान्य प्रान्तों में अनेक उपयोगिनी संस्थाएँ चल रही हैं, उन लक्ष्मी के लालों से कार्यकर्त्ताओं ने बहुत कुछ आशा की थी। यद्यपि कुछ उदाराशय सज्जनों की वदान्यता से उनका उत्साहवर्द्धन विशेष रूप से हुआ है तथापि अभी उन्हें यथेष्ट रीति से सन्तुष्ट होने का अवसर नहीं प्राप्त हुआ है। क्या भारत-भर में लोकोपकारिणी संस्थाओं को मुक्तहस्त होकर अर्थ-साहाय्य देनेवाले दानवीर मारवाड़ी अपनी जन्मभूमि का उद्धार न करेंगे? उद्धार कब होगा? जब राष्ट्रीय और औद्योगिक शिक्षा का अनर्गल प्रचार होगा! जो मारवाड़ी जाति चन्दा देने में कल्पलता के समान है, यदि उसीकी असावधानता और कोताही से उक्त शिक्षा-मण्डल का कार्यक्रम शिथिल हो गया, तो इससे बढ़कर लज्जा और निन्दा की बात और क्या हो सकती है। मण्डल के १५ जीवन-सदस्य हैं, जिन लोगोंने एक बार ५००) देने की कृपा की है। ५) मासिक देनेवाले १७ साधारण सदस्य हैं और १७ सभ्य (!)। ऐसे भी हैं, जिन्होंने कई बार पत्र लिखने पर भी अभी चन्दा नहीं (?) दिया है। मण्डल द्वारा स्थापित आठ लोअर प्राइमरी हिन्दी-पाठशालाएँ चल रही हैं। शेखावाटी-प्रान्त के भिन्न-भिन्न स्थानों में २८ हिन्दी-अँगरेजी स्कूल और ३४ संस्कृत-पाठशालाएँ हैं। ईश्वर से प्रार्थना है कि मण्डल के उदार सहायकों की संख्या दिन-दिन बढ़ती जाय! उसका कार्यक्षेत्र सुविस्तृत एवं सफलता का केन्द्र हो!

एकता की आवश्यकता

कलकत्ता में मारवाड़ियों की कई जातीय संस्थाओं का प्रधान कार्यालय है—मारवाड़ी-अग्रवाल-महासभा, अग्रवाल-सनातन-धर्म-महासभा, मारवाड़ी-एसोशियेशन, मारवाड़ी-मण्डल, मारवाड़ी-ट्रेड्स-एसोसियेशन आदि। इन संस्थाओं द्वारा मारवाड़ी-समाज में बहुत कुछ जागृति फैली है। आशा भी है कि यदि इन संस्थाओं का संगठित रूप विकृत न हुआ और सुचारु रूप से कार्य्य-संचालन होता रहा, तो भविष्य में इनसे मारवाड़ी-जाति का अशेष उपकार होगा। किन्तु दुःख की बात है कि पारस्परिक वैमनस्य और ईर्ष्या-द्वेष के कारण इन संस्थाओं में मतभेद और दलबन्दी हो गई है। दलबन्दी का दुष्परिणाम अब भारतीयों से छिपा हुआ नहीं है। यदि दलबन्दी करके समाज से संग्राम करना और उसे अंग-भंग कर डालना ही अभीष्ट है, तो कपि-कटक तैयार हो

चूकने पर लंका-विध्वंस में विलम्ब ही क्या होगा। किन्तु नहीं, इन प्रतिष्ठित संस्थाओं से मारवाड़ी-समाज की बड़ी प्रतिष्ठा भी है। वास्तव में मारवाड़ी जाति की गौरव-वृद्धि तथा उन्नति के लिए ही इन संस्थाओं की स्थापना हुई है। (मेरी समझ में किसी बुरे उद्देश्य से इनकी आधार-शिला नहीं रखी गई होगी) केवल सामाजिक संगठन की ओर लक्ष्य करके ही इनकी प्रतिष्ठा की गई है। किन्तु वह लक्ष्य दूर जा पड़ा है। उद्देश्य-सिद्धि में बाधाएँ आ पड़ी हैं। यही बड़े सन्ताप की बात है। समाज के जिन व्यक्तियों की उत्सुक और आशापूर्ण दृष्टि इन संस्थाओं से होनेवाले उपकारों की ओर लगी हुई है, उन्हें भी इस बात का थोड़ा-बहुत पता लगता जाता है कि कौन-सी संस्था अपने निश्चित मन्तव्य पर डटी हुई है और कौन-सी पथभ्रष्ट हुई जा रही है। मेरे पास पक्ष और विपक्ष के कई विरोधात्मक लेख भी आ चुके हैं। किन्तु मैं उन्हें प्रकाशित करने में असमर्थ हूँ। कारण यह है कि इनमें से किसी संस्था का मैं विरोधी नहीं हूँ। किसीकी व्यर्थ बड़ाई और निन्दा करना भी मुझे इष्ट नहीं। हाँ, किसीको कर्त्तव्यच्युत देखकर सहृदयतापूर्वक उसे सावधान कर देना मेरा काम है। इन संस्थाओं को समाज-सेवा में रत देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी। किन्तु तबतक इनसे समाज का यथेच्छ हितसाधन नहीं हो सकता जबतक इनमें संघशक्ति का अभाव रहेगा। जबतक इन संस्थाओं की सुसंगठित संघशक्ति समाज-क्षेत्र को उर्वर बनाने में प्रवृत्त न होगी, तबतक समाज पंगु बना रहेगा। विश्वास है कि इन संस्थाओं के संचालक और सदस्य इस अनुरोध पर ध्यान देने की कृपा करेंगे। उक्त विरोधात्मक लेखों के आधार पर मैंने अपना सद्विचार प्रकट किया है। यदि उपर्युक्त संस्थाओं में वस्तुतः कुछ मतभेद नहीं है, तो मैं उनका अनुदिन अभ्युदय चाहता हूँ।

—मासिक 'मारवाड़ी-सुधार' (आरा); वर्ष १, अङ्क ३; ज्येष्ठ, १९७८ वि०, सन् १९२१ ई०

*

अग्नि-परीक्षा

मारवाड़ियों के लिए यही अग्नि-परीक्षा का समय है। इस समय यदि वे अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये तो तप्त-कांचन की भाँति उनका भाग्य चमक उठेगा। जो पहले इस अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण होगा, उसीका यश विस्तीर्ण होगा। किन्तु जिसका हृदय संकीर्ण होगा, वह इस परीक्षा में उत्तीर्ण न होगा। उत्तीर्ण तो वही होगा जिसके स्वार्थ का दीर्घ उदर विदीर्ण होगा। समस्त देश के साथ मारवाड़ियों ने भी इस पवित्र अग्नि-परीक्षा की प्रतीक्षा की थी, यदि अब वे ही इसकी उपेक्षा करेंगे, तो जीवन की अपेक्षा मरण ही उनके लिए श्रेयस्कर है; क्योंकि मरण से ही फिर नवीन जीवन उत्पन्न होता है। मारवाड़ियो! वाणिज्य-लक्ष्मी अब स्थिरा होकर तुम्हारे घर में आना चाहती है, क्यों कपाट बन्द किये बैठे हो? खोलो, उनकी जय बोलो, पश्चात्ताप के आँसुओं से

उनके चरणों को धो लो, फिर उनकी गोद में विराजती हुई एक मंजुल मूर्ति का दर्शन करो—वह सत्य की सीमा है, धर्म की ध्वजा है, त्याग की तलवार है, तेज की तरंग है। पुण्य की पताका है, शान्ति की शिला है, प्रेम की प्रतिमा है, दया की दीप्ति है—उस दिव्य मूर्ति के आगे सादर सिर झुकाओ, उसका आशीर्वाद प्राप्त करो, तुम्हारा कल्याण होगा।[1]

एक मारवाड़ी विधवा का करुणाजनक पत्र

एक पीड़ाप्रद पत्र अन्यत्र प्रकाशित किया गया है। वह पत्र है या एक हाहाकारमय हृदय का चित्र है, मैं कह नहीं सकता। उस पत्र में यत्र-तत्र नहीं, सर्वत्र मर्मतलस्पर्शी भावों की भरमार है। एक-एक शब्द में अथाह आह भरी हुई है। जिसे आह सुनने की चाह हो, वह उसे अदबदाकर पढ़े और जिसे उस आह की परवाह न हो, वह खामखाह मत पढ़े। वह पवित्र पत्र है, मलिन नेत्रवाले उसे न पढ़ें, तो अच्छा है। जिसने विधवाओं की दयनीय दशा पर कभी आठ-आठ आँसू नहीं बहाया है, उसको उक्त पत्र में दिल दहलानेवाला भाव नहीं सूझेगा। वह पत्र मारवाड़ी-समाज की दुर्दशा का दर्पण है। उस पत्र के करुण-कातर भावों को पढ़कर कौन ऐसा पाषाण हृदय है, जो न पसीजेगा ? उस पत्र के दर्द-भरे वाक्य मारवाड़ी-समाज के धनी और विषयी बूढ़ों से पुकार-पुकार कर कह रहे हैं कि ऐ मृत्यु के बलि-बकरो ! क्यों हरी-भरी लहलही घास को चरते और रौंदते जाते हो ? क्या प्रलय भी तुम्हारी स्वेच्छाचारिता नहीं रोक सकता ?

अखिलभारतवर्षीय मारवाड़ी अग्रवाल-महासभा के सहकारी मन्त्री बाबू तुलसीरामजी सरावगी द्वारा मुझे वह पत्र प्रकाशनार्थ प्राप्त हुआ है। सरावगीजी लिखते हैं कि "वृद्ध-विवाह से जो हानि हो रही है, वह किसी जाति-हितैषी सज्जन से छिपी नहीं है। इस कुरीति ने कितनी बहनों के जीवन नष्ट कर दिये हैं, समाज की व्यवस्था अत्यन्त हीन होती जाती है। यह कुरीति इस प्रकार की है कि जिसका एक दूसरी भयंकर और घृणास्पद कुरीति से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो वृद्धों को अपनी कन्या देते हैं, उनका स्पष्ट अभिप्राय यही रहता है कि कन्या का जीवन चाहे नष्ट हो जाय, किन्तु उन्हें धन की प्राप्ति हो। यह कन्या-विक्रय का निन्दनीय व्यापार ही वृद्ध-विवाह का मुख्य कारण है। इन दोनों कुरीतियों के निवारणार्थ तीन वर्षों से महासभा प्रस्ताव पास करती आती है। प्रस्तावों की सफलता के लिए आन्दोलन भी किया गया है, उसके परिणाम-स्वरूप बहुत-से वृद्ध-विवाह रुक भी गये। वह आन्दोलन अभी तक जारी है। वह ऐसा प्रभावशाली होता जा रहा है कि शीघ्र ही ऐसा समय आवेगा जब ऐसी हृदय-विदारक घटनाएँ असम्भव हो जायँगी। कलकत्ता में जब महासभा का तृतीय अधिवेशन हुआ था, तब इन कुरीतियों को निर्मूल करने के लिए निम्नलिखित प्रस्ताव पास हुए थे—

(१) वृद्ध-विवाह जातीय उन्नति का बाधक है, इसलिए ४० वर्ष से अधिक आयुवाले

१. अँगरेजी-राज्य से असहयोग करने का देशव्यापी आन्दोलन जिस समय चल रहा था, उसी समय यह टिप्पणी लिखी गई थी। इसमें स्वदेशी वस्तुओं के व्यापार करके आन्दोलन को सफल बनाने के लिए वाणिज्य-लक्ष्मी के साथ स्वतन्त्रता देवी की आराधना का भी संकेत है।—ले०

पुरुष का कदापि विवाह न हो। (२) दुर्भाग्य से जाति में कुछ ऐसे लोग पाये जाते हैं, जो कन्या-क्रय-विक्रय कर समाज को कलंकित करते हुए स्वयं पाप के भागी होते हैं। महासभा की दृष्टि में वे घृणास्पद हैं, इसीलिए महासभा इस निन्दनीय प्रथा को नष्ट करने के लिए जातीय भाइयों को परामर्श देती है कि कन्या का द्रव्य लेने-देने और दिलानेवालों से किसी प्रकार का जातीय सम्बन्ध न रक्खा जाय।"

तभी तो ठीक होगा। नारकी दुष्टों से जहाँ तक सम्बन्ध छूटता जाय, अच्छा है। कन्या बेचनेवाले नीच पापी हैं, कन्या खरीदनेवाले निर्दयी महापापी हैं। बीच में दलाली करनेवाले तो पापियों के सिरताज हैं और इन तीनों में से किसीके भी साथ संसर्ग रखनेवाले घर बैठे पाप के ठेकेदार हैं। मैंने देखा है कि दिहाती किसान आठ कन्या विक्रेताओं के नाम लिखकर अपने उन पशुओं के गले में बाँध देते हैं, जिनके किसी सड़े (जख्मी) अंग में कीड़े पड़ जाते हैं। फल यह होता है कि कन्या-विक्रेताओं के घोर पाप की नरकाग्नि से व्याकुल होकर कीड़े मूर्च्छावश जमीन पर गिर पड़ते हैं। उफ़ ! पाप की कैसी भीषण ज्वाला है ! अघी कीड़े जिस पाप-ताप को नहीं सह सकते, उसीको न जाने हत्यारे कन्या-विक्रेता कैसे सह लेते हैं। वे सचमुच नर-पिशाच हैं, मानव-वेशधारी दानव हैं, नर-मांस-भक्षी दैत्य हैं, उनके अधमाधम शरीर का भार पृथ्वी के लिए असह्य है।

मैं अपने पाठकों से अनुरोध करता हूँ कि वे कृपया एकाग्रचित्त होकर उस हृदय-दाहक पत्र को पढ़ें और ऊपर उद्धृत किये हुए महासभा के प्रस्ताव पर विचार करें। यदि वे कुछ भी सहानुभूति दिखाकर अपना मनुष्यत्व सार्थक करना चाहें तो आज से ही प्रतिज्ञा करें कि कन्या-विक्रेताओं और वृद्ध-विवाह करनेवालों के साथ पूर्ण असहयोग करेंगे। समाज पर अत्याचार करनेवाले निष्ठुर जल्लाद केवल घोर असहयोग से ही दुरुस्त होंगे।

गोशाला और गोरक्षा

जोधपुर (राजपूताना) से एक गुमनाम मारवाड़ी सज्जन लिखते हैं कि "गोभक्त मारवाड़ियों का जितना धन गोसेवा में खर्च हो जाता है, उतना गोमाता का वास्तविक उपकार नहीं होने पाता। कारण यह है कि गोशालाओं का प्रबन्ध सुव्यवस्थित नहीं है। गोशालाओं के प्रबन्धकर्त्ता ऐसे रखे जायँ, जो वास्तव में गोभक्त और गो-जाति के श्रद्धालु सेवक हों। जबतक ऐसी व्यवस्था नहीं की जायगी तबतक गोरक्षा नहीं हो सकती। क्या ३१ करोड़ भारतवासियों में ऐसे सौ-दो सौ आत्मोत्सर्गी भी नहीं हैं, जो सच्चे गोपालक हासानन्द वर्मा (कलकत्ता) की तरह गो-जाति के उद्धार के लिए अपना जीवन-समर्पण कर सकें ? स्वामी आलाराम सागर की तरह देशभक्त साधु-संन्यासियों को गोरक्षा का व्रत धारण करना चाहिए। विद्वान साधु-संन्यासी गोशालाओं का सुप्रबन्ध करने में भी कृतकार्य हो सकते हैं और गोरक्षा के लिए सफल आन्दोलन भी कर सकते हैं।"

'एक गोरक्षा-प्रेमी मारवाड़ी' महाशय के लेख का सारांश मैंने खुलासा करके ऊपर लिख दिया है। विचार बहुत अच्छा है, मैं उसका स्वागत करता हूँ। गोभक्त मारवाड़ियों को इधर ध्यान देना चाहिए। उन्हें अखिलभारतवर्षीय हिन्दू-महासभा, गो-महासभा और साधु-महासभा से जोर देकर कुछ ऐसे निरीक्षकों (इन्सपेक्टरों) की नियुक्ति के लिए प्रार्थना करनी चाहिए, जो गोशालाओं के प्रबन्ध का निरीक्षण और सुधार करने के लिए भारत में भ्रमण किया करें। जहाँ कहीं कुछ कुप्रबन्ध है, वहाँ गोशाला के असली उद्देश्य की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। गोशालाओं में गोरक्षा की उत्तम विधि का उपयोग करके गोवंश की वृद्धि का भी प्रयत्न होना चाहिए। उनमें केवल अन्धी, लँगड़ी, लूली, निकम्मी, बूढ़ी और अनाथ गायें भरी रहती हैं, अच्छी-अच्छी गायें बहुत कम रहती हैं। यही बुरा है। निकम्मी गायें अवश्य रहें, पर अच्छी गायें भी पाली जायँ। दुर्बल और रोगी गायें तो गोशाला में रखी जाती हैं, पर बलिष्ठ, सुन्दर और दुधार गायें मेलों में बेच दी जाती हैं। यही गोवंश के संहार का मूल कारण है। अन्य देशों में ऐसी अनेक संस्थाएँ हैं, जहाँ दीन पशुओं की रक्षा और उन्नति का उत्तम प्रबन्ध है। वहाँ दूध की परीक्षा होती है और ऐसे मोटे-ताजे साँड़ पाले जाते हैं, जिनसे पुष्ट बछड़े उत्पन्न होकर खेती करने में सहायता दे सकें। दूध की जाँच से जाति और श्रेणी का विभाग किया जाता है। इस प्रकार दुधार गायों की उन्नति की जाती है। वहाँ पशु-पालन-विधि जाननेवाले और कृषिकला-कुशल विद्वान ऐसी संस्थाओं में खूब जी लगाकर काम करते हैं। भारत का भाग्य वैसा नहीं है। यदि भारत की गोशालाओं के लिए भी चतुर पशु-चिकित्सक और गोरक्षा-प्रवीण व्यवस्थापक रखे जायँ, तो गोवंश की वृद्धि में बहुत कुछ सफलता हो सकती है।

एक विद्वान ने, अपने लेख में, 'गोशालाओं में पुस्तकालयों की आवश्यकता' पर बड़ा जोर दिया था। उनकी सम्मति है कि उन पुस्तकालयों में पशु-पालन और कृषि-कला-विषयक पुस्तकें, पत्र और सरकारी कृषि-विभागों एवं डेरी फार्मों तथा गोरक्षिणी संस्थाओं की रिपोर्टें भी रखी जायँ। खैर, जो हो, सबसे पहले गोशालाओं का संगठन होना चाहिए। गो-महासभा अथवा राष्ट्रीय गोरक्षा-मण्डल इस काम को हाथ में ले। एक भारतीय गोशाला स्थापित हो, जो गोरक्षा और गोवंश-वृद्धि का केन्द्र-स्थान हो। सभी गोशालाएँ उसीके अधीन रहें। बड़े-बड़े नगरों में अथवा जहाँ-जहाँ पशुओं की वृद्धि के लिए उपयुक्त स्थान (यथेष्ट गोचर-भूमि, जंगल, पर्वत, नदी आदि) हो, केन्द्र की शाखाएँ खुलें। पशु-जनन (Cattle-breeding) के नये सिद्धान्तों के आधार पर पशुओं की वंशवृद्धि के निमित्त उद्योग किया जाय। तभी तो वस्तुतः गोरक्षा हो सकती है, यों नहीं। 'किं तया क्रियते धेन्वा या न सूते न दुग्धदा ?'

गृहस्थाश्रम में स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता

'एक समाज-हितैषी' मारवाड़ी सज्जन, जिनका नाम शायद 'बाबू मालीराम सराफ' है, न जाने कहाँ से एक लम्बे-चौड़े पत्र में लिखते हैं कि "मारवाड़ियों को यदि

गृहस्थाश्रम का सच्चा सुख उपभोग करने की इच्छा है, तो प्रत्येक परिवार के स्वामी को स्त्री-शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। कन्याओं को विवाह हो जाने से पहले, स्कूलों में उपयोगिनी शिक्षा देकर, घर में व्यावहारिक शिक्षा देनी चाहिए। सीने-पिरोने, रसोई बनाने और स्वच्छतापूर्वक रहने की शिक्षा के साथ-ही-साथ सास-ससुर की सेवा, पतिभक्ति, रोगी की सेवा-शुश्रूषा, बच्चों के लालन-पालन और गृह-प्रबन्ध करने की शिक्षा भी दी जानी चाहिए। स्कूली शिक्षा के सिवा और सब तरह की शिक्षा घर ही में सम्पन्न होने की आवश्यकता है। व्यावहारिक शिक्षा का तत्काल प्रभाव पड़ता है। घरेलू शिक्षा जिन्दगी-भर काम देती है। हमारा विश्वास है कि केवल स्त्री-शिक्षा के प्रचार से ही मारवाड़ी-समाज का सच्चा सुधार हो जायगा। जिस दिन मारवाड़ी-महिलाएँ शिक्षिता हो जायँगी, उसी दिन प्रत्येक मारवाड़ी-गृहस्थ का परिवार सुख-शान्ति का अक्षय भण्डार बन जायगा।"

— मासिक 'मारवाड़ी-सुधार' (आरा); वर्ष १, संख्या ४; आषाढ़, १९७८ वि०; सन् १९२१ ई०

*

मारवाड़ी-रिलीफ-सुसाइटी की आदर्श लोकसेवा

कलकत्ता की मारवाड़ी-रिलीफ-सुसाइटी आज लगभग सात-आठ वर्ष से सर्वसाधारण जनता की सेवा में तत्पर है। इसी सुसाइटी का नाम 'मारवाड़ी-सहायक-समिति' तथा 'मारवाड़ी-कष्ट-निवारिणी सभा' भी है। इसने दुर्भिक्ष-दैन्य-दलित जनता की सहायता में आज तक न जाने कितने सहस्र रुपये खर्च किये हैं। अनेकानेक आकस्मिक एवं भीषण दुर्घटनाओं से त्रस्त और संतप्त हुई जनता को सुखाश्रय प्रदान करके इस समिति ने अपने सहायकों के दान का महत्त्व बढ़ाया है। जहाँ कहीं बाढ़-पीड़ितों का हृदय-विदारक हाहाकार सुन पड़ा है, समिति वहाँ सबसे पहले पहुँची है। चाहे कोई विराट् मेला हो या किसी पुण्य-त्यौहार पर गंगा-स्नानार्थी लक्ष-लक्ष श्रद्धालु हिन्दू-नर-नारियों की भारी भीड़ हो, सेवा की आवश्यकता और सुअवसर देखकर, यह समिति शीघ्र ही जन-हितैषिता से प्रेरित हो वहाँ पहुँच जाती है।

प्रवासी भारतवासियों की सेवा और सहायता के लिए इसने जो कुछ कार्य्य किया है, वह इसके इतिहास का एक उत्तमांश है। और भी, दातव्य औषधालय की स्थायी व्यवस्था और राजपूताना में शिक्षा-प्रचार का कार्य करके इसने जो लोकोत्तर लोकोपकार किया है, वह अन्य सेवा-समाजों के लिए सर्वथा अनुकरणीय है। इसकी ओर से कलकत्ता में जो दातव्य औषधालय खुला हुआ है, उसमें डाक्टरी विभाग के साथ-साथ आयुर्वेद-विभाग भी है। डॉक्टर, कम्पाउण्डर, ड्रेसर और लेडी डाक्टर के सिवा दो वैद्य भी हैं। सब तरह के साम्प्रदायिक भेद-भावों को भूलकर प्रेम, दया और लोकहितैषिता के साथ रोगियों को उत्तम एवं उपयुक्त औषधियाँ वितरण की जाती हैं।

आज तक लाखों की संख्या में आबाल-वृद्ध नर-नारियों ने इसके दातव्य औषधालय से अभीष्ट लाभ उठाया है और नीरोग होकर जीवन-दान पाया है। ऐसी ही ऐसी संस्थाओं से, संकटापन्न अवस्था में, देश की जनता को सच्ची सहायता प्राप्त हो सकती है। इस संस्था से मारवाड़ी-जाति की दयालुता, दान-परायणता, परोपकारिता और महानुभावता का पता लगता है, उसकी धर्मप्राणता सिद्ध होती है, उसकी गौरव-वृद्धि होती है और जनता पर उसकी धार्मिकता की धाक जमती जाती है।

समाचार-पत्रों के नियमित पाठक इस समिति की उपयोगिता से भली भाँति परिचित हैं। इसके वर्त्तमान अवैतनिक मन्त्री बाबू मोतीलाल जाजोदिया की विविध सूचनाएँ, प्रार्थनाएँ और अपीलें सदा पत्रों में प्रकाशित होती रहती हैं। हाल ही में हजारों आश्रयहीन, क्षुधापीड़ित एवं हैजे से आक्रान्त कुलियों को अन्न-वस्त्र और औषधि वितरण करके समिति ने अपनी दीन-बन्धुता और शरणागतवत्सलता प्रकट की है। वास्तव में क्षुधित को अन्न-दान, तृषित को जल-दान, निराश्रित को आश्रय-दान और रोगाक्रान्त को प्राणदान देना ही बस अशरण-शरण दीनदयालु की सच्ची पूजा है।

जिस समय आसाम के चाय-बागान के कई हजार कुली गोरे मालिकों के अमानुषिक अत्याचार से पीड़ित होकर जेठ की कड़कड़ाती हुई धूप में, भगवान के भरोसे पर निकल पड़े, उस समय उनके तन पर न वस्त्र था और न पास में फूटी कौड़ी थी। निरंकुश निष्ठुरों के अन्याय से कुचले जाकर त्राहि-त्राहि और हाय-हाय करते हुए वे अपने घरों की ओर चल पड़े। हाय! सैकड़ों मील की यात्रा एक ओर, द्रव्याभाव-जनित असुविधा दूसरी ओर! उनका अस्थिमात्रावशेष शरीर भयंकर हैजे के प्रकोप से कालकवलित होने लगा। देश के एक-एक कोने से करुणाजनक आर्त्तनाद सुन पड़ा। समिति के उत्साही एवं आर्त्तत्राण-परायण कार्य्यकर्त्ताओं का दयार्द्र हृदय द्रवीभूत हो उठा। झटपट समिति के स्वयंसेवक और व्यवस्थापक चाँदपुर पहुँचे और बेचारे गरीब कुलियों की प्राण-रक्षा के लिए अस्पताल खोलकर लोक-सेवा के पवित्र कार्य्य में संलग्न हो गये। चिकित्सालयों का सुप्रबन्ध देखकर बड़े-बड़े डॉक्टरों ने भी मुक्तकण्ठ से समिति की प्रशंसा की। यहाँ तक कि समिति की आदर्श जन-सेवा से प्रभावान्वित हो चाँदपुर-निवासी अनेक भद्र नवयुवक एवं महिलाएँ भी रोगी कुलियों की सेवा-शुश्रूषा में लग गये। बहुसंख्यक रोगियों ने नवीन जीवन प्राप्त किया, प्रसूता स्त्रियों ने यथेष्ट सुख पाया, और अन्न-वस्त्रहीन व्यक्तियों ने भोजनाच्छादन की सुविधा रहने से यथार्थ शान्ति पाई। स्टीमरों की हड़ताल से कुलियों का कहीं भेजा जाना असम्भव कार्य हो रहा था। किन्तु समिति ने स्वतंत्र रूप से स्टीमरों की व्यवस्था करके उन दुःखितों को चाँदपुर के यमकोट से बाहर निकाला।

चाँदपुर के बाद क़रीमगंज के पीड़ित कुलियों की ओर समिति का ध्यान आकृष्ट हुआ। वहाँ भी कई हजार कुलियों ने समिति की सहायता से शान्ति और मुक्ति पाई। सभी कुलियों को आवश्यकतानुसार, रेल-भाड़ा और भोजन-वस्त्र देकर

समिति ने उन्हें अपने-अपने घर भेजा और सहृदय जनता के सामने अपनी आदर्श लोकसेवा का ज्वलन्त उदाहरण उपस्थित कर यह दिखा दिया कि संसार में अनाथों की सेवा से बढ़कर दूसरा कोई पुण्य-कार्य नहीं है। ईश्वर करे, समिति का कार्य्य-क्षेत्र विस्तृत, द्रव्यकोष अक्षय और उद्देश्य सफलीभूत हो।

छपरा (बिहार) में भयंकर बाढ़—जनता पर भारी विपत्ति

मारवाड़ी-रिलीफ-सुसाइटी के अवैतनिक मन्त्री बाबू मोतीलाल जाजोदिया ने कलकत्ता से एक नोटिस भेजने की कृपा की है। उन्होंने सर्वसाधारण से और जनता से विशेषतः अपने दानवीर मारवाड़ी-भाइयों से चन्दे की अपील की है। अपील का जो छपा हुआ पर्चा है, उसके एक-एक शब्द हृदय को कम्पित करनेवाले हैं। उस अपील का सारांश नीचे प्रकाशित किया जाता है—

"छपरा में अचानक भयानक बाढ़ आ जाने से तमाम भूमि जलमग्न हो गई, सड़कों पर बहते हुए अथाह जल में नावें चलीं, कितने मकान नष्ट-भ्रष्ट हो गये और कितने आदमी तथा जानवर मर गये हैं। लोग पेड़ों पर चढ़कर अपनी जान बचा रहे हैं, मगर वहाँ भी साँप और बिच्छू चढ़ गये हैं। भयंकर स्थिति है। सुनकर शरीर रोमांचित हो उठता है। हजारों प्राण संकट में हैं। हर ओर हाय-हाय मच रही है। आइए, अन्न-वस्त्र और धन से अपने भाइयों की रक्षा कीजिए। यह कठिन परीक्षा और धन के सदुपयोग का समय है। धर्मप्राण भारतीय भाइयो! आप जानते हैं कि आसाम के चाय-बागान के कुलियों को घोर विपत्ति से छुड़ाकर यह सुसाइटी अभी निश्चिन्त भी नहीं हो पाई थी कि 'खुलना'-दुर्भिक्ष का विकट प्रश्न समिति के आगे आ पड़ा। अपनी शक्ति के अनुसार दोनों कार्यों में समिति अग्रसर हुई और आज तक खुलना जिले के अकाल-पीड़ितों की सहायता में यह समिति यथासाध्य योग दे रही है। इसी बीच में छपरा जिले के बाढ़-पीड़ितों की सहायता का महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित देखकर यह समिति दीन-जन-हितकारी सज्जनों से प्रार्थना करती है कि वे अपनी उदार सहायता से समिति को इतना समर्थ बनाने की कृपा करें कि वह छपरा के लोगों की यथेष्ट सेवा कर सके। सहायता के लिए कितने रुपयों की जरूरत है, यह अनुमान करना यद्यपि कठिन है तथापि पीड़ितों की रक्षा के लिए प्रचुर धन की आवश्यकता है। समिति को अपने धर्मप्राण पृष्ठपोषकों से बहुत कुछ आशा है। उन्हीं पर विश्वास करके भगवान की प्रेरणा से, इस समिति ने इतना बड़ा दायित्वपूर्ण कार्य-भार उठाया है। विश्वास है कि सदैव की भाँति समिति की यह अपील भी सफल होगी।"

ऐसे-ऐसे अवसरों पर दान का जो अद्भुत महत्त्व होता है, उसका ध्यान रखते हुए मैं कह सकता हूँ कि यह अपील जो कोई पढ़े, वह दत्तचित्त होकर तद्गत भावों को सहृदयतापूर्वक हृदयंगम करे और छपरा के बाढ़-पीड़ितों की दयनीय दशा की कष्टकर कल्पना करते हुए उनकी सहायता के लिए शीघ्र सचेष्ट हो जाय।

मैं पाठकों से निवेदन करता हूँ कि वे जाजोदियाजी की अपील सुनकर चुप न रह जायें, बल्कि उन्हें यथाशक्ति सहायता देकर तथा अपने मित्रों से दिलवाकर परमपुण्य के

भागी बनें। सच्चे दानियों की परीक्षा ऐसे ही अवसरों की कसौटी पर होती है। यदि आप धन का सदुपयोग करना चाहते हैं, यदि आपमें स्वदेशवासियों के लिए कुछ हमदर्दी है, यदि आप 'दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे' इस गीता-वाक्य का कुछ तत्त्व-महत्त्व समझते हैं और यदि आपको छपरा के मदान्ध कलक्टर की उस कर्कश उक्ति के लिए कुछ लज्जा है, जो उसने सहायतार्थी जनता की प्रार्थना के उत्तर में कही है कि 'गांधी के पास जाओ' तो शीघ्र ही ७।१ जगमोहन मल्लिक लेन, कलकत्ता के पते से, मा० रि० सोसाइटी के मन्त्री बाबू मोतीलालजी जाजोदिया के पास सहायता की रकम भेज दीजिए। यदि आपपर इस अपील और अनुरोध का कुछ प्रभाव न पड़ा, तो छपरा के कलक्टर की आँखों में और भी गाढ़ी चर्बी छा जायगी। हा! हन्त! जिस बृटिश जाति में महात्मा एण्ड्रूज के समान परोपकारी पुरुष उत्पन्न हुआ है, उसी जाति में छपरा के कलक्टर साहब भी पैदा हुए हैं! जनाब अली! आप बहुत सही फर्माते हैं कि 'गांधी के पास जाओ।' आप बड़े दूरदर्शी हैं। आपका वचन त्रिजटा का स्वप्न है। किन्तु आप जनता के प्रतिनिधि होकर यदि बेलगाम यों कह बैठे, तो आप समझते अपने को किस मर्ज की दवा हैं?

मान-रक्षा का उलटा उपाय

रानीगंज-निवासी बाबू गोवर्द्धनलाल भरतिया ने एक छोटा-सा लेख भेजा है। उसमें आप लिखते हैं कि "भारत की नौकरशाही अपनी मान-रक्षा के लिए उतावली हो रही है। महात्मा गांधी ने मोपलों को शान्त करने की इच्छा प्रकट की, किन्तु महात्माजी का यह गौरव नौकरशाही सहन न कर सका, उसने उनको तथा उनके पायकों को वहाँ जाने से रोक दिया कि कहीं अवस्था विशेष विषम न हो जाय। मैं समझता हूँ कि नौकरशाही ने इस विचार से शान्ति-स्थापकों को जाने से रोक दिया कि मशीन-गन चलाने का मजा नहीं मिलेगा! छिः! मान-रक्षा का कैसा उलटा उपाय है। जो अधिकारी अपनी प्रजा की मान-रक्षा को प्यार की नजर से नहीं देखता, वह अधिकारी कहे जाने योग्य नहीं है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि स्वेच्छाचारी शासक की हुकूमत-इमारत की एक-एक ईंट खिसकती चली जाती है। लुटेरे यदि कोई गाँव लूटकर डङ्का पीटते अकड़ते चले जाते हैं, तो ग्रामवासियों की मान-मर्यादा कम नहीं होती। हाँ, संसार-भर के लोग डाकुओं के अत्याचार की निन्दा अवश्य करते हैं। शासन-कुशल बृटिश जाति से बढ़कर अपनी जिम्मेदारी कौन समझ सकता है? किन्तु न जाने भारत की राजभक्त प्रजा के साथ नौकरशाही कौन-सा पिछला वैर साधती है।

खेतड़ी-नरेश का स्वेच्छाचार

'चिड़ावा'-सेवा-समिति के उत्साही एवं साहसी स्वयंसेवकों को दण्डित, अपमानित और पीड़ित करके खेतड़ी-नरेश ने सचमुच अपनी निरंकुशता का पूर्ण परिचय दिया है। जिस दिन एक देशी राजा की अन्यायपूर्ण स्वेच्छाचारिता का ऐसा क्लेशकर संवाद सुनने में आया, उसी दिन यह धारणा प्रबल हो उठी कि नौकरशाही की उत्पीड़न-शक्ति की छा।

देशी राज्यों पर खूब पड़ रही है। देशी राज्यों के अधीश्वर आजकल अधिकतर अपने अधिकारिवर्ग के हाथ की कठपुतली हो रहे हैं। उन्हें राजधर्म और प्रजारंजन से कुछ सम्बन्ध ही नहीं।

खेतड़ी-नरेश की नादिरशाही का संवाद पाते ही आरा की मारवाड़ी-सुधार-समिति के स्थानीय सदस्यों ने एक विशेष अधिवेशन कर खेतड़ी-नरेश के घृणित अत्याचारों की निन्दा करते हुए वीर स्वयंसेवक को बधाई दी। जयपुर-दरबार और आबू-एजेण्ट के पास तार दिये गये कि निरपराध स्वेच्छासेवकों को शीघ्र ही मुक्त करने के लिए खेतड़ी-नरेश को बाध्य किया जाय। किन्तु एजेण्ट महाशय ने उत्तर में तार दिया है कि 'तहकीकात (जाँच) करके (?) यथासमय (?) सूचना दी जायगी (!)'। मैं नहीं कह सकता कि जयपुर-दरबार से कुछ उत्तर मिलेगा या नहीं। संभव है मिले, पर वह उत्तर भी एजेण्ट महोदय के शब्दों का रूपान्तर-मात्र होगा। मैं नहीं समझता कि एजेण्ट साहब की जाँच-पड़ताल कब तक खतम होगी। तहकीकात की जरूरत क्या है? क्या सेवा-समिति के स्वयंसेवक पर किसी तरह के षड्यन्त्र का आयोजन करने का अभियोग भी लगाया गया है? निर्दोष व्यक्तियों को जी भरकर सता लेने के बाद जाँच शुरू होगी! वाह रे न्याय! खैर आततायियों को अब भूलना न चाहिए कि भारतीयों के लिए जेल तो अब खेल हो गया है, हथकड़ियाँ रण-कंकण बन गई हैं। चिलचिलाती हुई धूप चाँदनी बन गई है और कोड़ेबाजी पुष्पवृष्टि हो गई है। ज्यों-ज्यों जेल भरेगा, त्यों-त्यों अधिकारियों के पाप का घड़ा भी भरता जायगा, और अन्त में रह नहीं सकता कभी फूटे विना, पाप का जिस दम घड़ा भर जायगा।' इतना याद रहे।

—मासिक 'मारवाड़ी-सुधार' (आरा); वर्ष १, अंक ५; श्रावण, १९७८ वि०; सन् १९२१ ई०

*

विजयी 'विद्यार्थी'[1]

बहुत दिनों से हिन्दी-भाषा की रचना-शैली में कोमलता, सुकुमारता, सरसता और स्निग्धता बैठ गई थी। ललित, मधुर, सुन्दर और सुहावने शब्दों की मनोहर सजावट से हिन्दी-भाषा की लेखन-प्रणाली अलंकृत होती जाती थी। कोई माता के शीश पर मणिमय मुकुट स्थापित करता था, कोई माता के शरीर को तीर्थ-जल से अभिषिक्त करता था, कोई माता के चरणों पर चन्दन चढ़ाता था, कोई माता को पीताम्बर पहनाकर हाथ में फुल्ल कमल अर्पित करता था, कोई अपनी प्यारी तोतली बोली सुनाकर माता की मन्द-मन्द मुस्कान निरखता था, कोई कंचन-थार में आरती सजाकर माता की दिव्य शोभा की बलैया लेता था और कोई तो माता के आगे आँख

१. कानपुर के साप्ताहिक 'प्रताप' के जन्मदाता और सम्पादक श्रीगणेशशंकर विद्यार्थी।

बन्द करके, भक्ति-गद्गद चित्त से स्तुति-पाठ करता था। माता की मनोज्ञ मूर्त्ति की अर्चना में सब लगे हुए थे, परन्तु माता के मन्दिर की मरम्मत की ओर किसीका ध्यान नहीं था। माता की सेवा इस तल्लीनता के साथ हो रही थी कि सेवा स्वीकार करने, विविध विकसित सुमन सूँघने, अनन्य भक्तों की श्रद्धा से संतुष्ट रहने और विनीत सेवकों की विनयपूर्ण स्तुति सुनने से माता को अवकाश ही नहीं था। मन्दिर में एकान्तवासिनी होकर बैठे-बैठे उसका यही काम था कि तृप्त हृदय से अपने आराधकों को अमर कीर्त्ति होने का आशीर्वाद दिया करे। अपने पूजकों के सिवा उसका दृष्टिकोण कभी अपने उन अबोध बच्चों की ओर नहीं फिरा था, जो दूध पीकर जब से अलग हुए, तब से कभी एक फूल लेकर भी मन्दिर में नहीं आये।

ईश्वर की कृपा से माता के मन्दिर में एक 'विद्यार्थी' ने आकर नये ढंग से पूजा का 'श्रीगणेश' किया। तप्त अश्रुधारा से पैरों को पखारा, पीताम्बर को कवच से बदल दिया, मुक्ता-जटित मुकुट उतारकर काँटों का ताज पहनाया, हाथ का फुल्ल कमल हटाकर त्रिशूल धारण कराया, हृदय की भीषण अग्नि-ज्वाला से आरती उतारी और गम्भीर गर्जन के साथ वीरता-व्यंजित स्तोत्र सुनाया। माता के तन से तेजस्विता की तरल तरंगें उमड़ उठीं। मन्दिर प्रकाश-पुंज से भर गया। कोमलता की जगह ओजस्विता विराजने लगी। सुकुमारता भी प्रचण्डता से पराजित हो गई। झटपट माता का 'प्रताप' चमक उठा। अपने 'प्रताप' की प्रबलता और प्रधानता देखकर माता ने हृदय हिलानेवाली हुङ्कार-ध्वनि की। मन्दिर के चारों ओर के लोग जाग पड़े। माता भी चकित होकर विस्मय-विस्फारित लोचनों से चतुर्दिक देखने लगी। उसके ललाम लोचनों से चिनगारियों की तरह किरणें फूट निकलीं। सामने के द्वार से मन्दिर के बाहर प्रखर 'प्रभा' का प्रसार हुआ। 'विद्यार्थी' ने माता के प्रसाद से पुलकित होकर विजय का शंख फूंक दिया। शंखनाद श्रवण करते ही लोग टूट पड़े। सबकी आँखों ने देखा कि एक त्रिशूल-धारिणी शत्रु-संहारिणी मूर्त्ति मन्दिर में दिव्य तेज की अजस्र धारा बरसा रही है। उसके सामने ही 'शङ्कर' के सत्य-संकल्प की भाँति अटल दृढ़व्रती एक 'विद्यार्थी' खड़ा है।

अहा! लोगों ने जिस 'विद्यार्थी' को मातृ-मन्दिर में अविचल खड़ा देखा था, उसी 'विद्यार्थी' को आज मैं कारागार के सींखचों से घिरे हुए स्वतन्त्रा-देवी के मन्दिर में देख रहा हूँ। माता के 'प्रताप' का प्रकाश ही जिसके मानस-मन्दिर का एकमात्र अखण्ड दीप है, माता की तेजपुंजशालिनी 'प्रभा' ही जिसके जीवनोद्देश्य-पथ की आलोक-रश्मि है, उस 'विद्यार्थी' की बलिष्ठ आत्मा को किसी कारागार की पुख्त: से पुख्त: दीवार भी कैद नहीं कर सकती। उसका शरीर सींखचों के अन्दर बन्द है, उसकी आत्मा स्वच्छ वायु की तरह स्वच्छन्द है। काँटों की सेज पर पौढ़ा हुआ गुलाब जितना वायुमण्डल को सुगन्धित बना सकता है, उतना मन्दिर में 'शिव' के शीश पर सुशोभित होकर नहीं; भीम-पराक्रम भीष्म ने शर-शय्या पर शयन करके शान्तिमयी शिक्षा से श्रोता-समाज को सन्तुष्ट किया था। मैं देखता हूँ कि उस पञ्जरबद्ध कीर का कण्ठ जिसको रट रहा है, वह

उसके सामने प्रत्यक्ष विद्यमान है, उसके हृदय में केवल उसीका ध्यान है, उसीका अरमान है, उसीका ज्ञान है और उसीका अभिमान है। बस वही एकमात्र अनुष्ठान है। भगवान करें, उस 'विद्यार्थी' का अनुष्ठान पूरा हो, उसके लिए आग की लपटें भी चन्दन की चँलियाँ बन जावें, काँटों का बिस्तर भी फूलों का गलीचा बन जाय और हमलोगों की बधाइयाँ उसकी विजयश्री की आरती उतारती रहें।

बिहार-प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

अक्तूबर मास के मध्य में बिहार-प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन मिथिला-प्रान्त के सीतामढ़ी नामक नगर में बड़े समारोह से सम्पन्न हो गया। स्वागत-समिति के सभापति थे स्थानीय रईस और प्रतिष्ठित मारवाड़ी सेठ बाबू रामविलास रायजी। सम्मेलन के सभापति आरा-निवासी बाबू शिवनन्दन सहायजी थे। सभापतिजी बिहार के वयोवृद्ध हिन्दी-साहित्य-सेवकों में से एक प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और गोस्वामी तुलसीदासजी की जीवनियाँ लिखकर हिन्दी-साहित्य-भाण्डार में आपने दो अमूल्य रत्न संचित कर दिया है। आप ही की लिखी 'सिक्ख गुरुओं की जीवनी' आरा की नागरी-प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित की है। आपने इन तीनों पुस्तकों की रचना करने में बड़ा परिश्रम और अनुसन्धान किया है। आपका भाषण इतना गवेषणापूर्ण था कि उसे एक प्रकार से 'बिहार के हिन्दी-साहित्य का इतिहास' कहा जाय, तो कोई हानि नहीं। वह भाषण प्रत्येक बिहार-निवासी हिन्दी-प्रेमी को पढ़ना चाहिए।

सम्मेलन ने बिहार के राष्ट्रीय विद्यापीठ से अनुरोध किया है कि वह बिहार के हिन्दी-लेखकों को, राष्ट्रीय विद्यालयों के निमित्त, पाठ्य-पुस्तकें बनाने के लिए प्रोत्साहन दे और बिहार के हिन्दी-ग्रंथ-प्रकाशकों को अवसर दे कि वे लेखकों का उत्साह बढ़ा सकें। सम्मेलन के इस अनुरोध का कारण कोई संकीर्ण भाव नहीं है। प्रान्तीयता का पक्ष पुष्ट करने के लिए नहीं, बल्कि बिहार के योग्य लेखकों को कर्त्तव्यपरायण बनाने के लिए सम्मेलन को ऐसा करना पड़ा है। बिहार के लेखकों को, और सबसे पहले धनवान प्रकाशकों को, ऐसी कोशिश करनी चाहिए कि बिहार-विद्यापीठ की सारी आवश्यकताएँ बिहार से ही पूरी हो जावें। यदि ऐसा न हुआ, तो सम्मेलन का अनुरोध-पालन करना विद्यापीठ के लिए असम्भव हो जायगा। सम्मेलन को उचित है कि वह बिहार के सुयोग्य विद्वान हिन्दी-लेखकों के पास अनुरोध-पत्र भेजे और उन्हें इस कार्य्य में तत्पर होने के लिए प्रेरित करे।

सम्मेलन के अवसर पर मुजफ्फरपुर की भारतीय नवयुवक-समिति के उत्साही सदस्यों ने प्रसिद्ध 'वीर अभिमन्यु' नाटक खेला था। अभिनय अधूरा ही रह गया; क्योंकि स्वयंसेवकों की असावधानता से बेतरह भीड़ हो जाने के कारण, दर्शक-मण्डप में, अच्छे-अच्छे साहित्य-सेवी सज्जनों को सुविधाजनक स्थान नहीं मिल सका। स्वागतकारिणी

का प्रबन्ध प्रशंसनीय था, किन्तु अभिनय की उत्तमता ने इतने दर्शक एकत्र कर लिये कि 'यः ईहते तोषयितुं समस्तं नाऽसौ जनं तोषयतीह कश्चित्' वाली कहावत चरितार्थ हुए विना न रही। नाटक-मण्डली के मुखिया मौलवी लतीफ हुसेन उदास थे, किन्तु एक लँगोटीबन्द स्वामीजी ने ड्रापसीन के बाहर रौद्ररसपूर्ण इतना अच्छा नाटक झटपट दिखला दिया कि उदासी तो मिट गई, पर सबकी तबीयत पिट गई और दिल की खिली-खिलाई कली भी सिमिट गई।

—मासिक 'मारवाड़ी-सुधार' (आरा); वर्ष १, अङ्क ७, आश्विन, १९७८ वि०; सन् १९२१ ई०,

*

तैयार रहना होगा

किसको? प्रत्येक मारवाड़ी को, प्रत्येक राजस्थान के सपूत को और प्रत्येक स्वदेशाभिमानी को! किसलिए? सत्याग्रह-संग्राम में साहस के साथ सम्मिलित होने के लिए! अहिंसात्मक असहयोग के कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए और मारवाड़ी-जाति की स्वाभाविक वीरता को चरितार्थ करके राजस्थान का गौरव बढ़ाने के लिए। किन्तु, जब ऐसे विकट कार्य्य को सम्पूर्ण करने के लिए तैयार रहना होगा, तब यह भी याद रखना होगा कि अखण्ड शान्ति और अहिंसा के सिद्धान्तों का पालन करने में ही वास्तविक विजय है। जो कोई उस वास्तविक विजय को प्राप्त करने के लिए तैयार होना चाहे, वह शुद्ध हृदय से यह समझ ले कि भारत का प्रत्येक अँगरेज हमारा भाई है, प्रत्येक अँगरेज-महिला हमारी बहू-बेटी के समान है, प्रत्येक पारसी और यहूदी तथा ईसाई हमारा वैसा ही सगा भाई है, जैसा एक भारतीय मुसलमान और मरकर अमर वही होता है, जो अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए प्राण तक न्यौछावर करने में कुछ भी कुण्ठित नहीं होता। यदि आप इन बातों को सदा याद न रख सकेंगे, अहिंसात्मक आन्दोलन में शान्तिपूर्वक शामिल होकर प्रेम के अजीब जादू से काम न ले सकेंगे और भारतीयता तथा भाई-चारा का पवित्र भाव सुरक्षित रखने में सदा समर्थ न हो सकेंगे, तो मैं प्रार्थनापूर्वक कहता हूँ कि आप कृपा करके इस देवासुर-संग्राम से बिलकुल तटस्थ रहिए। यदि आप संयमशीलता और नम्रता के साथ कानून-भंग करने के लिए तैयार होना चाहते हैं, तो सबसे पहले अपने मन को अपने वश में करके शारीरिक कष्ट सहन करने का अभ्यास कीजिए और अन्याय का सामना करने के लिए नितान्त निर्भीक बन जाइए। किन्तु यह भी समझ लीजिए कि केवल सत्य का सहारा ग्रहण किये विना आपमें दृढ़ निर्भयता नहीं आ सकती। याद रहे, जिसको केवल अशरण-शरण का भय है, वह सर्वत्र ही सर्वथा अभय है।

शादी के जमाने में बरबादी न होने पावे!

देवोत्थान के बाद से शुभ कार्य्यों का श्रीगणेश होने लगता है। विश्वपोषक भगवान विष्णु के जागते ही संसार में सुख और शान्ति का विस्तार होने लगता है।

विवाह भी एक श्रेष्ठ शुभ कार्य्य है। विवाह से मानव-जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। विवाह एक प्रकार का पवित्र सामाजिक बन्धन है। इसीलिए, महान शुभ कार्य्य होने के कारण अतीव उत्तम काल में इसका अनुष्ठान अथवा आरंभ किया जाता है। भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है कि 'मासानां मार्गशीर्षोऽहं ऋतूनां कुसुमाकरः'। इसलिए, मंगलमय कार्य्य करने के लिए मार्गशीर्ष से बढ़कर और कौन मास उत्तम हो सकता है ? विवाह के लिए मार्गशीर्ष सर्वोत्तम महीना माना जाता है। वसन्त में भी भगवान की विभूति है, इसीलिए वैशाख के अंत तक उत्तम जातियाँ विवाह-कार्य्य करती चली आती हैं। जिस कार्य्य के सम्पादन के निमित्त इतना उत्तम समय निश्चित किया गया है, उसका महत्त्व निस्सन्देह बहुत बड़ा है। उसी महत्त्वपूर्ण कार्य्य का सुअवसर आ गया है। इस मौसम में कितने सिरों पर शादी के सेहरे बाँधे जायँगे, कितनी कन्याओं की माँग सौभाग्य-सिन्दूर से सुशोभित होगी, कितनी आत्माओं का परस्पर मिलन होगा, कितने जीवन प्रेम-बन्धन में बद्ध होंगे, कितने हृदय दाम्पत्य प्रणय की गाँठ से जकड़े जायँगे, कितनी लालसा-लताएँ नवीन वृक्ष से आलिंगन करेंगी और कितने आनन्द-समुद्र परम पावन प्रेम-गंगा के सुखद संगम से तरंगित हो उठेंगे। ऐसे सुख के उज्ज्वल युग का शुभागमन देखकर मैं अपने पाठकों को यह स्मरण कराना चाहता हूँ कि सावधान ! कहीं शादी के जमाने में बरबादी न होने पावे।

महासभा ने वैवाहिक कुरीतियों को दूर करने के लिए कई प्रस्ताव एवं उपप्रस्ताव पास किये हैं। उन स्वीकृत प्रस्तावों की सफलता के लिए प्रयत्न करना प्रत्येक मारवाड़ी का मुख्य कर्त्तव्य है। सगाई, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, बेजोड़-विवाह, कन्या-विक्रय आदि के विषय में महासभा द्वारा जो प्रस्ताव पास किये जा चुके हैं, उनपर मारवाड़ी वर-कन्या के माता-पिता ध्यान देने की कृपा करें। विवाह में जो बहुत-सा द्रव्य व्यर्थ व्यय किया जाता है, उसे रोकने के लिए भी महासभा ने दस-बारह प्रस्ताव पास करके साफ-साफ खोलकर खुलासा समझा दिया है कि दहेज और आतिशबाजी आदि कुप्रथाओं में बेकार पैसे नष्ट न किये जायें। फजूलखर्ची रोकने का सबसे अच्छा मौका विवाह ही है। विवाह में दान-पुण्य अवश्य होना चाहिए। दान करने के समय भी इतना खयाल रखना उचित और आवश्यक है कि वर-कन्या की कल्याण-कामना से प्रेरित होकर जो द्रव्य दान दिया जाता है, वह ऐसा उपयुक्त होना चाहिए, जिससे वास्तविक दान-पात्र प्राणियों का उपकार हो सके। मैं विश्वास करता हूँ कि मारवाड़ी-सुधार-समिति के सदस्य और सहायक तथा शुभचिन्तक महाशय अपने अथवा अपने कुटुम्बियों के परिवार में होनेवाले विवाहों के शुभ अवसर पर उक्त समिति की सहायता का अवश्य ही ध्यान रक्खेंगे। उक्त समिति मारवाड़ियों की एक जातीय संस्था है और विवाह के समान आनन्द-मंगलमय अवसर पर, जाति-सेवा के खयाल से, उसकी सहायता के लिए, शुभदान का सदुपयोग करना, एक आदर्श कार्य्य होगा। आशा है, मेरा अनुरोध अनुचित और अनावश्यक न समझकर पाठक अपना कर्त्तव्य-

पालन करेंगे। जिस दिन समिति के हितैषियों को आदर्श वैवाहिक दान के लिए बधाई देने का मुझे सौभाग्य प्राप्त होगा, उस दिन सचमुच मुझे बड़ा सन्तोष होगा।

एक बात और, विवाह में जो अश्लील गीत स्त्रियों के मुख से गाये जाते हैं, उनका प्रभाव स्वयं गानेवालियों के चित्त पर बहुत बुरा पड़ता है। गानेवालियाँ प्रायः अपने ही घर की बहू-बेटियाँ होती हैं। अश्लील गीत सुनकर बरातियों को भी गानेवालियों से छेड़-छाड़ करने का मौका मिल जाता है। इसलिए अपनी माँ, बहन, बेटियों के मुख से, अशुद्ध और घृणास्पद गीत अपने भी सुनना और अन्य पुरुषों को भी स्वच्छन्दतापूर्वक सुनने देना, अत्यन्त लज्जा की बात है। विवाह में फीकी गाली भी नीकी लगती है सही, पर वह गाली सभ्य और विनोदपूर्ण तथा साहित्यिक होनी चाहिए। किन्तु, चित-हुलसावनी मनभावनी कवितामयी गाली से बेचारी स्त्रियों की भेंट कहाँ? वे तो रद्दी-भद्दी गालियाँ उमंग-भरे स्वर से गाती हैं। यह एक स्वाभाविक बात है कि मुख द्वारा संगीत के रूप में जो वाक्य प्रसन्न हृदय से निकलते हैं, उनका प्रभाव चित्त पर विशेष तीव्र होकर पड़ता है। इसलिए औरतों को विवाह में गन्दी गालियाँ गाने से रोकना चाहिए। अब उनके बदले में 'राष्ट्रीय गीत और चर्खे की तान' की बहार लूटनी चाहिए।

अन्त में सबसे जरूरी बात, जो बड़े ही मार्के की है, वह यह है कि विवाह में कपड़े का खर्च बहुत अधिक हुआ करता है; अतएव जिस घर में विवाहोत्सव हो, उसके स्वामी और प्रबन्धकर्त्ता महाशय को स्वदेशी वस्त्र की पवित्रता और उत्तमता न भूलनी चाहिए।

योग्य वर-परीक्षा

प्रयाग (इलाहाबाद) से रायबरेली की रहनेवाली एक विद्यार्थिनी मारवाड़ी कन्या ने एक छोटा-सा लेख भेजा है। उस लेख का विषय है 'योग्य वर-परीक्षा'। कन्या शिक्षिता और होनहार मालूम होती है। दुःख है कि उसने अपना नाम और पता लिखने की कृपा नहीं की है। उसका विचार सरल और सरस है, पवित्र और विचित्र है। मैं उसको उत्साहित करने के लिए उसके लेख का स्पष्ट भावार्थ लगभग उसीके शब्दों में यहाँ प्रकाशित करता हूँ। लेख में बीसवीं शताब्दी की महिमा झलकती है। देखिए—

"प्राचीन समय में स्वयंवर की प्रथा बड़ी ही अच्छी थी। उसके द्वारा प्रत्येक लड़की को अपने योग्य पति चुन लेने में सुविधा होती थी। जब कामी पुरुषों ने स्वयंवर की मर्यादा और नियमावली भंग करना शुरू किया तब स्वयंवर की चाल उठ गई। सुन्दरी और युवती कन्याओं की स्वतंत्र इच्छा को कुचलकर····कामी दुष्टों ने मार-काट मचाने की रीति चला दी। बस, कन्याओं का मनोरथ पुरुषों के स्वार्थ-युद्ध में नष्ट हो गया। फिर कन्या-हरण का जमाना आ गया। सुन्दरी कन्याओं पर आफ़त आ गई। तब तक······ जबरदस्ती का युग चला आया। फिर तो समूचे

देश में पर्दा का रिवाज चल निकला। हमलोगों को कैदखाने में जिन्दगानी बिताने के लिए लाचार होना पड़ा। पुरुषों की आँखें बचाते-बचाते हमलोगों की यहाँ तक नौबत आई कि सूरज-चाँद की रोशनी भी हराम हो गई, साफ हवा भी सपना हो गई। ......अन्त में दहेज की कुचाल ने तो सर्वनाश ही कर दिया। दहेज की वजह से कन्यादान का माहात्म्य सब लोग भूल गये। कन्याओं का निरादर घर-घर होने लगा। यहाँ तक कि माता-पिता के लिए वे भार हो गईं। इसीलिए वे अनबोलता पशु की तरह बेची जाने लगीं। जब इस दर्जे तक हमलोगों की हालत बिगड़ गई, तब भला हमलोगों की राजी-खुशी की परवाह कौन करे? अपने मन के लायक पति चुनने या पसन्द करने का जो एक खास हक हमलोगों के हाथ में था, वह भी छीन लिया गया! रहा-सहा अख्तियार भी जाता रहा! हमलोगों को हलाल करने के लिए बहुत-बहुत उपाय किये गये, लेकिन अपने जीवन-नाथ को ग्रहण करने के लिए हमलोगों को जो स्वतंत्रता मिली थी, वह हरण करके हमलोगों की उन्नति की जड़ में कुल्हाड़ी मार दी गई। जो भावी थी, सो हो गई, अब पछताने और कोसने से कुछ लाभ नहीं। जमाने के फेर ने सब कुछ करा दिया, हमलोग किसीको दोषी बनाना नहीं चाहतीं। किन्तु बीती बात बिसार कर अब आगे की सुधि लेनी चाहिए। कन्याओं के साथ जो अन्याय और अन्धेर हो चुका, उसके लिए देश दुःख भोग ही रहा है, समाज आठ-आठ आँसू बहा ही रहा है, लेकिन अब से भी यदि कन्याओं की दशा पर ध्यान दिया जाय, तो समाज का कष्ट और त्रास बहुत-कुछ दूर हो सकता है। कन्याओं की दशा तभी सुधरेगी, जब योग्य वर-परीक्षा की प्रथा को महत्त्व दिया जायगा। भेड़-बकरी की तरह कन्याओं को जिस किसीके हाथ में सौंपकर निश्चिन्त हो जाना बड़ी भारी निर्दयता है। माता-पिता को उचित है कि धन और व्यापार की महिमा पर मुग्ध होकर वर की शारीरिक अवस्था, मानसिक और नैतिक (चारित्रिक) योग्यता की उपेक्षा न करें। धन हो या न हो, व्यापार चमका हुआ हो या साधारण हो, वर की शारीरिक या मानसिक शक्ति पुष्ट और समर्थ होनी चाहिए। कन्या की अवस्था के साथ-साथ वर की अवस्था पर विचार करना चाहिए। कन्या के रूप, गुण और स्वभाव का खयाल रखते हुए वर के रूप, गुण और स्वभाव का निरीक्षण करना चाहिए। यदि कन्या का फोटो वर को और वर का फोटो कन्या को देकर उनकी पसन्द के मुताबिक शादी की जाय, तो अनेक परिवार शान्तिमय बन सकते हैं। कन्या के सम्बन्ध में वर को और वर के सम्बन्ध में कन्या को हर तरह की पूरी जानकारी करा देनी चाहिए ताकि उनके भावी जीवन में कभी पश्चात्ताप या किसी तरह की शिकायत का मौका न आवे। यदि माता-पिता की भूल या लापरवाही से कन्या की जिन्दगी में कोई काँटा रह गया, तो समाज के लिए बड़े दुःख और कलंक की बात है। इसीलिए मैं यह अच्छा समझती हूँ कि योग्य वर की परीक्षा केवल माता-पिता द्वारा ही न की जाय, बल्कि हमलोगों को भी उसकी जाँच का अवसर मिले।"

खेतड़ी-नरेश का गर्व खर्व हुआ !

अब वे दिन गये जब भारत का एक प्रान्त अत्याचार की चक्की में पिसता था और दूसरा प्रान्त संगीत-लहरी में तैरता था। उस समय भारत का शरीर निष्प्राण हो गया था। अब उसमें 'नवजीवन'-संचार हुआ है। उसकी नस-नस में अब शुद्ध रक्त संचालित हो रहा है। अब यदि पैर में काँटा गड़ेगा, तो मस्तिष्क भी व्याकुल हो उठेगा। यदि आँख में एक रेणु-कण भी पड़ जायगा, तो दोनों हाथ मिल-जुलकर शीघ्र उसका क्लेश दूर कर देंगे।

पाठक जानते हैं कि चिड़ावा-सेवा-समिति के उत्साही स्वयंसेवकों को राजमदोन्मत्त खेतड़ी-नरेश ने पकड़कर जेल भेज दिया था। इतना ही नहीं, उन निर्भीक नवयुवकों को निर्दयतापूर्वक सताया भी था। राजा साहब को बीसवीं शताब्दी की अपनी राजपूती शान की अखण्डता पर अहंकारपूर्ण विश्वास था। किन्तु विधि-विडम्बना ऐसी विकट है कि जो चक्रवर्त्तित्व का आनन्द लूटना चाहते थे, उनको जंगल की राह लेनी पड़ी। और चाहे जो कुछ हो, राजा साहब की कृपा से यह कहावत बहुत दिनों के बाद सार्थकता को प्राप्त हुई है—

'देखा-देखी साधे जोग। छीजे काया बाढ़े रोग ॥'

कलकत्ता की मारवाड़ी-ट्रेड्स-एसोसियेशन ने पहले आवाज उठाई। फिर तो मारवाड़ियों की सभी संस्थाओं ने बड़े जोर-शोर से पुकार मचाई। समूचे देश को दुहाई देते देख राजा साहब की हवाई उड़ने लगी। लगातार तारों की ताबड़तोड़ ने तबीयत को तड़फड़ा दिया। छोटी से बड़ी तक सब सरकारों के आसन डोल गये। प्रजातंत्र का शंखनाद करनेवाले भविष्य-देव स्वयं आकर स्वयंसेवकों की हथकड़ी खोल गये। देश-भर के मारवाड़ी विजय-गर्व के साथ एक स्वर से एकता की जय बोल गये।

मैं सच्चे हृदय से उन उत्साही स्वयंसेवकों को बधाई देता हूँ! उनकी वीरता, दृढ़ता और कष्ट-सहिष्णुता का गीत राष्ट्र-भारती वीणा बजाकर गावेगी। ईश्वर उन्हें दृढ़संकल्प, कर्त्तव्यनिष्ठ और साहसी लोक-सेवक बनावें! उनसे मेरा निवेदन है कि वे सेवा-धर्म का पवित्र व्रत नित-नूतन उत्साह के साथ पालन करते रहें, कठिनाइयों को कुसुम समझें और एक अँगरेज कवि की यह सुधा-सिक्त उक्ति याद रक्खें—

"Help whoever, whenever you can;
Man forever needs aid from man.
Let never a day die in the west.
That you have not comforted some sad breast."

अर्थात्—जब कभी तुम्हें अवसर मिले या तुमसे हो सके, किसी-न-किसी की सहायता अवश्य करो। एक की सहायता की दूसरे को सदैव दरकार है। विना किसी दीन-दुखिया को थोड़ा-बहुत आराम पहुँचाये अपना एक भी दिन व्यर्थ न जाने दो।

राजस्थान मेवाड़ में विदेशी कूटनीति !

मेवाड़ की महिमा राजस्थान-निवासियों के हृदय की संचित सम्पत्ति है। बल्कि प्रातःस्मरणीय हिन्दू-कुल-सूर्य महाराणा प्रताप के विश्वविख्यात वीरत्व की लीलास्थली होने के कारण, स्वतंत्रता-जननी मेवाड़-भूमि का गौरव भारतीयों के हृदय का अलंकार है। आज भी उदयपुर के राणा के क्षत्रियत्व का अभिमान सच्चे हिन्दू के रक्त को उत्तेजित कर रहा है ! किन्तु दुःख है कि जिस सिंहद्वार पर मदान्ध गजेन्द्रों का कुम्भ विदीर्ण करके, गर्जन करता हुआ मृगराज, अपने पैरों से गजमुक्ताओं को ठुकराकर बिखरा देता था, उसी जगह आज शृगाल का इकबाल चमक रहा है !

उदयपुराधीश राणा की वंश-परम्परागत मान-मर्यादा की महत्ता नौकरशाही से नहीं सही जाती। अब वह नोन-सत्तू बाँधकर मेवाड़ के पीछे पड़ गई है। वहाँ कूटनीति और कूटनीति का कारखाना जारी हो गया है। तभी तो वर्त्तमान महाराणा को, उनकी इच्छा के विरुद्ध राज्याधिकार छोड़ देने के लिए, बाध्य कर दिया गया है। यद्यपि महाराणा के शासन-काल में भी नौकरशाही के इशारे पर अत्याचार होते थे, तथापि अब उसकी उत्पीड़न-शक्ति और भी बढ़ती चली जाती है। अहंकारी अँगरेजी अफसरों का प्रभुत्व बढ़ता जा रहा है, और यही सब अनर्थों का मूल है। यदि ऐसा न होता, तो युवराज के स्वागत में चौदह या पन्द्रह लाख तक का खर्च कैसे कूता जाता !

राजस्थान मध्यभारत-सभा और मेवाड़ के स्वदेशगौरवाभिमानी निवासियों को एक ऐसा सुव्यवस्थित आन्दोलन उठाना चाहिए कि मेवाड़ की देशभक्त-रक्त-सिक्त भूमि अपवित्र होने से बच जाय। राजस्थान-हितैषी पत्रों को अपनी बुलन्द आवाज बन्द न करनी चाहिए, मुसलमानों के लिए जिस प्रकार से खिलाफत का सवाल मजहब में दाखिल है, उसी प्रकार से हिन्दू-धर्म-सर्वस्व वीर-व्याघ्र महाराणा प्रताप की जन्मभूमि और गौरवान्वित गद्दी को सुरक्षित रखने का प्रश्न हिन्दुओं के लिए एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक प्रश्न है। मैं आशा करता हूँ कि मारवाड़ी-समाज इधर विशेष ध्यान देगा।

बीकानेर-राज्य में ऐसा घोर अन्याय ?

पाठकों को समाचार-पत्रों से मालूम हुआ होगा कि देशभक्त सेठ जमनालालजी बजाज, कुँवर चाँदकरण शारदा और पंडित गौरीशंकर भार्गव राजपूताना में सेवा-समितियों का संगठन, स्वदेशी वस्त्र-प्रचार, मद्य-पान-निषेध और चर्खा-प्रचार करने के लिए भ्रमण कर रहे थे। बिसाऊ, फतेहपुर, सीकर, रामगढ़, लक्ष्मणगढ़, रतनगढ़ और सुजानगढ़ आदि प्रधान-प्रधान स्थानों में उक्त महाशयों ने पहुँचकर अपने कार्यक्रम के अनुसार काम किये हैं और स्वतंत्रता तथा जागृति का सच्चा सन्देश सुनाने में सफलता भी प्राप्त की है। किन्तु अत्यन्त दुःख का विषय है कि देशी रियासतें अँगरेजों को यह कहकर हँसने का मौका दे रही हैं कि 'देशी राज्य से अँगरेजी राज्य कहीं अच्छा है'। देशी राज्य में जहाँ अमन का चमन होना चाहिए, वहाँ दमन का दौर-दौरा है। रतनगढ़ स्टेशन पर पण्डितजी, शारदाजी और सेठजी का जैसा अनौचित्यपूर्ण अपमान

किया गया है, वह अपमान भारतवर्ष की सीमा के अन्दर कदापि सहने योग्य नहीं है। साम्राज्य-परिषद् में भारत के प्रतिनिधि की हैसियत से सम्मिलित होनेवाले बीकानेर-नरेश की अमलदारी में भला इतना निन्दनीय अत्याचार? मारवाड़ियो! तुम्हारी जाति को अपने जन्म से धन्य बनानेवाले सेठ जमनालालजी बजाज पर जहाँ रोष के साथ पशु-बल का प्रयोग किया गया, जहाँ उनके साथियों को धक्के देकर असमर्थ कर दिया गया, जहाँ उनको रेल पर यात्रा करने की आज्ञा तक नहीं दी गई, जहाँ गाड़ी में (सुजानगढ़ स्टेशन पर) उनके पास अन्न-जल भी नहीं पहुँचने दिया गया और जहाँ उनकी सेवा एवं स्वागत के लिए लालायित जनता का उत्साह मर्दित कर दिया गया, वहाँ क्या तुम्हारा कुछ भी सत्त्वाधिकार नहीं है! क्या तुम अपने ही घर में अपमानित होकर चुप रह जाना चाहते हो? तुम्हारी अतुलनीय सम्पत्ति किस दिन के लिए है? आज तुममें जातीय गौरव का भाव क्यों नहीं जाग उठता? यदि तुममें योग्यता है, यदि तुममें कुछ शक्ति है, यदि तुममें जात्यभिमान है, तो इसी आन पर मिट जाने में तुम्हारी बड़ाई है। बाहर का अपमान दिल में काँटे की तरह चुभता है, मगर अपने घर में जो अपमान होता है, वह हृदय में भयंकर ज्वाला पैदा कर देता है। क्या तुम उसी ज्वाला में जलना चाहते हो? यदि नहीं, तो अपने 'धर्मावतार अन्नदाता' को अपनी शक्ति का परिचय करा दो और इस बात का ज्ञान भी कि असहयोग की अनन्त शक्ति आँधी ने जब ब्रिटिश साम्राज्य के समान विराट वृक्ष को जड़ से हिला दिया है, तब बीकानेर किस लेखे में है। इतना समझ लो कि जनता की छाती पर सवार होकर कोई स्वेच्छाचारिणी शक्ति अब मुस्कुरा नहीं सकती।

शायद श्रीमान् बीकानेर-नरेश को जवाबी (?) तार दिया गया है और उनसे सन्तोषजनक उत्तर पाने की आशा भी की जा रही है। किन्तु मुझे तो उनसे भी न्याय की आशा बहुत कम है। वे सुधार-स्कीम के समर्थक हैं, इसलिए उनसे न्याय की आशा की जा सकती है, यह धारणा भी निर्मूल साबित होगी। जिस राजा की प्रजावत्सलता अपने अधिकारियों पर आतंकपूर्ण प्रभाव नहीं जमा सकती, वह वास्तव में 'राजा' शब्द को व्यर्थ कलंकित करता है। भारत के पुराने प्रजारंजक राजे-महाराजे लोकरंजन का आदर्श स्थापित कर गये हैं। मेरा विश्वास है कि श्रीमान् बीकानेर-नरेश उस आदर्श के प्रतिपालक होंगे। किन्तु जबतक अपने असभ्य अधिकारियों के अत्याचार की निन्दा करते हुए उनको अपने संगत निर्णय का फल न चखावेंगे, तबतक मारवाड़ियों को उन्हें 'अन्नदाता' समझने का कुछ सुख नहीं मिलेगा। लोकप्रिय होने का इससे अच्छा अवसर उनको नहीं मिल सकता।

एक दिन मैं 'मथुरा-गजट' पढ़ता था, उसमें एक जगह मैंने देखा कि 'जो अधिकारी अन्याय से काम करते हैं, उनके परलोकवासी पितरों को परलोक में वही पानी मिलता है, जो स्त्रियों के मासिक धर्म में तीन दिन प्रति मास निकलता है'। किसी एक वक्ता ने एक श्लोक का अर्थ करते हुए ऐसा कहा था। मुझे बड़ी हँसी आई; क्योंकि

श्लोक बनानेवाले को बड़ी दूर की सूझी है। ईश्वर की कृपा से वह बात अच्छे मौके से मुझे सूझ गई। लेकिन आपको सूझे तब तो!

—मासिक 'मारवाड़ी-सुधार' (आरा); वर्ष १, अङ्क ८; कार्त्तिक, १९७८ वि०, सन् १९२१ ई०

*

देश की दशा, हमारा कर्त्तव्य !

कलकत्ता के एक उत्साही मारवाड़ी-युवक श्रीदीनानाथ सिगतिया[1] ने एक छोटा-सा लेख भेजा है। उसका विषय है 'देश की वर्त्तमान अवस्था और हमारा कर्त्तव्य'। उसका सारांश सुनिए—

"स्वदेशी-आन्दोलन की सफलता ने विलायत के मिलवालों में खलबली मचा दी है। यहाँ के विदेशी ऑफिसवालों ने मैंचेष्टर और जापान से नकली खद्दर मँगवाया है। हमलोग इस भेद को जानते और परखते हैं सही, पर लालच के फेर में पड़कर भोले-भाले भाइयों का गला रेतते हैं। देश के साथ विश्वासघात करना बड़ी कृतघ्नता और महानीचता है। यह भूलना न चाहिए कि हमारी ही सहायता से विदेशी मिलें चल रही हैं। उनसे पैदा होनेवाला धुआँ भारतीयों का भाग्याकाश मलिन बना रहा है। वह धुआँ नहीं है, वह भारतीय प्रजा के दग्ध हृदय की गरम आह है। यदि इस आह को मिटाकर भारत का भाग्याकाश चमकाना चाहते हैं, तो चर्खे का प्रचार कीजिए। सूत तैयार करनेवाले लाखों लालायित हो रहे हैं। उन्हें कोई रूई और चर्खा देनेवाला नहीं है। आप अपने देश के लाखों निकम्मे आलसियों के काम-धन्धे की व्यवस्था क्यों नहीं करते? इस समय यही आपका कर्त्तव्य है कि सूत काफी तौर से तैयार करावें, गाढे बुनवावें और गरीबों को रोजी पहुँचावें।"

यही तो लेख का संक्षिप्त भाव है। सचमुच बातें अमूल्य और अमृत के तुल्य हैं। यदि मारवाड़ी भाई ध्यान दें, तो देश की आवश्यकता पूरी हो सकती है। मैं तो सिगतियाजी से भी कहता हूँ कि विदेशी दवा छोड़कर आयुर्वेदिक औषधि का प्रचार कीजिए।

'हिन्दी-नवजीवन'

अहमदाबाद (गुजरात) से 'हिन्दी-नवजीवन' नामक एक विविध-विशेषतापूर्ण साप्ताहिक प्रकाशित होता है। प्रकाशक हैं मारवाड़ी-कुल-तिलक वर्धा-निवासी देशभक्त सेठ जमनालालजी बजाज और सम्पादक हैं सर्वमान्य नेता महात्मा गांधी। इसकी भाषा बड़ी सरल, सुबोध और ओजस्विनी होती है। इसकी एक-एक पंक्ति तक में अध्ययन करने योग्य भाव भरे रहते हैं। इसके प्रत्येक लेख के पढ़ने से शान्ति का पाठ अभ्यस्त होता है। इसे पढ़ते-पढ़ते कहीं सहानुभूति के आँसुओं से आँखें छलछला उठती हैं, कहीं

---

१. श्रीदीनानाथ सिगतिया मारवाड़ी युवक थे। उन्होंने मेरे सम्पादकत्व में 'आदर्श' नामक मासिक पत्र कलकत्ता से निकाला था। वह छह महीनों के बाद बन्द हो गया। फिर उन्होंने पटना-सिटी से हास्यरस का साप्ताहिक-पत्र 'गोलमाल' निकाला। वह भी छह महीनों तक चला और उसमें भी मेरा सहयोग रहा। —लेखक

स्वदेशाभिमान से हृदय भर आता है, कहीं पर दुःख-कातरता की भाव-लहरी में मन डूब जाता है, कहीं विश्वप्रेम की निष्कलंक भावना से हृदय आलोकित हो उठता है और कभी स्वस्व-रक्षा के उन्नत विचारों से चित्त में वीरताजन्य स्फूर्त्ति संचारित हो आती है।

हिन्दी पढ़कर समझ सकनेवाली समस्त जनता में यदि 'नवजीवन' का प्रचार हो जाय, तो देश में जागृति की जड़ जम जाय। इसका प्रत्येक पृष्ठ महात्माजी के अहिंसात्मक उद्‌गारों से परिष्कृत और पवित्रीकृत रहता है, इसलिए हिन्दी-प्रधान प्रान्तों में, एक किसान की झोपड़ी से लेकर धनकुबेरों के महलों तक इसकी उज्ज्वल किरणों का प्रकाश पहुँचना चाहिए।

वी० पी० भेजने का नियम न होने के कारण, ग्राहकों को चार रुपये वार्षिक मूल्य मनीआर्डर द्वारा प्रेषित कर, इस अहिंसात्मक आन्दोलन के शान्तिमय युग में, इसके अमृतोपम विचारों से लाभ उठाना चाहिए।

'राजस्थान-केसरी' का विशेषांक

मध्यप्रदेश के वर्धानगर से देशभक्त सेठ जमनालालजी बजाज की संरक्षकता में 'राजस्थान-केसरी' नामक (२० पृष्ठ का) राष्ट्रीय हिन्दी साप्ताहिक प्रकाशित होता है। उसके मुखपृष्ठ पर जो भावमय चित्र (हेडिङ्ग ब्लॉक) और उद्देश-बोधक पद्य रहता है, वह बड़ा ही तेज ओज-पूर्ण और लोकमत-प्रबोधक है। उसका सम्पादन बड़ी योग्यता से किया जाता है। विद्यालंकारजी उसे अलंकृत करने में जितनी सहृदयता के साथ परिश्रम करते हैं, वह सर्वथा स्तुत्य है। डेढ़-दो साल के जीवन में ही 'केसरी' ने अपने गम्भीर गर्जन से राजस्थान-कानन को घन-घोषमय कर दिया है। 'प्रताप' और 'कर्मवीर' ने देशी राज्यों में जो जागृति का बीज-वपन कर अंकुरित कर दिया है, उसे पल्लवित और कुसुमित वृक्ष का रूप देने में 'केसरी' अपनी सारी शक्ति का सदुपयोग कर रहा है। भगवान उसका उत्साहपूर्ण उद्योग सफल करें।

उसी 'केसरी' का राष्ट्रीय अंक गत दीपावली के शुभ अवसर पर बड़ी सज-धज से प्रकाशित हुआ है। इस विशेषांक के विद्वत्तापूर्ण लेखों में सचमुच कई विशेषताएँ हैं। इसमें सुप्रसिद्ध नेताओं के चित्र राजस्थान के कर्मवीरों के सचित्र परिचय, यशस्वी पत्र-सम्पादकों के सन्देश, प्रतिभा-सम्पन्न कवियों की सरस राष्ट्रीय कविताएँ और आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से राजस्थान-हित-सम्बन्धी उत्तमोत्तम लेख हैं। अतएव, हिन्दी-संसार के लिए इस विशेषांक में बहुत-सी नई और मनोहर चीजें हैं। प्रत्येक राजस्थान-हितैषी को इसे आद्यन्त पढ़ जाना चाहिए। मारवाड़ी-भाइयों के लिए इसमें दो-चार लेख इतने अच्छे और उपयोगी प्रकाशित हुए हैं कि उन्हें सात-आठ आने पैसे का मोह छोड़कर अवश्य ही इसे मँगाकर पढ़ना चाहिए। जोधपुर-निवासी मुन्शी देवीप्रसादजी मुन्सिफ का 'मारवाड़ और मारवाड़ी' नामक गवेषणापूर्ण लेख पढ़ने के लिए मैं पाठकों से विशेष अनुरोध करता हूँ।

—मासिक 'मारवाड़ी-सुधार' (आरा); वर्ष १, अङ्क ६,
मार्गशीर्ष, १९७८ वि०, सन् १९२१ ई०

स्वराज्य क्या है ?

बिहार और उड़ीसा पब्लिसिटी ब्यूरो ने एक पर्चा प्रकाशित कर स्कूलों में बटँवाया है। वह अँगरेजी में है। शायद उसका अनुवाद भी हिन्दी-उर्दू में छपकर बँटा है। उस पर्चे में बतलाया गया है कि स्वराज्य क्या पदार्थ है, वह कैसे मिल सकता है, उसके लिए कैसा उपाय होना चाहिए और भारतवासी कब उसके योग्य होंगे। उसमें अँगरेजी-शासन के लाभों को खूब दरसाया गया है। असहयोग की निन्दा भी की गई है। एक जगह लिखा है कि The true Swaraj is not to be formed anywhere in any period of the past history of India. अर्थात् 'भारत के प्राचीन इतिहास-काल में कहीं भी असली स्वराज का पता नहीं है।' इससे साफ मालूम हो गया कि स्वराज्य का वास्तविक भाव समझाने में धोखा दिया गया है। मेरी समझ में सु-राज ही स्वराज है। रामराज्य तो स्वराज्य से उत्तम था। प्राचीन भारत की प्रजा के सुख-सौभाग्य और प्रजावत्सल राजाओं के शान्ति-पूर्ण शासन का विशद वर्णन भारतीय साहित्य में भरा पड़ा है। जो चाहे, उसमें स्वराज की झलक देख ले। उस पर्चे की पहली पंक्ति इस तरह है—The thought that is uppermost in the minds of man today is, how to attain Swaraj, अर्थात् 'आजकल सब लोगों के दिमाग में सबसे ज्यादा यही खयाल खौल रहा है कि स्वराज्य कैसे मिलेगा।' तब भला सरकार यह कहकर क्यों टालती है कि स्वराज्य चाहनेवाले अभी सिर्फ गिने-चुने शिक्षित मनुष्य ही हैं, सर्वसाधारण नहीं ? फिर आगे लिखा है कि But all are agreed that the form of government must be changed. अर्थात् 'किन्तु इस बात में सब सहमत हैं कि गवर्नमेण्ट का रूप (शासन-पद्धति) अवश्य ही बदलना चाहिए।' इसके बाद ही लिखा है कि yes, the form of government must be changed that is a point on which there is no difference of opinion. अर्थात् 'हाँ, शासन-प्रणाली में अवश्य परिवर्त्तन (सुधार ?) होना चाहिए। यही एक बात है, जिसपर किसी तरह का मतभेद नहीं है।' इन वाक्यों से तो यही प्रकट होता है कि समूचा देश स्वराज्य के लिए अच्छी तरह तैयार है। जब एक ही बात पर सब सहमत हैं, कोई मतभेद है ही नहीं, तब तो वही एक बात होनी चाहिए न ? आश्चर्य है कि देशव्यापी जागृति की महत्ता स्वीकार करके भी सरकार अभी लोकमत का निरादर ही करती जाती है।

धन्य गुलाब बाई !

धन्य है तुम्हारा उत्साह ! धन्य है तुम्हारी दृढ़ता ! क्यों न हो, आखिर देशभक्त जमनालालजी बजाज की भगिनी ही तो ठहरीं ! भला तुम्हें अटल संकल्प से कौन विचलित कर सकता है ? तुम्हारे हृदय में देशभक्ति की जो निर्मल गंगा बह रही है उसका अदम्य प्रवाह कौन रोक सकता है ? भला 'मोहन' की मुरली की मधुर ध्वनि सुनने के लिए अत्यन्त उत्सुक रहनेवाली गोपिका कभी घर पर अटक सकती थी ? क्या श्रीसीताजी के मन में उठी हुई वन-गमन-लालसा को कोई दबा सकता था ? क्या किसी

पवित्र हृदय की स्वाभाविक उमंग को कोई शक्ति कुचल सकती है ? कदापि नहीं । जब तुम्हारे शरीर पर हाथ का बना गाढ़ा शोभा पा रहा है, जब राष्ट्र की पुकार सुनने के लिए तुम्हारा हृदय बिलकुल तैयार है, तब अहमदाबाद-कांगरेस में जाकर देश-सेवकों के दर्शन करने से तुम्हें रोकने का साहस किसमें था ? तुम्हारी जैसी उन्नतमना महिला की सत्य प्रतिज्ञा कैसे विफल हो सकती है ? रामबाण की तरह तुम्हारी अमोघ अभिलाषा सफल हुई, इसलिए तुम्हें बधाई देता हूँ । तुम्हारे जन्म से केवल वर्धा और शेखावाटी प्रान्त का लोसलनगर ही नहीं, बल्कि समस्त भारत धन्य हुआ ! मारवाड़ी-समाज को ही नहीं, भारतीय महिला-संसार को तुमने गौरवान्वित कर दिया ! साधु !!

कानपुरी तारामती देवी की चिट्ठी

कुछ दिन हुए, कलकत्ता के दैनिक 'स्वतंत्र' में एक चिट्ठी छपी थी। वह चिट्ठी मारवाड़ी-भाइयों और बहनों के नाम लिखी गई थी । उसमें मारवाड़ियों को खूब फटकारा गया था । उन्हें सब जातियों से निकम्मा, विश्वासघातक, घृणा की दृष्टि से देखे जाने योग्य और धिक्कार-पात्र आदि कहते हुए हिन्दुस्तान की सभी प्रधान जातियों से अपील की गई थी कि युवराज के स्वागत में शरीक होनेवाले मारवाड़ियों के हाथ का पानी भी कोई न पिये और न इनके साथ कोई व्यापारी सम्बन्ध रक्खे ।

किसी मारवाड़ी से उस चिट्ठी का घोर प्रतिवाद करते नहीं बना । सम्भव है, किसी ने किया भी हो, पर मैंने नहीं देखा । इससे क्या प्रमाणित होता है ? क्या मारवाड़ियों में अब छूकर भी स्वाभिमान नहीं है ? क्या अन्य जाति और समाज के लोग युवराज-स्वागत में, किसी न किसी रूप में, सम्मिलित नहीं हुए हैं ? क्या मारवाड़ियों ने स्वागत-बहिष्कार में बिलकुल भाग नहीं लिया था ? क्या मारवाड़ी-समाज सब समाजों से पतित हो गया है ? क्या और-और समाजों की तरह वह देशोद्धार के कामों में शामिल नहीं है ? क्या मारवाड़ी-समाज के सपूतों ने दमन-दावानल में आत्माहुति नहीं दी है ? क्या मारवाड़ियों ने स्वराज्य-संग्राम में किसी तरह की उल्लेखनीय सहायता नहीं पहुँचाई है ? क्या मारवाड़ी-समाज के सिवा और किसी समाज में देशद्रोही और अधमाधम चापलूस नहीं हैं ? तो फिर केवल मारवाड़ियों पर ही अन्य समाज के व्यक्ति क्यों अपने दिल का बुखार निकालते हैं ?

मैं अपनी भारत-भगिनी देवीजी से पूछना चाहता हूँ, कि आप मारवाड़ी-समाज से क्यों इतनी घृणा करती हैं ? क्या आप मारवाड़ी-समाज के गुण-दोषों को भली-भाँति जानती हैं ? क्या आपने अन्यान्य भारतीय समाजों से मारवाड़ी-समाज का मिलान किया है ? क्या आपको मालूम है कि असहयोग-आन्दोलन में मारवाड़ी-समाज ने क्या-क्या काम किया है ? मैं समझता हूँ, आपको इन बातों का बहुत कम ज्ञान है । आप इतना जरूर जानती होंगी कि मारवाड़ी-समाज में शिक्षा का बहुत अभाव है । अशिक्षित समाज का पिछड़ना स्वाभाविक है, यह भी आप समझ सकती हैं । शिक्षा का कम प्रचार होने पर भी मारवाड़ी-समाज में सर्वापेक्षा अधिक जागृति दीख पड़ती है । क्या सेठ

जमनालालजी बजाज, सेठ गोविन्ददासजी मालपाणी, सेठ पद्मराज जैन, कुँवर चाँदकरण शारदा, विश्वेश्वरलालजी बिड़ला, बाबू भगवानदास हालना, बाबू नागरमल मोदी और बाबू वसन्तलाल मुरारका आदि देशभक्तों की चिरस्मरणीय स्तुत्य देश-सेवा पर मारवाड़ी-समाज को किसी से कम अभिमान है ? किस अशिक्षित समाज के इतने सपूत देश के लिए त्यागी बने हैं ? क्या इन स्वार्थत्यागियों की सेवा का कुछ भी मूल्य नहीं है ? आप अविद्यान्धकार-पूर्ण समाज से और अधिक क्या आशा करती हैं ? आपने अन्य जातियों को क्यों ऐसी सलाह दी है कि वे मारवाड़ियों को सामाजिक बहिष्कार का दण्ड दें ? क्या अहिंसात्मक असहयोग के सिद्धान्तों में ऐसा कहा गया है कि सहयोगियों के हाथ का छुआ जल न पीना चाहिए ? कृपा करके सोच-समझकर अपील किया कीजिए और मेरी यही प्रार्थना है कि अब से मारवाड़ियों को शिक्षित बनाने के लिए उत्साहित करने की चेष्टा करें। शिक्षित होने पर ही उनसे देश का यथेष्ट उपकार होगा।

नये चर्खे का आविष्कार

मद्रास से निकलनेवाले The wealth of India नामक पत्र में गुजरानवाला-निवासी मिष्टर दीवान चण्डीदास चोपड़ा बी० ए० ने अपने नये ढंग के चर्खे के सम्बन्ध में लिखा है कि "इससे एक बार में दस, बीस, तीस या इससे भी बेशी सूत कातकर निकाले जा सकते हैं। आजकल स्त्रियाँ जिस रीति से चर्खे कातती हैं, उतने समय में आठ-दस आने रोज हासिल हो सकते हैं। आजकल की मजदूरी के हिसाब से यह मशीन दस-पन्द्रह रुपये रोज पैदा कर सकती है। करघे के कारखानेवालों के लिए यह बड़ा ही लाभदायक है ! इसकी बनावट इतनी साधारण और सुगम है कि जो कोई चाहे मुझसे, इसका चित्र मँगाकर तदनुसार एक मामूली बढ़ई से बनवा ले। चित्र चाहनेवालों को अपने पत्र के साथ पेड लिफाफे पर अपना साफ पता लिख भेजना चाहिए।"

बनारस के गवर्नमेण्ट सेण्ट्रल वीविङ्ग इन्सटिच्यूट में भी एक नये ढंग का चर्खा निकला है। किन्तु उसका मूल्य १५) इतना अधिक है कि सर्वसाधारण उससे लाभ नहीं उठा सकते। उसमें चार तकुए हैं। आसानी से तेज चलता है। सूत काफी निकलते हैं। इसी तरह मैसूर के एक प्रोफेसर ने भी नये ढंग का चर्खा ईजाद किया है। पुनः बंगाल के एक ग्रेजुएट ने भी नये ढंग के चर्खे की सूचना अँगरेजी-पत्रों में छपवाई थी। किन्तु उक्त दीवान चण्डीदास के चर्खे में उपर्युक्त चर्खों से कुछ अधिक विशेषता जान पड़ती है। पाँच, दस, पन्द्रह, बीस के चर्खे से कुछ प्रयोजन नहीं है। चार पैसे का टिकट खर्च करके वही चर्खा-चित्र मँगवाकर बनवा लीजिए।

विना टाइप के अखबार छपेंगे !

अखिल संसार-मुद्रक-काँगरेस में मिष्टर विलियम गैम्बल ने यह बतलाया है कि टाइपों की छपाई अब उठ जानेवाली है। उन्होंने कहा है कि तीन आविष्कर्त्ता इस कार्य्य की सिद्धि के लिए उद्योग कर रहे हैं। फोटोग्राफ के तौर पर अब छपाई का काम होगा। छापे की मशीन टाइप-राइटर से बड़ी न होगी। यदि वह मशीन तैयार हो गई, तो टाइप

ढालने के कारखाने बन्द ही हो जायँगे। एक कोठरी में ही अच्छा-सा प्रेस रह सकेगा। कम्पोजीटरों की कुछ भी जरूरत न रहेगी। उसी मशीन में लीथो और हर तरह के चित्र भी छपेंगे! अब कुछ दिनों में समाचार-पत्रों के कार्यालयों में वह मशीन बिना खटपट के, चुपचाप, तेजी से काम करती दिखाई देगी। तारीफ तो यह कि वह बायस्कोप के फिल्म की तरह तेजी से काम करेगी! मालूम होता है, अब आदमी की जगह पर सब काम मशीन ही करेगा!

बनावटी फूलों का व्यवसाय

अर्जेण्टिना (दक्षिणी अमेरिका) में पहले बीस वर्ष से अधिक समय तक बनावटी फूलों का व्यापार चलता रहा। आज से कुछ ही दिनों पहले यह व्यवसाय वहाँ बड़ी उन्नत अवस्था में था। इस समय उस देश को इस व्यवसाय से ४४००० पौण्ड की वार्षिक आय है। वहाँ के व्यवसायियों का यही अनुमान है। घर के कमरे और पहनने के कपड़े उन्हीं फूलों से सजाये जाते हैं। वैवाहिक और धार्मिक उत्सवों में उन्हीं फूलों से काम लिया जाता है। जो जैसा फूल बनवाना चाहता है, वैसा आर्डर देकर बनवा लेता है। अनेक कन्या-पाठशालाओं में पुष्प-रचना की शिक्षा दी जाती है। घर-घर की स्त्रियाँ भी फूल बनाकर बेचती हैं। फूलों के बनाने का सारा सामान यूरोप से आता है। अच्छी-अच्छी आवश्यक वस्तुएँ अधिकतर फ्रांस से आती हैं। रेशम, मखमल, फलालैन और सुनहरी पत्तियाँ आदि कई चीजों से फूल बनाये जाते हैं। भारत तो वसन्त का लीलागार है, यहाँ यह व्यवसाय नहीं चल सकता। हाँ, स्त्रियों को अपना शरीर और शयनागार सुसज्जित करने के लिए यह कला अवश्य सीखनी चाहिए।

—मासिक 'मारवाड़ी-सुधार' (आरा); वर्ष १, अङ्क १०,
पौष-माघ, १९७८ वि०, सन् १९२१ ई०

*

वसन्त का स्वागत

माघ की श्रीपंचमी वसन्त के शुभागमन की सूचना दे गई। उस दिन से हवा का अल्हड़पन शुरू हो गया। पास ही के आम्र-कानन से वसन्त-बसीठी मीठी-मीठी तान सुनाने लगी। सरसों के पीले-पीले रसीले छबीले फूलों की भीनी-भीनी महक से हरित-वसना वसुन्धरा पर प्रकृति देवी का लीलाधाम गमक उठा। चाँदनी भी आसमान को चन्दन से पोत गई। चन्द्रमा भी दिगङ्गनाओं के दर्पण की भाँति सुशोभित होने लगा। एक दिन पल्लवांकुर-पुलकित वृक्ष की शाखा पर बैठकर प्रेमी पपीहा निराले ढंग से कुहुक उठा—'पी कहाँ ?'

सुबह का वक्त था। तड़के की मीठी नींद लगी थी। पपीहे की मधुर-मधुर रट ने नींद उचटा दी। आँखों का सुख जाता रहा। कानों का सुख सरसाने लगा। पपीहा भी अमृत बरसाने लगा। आनन्द से हृदय थिरकने लगा। प्राणों में पुलकावली छा गई।

अनायास अन्तरात्मा ने पुकारकर कहा--आओ, आओ, प्यारे वसन्त ! आओ प्रजारंजक ऋतुराज ! आओ। कुसुम-किरीटी ! आओ। सुमनशर-सखे ! किन्तु, हाँ, हाँ, सँभलकर आना, मचलकर नहीं। सबल होकर आना, निर्बल होकर नहीं। सफल होने आना, विफल होने नहीं। अचल होकर आना, चपल होकर नहीं ! सकल बनकर आना, विकल बनकर नहीं। सजल बनकर आना, अनल बनकर नहीं। कुशल बनकर आना, खलल बनकर नहीं। सरल बनकर आना, गरल बनकर नहीं। असल बनकर आना, नकल बनकर नहीं। आशा लेकर आना, निराशा लेकर नहीं। सन्तोष के साथ आना, रोष के साथ नहीं। तृप्ति के साथ आना, तृषा के साथ नहीं।

यदि नये ढंग से आओगे, तो पछताओगे। यदि मदमस्ती में लटकते-भटकते आओगे, तो बेकार अपने मुँह की खाओगे; क्योंकि पतझड़ ने अपनी उद्दण्डता और प्रचण्डता को अखण्डता दे रक्खी है। अन्धाधुन्ध अन्धड़ ने पेड़ों को पत्र-हीन कर डाला है। प्रकृति-माता का मुखड़ा उदास है। हेमन्त का अत्यन्त हिमत्रास है। इसलिए होश में होकर आना, जोश में होकर नहीं। हाँ, हाँ, आओ, ठिठक क्यों गये ? तुम्हारे स्वागत के लिए सब तैयार बैठे हैं ! झट से आकर उनकी आशा-वल्लरी पर अपनी विमल विभूति बरसा दो।

तीर्थ-यात्रियों का स्वागत !

वसन्त-स्वागत के पूर्व ही तीर्थ-यात्रियों का स्वागत होना चाहिए था। क्योंकि वे वसन्त को निमंत्रित करने के लिए तीर्थाटन में प्रवृत्त हुए हैं। उधर वसन्त ने उनका निमंत्रण स्वीकार किया, इधर पतझड़ ने उनका भौतिक शरीर गिरफ्तार किया। किन्तु सर्वशक्तिमान् ने उनका आह्वान अंगीकार किया। सरकार ने उन्हें गुनहगार कहा, संसार ने इसे अत्याचार कहा। वे जाकर जेलों में जंजीर का मंजीर बजाने लगे और सरकार असमंजस में पड़कर सिर खुजलाने लगी।

अभ्युदय, प्रताप, कर्मवीर, राजस्थान-केसरी, शक्ति, मर्यादा, स्वतंत्र, भारतमित्र, विश्वमित्र, भविष्य, भारतबन्धु आदि के सुयोग्य, साहसी एवं देशभक्त सम्पादकों की गिरफ्तारी होने से हिन्दी-संसार भीमान्धकारमय हो गया। इतना ही नहीं, बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन, पण्डित रामनरेश त्रिपाठी, प्रोफेसर रामदास गौड़ आदि हिन्दी-साहित्य के महारथी भी बन्धन में पड़ गये। किन्तु नहीं, उसे बन्धन कहना अनुचित है। उसी बन्धन ने जागृति की ज्वाला में ईंधन का काम किया है। वही बन्धन माता को बन्धनमुक्त करेगा ! इसीलिए मैं उनको बधाई देता हूँ।

लगे हाथों मारवाड़ी-समाज के तीर्थयात्रियों का भी स्वागत कर लेना उचित है। कलकत्ते के सेठ पद्मराजजी जैन, बाबू वसन्तलाल मुरारका, बाबू नागरमल मोदी और बम्बई के आदर्श असहयोगी बाबू विश्वेश्वरलालजी बिड़ला तथा राजस्थान के कुँवर चाँदकरण शारदा आदि मारवाड़ी-वंश-उजागरों को विपुल बधाई दे चुकने के बाद, मैं एक कवि के शब्दों में सरकार को बधाई देता हूँ; क्योंकि उसने इस वाक्य को सार्थक करने की कृपा की है—'ईश्वर जो करता है, अच्छा ही करता है।'

सोने न देगी क़ौम तुझे भी अमन की नींद,
चाहे तू कर दे जेल में सारा जहान बन्द।
हिन्दोस्ताँ तो जेल से पहले भी कम न था,
अब जेल में ही कर दिया हिन्दोस्तान बन्द॥

विदेशी त्याग, स्वदेशी ग्रहण

मारवाड़ी-अग्रवाल महासभा के गत तीसरे महाधिवेशन (कलकत्ता) में जब महासभा की ओर से स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार के महत्त्व पर जोर दिया गया और समस्त समाज के स्त्री-पुरुषों से विदेशी वस्त्र-त्याग करने का अनुरोध किया गया, तब मैंने देखा कि समूचा विशाल पंडाल तालियों की गड़गड़ाहट से गूंज उठा। हाथ उठानेवालों ने देखा-देखी हाथ भी उठा दिया। मगर तहे-दिल से कितने भाइयों ने उठाया, यह तो परमात्मा के जानने की बात है, मैं कुछ नहीं कह सकता। हाँ, इतना जरूर कह सकता हूँ कि जितने हाथ उठे थे, उतने हाथों में से बहुत कम ऐसे हाथ हैं, जो महासभा के उस प्रस्ताव को सफल बनाने में हाथ बटाते हों। क्या महासभा ने नहीं कहा था कि 'व्यापार में स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार की ओर ही विशेष लक्ष्य रखें और ऐसी किसी भी विदेशी वस्तु को देश में मँगाने के कारण न बनें कि जिससे देश को कुछ भी हानि होने की सम्भावना हो'। किन्तु आप महासभा की बात क्यों मानने लगे ? आप तो बनठनकर मण्डप में जाकर तालियाँ गड़गड़ा आये। बस, हो गई महासभा ? प्यारे भाई मेरे ! इतना भी नहीं समझ सके कि महासभा हमारी जाति-माता की प्रत्यक्ष प्रतिमा है, इस मातृ-मन्दिर में शपथ लेकर भूल जाना अपनी जननी को धोखा देना होगा ? जब महासभा के लिए आपके हृदय में इतना भी सम्मान नहीं है, तब आप व्यर्थ अपने तुच्छ शरीर को मारवाड़ी-समाज का एक व्यक्ति कहकर क्यों समाज को कलंकित कर रहे हैं ? क्या अब से विदेशी माल न मँगाइएगा, तो आपका रोजगार ही चौपट हो जायगा ? क्या आपकी व्यवसाय-बुद्धि की यहीं इति-श्री हो गई ? क्या आप स्वदेशी कारोबार की तरक्की करने के योग्य रहे ही नहीं ? क्या स्वदेशी के व्यापार से आपका खर्च नहीं चल सकता ? तो आप अपना खर्च घटाते क्यों नहीं ? आप आलसी बनकर पैसा पैदा करने की आदत छोड़ते क्यों नहीं ? अपने स्वार्थ में देश का स्वार्थ मिलाते क्यों नहीं ? उद्योगी बनकर सन्तोष योग्य पैसे कमाते क्यों नहीं ?

भाइयो ! मैं अपनी इन बातों का जवाब आपसे नहीं माँगता। मैं केवल आपसे यही प्रार्थना करता हूँ कि महासभा के उक्त प्रस्ताव और अनुरोध पर ध्यानपूर्वक विचार कीजिए, बल्कि पहले अपने देश की दुर्दशा पर विचार कीजिए। विचार करते हुए यह न भूलिएगा कि 'देश की उन्नति स्वदेशी व्यापार की उन्नति पर आश्रित है'। फिर अपनी अन्तरात्मा से सीधी तरह पूछिए कि वह क्या आज्ञा देती है। यदि उसकी आज्ञा भी महासभा की आज्ञा के समान ही हो, तो आप अपना कर्त्तव्य स्वयं समझ लीजिए। यदि स्वेच्छापूर्वक न समझिएगा, तो अब विवश होकर बरबस समझना ही पड़ेगा। बुरा न मानिए, समय कहता है, मैं नहीं।

'स्वदेश' की सहायता कीजिए

गोरखपुर के साहसी सहयोगी 'स्वदेश' ने स्वदेश की जो सराहनीय सेवा की है, वह किसी समय भूलने योग्य नहीं है। उसके अध्यवसायी एवं परमोत्साही प्रकाशक तथा सम्पादक पण्डित दशरथप्रसादजी द्विवेदी ने किस निर्भीकता और योग्यता से उसका संचालन और सम्पादन किया है, वह भी कभी भूलने योग्य नहीं है। दुःख की बात है कि वही 'स्वदेश' द्रव्याभाव से बन्द हो गया है। एक तो राष्ट्रीय साप्ताहिकों पर दमन-चक्र चल ही रहा है, अब यह दूसरा चक्र न जाने कहाँ से कैसे चल गया ! 'स्वदेश' के आर्थिक कष्टों का संवाद बीच-बीच में भी कई बार पीड़ा पहुँचाता रहा, पर इस बार के असह्य कष्ट ने उसे ग्रस्त नहीं, अस्त ही करके दम लिया ?

गोरखपुर नगर में और जिले में अनेक धनिक मारवाड़ी हैं, पर मालूम होता है, उनके दिल में स्वदेश के लिए कुछ दर्द नहीं है, कुछ ममता नहीं है। यह खेद की बात है। होना चाहिए था। मैं 'स्वदेश' के लिए सच्ची सहानभूति रखता हूँ। इसलिए मैं अपने मारवाड़ी-भाइयों से उसकी सहायता के लिए प्रार्थना करता हूँ। यदि द्विवेदीजी कलकत्ता के मारवाड़ी-समाज में पहुँच जायँ, तो विश्वास है कि उन्हें सफलता अवश्य मिलेगी।

दो पुरानी प्रसिद्ध पत्रिकाएँ

'सरस्वती' और 'मर्यादा' का नाम ही लेना काफी है, हिन्दी-भाषियों से उनके परिचय की विशेष आवश्यकता नहीं है। उनके रूप-रङ्ग और विषय की उत्तमता पर कुछ लिखना ही गुड़ को मीठा कहना है। 'सरस्वती' की, जनवरी, १९२२ ई० (माघ १९७८) की, संख्या विशेषांक के रूप में निकली है। मूल्य १) है, पर चित्रों और लेखों की ओर देखने पर १) कुछ नहीं के बराबर है। उसमें (१) 'जर्मनी का धनकुबेर ह्यूगो स्टिनीज', (२) 'प्राचीन भारत की शिक्षा-प्रणाली', (३) 'जापान में सूत के कारखाने'; ये तीनों लेख मारवाड़ी भाइयों के पढ़ने योग्य हैं। सुन्दर चित्रों से सुसज्जित और अमूल्य लेखों से विभूषित वह विशेषांक मँगाकर प्रत्येक साहित्य-प्रेमी को अपने पास रखना चाहिए। 'मर्यादा' अब काशी के ज्ञानमण्डल-कार्यालय से विशेष सजधज कर निकलने लगी है। सम्पादक हुए हैं श्रीसम्पूर्णानन्दजी बी० एस्-सी०। किन्तु देश की मर्यादा रखने के लिए 'मर्यादा' के भूतपूर्व और वर्त्तमान—दोनों सम्पादक तीर्थस्थान में तप कर रहे हैं। खैर, बाबू शिवप्रसाद गुप्त के समान लक्ष्मीवान् और सरस्वती-पुत्र प्रकाशक को पाकर 'मर्यादा' की काया पलट गई, यह बड़े हर्ष और सन्तोष की बात है। उसके दो अङ्क मेरे सामने हैं। दोनों आप-आपके अच्छे हैं। प्रथम अङ्क में 'जगाने दो' शीर्षक कविता बड़ी भावमयी और हृदय-ग्राहिणी है। दूसरे अङ्क में 'जोधपुर में रावना का मेला' मारवाड़ी-भाइयों के पढ़ने योग्य है।

—मासिक 'मारवाड़ी-सुधार' (आरा); वर्ष १, अङ्क १०-११; पौष-माघ, १९७८ वि०, १९२१ ई०

*

प्रथम अध्याय के अन्त में शंख-ध्वनि

इसी होली के अङ्क के साथ 'मारवाड़ी-सुधार' के जीवन का प्रथम अध्याय समाप्त होता है। प्रथम अध्याय सुनकर आप कितना प्रसन्न हुए, यह मालूम नहीं। किन्तु जिस जगदाधार की कृपा से 'सुधार' का अवतार हुआ था, वह मेरी तुच्छातितुच्छ सेवा से प्रसन्न हुआ है; क्योंकि पुनः नवीन शक्ति और उत्साह के साथ आगे बढ़ने के लिए उसीने प्रेरणा की है। इसलिए मैं अनुमान करता हूँ कि जब वह जगत् के साक्षी प्रभुवर प्रसन्न हैं, तब आपलोग भी अवश्य ही मेरी अत्यन्त साधारण सेवा से प्रसन्न होंगे; क्योंकि प्रभुवर से आपलोग कभी भिन्न नहीं हैं। अतएव मैं केवल प्रभुवर के पद-पद्मों में ही धन्यवाद और कृतज्ञता की कुसुमाञ्जलि अर्पित करता हूँ। विश्वास है, मेरा धन्यवाद और कृतज्ञता-प्रकाश उसी ब्रह्माण्ड-व्यापक प्रभुवर के द्वारा आपलोगों को प्राप्त होगा। क्योंकि 'एकहिं साधे सब सधे, सब साधे सब जाय!'

आभार स्वीकार !

आज मेरी सेवा के निश्चित समय का वर्षान्त है। आनन्द की बात है कि मेरा वर्षान्त वसन्त से आक्रान्त है। तो भी वह श्रान्त नहीं है; क्योंकि रक्षक रमाकान्त है। जो हो, मैं सबसे पहले सहृदय हिन्दी-लेखकों, सुकवियों तथा माननीय पत्र-सम्पादकों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ—जिन्होंने अपनी सिद्धहस्त लेखनियों के पवित्र प्रसाद से मुझे प्रमुदित और उपकृत किया है। आशा है, मेरा आगामी नववर्ष-वृक्ष उनके वचन-विहङ्गमों के कलकूजन से सजीव बना रहेगा।

—मासिक 'मारवाड़ी-सुधार' (आरा); वर्ष १, अङ्क १२; फाल्गुन, १९७८ वि०, १९२२ ई०

*

नव वर्ष

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्त्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

सच्चिदानन्द आनन्दकन्द गोविन्द मुकुन्द व्रजचन्द जन-मन-चन्दन कंस-निकन्दन की कृपा से 'मारवाड़ी-सुधार' का पहला साल सानन्द समाप्त हो गया। यद्यपि गत वर्ष का भाग्याकाश भी घन-घटा से घिरा हुआ था, तथापि उसमें कभी-कभी आशा की बिजली चमक जाती थीं। मालूम होता था मानो पीताम्बर-धर घनश्याम स्वयं प्रकट हो-होकर निराशा के अन्धकार में आशा का आलोक दिखाकर, पथ-प्रदर्शन का कार्य्य कर रहे हैं।

उस विघ्न-घन-घटा में आशा-चंचला की छटा देख-देखकर प्रकाशक और व्यवस्थापक सदा श्यामसुन्दर को कृतज्ञ हृदय से, स्मरण करते रहे—

कन्दर्प अगनित अमित छवि नव नील नीरद सुन्दरं।
पट पीत मानहुँ तडित रुचि-शुचि नौमि जनक-सुता-वरं।

सचमुच जो कष्ट और कठिनाइयों में भी मुरली-मनोहर मदन-मोहन की मधुर मनोज्ञ मूर्त्ति का ध्यान धारण किये रहता है—सफलता उसकी वशवर्त्तिनी हो जाती है, विजयश्री उसकी छाया-सी बनी फिरती है और सुकीर्त्ति उसकी किङ्करी हो जाती है। प्रथम वर्ष का भाग्याकाश मेघाच्छन्न देखकर मैं भी कई बार हताश हुआ। किन्तु, कभी-कभी वही आशा की विद्युल्लता, मुझे भी साहस प्रदान करती रही। प्रकाशक और व्यवस्थापक की तरह, मैं भी कठिनाइयों की घोर घटा में घनश्याम की छबीली छटा देखा करता था और जब-जब दामिनी दमकती थी, तब-तब यही कहा करता था कि—

कनकनिकषभासा सीतयालिङ्गिताङ्गो
नवकुवलयदाम श्यामवर्णाभिरामः।
अभिनव इव विद्युन्मण्डितो मेघखण्डः
शमयतु मम तापं सर्वतो रामचन्द्रः॥

इसी प्रकार, राम-राम करते, पहला साल निर्विघ्न बीत गया। विपत्तियों का बादल तो जरूर घिरा, मगर भगवत्कृपा से अचानक वज्र नहीं गिरा। प्रथम वर्ष का अन्त होते-होते भाग्याकाश स्वच्छ हो चला। जहाँ घटाएँ घिरी थीं और बिजली कौंधती थी, वहाँ शीतल शुभ्र चाँदनी छिटक गई। निर्मलता और धवलता, प्रसन्नता और मनोहरता हर ओर दृष्टिगत होने लगीं। किन्तु प्रथम वर्ष के भाग्याकाश का वह जितनी कुछ विभूति एवं कान्ति थी, सब देखते ही देखते काफूर हो गई। एकाएक अनभ्र वज्रपात हो गया। प्रकाशक और व्यवस्थापक के नव-विवाहित अनुज का अकस्मात् शरीरपात हो गया! एक तो स्नेह-भाजन छोटा भाई, दूसरे उसकी चिर-प्रसन्नता-विकसित अङ्ग-कान्ति और सदाचारमयी युवावस्था, तीसरे उसकी हतभागिनी बाल-विधवा तथा असामयिक मृत्यु! सर्वथा असह्य! अत्यन्त शोकप्रद! महादुःखदायक! अतिशय अधीरता! चारों ओर केवल अन्धकार! केवल दारुण-करुण क्रन्दन! केवल पीड़ा और मूर्च्छा! केवल अशान्तिमयी यम-यन्त्रणा!

जिस प्रकार भीषण वज्राघात से उदयाचल के शिखर के चूर्ण हो जाने पर सूर्योदय में आशातीत विलम्ब हो सकता है, उसी प्रकार विपत्ति-वज्राहत प्रकाशक के मर्माहत होने से 'मारवाड़ी-सुधार' के प्रकाशन में भी इस वर्ष अत्यन्त विलम्ब हो गया। इसके लिए किसको दोष दिया जाय, समझ में नहीं आता। दैव का दोष देना, काल और कर्म को कुत्सित कहना अथवा ईश्वर पर आक्षेप करना, सब अनुचित और अनर्थकारी कार्य्य हैं। यह परिवर्त्तनशील संसार उस जगन्नाटक सूत्रधर का अद्भुत

लीला-धाम है। यह जल-बुद्बुद के समान क्षणभंगुर और स्वप्नवत् मिथ्या भ्रममात्र है। यही धारणा धैर्य्य धारण करानेवाली ह।

विलम्ब और क्षमा-प्रार्थना का कारण विचारणीय है। हानि शोचनीय है और अवस्था दयनीय है। तो भी कर्त्तव्य कमनीय और उद्देश्य रमणीय है। यही सोच-समझकर दूसरे वर्ष का यह पहला अङ्क पुनः सोत्साह प्रकाशित किया जाता है। प्रथम वर्ष में इस पत्र ने अपने समाज की जो कुछ भी सेवा की है, उसे देखकर बहुत-से सहृदय समाज-हितैषियों ने हार्दिक सन्तोष प्रकट करने की उदारता दिखाई है। उससे मुझे कुछ प्रोत्साहन तो अवश्य प्राप्त हुआ है, पर पूर्ण सन्तोष नहीं; क्योंकि मैं अपनी तुच्छातितुच्छ सेवा को उतना महत्त्वपूर्ण और अभिनन्दनीय नहीं समझता, जितना उदाराशय सज्जनों ने समझा है। जो हो, प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए मैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। विश्वास है, भविष्य में भी वे महाशय मेरा साहस-संवर्द्धन करते रहेंगे।

इस पत्र का जन्म विशेषतः इसीलिए हुआ है कि मारवाड़ी-समाज में सुशिक्षा और सत्साहित्य का प्रचार हो तथा समाज-सुधार के साथ-साथ अभिनव जागृति का विस्तार हो। गत वर्ष के प्रयत्न से इसने कहाँ तक अपना जन्म सार्थक किया है, सो तो स्वयं इसके पाठक ही अनुमान कर लें। यह पत्र, मारवाड़ी-समाज को हिन्दी-साहित्य-संसार की ओर, कितनी दूर तक, खींच ले जा सकता है और स्वदेश तथा स्वजाति के प्रति कर्त्तव्य-पालन करने का आदर्श मार्ग सुझाने में मारवाड़ियों की दृष्टि को कितना परिमार्जित बना सकता है, यह सब वही अनुमान कर सकता है, जो साल-भर तक ध्यान-पूर्वक मेरी सेवा-प्रणाली का निरीक्षण कर चुका है। साल भर के लगातार अनुभव से मैंने जो लाभ उठाया है, उससे अपने पाठकों को भी लाभान्वित करने का उद्योग करूँगा। अब तक मेरी सेवा-प्रणाली में जो त्रुटियाँ रही हैं, सिंहावलोकन के बाद, वे क्रमशः मेरे दृष्टि-पथ पर आरूढ़ होती जाती हैं। आशा है, उनका निवारण करने में भी क्रमशः सफलमनोरथ होता जाऊँगा। किन्तु, ऐसा तो तबतक नहीं हो सकता, जबतक मारवाड़ी-समाज के सुधार-प्रिय सुलेखक मुझे करावलम्बन प्रदान न करेंगे। मारवाड़ी-मसाज के साथ सच्ची सहानुभूति रखनेवाले अन्य लेखकों ने जिस प्रकार आज तक उदारतापूर्वक मेरी सहायता की है, उसी प्रकार यदि वे कृपालु बने रहेंगे, तो निश्चय है कि मारवाड़ी-समाज के लेखकों की दृष्टि चकित होकर इधर आकृष्ट होगी और वे कर्त्तव्य-पथ पर अग्रसर होने के योग्य बन जायँगे।

जिन विद्वान् लेखकों और कुशल कवियों की सराहनीय सहयोगिता का सदुपयोग करके मैं सफलता देवी के मन्दिर की ओर दो-चार कदम आगे बढ़ सका हूँ, उनसे तो यही कहना चाहता हूँ कि 'प्रति उपकार करौं का तोरा, सनमुख ह्वै न सकत मन मोरा।'

साथ-ही-साथ इतना और भी कहना है कि अब तक जैसी कृपा बनी रही है, वैसी ही आगे भी बनी रहे। यद्यपि मैं उस कृपा का उपयुक्त पात्र नहीं हूँ, तथापि

जग-जीवन-दाता जलधर कभी ऊसर और उर्वर का खयाल नहीं करता—'नोपसंहरते ज्योत्स्नां चन्द्रश्चाण्डालवेश्मनि ।'

मैं उन उदार-हृदय सम्पादकों और विद्वद्वरों का अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने अपनी समीचीन सम्मतियों के सहारे मुझे कार्यक्षेत्र में दृढ़तापूर्वक डटे रहने की प्रेरणा दी है। मैं उनकी गुणग्राहकता के लिए उन्हें धन्यवाद देने योग्य भी नहीं हूँ। मैं आशा करता हूँ कि इस वर्ष भी वे मुझपर कृपा करने में कुछ कोताही न करेंगे।

इस वर्ष में कुछ प्रतिज्ञा करना नहीं चाहता। जो कुछ संकल्प करना है, सर्वान्तर्यामी भगवान के आगे निवेदन कर दिया है। वही अघटितघटन सारे संकल्पों को पूरा करेगा। वही भक्त-प्रण-पालक प्रतिज्ञा पूर्ण करने की यथेष्टशक्ति देगा। सच्चे हृदय से ईश्वर का भरोसा रखकर जो वचनबद्ध होता है, वही सफलता के दुर्गम पथ पर आगे बढ़ने को कटिबद्ध होता है। अतएव, अन्त में, मैं यहाँ केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि—

प्रभु की कृपा निहोरिये, करि दृढ़ आस विसास।
सकल सिद्धि सुख आइ ढिग, सन्तत करत निवास॥
मुक्ति लहत जेहि जपत ही साधक सिद्ध सुजान।
सोइ सब काज सँवारिहैं कृपासिन्धु भगवान॥

विजयादशमी का महत्त्व

श्रावणी पूर्णिमा पूज्यपाद ब्राह्मणों का जातीय त्यौहार है। दीपावली वैश्यों का जातीय त्यौहार है। सेवा-परायण शूद्रों का जातीय त्यौहार है होली। रणधीर वीर क्षत्रियों का जातीय त्यौहार विजयादशमी है। त्यौहारों का ऐतिहासिक रहस्य बड़ा ओजपूर्ण, महत्त्वपूर्ण और आदर्शपूर्ण है। विजयादशमी का गौरव वीर-हृदयों का प्यारा अतिथि है। प्राचीन भारतवर्ष में विजया के दिन शस्त्रपूजा होती थी। आज ही क्षात्र तेज एक नवीन संजीवनी शक्ति से अनुप्राणित होता था। आज ही समूचा भरतखण्ड एक बार शस्त्रों की मधुर झनकार से गूंज उठता था। किन्तु अब तो न वह राम ही हैं और न वह अयोध्या ही है। जिस दिन से सरकार ने हथियार के अधिकार पर कुठार का प्रहार किया, उसी दिन से इस त्यौहार का संहार हुआ! भगवन्! भारत को वह सच्ची विजयादशमी फिर कब नसीब होगी? जिस भारतवर्ष के पवित्र मण्डल के वायुमण्डल में तुम्हारी गीता के ये वीरता-व्यंजक शब्द आज तक गूंज रहे हैं कि 'ऐ शत्रु-हन्ता अर्जुन! कायरता तुम्हें शोभा नहीं देती, दिल की कमजोरी छोड़कर उठ खड़े हो, अनायास ही स्वर्ग-द्वार को खोल देनेवाले ऐसे युद्ध केवल भाग्यवान् क्षत्रिय को ही प्राप्त होते हैं'। उसी भारतवर्ष में कब तक कायरता का (और कायरता पर क्रूरता का!) राज्य रहेगा? भगवन्! भारत को भूल गये क्या? तुमने भी तो अहंकारी लंकाधीश द्वारा हरी गई हुई अपनी गृहलक्ष्मी को लौटा लाने के लिए आज ही के दिन विजय-यात्रा की थी? क्या वैसी ही विजय-यात्रा से भारत की इस मृत-प्राय विजयादशमी को फिर भी उज्जीवित नहीं करोगे?

इन्दौर[1] में महासभा का चतुर्थ महोत्सव

स्वागताध्यक्ष का भाषण शिक्षा और समाज-सुधार तथा व्यापार पर कुछ धुँधला प्रकाश डालता है। विचार सरल हैं, गम्भीर नहीं। भाव सच्चे हैं, चमत्कारपूर्ण नहीं। उसमें इन्दौर नगर या राज्य के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक और मनोरंजक चर्चा रहनी चाहती थी। मध्यभारत में महासभा के उद्देश्यों का कैसा प्रचार हो सका है और कैसे हो सकता है, यह भी उसमें बतलाना चाहिए था, तो भी उस भाषण से विनय और जाति-प्रेम प्रकट होता है।

प्रधानाध्यक्ष के भाषण में सबसे महत्त्वपूर्ण बात है 'मारवाड़ी-विश्वविद्यालय'। फिर, महासभा के संगठन के विषय में भी उन्होंने बड़ा लाभदायक और अनुकरणीय विचार प्रकट किया है। उन्होंने संगठन-प्रणाली की योजना बड़ी अच्छी बतलाई है। उसके अनुसार कार्य होना चाहिए, शायद हो भी रहा है।

वक्ताओं के भाषण में बाबू मदनलाल जालान, बाबू बैजनाथप्रसाद देवड़ा, बाबू कालीप्रसाद खेतान, बाबू तुलसीराम सरावगी और जौहरीलालजी के भाषण बड़े जोशीले और भावमय हुए थे। श्रोताओं पर अच्छा प्रभाव पड़ा। किन्तु प्रस्तावों को कार्य-रूप में परिणत करने का उपाय नहीं सोचा गया। प्रचार-कार्य एक अच्छा उपाय है। वह हो ही रहा है। परन्तु यदि पैम्फलेट या ट्रैक्ट (पुस्तिकाएँ) छपवाकर, मोटो-प्लेट या मोटो-कार्ड छपवाकर और कलेण्डरों तथा तास के पत्तों पर प्रस्ताव-सम्बन्धी उपदेश-वाक्य छपवाकर महासभा उनका प्रचार कराती, तो और भी अधिक लाभ की सम्भावना थी। प्रचार और संगठन के कामों में विशेष सफलता पाने के लिए महासभा को चाहिए कि शीघ्र एक साप्ताहिक या दैनिक पत्र निकाले। महासभा के पास रुपये भी हैं, अच्छे-अच्छे कार्यकर्ता भी हैं, तो फिर 'अब विलम्ब केहि कारण कीजै ?'

महासभा में इस बार कुल ३२ प्रस्ताव पास हुए हैं। उनमें सत्रहवाँ और उनतीसवाँ प्रस्ताव विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। सत्रहवें में कहा गया है कि 'सप्ताह में या पक्ष में एक दिन सब कामों से निवृत्ति पाकर देश और जाति के हितकर कामों में प्रवृत्त रहना चाहिए।' उनतीसवें में कहा गया है कि 'महाराज अग्रसेन का स्मारक-

१. इस अधिवेशन में 'मारवाड़ी-सुधार' के संचालक श्रीहरद्वारप्रसाद जालान के साथ मैं भी इन्दौर गया था। वहाँ सेठ हुकुमचन्द के पाषाण-निर्मित हाथी-महल में प्रतिनिधि-निवास था। हमलोगों के साथ प्रसिद्ध पत्रकार पण्डित मातासेवक पाठक भी ठहरे थे। हमलोग उक्त सेठजी से मिलने भी गये थे। संगमर्मर की कोठी में गंगाजमुनी के मखमली हिंडोले पर वे झूल रहे थे। जाठ-सा तगड़ा शरीर था। सिर पर लाल पगड़ी थी। गुलाबी रेशमी धोती और खुला बदन। कानों में रत्न के गोल लोलक लटक रहे थे। गले में हरे रंग के अण्डाकार हीरे का कण्ठा था। वे 'मारवाड़ी-सुधार' के संरक्षक थे। महासभा में इन्दौर-नरेश भी निमंत्रित हो पधारे थे। उस समय महाराज तुकोजीराव होलकर का वैभवपूर्ण राजसी ठाट-बाट देखने योग्य था।—ले०

स्वरूप एक सप्ताह (आश्विन-शुक्ल १ से ७ तक) नियमित रूप से संयम-व्रत पालन किया जाय।' दोनों प्रस्तावों में क्रमशः स्वदेशाभिमान और स्वजात्यभिमान की मात्रा अधिक है। जो भाई इन प्रस्तावों का पालन न करेंगे, उनसे किसी प्रस्ताव का पालन कभी हो ही नहीं सकता, यह ध्रुव सत्य है।

सोलहवें प्रस्ताव के अन्तिम खण्ड की भाषा मुझे खटकी है। वह अटपटी-सी है। सुनिए..... 'सब भाई मनसा-वाचा-कर्मणा गोवध को कतई बन्द कर दें।' बन्द कर दें या करा दें? फिर 'मनसा-वाचा-कर्मणा' का यहाँ क्या तात्पर्य है?

इन बातों के अलावा दो-चार बातें और भी उल्लेखनीय हैं। एक तो माननीय मालवीयजी और महात्माजी के सन्देश, दूसरी इन्दौर-नरेश का शुभागमन और तीसरी देशभक्त सेठ जमनालाल बजाज का व्याख्यान तथा चौथी अग्रसेन-चित्रोद्घाटन। मालवीयजी ने विदेशी वस्त्रों का व्यापार छोड़ देने का अनुरोध करते हुए शुद्ध स्वदेशी वस्त्र का व्यवहार करने पर जोर दिया था। महात्माजी ने देश का रोग और अकाल दूर करने के लिए विदेशी व्यवसाय और विदेशी व्यवहार छोड़कर चर्खे और खद्दर का प्रचार करने का आदेश दिया था। सेठजी ने बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ, युक्तिसंगत रीति से, ओजस्वी भाषा में राजनीतिक और सामाजिक दृष्टियों से स्वदेशी के प्रश्न पर विचार करते हुए—धार्मिक दृष्टि से स्वदेशी का महत्त्व खूब समझाकर सुश्रव्य व्याख्यान दिया था। तालियाँ तो खूब पिटी थीं और असंख्य हाथ भी उठे थे; पर उन उठे हुए हाथों में से कितने हाथों ने स्वदेशी के उद्धार में हाथ बँटाया है, कुछ मालूम नहीं। दूसरी बात और चौथी बातें ऐसी हैं, जिनसे महासभा की तो पूरी गौरव-वृद्धि होती ही है। इन्दौर के अधिवेशन पर भी सफलता की मुहर लग जाती है।

— मासिक 'मारवाड़ी-सुधार' (आरा); वर्ष २, अङ्क १; आश्विन, १९७९ वि०, १९२२ ई०

*

बिहार प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

उक्त सम्मेलन का चतुर्थ अधिवेशन गत ५ और ६ अक्तूबर (१९२ ई०) को छपरा में बड़े समारोह से हो गया। आरा-निवासी पंडित सकलनारायणजी शर्मा काव्य-व्याकरण-सांख्यतीर्थ-विद्याभूषण, प्रोफेसर, कलकत्ता-संस्कृत-महाविद्यालय, 'शिक्षा'-सम्पादक ने सभाध्यक्ष का आसन सुशोभित किया था। आपका भाषण स्थान-संकोचवश इस बार प्रकाशित न हो सका। भाषण गम्भीर है, ज्ञानवर्द्धक है, गवेषणापूर्ण है, उपयोगी और सारगर्भ है। सम्मेलन की सफलता का पहला कारण यही है।

दूसरा कारण है बिहार के सहृदय साहित्यानुरागियों का अपूर्व समागम। बिहार के मुखोज्ज्वलकारी नेता राजेन्द्रप्रसादजी एम्० ए०, एम्० एल०, हिन्दी-साहित्य-संसार के सुविख्यात महारथी पण्डित जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी, एम्० आर० ए० एस्०, भारत के गौरवालंकार साहित्याचार्य प्रोफेसर रामावतार शर्मा, एम्० ए०

त्यागमूर्त्ति प्रोफेसर कृपलानी, हिन्दी-संसार के सुपरिचित यशस्वी लेखक पण्डित ईश्वरी-प्रसादजी शर्मा (मनोरंजन-सम्पादक), सुप्रसिद्ध उपन्यास-लेखक बाबू ब्रजनन्दनसहाय, वकील, अभिनव-कलाकुशल मौलवी लतीफ हुसेन[1], बाबू जगतनारायण लाल एम्० ए०, बी० एल्०, बाबू देवकीप्रसाद सिंह एम्० ए०, बी० एल्०, 'देश' के सहकारी सम्पादक पण्डित पारसनाथ त्रिपाठी काव्यतीर्थ, बाबू कालिकाप्रसाद बी० ए०, बी० टी०, प्रोफेसर फूलदेवसहाय वर्मा एम्० ए०, बाबू शुकदेव सिंह, बाबू गोकर्ण सिंहजी और बाबू रामधारीप्रसाद 'विशारद' आदि साहित्यसेवियों का संगम-सम्मेलन के सौभाग्य और साफल्य का दूसरा कारण है। यही दूसरा कारण ऐसा है जो किसी तीसरे कारण की आवश्यकता नहीं रहने देता।

पहले और दूसरे कारण का सराहनीय संयोग ही सम्मेलन की सार्थकता का प्रतिपादक है। किन्तु तीसरे, चौथे और पांचवे कारण भी इस सम्मेलन के इतिहास में स्मरणीय और महत्त्वपूर्ण समझकर उल्लेख किये जायँगे। वे ये हैं – हिन्दी की प्राचीन हस्तलिपियों की प्रदर्शनी, 'भारतरमणी' और 'वीर अभिमन्यु' नामक प्रसिद्ध नाटकों का दर्शनीय अभिनय तथा 'शुद्ध हिन्दी-भाषा-भाषण' पर धुरन्धर विद्वानों के युक्तिपूर्ण व्याख्यान।

अब सभापति जी का परिचय भी सुन लीजिये। आप २२ वर्ष पुरानी प्रतिष्ठित संस्था नागरी प्रचारिणी सभा (आरा) के संस्थापक और संचालक हैं। पण्डितजी संस्कृत के मर्मवेत्ता विद्वान् और हिन्दी के लब्धख्याति लेखक हैं। उनकी योग्यता मेरे परिचयात्मक शब्दों की उपेक्षा नहीं करती। मेरे प्रशंसात्मक शब्द उसके पास तक पहुँचने में ही असमर्थ हैं। भाषण पढ़ लेने पर आप भी यह समझ सकने में असमर्थ हो जायँगे कि पण्डितजी अब तक भारतवर्षीय सम्मेलन के सभापति क्यों नहीं बनाये गये।

पंडित भवानीदयालजी की हिन्दी-सेवा

जिन लोगों ने 'प्रवासी भारतवासी', 'महात्मा गान्धी की जीवनी', 'सत्याग्रह का इतिहास', 'दक्षिण अफ्रिका में सत्याग्रह' और 'बोअर युद्ध का इतिहास' पढ़ा होगा, उनके लिए भवानीदयालजी का परिचय कोई नया विषय नहीं है। आप सपत्नीक सत्याग्रह-युद्ध में शामिल हुए थे। आप महात्माजी के अनन्य सेवकों और स्नेहपात्रों में से एक हैं। एक दृष्टि से तो आप उनकी दाहिनी भुजा हैं। सबसे बढ़कर सौभाग्य और गौरव का विषय यह है कि आप आरा (शाहाबाद) जिले के निवासी हैं। बिहार प्रदेश को आपपर अखण्ड गर्व होना चाहिए। आपकी आदर्श धर्मपत्नी श्रीमती जगरानी देवी भी आरा जिले की थीं। वह सत्याग्रही वीर महिला अब इस संसार में नहीं है। हाँ, उसीकी स्मृति में प्रकाशित 'हिन्दी' आज भी स्वदेश और विदेश में राष्ट्रभाषा की विजय-पताका उड़ा रही है। यद्यपि भवानीदयालजी की कुछ पुस्तकें सरस्वती-सदन (इन्दौर) से निकलकर हिन्दी-संसार में प्रचलित हो चुकी हैं और

1. वर्तमान श्रीललितकुमार सिंह 'नटवर'

उनके परिश्रम से विदेशों में हिन्दी-पुस्तकालय, हिन्दी सभा और हिन्दी प्रेस आदि भी खुल चुके हैं, तथापि उनकी हिन्दी-सेवा का सबसे ज्वलन्त प्रमाण यही है कि उन्हीं के उद्योग से विदेश-निवासी भारतीयों के हृदयों में हिन्दी-प्रेम और भारतीय भाव की लहरें लहरा रही हैं। समस्त हिन्दी-भाषी जनता को उनका उत्साह और साहस बढ़ाने की ओर ध्यान देना चाहिए।

बंगाल में बाढ़ का उपद्रव

बंगाल के किसी-न-किसी जिले में हर साल बाढ़ हाहाकार मचा ही देती है। अन्य प्रान्तों की बाढ़ चाहे बंगालियों के हृदय पर उतना प्रभाव न पैदा कर सकती हो; लेकिन बंगाल की बाढ़ तो उन्हें एक जबरदस्त आन्दोलन खड़ा कर देने का मौका दे ही देती है। उनका जातीयता में इतनी सजीवता है कि वे अपनी बुलन्द आवाज से वायसराय का आसन हिला देते हैं। इस वर्ष भी बाढ़ से उत्तर बंगाल की बड़ी बरबादी हुई है। बंगाल के सभी पत्रों में बाढ़ ही की बाढ़ है। बंगाल के सर्वमान्य महापुरुष सर प्रफुल्लचन्द्र राय बाढ़-पीड़ितों की सहायता करनेवाली प्रान्तीय समिति के प्रधानाध्यक्ष हैं। वे बाढ़-पीड़ितों की सेवा करने के लिए घटनास्थलों पर स्वयं जाते हैं। यही बंगाल के आदर्श पुरुषों की अनुकरणीय विशेषता है। सर सुरेन्द्र नाथ और बर्दवान-नरेश, भी हृदय से बाढ़-पीड़ितों के साथ हैं। वे भी घटनास्थलों पर पहुँचने से बाकी न रह सके। वायसराय ने सहानुभूतिपूर्वक १०००), बंगाल-गवर्नर ने ५००), त्रिपुराधीश ने ४०००) और बर्दवान-नरेश ने ५००) अबतक सहायता दी है, आगे भी कुछ देंगे ही। मारवाड़ियों ने कितना दिया है, यह प्रकट करना व्यर्थ है। क्योंकि मारवाड़ियों ने जितना दिया है, उतना तो शायद कोई दे ही नहीं सकता। ऐसा केवल इसलिये नहीं कि मारवाड़ी ही सबसे धनी हैं, बल्कि इसलिए कि जब कभी देश के किसी कोने में दैव दुर्विपाक से हाहाकार मचता है तब वे गरीबों के कष्ट-निवारणार्थ अपनी थैली की पेंदी काट देते हैं। यही मारवाड़ियों की उदारता है। वे देश के ऐसे-ऐसे संकटापन्न अवसरों पर प्रान्तीयता के संकीर्ण क्षेत्र से निकलकर असीम भारतीयता का भाव धारण कर लेते हैं। ऐसा ही होना भी चाहिए। इससे राष्ट्रीयता और देश-बन्धुत्व की जड़ मजबूत होगी। किन्तु उनकी यह उदारता, यह दानवीरता, यह दयालुता और यह दीनबन्धुता तबतक विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है जब तक वे भारत की विकराल दरिद्रता का मूल कारण विदेशी व्यवसाय नहीं छोड़ देते।

दीवाली कैसे मनायी जाय ?

जब कि देश-भर के पूज्य नेता कठोर कारागार में बन्द हैं और भारत की लक्ष्मी सात समुद्र पार कैदी की हालत में बेबस पड़ी है, तब भला दीवाली कैसे मनायी जाय ? यही प्रश्न प्रत्येक हिन्दू को दीवाली के दिन अपने सामने रखना चाहिए। यह वैश्यों का पर्व है। वैश्यों का स्वाभाविक धर्म है—कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य। कार्तिक में तीनों का महत्त्व एकत्र होता है। खेती की नयी फसल का श्रीगणेश, गोपाष्टमी की गो-पूजा

और दीवाली में वाणिज्य की अधिष्ठात्री लक्ष्मी देवी की पूजा। शास्त्रों में भी कार्तिक-माहात्म्य वर्णित है। जगद्धात्री पूजा, गोधन पूजा, पूर्णिमा स्नान आदि महिमामय महोत्सव कार्तिक मास में मनाये जाते हैं। ऐसे परम पवित्र मास में हिन्दुत्व का महत्त्व भरा हुआ है। वैश्य जाति को अपने इस जातीय त्यौहार के गौरव पर गर्व करना चाहिए, किन्तु जब तक वैश्यवंशावतंस महात्माजी और लालाजी जेल में हैं तब तक वैश्य जाति का गर्व ही निर्मूल है। यदि वह चाहती है कि भारत-लक्ष्मी को बन्धन-मुक्त करके सच्ची लक्ष्मी-पूजा से दीपावली को सार्थक करें तो पहले भारत-लक्ष्मी के पक्के पुजारियों को बन्धन-मुक्त करने की उग्र चेष्टा करे। एवमस्तु।

—मासिक 'मारवाड़ी-सुधार' (आरा); वर्ष २, अङ्क २,
कार्तिक, १९७९ वि०, सन् १९२२ ई०

*

तीर्थयात्रियों का स्वागत

श्रीमान् पण्डित माधव शुक्लजी[1] गत ता० १३ नवम्बर को स्वराज्य-दुर्ग से विजय-पताका के साथ, लौटकर आये हैं। मैं हृदय-तल से आपको बधाई देता हूँ और आपके ज्येष्ठ पुत्र 'विजयजी' में आपकी गुण-गरिमा का पूर्ण विकास देखना चाहता हूँ। मारवाड़ी-समाज के दो असहयोगी वीर कलकत्ता निवासी सेठ पद्मराजजी जैन और हाथरस-निवासी बाबू भगवानदास जी हालना (भारतबन्धु-सम्पादक) भी इसी मास में श्रीकृष्ण जन्मस्थली से लौटकर आये हैं। मैं उनका भी हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ। शायद हालनाजी अस्वस्थ हैं। भगवान उन्हें देश-सेवा के लिए पुनः नवीन शक्ति प्रदान करें।

किरानी-रहस्य!

इस अङ्क में 'किरानी' नामक लेख अन्यत्र प्रकाशित है। हिन्दी शब्द-सागर के अनुसार 'किरानी' अँग्रेजी-भाषा का क्रिश्चियन शब्द है। इसका अर्थ है—"(१) वह मनुष्य जिसके माता-पिता में से कोई एक यूरोपियन और दूसरा हिन्दुस्तानी हो! यूरेशियन! (२) अँग्रेजी दफ्तर में लिखने-पढ़ने का काम करने वाला मुन्शी। क्लर्क।" बंगाल में यह शब्द बहुत प्रचलित है। बंगाल में इस शब्द पर कई कहानियाँ भी हैं। बँगला के कई उपन्यासों में किरानी-जीवन के प्रकृत चित्र अङ्कित हैं। मारवाड़ी भाई विदेशी व्यापार में बड़े पटु हैं। अतएव, अँग्रेजी आफिसों से सरोकार होने के कारण, वे इस शब्द से विशेष परिचित हैं। आशा है, किरानी-जीवन का नग्न चित्र उनके मनोरंजन का कारण होगा। 'मजलिस' नामक बँगला साप्ताहिक में 'किरानी-रहस्य'—शीर्षक एक लेख निकला है। उस लेख के वाक्यों का अर्थ-गौरव मन-ही-मन समझने योग्य है। देखिये—

---

१. जिस अंक में यह टिप्पणी छपी थी, उसी में शुक्लजी की सचित्र जीवनी भी। —लेखक

'किरानी की त्रिमूर्ति'

"प्रथम-मूर्ति—सुबह में हाट-बाजार करना, रसोई बनाना, कपड़े कचारना, बच्चे-कुच्चों को गोद में लेकर खेलाना, अनेक घरेलू कामों में गृहिणी की सहायता करना। इस प्रकार प्रातःकाल में किरानी स्त्रीलिङ्ग है।

"द्वितीय मूर्ति—दस बजते ही रोजी कमाने की धुन में आफिस जाना और वहाँ कोल्हू के बैल की तरह हड़-तोड़ मिहनत करके शाम तक खटते रहना। बीच-बीच में मालिक को कनैठियाँ और झिड़कियाँ तथा स-बूट पदाघात सहन करना। इस प्रकार, वह दिन में पुंल्लिङ्ग है।

"तृतीय मूर्ति—दिन भर खटने और पदाघात पूर्वक अपमान सहते रहने से, रात को, बेचारा किरानी देह के दर्द से सुस्त हो जाता है। घर आते ही निर्जीव की तरह सो जाता है। इसलिये वह रात को नपुंसक लिङ्ग है।

'त्रिदेव किरानी'

ब्रह्मा—बच्चों की और ऋण की सृष्टि करता है।
विष्णु—पत्नी और पुत्र-पुत्रियों का पालन करता है।
महेश—अपना और पराये का अन्न संहार करता है।

'सच्चिदानन्द किरानी'

जब वह बहुत बीमार रहता है तब भी सुशील बालक की तरह साबूदाना और बिस्कुट खाकर आफिस चला जाता है। वहाँ जाकर प्रभु-भक्ति की पराकाष्ठा प्रदर्शित करता है। इसलिए वह 'सत्' है। आफिस के बड़े साहब का स-बूट पदाघात खाकर वह 'चित्'—(चारों खाने चीत)—हो जाता है! एक रुपया वेतन बढ़ जाने से ही वह 'आनन्द' से भर जाता है! इन्हीं तीनों कारणों से किरानी 'सच्चिदानन्द' है।"

हाय रे भारतवर्ष के किरानियों का भाग्य! कर्कशा किरानीगरी ने देश को दरिद्र बना दिया!

विशुद्धानन्द विद्यालय की काया-पलट

मैंने सुना है कि कलकत्ता के विशुद्धानन्द विद्यालय का कलेवर बदलनेवाला है। वह आगामी वर्ष से व्यापारिक विद्यालय का रूप धारण करेगा। उसमें उद्योग-धन्धे की शिक्षा भी दी जायगी। उक्त विद्यालय कलकत्ता के व्यवसाय-प्रधान मारवाड़ी-समाज का यशस्तम्भ है। यदि सुनी हुई बात कहीं सचमुच सच्ची निकली तो मारवाड़ी समाज का अभ्युदय अवश्यम्भावी है। बंगाल में मारवाड़ियों की संख्या बहुत अधिक है। इसलिए बंगाल की राजधानी में एक ऐसे विद्यालय की बड़ी आवश्यकता है, जिसमें मारवाड़ी समाज के होनहार बालकों को वास्तविक व्यवसाय-शिक्षा दी जा सके। मारवाड़ी भाइयों को चाहिए कि उक्त विद्यालय को सर्वथा स्वतंत्र बनाकर उसकी सारी व्यवस्था अपने हाथ में ले लें और अपने राष्ट्र तथा समाज की वर्तमान आवश्यकताओं पर पूर्ण

ध्यान रखते हुए, देश-दशानुकूल, उसे एक आदर्श उद्योगशाला का सच्चा रूप दे दें। मेरा विश्वास है कि मारवाड़ी समाज यह गौरव और यश का प्रशंसनीय कार्य सम्पन्नकरके अवश्य अपना मस्तक ऊँचा करेगा।

भीम भवानी

जगत्प्रसिद्ध बंगाली पहलवान भवेन्द्र मोहन साहा 'भीम-भवानी' के नाम से विख्यात था। एक नामी पंजाबी पहलवान, भवेन्द्र को 'भवानी' नाम से पुकारा करता था। तब से यही नाम विशेष प्रसिद्ध हो गया। गत मास में 'भवानी' का कलकत्ता में, देहान्त हो गया। इस कलयुगी भीम के चल बसने से भारत के अखाड़े का एक सिरताज पहलवान जाता रहा। यह बड़े शोक का विषय है।

पहले-पहल जब भारतीय भीम प्रोफेसर राममूर्त्ति नायडू कलकत्ता में आये थे तब 'भीम भवानी' की अवस्था १९ वर्ष की थी। इस नवयुवक का शारीरिक गठन देखकर राममूर्ति बड़े मुग्ध हो गये। वे अपने साथ इस नवयुवक को रंगून ले गये, वहाँ से सिङ्गापुर और जावा द्वीप चले गये। जावा में एक-एक महाबलिष्ठ डच पहलवान को भवानी ने पछाड़ डाला। वहाँ से भवानी स्वदेश को लौट आया। फिर टिप्पो ड्रोम सरकस के साथ उसे एशिया के भिन्न-भिन्न देशों में भ्रमण करने का सुअवसर मिला। उस यात्रा में भवानी ने अपनी अद्भुत मल्ल-विद्या का परिचय देकर भारत का मुख उज्ज्वल किया था। दोनों हाथों से मोटर गाड़ियों को पकड़कर रोक देना, पाँच-छः मन के लोहे के बन्दों को उठाकर लड़कों के खिलौने की तरह अपने हाथों पर उछालना, अपनी छाती पर ४० मन का पत्थर रखकर उसपर चुने हुए बीस आदमियों को बैठा लेना, ६ मजबूत आदमियों से भरे हुए एक पात्र को दातों से पकड़कर ऊपर उठा लेना— भवानी के लिए बायें हाथ का खेल था।

शंघाई में एक अमेरिकन पहलवान को पछाड़ कर भवानी ने १०० डालर की बाजी जीत ली थी। उसी पहलवान की चलती हुई मोटर-गाड़ी को रोक कर भवानी ने वह 'मिनर्वा-मोटर कार' प्राप्त कर ली थी। जापान-सम्राट ने, भवानी के अपूर्व-कौशल से प्रसन्न होकर, स्वर्ण-पदक और ७५०रु० पुरस्कार प्रदान किये थे। जापान से भारत लौट आने पर, भवानी ने भरतपुर-नरेश के द्वारा खूब जोर से चलायी गयी हुई तीन मोटर गाड़ियों को, एक ही रस्सी में बाँधकर, एकदम रोक देने पर, बड़ा सम्मान पाया था। लोहे की कड़ियों को धड़ाधड़ तोड़ देना, अपने कंधे पर रखकर लोहे की मोटी छड़ को मोड़वाना, पचास जवानों से भरी हुई गाड़ियों को अपनी देह पर से खिंचवाना और निरंकुश हाथी को अपनी छाती पर खड़ा कर लेना तो भवानी के रोज के सहज खेल थे। पर एक बार मुर्शिदाबाद के नवाब के एक मदोन्मत्त हाथी को भी अपनी छाती पर चढ़ाकर भवानी ने सबको चकित कर दिया था। कलकत्ता के स्वदेशी मेले में अपना विस्मयजनक व्यायाम-कौशल दिखाकर भवेन्द्र 'भीम-भवानी' के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। फिर भगवान 'भीम-भवानी' को भारत में भेजें, यही प्रार्थना है।

बंग-बिहार-गोशाला-सम्मेलन।

वैद्यनाथ-धाम (देवघर) में उक्त सम्मेलन का अधिवेशन हाल ही में, बड़े समारोह से हुआ है। श्रीयुत अमूल्य धन अड्डी महाशय सभापति थे। श्री १०८ जगद्गुरु शंकराचार्य भी सम्मेलन में पधारे थे। पण्डित चुन्नी लाल मालवीय, श्रीमान् गिद्धौर-नरेश, सेठ सूर्यमल सर्राफ और पीयूषकान्ति घोष आदि गोसेवकों के उद्योग और उत्साह से सम्मेलन का कार्य विधिपूर्वक सम्पन्न हुआ है। इसके लिए हिन्दुओं को उनके प्रति कृतज्ञ होना चाहिए।

बंगाल और बिहार में गोशालाएँ बहुत हैं; पर उनका संगठन आज तक नहीं हुआ था। कोई करे तब तो। धन्य हैं उक्त गो-भक्त सज्जन जिनकी तत्परता से गोशालाओं के संगठन का श्रीगणेश हो गया। सम्मेलन में भिन्न-भिन्न स्थानों की गोशालाओं के प्रतिनिधि भी आये थे। गोरक्षा के साथ-साथ गोवंश-वृद्धि के उपायों को काम में लाने के लिए एक कमिटी भी बनी है। विश्वास है कि बंगाल और बिहार में जितनी गोशालाएँ हैं, उनके सुप्रबन्ध पर कमिटी की कड़ी नजर बनी रहेगी और गोशालाओं तथा 'डेरी फार्मों' की संख्या वृद्धि करने में कमिटी कृतकार्य्य होगी। बिहार और बंगाल के हिन्दू-मुसलमानों को उक्त कमिटी की ओर सदा दृष्टि रखनी चाहिए। अन्य प्रान्त-निवासियों को भी गोशाला-संगठन का कार्य्यारम्भ कर देना चाहिए। एक स्वर से समस्त भारतवर्ष में गोरक्षा का आन्दोलन उठना चाहिए।

सभापति महाशय ने गो-वंश-ह्रास के कारणों पर जो उपयोगी एवं महत्वपूर्ण विचार प्रकट किये हैं, उनका संक्षिप्त सार इस प्रकार है—"गोचर भूमि और चारा के अभाव से गायों का नाश हो रहा है। परती जमीन हर साल बन्दोबस्त होती चली जाती है। चारा बोने और पैदा करने की ओर किसी का ध्यान नहीं है। अच्छे साँड़ों का बड़ा टोटा है। पहले के धनी लोग गो-सेवा करना अपना अहोभाग्य समझते थे। अब के रईस जमींदार गो-सेवा से विमुख हो रहे हैं। उनकी उदासीनता से भारतीय गोधन का संहार हो रहा है। दुधार गायें मार डाली जाती हैं, गोमांस और चमड़े का व्यापार स्वयं हिन्दुस्तानी ही करते हैं, अच्छे-अच्छे पशु विदेश भेज दिये जाते हैं। बृटिश भारत में साल-भर के अन्दर २० से ६० लाख रुपये की कीमत की गायें काटी जाती हैं। पाँच लाख मन सूखा मांस साल भर में विदेशों को जाता है। १९१६ में तो ३३४३१० जीवित पशु विदेश भेजे गये थे। रोगी पशुओं की चिकित्सा का प्रबन्ध भी समुचित रूप से आजतक नहीं हुआ है। 'फूका' का रिवाज चलते रहने से अच्छे-अच्छे बैल नहीं मिलेंगे और गायें भी वन्ध्या रह जायेंगी।"

मेरा अनुमान है कि व्यवसाय-प्रधान मारवाड़ी-समाज यदि चाहे तो उक्त कारणों में से कई कारणों को निर्मूल कर सकता है।

एक प्रसिद्ध साहित्य-शिल्पी का स्वर्गवास

वङ्ग-साहित्य-सम्राट् वङ्किम बाबू के समकालीन साहित्यिक सुरसिक रचनाशिल्पी श्रीयुत चन्द्रशेखर मुखोपाध्याय से हिन्दी-साहित्य-रसिक अवश्य परिचित होंगे। आपका लिखा हुआ 'उद्भ्रान्त प्रेम' नामक गद्यकाव्य हिन्दी में अनुवादित हो चुका है। पहले-पहल श्रीयुत द्वारकानाथ मैत्र ने उसका अनुवाद करके कलकत्ता से प्रकाशित कराया था। फिर दूसरी बार वह आरा-निवासी (मनोरंजन-सम्पादक) श्रीयुत पण्डित ईश्वरीप्रसाद जी शर्मा द्वारा अनुवादित होकर बाँकीपुर (पटना) के 'सत्साहित्य ग्रन्थमाला कार्यालय से प्रकाशित हुआ। पण्डितजी का अनुवाद इतना सुन्दर हुआ है कि मूल ग्रन्थ पढ़ने का आनन्द आता है।

हिन्दी में गद्यकाव्यों की बड़ी न्यूनता है। 'उद्भ्रान्त-प्रेम' उस न्यूनता की पूर्ति तो नहीं कर सकता; पर इसमें सन्देह नहीं कि वह हिन्दी में एक अमूल्य रत्न है। उसकी प्राञ्जल भाषा, उसकी वर्णन-बहुल विचित्र शैली, उसकी अमोघ अनल्प कल्पना, सभी कुछ इतना सुन्दर और मनोहर है कि पढ़ते-पढ़ते चित्त मुग्ध हो जाता है। वह प्रेम की मणि-मंजूषा हिन्दी-साहित्य-भाण्डार की दर्शनीय शोभा-सामग्री है।

अत्यन्त शोक की बात है कि, चन्द्रशेखर बाबू अब इस संसार में नहीं रहे। उनकी प्रतिभा पर, केवल बंगाल ही क्यों, समस्त भारत के साहित्यिक गर्व कर सकते हैं। उनका 'उद्भ्रान्त प्रेम' पढ़कर ही मेरी ऐसी धारणा हुई है और मेरा विश्वास है कि जो कोई सहृदय साहित्यिक उसे पढ़ेगा, वही मुग्ध होकर अवश्य ऐसी धारणा के वशीभूत हो जायगा।

बङ्किम बाबू आप की रचना-चातुरी पर बड़ा मुग्ध रहते थे। आपकी रचना में किसी तरह का कोई परिवर्तन किये बिना ही वङ्किम बाबू 'बङ्ग दर्शन' में प्रकाशित कर देते थे। यह गौरव किसी और लेखक को प्राप्त नहीं था।

मैं अपने उन पाठकों से, जिन्होंने 'उद्भ्रान्त प्रेम' अभी तक नहीं पढ़ा है, अनुरोध करता हूँ कि वे एक बार उस भाषा और भाव की गङ्गा-जमुनी धवल धारा में अवश्य स्नान करें।

चन्द्रशेखर बाबू के कोई सन्तान नहीं। किन्तु 'उद्भ्रान्त प्रेम' ही उनकी अक्षय कीर्ति बनाये रखने के लिए यथेष्ठ हैं। आपकी पत्नी का पहले ही देहान्त हो चुका था। भगवान करें, उस प्रेमवती के साथ आप स्वर्ग में भी सुख-शान्ति के भागी बनें और 'अपने हृदयाकाश के चन्द्रमण्डल में अमृत बनकर निवास करें।'

मासिक 'मारवाड़ी सुधार' (आरा); वर्ष २, अंक ३, अग्रहायण १६७६ वि०, १६२२ ई०

राजस्थान-केसरी फिर जाग उठा !

वर्धा (मध्य प्रदेश): से प्रकाशित होनेवाले हिन्दी-साप्ताहिक राजस्थान-केसरी से मारवाड़ी-समाज अच्छी तरह परिचित है। 'केसरी' की स्तुत्य सेवा राजस्थानियों को कभी न भूलेगी। राजस्थान पर जो आतङ्क छा रहा था, वह 'केसरी' के गर्जन से दूर हो गया। अब राजस्थान में जागर्ति की ज्योति फैल गई। राष्ट्रीयता का सिंहनाद सुनाकर 'केसरी' ने राजस्थान को जगा दिया है। 'केसरी' ने जब-जब मदान्ध मात्तङ्गों का कुम्भ विदीर्ण कर गर्व-मुक्ता बखेर दिया है तब-तब राजस्थानियों की विजय-शंखध्वनि से अत्याचारियों के कलेजे काँप उठे हैं। अनेक आततायी अधिकारियों का अहंकार चूर्ण करके 'मानमहतामग्रेसर: केसरी' को कुछ दिनों के लिए विश्राम लेना पड़ा। अल्प विश्राम के बाद ही 'केसरी' ने फिर विचार किया कि—'राम काज कीन्हे बिना मोहि कहाँ विश्राम ?'

यह सोचकर वह झट उठ खड़ा हुआ और केसर झाड़ कर सरोप गरज उठा। 'गरीबों की आह सुनने के लिए बधिर' कानों के पर्दे फट गये। अन्यायियों के दिल हिल गये। निष्ठुर नियंत्रण से ऊबे हुए राजस्थानियों के मुख-कमल खिल गये। ईश्वर से प्रार्थना है कि राजस्थानियों के भाग्याकाश में गरज-गरजकर उपल-वृष्टि करनेवाले काले मेघ इस नवशक्ति- सम्पन्न 'केसरी' का गगन-कम्पन-कारी द्विगुणित-गंभीर गर्जन सुनकर भयभीत हो भाग चलें और वह 'केसरी' ललकार के साथ छलांग मारकर उन्हें लीलने के लिए लपकता चला जाय।

'केसरी' के प्रबन्धकर्त्ता बाबू महाली राम केजड़ीवाल द्वारा यह सूचना पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई है कि ता० ११-२-२३ से फिर 'केसरी' अपने कर्त्तव्य-क्षेत्र में आ डटा है। राजस्थानियों में अहिंसात्मक असहयोग के सिद्धान्तों का प्रचार और मारवाड़ी-समाज में संगठन-शक्ति तथा नवजीवन उत्पन करने के लिए ही फिर 'केसरी' ने कर्त्तव्य-भूमि में पदार्पण किया है। मेरा विश्वास है कि मारवाड़ी-समाज बड़े उल्लास के साथ 'केसरी' का स्वागत करेगा। यदि मारवाड़ियों की उदासीनता से फिर भी "केसरी" को थककर नयी स्फूर्ति प्राप्त करने के लिए—विश्राम लेना पड़ा, तो मारवाड़ी भाइयों को राजस्थान की मरुभूमि में डूब मरने के लिए चुल्लू भर पानी भी नहीं मिलेगा।

श्रीस्वदेश का शुभ सन्देश

आज से कुछ ही महीने पहले, जयपुर रियासत के फतहपुर नगर से, बाबू युधिष्ठिर प्रसाद सिंहानिया और श्रीगोपाल नेवटिया (युगलात्मा, कोविद, विशारद) के सम्पादकत्व में 'श्रीस्वदेश' नामक सचित्र मासिक-पत्र निकला था। उसके पाँच अङ्क मुझे मिले थे। पाँचों अङ्क सर्वाङ्ग सुन्दर थे। आकार छोटा था, पर सम्पादन-शैली बड़ी अच्छी थी। भाग्यवश राजस्थान से एक गण्यमान्य मासिक-पत्र भी निकला, जो निरंकुश राज-सत्ता की आँखों का काँटा बन गया ! कृष्णजन्म होते ही, कंस की भूख-प्यास और नींद हराम

हो गई ! स्वेच्छाचारी नरेश ने 'श्रीस्वदेश' की ओर झट अंगुल-निर्देश किया। वह 'कुम्हड़-बतिया' की तरह कुम्हला गया। 'लाजवन्ती घास' की तरह मुरझा गया ! मारवाड़ियों के लिए यह बड़े भारी कलंक की बात है ! क्या सिंह-समाज में गीदड़ बनकर रहने में उन्हें लज्जा नहीं आती ! क्या राजस्थानियों को कुछ भी स्वत्व-ज्ञान नहीं है !

'युधिष्ठिर' ने दुर्योधन का और 'गोपाल' ने कंस का नाश करके, नये सिरे से, शान्ति की स्थापना की थी। इसलिये, यह विश्वास हो रहा है कि परम्परागत रीति के अनुसार, उपर्युक्त उभय सम्पादक विजय-लाभ करेंगे। तभी तो 'श्रीस्वदेश' ने यह 'शुभसन्देश' भेजा है कि—"हम शीघ्र कर्म क्षेत्र में उपस्थित होने वाले हैं। हम अपने साथ अदम्य साहस, अकुण्ठित शक्ति, सवेग गति, ध्रुव मति, उत्कट उत्साह और दृढ़ सकल्प लावेंगे। हमारा ध्येय जबतक पूरा न होगा, तबतक हमारा धैर्य अटूट और हमारा मनोवल अखण्ड बना रहेगा।"

मैं भी कहता हूँ कि 'प्यारे स्वदेश !' आओ, द्विगुणित शक्ति के साथ आओ, अपने प्रचण्ड प्रभाव से अपना लक्ष्य मार्ग निष्कंटक बनाओ और मारवाड़ी-समाज में विद्यानुराग तथा स्वदेशाभिमान उत्पन्न करके संसार में प्रतिष्ठा पाओ। भगवान तुम्हें अजातशत्रु बनावें।

—मासिक 'मारवाड़ी—सुधार (आरा), वर्ष २, संयुक्ताङ्क ४-५, माघ १९७९ वि०, १९२२ ई०

वसन्त का स्वागत

ऋतुराज वसन्त आ गया। दिशाएँ सुन्दर हो गयीं। वायु सुरभित हो गयी। कोयल कुहकने लगी। भौंरे गूंजने लगे। पृथ्वी कुसुममयी हो गयी। धन्य है ऋतुओं का राजा बसन्त जिसके राज्य में हर ओर नयी उमंग की तरंग लहरा उठती है। यही वसन्त रामराज्य का चित्र है। रामराज्य में दरिद्रता को कहीं शरण नहीं मिलती थी और बसन्त में बेचारी विरहिणी को कहीं शरण नहीं। प्रजा-वर्ग में नवजीवन का संचार करनेवाले वसन्त ! मैं तुम्हारा हार्दिक स्वागत करता हूँ। तुम जिसके चित्र हो उस असली मूर्त्ति को इस देवायतन भारतवर्ष में स्थापित करके कब इसे 'अन्नपूर्णा का मन्दिर' बनाओगे ?

इसी प्रसंग में मैं कलकत्ता के मारवाड़ी-समाज के निर्भीक असहयोगी बाबू वसन्तलाल मुरारका का भी हार्दिक स्वागत करता हूँ जो हाल ही में तीर्थ यात्रा से लौट कर आये हैं। उनकी देशसेवा मारवाड़ी-समाज के लिए बड़े गौरव की बात है। ईश्वर उनका संकल्प पूरा करें।

समवेदना-प्रकाश

आगरा-निवासी पण्डित रामेश्वर भट्ट[1] जी और मिर्जापुर-निवासी पण्डित बदरीनारायण चौधरीजी 'प्रेमघन'[2] की शोकजनक मृत्यु पर मैं हार्दिक दुःख प्रकट करता हूँ। दोनों वियोग-कातर परिवारों को भगवान सान्त्वना दें। मेरी आन्तरिक प्रार्थना है कि ब्रह्मलोक में, सरस्वती के विलास-मन्दिर में विराजमान, भट्टजी और चौधरीजी की साहित्य-रस-निमज्जित आत्माएँ, फिर हिन्दी-संसार में अवतीर्ण होकर, विभूति-विशिष्ठ शक्ति के साथ, राष्ट्रभाषा का उपकार करें। क्रमशः १९ जनवरी और १४ फरवरी को ये दोनों यशस्वी हिन्दी-कवि इस संसार से विदा हुए हैं। हिन्दी का घोर अभाग्य है!

कानपुर का साहित्य-सम्मेलन

कानपुर में मारवाड़ी-भाइयों की संख्या अधिक है। तेरहवाँ महा-सम्मेलन कानपुर में ही हो रहा है। कलकत्ता के ग्यारहवें सम्मेलन में काशी-निवासी अग्रवाल-वैश्यकुल-भूषण बाबू गोकुलचन्द ने ४० सहस्र रुपये का दान दिया था। उसी द्रव्य से 'भाई मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक' की व्यवस्था की गयी है। कानपुर के मारवाड़ी-समाज की ओर से भी, यदि कोई ऐसा ही स्मारक-चिह्न सम्मेलन को मिल जाता तो हिन्दी-साहित्य की स्थिति तक मारवाड़ी-समाज की दानवीरता भी स्थायिनी हो जाती। आशा है, कानपुर के मारवाड़ी-भाई ऐसा गौरव-जनक अवसर हाथ से न जाने देंगे।

'साहित्य' का प्रकाशन स्थगित हो गया!

हिन्दी-पुस्तक एजेंसी (कलकत्ता) के वर्तमान मालिक बाबू बैजनाथ केड़िया से मारवाड़ी-समाज खूब परिचित है। जिस योग्यता से बाबू महावीर प्रसाद पोद्दार एजेंसी का संचालन करते थे, केड़ियाजी भी उसी प्रकार की योग्यता दिखा रहे हैं। एजेंसी की एक शाखा काशी में भी खुली है। इधर एजेंसी ने कई अच्छी पुस्तकें भी प्रकाशित की हैं। उसके द्वारा अच्छी-अच्छी पुस्तकें बड़ी सादगी से निकली हैं। राष्ट्रीय पाठ्य-पुस्तकें निकाल-कर उसने हिन्दी का बड़ा उपकार किया है। किन्तु, पण्डित छविनाथ पाण्डेय बी० ए० एल० एल० बी० जैसे सुयोग्य सम्पादक और हर तरह के उत्तमोत्तम साधन रहते हुए भी केड़ियाजी ने 'साहित्य' बन्द कर दिया। यह सचित्र मासिक-पत्र कुछ ही दिनों में खूब उन्नत हुआ और छः महीने तक चाकचिक्य दिखाकर चल बसा! केड़ियाजी ने सर्वथा समर्थ होकर भी 'साहित्य' को जीवित नहीं रक्खा; यह खेद की बात है। उन्हें कलकत्ता की लाज रखने के लिए, वहाँ के एक मात्र सचित्र मासिक 'साहित्य' का प्रकाशन आरम्भ करना चाहिए। भगवान उन्हें प्रेरित करें कि 'साहित्य' का पुनः उद्धार हो।

१. 'श्रीरामचरित-मानस' और 'विनय पत्रिका' के प्रसिद्ध टीकाकार तथा स्व० हिन्दी कवि प्रोफेसर बदरीनाथ भट्ट के पिता। —ले०

२. 'आनन्द कादम्बिनी' और 'नागरी-नीरद' के संचालक-संपादक तथा भारतेन्दुजी के अभिन्न सखा। —ले०

युक्तप्रान्त की सरकार की उदार नीति

संयुक्त-प्रदेश[1] की सरकार ने सभी राजनीतिक कैदियों को मुक्त कर दिया है। राजनीति के गूढ़ तत्त्वों को जाननेवाले कहते हैं कि इस उदार नीति में भी कुछ रहस्य है। क्या मर्म है, सो तो वही जाने जो सदा राजनीतिक चालें परखता रहता है। मैं तो सम्मेलन के प्राणाधार बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन एम० ए० और कविवर पण्डित रामनरेश त्रिपाठी तथा प्रोफेसर रामदास गौड़ एम० ए० का आन्तरिक अभिनन्दन करता हूँ और हिन्दी-साहित्य के नाते उनकी सफल तीर्थ यात्रा पर उन्हें अनेक बधाइयाँ देता हूँ।

बाबू भगवानदास अग्रवाल को निर्वासन-दण्ड

मध्यभारत की इन्दौर-रियासत के अन्तर्गत 'मऊ' नगर में सरकारी पलटनों की छावनी है। उस छावनी के अफसरों के अन्यायपूर्ण स्वेच्छाचार का एक नमूना देखिए। मऊ-निवासी बाबू भगवान दास अग्रवाल बड़े निर्भीक, आत्माभिमानी, साहसी और स्वतंत्र प्रकृति के मनुष्य हैं। इन्दौर, धार और ग्वालियर रियासतों में, अपने प्रजा के न्याय अधिकार के लिए, बड़ा आन्दोलन किया था। इधर आप प्रजा-वर्ग में स्वत्व-ज्ञान फैलाते थे, उधर नौकरशाही ने आपको अशान्ति—क्रान्तिकारी समझ कर सन् १९१४ ई० में ही निर्वासित कर दिया। उस समय कलकत्ता की वैश्य-सभा के आन्दोलन करने पर आप फिर दो वर्ष के बाद 'मऊ' जाने पाये थे। किन्तु, १९२१ में फिर आप पर सेना में विद्रोह फैलाने का झूठा अपराध आरोपित करके आपको लगभग एक साल तक जेल में सड़ाया गया। पुनः जेल से छूटते ही आपको 'मऊ' छावनी से ४८ घण्टे के अन्दर निकल जाने की आज्ञा हुई है। कण्टोमेण्ट कोड की २१६ वीं धारा के अनुसार ता० १५-१-२२ को उक्त आज्ञा प्रकाशित हुई है। उसमें यह भी लिखा है कि कमाण्डिङ्ग अफसर की लिखित आज्ञा के बिना वे कभी फिर छावनी में न जा सकेंगे। इस प्रकार की आज्ञा से छावनी की साधारण जनता में बड़ी सनसनी फैली हुई है। किन्तु बाबू भगवानदास के समान कोई ऐसा निर्भीक पुरुष वहाँ है ही नहीं जो स्वेच्छाचारियों का मान-मर्दन करे। सब लोगों पर इस घटना का आतंक छा गया है। क्योंकि जहाँ मनमाने ढंग से ज्यादती होती है, वहाँ आतङ्क जमते देर नहीं लगती। यदि मऊ छावनी के अफसर इसी प्रकार निरंकुश होकर मऊ की प्रजा को पीड़ित करते रहे तो कुछ दिनों में कोई भला मानस उस स्थान में रहना न चाहेगा। निर्मूल आशंका के वशवर्ती होकर ऐसा अत्याचार कर बैठना क्या गोरे फौजी अफसरों का जन्म सिद्ध अधिकार है?

—मासिक 'मारवाड़ी-सुधार' (आरा), वर्ष २, अङ्क ६; फाल्गुन १९७९ वि०, सन् १९२२ ई०।

१. वर्त्तमान उत्तरप्रदेश।

हिन्दी का घोर दुर्भाग्य !!!

इस साल हिन्दी के कई सराहनीय सपूत स्वर्गवासी हो गये । पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, बी० ए० के वियोग से हिन्दी-प्रेमियों के कलेजे पर जो चोखी चोट पहुँची थी उसका घाव अभी हरा ही था, जरा भरा भी नहीं था, तबतक फिर दोबारा वज्रपात हो गया ! पंडित रामेश्वर[1] भट्ट, और पंडित बदरीनारायण चौधरी (प्रेमघन) हिन्दी-संसार से सदा के लिए विदा हो गये । साहित्य-भाण्डार के ये दोनों जगमगाते हुए जवाहिर कितने अनमोल थे, यह कूता नहीं जा सकता । दोनों ही स्वर्गीय आत्माओं की शांति के लिए मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ और उभय परिवार के साथ मेरी हार्दिक सहानुभूति है ।

चौधरी जी हिन्दी के धुरन्धर कवि और यशस्वी महारथी थे । आप मिरजापुर के प्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित रईस और जमींदार थे । आपका शुभ जन्म संवत् १९१२ की श्रीजन्माष्टमी के दिन हुआ था । इसीलिए, आप घनश्याम श्यामसुन्दर के बड़े प्रेमी थे । आप 'घन' (मेघ) के इतने बड़े अनुरागी थे कि, उर्दू कविता में अपना उपनाम 'अब्र' (अभ्रमेघ) और हिन्दी-कविता में प्रेमघन रखते थे । यहाँ तक कि आप 'आनन्द-कादम्बिनी' नाम से एक साहित्यिक मासिक-पत्रिका और 'नागरी-नीरद' नाम से एक सरस साप्ताहिक पत्र भी निकालते थे । इतना ही नहीं, उनकी कई पुस्तकों के नाम से भी घन की घनिष्ठता सूचित होती है। जैसे—वर्षा-विन्दु, कजली-कादम्बिनी, पीयूष-वर्षा आदि। वे व्रजभाषा और अनुप्रास के अनन्य अनुरागी थे । उनकी पुस्तकों के नाम देखिए—आनन्द-अरुणोदय, हार्दिक-हर्षादर्श, सङ्गति-सुधा-सरोवर, शम्भु-सम्मिलन, वसन्त-मकरन्द-विन्दु और वृद्ध-विलाप आदि। सन् १९१२ ई० में कलकत्ता में जो अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का महाधिवेशन हुआ था, उसके प्रधानाध्यक्ष की हैसियत से दिया हुआ आपका भाषण इतना सुन्दर, मधुर, ललित और विद्वतापूर्ण है कि वह सम्मेलन-परीक्षा की पाठ्य-पुस्तकों में रखा गया है। आप वास्तव में सच्चे साहित्य-विलासी, मनमौजी कविता-रसिक, प्रेमानन्द की मूर्ति और भारतेंदु हरिश्चन्द्र के अन्तरंग मित्र थे। एक बार आपने भारतेंदु जी से कहा था कि "आपका 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक ऐसा साहित्यिक सौंदर्य से परिपूर्ण है कि, जबतक आप स्वयं प्रधान नायक बनकर अभिनय न करेंगे तबतक उसे दूसरा कोई खेल नहीं सकता।" भारतेंदु जी ने हँसते-हँसते कहा—"यदि आप शैव्या बनें तो मैं 'सत्य-हरिश्चन्द्र' बन सकता हूँ।" चौधरी जी ने सोत्साह कहा—"हाँ, हाँ, मैं तैयार हूँ। तब तक झट भारतेंदु बाबू ने पंडित जी की मूँछों की ओर इशारे करके मुस्कुराते हुए कहा कि, "पिता के रहते मूँछ कैसे मुड़ाइयेगा ?" पण्डित जी ने छूटते ही कहा—"हिन्दी के लिए सिर तक कटा सकता हूँ, मूँछ ससुरी की क्या हकीकत है ?" आपकी मातृभाषा-भक्ति देखकर भारतेंदु की आँखों से आनन्द का अश्रुप्रवाह उमड़ चला ।

---

१. पण्डित रामेश्वर भट्ट की सचित्र जीवनी इसी टिप्पणी वाले अंक में छपी थी । –ले०

बड़े दुःख की बात है कि गत ता० १४ फरवरी १९२३ ई० को चौधरी जी गोलोकवासी हो गये। आपके उठ जाने से 'नागरी' वस्तुतः अनाथ हो गई। आप नागरी और फारसी लिपि के सम्बन्ध में कैसी चीज-भरी और मार्के की बात कह गये हैं। देखिए—

"कैसे हिन्दी के कोउ सुद्ध सबद लिखि लैहैं।
अरबी अच्छर बीच लिखेहुँ पुनि किमि पढ़ि पैहैं॥
निज भाषा को सबद लिखो पढ़ि जात न जामैं।
पर भाषा को कहो पढ़ै कैसे कोउ तामैं॥
लिख्यौ हकीम औसधी में 'आसू-बोखारा।
उल्लू बनो मोलवी पढ़ि 'उल्लू-बेचारा'॥
साहिब 'किस्ती' चही, पठाई मुनसी 'कसबो'।
'नमक' पठायो भई 'तमस्सुक' की जब तलबी॥
पढ़त 'सुनार' 'सितार' 'किताब' 'कबाब' बनावत।
'दुआ' देत हूँ 'दगा' देन को दोस लगावत॥
मेम साहिबा 'बड़े-बड़े मोती' चाह्यो जब।
'बड़ी-बड़ी मूली' पठवायो तसिल्दार तब॥"

अत्यन्त शोक के साथ एक और तीसरे हिन्दी-सेवक की असामयिक मृत्यु का संवाद सुनाना पड़ता है। दिल्ली के समाधिगत 'हिन्दी-समाचार' के सम्पादक पंडित शिवनारायणजी द्विवेदी भी स्वर्गवासी हो गये। सबसे बढ़कर परिताप की बात यह है कि अपने वृद्ध-पिता के रहते ही, युवावस्था में, आप लोकान्तरित हुए हैं। दिल्ली की तैंतीसवीं कांग्रेस के समय मुझे आपके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। आप बड़े परिश्रमी, सहृदय और सरल स्वभाव के थे। कलकत्ता की हरिदास-एण्ड-कम्पनी और हिन्दी-पुस्तक-एजेंसी ने आपकी कई पुस्तकें प्रकाशित की हैं। आपने जिस योग्यता और श्रद्धा के साथ हिन्दी की सेवा की है, वह वस्तुतः प्रशंसनीय है। मैं आपके शोकातुर परिवार के साथ हार्दिक समवेदना प्रकट करता हूँ। ईश्वर उसे धैर्य्य दें और आपकी आत्मा को शांति !

विद्यार्थी जी की दूसरी तीर्थयात्रा

कानपुर के 'प्रताप' के संस्थापक और भूतपूर्व सम्पादक श्रीयुत गणेशशंकर विद्यार्थी को फिर तीर्थ-यात्रा का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उनके भाषण को राजद्रोह फैलानेवाला बतलाया गया है। अधिकारिवर्ग का यह कार्य स्वाभाविक है। खादी की पोशाक अथवा गांधी टोपी में जिसे राजद्रोह की भीषण मूर्ति देख पड़ती है, उसे विद्यार्थीजी के जोशीले शब्दों में राजद्रोह की गंध जान पड़ी तो इसमें अपूर्वता क्या है?

विद्यार्थी जी शुरू से ही नौकरशाही की आँखों के काँटे हो रहे थे। 'प्रताप' को कई बार दमनचक्र में पिसना पड़ा। किन्तु पिसघिस कर भी चन्दन की तरह वह विशेष सुगंधित होता गया। विद्यार्थी जी को जितना ही तपाया गया, खरा सोना की भाँति, वे उतना ही दीप्तिशाली होते गये। अब तो वे किसी कसौटी पर खोटा नहीं निकल सकते। उनकी निर्भीकता, स्पष्टवादिता, देशभक्ति-परायणता, सत्य-संधता और कर्त्तव्यनिष्ठा सम्पादक-संसार के लिए आदर्श है।

मलखानों की शुद्धि का आन्दोलन

आजकल शुद्धि-संस्कार का प्रश्न देश के सामने उपस्थित है और वह बड़ा बीहड़ प्रश्न है। मुसलमान भाइयों की धर्मान्धता के कारण उस प्रश्न की विकटता और भी बढ़ गई है। आजतक का प्रामाणिक इतिहास यही बतलाता है कि हिन्दुओं ने कभी किसी धर्म पर आक्रमण नहीं किया है। हिन्दू-धर्म पर अब तक अनेक आघात होते रहे हैं और अभी तक होते ही जा रहे हैं। अपने धर्म की रक्षा करते-करते हिन्दुओं का कलेजा दुःख गया। तो भी वे धार्मिक विषयों में संकीर्ण नहीं, बल्कि सर्वापेक्षा उदार हैं। इस समय वे अपने उन शताब्दियों के बिछुड़े हुए भाइयों को गले लगा रहे हैं जो सहृदयता और प्रीति के साथ स्वयं मिलने को उत्सुक हैं। यदि शुद्धि-संस्कार में बलात्कार किया जाता तो हिन्दू अपराधी समझे जाने योग्य थे। जब अपने ही विधर्मी भाइयों को उन्हीं की उत्कट अभिलाषा के अनुसार, धर्म-भ्राता बनाया जा रहा है, तब देश की इस संकटापन्न अवस्था में मुसलमान-भाइयों को चाहिए कि धार्मिक-संकीर्णता को प्रश्रय न दें। हिन्दू-मुस्लिम-एकता स्वराज्य की बुनियाद कही जाती है। हिन्दुओं ने मोपलों और मुलतानियों का घोर अत्याचार सहन करके भी वह एकता का सूत्र नहीं टूटने दिया। किन्तु, कतिपय मुसलमान भाइयों की नासमझी के कारण वही संघशक्ति अब शिथिल होना चाहती है। मुसलमान नेताओं को इधर शीघ्र ध्यान देना चाहिए।

जले पर नमक छिड़का गया है!

नमक पर अब पहले से दूना टैक्स लगा दिया गया। अब २।।) मन नमक कर लगेगा। वायसराय महोदय ने जो कुछ किया और कहा है वह आशातीत प्रतीत नहीं होता। जो लोग न्याय और दया की आशा रखते होंगे, उन्हें सचमुच बड़ा कष्ट हुआ होगा और अब तो वे पछताते होंगे। किन्तु नौकरशाही की करतूतों के कड़वे फल चखने वाली भारतीयता-भक्त जनता को तो पहले से ही इसी परिणाम पर विश्वास था। वह दया की भिक्षा के लिए टकटकी लगाये नहीं बैठी थी। उसे तो अब भी संतोष है कि "मुर्दे पर जैसे एक टोकरी मिट्टी, वैसे ही पचास टोकरी।" क्योंकि जिसके न्याय और दया की विभीषिका ने देश को त्रस्त कर डाला है, उससे किसी प्रकार की शुभ आशा करना अत्यंत कायरता है। जिसने आजतक की हमारी सारी आशाओं को कुचल डाला उसने यदि अपनी समझ के अनुसार मनमाने ढंग से यह छोटा सा (?) काम कर ही दिया तो आश्चर्यित या हताश होने की जरूरत नहीं है। जिस राज्य में अन्न की

महँगी है, उस राज्य में नमक की महँगी तो रहनी ही चाहिए। जब अन्न का ही टोटा है, तब खाली नमक कौन खायेगा ? इसीलिए, नमक-कर, दूना बढ़ा कर, वायसराय महोदय ने भूख की भयंकर ज्वाला से जलनेवाले असंख्य गरीब भारतीयों को, यह स्पष्ट दिखला दिया है कि, 'देखो, जले पर नमक यों छिड़का जाता है।'

चूरू की सर्वहितकारिणी सभा।

राजपुताना में चुरू एक प्रसिद्ध स्थान है। वहीं उक्त नाम की एक सार्वजनिक संस्था है, उसकी नयी रिपोर्ट मेरे सामने है। यह चौदहवें और पन्द्रहवें वर्ष का कार्यविवरण है जिसे उक्त सभा के मंत्री बाबू रामचन्द्र पोद्दार ने प्रकाशित और प्रेषित किया है। रिपोर्ट बतला रही है कि सभा ने 'यथा नाम तथा गुण' प्रकट किया है। सभा के कई विभाग हैं। जैसे—कन्यापाठशाला, पुस्तकालय, वाचनालय, गोरक्षिणी और सेवासमिति। सभी विभागों में सराहनीय रीति से कार्य हुआ है। गोशाला और सेवा-समिति नामक विभागों के कार्य विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रसन्नता की बात है कि शिक्षा और स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार की ओर भी सभा का पूरा ध्यान रहता है। मैं हृदय से सभा की उन्नति चाहता हूँ। मारवाड़ियों को उसकी सहायता करनी चाहिए।

दास-दल का दुष्परिणाम।

देश के अभाग्य से राष्ट्रीय आन्दोलन पर पाला पड़ गया। दास-पार्टी देश को दासता से मुक्त करने के लिए चेष्टा कर रही है। किन्तु 'मल किमि छूट मलहिं के धोये ? घृत कि पाव कोउ बारि बिलोये ?' जनता भी बौरी हो गई है। वह त्याग का आदर करना नहीं जानती। कविवर 'त्रिशूल जी' ने ठीक कहा था कि, जनता पंजाब मेल पर जा रही है और नेता छकड़े पर लदे हैं! अब लोग केवल एकही संकल्प पर मर मिटनेवाले की तलाश में हैं! वैसे नेता होते तो अबतक देशोद्धार बाकी न रहता।

—मासिक 'मारवाड़ी-सुधार' वर्ष २, अङ्क ७, चैत्र १९८० वि०, सन् १९२३ ई०।

स्वर्णपदक और १५००) का पुरस्कार

गंगा-पुस्तक-माला कार्यालय (लखनऊ) के उदार संचालकों ने प्रतिवर्ष १५००) का पुरस्कार और एक स्वर्णपदक उस हिन्दी-ग्रन्थकार को देना निश्चित किया है, जिसकी पुस्तक उक्त कार्यालय से प्रति वर्ष प्रकाशित होनेवाली ५० नई पुस्तकों में सर्वश्रेष्ठ समझी जायगी। अबतक जो अच्छी-अच्छी पुस्तकें उक्तमाला में निकल चुकी हैं, प्रथम वर्ष के निर्णय में, वे भी सम्मिलित कर ली जायँगी। जिस पुस्तक से स्थायी साहित्य

की पुष्टि होगी और जिसमें मौलिकता तथा लोकोपकारिता का अंश अधिक होगा, उसको विशेष महत्त्व दिया जायगा। इस पुरस्कार से उक्त पुस्तकमाला का गौरव और प्रचार बढ़ेगा। परिश्रमी और सुयोग्य लेखकों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित होगा। हिन्दी-साहित्य-भाण्डार में प्रति वर्ष ५० अच्छी-अच्छी पुस्तकें संचित होती जायँगी। किन्तु प्रति वर्ष ५० पुस्तकें—और ऐसी पुस्तकें जिनसे उक्त पुस्तकमाला का पूर्वोपार्जित गौरव सुरक्षित रह सके—सुसम्पादित और प्रकाशित हो सकेंगी या नहीं, इस विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। क्योंकि उदारचेता पुरस्कार दाता ने इसकी योजना करके ही घोषणा प्रकाशित की होगी। उनका उत्साह आदर्श है और उनके पास सफलता के उपयोगी साधनों को देखकर उनके उज्ज्वल भविष्य पर विश्वास करना पड़ता है। उन्हें कुछ स्थायी लेखकों का प्रबन्ध करना चाहिए। लेखक भी पुस्तक प्रणयन करनेवाले हों, न कि प्रसव। हिन्दी-संसार में विद्वानों की कमी नहीं है। अनुभवी, प्रतिभाशाली, विशेषज्ञ और रचना-कुशल लेखक भी मौजूद हैं। किन्तु उनमें परिश्रमी ग्रन्थकार बहुत कम हैं। एक ही वर्ष में ५० सज्जनों से प्रेरणा और प्रार्थना करके उक्त पुस्तकमाला के योग्य पुस्तकें लिखवा लेना तथा उन्हें सम्पादित करके छाप डालना, मेरी ओछी समझ में, कुछ कठिन काम है—नहीं तो, सहज भी नहीं है। दस ही पुस्तकें निकलें और उनसे हिन्दी के अभावों की पूर्ति हो, तो विशेष लाभ होगा। हिन्दी में इतिहास, पुरातत्त्व, सम्पत्तिशास्त्र और कलाकौशल-सम्बन्धी पुस्तकों की बड़ी कमी है। हिन्दी के इन अंगों की पुष्टि के लिए उक्त माला को उद्योग करना चाहिए। हिन्दी में अभी उर्दू-साहित्य के अमूल्य ग्रन्थों का हिन्दी-संस्करण प्रकाशित नहीं हुआ है। लखनऊ इस काम के लिए बड़ा उपयुक्त स्थान है। यदि उक्त माला के संचालक इधर ध्यान दें तो बहुत कुछ काम हो सकता है। इतिहास और अर्थशास्त्रादि में मौलिकता उत्पन्न करना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। हाँ, शैली अथवा प्रणाली की नवीनता द्वारा उनमें भी मौलिकता सम्पादित की जा सकती है। किन्तु उपन्यास-गल्प और आख्यायिका की पुस्तकों तथा नाटकों और काव्यों में मौलिकता प्रदर्शित करना उतना कठिन नहीं है। यह लेखक की अनुभवगम्यता, मननशीलता और प्रतिभा पर निर्भर है। हिन्दी में मौलिक उपन्यासों और नाटकों का बहुलांश में अभाव है। यदि यह पुरस्कार उस अभाव की पूर्ति करने में प्रवृत्त हुआ तो निकट-भविष्य में ही हिन्दी का आशातीत उपकार होगा। एक बात और विचारणीय है। क्या निर्णायक समिति के सदस्यों को एक वर्ष में प्रकाशित समस्त पुस्तकें पढ़कर कोई एक पुरस्कारास्पद पुस्तक चुननी पड़ेगी? यह तो बड़ा श्रमसाध्य और समयापेक्षिक कार्य्य है। जो कुछ भी हो, निर्णायक समिति को पारितोषिकार्थ पुस्तक की जाँच करते समय लेखक की सहृदयता, शिष्टता, निष्पक्षता और स्वाभाविक भाषा-प्रवाह, वर्णन शैली की क्रमबद्धता, भाव की नैसर्गिकता तथा विचार की विशुद्धता पर विशेष ध्यान देना पड़ेगा। अन्यथा पारितोषिक का दुरुपयोग हो जा सकता है। अतः निर्णायकों का चुनाव चौकसी के साथ होना चाहिए। नहीं तो हर साल लेखकों की धज्जियाँ उड़ती रहेंगी। पारितोषिक और पदक पाते ही समालोचक टूट पड़ेंगे और

लेखक के साथ-साथ निर्णायक को भी धर घसीटेंगे। इसलिए निर्णायकों के उत्तम चुनाव पर ही पारितोषिक की वास्तविक सफलता आश्रित है।

पाण्डेयजी की आरोग्य-कामना

हिन्दी के स्वनामधन्य सुलेखक और सुकवि पण्डित लोचनप्रसाद पाण्डेय के छोटे भाई पण्डित मुकुटधर शर्मा बहुत बीमार हैं। सुना है, उनको उन्माद हो गया है। यह बड़े दुःख की बात है। मुकुटधरजी भी हिन्दी के सुकवि और सुलेखक हैं। आप-जैसे होनहार नवयुवक से अभी हिन्दी को बहुत-कुछ आशा है। विश्वास है, कि उस आशा को पूरी कराने के लिए भगवान् आपको अविलम्ब आरोग्यता प्रदान करेंगे। हिन्दी-संसार को ऐसी शुभकामना करनी चाहिए। हमारी तो आन्तरिक इच्छा है कि 'भवभीम-रोग-वैद्य नारायण' उन्हें पूर्ववत् सुख-शान्तिमय नवजीवन प्रदान करें।

'आदर्श' की भ्रूण-हत्या!

मेरे हाथ में दो पत्र हैं। एक तो यह और दूसरा 'आदर्श'। दोनों ही के प्रकाशक मारवाड़ी हैं। यह 'सुधार' तो मारवाड़ियों की एक सार्वजनिक संस्था का मुख-पत्र है, पर 'आदर्श' एक खास व्यक्ति की निजी सम्पत्ति है। ईश्वर की कृपा से दोनों ही पत्र मुझे ऐसे मिले कि भाग्य को कोसने के सिवा और कोई चारा नहीं। मारवाड़ी-समाज की उदासीनता से 'सुधार' का बेड़ा शुरू से ही मँझधार में अँटका पड़ा है और 'आदर्श' का बेड़ा तो तीर ही की रेत में धँस गया, जिस समय 'आदर्श' का सम्पादन मेरे काँपते हुए हाथों में जबरदस्ती सौंपा गया, उस समय ऐसी-ऐसी लम्बी आशाएँ मेरे सामने उपस्थित की गयीं कि साहित्य-सेवा के नाम पर, स्वार्थसिद्धि का बीड़ा, मैंने झट उठा लिया। भावी आशाओं पर विश्वास करके मुझे आग्रह और अनुरोध अंगीकार करना पड़ा। किन्तु नतीजा बुरा हुआ। पाँच अंक निकलकर 'आदर्श' बन्द हो गया! पाँच अंकों में भी एक अंक दो महीने की संयुक्त-संख्या के रूप में निकला। छठे और सातवें अंक के फरमे छपे-छपाये पड़े हुए हैं। उन्हें अब सर्व-साधारण के समक्ष उपस्थित होने का सौभाग्य न प्राप्त होगा। इस तरह 'मारवाड़ी घिस-घिस' में पड़कर मेरे दोनों पत्र झूल रहे हैं। जो सज्जन १३१ मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट अथवा १६२-१६४ हरिसन रोड, (कलकत्ता) के पते से आदर्श-कार्यालय में मेरे पास पत्र भेजने की कृपा किया करते थे, उनसे सविनय निवेदन है कि वे अब दया करके २३ शङ्कर घोष लेन (कलकत्ता) [1] के पते से, पत्रादि भेजा करें।

'आदर्श'-सम्पादक का नियुक्ति-पत्र मेरे पास है। अब वह मेरे पश्चात्ताप को उत्तेजित करने का साधन-मात्र रह गया। 'आदर्श' के प्रकाशक शुरू में एक ग्राहक न रहने पर भी ५०० ग्राहक फँस जाने का स्वप्न देख रहे थे। ऐसे आदर्श पत्र-प्रकाशक हिन्दी-संसार में बहुत हैं। किन्तु मेरे जैसे बुद्धू और अनाड़ी सम्पादक शायद ही हों। निःसन्तान होकर रहना अच्छा, पर पुत्र-शोक अच्छा नहीं। किसी लेखक को किसी ऐसे पत्र का

---

[1] यह मतवाला-कार्यालय का पता है। —ले०

सम्पादन अपने हाथ में न लेना चाहिए जिसका भविष्य उज्ज्वल न हो। भविष्य उज्ज्वल उसी पत्र का हो सकता है जिसके प्रकाशक के पास पूंजी हो, साथ ही साहित्य के प्रति अटल अनुराग भी। केवल पुस्तकों की विज्ञापनबाजी करने और 'पाँचवाँ सवार' बनने के लिए जो लोग पत्र निकालते हैं, वे हिन्दी-संसार को धोखा देते हैं। हिन्दी में बरसाती कीड़े की तरह पत्र निकलते जा रहे हैं और इने-गिने लेखक भी सम्पादक बनकर अपनी प्रतिभा का संहार करने के लिए अपकीर्त्ति के क्षेत्र में उतरते चले जाते हैं। यह साहित्यिक व्यभिचार हिन्दी के लिए अपघातक है। सुसम्पादित और सुसंचालित दस ही पत्र रहें तो हिन्दी के गौरव की वृद्धि हो सकती है। केवल गिनती के सैकड़ों पत्र हिन्दी का, अपकार के सिवा उपकार नहीं कर सकते। 'आदर्श' के निकलने से हिन्दी को कुछ लाभ नहीं हुआ, मैं जरूर लाभान्वित हुआ। किन्तु उसके बन्द हो जाने से हिन्दी की कुछ तो हानि अवश्य हुई, मेरी चाहे भले ही न हुई हो—क्योंकि कलम और पेट का निन्द्य नाता इस जीवन में छूटता नहीं नजर आता। हिन्दी की कुछ हानि इसलिए हुई कि 'आदर्श' के जो सौ-सवा-सौ ग्राहक थे, उन्हें अब शीघ्र किसी नये हिन्दी-पत्र का ग्राहक होने का साहस न होगा। 'आदर्श' ही जैसे पत्र बड़े-बड़े पत्रों के मार्ग में कण्टक-स्वरूप हैं। भगवान् ऐसे कण्टकों से सबको बचावें।

सहयोगी 'समन्वय' की अपूर्वता

परमहंस देव वास्तव में अवतारी पुरुष थे। वे संसार के लिए एक नया सन्देश लेकर आये थे। यह सन्देश इतना मधुर, तृप्तिकर और गुणकारी है कि जिस किसी ने उसका आस्वादन किया, वह कृत-कृत्य हो गया। उसी दिव्य सन्देश को चखकर स्वामी विवेकानन्द कृतार्थ हो गये। उस सन्देश ने उनके हृदय में इतना माधुर्य्य भर दिया कि उनके मन-वचन-कर्म की मधुरिमा आज भी संसार में प्रेम का जादू जगा रही है। बंगाल में परमहंस देव के वचनामृत और कथामृत पान करनेवाले लाखों की संख्या में हैं। उनके उपदेशों ने हजारों नर-नारियों का जीवन शान्तिमय और धन्य बना दिया है। श्रीरामकृष्ण आजकल बंगाल के तुलसी और कबीर तथा उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द बंगाल के गुरुगोविन्द हो रहे हैं। इन दोनों महात्माओं के सुचारु पुण्य चरित्र ने बंगाल में एक नवीन धर्मयुग उपस्थित कर दिया है।

श्रीरामकृष्ण संघ-जैसी संस्था, बंगाल के सिवा, भारत के किसी प्रान्त में नहीं है। इस संस्था की सुपल्लवित शाखाएँ बंगाल से बाहर भी फैली हुई हैं। उनकी शीतल छाया तो अमेरिका तक फैली हुई है। बड़े-बड़े उदार विद्वानों और बी० ए०, एम० ए० बंगालियों ने उक्त संस्था की सेवा के लिए अपना सारा जीवन ही उत्सर्ग कर दिया है। इसीलिए संघ का संगठन और संचालन बड़ी सुव्यवस्थित रीति से हो रहा है। विश्व-प्रेम और विश्व-सेवा ही उस संघ के स्वेच्छा सेवकों का परम धर्म है।

संघ की एक शाखा कलकत्ता में अद्वैताश्रम नाम से प्रसिद्ध है। इसी आश्रम से 'समन्वय' नामक मासिक-पत्र निकलता है। हिन्दी में वह अपने ढंग और विषय का एक ही उत्तम पत्र है। इसके सम्पादक हैं—स्वामी माधवानन्दजी महाराज। आप बंगाली हैं

और अँगरेजी के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। किन्तु, जिस योग्यता से आप 'समन्वय' का सम्पादन कर रहे हैं, वह हिन्दीवालों के लिए शुभ होने पर भी कुछ आश्चर्य्यजनक है। क्योंकि स्वामीजी ने एकाएक अपने पवित्र दर्शन से हिन्दीवालों को मुग्ध किया है। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि एकाएक 'समन्वय' को लेकर जिस सराहनीय सफलता के साथ आप कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए हैं, वह हिन्दी के लिए सौभाग्यवर्द्धक और आपके लिए गौरवजनक है।

'समन्वय' धार्मिक और आध्यात्मिक पत्र है। सांसारिक झंझट-झमेलों में फँसे रहनेवाले मारवाड़ियों को अपने चित्त की शान्ति और भावी कल्याण के लिए 'समन्वय' अवश्य पढ़ना चाहिए। इसमें उपर्युक्त परमहंसदेव और स्वामीजी के सरल एवं बारीक उपदेशों की ऐसी बहार रहती है कि उन्हें हृदयंगम करने पर मोह-माया के जाल में फँसे हुए मनुष्य का शुष्क हृदय भी शान्ति की सुशीतल अमृत धारा से सिक्त हो जाता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सदा ठीक समय पर निकलता है और पाठकों के सामने गहन विषयों को भी बड़ी सरस और शुद्ध भाषा में सुगमतापूर्वक उपस्थित करता है। इसका कार्यालय नं० २८ कॉलेजस्ट्रीट मार्केट में है। इसकी उत्तमता; उपयोगिता और पवित्रता को देखते हुए तीन रुपया वार्षिक मूल्य कुछ भी नहीं है।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कानपुर

गत चैत्र में तेरहवाँ सम्मेलन कानपुर में बड़े समारोह से हो गया। कानपुर उत्तरीय भारत का एक प्रधान वाणिज्य-केन्द्र है। वहाँ धनी मारवाड़ियों की संख्या अधिक है। मुझे आशा थी कि कानपुर के धनाढ्य मारवाड़ियों की ओर से सम्मेलन को कोई ऐसा स्मृति-चिह्न मिलेगा, जिससे मारवाड़ी-जाति का सुयश-प्रकाश और हिन्दी का उपकार होगा। मैंने पहले भी लिखा था कि काशी के वैश्यकुलदीपक बाबू गोकुलचन्द जी जिस प्रकार सम्मेलन को ४० हजार दान दे चुके हैं, उसी प्रकार मारवाड़ी-समाज के किसी दानवार को भी, सम्मेलन के लिए,—हिन्दी के नाम पर, उल्लेखनीय दान देना चाहिए। किन्तु, जिस प्रकार कलकत्ता का एकादश सम्मेलन मारवाड़ियों के मन्द बाजार का उदास मुखड़ा देखकर हताश हो गया था, उसी प्रकार कानपुर का त्रयोदश सम्मेलन भी मारवाड़ियों के हार्दिक उत्साह का तृप्तिकर फल न चख सका। यह खेद की बात है।

कलकत्ता और कानपुर के सम्मेलन विशेषतायुक्त कहे जा सकते हैं। क्योंकि कलकत्ता के सम्मेलन की विशेषता थी ४००००) का दान और कानपुर के सम्मेलन की विशेषता रही १२००) का प्रथम 'मंगला प्रसाद पारतोषिक'। सफलतापूर्वक सम्पन्न होनेवाला कवि-सम्मेलन भी कानपुर के महोत्सव की दूसरी विशेषता है। तीसरी विशेषता है सम्मेलन की बहुदिन लालित लालसा की पूर्त्ति—सम्मेलन के स्वागतमंच पर श्रद्धेय द्विवेदीजी[1] की मंजुल मूर्त्ति। चौथी विशेषता है सम्मेलन के प्राणाधार और कर्णधार बाबू पुरुषोत्तम दासजी टण्डन का सभापतित्व। पाँचवीं विशेषता है दो महत्त्वपूर्ण प्रस्तावों की स्वीकृति—एक तो हिन्दी के विराट संग्रहालय की स्थापना और दूसरा

१. आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी (सरस्वती-सम्पादक)। —ले०

व्रजभाषा कोष की आवश्यकता की पूर्ति। इन सारी विशेषताओं के साथ-साथ उभय सभापतियों के विद्वत्तापूर्ण भाषणों की विशेषता का भी उल्लेख करना आवश्यक है। टण्डनजी का भाषण बड़ी मिहनत और खोज से लिखा हुआ है। वह कहीं अत्यन्त गंभीर और कहीं परम रोचक है। उसका अखण्ड प्रवाह कहीं शिथिल नहीं होता। द्विवेदीजी का महत्त्वपूर्ण भाषण तो इतना सरल है कि, आज तक ऐसा दर्पणोज्ज्वल भाषण सम्मेलन के मंच से किसी ने नहीं दिया।

'भ्रमर' उड़ गया!

बड़े दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि हिन्दी का एक होनहार सपूत असमय ही चल बसा। सुना है, और अत्यन्त मर्माहत होकर सुना है कि सीताराम दास 'भ्रमर' हिन्दी-साहित्य-वाटिका से सदा के लिए उड़ गया। वह नवयुवक था और मेरा मित्र भी था। रहनेवाला तो था रामनगर (काशी) का, किन्तु कलकत्ता के माहेश्वरी विद्यालय में काम करता था। वहीं प्लेग से उसकी मृत्यु हुई और ऐसे समय में हुई कि उसके एकमात्र सहायक पण्डित जगन्नारायण देव शर्मा 'कवि-पुष्कर' भी अनुपस्थित थे। 'पुष्कर' और 'भ्रमर' की अभिन्नता आदर्श थी। मैं 'भ्रमर' के शोक-सन्तप्त परिवार के साथ समवेदना प्रकट करते हुए ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि उसकी साहित्य-रस-निमग्न आत्मा को शांति प्राप्त हो।

परोपकार सर्वोत्तम धर्म है!

भागलपुर-निवासी बाबू मोहनलाल जिलाकेर ने 'वास्तविक सुधार' शीर्षक एक लम्बा-चौड़ा लेख भेजा है। खेद है कि स्थानाभाव के कारण इतना बड़ा लेख में पाठकों की सेवा में उपस्थित नहीं कर सकता। लेख को छोटा बनाना भी कठिन है। क्योंकि शुरू से ही वेदान्त और विज्ञान की ऐसी धारा बहायी गयी है कि अन्त तक उसका प्रवाह अखण्ड गति से बहता चला गया है। बीच-बीच में तोड़ना असम्भव है। लेखक महाशय बड़े सूक्ष्मदर्शी और गम्भीर अनुभवी मालूम होते हैं। जान पड़ता है कि, आप नवयुवक हैं और समाज-सुधार के सच्चे प्रेमी भी हैं। आपकी राय है कि, "पहले अपना सुधार करना चाहिए, उसके बाद समाज-सुधार के लिए चेष्टा करनी चाहिए। यदि समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना सुधार कर ले तो सारा समाज आप-से-आप सुधर जाय। क्योंकि व्यक्तियों की समष्टि से ही समाज बना है।" फिर आगे चलकर आप लिखते हैं कि, "परोपकार करना चाहिए। उसीसे आत्म-सुधार होगा। सत्संग और शास्त्र के अध्ययन से परोपकार में बुद्धि नियुक्त होगी। परोपकार में चित्त देते ही अन्तःकरण स्वच्छ हो जायगा। भीतर की सफाई ही सुधार की जड़ है।" इतना ही आपके लेख का अत्यन्त संक्षिप्त सारांश है। आशा है, अपने सुविस्तृत लेख का इत्र निकाल डालने के लिए जिलाकेर महाशय मुझे क्षमा करेंगे और पाठक भी सुगंधित इत्र का छोटा फाहा अपने कर्णपुट में सहर्ष स्थापित करेंगे।

मासिक 'मारवाड़ी सुधार' (आरा), वर्ष २; अङ्क ८; वैशाख १९८० वि०,
सन् १९२३ ई०।

[२]

दो शब्द

"भागीरथी हम दोस भरे, पै भरोस यही कि परोस तिहारे।"

बिहार का अहोभाग्य

हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं के लिए ऊसर कहे जानेवाले बदनाम बिहार प्रान्त का यह परम सौभाग्य है कि श्रीमान् कुमार कृष्णनन्दसिंह बहादुर के संरक्षण, में पं० रामगोविन्द त्रिवेदी वेदान्तशास्त्री के प्रधान सम्पादकत्व और पं० गौरी नाथ झा व्याकरणतीर्थ के प्रवर्त्तकत्व तथा सम्पादकत्व में 'गंगा' जैसी सुन्दर पत्रिका निकल रही है। श्रीमान् कुमारसाहब का हिन्दी-प्रेम निस्सन्देह अभिनन्दनीय एवं आदर्श है। आपका उत्कट उत्साह और आपकी उद्भट उदारता देखकर अनायास ही विश्वास होता है कि बिहार के ललाट पर बरसों की जमी हुई कलंक-कालिमा को अवश्य ही धो बहावेंगे। पुनः त्रिवेदीजी और झाजी के समान प्रकाण्ड विद्वानों का सहयोग प्राप्त हो जाने से 'सोने में सुगन्ध' वाली कहावत चरितार्थ हो गयी है। प्रधान-सम्पादक त्रिवेदीजी के विशेष परिचय की कोई आवश्यकता नहीं है। हिन्दी-संसार में 'आर्य-महिला' का सफल संचालन और 'विश्वदूत' तथा 'सेनापति' का सराहनीय सम्पादन करके आप यथेष्ट यशस्वी हो चुके हैं, बल्कि हिन्दी में 'दर्शन-परिचय' 'हिन्दी विष्णु पुराण' आदि उत्कृष्ट ग्रन्थों को लिखकर अपनी विद्वता का पूर्ण परिचय भी दे चुके हैं। आपने अभी हाल में विदेश-भ्रमण द्वारा जो अभिनव अनुभव अर्जन किया है, उससे गंगा के विशेष लाभान्वित होने की आशा है। और, झाजी तो संस्कृत-साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित होकर भी हिन्दी के इतने हिमायती हैं कि, जैसे रामचन्द्र जी की कीर्त्ति-पताका के दण्ड-स्वरूप लक्ष्मण जी थे, वैसे ही श्रीमान् कुमारसाहब के हिन्दी-प्रेमप्रासाद के आधार-स्तम्भ आप हैं। प्रायः ऐसा देखने में आता है कि, संस्कृत के दिग्गज विद्वान् हिन्दी से सर्वथा विरक्त रहा करते हैं। परन्तु, बिहार के सौभाग्य से झाजी इसके अपवाद हैं। आपके हृदय में हिन्दी के लिए जो सच्ची लगन है, वास्तव में वही 'गंगा' के रूप में फूट निकली है और कुमार साहब का विशाल हृदय उस लगन-लहरी के लिए प्रशस्त प्रवाह-क्षेत्र बन गया है। लक्ष्मी और सरस्वती के कृपा-पात्रों की यह मानसी-धारा ऊसर बिहार को उर्वर करे, भक्त-कल्पद्रुम भगवान विश्वनाथ से इतनी ही प्रार्थना है।

मेरी राम कहानी

'नदी-नाव-संयोग' से मैं भी आकर पाँचवा सवार बन गया। दो सुयोग्य विद्वानों के सम्पर्क से मुझे जो लाभ होगा, उसका मूल्य मैं ही आँक सकता हुँ। लक्ष्मी और सरस्वती के लीला-क्षेत्र में जिस 'गंगा' का उद्गम हुआ है, उसकी सेवा के लिए मुझ-जैसे अकिंचन और अल्पज्ञ का कटिबद्ध हो जाना दुस्साहस तो है ही,

दयनीय भी है। किन्तु मनुष्य 'परिस्थितियों का दास' कहा गया है, इसलिए परिस्थिति से उत्पन्न हुई विवशता की बलि-वेदी पर मुझे अपनी त्रुटियों और अयोग्यता के ज्ञान का बलिदान करना पड़ता है। अगर कहीं इस असमर्थता पर भी ईश्वर रीझ गये, तो मेरी बहुत दिनों की बिगड़ी बन जायगी। पहले-पहल मने लगातार दो साल तक आरा से प्रकाशित एवं सम्प्रति समाधिस्थ सचित्र मासिक-पत्र 'मावाड़ी-सुधार' का सम्पादन किया था। वह केवल लक्ष्मीपात्र मारवाड़ी भाइयों की उदासीनता से बन्द हो गया। उसके बाद मैं कुछ दिन कलकतिया 'मतवाला' के सम्पादकीय विभाग में रहा, और कुछ दिन लखनवी 'माधुरी' के, तथा फिर दुबारा कुछ दिन 'मतवाला' के भी। उन दिनों, कलकत्ता में रहते हुए, मैंने छः-छः महीनों तक 'आदर्श' और 'उपन्यास तरंग' नामक मासिक पत्रों का सम्पादन किया था। अन्त में एक साल तक अस्तङ्गत 'समन्वय' के सम्पादकीय विभाग में खटकर मैं काशी चला आया, जहाँ लगभग चार-पाँच वर्ष तक लगातार 'हिन्दी पुस्तक भंडार' (लहेरियासराय) का साहित्यिक कार्य सम्पादन करता रहा हूँ, बल्कि पाँचवे साल में सात महीनों तक मुझे 'बालक' के सम्पादन का सौभाग्य भी प्राप्त रहा है। इस प्रकार 'सात घाट का पानी पीने के बाद आज मैं 'गंगा' के घाट पर पहुँचा हूँ। यदि इस घाट पर भी मेरी साहित्यिक प्यास न बुझी, तो भला 'ऊसर में गंगा के आने का लाभ मैं क्या समझूँगा। मुझे तो विश्वास है कि, जैसे जह्नु-आश्रम से निकल कर पार्थिव-गंगा की धारा कहीं नहीं रुकी है, वैसे ही, जह्नु-आश्रम से निकलनेवाली इस साहित्यिक 'गंगा' की धवल धारा भी अजस्र भाव से बहती रहेगी और इस ऊसर बिहार के शुष्क साहित्यक्षेत्र को सरस-सुखद 'नन्दनवन' बना कर ही दम लेगी। इस महत्वाकांक्षा को ईश्वर ही पूरा करें, तो कर सकते हैं।

आवाहन

त्रिभुवन-तारिणि जाह्नवि-गंगे ! पतितोद्धारिणि विमल तरंगे ! सुरापगे मन्दाकिनि नन्दिनि ! सुधे त्रिपथगे कलुष निकन्दिनि ! सरिद्वरे जगतीतल-धन्ये ! शीतल सीकरशालिनि पुण्ये ! धूर्जटि-जटा-विहारणि शुभ्रे ! भागिरथि ! कुरु मङ्गल-मग्रे !

हे शैलेन्द्रनन्दिनि ! हे शम्भुशेखरे ! हे शस्यश्यामलांचले ! हे विष्णुपादोद्भवे ! हे समुद्र-सुभगे ! जैसे तुम्हारे श्रद्धालु भक्त को "गंगा-बिन्दु-बिन्दु में गोविन्द दरसतु हैं', वैसे ही साहित्यानुरागियों को इस 'गंगा' के प्रत्येक पृष्ठ में प्रेम, प्रज्ञा और प्रतिभा की प्रभा दिखाई दे। जैसे तुम्हारी त्रितापहारिणी धारा 'पाप काटिवे को आरा' है, वैसे ही इस 'गंगा' का साहित्य-स्रोत भी सामाजिक त्रिदोष का शमन करने में समर्थ और धार्मिक दम्भ का दलन करने में द्रुतगामी हो। जैसे तुम तुषार-किरीटी नगराज की गोद में अपनी शिला-भगनियों के साथ किलोलें करते हुए अवनी-तल में अवतीर्ण होकर आर्यावर्त को आप्यायित और प्लावित करती हो, वैसे ही यह 'गंगा' भी गगनारोही 'कृष्णगढ़' की गोद में भिन्न-भिन्न भाषा भगिनियों के साथ किलोलें करती हुई साहित्य क्षेत्र में अवतीर्ण होकर हिन्दी को हरी-भरी और लहलही बनाती रहे। जैसे तुम्हारे पिता हिमाचल

पृथ्वी के लिये मापदण्ड हूँ और तुम सागराम्बरा भारत-वसुन्धरा की कटि-किंकिणी हो, वैसे ही यह 'गङ्गा' भी आलोचना-भूमि के लिए मापदण्ड बने और हिन्दी-सुन्दरी के कटि प्रदेश की क्षुद्रघण्टिका। जैसे तुम्हारी सैकत-शय्या पर शरच्चन्द्रिका छवि-छटा छिटकाती है, वैसे ही इस 'गंगा' की तरङ्गमाला भी सहृदय-हृदय हार बनकर शोभा सम्पत्ति की सृष्टि करे। जैसे तुम कूल-द्रुम-भंजन करके अपना मार्ग प्रशस्त करती हो, वैसे ही विघ्न बाधाओं को व्यर्थ करके यह 'गंगा' भी अपने गन्तव्य पथ पर आरूढ़ रहे। ऐसा ही वर दो हे विश्ववन्दनीया प्रातःस्मरणीया मा गंगे! अपनी अपार महिमा का टुक ध्यान धरो मा![1]

—मासिक 'गङ्गा' (सुलतानगंज, भागलपुर); प्रवाह १; तरंग १; मार्गशीर्ष सं० १९८७ वि०, नवम्बर १९३० ई०

हिन्दी में आत्मकथाएँ

हिन्दी में आत्मकथाएँ बहुत कम हैं। हमारी समझ में हिन्दी में लिखी गई सबसे पहली आत्मकथा स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द संन्यासी की है जो 'कल्याण पथ का पथिक' के नाम से काशी के ज्ञानमण्डल-कार्यालय से निकली है। दूसरी कोई उल्लेखनीय आत्मकथा हिन्दी में शायद नहीं लिखी गयी! महात्मा गाँधी ने अँग्रेजी या गुजराती में जो आत्मकथा लिखी थी, जो असहयोग-आन्दोलन के युग से पूर्व ही तक की घटनाओं से संवलित है, उसका सरल हिन्दी-अनुवाद 'त्यागभूमि'-सम्पादक पण्डित हरिभाऊ उपाध्याय ने किया है और वह अजमेर के 'सस्ता-साहित्य-मण्डल' से प्रकाशित है। वह महात्मा जी की आत्मकथा का पूर्वार्द्ध ही है; उत्तरार्ध कब लिखा जायगा, यह ईश्वर की इच्छा के अधीन है। फिर देशभक्त लाला लाजपत राय की आत्मकथा भी लाहौर के हिन्दी साप्ताहिक 'पंजाब-केसरी' में प्रकाशित होने लगी थी, किन्तु अभी वह पूरी नहीं हुई है—यद्यपि लालाजी उसे पूरी कर चुके थे और आशा की जाती है कि वह अविलम्ब ही पुस्तक रूप में हिन्दी-पाठकों के आगे उपस्थित होगी। सम्भवतः लालाजी ने भी वह आत्मकथा हिन्दी या हिन्दुस्तानी भाषा में ही लिखी थी; क्योंकि उसकी भाषा से ही ऐसा प्रकट होता है। जो हो, इन तीन के सिवा चौथी कोई आत्मकथा अभी तक हिन्दी में प्रकट नहीं हुई है। गुरुकुल काँगड़ी के प्रधान आचार्य रामदेव एम० ए० की आत्मकथा का कुछ आवश्यक अंश—इधर की किसी पत्रिका में शायद दिल्ली की 'ज्योति' में—देखने में आये थे। वह बहुत शिक्षाप्रद तथा मनोरंजक प्रतीत हुई; पर उसके पुस्तकाकार प्रकाशन के विषय में हमें कुछ पता नहीं है। यदि आचार्य महाशय उसे पूरा करके पुस्तकाकार प्रकाशित होने दें, तो निश्चय ही वह भी आत्मकथाओं की भाँति हिन्दी में एक अच्छी चीज होगी; क्योंकि वह हिन्दी में मूल-रूप से लिखी गई प्रतीत होती है। हाँ,

१. 'गङ्गा' में प्रकाशित सम्पादकीय लेख बहुत हैं; पर स्थानाभाव के कारण यहाँ कुछ ही दिये गये हैं।—ले०

यदि हम भूलते नहीं, तो शायद हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार पं० नारायण प्रसाद 'बेताब' को लिखी आत्मकथा भी 'आर्यकुमार' या किसी ऐसे ही नाम के पत्र में दृष्टिगोचर हुई थी। उसके विषय में भी हमारी अच्छी धारणा है और वह पूरी होने पर एक काम की चीज हो सकती है। वे उर्दू-फारसी के पण्डित और नाट्य-कला के ज्ञाता हैं। हिन्दी के नाटककारों में उन्हें रंगमंच सम्बन्धी सुविधाओं और कठिनाइयों का सबसे अधिक अनुभव है। हमें कुछ-कुछ स्मरण है कि उन्होंने अपनी आत्मकथा में बहुत-सी बातें लिखी थी जिनसे हिन्दी-रंगमंच और नाट्य-साहित्य के क्रम-विकास पर बहुत-कुछ प्रभाव पड़ सकता है। हम नहीं कह सकते कि बेताब जी अपनी आत्मकथा पूरी करने में लगे हुए हैं, और वह कबतक पुस्तक रूप में प्रकट होगी यह भी ईश्वराधीन है।

अब हमें हिन्दी में किसी और आत्मकथा के प्रकाशित होने का पता नहीं है। लखनऊ की 'सुधा' में हिन्दी के भावुक लेखक पं० इलाचन्द्र जोशी ने कुछ इसी ढंग के एक-दो लेख लिखे थे; पर वे प्रलोभन देकर ही रह गये। हिन्दी के पत्र-सम्पादकों को चाहिए कि अधिकारी लेखकों से प्रेरणा करके उनकी आत्मकथाएँ लिखाकर अपने पत्रों में प्रकाशित करें। इससे पाठकों का मनोरंजन तथा ज्ञानवर्द्धन तो होगा ही, लब्धकीर्त्ति लेखकों के आत्मचरित भी असली रूप में हिन्दी के भंडार में चले आयेंगे। इस दिशा में 'विशाल-भारत' के सुयोग्य सम्पादक पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने कुछ उद्योग किया था। वे स्वयं कुछ प्रसिद्ध लेखकों और विद्वानों से मिलकर तथा उनसे प्रश्न कर कुछ बातें नोट कर लाये और उन्हें अपने पत्र में प्रकाशित किया। यह प्रणाली भी अच्छी है और इसके सदुपयोग से पत्र-पत्रिकाओं को मनोरंजक बनाने का एक उत्तम साधन प्राप्त हो सकता है।

—मासिक, 'गङ्गा' (सुलतानगंज, भागलपुर), प्रवाह १, तरंग २, पौष संवत् १९८७ वि०, दिसम्बर १९३० ई०।

हिन्दी में 'भूगोल' का अभाव

यदि विचार की दृष्टि से देखा जाय, तो इतिहास से भूगोल का महत्त्व किसी कदर कम नहीं है। भूगोल के बिना इतिहास को अपंग कहें, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इतिहास पढ़नेवालों के लिए भूगोल का ज्ञान परमावश्यक है। हिन्दी में ऊँगलियों पर गिन लेने योग्य कुछ इतिहास-ग्रन्थ तो हैं भी; पर भूगोल की ऐसी एक भी पुस्तक नहीं है, जिसे पढ़कर हिन्दी के इतिहास-ग्रंथों के पाठक कुछ ज्ञानार्जन कर सकें। अब तक हिन्दी में केवल ऐसी ही भौगोलिक पुस्तकें निकली हैं, जो केवल स्कूली लड़कों के ही काम आ सकती हैं। पाठ्य-रूप में स्वीकृत होने के लिए हर साल हिन्दी के बड़े-बड़े प्रकाशक छोटी-बड़ी अनेक भौगोलिक पुस्तकें निकालते हैं, पर वे सब-की-सब खासकर बालकों के लिए ही लिखी और छापी जाती हैं—वे तोता-रटन्तों के सिवा अध्ययनशील पाठकों के काम की बिलकुल नहीं होतीं। प्रयाग के प्रसिद्ध प्रकाशक रामनारायण लाल के यहाँ से

एक 'मिडल क्लास भूगोल' नामकी पुस्तक बहुत दिनों पहले निकली थी, जो शायद अबतक अपने ढंग की अकेली पुस्तक बनी हुई है। इधर पटना के ग्रंथमाला-कार्यालय से पं० रामदहिन मिश्र, काव्यतीर्थ ने भी हाई स्कूल की ऊँची श्रेणियों के लिए दो या तीन भौगोलिक पुस्तकें अच्छे ढंग से प्रकाशित की हैं। पर अभीतक कॉलेज के छात्रों के पढ़ने योग्य एक भी अप-टू-डेट और सर्वाङ्गपूर्ण भूगोल कहीं से नहीं निकला है। हिन्दी में एक ऐसे बृहत् विश्व-भूगोल की बड़ी आवश्यकता है, जो खूब विस्तृत और मनोरंजक हो। भारत का इतिहास निकालनेवाले और लिखनेवाले तो बहुत हैं, पर भारत के भूगोल की ओर किसी की भी दृष्टि नहीं है, यह बड़ी चिन्ता का विषय है। प्रयाग से 'भूगोल' नाम का जो सुसम्पादित पत्र निकलता है, वह इस दिशा में बहुत ही प्रशंसनीय कार्य कर सकता है। उसके भूगोल-विशेषज्ञ सम्पादक यदि पहले अपने ही देश का एक उत्तम भूगोल तैयार करें—जो साहित्यिक भाषा और रोचक वर्णन-शैली में लिखा गया हो, तो इस अभाव की पूर्त्ति सहज ही हो सकती है। वे ही इस काम के सुयोग्य अधिकारी भी नजर आते हैं। उपर्युक्त ग्रंथमाला-कार्यालय से पं० रामदहिन मिश्र काव्यतीर्थ ने 'बिहार का विहार' नामक एक प्रान्तीय भूगोल, साहित्यिक भाषा और मनोहारिणी शैली में, निकाला था। पर भारत के सभी प्रान्तों पर वैसी पुस्तक निकलने की जरूरत है। मध्यप्रदेश का एक भूगोल शायद हिन्दी में निकल भी चुका है। पर अभी कितने ही प्रान्त अछूते पड़े हुए हैं। इधर पटना के भारती पब्लिशर्स लिमिटेड से 'दरभंगा' जिले पर एक अच्छी-सी भौगोलिक पुस्तक निकली है और आगे भी दूसरे जिलों पर ऐसी ही पुस्तकें निकलनेवाली हैं। यदि हिन्दी-प्रधान प्रान्तों के लेखक अपने-अपने जिलों का भी ऐसा ही विस्तृत भौगोलिक विवरण लिख डालते, तो समस्त देश के बृहत् भूगोल का काम बहुत आसान हो जाता। अँगरेजी में भारत के सभी प्रान्तों पर अलग-अलग पूर्ण विवरणात्मक भूगोल हैं, उनसे और इम्पीरियल गजेटियर तथा विश्वकोष आदि से इस विषय में पूरी-पूरी सहायता मिल सकती है। हाँ, भूगोल लिखनेवाला व्यक्ति पूर्ण सहृदय, स्वदेशभक्त और साहित्यिक होना चाहिए, जो उसे सरल एवं सरस शैली में प्रभावशाली ढंग से लिख सके। बँगला के 'पृथ्वीर इतिहास' में विद्वद्वर पं० दुर्गादास लाहिड़ी ने भारतवर्ष का जैसा ओजस्वी वर्णन लिखा है, वैसा तो क्या, उसका शतांश भी रोचक वर्णन कहीं हिन्दी के किसी भारत-भूगोल में नहीं मिल सकता। आवश्यकता इस बात की है कि, खूब आकर्षक ढंग से उच्च कोटि के भूगोल लिखे और सचित्र प्रकाशित किये जायँ, तभी हिन्दी के इतिहास-साहित्य की शोभा-वृद्धि हो सकती है।

विश्वविजयी नेपोलियन बोनापार्ट को भूगोल-विद्या का बड़ा शौक था। वह प्रतिदिन युद्धभूमि से लौटकर अपने शिविर में रात को घंटे-दो घंटे भूगोल का अध्ययन करते हुए भौगोलिक मानचित्र अंकित किया करता था, जिससे भिन्न-भिन्न देशों पर आक्रमण करने के सुगम मार्ग दृष्टिगत होते थे। इसप्रकार भूगोल का निरन्तर अध्ययन और मनन उसके दिग्विजय में परम सहायक सिद्ध हुआ था। अतएव राष्ट्रीय दृष्टि से भी भूगोल का बड़ा भारी महत्त्व है, किन्तु जबतक सुन्दर साहित्यिक शैली में भूगोल का

निर्माण न होगा, उच्च श्रेणी के पाठक या कॉलेज के छात्र कभी भूगोल-पाठ की ओर आकृष्ट नहीं हो सकते। हमें आशा है कि, हिन्दी के समर्थ प्रकाशक इधर अवश्य ध्यान देंगे।

—मासिक 'गङ्गा'; प्रवाह १, तरंग २, पौष, १९८७ वि०; दिसम्बर, १९३० ई०

*

हिन्दी की व्यवसायी नाटक-कम्पनियाँ

हिन्दी के नाटक खेलनेवाली व्यवसायी-कम्पनियाँ तो कई हैं; पर उन्हें साहित्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। उनके संचालक सिर्फ पैसे के लिए लालायित रहते हैं। वे नाटक को कला की दृष्टि से नहीं, व्यवसाय की दृष्टि से देखते हैं। उन्हें हिन्दी-भाषा के प्रचार अथवा हिन्दी-साहित्य की समृद्धि से कोई मतलब नहीं। उन्हें सिर्फ टके चाहिए, भाषा और साहित्य जाय जहन्नुम। यशस्वी नाटककार पं० नारायणप्रसाद 'बेताब' बाबू हरिकृष्ण 'जौहर', पं० राधेश्याम कथावाचक आदि जैसे हिन्दी-प्रेमी साहित्यिक व्यक्ति भी व्यवसायी नाटक-कम्पनियों का सुधार न कर सके; क्योंकि कम्पनियों के मालिक हिन्दी-भाषा अथवा साहित्य से लेशमात्र सहानुभूति नहीं रखते। उक्त नाटककारों का तो यह भी खयाल है कि कम्पनियों को शुद्ध भाषा-भाषी साहित्यिक अभिनेता नहीं मिलते। कम्पनियों के अधिकांश अभिनेता घोर विलासी, मद्यप, दुश्चरित्र, देश-दशा अनभिज्ञ और अशिक्षित होते हैं। उनमें से कुछ भले ही संगीत और नाट्य-कला से थोड़ा परिचित हों; पर हिन्दी-साहित्य नाम की किसी चिड़िया को वे नहीं पहचानते। ऐसी दशा में साहित्यिक नाटककारों का असफल रह जाना स्वाभाविक है। व्याकुल-भारत, सूर-विजय, किर्लोसकर आदि नाटक-कम्पनियों के अभिनयों में हिन्दी-भाषा और साहित्य पर कुछ प्रकाश पड़ता हुआ-सा नजर आया था, मगर वे भी साहित्य का उद्देश्य लेकर नहीं चली थीं। मदन-थियेटर के पारसी-स्टेजों पर श्रीमान 'बेताब' जी और 'जौहर' जी के एक दो नाटकों में अवश्य ही कुछ साहित्यिक रंग देखने में आया, मगर उनका मुख्य उद्देश्य भी केवल नगद-नारायण की आराधना ही था। एक ऐसी साहित्यिक नाटक-कम्पनी की बड़ी आवश्यकता है, जो व्यावसायिक रूप से चलाई जाय। देश के भिन्न-भिन्न नगरों में जो अमेच्युर कम्पनियाँ हैं, वे इस विषय पर विचार कर सकती हैं। इस काम में अच्छी पूंजी लगाने पर एक खासा लाभदायक व्यवसाय खड़ा हो सकता है। जो लेखक और कवि दिन-रात कलम घिसकर भी दरिद्र ही बने रहते हैं, उनके लिए तो इस क्षेत्र में सफलता के अनेक साधन हैं। वे पारसी कम्पनियों में घुसकर भी हिन्दी-भाषा और साहित्य का बड़ा उपकार कर सकते हैं। बंगाल, महाराष्ट्र और गुजरात की व्यवसायी कम्पनियों का आदर्श हमारे सामने है। वे अपने साहित्य की सेवा के साथ-साथ पैसे भी काफी बना रही हैं। क्या हिन्दी-संसार के किसी धनी-मानी साहित्यप्रेमी की दृष्टि इस व्यवसाय पर नहीं पड़ती ?

मासिक 'गङ्गा' (सुलतानगंज, भागलपुर); प्रवाह १, तरंग ४, चैत, संवत् १९८८ वि०, मार्च, १९३१ ई०

प्रतापी पुरुष का बलिदान !!!

कानपुर के कट्टर हिन्दी-साप्ताहिक 'प्रताप' के स्वनामधन्य सम्पादक श्रीगणेश-शंकर विद्यार्थी, कानपुर के भीषण हिन्दू-मुस्लिम दंगे में, वीरगति को प्राप्त हो गये—यह लिखते हुए प्राण छटपटा रहे हैं, कलेजा काँप रहा है, आत्मा कलप रही है, हृदय तड़प-तड़प कर ऐंठ जाता है, आँखें छलछला उठती हैं, लेखनी थरथराने लगती है। कुछ लिखते नहीं बनता। कुछ भी कहने की प्रवृत्ति नहीं होती। मन में अनेक प्रकार के भाव बाहर आने के लिए उद्विग्न हो रहे हैं, पर उन्हें कलमबन्द करने की हिम्मत नहीं होती। हम विद्यार्थीजी के पवित्र वलिदान का महत्त्व समझते हुए भी अत्यन्त अधीर हो रहे हैं। सबसे बढ़कर दुःख यह है कि, हम जी-भर, खुलकर रो भी नहीं सकते। अन्तरात्मा का करुण क्रन्दन, हृदय का दारुण चीत्कार, हमारे लिए सर्वथा असह्य हो रहा है। बड़े-बड़े प्रतिष्ठित नेता उनकी वीरगति-प्राप्ति और उनके वलिदान की प्रशंसा कर रहे हैं; फिर भी हमारे चित्त में शान्ति नहीं टिकती, हमारे मन का उद्वेग शान्त नहीं होता, हमारे कलेजे पर रखी हुई चिनगारी नहीं बुझती। हम कैसे अपने हृदय को सान्त्वना दें, हमको कहीं भी किसी प्रकार आश्वासन नहीं मिल रहा है। हम इस समय अतिशय व्यथित हैं। हमारी व्यग्रता अतीव उग्र रूप धारण करती जा रही है। हमारे रोम-रोम बिलख रहे हैं। हा भगवन्! हमारा वह बाँका लड़ाका अभिमन्यु कहाँ जूझ गया? हमारे साहित्य-सिंहासन की की मूर्त्ति को किसने तोड़ डाला रे!!

मान्यवर 'आज'-सम्पादक पराड़करजी ने लिखा है—"वे जिनकी सेवा करने गये थे, उन्होंने ही उनको खतम कर डाला!" यही तो कलेजे की कसक है, इसी पर तो दिल के फफोले में टीस उठती है, इतना ही तो हमारी व्याकुलता को बार-बार कोंच रहा है। 'कर्मवीर'-सम्पादक पण्डित माखनलालजी चतुर्वेदी ने वक्तव्य दिया है कि—"गणेशशंकरजी की वलि लेनेवाली इस युग की राक्षसी भूख को बरसों तक पश्चात्ताप करना पड़े।" ऐ हमारे क्षुब्ध हृदय, तुम किसी तरह अपनी जलन और कुढ़न को दबाकर 'भारतीय आत्मा' के इस वक्तव्य पर विश्वास कर लो; क्योंकि अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द के वलिदान पर भी तुमने ऐसा ही किया था, ईश्वरीय प्रेरणा से तुमने ऐसा ही किया था; ईश्वरीय प्रेरणा से तुम्हारी ऐसी ही प्रवृत्ति हो गई है! किन्तु हाय! किसी के पश्चात्ताप से हमारी शोकोन्मत्त आत्मा कैसे चैन पायगी!

हे जगदाधार परमात्मन्! यह तुम्हारा कैसा अद्भुत खेलवाड़ है? समस्त कानपुर नगर को नष्ट-भ्रष्ट करके तुम केवल विद्यार्थीजी को ही अगर बचा लेते, तो क्या तुम्हारा खेल बिगड़ जाता? पर तुम्हारी विलक्षण लीला का रहस्य समझे भी कौन? हम प्रकृत जन तुम्हारी इच्छा का भेद क्या जानें? न जाने, तुम्हारी कौन-सी प्रेरणा के बल पर "विद्यार्थीजी ने सच्चे वीर सत्याग्रही की तरह यह कहकर उत्तेजित मुसलमानों के आगे अपना सर झुका दिया कि, यदि मेरे खून से सींचे जाने से हिन्दू-

मुस्लिम एकता का पौधा बढ़ सके और तुम्हारी खून की प्यास बुझ सके, तो मेरा खून कर डालो।" उन्होंने यह कह कर अहिंसा में अपने दृढ़ विश्वास का परिचय दिया कि, 'आप चाहें, तो मेरे कलेजे में छुरा घुसेड़ दें।'—ये मर्मस्पर्शी शब्द 'प्रताप' के सहकारी सम्पादक श्रीयुत देवव्रत शास्त्री के प्रकाशित विवरण से लिये गये हैं। इन्हें पढ़कर तो उस आत्मत्यागी वीर के लिए हम और भी अधिक विह्वल हो जाते हैं; इन्हें सुनकर उस 'अद्भुत राष्ट्रीय वीर' पर हथियार उठानेवाले क्रूर नरपिशाचों के अमानुषिक कृत्य पर मनुष्यता भी मूर्च्छित हो जाती है। न जाने, ऐसी दशा में भी बड़े-बड़े नेता लोग किस तरह हमारे विक्षुब्ध हृदय को शान्ति का सन्देश देते हैं। हम तो किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हैं। हम नहीं समझते कि अपने दिल को कैसे तसल्ली दें। हम जब भारत-जननी का शोकाकुल मुखमण्डल देखते हैं, तब उसकी करुण-कातर दृष्टि हमें अपने भावों का गला टीपने के लिए विवश कर देती है! हमारे हृदय की हलचल, हमारी मानसिक उथल-पुथल कैसे शान्त होगी भगवन्! हमारे धीरज के टूटे बाँध को अब कैसे बाँधोगे नाथ?

श्रीयुत देवव्रत शास्त्री ने काशी के सर्वश्रेष्ठ हिन्दी-दैनिक 'आज' में जो विवरण प्रकाशित किया है, उनकी ये पंक्तियाँ हमारे हृदय में अंकित हो गई हैं—"विद्यार्थीजी ने जलते घरों में घुस-घुस कर और घरों के बन्धन काट-काट कर उसमें से करीब १४० मुसलमान नर-नारी और बच्चों को निकाल कर उनकी जान बचाई। घायल मुसलमानों की खुद मरहम-पट्टी करना शुरू कर दिया। घायलों को खुद कन्धे पर लाद-लादकर सुरक्षित स्थान में पहुँचाने लगे। सबको सुरक्षित स्थानों पर पहुँचाने में उनको तीन बार मुसलमानी मुहल्लों में जाना पड़ा। बार-बार आपको चेतावनी दी गई; पर लोक-सेवा के कार्य में आप दृढ़तापूर्वक लगे रहे। दौड़ने में आपके संडल भी पाँव से फिसल निकले। बायें पाँव की उँगलियों में चोट भी आई। दोपहर की लू में दौड़ते फिरते थे। प्यास से गला सूख जाने पर भी एक घूँट पानी पीने की फ़ुर्सत न थी। घायलों को देखकर आप अधीर हो जाते। उन्हें छाती से चिपका लेते। उनकी दशा देखकर फूट-फूट कर रोते। अपनी धोती से उनका लहू पोंछते। फिर जरूरत पड़ने पर उन्हें अस्पताल पहुँचाते। उन्मत्त मुसलमानों के तीन दल हिन्दुओं के लिए तलवार खोले शोर-गुल मचाते ताण्डव कर रहे थे। वहाँ भी आपने कितने ही परिवारों को बचाया। आपने बार-बार हिन्दुओं से कहा था कि मुसलमान भाइयों का खून करने के पहले हमारी जान ले लो। एक मुसलमान स्वयंसेवक ने बार-बार मुसलमानों से यही विनती की थी कि जिस आदमी ने सैकड़ों मुसलमानों की जान बचाई है, उसकी जान कभी न लेना। पर वहाँ नीति की बात कौन सुनता था! उत्तेजित मुसलमान प्रलय-काल का घोर गर्जन करते हुए आप पर टूट पड़े, उसी दम मारकर ढेर कर दिया और लाश उठाकर एक जलते घर में फेंक दिया। दो स्वयं सेवक भी आपको बचाने में घायल हुए। एक तो घंटे भर बाद मर ही गया। तीसरा मुसलमान स्वयंसेवक भी आपको बचाने जाकर खुद घायल हो गया!"

महामना मालवीयजी के सुपुत्र पण्डित रमाकान्त मालवीय ने स्वयं कानपुर जाकर वहाँ की स्थिति के विषय में जो विवरण प्रकाशित किया है, उसमें एक जगह आप बयान करते हैं—

"विद्यार्थीजी की लाश इतनी बिगड़ गई थी कि चेहरे से पहचानी न जा सकी, उनकी बाँह पर 'गजेन्द्र' शब्द गुदा हुआ था। बस इसी निशान से यह निश्चित हो सका कि लाश उन्हीं की है। कहा जाता है कि सिर पर भाले के कई गहरे घाव थे। अस्पताल में खोज करने से मालूम हुआ कि वहाँ एक वही लाश ऐसी पहुँची थी, जिसके सारे शरीर पर केवल शुद्ध खादी के कपड़े थे। जेब से कुछ कागज भी मिले, जिनमें कराची-काँगरेस पर एक लेख भी था।"

ऊपर के उद्धरणों को पढ़कर, हृदय रखनेवाले प्रत्येक मनुष्य का चित्त चंचल और विक्षिप्त हो जा सकता है। ये पंक्तियाँ हमारी अधीरता को बार-बार उकसाती हैं। जब हम 'आज'-जैसे जिम्मेदार पत्र के 'निज संवाददाता' के पत्र की रिपोर्ट में पढ़ते हैं कि, "कानपुर के हिन्दुओं की वह दशा है, जो एक असहाय विधवा की होती है। कानपुर राँड़ हो गया। उसकी इतनी गहरी क्षति हो गई है, जो अभी दस-बीस साल तक पूरी न होगी',— तब हमारी समझ में नहीं आता कि विद्यार्थीजी के शोक-सन्तप्त परिवार के प्रति किस तरह समवेदना प्रकट करें। उनके 'छह बच्चे, जो सब सतरह-अठारह बरस से कम ही उम्र के हैं", उनकी विधवा पत्नी, बूढ़ी विधवा माता और बड़े भाई किस तरह ऐसे अनमोल रतन को खोकर धैर्य धारण करेंगे, हम यह सोचकर हताश और हतबुद्धि हो जाते हैं। यों तो कोई अमर होने के लिए इस संसार में नहीं आया है, प्रत्येक जन्मधारी की मृत्यु निश्चित है, ; किन्तु ऐसा हृदयविदारक अन्त हम संसारियों के चित्त को किसी तरह स्थिर नहीं रहने देता। ज्योंही हम यह सोचकर गर्व करने लगते हैं कि, विद्यार्थीजी बहादुर सिपाही की तरह जूझकर अपने आदर्श पुरुषत्व का जौहर दिखा गये, त्योंही उनके ऊपर किये गये राक्षसी आक्रमण और उनके शव की दुर्दशा का अचानक स्मरण हो आने से कलेजे पर बिच्छू का डंक लग जाता है। हम सचमुच आज वज्र-हृदय हो गये हैं!

विद्यार्थीजी राष्ट्रभाषा हिन्दी के धुरन्धर लेखक, ओजस्वी वक्ता, निर्भीक सम्पादक और निष्पक्ष आलोचक थे। पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी ने बहुत ठीक कहा है कि,—"विद्यार्थीजी के विना हिन्दी साहित्य और सम्पादन-कला विधवा हो गई!" वास्तव में विद्यार्थीजी अपने ढंग के अद्वितीय लेखक और सम्पादक थे। उनकी लेखनी में प्रलय की आँधी थी— वह मुर्दे में नई रूह फूंक देती थी। कौन ऐसी महान् से महान् शक्ति थी, जो उनकी जबरदस्त लेखनी का लोहा नहीं मान गई हो? उन्होंने देशी राज्यों की प्रजा को जगाकर अनेक गुप्त अत्याचारों का भण्डाफोड़ किया, युवकों को युगान्तर के जागरण का शंखनाद सुनाकर उद्बुद्ध किया, पथभ्रष्ट नौजवानों को भी दिल खोलकर हर तरह से अपनाया। वे सच्चे योद्धा थे। अपनी जिन्दगी को खतरे में डालकर भी परोपकार करना उनका सहज स्वभाव हो गया था। वे कागज का कवच पहनकर जिन्दगी-भर धधकती आग से खिलवाड़ करते रहे। वे काँटों का ताज पहनकर राष्ट्रीयता के सिंहासन पर

बैठे रहे, पर बड़े-से-बड़े शक्तिधारी भी उनके ललाट में जरा शिकन न पैदा कर सके। उनकी वीर्यस्फीत भाषा में जो गजब की बिजली थी, वह बड़े-बड़े काँगरेसी नेताओं की गरम स्पीचों से भी हजारगुना अधिक काम करती थी। उन्होंने 'प्रताप' के द्वारा देश की जो चिरस्मरणीय सेवा की है, वह किसी काँगरेस-लीडर की देश-सेवा से कम नहीं है। युक्तप्रान्त के जो नेता आज राजनीतिक आकाश में जगमगा रहे हैं, उनका उस समय किसी को पता नहीं था, जिस समय विद्यार्थीजी का प्रचण्ड 'प्रताप' हिन्दी-संसार में देदीप्यमान हो रहा था। आगरा के सहयोगी 'आर्यमित्र' का यह कथन अक्षरशः ठीक है कि "विद्यार्थीजी अपने स्मरणीय और अनुकरणीय गुणों के कारण, बहुत स्वल्प समय में नेतृत्व के उस ऊँचे पद पर पहुँच गये थे, जिसपर बहुत-से बड़े-बड़े वृद्ध नेता भी न पहुँच पाये।" आह! इस पृथ्वी-तल पर कौन ऐसा हिन्दी-पत्र-पाठक है, जिसने कभी 'प्रताप' में उन जोशीले लेखों को पढ़कर कायरता की केंचुल न छोड़ दी हो। हा हन्त! वह किसानों और मजदूरों के लिए अपनी गरदन नापनेवाला आजातशत्रु वीर कहाँ चला गया? वह देश के गुमराह नवजवानों को भी प्रकाश में लानेवाला तेजस्वी योद्धा किधर निकल गया? हिन्दी अनाथ हो गई! सम्पादक-मण्डल निस्तेज हो गया! प्रयाग के सहयोगी 'भारत' ने बिलकुल सच कहा था कि, "विद्यार्थीजी की तुलना इस धरातल पर करना अपनी मूर्खता और कृतघ्नता साबित करना है। सब सम्पादकशिरोमणि अस्तंगत हो जायेंगे, तब भी विद्यार्थीजी की ज्योति अमिट रहेगी। ऐसा आत्मसमर्पण तो हमने कहीं नहीं देखा। विद्यार्थीजी जिस धातु के बने हुए थे, वह युग-युगान्तरों के कालचक्र में पड़कर कभी किंचित् परिवर्त्तित नहीं होती।"

विद्यार्थीजी स्वंय एक जीती-जागती संस्था थे, जिसका मुखपत्र 'प्रताप' था। अब ईश्वर से यही प्रार्थना है कि वह सहयोगी 'प्रताप' को 'नवीन' जीवन प्रदान करे। हम चिर आयुष्मान् 'हरिशंकर जी' में गणेशशंकर का ही प्रतिबिम्ब देखना चाहते हैं। सहयोगी 'प्रताप' की इस विपत्ति ने समस्त हिन्दी-संसार को विचलित कर दिया है। हम तो इस आकस्मिक वज्रपात से ऐसे मर्माहत हुए हैं कि समवेदना प्रकट करने का साहस संचय करना भी कठिन हो रहा है। क्या हमारे प्राणों की सिसकियाँ उस शोकातुर परिवार को कभी ढ़ाढ़स बँधा सकती हैं, जिसका सर्वस्व ही लुट गया है? किन्तु अब तो छाती पर पत्थर रखना ही होगा। काँगरेस ने भी इस बलिदान पर 'अभिमान' प्रकट किया है। पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा है कि, 'उनकी मृत्यु वैसी ही हुई है, जैसी किसी सच्चे भारतीय की होनी चाहिए।' युक्तप्रान्त के सरकारी सदस्य नवाब छत्तारी ने भी आशा प्रकट की है कि—"दीन के जो दीवाने क्रोध से बिलकुल अन्धे हो गये थे और जिन्होंने दंगे के अवसर पर ऐसे बुरे काम किये हैं, जो पशु भी नहीं करते, उनकी आँखें अब विद्यार्थीजी-जैसे अनमोल रत्न को खोकर जरूर खुल जायेंगी!" भगवान करें, नवाब साहब का स्वप्न सार्थक हो! हम इससे अधिक क्या कहें? जिसका अनमोल रत्न खो गया है, उसकी तो केवल ईश्वर ही सान्त्वना दे सकता है!

विद्यार्थीजी का स्मारक

कराँची-काँगरेस के अवसर पर अनन्य राष्ट्रभाषा-भक्त बाबू शिवप्रसादगुप्त की अध्यक्षता में युक्तप्रान्तीय प्रतिनिधियों की एक सभा हुई है, जिसमें विद्यार्थीजी का एक योग्य स्मारक बनाने के उपाय और तरीके सोचने के लिए एक कमिटी बनाई गई है। उस कमिटी में गुप्तजी, पं० जवाहरलाल नेहरू, पं० सुन्दरलालजी, श्रीमान् टंडनजी, श्रीयुत श्रीप्रकाशजी, श्रीयुत शेरवानी साहब आदि सज्जन हैं। ऐसे सुयोग्य महानुभावों के द्वारा विद्यार्थीजी का उचित ही स्मारक बनेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। पर हमारी दृष्टि में विद्यार्थीजी का सबसे बड़ा स्मारक 'प्रताप' ही है और उसी की नींव को मजबूत करना उनके मित्रों तथा हितैषियों का कर्त्तव्य है। विद्यार्थीजी को इस संसार में अगर किसी वस्तु पर सच्ची ममता थी, तो निश्चय वह एकमात्र 'प्रताप' ही है। 'प्रताप' को बचाये रखने के लिए उन्होंने अपने ऊपर अनेक कष्ट झेले थे। जगत्प्रसिद्ध 'मार्डन रिव्यू' ने स्पष्ट ही लिखा है-'Ganesh sankar had to struggle hard and it was after considerable self-sacrifice and incessant efforts that he could make his journal, the 'PRATAP', the most influenlcial. Hindi paper in India." इसलिए जिस 'प्रताप' को उन्होंने संकटों और कठिनाइयों से लड़कर तथा पर्याप्त स्वार्थ-त्याग और अटूट परिश्रम करके भारत का परम प्रभावशाली पत्र बना दिया था, उसी 'प्रताप' की रक्षा और उन्नति से उनकी स्वर्गीय आत्मा को सन्तोष प्राप्त हो सकता है। वास्तव में 'प्रताप' हिन्दी के लिए गर्व और गौरव की चीज है। हाँ, एक बात और। पं० शिवनारायण मिश्र और पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' विद्यार्थीजी के दोनों हाथ थे। हमारी दृष्टि से स्मारक-कमिटी में इन दोनों सज्जनों का रहना भी अत्यन्त आवश्यक है। इन दोनों के जीते जी 'प्रताप' पर कोई आँच नहीं आ सकती। इन्हींके द्वारा विद्यार्थीजी के सच्चे स्मारक की रक्षा हो सकती है। और, अगर कोई नया स्मारक बनाना ही तय हो, तो हमारे विचार से विद्यार्थीजी का सर्वोत्तम स्मारक 'सम्पादन-कला-विद्यालय' के सिवा और कुछ नहीं हो सकता। उनके निधन से जो सम्पादन-कला विधवा हो गई है, उसे यह स्मारक ही सधवा बना सकता है। हमें आशा है कि कमिटी इस प्रस्ताव पर विचार करेगी। अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (जिसके गत महाधिवेशन के सभापति विद्यार्थीजी ही हुए थे) और हिन्दी-पत्रकारों को भी एक उत्तम 'सम्पादन-कला-विद्यालय' की आवश्यकता पर जोर देना चाहिए।

दो गो-भक्तों का गोलोकवास

छिन्दवाड़ा (मध्यप्रदेश) के प्रसिद्ध गो-भक्त बाबू ब्रजमोहनलालजी वर्मा वकील और कलकत्ता के आदर्श गो-भक्त बाबू हासानन्दजी वर्मा के गोलोकवास का दुःखप्रद संवाद पाकर हमें अत्यन्त शोक हुआ। दोनों ही वर्मा सज्जन गो-जाति के भारत प्रसिद्ध-सेवक थे। इनकी गो-भक्ति देखकर अनुमान होता था कि, वास्तव में पूर्व जन्म में भगवान् गोपाल कृष्ण के ग्वाल-बाल-सखा रहे होंगे।

बाबू ब्रजमोहनलालजी वर्मा गो-रक्षा के लिए क्रियात्मक आन्दोलन करने में बड़े उत्साह से तत्पर रहा करते थे। यही उनके जीवन का मुख्य लक्ष्य बन गया था। काँगरेस तक में उन्होंने अपनी आवाज पहुँचाने की चेष्टा की थी। वे गोरक्षा को राष्ट्रीय प्रश्न का रूप दिलाने के प्रयत्न से कभी विमुख या हताश नहीं हुए थे। उनके लिखे हुए कई पर्चे और पम्फलेट हमने देखे हैं, उनकी छपी स्कीमें भी काँगरेस और हिन्दू-महासभा के अवसरों पर बँटा करती थी। प्रायः पत्रों में भी वे इसी एक विषय पर लेख लिखा करते थे। वे तन-मन-धन से गो-भक्ति में लीन थे। जहाँ इस युग में किसी को गो-रक्षा की बात सुनने का भी अवकाश नहीं है; वहाँ वकील साहब ने अपना जीवन ही गो-रक्षा के निमित्त अर्पित कर दिया था। ऐसे कर्मशील गो-भक्त की मृत्यु से हिन्दू-जाति का एक आदरणीय सेवक जाता रहा। उनके शोकग्रस्त परिवार से हमारी पूरी सहानुभूति है।

बाबू हासानन्दजी वर्मा तो गो-माता के अनन्य उपासक थे। गृह-त्यागी होकर उन्होंने गो-सेवा-व्रत के लिए ही संन्यास ले लिया था। उनके जीवन का प्रत्येक क्षण गो-माता की सेवा में ही बीतता था। कलकत्ता की अनेक हिन्दू-जातीय एवं धार्मिक सभाओं में वे बछड़े को गोद में लेकर अश्रु-गद्‌गद कण्ठ से वेदना और करुणा-भरी अपील करते देखे गये थे। उनकी मृत्यु से न जाने कितनी ही गौएँ अनाथा हो गईं, कितने ही बछड़े टूअर हो गये। भगवान गोपाल से यही प्रार्थना है कि, फिर हिन्दू-जाति में हासानन्दजी के समान ही कोई तल्लीन गो-भक्त उत्पन्न हो।

कराँची-काँगरेस में हिन्दी

काँगरेस का ४५वाँ महाधिवेशन कराँची में बड़े समारोह और सफलता से सम्पन्न हो गया। उसकी विषय-निर्धारिणी समिति में इस बार भी हिन्दी-भाषा की पूछ हुई, यह बड़े सन्तोष की बात है। काँगरेस में हिन्दी-भाषा को 'हिन्दुस्तानी' नाम दिया गया है। काँगरेस ने कई बार अपने सदस्यों और प्रतिनिधियों से हिन्दुस्तानी सीखने की सिफारिश की है। इस बार महात्मा गान्धी ने उन सदस्यों को डाँट बताई, जो हिन्दुस्तानी समझ नहीं पाते थे। विषय-समिति की कुछ कारवाई हिन्दुस्तानी में ही हुई। महात्माजी ने कहा कि—"यह लघुसंख्यक समुदाय का अत्याचार है कि वे हिन्दुस्तानी बोलने पर आपत्ति करते हैं। जब ब्रिटिश सिपाही के लिए भी साधारण हिन्दुस्तानी के ज्ञान की आवश्यकता समझी जाती है और इसकी परीक्षा ली जाती है, तब भारतीयों के लिए यह आवश्यक क्यों न हो कि वह तीन महीने तक रोज तीन घण्टा हिन्दुस्तानी सीखने में लगाये। इतना समय देने से हिन्दुस्तानी भाषा का साधारण ज्ञान प्राप्त हो सकता है। मैं नेटाल से जिस जहाज पर सफर कर रहा था, उसके अँगरेज-कप्तान ने पन्द्रह दिनों में उर्दू का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। जो लोग हिन्दुस्तानी नहीं 'समझते', उनके लिए यह अच्छा होगा कि वे काँगरेस-प्रतिनिधित्व और भारतीय काँगरेस-कमिटी की सदस्यता के लिए

उम्मेदवार खड़े न हों।" महात्माजी के कारण काँगरेस में हिन्दी की जैसी पैठ हुई है, किसी से छिपी नहीं है। भगवान् की कृपा से वह दिन दूर नहीं जान पड़ता, जबकि काँगरेस में केवल राष्ट्रभाषा हिन्दी की ही तूती बोलेगी!

—मासिक 'गङ्गा' (सुलतानगंज, भागलपुर); प्रवाह १ तरंग ६, वैशाख, १९८८ विक्रमाब्द; अप्रैल, १९३१ ई०

कलकत्ता में साहित्य-सम्मेलन

व्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ आधुनिक कवि काशी-निवासी बाबू जगन्नाथदासजी 'रत्नाकर' बी०ए० के सभापतित्व में, अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का बीसवाँ अधिवेशन, कलकत्ता-युनिवर्सिटी के विशाल सिनेट हॉल में, गत ता० २६,२७,२८,२९ मई को (मुहर्रम की छुट्टियों में) सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। स्वागताध्यक्ष थे बिहार के सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी, 'शिक्षा'-सम्पादक, पंडित सकलनारायण शर्मा, काव्य-व्याकरण-सांख्यतीर्थ, प्रोफेसर, संस्कृत-कॉलेज, कलकत्ता। श्रीमान् रत्नाकरजी ने अपने विचारपूर्ण भाषण में भाषा, लिपि और साहित्य के विभिन्न अंगों पर आलोचनात्मक दृष्टि डालते हुए कई महत्त्वपूर्ण बातें कहीं। अनुवाद, नाटक, रंगमंच, आख्यायिका, पत्र-पत्रिका, खड़ीबोली, व्रजभाषा आदि विषयों पर आपने बड़े स्वतंत्र और सुचिन्तित विचार व्यक्त किये। उनपर हिन्दी-हितैषियों और साहित्य-सेवियों को ध्यान देना चाहिए। स्वागताध्यक्ष पंडितजी ने अपने विद्वत्तापूर्ण भाषण में वेद-शास्त्रों के प्रमाणों के आधार पर स्वागत के उपयुक्त साधनों और साहित्यसेवियों के समागम के महत्त्व का उल्लेख करते हुए कलकत्ता-महानगरी के इतिहास का बड़े अच्छे ढंग से वर्णन किया है। कलकत्ता और हिन्दी का जो पुराना सम्बन्ध है, उसपर भी आपने काफी प्रकाश डाला। कलकत्ता में हिन्दी की वर्त्तमान प्रगति पर भी आपने उचित ध्यान दिया। आपका भाषण गवेषणापूर्ण था।

यद्यपि अल्पसंख्यक प्रतिनिधियों की उपस्थिति की दृष्टि से सम्मेलन को हम सर्वांशत: सफल कहने में संकुचित होते हैं; तथापि कलकत्ता-जैसे प्रधान व्यापार-केन्द्र महानगर में इस मन्दी के समय में भी, सम्मेलन को जो आर्थिक सहायता प्राप्त हुई है, उसके कारण हम सम्मेलन को सफल ही कहेंगे।

श्रीमान बाबू गोकुलचन्द्रजी ने ग्रन्थ-प्रकाशन के लिए दस हजार रुपये दिये। श्रीमान बहादुरसिंहजी सिन्धी ने संग्रहालय के निर्माण के लिए साढ़े बारह हजार रुपये दिये। श्रीयुत सीतारामजी सेकसरिया ने ढाई हजार रुपये इसलिये दिये कि लगातार पाँच बरसों तक पाँच-पाँच सौ रुपयों के सर्वश्रेष्ठ महिला-लेखिका को पाँच पुरस्कार दिये जायँ! ये तीनों दान बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। नि:सन्देह इनसे हिन्दी का बड़ा उपकार होगा। इसके सिवा सम्मेलन को लगभग पाँच हजार रुपये और भी मिले। सम्मेलन की वर्त्तमान आर्थिक अवस्था पर दृष्टिपात करने से इस सहायता-प्राप्ति को ही हम सबसे बड़ी सफलता समझते हैं।

प्रतिनिधियों के निवास-स्थान और भोजनादि की व्यवस्था बहुत अच्छी थी। प्रस्ताव भी कई बड़े महत्त्वपूर्ण पास हुए। पत्र-पत्रिकाओं के संचालकों और संपादकों से अश्लील विज्ञापन न छापने का अनुरोध, कवि-सम्मेलन में गन्दी-भद्दी कविताओं के पढ़े जाने की परिपाटी का विरोध, नाट्यसमिति की योजना, मृत साहित्य-सेवियों के असहाय परिवार की सहायता के लिए एक निधि की स्थापना आदि प्रस्ताव यदि कार्य-रूप में परिणत हो सके, तो बड़े उपयोगी हैं। इन्हें कार्य-रूप में परिणत करने के लिए साहित्य-सेवियों का सहयोग परम अभीष्ट है।

'साहित्य-प्रदर्शनी' के खयाल से सम्मेलन विषेश सफल हुआ। वह वास्तव में एक दर्शनीय वस्तु थी। इस सफलता का सारा श्रेय उसके मंत्री बाबू पूर्णचन्द्रजी नाहर एम्० ए०, बी० एल्० को प्राप्त है। उनका निजी संग्रहालय स्वयं ही एक अतुलनीय प्रदर्शनी है। साहित्य-प्रदर्शनी का उद्घाटन स्वनामधन्य चित्रकला-मर्मज्ञ डॉक्टर अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने किया था। उस अवसर पर आपने हिन्दी में भाषण करके राष्ट्रीयता का सम्मान बढ़ाया था। प्रदर्शनी में कला और साहित्य का सम्मेलन देखने ही योग्य था।

इस बार १२००) का मङ्गलाप्रसाद-पारितोषिक पं० गङ्गाप्रसाद उपाध्याय एम्० ए० को उनके 'आस्तिकवाद' नामक ग्रन्थ के लिए दिया गया। विशेषता यह हुई कि पारितोषिक-निधि के दाता बाबू गोकुलचन्द्रजी ने स्वयं अपने हाथों से उपाध्यायजी को पारितोषिक प्रदान किया। 'आस्तिकवाद' को स्वयं उपाध्यायजी ने अपने ही 'कला-कार्यालय' (प्रयाग) से प्रकाशित किया है। आप प्रयाग के दयानन्द वैदिक हाई स्कूल के हेडमास्टर हैं। आप 'वेदोदय' नाम का एक मासिक पत्र भी निकालते हैं। आपके सुयोग्य पुत्र श्रीयुत सत्यप्रकाशजी एम्० एस्-सी० आजकल प्रशंसनीय सफलता के साथ 'विज्ञान' का सम्पादन कर रहे हैं ?

सम्मेलन में महिलाओं की उपस्थिति भी खासी थी। सम्पादकाचार्य बाबू रामानन्द चटर्जी, श्रीयुत जे० एम्० सेन गुप्त आदि की उपस्थिति भी उल्लेखनीय है। प्रोफेसर सुनीतिकुमार चटर्जी ने भाषा-तत्त्व-सम्बन्धी एक पाण्डित्यपूर्ण एवं स्व-लिखित निबन्ध हिन्दी में पढ़ा था, जो बड़ा मनोरंजक और ज्ञान-वर्द्धक था। कोई दूसरा उल्लेखनीय निबंध नहीं पढ़ा गया, यह बड़े खेद की बात है। श्रीयुत सेनगुप्त ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार करते हुए बड़ा जोरदार भाषण किया। वंगीय-साहित्य-परिषद् की ओर से सम्मेलन के साहित्यिक प्रतिनिधियों का स्वागत भी बड़े समारोह से सम्पन्न हुआ। किन्तु पंडित अमृतलालजी चक्रवर्त्ती के सिवा सम्मेलन में दूसरा कोई बंगाली हिन्दी-लेखक उपस्थित नहीं था। प्रोफेसर नलिनीमोहन सान्याल एम्० ए० और बाबू कार्तिकेयचरण मुखर्जी की अनुपस्थिति बहुत खटकती थी; क्योंकि ये दोनों सज्जन कलकत्ता में ही रहते हैं।

सम्मेलन में कई हिन्दी-साहित्य-सेवी सज्जनों के भाषण भी अच्छे हुए। बिहार-रत्न बाबू राजेन्द्रप्रसाद, त्यागमूर्त्ति बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन, प्रोफेसर रामदास गौड़

एम्० ए०, पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', 'युवक'-सम्पादक श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी आदि के भाषण विशेष उल्लेखनीय हैं।

सम्मेलन के नये कार्याधिकारियों के निर्वाचन की दृष्टि से सम्मेलन सफल हुआ या नहीं, इस विषय पर अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। कलकत्ता की 'हिन्दी-पुस्तक-एजेंसी' और सचित्र 'विजय' के संचालक बाबू बैजनाथजी केडिया इस साल अर्थ-मंत्री चुने गये हैं और बाबू दुर्गाप्रसाद खेतान एम्० ए०, बी० एल्० प्रचार मन्त्री बनाये गये हैं। ये दो नये चुनाव सम्मेलन के इतिहास में अभूतपूर्व घटना के समान हैं; किन्तु इनमें दूरदर्शिता और महती आशा की प्रेरणा है।

सम्मेलन के प्रतिनिधियों का स्वागत-सत्कार करने में कलकत्ता के कई साहित्यानुरागियों ने बड़ी उदारता का परिचय दिया। बाबू बैजनाथ केडिया, बाबू भोलानाथ बर्मन आदि सज्जनों ने सबको निमंत्रित और आदृत करके विशेष उपकृत किया। हिन्दी-नाट्य-परिषद् और बजरंग-नाट्य-परिषद् की ओर से प्रतिनिधियों को अभिनय भी दिखाये गये। हिन्दी-नाट्य-परिषद् ने 'उग्रजी' का 'महात्मा ईसा' नाटक बड़ी सफलता से अभिनीत किया। अगले साल झाँसी में सम्मेलन होगा।

कवि-सम्मेलन

साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर श्रीमान् रत्नाकरजी के ही सभापतित्व में कवि-सम्मेलन भी बड़े समारोह से हुआ। स्वागताध्यक्ष थे पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री। शास्त्रीजी का भाषण पद्यबद्ध था। कवि-सम्मेलन के अधिवेशन में अधिकतर राष्ट्रीय कविताएँ पढ़ी गईं। आर्थिक पुरस्कार और पदक-प्रदान की भी खासी छूट रही। 'रत्नाकर' जी ने 'गंगा', 'भीष्म' और 'द्रौपदी' पर बड़ी अच्छी कविताएँ पढ़ीं। राष्ट्रीय कवि पं० माधव शुक्ल, साहित्यरत्न पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, 'सुधा-सम्पादक पं० दुलारेलाल भार्गव, श्रीयुत 'निराला', 'बेढब', 'गुलाब', 'नटवर', 'आजाद', 'कंज', मुन्शी अजमेरी आदि कवियों के कारण कवि-सम्मेलन फीका न होने पाया; प्रतिष्ठा रह गई। श्रोताओं की भीड़ खासी थी। अनेक भद्र महिलाएँ भी उपस्थित थीं। मंच पर 'लाउडस्पीकर' (ध्वनि-विस्तारक-यन्त्र) लगा था; पर उसकी उपयोगिता सिद्ध नहीं हुई। बहुत-सी फालतू कविताएँ (!!!) भी पढ़ी गईं। एक-दो तो आपत्ति-जनक भी थीं। कई अनधिकारी महाशयों की नीरस तुकबन्दियों ने बहुत समय नष्ट किया। विशुद्ध साहित्यिक आनन्द का अभाव रहा। उर्दू के मुशायरों से हिन्दी-कवि-सम्मेलन अभी बहुत पिछड़ा हुआ मालूम होता है। हाँ, बाबू भोलानाथ वर्मन के मकान पर हिन्दी-नाट्य-परिषद् की ओर से जो कवि-सम्मेलन कराया गया, उसमें केवल साहित्यसेवी ही निमन्त्रित थे; इसलिए बड़ी शान्ति और सफलता से काव्यानन्द का उपभोग हुआ। 'अभ्युदय'-सम्पादक पं० कृष्णकान्त मालवीय के शेरों ने सबको मुग्ध कर दिया। पं० पद्मकान्त मालवीय ने भी बड़ी कारुणिक कविता सुनाई। काशी के पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'तलवार' पर गजब की उक्तियाँ सुनाईं। 'बेढब' जी का रंग तो हमेशा चोखा रहा।

सम्पादक-सम्मेलन

साहित्य-सम्मेलन के ही पंडाल में, ता० २८ मई को, अखिल-भारतीय हिन्दी सम्पादक-सम्मेलन का पाँचवाँ अधिवेशन, दक्षिण-अफ्रिका-प्रवासी भूतपूर्व 'हिन्दी'-सम्पादक स्वामी भवानीदयाल संन्यासी के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ। 'विश्वमित्र' के संचालक बाबू मूलचन्द्रजी अग्रवाल बी० ए० स्वागताध्यक्ष थे। सभापति स्वामीजी का मुद्रित भाषण छोटा था। उसमें सिर्फ काम की बातें थीं। स्वागताध्यक्ष ने अपने मौखिक भाषण में कहा कि इस सम्मेलन का नाम 'हिन्दी-पत्रकार-सम्मेलन' होना चाहिए। इस मत को सबने पसन्द किया। सभापति ने भी अपने भाषण में 'सम्पादक' की जगह 'पत्रकार' शब्द का ही अधिक प्रयोग किया था। स्वागताध्यक्ष ने अपने भाषण में एक 'पत्रकार-शिक्षालय' खोलने की बात भी सुझाई थी। श्रीमान् बाबू राजेन्द्रप्रसादजी, पं० कृष्णकान्त मालवीय, पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी आदि विद्वानों और सम्पादकों के भाषण भी बड़े सामयिक और सार-गर्भ हुए। इन भाषणों में यह तो कहा गया कि लोक-शिक्षा का पवित्र कार्य करनेवाले सम्पादकों की आर्थिक अवस्था बड़ी शोचनीय है, उनके लिए पेन्शन और प्राविडेण्ट फण्ड की व्यवस्था होनी चाहिए; पर इसके लिए कोई उपाय नहीं सोचा गया और न कोई स्कीम बनाई गई। खेद है कि इस अधिवेशन में स्वर्गीय विद्यार्थीजी, लाला भगवान 'दीन', बाबू कृष्णबलदेव वर्मा, पं० रामजीलाल शर्मा आदि स्वर्गीय सम्पादकों के लिए समवेदनासूचक प्रस्ताव नहीं रखे गये। विद्यार्थीजी के स्मारक के लिए एक लाख की जो अपील प्रकाशित हुई है, उसके विषय में निरन्तर आन्दोलन करने के लिए सभी हिन्दी-पत्रकारों से विशेष अनुरोध करने की भी आवश्यकता थी, सो भी नहीं हुआ। बल्कि, विद्यार्थी-स्मारक-समिति के सदस्यों से इस बात के अनुरोध करने की भी बड़ी आवश्यकता थी कि वे अपनी योजना में एक 'पत्रकार-शिक्षालय का निर्माण' भी सम्मिलित कर लें। बस, केवल भाषण ही भाषण हुए; कोई ठोस काम करने की ओर ध्यान नहीं दिया गया। बड़ी चिन्ता की बात है कि जिन सम्पादकों के पत्रों के सहारे दूसरे लोग आन्दोलन करते और सफल होते हैं; उन्हीं सम्पादकों का संगठन आजतक नहीं हुआ। आजतक जितने हिन्दी-पत्रकार हो चुके हैं, उनके चित्र-चरित्रों के संग्रह और प्रकाशन की ओर भी किसी ने आज तक ध्यान नहीं दिया। शुरू से आज तक के हिन्दी-पत्रों का इतिहास भी अब तक बहुत-कुछ अन्धकार में ही पड़ा हुआ है। इन सबका संकलन होना अत्यावश्यक है। इसके लिए अब सभी पत्रकारों को तत्परता के साथ आन्दोलन करना चाहिए। और तो क्या, सम्पादक-सम्मेलन के पाँचों अधिवेशनों की पूरी-पूरी सिलसिलेवार रिपोर्टें भी आज तक पत्रों की फाइलों में पड़ी सड़ रही हैं। कम-से-कम उनका उद्धार करके एक रेकर्ड तो तैयार ही कर लेना चाहिए। आशा है कि, हमारे सहयोगी इधर अवश्य ध्यान देंगे।

हिन्दी-साहित्यसेवियों का स्वर्गवास

बड़े दुःख के साथ हमें आज निम्नलिखित साहित्य-सेवियों के स्वर्गवास पर हार्दिक शोक प्रकाशित करना पड़ता है—'हिन्दुस्तानी'-सम्पादक वयोवृद्ध बाबू कृष्णबलदेव वर्मा,

पंडित हरिमंगल मिश्र एम्० ए०, श्रीयुत राघवप्रसाद सिंह आयुर्वेदाचार्य पं० शिवचन्द्र-मिश्र काव्यतीर्थ, पं० व्रजनन्दनमिश्र।

हम इन सब स्वर्गीय साहित्यिकों के शोकग्रस्त परिवार के साथ आन्तरिक समवेदना प्रकट करते हुए ईश्वर से सविनय प्रार्थना करते हैं कि इन सबकी आत्मा को शान्ति प्राप्त हो।

स्वर्गीय वर्माजी बहुत पुराने साहित्यसेवी थे। कलकत्तावाले एकादश हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की सफलता के लिए आपने बड़ा उद्योग किया था। आप 'कालपी' (यू० पी०) के निवासी थे। 'विशाल-भारत' के वर्त्तमान सहकारी सम्पादक बाबू व्रजमोहन वर्मा के आप पूज्य पितृव्य थे। बरसों के विश्राम के बाद इधर आप प्रयाग की 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' द्वारा प्रकाशित हिन्दी की उत्तम त्रैमासिक पत्रिका 'हिन्दुस्तानी' के सम्पादक-मण्डल में सम्मिलित होकर नये सिरे से साहित्य-सेवा करने लगे थे। विश्राम की अवधि में भी आपका साहित्यानुराग सदा हरा-भरा बना रहा। 'विशाल-भारत' में आपके उत्कृष्ट ऐतिहासिक लेखों को पढ़कर बड़ी आशा बँधी थी। किन्तु साहित्य-सेवा की सच्ची लगन के कारण शान्तिकामी वृद्धावस्था का परिश्रम बड़ा घातक सिद्ध हुआ। आपके निधन से साहित्याकाश का एक ज्योतिष्मान् नक्षत्र टूट पड़ा।

पं० हरिमंगलमिश्रजी बनारस के क्वीन्स कालेज में प्रोफेसर थे। आज से कई वर्ष पहले आपका लिखा 'प्राचीन भारत' नामक प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रन्थ काशी के ज्ञानमण्डल प्रेस से प्रकाशित हुआ था। कभी-कभी हिन्दी की कई मासिक पत्रिकाओं में भी आपके ऐतिहासिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी लेख दीख पड़ते थे। आपके स्वर्गारोहण से हिन्दी का एक मननशील इतिहासज्ञ लेखक उठ गया।

श्रीराघवप्रसादसिंह की 'बिहार के नवयुवक-हृदय' नामक पुस्तक में सचित्र, विस्तृत जीवनी और रचनाओं के उत्कृष्ट उदाहरण प्रकाशित हैं। आप बिहार के साहित्य-प्रेमियों में 'महन्थजी' के नाम से प्रसिद्ध थे। बात-बात में अनुप्रास और तुक भिड़ाने में आप बड़े पटु और अभ्यस्त थे। आपकी मृत्यु से बिहार का एक अथक सार्वजनिक कार्यकर्त्ता खो गया।

मुजफ्फरपुर-निवासी पं० शिवचन्द्र मिश्रजी यशस्वी आयुर्वेदज्ञ के साथ-साथ संस्कृत-साहित्य के भी बड़े अच्छे जानकार थे। आप बिहार के गिने-चुने उज्ज्वल रत्नों में से एक थे। आपका भाषण बड़ा ललित, पांडित्यपूर्ण और प्रभावशाली होता था। अखिलभारत-वर्षीय पंचदश वैद्य-महासम्मेलन (पटना) में आपका धारा-प्रवाह ओजस्वी भाषण सुनकर महामना मालवीयजी ने अत्यन्त सन्तुष्ट होकर आपकी बड़ी प्रशंसा की थी। बिहार-प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का जो अधिवेशन बनैली-नरेश राजा कीर्त्यानन्दसिंह बहादुर बी० ए० के सभापतित्व में (मुजफ्फरपुर में) हुआ था, उसके स्वागताध्यक्ष की हैसियत से आपने बहुत सुन्दर साहित्यिक भाषण किया था। आपने 'आयुर्वेद-प्रदीप' नामक एक सुसम्पादित हिन्दी-पत्र निकला था। आपके स्वर्गगामी होने से बिहार की विद्वन्मण्डली का एक अमूल्य अलंकार छिन गया।

पं० व्रजनन्दनमिश्र का देहान्त, अभी हाल में, संग्रहणी रोग से, ४८ वर्ष की अवस्था में काशी में हुआ है। आप मुजफ्फरपुर जिले के 'मनियारी' ग्राम के एक प्रतिष्ठित मैथिल जमींदार घराने के थे। आज से कोई पन्द्रह वर्ष पूर्व आपने 'मैथिली हित-शिक्षा' नाम की एक मासिक पत्रिका हिन्दी में निकाली थी। यह पत्रिका खड्गविलास प्रेस (पटना) से प्रकाशित होती थी। उस समय मैथिल-समाज ने हिन्दी में पत्रिका निकालने का बड़ा विरोध किया था, किन्तु आप राष्ट्रभाषा हिन्दी के कट्टर पक्षपाती थे। गद्य के सिवा आप पद्य भी अच्छा रचते थे। इधर आप साहित्य-क्षेत्र से उदासीन होकर केवल हिन्दी-पत्र-पुस्तकादि पढ़ने में ही संलग्न रहते थे। आपका हिन्दी-प्रेम, मैथिल-समाज के लिए आदर्श था।

—मासिक 'गङ्गा' (सुलतानगंज, भागलपुर); प्रवाह १, तरंग ८, आषाढ़, संवत् १९८८; जून, १९३१ ई०

*

दक्षिण-भारत में हिन्दी-प्रचार

मद्रास से 'हिन्दी-प्रचारक' नाम का एक मासिक-पत्र निकलता है। उसके आरम्भ का आधा अंश अँगरेजी में छपता है और उत्तरार्द्ध हिन्दी में। पूर्वार्द्ध के अँगरेजी-अंश में बड़े-बड़े नेताओं और विद्वानों की सम्मान्य सम्मतियाँ, हिन्दी के राष्ट्रभाषात्व के समर्थन में, छपती रहती हैं। दक्षिण-भारत में हिन्दी-प्रचार की प्रगति के जो विवरण उसमें छपते हैं, उनसे स्पष्ट विदित होता है कि उधर हिन्दी-प्रचार का काम बड़ी लगन और उत्साह के साथ हो रहा है। यदि उसी तरह का संगठित प्रचार-कार्य बंगाल, आसाम और उड़ीसा में भी किया जाय, तो हिन्दी का राष्ट्रभाषा-पद अक्षुण्ण हो जाय। अभी हाल में सम्पादकाचार्य श्रीयुत रामानन्द चटर्जी ने अपने जगत्प्रसिद्ध अँगरेजी-मासिक 'माडर्न रिव्यू' में हिन्दी पर कई सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिखी थीं, जिनसे उनका यह अभिप्राय व्यक्त होता था कि अभी हिन्दी में उतनी सामर्थ्य नहीं कि वह काँगरेस में से अँगरेजी को निकाल बाहर करे, और इसी व्याज से उन्होंने यह भी प्रकारान्तर से सिद्ध करने की चेष्टा की थी कि हिन्दी अभी राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन नहीं हो सकती। उनके नोटों के विरोध में प्रयाग के अर्द्धसाप्ताहिक सहयोगी 'भारत' और लाहौर के साप्ताहिक सहयोगी 'पंजाब-केसरी' ने युक्ति-युक्त उत्तर दिया था और फिर उक्त 'हिन्दी-प्रचारक' ने तो बड़े जोरदार शब्दों में सबूत के साथ जवाब दिया था। किन्तु हिन्दी की सामर्थ्य में सन्देह करनेवाले महाशयों के लिए हम यहाँ महात्मा गान्धी की निम्नलिखित टिप्पणी उनके 'हिन्दी-नव-जीवन' से उद्धृत करते हैं और हमें पूरी आशा है कि निकट भविष्य में ही हिन्दी की शक्ति से अपरिचित लोगों का भ्रम दूर हो जायगा। इस बार कलकत्ता के साहित्य-सम्मेलन में वंगीय-हिन्दी-प्रचारक-मंडल को नवीन जीवन प्रदान किया गया है। उसके सदस्यों को महात्माजी की इस टिप्पणी से सबक लेना चाहिए—

"दक्षिण भारत के लोगों ने अगले साल (कांगरेस में) ऐसे प्रतिनिधि भेजने का वादा किया है, जो हिन्दी बोल और समझ सकते हों। हम बनावटी वातावरण में न जीते

होते, तो दक्षिणवासी लोगों को हिन्दी सीखने में कष्ट न मालूम होता, व्यर्थता का तो अनुभव ही न होता। हिन्दीभाषी लोगों को दक्षिण की भाषा सीखने की जितनी जरूरत है, उसकी अपेक्षा दक्षिणवालों को हिन्दी सीखने की आवश्यकता अवश्य ही अधिक है। सारे हिन्दुस्तान में हिन्दी बोलने और समझनेवालों की संख्या दक्षिण की भाषा बोलनेवालों से दुगनी है। प्रान्तीय भाषा या भाषाओं के बदले में नहीं, बल्कि उनके उपरान्त, एक प्रान्त का दूसरे प्रान्त से सम्बन्ध जोड़ने के लिए, एक सर्वसामान्य भाषा की आवश्यकता है। ऐसी भाषा तो हिन्दी या हिन्दुस्तानी ही हो सकती है। कुछ लोग, जो अपने मन से सर्वसाधारण का ख़याल ही भुला देते हैं, अँगरेजी को हिन्दी की बराबरी से चलनेवाली ही नहीं, बल्कि एकमात्र शक्य राष्ट्रभाषा मानते हैं। दक्षिण-भारत की सर्वसाधारण जनता के लिए, जिसे राष्ट्रीय कार्य में ज्यादा से ज्यादा हाथ बँटाना होगा, कौन-सी भाषा सीखना आसान है—जिस भाषा में अपनी भाषाओं के बहुतेरे शब्द एक-से हैं, और जो उन्हें एकदम लगभग सारे उत्तरीय हिन्दुस्तान के सम्पर्क में लाती है, वह हिन्दी, या मुट्ठी-भर लोगों द्वारा बोली जानेवाली सब तरह विदेशिनी अँगरेजी? इस पसन्द का सच्चा आधार मनुष्य की स्वराज्य-विषयक कल्पना पर निर्भर है। अगर स्वराज्य अँगरेजी बोलनेवाले भारतीयों का, उन्हीं के लिए होनेवाला हो, तो निःसन्देह अँगरेजी ही राष्ट्रभाषा होगी। लेकिन अगर स्वराज्य करोड़ों भूखों मरनेवालों, करोड़ों निरक्षरों, निरक्षर बहनों और दलित अन्त्यजों का हो, और उन सब के लिए होनेवाला हो, तो हिन्दी ही एकमात्र राष्ट्रभाषा हो सकती है। इसलिए, मेरे साथ जो विचार करनेवाले हैं, वे पिछले बारह वर्षों के व्यवस्थित प्रचार-कार्य के फलस्वरूप हिन्दी ने जो महान् प्रगति की है, उसकी रिपोर्ट का स्वागत करेंगे—

हिन्दी सीखना शुरू करनेवाले—	४,००,०००
हिन्दी का कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त करनेवाले—	२,५०,०००
हिन्दी की परीक्षाओं में सम्मिलित होनेवाले—	११,०००
परीक्षाओं में पास होनेवाले—	१०,०००
हिन्दी प्रचार-सभा के छापाखाने में छापी गई पाठ्य-पुस्तकें—	३,००,०००
इनमें से बिकी हुई पुस्तकें—	२,५०,०००
प्रकाशित पुस्तकों के प्रकार—	३५
(इन सब पुस्तकों के अनेक और इनमें से १ के १२ संस्करण हो चुके हैं)	
वे केन्द्र, जहाँ आजतक हिन्दी सिखाई गई हैं—	४००
आजकल चालू केन्द्र—(कुल)	१५०
सीधी देख-रेख में चलनेवाले केन्द्र—	२५
फरवरी १९३० में जिन केन्द्रों में परीक्षा ली गई—	११३
शिक्षाप्राप्त शिक्षक—	२५०
आजतक एकत्र किया हुआ और खर्च किया गया द्रव्य—	२,५०,००० रु०
उत्तरीय भारत से प्राप्त—	१,५५,००० रु०

दक्षिण भारत से प्राप्त— ९५,००० रु०

हम आशा रखें कि वर्त्तमान मंगल-वर्ष में इस प्रगति का वेग और भी बढ़ेगा और इसके लिए आवश्यक तमाम धन दक्षिण से ही मिल जायगा। राष्ट्रभाषा सीखने और भारत को अखण्ड तथा एकरूप बनाने के लिए दक्षिण-भारत की उत्कंठा की यह एक कसौटी होगी।"—मो० क० गान्धी।

आत्मकथाएं और संस्मरण

हिन्दी में आत्मकथा-सम्बन्धी जो ग्रन्थ और लेख प्रकाशित हुए हैं, उनकी चर्चा हम 'गंगा' की दूसरी 'तरंग' में कर चुके हैं[१]। संस्मरण-सम्बन्धी कोई संग्रह-ग्रन्थ अभी तक हमारे देखने में नहीं आया है। 'विशाल-भारत' के सम्पादक पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी ने हिन्दी में संस्मरणों की चाल खूब चलाई। उन्होंने अपने पत्र में कई साहित्यसेवियों के संस्मरण प्रकाशित किये हैं। देखा-देखी अब अन्य पत्रों में भी संस्मरण निकलने लगे हैं। किन्तु अभी ऐसे संस्मरणों का वर्गीकरण करके कोई पुस्तकाकार संग्रह नहीं प्रकाशित किया गया है। यदि वे सब संस्मरण पत्र-पत्रिकाओं की फाइलों में ही पड़े रह गये, तो इनकी विशेष उपयोगिता न रह जायगी। आशा है, संस्मरणों के लेखकों और प्रकाशकों का इधर भी ध्यान अवश्य होगा।

अभी हाल में एक सज्जन ने दैनिक 'आज' में श्रद्धेय द्विवेदीजी की आत्मकथा का जिक्र किया था। निःसन्देह द्विवेदीजी की आत्मकथा हिन्दी में एक चीज होगी—वह हिन्दी की एक अमूल्य निधि होगी। किन्तु प्रश्न यह है कि, श्रद्धेय द्विवेदीजी क्या स्वयं आत्मकथा लिखने का कष्ट सहन कर सकते हैं। उनकी वृद्धावस्था को देखते हुए उचित तो यही प्रतीत होता है कि कोई सुयोग्य जिज्ञासु लेखक उनकी सेवा में कुछ दिन रहकर उनकी आत्मकथा लिख ले, और हमें दृढ़ विश्वास है कि लेखक का यह प्रयास कदापि विफल न होगा। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने अपने एक लेख में लिखा भी है—

"मेरा विचार बहुत दिनों से पूज्य पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी के जीवन-चरित्र को लिखने का था, पर इसके लिए उनकी सेवा में महीने-दो महीने रहने की आवश्यकता थी। समय तो मेरे पास था, पर साधन नहीं थे। मैंने गणेशजी (स्वर्गीय-विद्यार्थीजी) को भेजे गये एक पत्र में इस विचार का जिक्र कर दिया; उन्होंने (विद्यार्थीजी ने) लिखा—"दो चार सौ रुपये की तो कोई बात नहीं है। अब भी मैं तैयार हूँ। आप-जैसा पारखी ही उन्हें (द्विवेदीजी को) समझ सकता है। किसी समय भी आप समय निकालिए। आप पूज्य द्विवेदीजी के पास कुछ दिन अवश्य रह जाइए। उनमें कितने ही ऐसे गुण हैं कि आनेवाली सन्तति उन गुणों की कथा सुनकर ही बहुत कुछ सीख सकेगी। आप जानते हैं कि जानसन बड़ा होते हुए भी इतना बड़ा न समझा जाता, यदि उसकी जीवनी का लेखक बोसवेल न बनता। आप भी उनके (द्विवेदीजी के) बोसवेल बन जाइए। जो खर्च पड़े, उसका जिम्मेदार मैं।"—गणेशजी आर्थिक संकट में रहते हुए भी

१. वह टिप्पणी इसके पहले ही प्रकाशित है, अन्यत्र देखिए। —ले०

चार सौ रुपये तक केवल इसलिए खर्च करने को तैयार थे कि उनके गुरु पूज्य द्विवेदीजी का जीवन चरित्र-लिखा जाय।

आज हिन्दी का यह घोर दुर्भाग्य है कि पूज्य द्विवेदीजी के आदर्श भक्त विद्यार्थीजी इस संसार में नहीं है और चतुर्वेदीजी को भी 'विशाल-भारत' के सम्पादन से अवकाश नहीं है। समय और द्रव्य—दोनों के श्रद्धालु दाताओं के अभाव में यह कहना असंगत नहीं होगा कि इण्डियन प्रेस और 'सरस्वती' के स्वामी को यह काम अपने हाथ में लेना चाहिए। वे इसे बड़ी आसानी से और सहूलियत से पूरा कर सकते हैं। यह काम है भी उन्हीं के करने योग्य।

वयोवृद्ध और अधिकारी लेखकों तथा पुराने अनुभवी सम्पादकों से उनकी आत्मकथाएँ लिखाने का भी उद्योग होते रहना चाहिए। यदि वे खुद लिखने में आलस्य करें या राजी न हों, तो पत्रकारों को उनसे स्वयं मिलकर या उनकी सेवा में अपने प्रतिनिधि द्वारा प्रश्नावली भेजकर कम-से-कम उनके जीवन के संस्मरणों को तो अवश्य ही नोट कर-करा लेना चाहिए। पंडित अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, बाबू श्यामसुन्दरदास, पं० अमृतलाल चक्रवर्त्ती, बाबू यशोदानन्द अखौरी, बाबू शिवनन्दनसहाय, पं० सकल-नारायण शर्मा, पं० अक्षयवट मिश्र, पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, बाबू गोपालराम गहमरी, बाबू महावीरप्रसाद गहमरी, बाबू हरिकृष्ण जौहर, पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' आदि वयोवृद्ध प्रतिष्ठित लेखकों के पास अनेक स्वर्गीय साहित्य-सेवियों के भी संस्मरण हैं। यदि उनसे हम उनकी आत्मकथाएँ न लिखा सके और उनके मस्तिष्क से उन अमूल्य संस्मरणों को भी न ले सके, तो हिन्दी की एक ऐसी सम्पत्ति नष्ट हो जायगी, जिसके लिए आगे की उन्नत पीढ़ियाँ हमें अवश्य ही कोसेंगी।

बिहार-प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

बिहार में राजनीतिक हलचल के कारण आजतक प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का नवाँ अधिवेशन नहीं हो सका है। वैद्यनाथ-धाम (देवघर) के हिन्दी-प्रेमियों ने आज से करीब दो साल पहले, प्रान्तीय सम्मेलन को निमन्त्रण दिया था। आजकल गान्धी-इरविन-सन्धि के कारण राजनीतिक आन्दोलन का वेग उतना प्रबल नहीं है। किन्तु सन्धि-काल की अवधि कोई नहीं बता सकता। भविष्य को सब लोग सन्दिग्ध दृष्टि से देख रहे हैं। ऐसी दशा में यह अनुमान करना भी कठिन है कि यह अवकाश का समय कबतक सुलभ रहेगा। अच्छा होता, अगर इसी विश्राम-काल में वैद्यनाथ-धाम में साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन हो जाता। इस समय राजनीतिक क्षेत्र के कार्यकर्त्ताओं को, जिनमें से अधिकांश साहित्य-क्षेत्र के भी उत्साही कार्यकर्त्ता हैं, थोड़ा-बहुत समय साहित्यिक कार्य के लिए, इच्छा करने से ही मिल सकता है। थोड़ी-सी सुविधा और व्यवस्था सोच लेने ही से, राजनीतिक कार्यों में किसी प्रकार की क्षति पहुँचाये विना भी, वे साहित्य-सम्मेलन का काम सँभाल सकते हैं। यदि इस क्षणिक सन्धि या शान्ति के समय में भी यह काम पूरा न हो सका, तो फिर आगे कब हो सकेगा, इसका भी कोई निश्चय नहीं।

अतएव सम्मेलन के प्रधान मंत्री श्रीमान् बाबू रामधारीप्रसादजी सम्मेलन की स्थायी समिति (मुजफ्फरपुर) के उत्साही सदस्यों और वैद्यनाथ-धाम (देवघर) के सहृदय हिन्दी-प्रेमियों से हम साग्रह अनुरोध करते हैं कि वे अधिक-से-अधिक आगामी विजयादशमी तक तो अवश्य ही सम्मेलन का अधिवेशन कर डालने की चेष्टा करें। उसके सभापति-पद के लिए साहित्याचार्य पं० चन्द्रशेखर शास्त्री, प्रो० पं० अक्षयवट मिश्र, बाबू यशोदानन्द अखौरी आदि वयोवृद्ध साहित्यसेवी भी आज हमारी आँखों के सामने मौजूद हैं। इन वयोवृद्ध साहित्यसेवियों का सम्मान करना हमारा कर्त्तव्य है और इस कर्त्तव्य की पूर्त्ति कर लेने के लिए बहुत अधिक समय हमारे हाथ में नहीं है।

पत्रकार-परिषद्

कलकत्ता में साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर सम्पादक-सम्मेलन भी हुआ था। अब उसे पत्रकार-परिषद् का नाम दिया गया है। जब से अधिवेशन हुआ, आजतक, लगभग तीन चार महीने हुए, पत्रों में उसकी कोई चर्चा नहीं देखने में आई है। हां, 'विशाल-भारत' ने इस विषय में कुछ दिलचस्पी ली है। हमने 'गङ्गा' की आठवीं तरंग में लिखा था कि पत्रकारों के संगठन के लिए सभी पत्रों को नियमित रूप से आन्दोलन करना चाहिए[1], पर किसी पत्रकार का इधर ध्यान नहीं है, ऐसा जान पड़ता है। पत्रों और पत्रकारों का इतिहास तैयार करने या कराने की चिन्ता भी किसी को नहीं है, जिसके सभी हिन्दी-पत्रकार सदस्य हों और जो पत्रकारों में परस्पर सहयोग का भाव पैदा करे। अच्छा होता, अगर पत्रकार-परिषद् को ही ऐसी संस्था का रूप दे दिया जाता, जो सब पत्रकारों का संगठन करके हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की उन्नति के उपाय सोचती और उनकी त्रुटियों का सुधार करने में भी प्रवृत्त होती। साल-भर में एक बार अधिवेशन कर लेने से कोई लाभ नहीं। खेद है कि जो पत्रकार सारी दुनिया की रहनुमाई करते हैं, वे खुद ही गफलत और आलस्य की नींद में सो रहे हैं। यह हिन्दी-पत्रकारों के लिए शुभ लक्षण नहीं है।

—मासिक 'गङ्गा' (सुलतानगंज, भागलपुर); प्रवाह १, तरंग १०, श्रावण, सं० १९८८ विक्रमाब्द; सन् १९३१ ई०

*

पण्डित रामचन्द्र द्विवेदी का स्वर्गवास

हमें यह सुनकर बड़ा दुख हुआ कि गत ३ अगस्त को क्षय-रोग से ५५ वर्ष की अवस्था में 'बलिया' जिला-निवासी पं० रामचन्द्र द्विवेदी का देहान्त हो गया। आप हिन्दी और संस्कृत के एक अच्छे विद्वान्, आर्यसमाज और हिन्दू-सभा के उत्साही कार्यकर्त्ता, ओजस्वी वक्ता, निर्भीक आन्दोलक और प्रौढ़ हिन्दी-लेखक थे। यद्यपि आप संयुक्त-प्रान्त के निवासी थे, तथापि आपकी शिक्षा-दीक्षा बिहार प्रान्त में ही हुई थी और इसीलिए अन्त तक आपका प्रधान कार्य-क्षेत्र भी बिहार ही रहा है। वैद्यनाथ-धाम का

१. यह टिप्पणी इससे पहले ही अन्यत्र प्रकाशित है। —ले०

गुरुकुल-महाविद्यालय आपके ही सतत उद्योग एवं अक्लान्त अध्यवसाय का फल है। आपही उसके संस्थापक और सम्पोषक थे। छपरा की हिन्दू-सभा में आपके प्रभावशाली भाषण से प्रसन्न होकर महामना मालवीयजी ने आपकी बड़ी प्रशंसा की थी। तभी से आप मालवीयजी के स्नेह-भाजन बन गये थे। आपमें सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि प्रसिद्ध आर्यसमाजोपदेशक होने पर भी आप गोस्वामी तुलसीदास के अनन्य भक्त थे। आपका लिखा 'तुलसी-साहित्य-रत्नाकर' नामक ग्रन्थ, जो पटना के 'खड्गविलास प्रेस' से प्रकाशित हुआ है, हिन्दी का एक अनूठा ग्रंथ है। आपने 'तुलसी-सतसई' सरीखे कठिन ग्रन्थ की भी बड़ी अच्छी टीका की है, जो सम्भवतः पटना के सरस्वती-भंडार से प्रकाशित है। सच्चे आर्यसमाजी होकर भी तुलसी-साहित्य के आप ऐसे अनुरक्त भक्त थे कि यह एक प्रकार से अतिशय विलक्षण बात प्रतीत होती है। 'बिहारी सतसई' का भी आपने खूब अध्ययन किया था। उसकी उपलब्ध टीकाओं से वे सन्तुष्ट नहीं हुए थे और इसीलिए 'बिहारी-सतसई' पर भी आप 'स्वान्तः सुखाय' टीका लिखने की इच्छा रखते थे। दुख है कि आपकी यह बहु-दिन-लालित अभिलाषा पूरी न हो सकी। हम आपकी आकस्मिक मृत्यु से अत्यन्त मर्माहत हुए हैं। आपके शोकग्रस्त परिवार के साथ आन्तरिक समवेदना प्रकट करते हुए हम परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि आपकी लोकोपकारिणी एवं साहित्य-निमज्जित आत्मा को चिर-शान्ति प्राप्त हो!

१. हिन्दी-नाट्य-उपसमिति

अखिल-भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का शायद बारहवाँ अधिवेशन सन् १९२२ ई० में, लाहौर में हुआ था। बिहार के प्रसिद्ध साहित्यसेवी पं० जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी उसके सभापति थे। उसमें मुजफ्फरपुर के उत्साही नवयुवक हिन्दी-कवि और कुशल अभिनेता मौलवी लतीफ हुसेन (अब ठाकुर ललितकुमार सिंह 'नटवर') के उद्योग से एक हिन्दी-नाट्य-उपसमिति की योजना का प्रस्ताव पास हुआ था। किन्तु उसके बाद इस दिशा में फिर कोई ठोस काम नहीं हुआ। ईश्वर की दया से इस साल कलकत्ता के बीसवें साहित्य-सम्मेलन में पुनः 'नटवर' जी के ही उद्योग से उक्त समिति का जीर्णोद्धार हुआ—उसे नवीन जीवन प्रदान किया गया। इस शुभ उद्योग में 'नटवर'जी को प्रसिद्ध राष्ट्रीय कवि पं० माधव शुक्ल, 'रंगमंच'-सम्पादक पं० नरोत्तम व्यास और पं० राधेश्याम कथावाचक द्वारा विशेष प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। फलतः २१ साहित्य-सेवियों की एक 'नाट्य-उपसमिति' बनाई गई। उक्त शुक्लजी के सभापतित्व में गत ७ जून को उसकी पहली बैठक भी हो गई, जिसमें कई उपयोगी प्रस्ताव पास हुए। पहले प्रस्ताव में हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं, नाट्य-संस्थाओं, नाटक-लेखकों, नाट्य-कला-मर्मज्ञों और अभिनेताओं से अभिनय-कला पर मत-संग्रह करने की सिफारिश की गई है। दूसरे प्रस्ताव द्वारा एक 'नाट्यालोचन'-समिति की सृष्टि की गई है, जिसके पाँच नाटक-प्रेमी सदस्यों को यह अधिकार दिया गया है कि वे सम्मिलित अथवा व्यक्तिगत रूप से नाट्य-ग्रन्थों, अभिनेताओं और सार्वजनिक अथवा व्यावसायिक नाट्य-मण्डलियों की समालोचनाएँ,

सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराते रहें। फिर तीसरे प्रस्ताव द्वारा पाँच ही नाटककारों की एक 'नाट्य-ग्रन्थ-निर्माण-समिति' भी बनाई गई है जो नाटक लिखने-लिखाने के प्रयत्न के साथ-साथ लिखित नाट्य-ग्रन्थों की उपयोगिता का निर्णय भी करेगी और प्रोत्साहन तथा पुरस्कार आदि देने-दिलाने की घोषणा भी। इसके बाद चौथा प्रस्ताव बड़ा महत्त्व का है। उसका अविकल रूप इस प्रकार है—

"हिन्दी-अभिनय-कला के नियमों के अनुसार 'हिन्दी-रंगमंच'-निर्माण करने के उद्देश्य से, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की संरक्षकता में 'हिन्दी-रंगमंच' के नाम से, एक नाट्य-संस्था स्थापित की जाय। इसके प्रारम्भिक कार्य के लिए 'कलकत्ता' केन्द्र रहे और यहाँ की—सम्भव हो, तो बाहर की भी—नाट्य-संस्थाओं के चुनिन्दे तथा नियमानुसार चलनेवाले सदस्य 'हिन्दी-रंगमंच' के पात्र बनाये जायँ और उसका संचालन योग्य ट्रस्टियों द्वारा हो।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह चौथा प्रस्ताव निःसन्देह ही बड़ा उपयोगी है। निस्सन्देह इससे हिन्दी का प्रचार और गौरव बढ़ेगा। किन्तु हिन्दी-साहित्य के हित की दृष्टि से अच्छा यह होगा कि 'हिन्दी-रंगमंच' की स्थापना स्वतंत्र व्यावसायिक रूप से की जाय और शुद्ध साहित्यिक नाटकों का अभिनय करना ही उसका मुख्य उद्देश्य हो। तात्पर्य यह है कि सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक अथवा ऐतिहासिक नाटक भी साहित्यिक दृष्टि से ही अभिनीत किये जायँ। उसमें पं० माधव शुक्ल, पं० रासबिहारी शुक्ल (प्रयाग) पं० लक्ष्मीकान्त भट्ट (प्रयाग) मुन्शी अजमेरी, पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', ठाकुर ललितकुमारसिंह 'नटवर', बाबू केशवप्रसाद टण्डन (काशी) आदि हिन्दी-संसार के कुशल अभिनेता पूर्ण सहयोग प्रदान करें। एक व्यवसायी कम्पनी की भाँति उसका संगठन हो; किन्तु उसपर साहित्य-सम्मेलन का ही संरक्षण रहे। हिन्दी-साहित्य के जो सच्चे प्रेमी और हिमायती हों—उसके उत्कर्ष के अभिलाषी हों—उसपर गर्व करनेवाले हों; वे ही उस कम्पनी में वेतनभोगी कर्मचारी रहें। साहित्यसेवी अभिनेता भी वैतनिक ही रखे जायँ। जिस प्रकार कलकत्ता के स्टार और मनमोहन-थियेटर व्यवसाय के साथ-ही-साथ बँगला-साहित्य की उन्नति कर रहे हैं, उसी प्रकार यह कम्पनी भी साहित्य और व्यवसाय का संगमस्थल बने। यद्यपि उसका प्रधान केन्द्र कलकत्ता में ही रहना लाभदायक सिद्ध होगा, तथापि भारत के भिन्न-भिन्न महानगरों में भी उसको भ्रमण करना पड़ेगा। दर-अमल हो तो वह व्यवसायी कम्पनी, लेकिन काम करे साहित्य का। हमें आशा है कि हिन्दी-नाट्य-उपसमिति के संयोजक 'नटवर' जी इस विषय का निरन्तर अथक आन्दोलन करते रहेंगे और तबतक हतोत्साह अथवा हताश न होंगे, जबतक वह साहित्य-प्रधान व्यवसायी नाटक-कम्पनी खुल न जाय। हिन्दी-पत्रकारों को भी इस विषय के आन्दोलन में प्रमुख भाग लेना चाहिए। हम कलकत्ता के अपने सहयोगियों का ध्यान इधर आकृष्ट करते हैं। कलकत्ता में बड़े-बड़े धनाढ्य व्यवसायी हैं। यदि कोई व्यवसाय की दृष्टि से भी इधर ध्यान देने की

उदारता दिखायें, तो उसे एक सर्वथा नवीन व्यवसाय-क्षेत्र बिलकुल खाली मिलेगा और साथ ही साहित्य-सेवा का सुयश भी प्राप्त होगा।

इसमें सन्देह नहीं कि वर्त्तमान पेशेवर पारसी कम्पनियाँ अपनी सारी शक्ति के साथ प्रतिद्वन्द्विनी बन खड़ी होंगी, पर उन्हें रंगमंच पर सुरुचि और सत्साहित्य का आवाहन करने में केवल धन के बल से उतनी सुविधा नहीं प्राप्त हो सकती, जितनी साहित्य-सम्मेलन द्वारा संरक्षित संस्था के लिए संभव है। यदि कहीं ऐसा होता कि कोई सम्पन्न पारसी कम्पनी ही साहित्य-सम्मेलन के साथ सहयोग करने को उद्यत हो जाती, तो दोनों की अभीष्ट-सिद्धि होती; किन्तु अभी तो यह असम्भव-सा ही प्रतीत होता है।

हम नहीं कह सकते कि प्रथम प्रस्ताव के अनुसार अभी तक अभिनय-कला पर कुछ भी मत-संग्रह हो सका है कि नहीं; पर आशा है कि ऐसा महत्त्वपूर्ण काम छेड़कर 'नटवर' जी चुप न बैठे होंगे। दूसरे प्रस्ताव के अनुसार हमने अभी नाट्यालोचन-समिति के ५ सदस्यों में से किसी की भी लिखी हुई कोई नाटक-सम्बन्धी समालोचना कहीं नहीं देखी है। इसी प्रकार तीसरे प्रस्ताव द्वारा संघटित 'नाट्य-ग्रन्थ-निर्माण समिति' का भी कोई काम हमारी नजरों से नहीं गुजरा है। इस तरह केवल प्रस्ताव पास करके चुप बैठ जाना अच्छा नहीं है। साहित्यानुरागी पत्र-सम्पादकों को चाहिए कि वे इस नाट्य-उपसमिति के सभी विभागों के सदस्यों को सदा उकसाते रहें और बार-बार उनसे कुछ काम कर दिखाने का अनुरोध करें। हमें विश्वास है, निराशा और आलस्य के वशीभूत होकर इस महत्त्वपूर्ण कार्य की उपेक्षा न की जायगी।

—मासिक 'गङ्गा'-(सुलतानगंज, भागलपुर); प्रवाह १, तरंग ११, भाद्रपद, सं० १९८८ विक्रमाब्द; सितम्बर, सन् १९३१ ई०

[३]

भगवान का भरोसा

हममें न कोई चमत्कारपूर्ण प्रतिभा है, न कोई विलक्षण शक्ति, है केवल औढ़रदानी विश्वनाथ का अटल भरोसा, जिसकी राजधानी से यह 'जागरण' प्रकट हो रहा है। उसीकी यह प्रेरणा है, वही इसे सँभाले। हम उसी जगन्नियन्ता के हाथ के खिलौने हैं। अगर इस तुच्छ खिलौने से आपका कुछ दिल बहल जाय, तो इसे भी उसी की कृपा समझिएगा।

राष्ट्रभाषा हिन्दी की कुछ सेवा करने की थोड़ी-सी श्रद्धा भी मन में है, बचा-खुचा उत्साह भी रह गया है, पर इनका कोई सहारा नहीं है—एक मात्र जगदाधार का ही आसरा है। उस जगन्नाटक-सूत्रधर के संकेत पर नाचना हमारा काम है; उसी ब्याज से यदि आपका मनोरंजन भी हो जाय, तो हमारा अहो भाग्य !

'जागरण' को शुद्ध साहित्यिक पत्र बनाने की इच्छा है। अभी हमारी दृष्टि से ही इसमें बहुत-सी त्रुटियाँ हैं। पर विश्वास है कि ईश्वर की दया से निकट भविष्य में ही वे दूर हो जायेंगी। मन में जो कुछ है, सब उसी भक्त-कल्पद्रुम के चरणों में अर्पित है।

हिन्दी में अनेक पत्र-पत्रिकाओं के होते हुए भी 'जागरण' की आवश्यकता थी—इस बात पर अगर हम आपका विश्वास जमा सके, तो हम अपने को सफल-मनोरथ समझेंगे।

यह किसी दल-विशेष का पत्र नहीं है। ईश्वर की दया से भविष्य में भी यह ऐसा ही रहेगा। साहित्यिक दलबन्दी और ईर्ष्या-द्वेष को मिटाने में कभी कोताही न करेगा। ईश्वर से प्रार्थना है कि यह साहित्य-संसार में पारस्परिक बन्धुत्व और सौहार्द फैलाने में समर्थ हो। आशा है, आप लोग भी इस ईश्वर-प्रार्थना के स्वर में स्वर मिलावेंगे।

मालवीय-जयन्ती

आज हिन्दू-विश्वविद्यालय में माननीय पं० मदनमोहन मालवीयजी की सत्तरवीं वर्ष-गाँठ मनाई जाने को है। हिन्दी-साहित्य के नाते हम भी आपका सादर अभिनन्दन करते हैं। शिक्षा, धर्म, समाज, राजनीति और साहित्य सभी क्षेत्रों में आपकी स्तुत्य सेवा स्मरणीय है। सन् १८६१ ई० में आपका शुभ जन्म, तीर्थराज प्रयाग में, २५ दिसम्बर को हुआ था। सन् १८८४ ई० में बी० ए० पास होकर सरकारी स्कूल में मास्टर हुए। सन् १८८७ ई० में हिन्दी दैनिक 'हिन्दुस्तान' के सम्पादक हुए। ढाई वर्ष तक उसका सम्पादन किया। इसके बाद अँगरेजी अखबार 'इंडियन यूनियन' के सम्पादक हो गये। हिन्दी-पत्र-सम्पादन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध न रहने पर भी हिन्दी का काम आप से न छूटा। आपने प्रयाग से 'अभ्युदय' निकालकर उसके लिए बहुत परिश्रम किया। युक्तप्रान्त की अदालतों में नागरी-अक्षर जारी कराने में आपका प्रधान प्रयत्न था। अखिलभारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के प्रथम सभापति आप ही बनाये गये थे। आपके पुत्र-पौत्र भी हिन्दी-साहित्य की सेवा में संलग्न हैं। ईश्वर से यही प्रार्थना है कि आप चिरायु हों।

—पाक्षिक 'जागरण' (काशी); वर्ष १, अंक १, माघ, १९८८ विक्रमाब्द, वसंत-पंचमी; ११ फरवरी, १९३२ ई०

आचार्य द्विवेदीजी की सड़सठवीं जयन्ती

हिन्दी-साहित्य-महारथी पूज्य पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने हिन्दी-साहित्य की जो चिरस्मरणीय सेवा की है, वह हिन्दी-भाषा के इतिहास में सुनहले अक्षरों में लिखा रहेगा। हिन्दी-साहित्य के निर्माण में उन्होंने जितना शारीरिक और मानसिक परिश्रम किया है, उतना शायद ही किसी एक व्यक्ति ने लगातार किया हो। उन्होंने अपने शरीर

और मस्तिष्क का एक-एक कण हिन्दी-साहित्य के यज्ञ-कुण्ड में होम दिया है—अपना तन, मन, धन, सर्वस्व हिन्दी को सौंप दिया है—अपनी आँखों की ज्योति देकर राष्ट्रभाषा के मन्दिर को आलोकित किया है— अपनी अस्थियाँ घिस-घिस कर मातृभाषा के चरणों को चन्दन-चर्चित किया है। ऐसे सर्वस्व-त्यागी साहित्यिक तपस्वी का सम्मान करना हम सब हिन्दी-भक्तों का कर्त्तव्य है।

पूज्य द्विवेदीजी अब बहुत वृद्ध हो चले। मानसिक परिश्रम करते-करते उनका शरीर जर्जर हो गया है। उनकी शारीरिक शक्ति दिन-दिन क्षीण होती जा रही है। उनकी आँखों ने भी अब जवाब दे दिया है। एकान्त विश्राम और भगवद्भजन के सिवा अब उन्हें कुछ भी नहीं सुहाता। दयामय परमात्मा की यह अनन्त कृपा है, जो वे अबतक हमारी श्रद्धा के आश्रय-स्वरूप विद्यमान हैं। किन्तु इस क्षणभंगुर संसार में वे कबतक हमारी श्रद्धाञ्जलि को अंगीकार करने के लिए बैठे रहेंगे। हमारा कर्त्तव्य है कि अब हम अपनी श्रद्धा-भक्ति का प्रदर्शन करने में विलम्ब न करें।

पूज्य द्विवेदीजी की आयु का यह ६७वाँ वर्ष है। उनका शुभ जन्म, सं० १९२१ ई० में, वैशाख-शुक्ल ४ को हुआ था। इस वर्ष, आगामी वैशाख में, उनकी ६७वीं जयन्ती मनाने का विशेष आयोजन करना हमारा मुख्य कर्त्तव्य है। आगामी वैशाख शुक्ल ४ को देश-भर की हिन्दी-संस्थाओं में समारोह के साथ 'द्विवेदी-जयन्ती' मनाई जाय, और काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से उन्हें एक सर्वांग-सुन्दर स्मृति-ग्रन्थ भी अर्पित किया जाय; इसके लिए अभी से प्रयत्न होना चाहिए। आज से सिर्फ ढाई महीने का समय है। यदि तत्परता से काम किया जाय, तो इस तिथि तक अभीष्ट-सिद्धि हो सकती है। हम इसकी ओर अपने आदरणीय सहयोगियों का ध्यान भी आकृष्ट करते हैं। सबसे पहले काशी-नागरी-प्रचारणी सभा को इस दिशा में अग्रसर होना चाहिए। जिस 'सरस्वती' द्वारा द्विवेदीजी ने हिन्दी की उन्नति का पथ प्रशस्त किया, उसकी जननी 'सभा' ही है। 'सभा' पर द्विवेदीजी का बड़ा स्नेह भी है। 'सभा' यदि इस काम को अपने हाथ में लेगी, तो निश्चय ही सफल होगी। 'सभा' के प्राण बाबू श्यामसुन्दरदासजी और उसके प्रधान मन्त्री श्री रायकृष्णदासजी से हमारा नम्र निवेदन है कि वे इस सुअवसर को कदापि हाथ से जाने न दें। इस शुभ कार्य में इण्डियन प्रेस के संचालकों से भी 'सभा' को पर्याप्त सहायता मिलनी चाहिए।

गुजरात ने कविवर खबरदारजी को अभी हाल ही में एक अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया है। बंगाल ने भी कवीन्द्र-रवीन्द्र को एक स्वर्ण-स्मृति-ग्रन्थ भेंट किया है। हिन्दू-विश्वविद्यालय ने श्रद्धेय मालवीयजी की ७०वीं जयन्ती के अवसर पर एक बृहत् स्मारथ-ग्रन्क अर्पित करके उनका सम्मान किया है। हिन्दी में भी उक्त 'सभा' के कोषोत्सव के अवसर पर बाबू श्यामसुन्दरदासजी को एक स्मारक-ग्रन्थ अर्पित किया गया था। पूज्य द्विवेदीजी की ६७वीं जयन्ती के अवसर पर एक सुन्दर स्मृति-ग्रन्थ उन्हें भेंट करने का यह दुर्लभ सुअवसर हमें प्राप्त हुआ है। आज तक हम उन्हें कोई

साहित्यिक सम्मान नहीं दे सके और यदि यह सुयोग भी हमारे हाथ से निकल गया, तो इससे बढ़कर दुर्भाग्य का विषय दूसरा न होगा।

'विद्यार्थी'-स्मारक-कोष-समिति

गत वर्ष, स्वर्गीय श्रीगणेशशंकर विद्यार्थीजी का स्मारक बनाने के लिए, चौदह सज्जनों की एक समिति बनी थी, जिसने जनता से एक लाख रुपये की अपील करके यह भी बतला दिया था कि एक लाख रुपये किस तरह खर्च किये जायँगे। उन चौदह सज्जनों में लगभग दस-ग्यारह सज्जन जेल में हैं और सम्भवतः तीन या चार सज्जन बाहर हैं—पं० गोविन्दवल्लभ पंत, श्रीप्रकाशजी, बाबू कमलापति सिंघानिया आदि। श्रीप्रकाशजी कोषाध्यक्ष हैं। उन्होंने एक-दो बार स्थानीय दैनिक 'आज' में कुछ प्राप्त धन की सूचना भी प्रकाशित की थी। 'प्रताप' में कुछ सप्ताह चन्दे की अपील लगातार छपी थी। इसके बाद फिर कहीं उसकी चर्चा तक नहीं हुई।

यदि हिन्दी के सभी पत्र-संपादक अपने प्रत्येक पाठक से एक-एक आना देने का भी अनुरोध करते रहते, तो आजतक कोष भर गया होता। देशव्यापी आन्दोलन के रहते हुए भी संसार के सारे काम किसी तरह चल ही रहे हैं। किन्तु स्मारक-समिति मानो नितान्त हताश हो बैठी है। यदि वह केवल हिन्दी के सभी पत्र-सम्पादकों के पास गश्ती चिट्ठी भी उड़ाया करती, तो पत्र-पत्रिकाओं में नियमित चर्चा होने से थोड़ा-बहुत काम होता ही रहता। बड़े खेद की बात है कि पत्र-सम्पादकों ने भी कोष-समिति की कोई सुधि नहीं ली। 'प्रताप' तक ने इस विषय में दिलचस्पी लेना छोड़-सा दिया! आवश्यकता इस बात की थी कि सभी हिन्दी-पत्रों के प्रत्येक अंक में इस अपील की ओर पाठकों का ध्यान तबतक आकर्षित किया जाता, जबतक पूरी रकम जमा न हो जाती। एक स्वर्गीय आदर्श सम्पादक-बन्धु के प्रति हिन्दी-पत्र-सम्पादकों की यह उदासीनता अत्यंत खेदजनक है।

अब भी समय है। यदि तत्परता से अनवरत चेष्टा की जाय, तो सफलता निश्चित है। यदि कोष-समिति हाथ-पर-हाथ धरे बैठी रहेगी—चुपचाप सोती रहेगी, तो अब उसके लिए कभी कोई समय नहीं आवेगा। अनुकूल समय की प्रतीक्षा में चुप बैठे रहने से नतीजा यह होगा कि बात पुरानी पड़ती जायगी—लोग भूलते चले जायँगे—कुछ ही दिनों के बाद इसमें कोई विशेष दिलचस्पी न लेगा। देखने में आता है कि नित्य ही नई-नई समस्याएँ लोगों के सामने आ रही हैं। उलझनों के कम होने की कोई उज्ज्वल आशा नहीं दीख पड़ती। ऐसी दशा में किसी भावी आशा के सहारे एक महत्त्वपूर्ण कार्य को स्थगित कर रखना श्रेयस्कर नहीं कहा जा सकता।

समिति के जो सदस्य इस समय जेल से बाहर हैं, उन्हें चाहिए कि अन्य प्रान्तों से भी ऐसे प्रभावशाली सदस्य चुनें, जिनकी सहायता से काम आगे बढ़ सके। विद्यार्थीजी 'प्रताप' द्वारा सभी हिन्दी-प्रधान प्रान्तों में लोकप्रिय हो गये थे। उनका स्मारक बनाने के लिए सब स्थानों की जनता श्रद्धापूर्वक चन्दा देगी, कोई लेनेवाला चाहिए। बिना प्रेरणा

के कोई स्वयं तैयार न होगा। यदि हिन्दी के हरएक अखबार के ऑफिस में अपनी-अपनी गुंजायश के माफिक चन्दा दे देने के लिए हर जगह की जनता से अपील कर दी जाय और स्थानीय पत्रों से यह प्रार्थना भी कर दी जाय कि वे जनता को बराबर इस विषय की चेतावनी देते रहें तथा चन्दा देनेवालों के नाम भी प्रकाशित करते जायँ, तो निस्सन्देह थोड़े ही समय में आशातीत सफलता मिल सकती है। कोई पत्र-संपादक इस कर्त्तव्य से मुँह मोड़नेवाला न निकलेगा। डेपुटेशनों के दौरे से वसूल होनेवाली मोटी रकमों की लुभावनी आशा छोड़कर जनता के एक-एक पैसे पर विश्वास करना कहीं अधिक लाभदायक सिद्ध होगा। हिन्दी के लिए विद्यार्थीजी ने बहुत कुछ किया है, अब हिन्दी के हिमायतियों को भी उनके लिए कुछ कर दिखाना चाहिए।

—पाक्षिक 'जागरण' (काशी); वर्ष १, अंक २, फरवरी, १९३२ ई०

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का बीसवाँ वार्षिक विवरण

अखिलभारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के वर्त्तमान प्रधानमन्त्री श्रीमान् पं० रमाकान्त मालवीय ने झाँसी के गत इक्कीसवें सम्मेलन के अवसर पर हिन्दी-प्रेमियों के सामने सम्मेलन का बीसवाँ वार्षिक विवरण उपस्थित किया था। उसकी एक प्रति हमारे सामने है। जहाँ तक हमें स्मरण है, आजतक सम्मेलन का कोई विवरण इतना भ्रष्ट नहीं छपा था। यह दो प्रेसों में छपा है। आधा अंश तो एकदम रद्दी छपा है, बड़ी कठिनाई से पढ़ा जाता है। कुशल है कि शुरू से आजतक के आय-व्यय और बचत के वार्षिक चिट्ठे कुछ साफ छपे हैं। विवरण की भाषा भी सम्मेलन-जैसी संस्था के अनुकूल नहीं है। जान पड़ता है, सारा काम बड़ी जल्दीबाजी में हुआ है। सम्मेलन-जैसी प्रतिष्ठित संस्था को भविष्य में इन छोटी-मोटी बातों पर भी विशेष ध्यान देना चाहिए। नहीं तो लोगों पर अच्छा प्रभाव न पड़ेगा।

'सम्मेलन की आवश्यकता' शीर्षक के नीचे मन्त्रीजी लिखते हैं—"जबतक कम-से-कम २०००) प्रतिवर्ष सम्मेलन को उसके साधारण व्यय के लिए न मिले, तबतक यह कार्य नहीं निभ सकता। यह दो हजार साधारण सदस्य व हितैषियों के शुल्क से सहज ही में आ सकता है। किन्तु जबतक सम्मेलन का कोई प्रचारक ऐसा न हो, जो नगर-नगर घूमकर वार्षिक शुल्क इकट्ठा करे, तबतक केवल पत्र द्वारा माँगने पर शुल्क नहीं मिलता। विषम समस्या यह हो जाती है कि धन न रहने से प्रचारक रखा नहीं जा सकता और प्रचारक न रहने से धन इकट्ठा नहीं होता। यदि कोई उपदेशक ऐसा मिल जावे कि जिसको एक मास तो सम्मेलन की ओर से वेतन व मार्ग-व्यय दिया जावे और बाद में वह जितना द्रव्य प्रति मास इकट्ठा करे, उसी के चतुर्थांश या तृतीयांश में से उसका मार्ग-व्यय काटकर जो बचे, उतना ही उसको वेतन-स्वरूप दे दिया जाया करे,

तो सम्भव है, यह समस्या हल हो जावे। यदि इसका कोई उपाय कर दिया जावे, तो आर्थिक कठिनाइयाँ दूर हो सकें।"

वास्तव में यदि इसी प्रकार इस समस्या के हल होने की सम्भावना है, तो यह उपाय कुछ कठिन नहीं है। हिन्दी-संसार में इस तरह का उपदेशक मिलना असम्भव भी नहीं है, खोज-ढूँढ़ करने पर हिन्दी-साहित्य-सेवियों में से ही कोई उपयुक्त व्यक्ति निकल आवेगा। हाँ, सुयोग्य प्रचारक के लिए यह अत्यावश्यक है, कि वह प्रभावशाली वक्ता, परिश्रमी, साहित्यानुरागी, सच्ची लगनवाला और संगीतज्ञ हो।

'सम्मेलन-पत्रिका' के प्रकाशन के विषय में मन्त्रीजी लिखते हैं—

"यह तभी साध्य है कि जब सम्मेलन-पत्रिका के प्रकाशन की क्षति-पूर्त्ति के लिए कम-से-कम हमें १०००) प्रति वर्ष मिल जाया करे। यदि कोई हिन्दी-प्रेमी यह दान करे या कुछ उत्साही लोग मिलकर इतना धन इकट्ठा कर देवें, तो यह पत्रिका निकल सकती है।"

हिन्दी-प्रेमियों से, साहित्य के नाम पर दान करने के लिए, शायद आजतक सम्मेलन ने कभी नहीं कहा है। कम-से-कम उन लोगों के लिए, जो सम्मेलन के सदस्य और हितैषी हैं। यह एक नियम-सा होना चाहिए कि वे जन्मोत्सव, विवाह, श्राद्ध आदि अवसरों पर अवश्य ही सम्मेलन को यथाशक्ति कुछ श्रद्धापूर्वक दान दें और दिलावें। इस नियम का प्रचार हिन्दी के सभी लेखकों, कवियों और सम्पादकों में होना चाहिए। सम्मेलन यदि इसके लिए पत्रों में आन्दोलन करे, तो लाभ के सिवा कोई हानि न होगी।

सम्मेलन पर १९ हजार रुपये का ऋण है। उसे चुकाने के लिए झाँसी के सम्मेलन में उपस्थित प्रतिनिधियों से मन्त्रीजी ने इस प्रकार अपील की थी—"जितने प्रतिनिधि पधारे हैं, वे सब यदि अपने ऊपर हो सके, तो १००), नहीं तो ५०), सम्मेलन की इस क्षति-पूर्त्ति के लिए, इकट्ठा करने का भार ले लेवें, तो यह ऋण सहज में चुकाया जा सकता है। इसके चुकाने का दूसरा उपाय यह है कि कुछ बड़े-बड़े नगर के प्रमुख कार्य-कर्त्ता-गण कलकत्ता-बम्बई ऐसे बड़े नगरों से ५००) तथा लखनऊ, काशी, कानपुर, जबलपुर, भागलपुर आदि नगरों से ढाई-ढाई सौ व अन्य छोटे नगरों से सौ इकट्ठा करने का भार अपने ऊपर ले लें—चाहे साधारण सदस्य बनाकर, चाहे हितैषी बनाकर, चाहे यों ही, तो भी यह क्षति-पूर्त्ति सहज में ही हो सकती है।"

देश की वर्त्तमान स्थिति में शायद ही यह स्कीम सफल हो। जो प्रतिनिधि झाँसी के सम्मेलन में वादा कर आये हैं, वे कहाँ तक क्या करते हैं—यह देख लेने के बाद ही इस योजना के विषय में कुछ कहा जा सकता है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मन्त्रीजी की यह योजना बहुत अच्छी है और इसके अनुसार यदि तत्परता से काम हो, तो सम्मेलन का ऋण आसानी से चुकाया जा सकता है। इस समय प्रायः सभी नगरों के प्रमुख कार्यकर्त्ता अत्यन्त व्यस्त हैं, अधिकांश तो जेल में हैं। जो बाहर हैं, वे साहित्य-सम्मेलन के लिए अपना कुछ समय दे रहे हैं या नहीं—अथवा दे सकेंगे या नहीं; इस विषय में कुछ ठीक नहीं कहा जा सकता। इसलिए, यदि प्रत्येक नगर के प्रभावशाली साहित्यसेवी ही इस

काम को अपने हाथ में लें, तो सम्मेलन का बहुत कुछ उपकार हो सकता है। यह कोई जरूरी नहीं है कि सिर्फ खास-खास लोगों से ही मोटी रकमें वसूल की जायँ। जब एक गरीब-से-गरीब हिन्दी-प्रेमी के एक पैसे को उतना ही महत्त्व दिया जायगा, जितना धनी हिन्दी-प्रेमी के दस रुपये को; तभी पर्याप्त सफलता मिल सकेगी। इसके लिए भी मन्त्रीजी को सभी पत्रों में चर्चा और आन्दोलन करते रहना चाहिए।

सम्मेलन के दोषों से खिन्न होकर हमें उसकी ओर से उदासीन न होना चाहिए। यदि सचमुच उसमें कुछ बुराइयाँ हैं, तो हमारा कर्त्तव्य है कि उन्हें दूर करने के लिए हम सच्ची सहानुभूति के साथ भरपूर चेष्टा करें। कोई ऐसा दोष नहीं, जिसका निवारण न हो सके। सुधार तभी होगा, जब हम शुद्ध हृदय से उसके पीछे लगे रहेंगे। सम्मेलन की उपेक्षा करने से हिन्दी की बड़ी भारी हानि होगी। प्रत्येक हिन्दी-हितैषी को सम्मेलन के हित में दिलचस्पी लेनी चाहिए।

ऐसा प्रायः देखने में आता है कि हिन्दी-पत्रों में सम्मेलन-सम्बन्धी कुछ चर्चा साल-भर में सिर्फ एक बार होती है—उसके वार्षिक अधिवेशन के समय! किन्तु सिर्फ एक महीने की थोड़ी-सी चर्चा से सम्मेलन-जैसी व्यापक संस्था का कुछ भी हित नहीं हो सकता। सभी पत्र-सम्पादकों को अपने पत्र का कुछ अंश सम्मेलन की चर्चा के लिए बराबर देना चाहिए। यदि सबके सहयोग से सम्मेलन शक्तिशाली होगा, तो हिन्दी का गौरव बढ़ेगा—हिन्दी-साहित्य की उन्नति होगी।

—पाक्षिक 'जागरण' (काशी); वर्ष १, अंक ३, मार्च, १९३२ ई०

होली का गुलाल

सबसे पहली मुट्ठी उस मतवाला राजा पर, जिसकी त्रिलोक-न्यारी राजधानी से 'जागरण' निकलता है—जिसके जटाजूट की गंगधार में घुलकर गुलाल, भाल-बालेन्दु को रंजित करता हुआ, कर्पूर-गौर शुभ्र शरीर पर लाली बिखेर देगा।

दूसरी मुट्ठी उन हिन्दी-साहित्य-सेवियों पर, जो आज हमारे चर्म-चक्षुओं से ओझल होकर उस प्रातःस्मरणीय महापुरुष की जन्मस्थली में निवास करते हैं, जो हिन्दी के होली-साहित्य का जीवन-सर्वस्व है—जो महाभारत की होली का मस्ताना खिलाड़ी है।

तीसरी मुट्ठी उन सभी कृपालु लेखकों और कवियों पर, जिन्होंने 'जागरण' की पिचकारी में अपनी प्रतिभा का रंग भरकर साहित्य-संसार को अनुरंजित किया है।

चौथी मुट्ठी उन सब सहयोगिनी पत्रिकाओं पर, जिनका रस चूसकर 'जागरण' जीवन धारण करता है—जिनका 'मधु-संचय' करने से 'जागरण' का 'कोष' परिपुष्ट होता है।

पाँचवीं मुट्ठी उन सब सहानुभूतिशील सहयोगी भाइयों पर, जिन्होंने हिन्दी-संसार में 'जागरण' की आवश्यकता का अनुभव करके हमें कृतार्थ किया है—जिन्होंने

'जागरण' से 'क्षण-भर' मनोविनोद करने के लिए अपना अमूल्य समय देते रहने का पूर्ण आश्वासन प्रदान किया है।

और, बचा-खुचा गुलाल 'जागरण' के उन उदार ग्राहकों पर, जो सब कामों से बचा-खुचा पैसा हाथ में होने पर ही 'जागरण' को खरीदने की कृपा करते हैं!

अन्त में गुलाल की झोली का झारन-झूरन उन क्षमाशील लेखकों और कवियों पर, जिनकी रचनाएँ स्थानाभाव के कारण 'जागरण' को अलंकृत न कर सकीं। किन्तु हताश होने का कोई कारण नहीं है—अभी 'जागरण' की होली लगभग श्रीरामनवमी तक जागती रहेगी; क्योंकि बनारस में 'बुढ़वा-मंगल' का महोत्सव चैत की चाँदनी में होता है। चैती होली बनारस की एक खास चीज है!

—पाक्षिक 'जागरण' (काशी); वर्ष १, अंक ४, मार्च, १९३२ ई०

हिन्दी में होली-साहित्य

हमारी राष्ट्रीयता में संजीवनी शक्ति भरनेवाले त्योहारों में 'होली' बड़ा महत्त्वपूर्ण है। हमारे साहित्य में होली का वर्णन भरा-पड़ा है। वह वर्णन इतना सजीव, मधुर और उल्लासपूर्ण है कि उसे हृदयंगम करके हमारा पुरुषत्व उद्दीप्त हो उठता है, हमारा मानस-तल प्रेम-परिप्लावित हो जाता है, हमारी आकांक्षाएँ माधुर्य से लिपट जाती हैं, हमारी आँखें विश्व-बन्धुत्व के रंग में पग जाती हैं। किन्तु अभी तक यह वर्णन अनन्त साहित्य-सागर में बिखरा पड़ा है। हिन्दी में, आदि काल से लेकर आज तक, बड़ी प्रचुरता से होली-साहित्य का निर्माण हुआ है। अनेक कवियों और लेखकों ने इस पुण्य-पर्व को अपने प्रतिभा-प्रसून के मकरन्द से अभिषिक्त किया है। हिन्दी के प्राचीन और नवीन गद्य-पद्य-साहित्य में होली-सम्बन्धी जितनी संग्रहणीय सामग्री है, यदि सबका संग्रह किया जाय, तो साहित्य की एक अमूल्य निधि संचित हो सकती है। इसके लिए व्रजभाषा-साहित्य को मथना पड़ेगा, आज तक की सभी पत्र-पत्रिकाओं के नये-पुराने होलिकांकों को छान डालना होगा, इस प्रकार संग्रह की हुई सामग्री से जो बहुमूल्य ग्रंथ तैयार होगा, वह साहित्य-मंदिर में इस राष्ट्रीय त्योहार की बड़ी दिव्य मूर्त्ति स्थापित करेगा; उससे जातीयता का भाव पुष्ट होगा; साहित्य की भी बड़ी शोभा बढ़ेगी। निस्सन्देह यह ग्रंथ सुसम्पादित होना चाहिए—सम्भव है, वह कई बृहत् खंडों में विभक्त भी हो, परन्तु एक अच्छी चीज होगी। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के योग्य ही यह काम है। स्थायी साहित्य के ग्रंथ प्रकाशित करनेवाले समर्थ प्रकाशक भी शृंगार और हास्यरस के इस खजाने पर छापा मार सकते हैं।

स्वर्गीय कवि-चक्रवर्त्तीजी

अत्यन्त शोक का विषय है कि गत मास में मनीषि-मण्डली-मण्डन महामहोपाध्याय पं० देवीप्रसाद शुक्ल कवि-चक्रवर्त्ती के कैलासवासी होने से काशी के विद्वत्-समाज का

एक विशाल स्तम्भ भग्न हो गया। आप हिन्दू-विश्वविद्यालय के संस्कृताध्यापक थे। संस्कृत-साहित्य और दर्शनशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित होकर भी आप हिन्दी के बड़े प्रेमी थे। आपकी काव्यमर्मज्ञता प्रसिद्ध थी। संस्कृत का तो कहना ही क्या, व्रजभाषा के भी आप बड़े अच्छे कवि थे। मृत्यु के समय आपकी अवस्था लगभग ५२ वर्ष की थी। ईश्वर आपके तीनों सुशील पुत्रों को दीर्घायु करके आपकी दिवंगत आत्मा को शान्ति प्रदान करे।[1]

—पाक्षिक 'जागरण' (काशी); चैत्र, संवत् १९८८; वर्ष १ अंक ५, ५ अप्रैल, १९३२ ई०

स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा

यह लिखते हुए अत्यन्त दुःख हो रहा है कि हिन्दी के उद्भट समालोचक और सहृदय साहित्य-मर्मज्ञ पं० पद्मसिंहजी शर्मा, गत ७ अप्रैल को सुबह सात बजे, अपने गाँव 'नायक-नगला' (बिजनौर) में, प्लेग से आक्रान्त होकर, अचानक लोकान्तरित हो गये। इस अनभ्र वज्रपात से हिन्दी-साहित्योद्यान का एक बड़ा सुन्दर वृक्ष चूर्ण हो गया। यदि शब्दों में आन्तरिक शोक-सन्ताप को व्यक्त करने की शक्ति होती, तो ऐसे अवसर पर हृदय का दुःख-भार कुछ हल्का हो जाता। किन्तु स्व० शर्माजी स्वयं शान्तिधाम के यात्री होकर हिन्दी-संसार में ऐसा घोर हाहाकार छोड़ गये कि शब्द सर्वथा असमर्थ हो रहे हैं। इस समय ईश्वर से हमारी इतनी ही प्रार्थना है कि स्व० शर्माजी की काव्य-निमज्जित आत्मा को शाश्वत शान्ति और उनके शोकाकुल परिवार तथा इष्ट-मित्रों को धैर्य उपलब्ध हो।

नववर्ष-स्वागत

हे नूतन वर्ष ! कर्त्तव्य की प्रेरणा से हम हिन्दी-साहित्य-संसार में तुम्हारा स्वागत करते हैं। यद्यपि तुमने पदार्पण करते ही हमारे साहित्य पर बड़ी निष्ठुरता से आघात कर दिया, तथापि हम तुम्हारा स्वागत करते हैं; क्योंकि तुम भी कालचक्र के वशीभूत हो ! कोई ऐसा भी समय था, जब तुम अनेक आशाएँ लेकर आये थे—सीता-संजीवन-सन्देश लेकर कनक-भूधराकार शरीर में पवन-नन्दन की तरह प्रकट हुए थे। परन्तु आज तो तुम खर-दूषण के सैन्य की तरह प्रलय को आगे किये अचानक आ धमके। जिस रूप में

---

१. कवि-चक्रवर्त्तीजी ही कविवर श्रीजयशंकर प्रसादजी के काव्यगुरु थे। आप अपने समय के परम प्रसिद्ध साहित्यशास्त्र-पारंगत विद्वान् थे। आपके पूज्य पिता श्रीदुःखभंजन कवि संस्कृत के धुरन्धर विद्वान् और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के मित्रों में थे। कवि-चक्रवर्त्तीजी ही काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के कोषोत्सव-स्मारक-आयोजन में कवि-सम्मेलन के अध्यक्ष हुए थे, जिसमें 'प्रसाद' जी ने, आपके ही आदेश और आचार्य श्यामसुन्दरदास के साग्रह अनुरोध से, सार्वजनिक सभा में पहले-पहल, अपनी 'आँसू' नामक प्रसिद्ध कविता मधुर स्वर से गाकर सुनाई थी। —लेखक

तुम आये हो, वह रूप तो ऐसा नहीं है कि साहित्य में तुम्हारी कीर्त्ति सुनहले अक्षरों में लिखी जायगी। यदि तुम साहित्य में अमर कीर्त्ति होने योग्य न हुए—चिरस्मरणीय न बने—निष्कलंक न कहलाये, तो तुम्हारा आगमन निष्प्रयोजन ही हुआ। अतएव, हे नववर्ष! दुर्भिक्ष, महामारी, ईर्ष्या-द्वेष और अशान्ति का प्रसार करके साहित्य में लोक-पीड़क न कहलाओ। तुम्हारे आते ही हम जिस प्रातःस्मरणीय मर्यादापुरुषोत्तम की जयन्ती मनाते हैं, उनका लोकरंजन-व्रत—उनका रामराज्य—उनका मर्यादा-परिपालन तुम्हें आदर्श पाठ दे, तुम्हें पथ प्रदर्शित करे, यही उस जगन्नियन्ता से प्रार्थना है—'काल जासु कोदण्ड!'

पूज्य द्विवेदीजी की जयन्ती

'जागरण' ने पूज्य द्विवेदीजी की जयन्ती का जो प्रस्ताव उपस्थित किया था, उसे वह हिन्दी-संसार को बराबर याद दिलाता रहा है। खेद है कि अधिकांश सहयोगियों ने उसपर ध्यान नहीं दिया। 'माधुरी', 'वीणा', 'भारत-मित्र' आदि ने 'जागरण' का प्रस्ताव पसन्द किया—उसके समर्थन करने की सहृदयता भी दिखाई, जिसके लिए 'जागरण' उन्हें सादर धन्यवाद देता है। आशा है, अन्य सहयोगी भी इस कार्य का महत्त्व समझकर अपने पाठकों से अनुरोध करेंगे। आगामी वैशाख शुक्ल ४, ता० ९ मई, सोमवार को समस्त हिन्दी-संसार में द्विवेदी-जयन्ती मनाई जानी चाहिए। इसके लिए अब विशेषतः दैनिक और साप्ताहिक पत्रों को नियमित रूप से उद्योग करना चाहिए। उक्त तिथि को प्रत्येक हिन्दी-प्रधान संस्था में स्थानीय साहित्यसेवी सहर्ष समवेत होकर श्रद्धा-पूर्वक उनकी आदरणीय साहित्य-सेवा के प्रति सम्मान प्रदर्शित करें। उनके विषय में निबन्ध-पाठ हो और पुष्प-माल्यादि से उनके चित्र की अर्चना की जाय। प्रयाग के इण्डियन प्रेस, जूही (कानपुर) के कमर्शियल प्रेस और काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा में इसका विशेष आयोजन होना चाहिए। 'सभा' में द्विवेदीजी द्वारा प्रदत्त पुस्तक-भाण्डार की प्रदर्शनी की जाय। अन्य स्थानों में उनकी पुस्तकों और 'सरस्वती' की प्रतियों का प्रदर्शन हो। सब लोग एक स्वर से ईश्वर-प्रार्थना करें कि श्रद्धेय द्विवेदीजी दीर्घायु होकर हिन्दी-साहित्य का मस्तक गर्वोन्नत रखें। हमें विश्वास है कि सभी हिन्दी-प्रेमी उस साहित्यिक तपस्वी के प्रति अपना कर्त्तव्य-पालन करेंगे।

हिन्दी या हिन्दुस्तानी

हिन्दी के सुपरिचित साहित्यसेवी श्रीमान् पं० रामनरेश त्रिपाठी ने इधर 'हिन्दी या हिन्दुस्तानी' का प्रसंग छेड़कर हिन्दी-संसार को चौंका दिया है। आपकी सम्मति है कि उर्दू-भाषा के जो बारह सौ शब्द हिन्दी में आ चुके हैं, उन्हें पचा डालना चाहिए। कुछ दिन-पूर्व, आपने महात्मा गांधी को बताया था कि हिन्दी में कुल तीन सौ ही शब्द हैं। अब बारह सौ शब्द तो केवल उर्दू-फारसी के ही निकल आये, जो हिन्दी में हिलमिल गये हैं। इसी प्रकार अन्यान्य भाषाओं के भी बहुत-से शब्द हैं, जो हिन्दी में बड़े धड़ल्ले से व्यवहृत होते हैं। इस तरह अब त्रिपाठीजी को भी हिन्दी में तीन सौ शब्दों की जगह कम-से-कम

तीन हजार शब्दों का अस्तित्व तो मानना ही पड़ेगा; क्योंकि भिन्न-भिन्न भाषाओं के जितने शब्द हिन्दी में प्रचलित होकर खप चुके हैं, वे अब हिन्दी की ही सम्पत्ति हैं। किन्तु जो शब्द हिन्दी की धारा में घुलमिल चुके, अब उनके पचाने का प्रश्न कोई अर्थ नहीं रखता। वे तो पच ही चुके हैं। अब तो फिर से उन्हें पचाने के संकेत का यह आशय है कि अधिकतर उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया जाय। हिन्दी-भाषा में प्रचलित बहुत-से विदेशी शब्दों को उद्धृत करके यह साहस के साथ नहीं कहा जा सकता कि हमें उन्हीं विदेशी शब्दों का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। हाँ, समन्वय की दृष्टि से उनका वहिष्कार भी वांछनीय नहीं। किन्तु, यदि राष्ट्रीयता की दुहाई देकर इसके द्वारा हिन्दू-मुस्लिम एकता की ओर गूढ़ संकेत किया जाता हो और उसी के नाम पर खास तौर से अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों का अधिकाधिक व्यवहार करने के लिए हमसे कहा जाता हो, तो हमें दक्षिणी, गुजराती और बंगाली भाइयों का भी स्वभावतः ध्यान आ जाता है, जिनके साथ हम केवल संस्कृत-प्रधान भाषा द्वारा ही सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थिर रख सकते हैं। हमें राष्ट्रीयता की तरंग में यह भी न भूल जाना चाहिए कि यदि हम उर्दू के बारह सौ शब्दों को पचाकर उस भाषा के समर्थकों की सहानुभूति प्राप्त कर सकेंगे, तो उसी के साथ भारत की अन्य प्रांतीय भाषाओं से हमारा सांस्कृतिक विच्छेद भी हो जायगा। संस्कृत-शब्दों की उपयोगिता हमें वहाँ दिखाई देनी चाहिए, जहाँ उर्दू-भाषियों के अतिरिक्त हमें अपने समान संस्कृतिवाले अन्य प्रांतों के बहुसंख्यक भारतीयों के साथ राष्ट्रभाषा का सम्बन्ध स्थापित करना है। यदि यह कहा जाय कि केवल राष्ट्रीय एकता का प्रश्न हल करने के लिए ही राष्ट्रभाषा में अरबी-फारसी के शब्दों का अधिकाधिक व्यवहार करना अभीष्ट है, अथवा उर्दू का अस्तित्व मिटाने के अभिप्राय से ही हमें अरबी-फारसी के शब्दों को हड़प जाना चाहिए, तो ऐसा कहना या सोचना भी निरर्थक ही है। कारण, कहा जाता है कि 'हिन्दुस्तानी'-पत्रिका के उर्दू-संस्करण में जिस भाषा का प्रयोग होने लगा है, वह अरबी-फारसी के शब्दों से इतनी लदी हुई होती है कि उसे साधारण हिन्दुस्तानी से परिचित मनुष्य समझने में असमर्थ हैं। हिन्दीवाले ज्यों-ज्यों इस तरह का प्रयत्न अधिक करने लगे हैं, त्यों-त्यों उर्दू के लेखक कठिन शब्दों के प्रयोग से अपनी भाषा को दुरूह बनाते जा रहे हैं। और, वे क्यों न ऐसा करें जबकि हम उनके ऐसे शब्दों का व्यवहार करने पर भी तुले हुए हैं, जिनको हिन्दी जाननेवाली साधारण जनता तो क्या, शिक्षित लोग भी नहीं समझ सकते। और फिर, हमें उन लोगों की मनोवृत्ति का भी तो अध्ययन करना चाहिए, जिनकी भाषा के सैकड़ों या हजारों शब्दों को पचाकर हम यह स्वप्न देखने का दुस्साहस करते हैं कि उनकी भाषा को ही उदरस्थ कर लेंगे। किसी भाषा के एक-दो हजार शब्दों को मज्जागत करके ही हम उसका अस्तित्व नहीं मिटा सकते। हमारी यह आशा दुराशा-मात्र है। उर्दू-भाषा और फारसी-लिपि के साथ मुस्लिम सभ्यता और संस्कृति का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि हिन्दी किसी प्रकार उर्दू को जड़ से उखाड़कर अपने बाग में नहीं रोप सकती। अभी हाल ही में अखिलभारतीय

मुस्लिम-कान्फरेंस (लाहौर) के सभापति-पद से भाषण करते हुए 'सर एकबाल' ने कहा है — "मेरी दृष्टि में मनुष्य के लिए तीन ही चीजें—धर्म, संस्कृति और ऐतिहासिक परम्परा—ऐसी हैं, जिनके लिए उसे मरना या जीना चाहिए, न कि जमीन के उस टुकड़े के लिए, जिससे मनुष्य की आत्मा ने अस्थायी सम्बन्ध जोड़ लिया हो।" यह उक्ति इसलिए और भी महत्त्व की है कि उर्दू-भाषा के सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक का यह विचार है। ऐसी मनोवृत्ति रखनेवालों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए अपनी भाषा का रूप विकृत करके हम कहाँ तक उन्हें सन्तुष्ट कर सकेंगे। यदि सर एकबाल का उक्त कथन सत्य है—और उनके अनुयायियों की दृष्टि में तो अवश्य ही सत्य है, तो बहुसंख्यक भारतीयों की संस्कृति, धर्म-विश्वास, वैदिक और बौद्ध तथा गुप्त-कालीन ऐतिहासिक परम्परा को प्रकट करने के लिए ये बारह सौ शब्द कहाँ तक सहायक हो सकेंगे, यह सहज ही बुद्धिगम्य है।

—पाक्षिक 'जागरण' (काशी); वर्ष १, अंक ६, चैत्र-पूर्णिमा, १९८८ वि० सं०; अप्रैल, १९३२ ई०

साहित्यसेवी और जनता

वैशाख के 'विशाल-भारत' में उसके सुयोग्य सम्पादक पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी ने 'हिन्दी-साहित्य-सेवियों के आदर्श' शीर्षक एक सुन्दर सचित्र लेख लिखा है। उसमें एक स्थल पर चतुर्वेदीजी लिखते हैं—'भारत-जैसे निर्धन देश में आदर्श साहित्यसेवी के रहन-सहन का स्टैंडर्ड साधारण जन-समुदाय के रहन-सहन से बहुत ऊँचा न होना चाहिए। यहाँ साहित्य-सेवी तथा जनता के रहन-सहन के स्टैंडर्ड का अन्तर जितना ही बढ़ता जायगा, साहित्य-सेवी की उपयोगिता उतनी ही घटती जायगी।" फिर इसके बाद आगे चलकर चतुर्वेदीजी ने कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के रहन-सहन के स्टैंडर्ड का—जो हमारी समझ से वास्तव में भारतीय जनता के रहन-सहन के स्टैंडर्ड से कुछ ऊँचा प्रतीत होता है—समर्थन करते हुए कविवर के विशेषाधिकार के सम्बन्ध में यह भाव प्रकट किया है कि कविवर ने जो अनेक मनुष्यों को अपनी प्रतिभा का प्रसाद और अपनी शक्ति का अधिकांश प्रदान करके उन्नत एवं सफल-जीवन बनाया है, "पर असल उनकी इस दानशीलता ही ने उनके व्यक्तित्व को सजीव बना रखा है—स्वयं आनन्द उठाना आसान बात है, पर उसमें मजा नहीं; गौरव इसीमें है कि उस आनन्द को मिलकर बाँटा जाय—जो साधन आपको प्राप्त हैं, उन्हें दूसरों के लिए भी सुलभ कीजिए, तभी

१. "Yet that which really matters is a man's faith, his culture, his historical tradition. These are the things, which in my eyes, are worth living for and dying for, and not the piece of earth with which the spirit of man happens to be temporarily assoriated."

आप अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकते हैं।" पर हमारी समझ में कविवर का उदाहरण यहाँ न दिया जाता, तो अच्छा होता; क्योंकि यहाँ उनको फिट करने के लिए युक्तियों का सहारा लेना पड़ा है। कविवर की लोकसेवाएँ निस्सन्देह श्रद्धास्पद हैं, पर उनके रहन-सहन का स्टैंडर्ड भी जनता से बहुत ऊँचा है, तथापि उनकी उपयोगिता घटी नहीं है। इसलिए यह बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती कि निर्धन भारत के साहित्य-सेवी तबतक जनता के लिए उपयोगी नहीं बन सकते, जबतक उनके रहन-सहन का स्टैंडर्ड जनता से ऊँचा रहेगा। जनता से ऊँचे स्टैंडर्ड में रहकर भी अनुभवी और सहृदय साहित्य-सेवी अपनी हृत्तन्त्री का स्वर जनता के साथ मिला सकते हैं। यदि कोई साहित्य-सेवी अपने रहन-सहन का स्टैंडर्ड जनता के समान ही बना ले, पर उसके साथ हार्दिक सहानुभूति न रखे, तो वह जनता के लिए उपयोगी नहीं हो सकता। जन-समाज को मानसिक सुख-शान्ति देने के लिए साहित्य-सेवी के पास उसका अक्षय भाण्डार चाहिए, जिसका संचय करना जनता की स्थिति की बराबरी में रहकर सबके लिए संभव नहीं।

आत्मकथा के सम्बन्ध में

वैशाख के 'विशाल-भारत' में हो 'साहित्य-चर्चा' के अन्दर चतुर्वेदीजी ने लिखा है—'साधारण आदमी भी अपनी आत्मकथा लिख सकता है। कुछ चुने हुए व्यक्ति ही क्यों आत्म-कथा लिखने में योग्य समझे जायँ? आत्मकथा लिखने में प्रवृत्त होने से हम किसी को मना क्यों करें और क्यों ऐसा करने के लिए किसी की हँसी ही उड़ावें? प्रत्येक आत्मकथा हमारे लिए उपयोगी समझी जानी चाहिए। यह प्रश्न व्यर्थ है कि उसका लेखक कौन और कैसा है और यह भी बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है कि उस लेखक के जीवन में पूर्व जन्म की तपस्या और साधना का बल मौजूद है या नहीं।" किन्तु चैत्र के 'विशाल-भारत' में 'हंस' के आत्मकथांक की सम्पादकीय आलोचना में कुछ और ही बात कही गई है। उसमें लिखा है—"यह भी कहना गलत न होगा कि आत्मकथा लिखना हर-एक का काम नहीं है।.... उसमें साधारण जीवनी लिखने की अपेक्षा कुछ विशेष कला की जरूरत है।"—हमें इन दोनों बातों में कुछ अन्तर दीख पड़ता है। एक ओर तो चतुर्वेदीजी कहते हैं कि 'साधारण आदमी भी आत्मकथा लिख सकता है, और दूसरी ओर फिर कहते हैं कि आत्मकथा लिखना हर-एक का काम नहीं है।' एक जगह उनको 'वस्तुवादी' और दूसरी जगह 'आदर्शवादी' के रूप में देखकर हम कुछ भ्रम में पड़ गये हैं। उन्हीं के द्वारा हिन्दी में आत्मकथाओं और संस्मरणों का प्रचार बढ़ा है, इसलिए उनकी सम्मति भ्रमात्मक न होनी चाहिए। आशा है कि चतुर्वेदीजी अपनी स्पष्ट सम्मति व्यक्त करके आत्मकथा-सम्बन्धी भ्रम को दूर करेंगे।

—पाक्षिक 'जागरण' (काशी); सम्पादकीय, वर्ष १, अंक ७, मई, १९३२ ई०।

*

काशी-नागरी-प्रचारणी सभा में द्विवेदी-जयन्ती

बनारस के प्रमुख साहित्यसेवियों ने, गत ता० ९ मई (वैशाख शुक्ल ४), सोमवार को, सन्ध्या समय, सभा-भवन में बड़ी शान्ति से द्विवेदी-जयन्ती मनाई। श्रीमान् रायसाहब

बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने सभापति का आसन ग्रहण किया था। आचार्य द्विवेदीजी का भव्य चित्र फूल-मालाओं से सजाया गया था। बाबू रामचन्द्रवर्मा ने वह प्रस्ताव पढ़कर सुनाया, जिसमें आचार्य द्विवेदीजी की अड़सठवीं वर्षगाँठ पर, उनकी दीर्घायु-कामना की गई थी। प्रोफेसर पं० रामचन्द्र शुक्ल ने प्रस्ताव का अनुमोदन और बाबू जयशंकर 'प्रसाद' ने समर्थन किया था। सर्वसम्मति से यह निश्चय हुआ कि इस प्रस्ताव की प्रतिलिपि श्रीमान् द्विवेदीजी की सेवा में भेज दी जाय और पत्रों में प्रकाशनार्थ भी। सभापतिजी ने तार द्वारा द्विवेदीजी को इस प्रस्ताव का आशय भेजने की आज्ञा दी। इसके बाद सभापतिजी और बाबू कृष्णदेवप्रसाद गौड़ एम्० ए० के समयोचित भाषण हुए।

द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रंथ

काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा ने अगले साल आचार्य द्विवेदीजी को सत्तरवें वर्ष में प्रवेश करने पर जो अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित करने का निश्चय किया है, उसमें रॉयल अठपेजी साइज के करीब साढ़े पाँच सौ पृष्ठ होंगे। तिरंगे और एकरंगे चित्रों की संख्या लगभग तीस होगी। उसके प्रत्येक पृष्ठ से मुद्रण-कला का विलक्षण चमत्कार प्रकट होगा। हिन्दी के गण्य-मान्य लेखकों, कवियों, सम्पादकों और हितैषियों की सुन्दर रचनाएँ और भारत-प्रसिद्ध चित्रकारों के बनाये चित्र उसे अलंकृत करेंगे। इस प्रकार उस ग्रंथ के प्रकाशन में हजारों रुपये व्यय होंगे। 'सभा' हिन्दी-संसार की सर्वश्रेष्ठ सार्वजनिक संस्था है। उसने अबतक हिन्दी-प्रेमियों की उदारता के बल पर ही हिन्दी की स्तुत्य सेवा की है। उसने इस महत्त्वपूर्ण कार्य को भी हिन्दी-प्रेमियों के भरोसे ही अपने हाथ में लिया है। विश्वास है कि हिन्दी के सभी लेखक, कवि, सम्पादक और हितैषी उदारतापूर्वक सभा की सहायता करेंगे। धनी-मानी हिन्दी-प्रेमियों को अपनी उदारता और हिन्दी-प्रेम दिखाने का यह अच्छा अवसर मिला है। ईश्वर से प्रार्थना है कि सभा को इस सत्कार्य में यथेष्ट सफलता प्राप्त हो।

कलाकार और चरित्र[१]

जबसे 'भारत' में उसके सुयोग्य सम्पादक पं० नन्ददुलारे वाजपेयी एम्० ए० ने कवियों के विशेषाधिकार की चर्चा चलाई है, तबसे हिन्दी-साहित्य-संसार में एक खासी हलचल पैदा हो गई है। 'विशाल-भारत' के सहृदय संपादक पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी व्यक्तिगत चारित्र्य के कड़े आलोचक हैं और उनकी दृष्टि में व्यक्ति का चारित्र्य

१. यह टिप्पणी महाकवि 'प्रसाद' जी की प्रेरणा से लिखी गई थी। लिखे जाने पर उन्होंने इसमें संशोधन और परिवर्द्धन भी किया। इसके कुछ स्थल उन्हीं के परिवर्तित किये हुए हैं। उस समय उन्होंने टिप्पणी के साथ यह सूचना प्रकाशित करने से निषेध किया था, किन्तु इसकी कुछ बातों से मेरा मतभेद उस समय भी था, आज भी है। तब भी इसमें कोई हेर-फेर करना मैंने उचित नहीं समझा। उन्होंने ही 'जागरण' और उसके स्तम्भों का नामकरण किया था। उन्हीं के प्रोत्साहन और परामर्श से इसका शुद्ध साहित्यिक रूप सदा एकरस बना रहा। उन्होंने ही 'हंस' और उसके स्तम्भों का भी नामकरण किया था। इसीलिए 'जागरण' (पाक्षिक) का प्रकाशन जब बन्द हुआ, तब यह 'हंस' के साथ साप्ताहिक बनकर निकलने लगा। —लेखक

इतर गुणों से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। 'हंस'-सम्पादक श्रीमान् प्रेमचन्दजी भी 'तुलसी' और 'कबीर' की तो नहीं, पर 'वाल्मीकि' और 'व्यास' की दुहाई देते नजर आते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि कलाकार के चारित्र्य के विना क्या कला कल्याणमयी हो ही नहीं सकती? यद्यपि पवित्रतावादी लोग कुछ पाश्चात्य कलाकारों के चारित्र्य में पतन का प्रमाण पाकर यह तो स्वीकार करते हैं कि वे कलाकार अवश्य हैं; परन्तु भारत में भारतीय दृष्टि से उसे अवांछनीय समझते हैं। मालूम होता है कि इन आदर्शवादी विचारकों ने वाल्मीकि, व्यास आदि के चरित्र की प्रामाणिक परिस्थिति हृदयंगम कर ली है। कहनेवाले तो यहाँ तक कह डालते हैं कि वाल्मीकि आरंभ में एक दुर्दान्त दस्यु थे और व्यास की जारज संतान ही भारतीय युद्ध का नायक थी। एक अँगरेज लेखक का कहना है कि 'अधिकतर नैतिक स्वतंत्रता की भिन्न परिस्थितियों में ही साधारणतः कला विकसित होती है और इसे प्रत्येक व्यक्ति को स्वीकार करना ही पड़ेगा।' यद्यपि इसका स्पष्ट निर्देश तो नहीं किया जा सकता कि चारित्र्य-सम्बन्धी स्वतंत्रता साहित्यिक जीवन में बाधा-स्वरूप है या कल्याणकारिणी, तथापि कविता में पवित्रता चाहनेवाले पं० अवध उपाध्यायजी भी कहते हैं कि 'जीवन में भी इन सब अपवित्र बातों का अस्तित्व पाया ही जाता है और कविता का आधार जीवन है।' जब जीवन में अपवित्र बातों का अस्तित्व है ही, तो कला को उसका अनुवाद माननेवाले लोग केवल मुख से ही इस बात का समर्थन क्यों करते हैं—सो भी एक सिद्धान्त-विशेष की दुहाई देने के कारण—कि कवि और कलाकार को भी चरित्रवान् होना ही चाहिए, जिससे उसकी कला में अपवित्रता न आने पावे। कविवर 'निराला' जी का यह कहना अत्यन्त दार्शनिक है कि 'सत् के साथ असत् का और असत् के साथ सत् का बराबर रमण होता है।' परमात्मा की सृष्टि जब असत्-अपवित्र से अछूती न रह सकी; तब साधारण कलाकारों की क्या कथा! हाँ, अपवित्रता, असत् और दुश्चारित्र्य कला का उद्देश्य न होना चाहिए। भूत, भविष्य और वर्त्तमान सुरत-संगोपना नायिकाओं की सृष्टि किस पवित्र कविचक्र द्वारा हुई है, सो तो आदर्शवादी ही बतला सकेंगे; किन्तु यह ठीक है कि गहरा धक्का खाकर तुलसीदास की तरह वास्तविक पश्चात्ताप करनेवाले और पवित्रता की ओर अग्रसर होनेवाले कवि विरल हैं। फिर भी, उनकी नकल करके, भगवान् से तर जाने का हुक्मनामा लेने के लिए लालायित बहुत-से कवि अपने वाक्-छल में अधिक व्यस्त देखे जाते हैं। क्या उनका चरित्र ठीक है? कोई कवि कहता है कि मेरे इतने पाप हैं कि उसे लिखने में धर्मराज को कई युग लग जायँगे और आजकल की खुदाई के प्रमाण के अनुसार भाषा और लिपि जितनी शीघ्रता से बदलती रहती है, उसे देखते हुए न्याय-काल में वह लिपि और भाषा पढ़ी नहीं जायगी, तब न्यायाधीश परमात्मा—सन्देह का लाभ अपराधी को मिलना चाहिए—वर्त्तमान अदालतों की इस परिभाषा के अनुसार, अवश्य ही मुझ पापी को छोड़ देने पर बाध्य होंगे, और तब 'पापिन की मण्डली अदण्ड छूट जायगी!' इस तरह से पापों के प्रचार में सहायक होनेवाले कवि जब भगवद्भक्त होने की नकल करते हुए देखे जाते हैं, तब हम

पवित्रतावादी विचारकों का क्या कर्त्तव्य है ? कहा जाता है कि रूस में 'रासपुटीन' नाम का एक प्रचारक था, वह कहा करता था कि पाप करो, जिससे तुमको पश्चात्ताप करना पड़ेगा, फिर अनायास ही भगवान् तुम्हें मिल जायँगे। 'भागीरथी हम दोस भरे पै भरोस यहाँ की परोस तिहारे' के प्रचारक लोग क्या हिन्दी के 'रासपुटीन' नहीं ? कवि स्वतः चरित्रवान् है या नहीं, आदर्शवादी लोग उस कवि की रचना में तो इसकी झलक निकाल लेते हैं; किन्तु कला कल्याणमयी है कि नहीं, यह तो उसकी प्रचार-प्रवृत्ति से ही प्रकट होगा। प्रत्येक कलाकार आत्मजीवनी ही लिखने बैठता है—यह एक साहित्यिक भ्रम है। यदि कोई कलाकार चारित्रिक पतन के कारण अपने व्यक्तित्व को नष्ट करके भी कला में कल्याणमयी सृष्टि कर सका है, तो उसका विशेषाधिकार मानते हुए प्रायः लोग देखे जाते हैं। कालिदास आदि के सम्बन्ध में ऐसा ही कहा जा सकता है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि कलाकार को कुचरित्र होना ही चाहिए। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि कलाकार की कसौटी उसकी कला है, न कि उसका व्यक्तित्व। वाल्मीकि और व्यास का आदर्श देखते हुए तो यही कहना पड़ता है कि विना जले हुए, विदग्ध साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती, और तब कलाकार अपनी कला में व्यक्तित्व को खोकर कला के ही रूप से प्रतिष्ठित होता है। उसे जनता का सम्मान मिलता ही है, चाहे आज मिले या हजारों बरस बाद। कलाकार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह रावण की सृष्टि करने के लिए रावण बने; किन्तु यह भी ठीक है कि रावण की सृष्टि के विना राम की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

—पाक्षिक 'जागरण' (काशी); सम्पादकीय, वर्ष १; अंक ८, मई, १९३२ ई०

कलाकार और चरित्र

हमने अपनी पहली टिप्पणी में कहा था कि कलाकार की कसौटी उसकी कला है, न कि उसका चारित्र्य।

चारित्र्य के विषय में युगों की अतीत स्मृति से जहाँ तक सम्बन्ध है, उसे देखते हुए कहा जा सकता है कि उसका कोई निर्दिष्ट पथ नहीं। देश-काल के वातावरण में उसका क्रमिक विकास मिलता है। किन्तु यहाँ तो चारित्र्य का अर्थ केवल स्त्री-पुरुष-सम्पर्क और धार्मिक रूढ़ियों में ही सीमित-सा दिखलाई देता है। सत् आचरण का इतना हीं अर्थ नहीं है। हमलोगों की संकीर्ण दृष्टि सम्भवतः जब इसके आगे बढ़ेगी, तभी हम सच्चे चरित्रवान् हो सकते हैं। महाभारत-काल का सदाचार आज भी आचरित करके कोई आदर्शवादी सिर ऊँचा करके नहीं रह सकता। इसीलिए व्यासजी ने कहा होगा—'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्।'

अवश्य ही हिन्दी का केन्द्र, धर्म की कट्टरता का अनुगामी प्रांत है, और उसमें पवित्रतावाद का पदक छाती पर लटकाने का तरीका खूब जोरों से प्रचलित है। किन्तु

उसका दूसरा पहलू तो चरित्रवानों की छाती से ही छिपा रहता है। और, वे सहज ही में, किसी अन्य कारण से, आदत के अनुसार, तुरन्त ही, किसी भी साहित्यिक को चरित्रहीन कहकर अछूत या अजाति बनाने में समर्थ हो जाते हैं !

कलाकार भी मनुष्य है। तब भी यह सत्य है कि साधारण मानवता के स्तर से कुछ ऊँची स्थिति में ही कला का निर्माण होता है। उसका प्राणित्व जब किसी तरह की देश-काल-सापेक्ष दुर्बलता प्रकट करता है, तब समाज, न्यायालय और अन्य अधिकारी संस्थाएँ उसे दण्ड देती हैं। दण्ड मिलता है उसके मानव-शरीर को। निर्वासन, बहिष्कार, या और भी जो कुछ प्रतीकार के साधन हैं, वह सब समाज के पवित्रतावादी नेताओं के हाथों में रहते ही हैं। और, मृत्यु के बाद भी, दण्ड-व्यवस्था के परे होकर, कलाकार जीवित रहता है—अपनी सौन्दर्य-सृष्टि के लिए। तब सदाचार-शास्त्र का बन्धन उसकी कला में बाधक नहीं होता। इसीलिए हम कहते हैं कि कलाकार की कसौटी उसकी कला है, न कि चारित्र्य। वह निम्न श्रेणी की आलोचना है, जिसमें कलाकार का चरित्र खोजा जाता हो। ऐसे आलोचक पात्र भी सोने का खोजते हैं, चाहे उसमें सुगन्धित शीतल जल न हो। और, ऐसा करके वे लोग सौन्दर्य-बोध को सदाचार-शास्त्र का पुछल्ला बना देते हैं। सदाचार-शास्त्र भी कैसा, जिसका सत्य सापेक्ष है, जिसमें खाना-पीना, सोना-बैठना, अर्थात् शारीरिक कर्म ही अधिकतर गिने जाते हैं, जिनकी पूछ हिन्दी के लेखकों और कलाकारों के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

हमलोग चारित्र्य की खोज इन्द्रियों की ही सीमा में करते हैं, जो मन की दासी हैं। मानसिक सदाचार का इनके लिए कोई अर्थ नहीं। अन्य छल, कपट, विश्वासघात, कृतघ्नता आदि दुर्बलताओं से हमलोग चारित्र्य का अधिकतर सम्बन्ध नहीं रखते। यही कारण है कि रूढ़ियों में ग्रस्त आलोचक लोग झट से चरित्रहीनता का सर्टिफिकेट दे देते हैं।

एक बात और। कला कल्याणमयी है कि नहीं, इसका निर्देश हमने किया था कि यह बात उसकी प्रचार-प्रवृत्ति से देखी जायगी। वर्त्तमान काल के एक प्रमुख आलोचक का कहना है कि वीर-रस की कविता इस समय हो ही नहीं सकती; क्योंकि बिना स्वयं वीरता किये कवि उसकी अभिव्यक्ति करने में समर्थ नहीं होता। (हो सकता है कि वर्त्तमान काल की भारतीय मनोवृत्ति और क्रिया-कलाप में उन्हें कायरता ही दिखलाई पड़ती हो !) तब तो यह कहना चाहिए कि भक्ति-सिद्धान्त के आधार पर, बिना प्रायश्चित्त और आत्मशुद्धि के, सन्तों की नकल करना अत्यन्त गर्हित है। भक्ति-सिद्धान्त के अनुसार भगवान् की पतितपावनता में सन्देह न उत्पन्न करते हुए यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि 'जानते न अधम-उधारन तिहारो नाम, और की न जानें पाप हम तो न करते' के प्रचारक प्रकारान्तर से जनता में निम्न कोटि का अन्ध-विश्वास उत्पन्न करके चरित्र को बिगाड़ने में सहायक ही होते हैं।

इसलिए जिस चरित्र का मनोविज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं, वह तो शारीरिक पवित्रता को ही सीमा मानता है। विकसित कला का यह दावा है कि वह जनता की

रूढ़िग्रस्त कटुता का मनोविज्ञान से समन्वय कराती हैं। और, चारित्र्य के कितने ही पहलू हैं, जिनका हमारे पूर्वजों ने अनुभव किया था। सदाचार की घोषणा करते हुए भी उन्होंने उसमें व्यापक सूक्ष्म सत्य को देखने का प्रयत्न किया था, क्षणिक रूढ़ि-सत्य को नहीं। इसीलिए वाल्मीकि के राम अहल्या का उद्धार करते हैं, और स्वर्वेश्या उर्वशी के शाप से अर्जुन बृहन्नला बनकर विराट्-नगर में अज्ञातवास करते हैं।

स्वर्गीय बाबूशिवनन्दनसहाय

यह सुनकर बड़ा दुःख हुआ कि बिहार-प्रांत के वयोवृद्ध साहित्य-सेवी और हिन्दी के प्रसिद्ध जीवनी-लेखक बाबूशिवनन्दन सहायजी तारीख १५ मई को, ७२ वर्ष की अवस्था में, स्वर्गवासी हो गये। आप पं० प्रतापनारायण मिश्र और बाबूराधाकृष्ण दास के समकालीन लेखक थे। गोस्वामी तुलसीदास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, गौराङ्ग महाप्रभु, और सिक्ख-गुरुओं की जीवनी बृहत् रूप में लिखने के कारण आप हिन्दी में प्रसिद्ध चरित-लेखक माने जाते थे। आप पं० अम्बिकादत्त व्यास के परम स्नेहभाजन और भारतेन्दु-युग की साहित्यिक घटनाओं के विश्वकोष थे। आधुनिक हिन्दी के आदि-युग की असंख्य स्मृतियाँ आपके साथ ही चली गई। सुना है, आप गोस्वामी तुलसीदास और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की जीवनियों को संशोधित और संवर्द्धित करके अप-टु-डेट बना गये हैं, जो आपके जीवन-काल में ही पूरी छप चुकी थीं और अब शीघ्र ही खड्गविलास प्रेस (पटना) से निकलनेवाली हैं, किन्तु ईश्वरेच्छानुसार आप उनके नवीन संस्करण का प्रकाशन न देख सके! तो भी आपकी दिवंगत आत्मा आपकी वृद्धावस्था के कठिन परिश्रम का परिणाम देखकर संतुष्ट ही होगी। आपके एकमात्र सुपुत्र बाबूव्रजनन्दनसहाय वकील (व्रजवल्लभ कवि) हिन्दी के सुपरिचित उपन्यासकार हैं, जिनके लिखे हुए 'सौन्दर्योपासक' और 'लाल चीन' नामक उपन्यासों से हिन्दी-प्रेमी भली भाँति परिचित हैं। शायद हिन्दी-संसार में केवल उन्हीं दो पिता-पुत्र को एक ही साथ 'हिन्दी-कोविद-रत्नमाला' में गुम्फित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उक्त वकील साहब ने ही सबसे पहले मैथिल-कोकिल विद्यापति को वंगीय साहित्य-क्षेत्र से लाकर हिन्दी-साहित्य-मन्दिर में स्थापित किया था।

बाबूशिवनन्दनसहायजी बिहार के आरम्भिक युग की साहित्यिक प्रगति से इतने अधिक परिचित थे कि बिहारप्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति चुने जाने पर जब आप अपने भाषण में पुराने लेखकों और कवियों तथा सम्पादकों की चर्चा करने लगे, तो पुरानी स्मृतियों का खजाना खुल पड़ा, स्वयं लिखते-लिखते थक गये। यही हाल एक बार भारतेन्दु-जयन्ती के सभापति चुने जाने पर हुआ था—लिखने लगे भाषण, तो स्मृतियों की पिटारी खुल गई—संक्षिप्त करते-करते पोथा लिख गये! बहुत काट-छाँट करने पर भी भाषण दीर्घकाय हो ही गया! आप जब प्राचीन हिन्दी-संसार की कहानियाँ सुनाने लगते थे, तो घंटों शृंखला न टूटती थी। बड़े परिताप की बात है कि हिन्दी-संसार के अधिकांश वयोवृद्ध लेखक पुराने साहित्यिक वृत्तान्तों को अपने साथ ही

लिये चले जा रहे हैं और हमलोग उनके मस्तिष्क की रत्न-खान से एक कंकड़ी भी निकालने का उद्योग नहीं करते !

बाबूशिवनन्दनसहायजी अँगरेजी, फारसी, पंजाबी, बँगला आदि भाषाओं के भी अच्छे जानकार थे। आप उर्दू और हिन्दी में बड़ी सरल कविता करते थे। आपके काव्य-गुरु थे हरमन्दिर (पटना) के महन्त बाबा सुमेर सिंह। आपके पुराने मित्रों में इस समय केवल कविवर 'हरिऔध' जी ही वर्त्तमान हैं। परमात्मा आपकी आत्मा को शान्ति दें।

—पाक्षिक 'जागरण' (काशी); सम्पादकीय वर्ष १, अंक ६ ज्येष्ठ, जून, १६३२ ई०

गोलोकवासी गोस्वामीजी

हिन्दी का बड़ा दुर्भाग्य है कि एक-एक करके उसके प्रवीण पुजारी साहित्य-मंदिर से खिसकते चले जा रहे हैं। यह वर्ष हिन्दी के लिए कल्याणकर नहीं जान पड़ता ! इधर कुछ ही महीनों के अन्दर कई प्रतिष्ठित साहित्य-सेवी उठ गये। उनका वियोग अभी हृदय को व्यथित कर ही रहा था कि वयोवृद्ध पं० किशोरीलालजी गोस्वामी अचानक चल बसे ! आप एक-डेढ़ महीने से अस्वस्थ थे। आपके एकमात्र सुयोग्य पुत्र पं० छबीलेलालजी गोस्वामी बड़ी तत्परता और श्रद्धा से आपकी सेवा-शुश्रूषा करते रहे। बीच में आप कुछ स्वस्थ भी हो चले थे। ऐसी कोई आशंका की बात नहीं थी। किन्तु अकस्मात् आप संसार छोड़ गये। आपके समान सहृदय एवं सुरसिक साहित्यिक के वियोग से चित्त बहुत ही विचलित हो उठा है। आपकी अवस्था तो ६६ वर्ष की थी, पर आप वास्तव में नवयुवक थे। आपका उत्साह, आपका आनन्दी स्वभाव, आपकी मिलनसारी, आपकी प्रसन्न वाणी, आपकी उमंग-तरंग देखकर यही कहना पड़ता था कि आजकल के युवकों में भी उतनी सजीवता और स्फूर्त्ति नहीं है। आपके स्वर्ग-प्रयाण से कुछ ही दिन पहले हम आपसे मिले थे। नेत्र की ज्योति मन्द हो गई थी। शरीर में शैथिल्य भी कुछ आ गया था। मगर तबीयत में वही तेजी, जबान में वही शोखी थी। बात-बात में विनोद पैदा करना आपका सहज स्वभाव था। प्रत्येक शब्द पर साहित्यिक चुटकी उड़ाने में आप कमाल करते थे। पाँच-छह घंटे का पूर्ण अवकाश पाये बिना आपके पास जाने में संकोच होता था। कोई साहित्यिक चर्चा छोड़ देने पर आप घंटों ललित भाषण करते चले जाते थे। आपकी ओजस्विनी वाणी आज भी कानों में गूंज रही है। बरसों से आप काशी-वास करते थे; इसलिए जब-जब साहित्यिक सत्संग का सुअवसर मिला, यही देखने में आया कि साहित्य-सागर में आपकी गहरी पैठ है। वृद्धावस्था तक आपकी स्मृति-शक्ति इतनी प्रखर थी कि संस्कृत और हिन्दी के अनेक सिद्धान्त-ग्रन्थों के उद्धरण तत्काल कह सुनाते थे। अन्तिम समय तक आपकी लेखन-शक्ति भी शिथिल नहीं

हुई थी—कलम हाथ में लेते ही पन्ने-के-पन्ने अलिख डालते थे। कोई वृद्ध साहित्यिक आपके ऐसा जिन्दादिल नहीं देखने में आया। आपके निधन से हिन्दी का एक ऐसा प्रकाण्ड लेखक जाता रहा, जो लगभग १८० पुस्तकें लिखकर हिन्दी के साहित्य-भाण्डार की शोभा बढ़ा गया है।

यहाँ गोस्वामीजी के विशेष परिचय की कोई आवश्यकता नहीं है। अभी गत वर्ष ही आप अखिलभारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के झाँसीवाले अधिवेशन के सभापति हुए थे। हिन्दी में आपकी पुस्तकों और निबन्धों की संख्या अगणित है। आप हिन्दी-माता को सर्वस्व सौंप गये हैं। आपकी ग्रंथावली प्रकाशित करने का उद्योग होना चाहिए। आनन्दकन्द व्रजचन्द्र आपकी आनन्दमयी आत्मा को आत्मसात् करें।

कविकिंकरजी का देहावसान

पिछले महीने में बाबूशिवनन्दनसहायजी के शरीरपात से बिहार पर जो वज्रपात हुआ था, उससे अभी वह छटपटा ही रहा था कि इस महीने में फिर उस पर दूसरा वज्र गिर पड़ा! हिन्दी के सुपरिचित लेखक बाबूदामोदरसहाय सिंह 'कविकिंकर' अचानक चल बसे। गत ८ जून, बुधवार को दस बजे दिन में आपका शरीरान्त हुआ। आप हिन्दी-गद्य के पुराने लेखक थे। खड़ी बोली और व्रजभाषा में आप अच्छी कविता कर लेते थे। स्वनामधन्य पं० अम्बिकादत्त व्यास आपके काव्य-गुरु थे। आपकी कविताओं का संग्रह 'सुधासरोवर' लहेरियासराय के हिन्दी-पुस्तक-भंडार से प्रकाशित हुआ है। आपके लेख सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में बराबर देख पड़ते थे। आपको लिखने का व्यसन था। प्रायः शिक्षा-सम्बन्धी और समालोचनात्मक लेख ही लिखा करते थे। आपके शिक्षा-विषयक निबन्धों का संग्रह, 'शिक्षा-निबन्धावली' के नाम से, सत्साहित्य-ग्रंथमाला-कार्यालय (पटना) से, प्रकाशित हुआ है। आपने कई बालोपयोगी मनोरंजक पुस्तकें लिखी हैं, जिन्हें आपके एकमात्र सुयोग्य पुत्र श्रीजगन्नाथप्रसाद सिंह ने आपके ही स्थापित किये हुए 'हिन्दी-मंदिर' से प्रकाशित किया है। बाल-साहित्य के प्रेमियों से शीतलपुर (एकमा, सारन) के 'हिन्दी-मंदिर' का नाम छिपा नहीं है। आपके सुपुत्र श्रीजगन्नाथप्रसाद सिंह तो केवल बालोपयोगी साहित्य का ही निर्माण करते हैं; आधुनिक पत्र-पत्रिकाओं में उनके बालोपयोगी लेख प्रायः प्रकाशित होते ही रहते हैं। आपकी 'निगमन और आगमन' नामक एक छोटी-सी पुस्तक काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा से भी प्रकाशित हुई थी। 'सभा' के आप बड़े प्रेमी थे। उसके कई उत्सवों में सम्मिलित होने के लिए सरकारी नौकरी से छुट्टी ले-लेकर आते थे। आप सन् १९०३ से १९३१ ई० तक बिहार में सरकारी स्कूलों के निरीक्षक रहे। डिप्टी इन्स्पेक्टर का काम करते हुए ही आपने सन् १९१६ ई० में एल्० टी० की परीक्षा पास की थी। सन् १८९७ ई० में बिहार नेशनल कॉलेज (पटना) से एफ्०ए० पास करके आपने पहले अध्यापक के रूप में शिक्षा-विभाग में प्रवेश किया था। जिस समय (स्व०) पं० अम्बिकादत्तजी व्यास छपरा (बिहार) के जिला स्कूल में हेड पंडित थे, उस समय आप भी वहीं अध्यापक थे।

व्यासजी के संसर्ग से ही आप में साहित्यानुराग उत्पन्न हुआ। व्यासजी से काव्य-दीक्षा लेने के कारण आप उनके ऐसे स्नेहभाजन हो गये थे कि उन्होंने अपने 'साहित्य-नवनीत' नामक प्रसिद्ध संग्रह में आपकी 'लंका-दहन के पश्चात् हनुमान का पश्चात्ताप' शीर्षक कविता साग्रह संकलित की थी। सरस्वती, मर्यादा, शारदा, नागरी-प्रचारक, मनोरंजन, क्षत्रिय-मित्र, निगमागम-चन्द्रिका, काशी-नागरी-प्रचारिणी पत्रिका आदि की पुरानी-प्रतियों में आपकी अनेक रचनाएँ भरी पड़ी हैं। कल्याण, माधुरी, सुधा, गंगा आदि प्रसिद्ध पत्रिकाओं में अन्तिम समय तक आप लिखते रहे हैं। आप 'कविता की भाषा' नामक एक समालोचनात्मक ग्रंथ लिख रहे थे। गत वर्ष पेंशन लेने पर आपका विचार हिन्दी के भक्ति-साहित्य पर भी एक विवेचनापूर्ण ग्रंथ लिखने का था, किन्तु क्रूर काल ने आपका मनोरथ न पूरा होने दिया। आपका शुभ जन्म सन् १८७५ ई० में हुआ था। अन्त काल में आपकी अवस्था ५७ वर्ष की थी। साठा भी नहीं लगने पाया, साहित्य-सेवा की लगन भी पूरी न हुई। 'हरेरिच्छा बलीयसी'!

हरिकीर्त्तन में आपका विशेष अनुराग था। भगवद्-भजन की चर्चा के समय आपका अश्रु-प्रवाह एक हृदयहारी दृश्य होता था। सन्त-समागम ही आपकी प्रसन्नता का कारण था। ऐसी भजनानन्दमयी पवित्रात्मा को स्वर्गीय शांति क्यों न सुलभ होगी?

साहित्य-सम्मेलन का 'हिन्दी-संग्रहालय'

हम गतांक में यह शुभ समाचार प्रकाशित कर चुके हैं कि गत वैशाख, शुक्ल-एकादशी—सोमवार, १६ मई को 'हिन्दी-संग्रहालय' की नींव रखने का शुभ मुहूर्त्त कर दिया गया। साहित्य-सम्मेलन के प्रबन्ध-मंत्री श्रीमान् पं० जगन्नाथप्रसादजी शुक्ल ने पचास हजार रुपये की अपील पत्रों में प्रकाशित कराई है। हिन्दी-संसार के विस्तार की दृष्टि से पचास हजार रुपये अधिक नहीं हैं। यदि हिन्दी के सभी पत्र-संपादक इस विषय के महत्त्व पर ध्यान देने की कृपा करें—अपने ग्राहकों और पाठकों का ध्यान इधर आकृष्ट करते रहें, तो बड़ी सरलता से काम सरेगा।

सुनते हैं कि इस संग्रहालय में हिन्दी की प्राचीन और नवीन—मुद्रित और अमुद्रित—पुस्तकें, सुप्रसिद्ध हिन्दी-लेखकों के फोटो और उनकी हस्तलिपि के नमूने संगृहीत होंगे। संग्रहालय में बैठकर हिन्दी-साहित्य-सम्बन्धी खोज का काम करनेवाले विद्वानों के लिए भी सुविधा की जायगी। किन्तु मुद्रित पुस्तकों के संग्रहालय अनेक हैं। विशेष ध्यान अमुद्रित पुस्तकों और लेखकों के चित्रों तथा हस्तलिपियों पर ही दिया जाना चाहिए। लेखकों और कवियों की डायरी, नोट-बुक, चिट्ठियाँ, पोशाक, उनके व्यवहार में आई हुई चीजें—जैसे चश्मा, कलम-दावात, मेज-कुर्सी, कोई वाद्य-यंत्र आदि—सबका संग्रह होना चाहिए। अभी से इस काम में हाथ लग जाने की जरूरत है। पत्र-पत्रिकाओं की नई पुरानी फाइलों का संग्रह भी अत्यावश्यक है। केवल दुष्प्राप्य वस्तुओं के

संग्रह से ही संग्रहालय का महत्त्व और आकर्षण बढ़ेगा। समस्त हिन्दी-संसार को इस संग्रहालय के निर्माण और शृंगार की चिन्ता करनी चाहिए। श्रीमान् शुक्लजी यदि इस दिशा में बराबर सजग रहेंगे, तो बहुत कुछ सफलता मिलने की संभावना है।

—पाक्षिक 'जागरण' (काशी); वर्ष १, अंक १०, ज्येष्ठ, सं० १९८९ वि०; जून, १९३२ ई०

व्रजभाषा-साहित्य के महारथी का शरीरपात !

अब लेखनी आगे नहीं बढ़ती। इन्हीं स्तंभों में साहित्यिकों का निधन-संवाद लिखते-लिखते दिल पक गया !

उस दिन रत्नाकरजी ने बड़े हौसले से पोते का ब्याह किया, बड़े ठाट का जलसा करके सब इष्ट-मित्रों और साहित्य-सेवियों का स्वागत-सत्कार किया, और उसके कुछ ही दिनों बाद अचानक सुनने में आया कि हरद्वार में गंगा के तट पर उन्होंने परलोक-यात्रा कर दी। व्रजभाषा-साहित्य-गगन के अन्तिम छोर में जो एक परम ज्योतिष्मान् नक्षत्र जगमगा रहा था, वह अस्त हो गया—नहीं, व्रजभाषा-साहित्य का शोभा-शाली सान्ध्य-सूर्य रत्नाकर-विलीन हो गया !

इस समय हिन्दी के दुर्भाग्य का अंत नहीं दीख पड़ता। साहित्य-सागर के अन्तस्तल में पैठकर अनमोल मोती निकाल लानेवाले साहित्यिकों का ऐसा क्रमबद्ध महाप्रस्थान कदाचित् ही किसी अशुभ वर्ष ने देखा हो ! इस वर्ष के आरम्भ के साथ ही यकायक मौत की ऐसी आँधी उठी कि साहित्य-संसार में हड़कम्प-सा छा गया। जिन वयोवृद्ध साहित्य-सेवियों की बदौलत हिन्दी की प्रतिष्ठा और शोभा है, उनके लिए लोग चिन्तित हो उठे। किन्तु भवितव्य कैसे टल सकता है !

कविवर रत्नाकरजी यद्यपि पुराने राजरोगी थे, तथापि अन्तिम समय तक पूर्ण स्वस्थ की भाँति प्रसन्न रहे। उनकी महायात्रा के कुछ ही क्षण पूर्व 'जागरण' के मुद्रक श्रीबजरंगबलीजी उनसे मिलने गये और उस समय भी उन्हें 'सूरसागर' के सम्पादन में दत्तचित्त पाया। उधर अदृश्य रूप से सिर पर मौत मँडरा रही थी, इधर वह 'सूर-सागर' के सम्पादन में ऐसे संलग्न थे कि रुग्ण शरीर की चिन्ता छोड़कर अपने बलकों के साथ माथापच्ची कर रहे थे। जो समय ईश्वराराधन में लगाना चाहिए था, वह साहित्याराधन में लग रहा था। साहित्य ही उनका आराध्य देव था। उसी के रसानन्द में वह मग्न रहते थे। यों भी उनके इष्टदेव 'व्रजराज' साहित्य की साक्षात् मूर्त्ति ही हैं। ऐसी दशा में यदि जीवन की अंतिम घड़ी तक उनकी आत्मा साहित्य-रस-निमज्जित होती रही, तो आश्चर्य ही क्या ? अपने परलोक की चिन्ता भूलकर दूसरों के इहलोक का सुख-सम्पादन करना तो कवि का सहज स्वभाव ही है। ईश्वर ने जो उन्हें प्रतिभा की

विभूति दी थी, उसके कण-कण का वितरण करके वह अपना मानव-जन्म सफल कर गये। गंगावतरण, उद्धवशतक, बिहारी-रत्नाकर उनकी कीर्त्ति को सदा उज्ज्वल रखेंगे।

कविवर रत्नाकरजी के शरीर का जैसा डील-डौल था, हृदय उससे कहीं विशाल था। वास्तव में उन्होंने कवि का हृदय पाया था—बड़े मिलनसार, बड़े हँसमुख, बड़े मजाक-पसन्द ! जहाँ कहीं बैठते, व्रजभाषा के कवियों की ही चर्चा करते—'सूर' और 'बिहारी' के पदों और प्रयुक्त शब्दों की जाँच-पड़ताल में ही समय बिताते। एक-एक शब्द की छान-बीन में वह इतनी दिलचस्पी लेते कि उनकी ऊहापोह करने की लगन देखकर आश्चर्य होता। दिन-रात इसी उधेड़-बुन में रहा करते कि अमुक शब्द का शुद्ध रूप क्या है—उसका प्रयोग किन-किन अर्थों में कहाँ-कहाँ मिलता है।

व्रजभाषा के पुराने कवियों का जैसा राजसी ठाट-बाट सुना जाता है, ईश्वर की दया से व्रजभाषा के अन्तिम कवि माने जानेवाले रत्नाकरजी को भी वही ठाट-बाट नसीब था। उनका अधिकांश जीवन अयोध्या के दरबार में ही बीता। ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा, यश, सांसारिक सुख-भोग—सबने मिलकर उनके कवि-जीवन को संतोष प्रदान किया। वह सौभाग्यशाली पुरुष थे। दुःख है कि राज-काज से अवकाश ग्रहण कर जब वह अपना सारा समय साहित्य-सेवा में लगाने लगे, तब यकायक उनके जीवन-प्रदीप का निर्वाण हो गया। उनसे हिन्दी को अभी दो-चार और अच्छी चीजें मिलने की आशा थी।

जब कलकत्तावाले बीसवें सम्मेलन के वह सभापति हुए थे, तब व्रज-भाषा-शब्द-कोश का प्रसंग छिड़ने पर उन्होंने कहा था—"हम तो अभी व्रजभाषा का व्याकरण तैयार करने की फिक्र में हैं, यदि कोश का काम भी हमारे जीवन में शुरू हो जाय, तो हम उसमें सहायता देने को तैयार हैं।"

हिन्दी की स्वार्थ-सिद्धि में व्याघात पहुँचने से हमलोग उनके लिए शोक-संतप्त हो रहे हैं; पर उनकी आत्मा भी हिन्दी की यथेष्ट सेवा करने का समय न पा सकने के कारण चिन्तित ही होगी—ऐसा ही अविचल उनका साहित्यानुराग था। साहित्यानन्दमय भगवान् श्रीकृष्ण किसी उपाय से उनकी साहित्यिक वासना पूरी करके उनकी दिवंगत आत्मा को शांति प्रदान करें।

हिन्दी-प्रचार का साधन

अबतक हिन्दी-प्रचार के लिए जितने उपाय काम में लाये गये हैं, सबकी सफलता की सीमा अभीतक बहुत संकुचित देखी गई है। किन्तु अन्य उन्नत प्रांतीय भाषाओं के प्रचार की प्रगति देखने से पता लगता है कि शिक्षित-समाज में जितनी उन भाषाओं की गति है, उतनी हिन्दी की नहीं। हिन्दी-प्रधान प्रांतों के शिक्षित-समाज में हिन्दी की प्रगति बढ़ाने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि बँगला, गुजराती आदि भाषाओं ने जिस विधि से अपना विस्तार किया है, उस विधि को हम भी अपनावें। यह स्पष्ट देखने में आता है कि बँगला, गुजराती आदि भाषाओं के प्रमुख साहित्यकारों की

उत्तम कृतियाँ अँगरेजी में अनूदित होकर इतना अधिक प्रचार पाती हैं कि उन भाषाओं के शिक्षित-समाज के अतिरिक्त अँगरेजी-जैसी विश्वव्यापिनी भाषा के साहित्यिकों तक पहुँच जाती हैं। उन भाषाओं के साहित्यिक प्राय: अँगरेजी-पत्रों में अपने साहित्य की कुछ-न-कुछ चर्चा किया करते हैं। उनके प्रांत में ऐसे अँगरेजी-पत्र भी हैं, जिनके सम्पादकों की वही मातृभाषा है। कौन नहीं जानता कि 'माडर्न रिव्यू' के द्वारा बँगला का कितना अधिक प्रचार बढ़ा और रवीन्द्र तथा सर इकबाल की प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा में अँगरेजी का कितना हाथ है। यदि हिन्दी की प्राचीन और नवीन उच्च कोटि की रचनाओं के अँगरेजी-अनुवाद प्रकाशित किये जायँ, अँगरेजी-पत्रों में हिन्दी-साहित्य-सम्बन्धी विद्वत्तापूर्ण लेख लिखे जायँ, तो हिन्दी की व्यापकता भी बढ़ सकती है, राष्ट्रभाषा की दृष्टि से हमें अपनी भाषा को संसार के अन्य साहित्य-मर्मज्ञों के सामने रखने का सम्प्रति यही एक साधन है। इसके लिए संयुक्त प्रांत में एक सुसम्पादित और प्रभावशाली अँगरेजी-मासिक-पत्र की जरूरत है। यदि ऐसा साधन मिला, तो वर्त्तमान-काल के आलोचकों का फैलाया हुआ यह अप्रामाणिक भ्रम नष्ट हो जायगा कि हिन्दी की वर्तमान प्रगति नकारात्मक है। हिन्दी-प्रधान प्रांतों के अँगरेजी पढ़े-लिखे बाबुओं से तब हिन्दी अधिक परिचित होगी।

आधुनिक कविता और संगीत

यह देखा जाता है कि उर्दू की गजलों और शेरों में संगीत की सुगमता होने से ही जनता में उनका अधिक प्रचार है; किन्तु आधुनिक हिन्दी-कविता में संगीत का बहुत-कुछ अभाव होने से वह सर्व-साधारण जनता में अधिक प्रचार नहीं पाती। हिन्दी के उत्तम कवियों को इधर ध्यान देना चाहिए। कुछ दिनों से हिन्दी की आधुनिक कविताओं में कुछ गेय पद देखने में आ रहे हैं; पर अधिकांश कविताएँ संगीत से शून्य ही देखने में आती हैं। जनता में यदि आधुनिक कविताओं का बहुल प्रचार अभीष्ट है, तो उसमें संगीत का समावेश होना अत्यावश्यक है। संगीत के संयोग से आधुनिक कविताओं के सार्वजनिक उपयोग में जो विशेष सुविधा होगी, उससे वर्त्तमान युग के सन्देश का तो विस्तार होगा ही, कवियों की लोकप्रियता के साथ-साथ सामूहिक जागृति की भी वृद्धि होगी। आधुनिक काल के प्रसिद्ध कवियों के लिए यह एक प्रकार से देशसेवा का भी अच्छा मार्ग बन सकता है।

—पाक्षिक 'जागरण' (काशी); वर्ष १, अंक ११, आषाढ, सं० १९८९ वि०;
जुलाई, १९३२ ई०

परिवर्त्तन

'जिमि नूतन पट पहिरि कै नर परिहरै पुरान'—उसी प्रकार जागरण अब जगन्नियन्ता परमात्मा की इच्छा के अनुसार, साप्ताहिक रूप में परिवर्त्तित होने जा रहा है। अब इसके सम्पादक होंगे हिन्दी के स्वनामधन्य उपन्यासकार श्रीप्रेमचन्दजी और प्रकाशक होंगे मुद्रण-कला-कुशल श्रीप्रवासीलालजी वर्मा। आशा है, दो यशस्वी कलाकारों के हाथ में रहकर यह विशेष सुन्दर, समुन्नत और सुविख्यात होगा। उसका साप्ताहिक संस्करण, आगामी मास में, स्थानीय 'सरस्वती-प्रेस' से—जहाँ से 'हंस' मासिक पत्र भी निकलता है—अवश्य ही प्रकाशित हो जायगा। उसका रूप-रंग कैसा होगा, यह बताने की आवश्यकता नहीं। इसके लिए सम्पादक और प्रकाशक का नाम ही सन्तोष-प्रद है। अब, 'जागरण'-सम्बन्धी समस्त पत्र-व्यवहार उन्हीं के नाम से होना चाहिए। पाक्षिक रूप में यह ग्राहकों और पाठकों की जितनी सेवा कर सकता था, उससे कहीं अधिक साप्ताहिक रूप में कर सकेगा। 'उपजहिं अनत अनत छबि लहहिं'। अब, जो कृपालु सज्जन छह महीने के लिए ग्राहक बने थे, उनकी सेवा की अवधि पूरी हो गई। किन्तु साल-भर के ग्राहकों की सेवा में साप्ताहिक 'जागरण' नियमित रूप से पहुँचता रहेगा, ऐसी व्यवस्था कर दी गई है। अब, दोनों प्रकार के ग्राहकों से हम विनय-पूर्वक प्रार्थना करते हैं कि वे दया करके शुद्ध हृदय से हमारी भूल-चूक क्षमा करें। हम हाथ जोड़कर उनसे अन्तिम विदा माँगते हैं; क्योंकि अब हमें उनकी सेवा का ऐसा सौभाग्य कभी प्राप्त न होगा। पुनः जिन उदार लेखकों और सहृदय कवियों की कृपा तथा सहानुभूतिपूर्ण सहायता से हम हिन्दी-पाठकों की कुछ सेवा कर सके हैं, उनके प्रति हम अपनी विशुद्ध आन्तरिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं। और, उनसे भी, कर्त्तव्य-ज्ञान-शून्यता के कारण किये गये निज अपराधों के लिए, सच्ची क्षमा चाहते हैं। विश्वास है, हमारे वे सहयोगी भी, जिनके द्वारा प्रभूत प्रोत्साहन प्राप्त कर हम कृत-कृत्य होते रहे, हमारी क्षमा-याचना को सफल करेंगे। 'पुस्तक-मन्दिर' और 'जागरण' के संस्थापक पं॰ विनोदशंकर व्यास, तथा दोनों के संचालक पं॰ प्रमोदशंकर व्यास हमारी सहायता में जैसे तत्पर रहे, वैसे सहायक अब काहे को मिलेंगे। हमारा दुर्भाग्य ही है कि आज ऐसे सहायकों से वंचित होना पड़ता है। सन्तोष है कि जागरण' सौभाग्यशाली ही रहा। ईश्वर इसे चिरायुष्य प्रदान करें।

पाक्षिक 'जागरण' का जो रूप-रंग था, उसे सभी साहित्यिकों और सहयोगियों ने तो पसन्द किया, पर सर्वसाधारण पाठकों ने उसे कैसा समझा—यह जानने का हमें विशेष अवसर न मिला। अबतक की स्थिति ने तो यही सुझाया, कि शुद्ध साहित्यिक पाक्षिक पत्र के पाठक हिन्दी-संसार में गिने-चुने हैं। ईश्वर हिन्दी-पाठकों की रुचि को परिष्कृत करे कि 'जागरण' फिर अपने असली रूप के धारण करने में समर्थ हो!

—पाक्षिक 'जागरण' (काशी); वर्ष १ अंक १२, सं०१९८९ वि०;
जुलाई, १९३२ ई०

[४]

आधुनिक हिन्दी में क्या है कि कोई पढ़े ?

श्रीकालिदास कपूर हिन्दी के प्रसिद्ध अनुभवी लेखक, विचारक और समालोचक हैं। जनवरी की 'सरस्वती' में उनके 'साहित्यिक निर्माण-योजना' विषयक लेख की निम्नलिखित पंक्तियाँ हरएक हिन्दी-प्रेमी के ध्यान देने योग्य हैं—

"हिन्दी में क्या है, जिसके लिए कोई अन्यभाषाभाषी हिन्दी का अध्ययन करे ? कबीर, सूरदास और तुलसीदास की कृतियों को छोड़िए। आधुनिक विज्ञान और साहित्य के क्षेत्र में हिन्दी के साहित्यिकों ने क्या किया है, जिसके लिए दौड़कर लोग हिन्दी पढ़ने आयें ? श्रीगौरीशंकर हीराचन्द ओझा-कृत 'प्राचीन लिपि-माला' जिस पाये का ग्रन्थ है, उस पाये के कितने ग्रन्थ हिन्दी में हैं ?"

अब, कुछ पंक्तियाँ एक दूसरे यशस्वी साहित्यसेवी की भी देख लीजिए। श्रीवियोगीहरिजी मंगला-प्रसाद-पारितोषिक-विजेता हैं—विजेता ही नहीं, उस प्रचुर पारितोषिक-द्रव्य के एकमात्र उत्सर्गकर्त्ता भी हैं। आजकल वह साप्ताहिक 'भारत' में 'आत्मसंस्मरण' लिख रहे हैं—'मेरा जीवन-प्रवाह'। २० जनवरी के 'भारत' में उनके जीवन-प्रवाह का पन्द्रहवाँ खण्ड प्रकाशित हुआ है, जिसका शीर्षक है—'लेखन-व्यवसाय'। उनकी आत्मकथा की यह लेख-माला प्रत्येक साहित्यकार के मनन करने योग्य है। उसमें वह लिखते हैं—

"हिन्दी के लेखकों की कहानी बड़ी करुणाजनक है। कई ऊँचे लेखकों के दिन सचमुच बड़े कसाले में कटे। बालकृष्णभट्ट, प्रतापनारायणमिश्र, अमृतलाल चक्रवर्ती, रामदास गौड़, चन्द्रशेखर शास्त्री प्रभृति साहित्यकार अपने रक्त की अन्तिम बूंद देकर भी हिन्दी की आराधना करते रहे, जीवन-भर ऋण के भार से बुरी तरह दबे रहे; भूखों मरने की भी नौबत कई बार आई, पर किसी ने कभी उन्हें पूछा ? हाँ, यह बेशक सुना गया कि हिन्दी में अच्छी चीजें नहीं निकल रहीं—हिन्दी में पढ़ने लायक कुछ है नहीं। मगर, इन शिकायत करनेवालों से कोई पूछे कि तुमने हिन्दी को ऊँचा उठाने के लिए कुछ किया भी है ? बात-बात में अँगरेजी-साहित्य की महिमा गानेवाले इन असन्तुष्ट आलोचकों ने हिन्दी-लेखकों को क्या प्रोत्साहन दिया ? अँगरेजी में कूड़ा-कचरा लिखनेवालों को भी हिन्दी के अच्छे लेखकों के मुकाबले दसगुना अधिक पुरस्कार दिया जाता है। हिन्दी में जो भी साहित्य-सम्पदा आज दिखाई देती है उसका अर्जन और उसका रक्षण अकिंचनों ने ही अपने पुण्य-साधनों से किया है। समाज उनसे कभी ऋण-मुक्त नहीं हो सकता।"

यद्यपि दोनों विद्वान् सज्जनों की बातें विचारणीय हैं, तथापि वियोगीहरिजी के कथन में ही वास्तविक स्थिति का दिग्दर्शन है। जबतक साहित्य-स्रष्टाओं की स्थिति

सन्तोषप्रद न होगी तबतक, साहित्य गौरव-मंडित न होगा। हमारे युग-प्रवर्त्तक कवि 'निराला' की स्थिति और प्रतिभा से कौन परिचित नहीं है? किन्तु ऐसे उदाहरण किसके सामने पेश किये जायँ? किसको दिल चीरकर दिखाया जाय? जो लोग आज 'दौड़कर हिन्दी पढ़ने' नहीं आते, वे शायद कल भी नहीं आवेंगे; क्योंकि उनकी मनोवृत्ति तबतक नहीं बदलेगी, जबतक देश की शासन-पद्धति और शिक्षा-प्रणाली। और, आधुनिक हिन्दी में अन्यभाषाभाषियों के अध्ययन करने योग्य कुछ है ही नहीं, यह तो 'मिस मेयो' के रिमार्क-जैसा मालूम होता है।

दोनों कवियों की एक ही राय!

श्रीवियोगीहरिजी 'भारत' के उसी अंक में अपने संस्मरणों में लिखते हैं-- "साधनहीन लेखकों की सहायता करने के लिए अखबारों में कई बार हृदयस्पर्शी अपीलें निकाली गईं। उन्हें वृत्तियाँ देने-दिलाने की भी तजवीजें सोची गईं और कुछ लेखकों को उनकी दुरवस्था पर रहम खाकर कभी-कभी कुछ आर्थिक सहायता पहुँचाई भी गई; पर मुझे हमेशा ऐसी तमाम तजवीजें अपमानजनक और हीन मालूम हुईं। लेखक अपने को असहाय, अपंग और अनाथ क्यों मानें? कर्त्तव्यभ्रष्ट समाज उसकी कद्र नहीं करता, तो अपने दुर्दिनों में उसके सामने, मोहताज की तरह, उसे हाथ नहीं फैलाना चाहिए।"

उधर गत दिसम्बर के 'विशाल भारत में श्री देवराज 'दिनेश' जी की एक कविता प्रकाशित हुई है—'कवि'। उसकी कुछ स्फुट पंक्तियाँ भी देख लीजिए—

"दुनिया आज चली है कवि को माँग-माँग कर अन्न खिलाने;
दुनिया आज चली है कवि का रहा-सहा सम्मान मिटाने।
दुनिया आज चली है दाता को भिक्षुक का रूप दिलाने;
लेकर कवि का नाम चली है दुनिया अपना काम बनाने।
दुनिया आज चली है गा-गाकर अपना कर्त्तव्य निभाने;
चुल्लू भर पानी से दुनिया आई ज्वालामुखी बुझाने।
उसको ज्ञात नहीं क्या कवि तो निर्धनता ही में पलता है;
पगली भूल गई है दीपक अन्धकार में ही जलता है।
जिस दिन उसे अभाव खलेंगे, मस्ती तभी टूट जायेगी;
शंख पकड़ लेगा हाथों में वीणा वहीं छूट जायेगी।"

निर्धन लेखकों और कवियों के लिए कई बार कितने ही नेत्रों में आँसुओं की बाढ़ आई, कई बार उदारता की छाती के वज्र-कपाट भी खुले, कितने के हृदयद्रावक व्याख्यानों से सभा-मंच गूँज चुके; किन्तु आजतक कुछ भी न हुआ। साहित्यिकों के मर्म की पीर परखनेवाली श्रीमती महादेवीजी की 'साहित्य-संसद्' का हाल इधर मालूम नहीं और हरद्वार में पंडित माखनलालजी चतुर्वेदी चाँदी से जो तौले गये थे, उसका भी ठीक पता नहीं। फिर भी लोग चाहते हैं कि 'बर्नार्डशा' हिन्दी में पैदा हों! श्रद्धेय गणेशशंकरजी विद्यार्थी का स्मारक आजतक बनता ही रह गया! द्विवेदी-मेला भी जीवित न रह सका! जहाँ धुरन्धरों को भुला देना आसान है, वहाँ छुटभैयों की क्या कथा!

हमारे नेता और हिन्दी

'विशाल भारत' (कलकत्ता) का जनवरी का अंक 'दक्षिण-भारत-अंक' (विशेषांक) के रूप में निकला है। उसमें श्रीअवधनन्दनजी का एक लेख ('मेरा कार्य-क्षेत्र') छपा है। श्रीअवधनन्दनजी बिहार के सारन जिले के निवासी हैं और सन् १९२० ई० से ही दक्षिण-भारत में हिन्दी-प्रचार का काम सच्ची लगन से कर रहे हैं। उन्होंने मद्रास के भारत-प्रसिद्ध नेता श्रीराजगोपालाचारी (राजाजी) के सम्बन्ध में एक विचित्र बात लिखी है—

"हिन्दी के प्रति राजाजी का प्रेम शुरू से ही था; पर वे संस्कृतमयी हिन्दी की अपेक्षा हिन्दुस्तानी के ज्यादा हामी थे। एक दिन उन्होंने मुझसे पूछा—'I belive' की क्या हिन्दी है।' मैंने कहा—'मुझे विश्वास है।' उन्होंने कहा विश्वास नहीं, कोई दूसरा शब्द बताओ। उनको शब्द मालूम था; पर उस वक्त याद नहीं आ रहा था। दूसरे दिन उन्होंने खुद कहा—'मुझे यकीन है।' हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध में अब भी राजाजी के विचार वही हैं। वे हिन्दी की अपेक्षा हिन्दुस्तानी रूप को ज्यादा पसन्द करते हैं।"

हमारे आदरणीय नेताओं की यही मनोवृत्ति हिन्दी-हितैषियों को सशंक और अधीर बनाती है। हिन्दीप्रेमियों को 'यकीन' पर भी—विश्वास है और वे युगों से 'यकीन' को अपना चुके हैं, किन्तु वे 'यकीन' को गले लगाकर 'विश्वास' को ठोकर मारना पसन्द नहीं करते। वे तो 'देश' और 'मुल्क', 'दुनिया' और 'संसार', 'रोज' और 'दिन', 'पुस्तक' और 'किताब' सबको हिन्दी ही समझते हैं और बोलते-लिखते समय अपने मन में कभी भेद-भाव नहीं रखते; वे तो निस्संकोच 'टिप्पणी' के बदले 'नोट' और 'वर्ग' या 'श्रेणी' के बदले 'क्लास' भी लिखा करते हैं; किन्तु जब वे यह सुनते हैं कि हमारे नेता 'हिन्दी' नाम या शब्द से ही चिढ़ते या भड़कते या डरते हैं, तब उनका हृदय आशंकाओं से भर जाता है। हिन्दीवालों ने अरबी-फारसी-तुर्की के असंख्य प्रचलित शब्दों को पचा डाला है और दिन-दिन पचाते चले जा रहे हैं; मगर 'हिन्दी' नाम के प्रति उनके

मन में जो मोह-ममता है, उसे जबरदस्ती रौंदकर यह कहा जाने लगा कि "हिन्दी-नाममात्र से छान-पघा तुड़ानेवालों के लिए, हिन्दीवाले उदारतापूर्वक त्याग का भाव प्रदर्शित करें। इसे हम विशुद्ध पराधीनता का महाप्रसाद ही कह सकते हैं। कहा जाता है कि राजाजी हमारे पूज्य 'बापू' के बहुत समीपी हैं और उनका प्रभाव भी महात्माजी पर पड़ता है—यद्यपि महात्माजी पर किसी का प्रभाव पड़ना विश्वसनीय नहीं है, तथापि यह अनादि काल से प्रसिद्ध है कि सूर्य-चन्द्रमा भी राहुग्रस्त होते हैं; इसलिए श्रीअवधनन्दनजी के उपर्युक्त कथन से हिन्दीवालों के मन में ऐसी आशंका का दृढ़ होना स्वाभाविक है कि 'हिन्दी' के नाम से ही घृणा करनेवालों ने महात्माजी को करोड़ों हिन्दीभाषियों की वास्तविक मनोदशा ठीक-ठीक समझने नहीं दिया है। अच्छा, हम हिन्दीवालों के हृदय में किसी सम्प्रदाय या किसी भाषा से रंचमात्र भी ईर्ष्या-द्वेष या घृणा नहीं है; इसलिए हमारा दृढ़ विश्वास है कि हमारे हृदय की पवित्रता और हमारी नीयत की शुद्धता ही हमारी प्यारी हिन्दी का कल्याण करेगी। हिन्दीवाले आज भी पूज्य बापू को अपना अजस्र शिरस्त्राण मानते और समझते हैं। दुनिया की नजर में भले ही वह हिन्दी को छोड़ गये हों, मगर हिन्दी-कल्पतरु तुलसी कभी झूठे नहीं हो सकते—'प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई, कहँ चन्द्रिका चन्द्र तजि जाई ?"

—मासिक 'हिमालय' (पटना); वर्ष १, अंक १; फरवरी, १९४६ ई०

रेडियो की भाषा-नीति रहस्यपूर्ण है !

अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का जो अधिवेशन उदयपुर में हो चुका है, उसके अध्यक्ष श्रीकन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ने अपने भाषण में कहा था—

"गुजराती, मराठी, पंजाबी, तमिल, सब में खबरें आवें; पर हिन्दी में कभी न आवें, यह हठ रेडियो-अधिकारियों का है। यह हठ निर्दोष नहीं है। हिन्दीभाषा है ही नहीं, अगर है तो इसे बहुत कम लोग समझते हैं, इससे ऐसी ध्वनि निकलती है। इतने-इतने प्रयत्न हुए; परन्तु ये अधिकारी अभी तक डिगे नहीं। इसलिए यह नीति ससंकल्प निश्चित की गई है, ऐसा मानना ही पड़ता है। ऐसे बालिश प्रयत्नों से हिन्दी मरनेवाली नहीं। इसका मूल तो भारत के हृदय में है। अधिकारियों की असहिष्णुता अक्षम्य है।"

फिर उदयपुर में ही साहित्य-परिषद् के सभापति डॉक्टर रामकुमार वर्मा ने भी अपने भाषण में कहा था—

"रेडियो ने सम्मेलन के आन्दोलन को जिस उपेक्षा-भाव से देखा है, वह हिन्दी-भाषा-भाषियों के लिए असह्य है। मालूम होता है कि इस उपेक्षा की जड़ बहुत गहरी है, और इस जड़ का पोषण भी किसी अदृश्य स्रोत से हो रहा है। हमें अपने आन्दोलन को अधिक दूर तक पहुँचाना होगा।"

इन उद्धरणों के देखने और इनपर विचार करने से साफ पता लगता है कि रेडियो की भाषा-नीति में एक भयंकर रहस्य है ! किन्तु इस रहस्य की सबसे बड़ी तारीफ यही है कि हर-एक समझदार आदमी इसे अच्छी तरह जानता और समझता है, फिर भी यह रहस्य ही है ! इस रहस्य का तबतक अंत नहीं हो सकता, जबतक हर-एक हिन्दी-प्रेमी और हिन्दी-हितैषी अपने घर से रेडियो को निकाल-बाहर नहीं करेगा और केवल बहिष्कार ही नहीं, यह अटल प्रतिज्ञा भी शपथपूर्वक करेगा कि हम कहीं भी रेडियो की आवाज सुनेंगे भी नहीं। अभी तक हिन्दी के लेखकों और कवियों ने ही रेडियो से असहयोग किया है; पर यह असहयोग अभी केवल भाषण और कविता-पाठ तक ही सीमित है, रेडियो न सुनने तक यह नहीं पहुँचा है। डॉक्टर वर्मा के आदेशानुसार 'हमें अपने आंदोलन को अधिक दूर तक पहुँचाना होगा।' लेखक और कवि तो अपनी आय का एक सजल-मूल स्रोत बन्द करके अपने हिन्दी-प्रेम का परिचय दे चुके; किन्तु हिन्दी-प्रेम का दम भरनेवाली असंख्य जनता अभी तक रेडियो के गान सुनने की तृष्णा नहीं छोड़ सकी है। कठोर सत्य यह है कि करोड़ों हिन्दीप्रेमियों के हृदय में अपनी भाषा के लिए कुछ भी मोह-ममता नहीं है, वे केवल जोशीले भाषण और प्रस्ताव पास करने में ही बहादुर हैं। जिस भाषा के हिमायती ऐसे निष्प्राण हैं, उसका कल्याण मुट्ठी-भर लेखकों और कवियों के किये नहीं हो सकता। बेचारे कवि और लेखक हिन्दी के नाम पर अपनी रोजी का एक सिलसिला तक छोड़ बैठे और निर्जीव जनता, सम्मेलन की पुकार पर कान न देकर, मंगलामुखियों की तान पर कान लगाये मौज कर रही है ! रेडियो की भाषा-नीति का कुशल सूत्रधार करोड़ों हिन्दी-प्रेमियों की मनोवृत्ति की नाड़ी पर हाथ रखकर निश्चिन्त मुस्करा रहा है ! हम थोड़े-से साहित्यिक और पत्रकार हिन्दी की अवज्ञा देख रोते हैं, तो रोते रहें !

हिन्दी-पत्रकार सम्मेलन का मथुरा-अधिवेशन

गत २४ दिसम्बर (१९४५) को, व्रज-मंडल की राजधानी में अखिलभारतीय हिन्दी-पत्रकार-सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन, श्रद्धेय पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी की अध्यक्षता में सफलतापूर्वक हुआ था। सभापति का मुद्रित अभिभाषण हमें अब मिला है। उसमें चतुर्वेदीजी ने साल-भर के लिए कार्यक्रम उपस्थित किया है—पत्रकार-विद्यालय की आवश्यकता बतलाई है, सम्मेलन के केन्द्रीय कार्यालय के संगठन पर जोर दिया है, पत्रकारों में सहिष्णुता का होना अनिवार्य बतलाया है, दशवर्षीय साहित्यिक तथा सांस्कृतिक योजना सामने रखी है, श्रमजीवी पत्रकारों की समस्या सुलझाने का भी अनुरोध किया है। उसकी ऐसी ही बहुत-सी बातों पर हमें विचार करना है और हम क्रमशः उन पर विचार करते रहेंगे। इस समय भाषण के अंत की केवल निम्नलिखित पंक्तियों पर ही विचार करने की गुंजाइश है—

"आज तो क्या हमारा साहित्य और क्या हमारी राजनीति, अल्पसंख्यक सुप्रसिद्ध लेखकों, कवियों तथा लीडरों के इर्द-गिर्द घूम रहे हैं। निस्सन्देह, आकाश में

सूर्य-चन्द्र का महत्त्व है; पर हम ग्रहों-उपग्रहों तथा तारागण की महिमा को कैसे भूल सकते हैं ? साहित्य और राजनीति दोनों की धाराओं को साधारणजन (Common man) की ओर मोड़ना है और सजीव पत्रकार ही इस आन्दोलन के प्रवर्त्तक बन सकते हैं ।"

हिन्दी के पत्रकारों को इस कथन पर गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए । होनहार लेखकों की यह आम शिकायत है कि पत्र-सम्पादक केवल प्रसिद्ध लेखकों को ही आश्रय देते हैं और जनता भी उसी पत्र का महत्त्व समझती है, जिसमें नामी लेखकों की रचनाएँ छपती हैं । निश्चय ही यह एक सत्य है । प्रसिद्ध लेखक पुरस्कार भी पाते हैं; पर साधारण लेखक तो अखबार में जगह भी नहीं पाते, प्रोत्साहन कहाँ पावेंगे ! इस तरह की उपेक्षा और असावधानता से अनेक लेखकों का विकास रुक जाता है—रुका हुआ है । कारण मुख्य यह जान पड़ता है कि आज के पत्रकारों का जीवन ऐसा व्यस्तता-संकुल है कि वे साधारण लेखकों की रचनाओं को सँवारने-सुधारने में पूर्ण मनोयोग के साथ परिश्रम नहीं कर पाते—या नहीं करना चाहते । और, साधारण लेखकों में भी अधिकांश सज्जन ऐसे हैं, जो न तो अध्ययनशील हैं—न रचना-शैली पर टुक ध्यान देते हैं और न साहित्य की सृष्टि का वास्तविक उद्देश्य ध्यान में रखते हैं, सिर्फ दिल का बुखार निकालना चाहते हैं—सस्ता यश पाने की आकांक्षा में व्यग्र रहते हैं । इस प्रकार, दोष दोनों तरफ है । ऐसा देखा गया है कि एक ही पत्रिका में प्रसिद्ध लेखक की रचना से अप्रसिद्ध लेखक की रचना में अधिक चमत्कार और सार है । हमारे कई प्रमुख सम्पादक आज भी साधारण लेखकों को उत्साहित करने का ध्यान रखते हैं; किन्तु यशोऽभिलाषी लेखकों में भाषा की शुद्धता और भाव की उपयोगिता पर ध्यान रखने की प्रवृत्ति बहुत कम है, और आज के सम्पादक से हम आचार्य द्विवेदीजी की मेहनत नहीं तलब कर सकते ।

—मासिक 'हिमालय' (पटना); वर्ष १, अंक २, मार्च, १९४६ ई०

आज-कल की साहित्य-सृष्टि

हमारे देशमान्य नेता श्रीजयप्रकाशनारायण ने, जो गत १२ अप्रैल को आगरा-सेण्ट्रल जेल से छूटे हैं, अपनी रिहाई से छः ही दिन पहले, ६ अप्रैल को, भाई बेनीपुरीजी के पास एक पत्र लिखा था । उनकी सेवा में 'हिमालय' भेजा गया था । उसी पर अपनी स्पष्ट सम्मति प्रकट करते हुए उन्होंने जो कुछ लिखा है उसे हम ज्यों-का-त्यों पाठकों के सामने रख रहे हैं—

"हिमालय पसंद आया । अच्छी चीज है । लेकिन एक बात लिखूंगा । इधर हिन्दी के कुछ लेख पढ़कर मुझे अपनी बुद्धि पर अविश्वास हो चला है । फिर भी चूंकि, इस देश के अधिकांश पाठक मुझ-जैसे ही अल्प-बुद्धि होंगे, इसलिए मैं तो यही चाहूँगा कि

हिन्दी के साहित्यिक हमें ऐसी चीजें दें, जिन्हें हम समझ सकें। मुझे ऐसा लगता है कि बाज लेखक तो कुछ कहने के बदले इसी कोशिश में रहते हैं कि किस प्रकार अपनी विद्वत्ता तथा देश-विदेश के कवियों और दर्शनाचार्यों से अपने घनिष्ठ परिचय का प्रकाशन किया जाय। मेरी तो सदा से यह धारणा रही है कि जिसे कुछ कहना है वह बराबर यही कोशिश करेगा कि अपनी बात को, जहाँ तक हो सके, सीधे और सरल रीति से कहे जिसमें ज्यादा-से-ज्यादा लोग उसे समझ सकें। हाँ, जिनके पास कहने को कुछ नहीं है, उनके लिए घटाटोप शब्दाडम्बर आवश्यक है। आशा है, शब्दाडम्बर से बचने की कोशिश 'हिमालय' करेगा।"

अब यशस्वी साहित्यसेवी श्रीवियोगीहरिजी की बातें भी सुन लीजिए। गत १७ मार्च के साप्ताहिक 'भारत' (प्रयाग) में, उसमें क्रमशः प्रकाशित आत्मकथा के बाईसवें अध्याय ('साहित्य का अध्ययन') में, वह लिखते हैं—

"कविता तो शायद ही कोई पढ़ता हूँ। मन नहीं लगता। लेख एकाध जरूर पढ़ लेता हूँ। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे लेखकों की चीज बिना पढ़े नहीं छोड़ता। कविता न पढ़ने के दो कारण हैं। बहुत-सी रचनाएँ तो बिलकुल साधारण होती हैं, उनको कविता, बल्कि, कहना भी नहीं चाहिए। और, कुछ ऐसी होती हैं जो ठीक-ठीक समझ में नहीं आतीं। इतनी गूढ़, इतनी रहस्यमयी कि बार-बार सोचने और दिमाग को करोचने पर भी अर्थ उनका स्पष्ट नहीं होता। समझ में न आने से घबराहट-सी लगने लगती है। तब फिर मैं यही मानूँगा कि मेरी बुद्धि सूक्ष्मतम भावों की गहराई तक पहुँच नहीं सकती। 'प्रसादजी' की 'कामायनी' को पढ़ते हुए मन वैसी उलझन में नहीं पड़ा, यद्यपि उसके भी कई स्थलों का अर्थ ठीक-ठीक नहीं लगा सका। आधुनिक युग की जिन कविताओं को मैं समझ सका और जिन्हें सराहा, उनमें अधिकारी आलोचकों ने कला का रहस्यमय दर्शन नहीं पाया। और, जिन पंक्तियों में उन्हें कला का दर्शन हुआ, उनका गूढ़ातिगूढ़ भाव मेरी समझ में नहीं आया। फिर ऐसे साहित्य पर जो समालोचनात्मक लेख निकलते हैं, वे तो और भी गूढ़ार्थ-गर्भित होते हैं। किसी प्रकार, किसी वाक्य को मैंने दो-दो, तीन-तीन बार पढ़ा, पर आशय उसका अन्त तक अस्पष्ट-सा ही रहा। समझ में स्पष्ट भाव कुछ आया ही नहीं। तब फिर यही मानना पड़ा कि वैसी चीजें मेरे लिए लिखी ही नहीं गईं।"

दोनों विद्वान् दो क्षेत्रों के हैं, पर साहित्य-मर्मज्ञ दोनों हैं। इसलिए दोनों की बातें विचारणीय हैं। किन्तु हमारा अनुमान है कि इस युग में अधिकांश लोगों को ऐसी महत्त्वपूर्ण बातों पर भी विचार करने या ध्यान देने का अवकाश शायद ही मिल सकेगा। यह तो संभव नहीं दीख पड़ता कि जो कुछ भी लिखा जाय, वह ऐसा ही लिखा जाय कि सभी श्रेणियों के हिन्दी-पाठक उसे अच्छी तरह समझ जायँ। हाँ, यह सम्भव है कि जो साहित्यकार अपनी रचना को अधिक-से-अधिक लोगों के लिए सुगम बनाना चाहते हों, वे भाषा की सरलता और भाव की स्पष्टता पर विशेष ध्यान रखें। सब तरह की रचनाएँ सभी लोगों के लिए सुबोध हों, तो अच्छा ही होगा। मगर ऐसा तो किसी भाषा के

साहित्य में देखने में नहीं आता। एक ही श्रेणी में सभी पाठक नहीं रखे जा सकते। कुछ चीजें तो ऐसी होंगी ही जिन्हें केवल अच्छे पढ़े-लिखे लोग ही भली-भाँति समझ सकें। साधारण पाठकों को ऐसी चीजों में आनन्द नहीं मिल सकता। हाँ, साधारण पाठकों के ज्ञान और आनन्द की वृद्धि के लिए भी बहुत-सी चीजें हैं, जिन्हें साहित्यकार चाहे, तो सुगमता से दे सकता है। किन्तु कविता के विषय में यदि कोई कवि कहे कि हम केवल काव्य-मर्मज्ञों के लिए ही लिखते हैं, तो यह बात सबको नहीं रुचेगी। कविता का आनन्द लेने की स्वाभाविक उत्कण्ठा सब तरह के पाठकों में देखी जाती है। मगर जब श्रीवियोगी-हरिजी भी आधुनिक कविताओं में से अधिकांश को नहीं समझ पाते, तब साधारण पाठकों के विषय में क्या कहा जाय। आजकल के कवियों को इस बात पर गंभीरता से विचार करना चाहिए। समालोचकों की बातें भी श्रीवियोगीहरिजी को गूढ़ जँचती हैं, पर आज के समालोचक इसका कारण ढूंढ़ निकालने की चिन्ता शायद नहीं करेंगे। वे तो प्रायः यह कहते सुन गये हैं कि हिन्दी के पाठक अभी बहुत नीचे की सतह पर हैं, और उनके पास तक उतरने से साहित्य की अभिव्यंजना-शक्ति का वैभव एवं गौरव नष्ट हो जायगा। तब क्या यही मान लेना उचित होगा कि आजकल की कविताएँ और समालोचनाएँ कुछ खास लोगों के लिए ही लिखी जाती हैं। क्या हिन्दी-पाठकों को ऊपर उठाने का यही तरीका है कि उन्हें नीचे छोड़कर हम आसमान में उड़ते फिरें? ये प्रश्न उपेक्षा के योग्य नहीं हैं। इन पर हिन्दी-हितैषियों को तत्परता से विचार करना चाहिए। आचार्य शुक्लजी के निबन्धों से केवल विद्वान् पाठक ही आनन्द-लाभ कर सकते हैं, इसलिए वे उच्च कोटि के माने जाते हैं। पर आचार्य द्विवेदीजी के निबन्धों को साधारण पाठक भी समझ लेते हैं, फिर भी वे 'बातों के संग्रह' मात्र माने गये हैं! यह दृष्टि-भेद आजकल की साहित्य-सृष्टि की प्रवृत्ति स्पष्ट बतला रहा है।

'साहित्यिक दासता'

इलाहाबाद का मासिक 'तरुण' इस समय हिन्दी का एक मात्र युविकोपयोगी पत्र है। उसमें श्रीव्रजकिशोर चतुर्वेदी, बार-एट-लॉ की लेखमाला ('समालोचना की समालोचना') क्रमशः प्रकाशित हो रही है। चतुर्वेदीजी की बातें ध्यान देने योग्य हैं। पर यहाँ भी हमारा वही अनुमान है—आधुनिक समालोचक उनपर शायद ही ध्यान दें। इस भाग-दौड़ के युग में—आज की सरपट चालवाली दुनिया में—किसी की नेक सलाह भी सुनने की फुर्सत नहीं है। अनेक विषयों के संस्कार-सुधार-सम्बन्धी लेख छपते हैं, पढ़े जाते हैं और शीघ्र ही भुला दिये जाते हैं। हमारे पत्रकार भी उनकी चर्चा नहीं चलाते। आजकल स्वेच्छाचारिता ही सबको पसन्द है। साहित्य की पवित्रता, सुन्दरता और सर्वोपयोगिता के लिए यह खतरनाक है—घातक है। अप्रैल के 'तरुण' में चतुर्वेदीजी लिखते हैं—

"आधुनिक समालोचना-साहित्य में मौलिकता का ह्रास प्रत्यक्ष दिखाई देता है। हम हाथ धोकर अँगरेजी-साहित्य के पीछे पड़ गये हैं। यूरोपीय साहित्य में अँगरेजी-

साहित्य का कितना मूल्य है—यह बात वही सज्जन जान सकते हैं, जो यूरोप में भ्रमण कर चुके हैं। चासर, बर्न, स्पेन्सर, टेनिसन, स्काट प्रभृति के नाम यूरोप की लाइब्रेरी में यदा-कदा मिला करते हैं। जर्मनी, फ्रांस, स्पेन और इटली की जनता में न तो अँगरेजी-साहित्य का कोई मूल्य है और न उसके प्रति कोई श्रद्धा है। परन्तु हजारों कोस दूर बैठे भारत के समालोचक उन्हीं अँगरेज-कवियों और समालोचकों को अपना आदर्श गुरु मानकर अपने साहित्य को भी उसी रंग से रँगते चले जा रहे हैं। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक परतंत्रता तो विशेष परिस्थितियों में सहन की ही जाती है, परन्तु बौद्धिक एवं साहित्यिक दासता—दासता की अन्तिम श्रेणी ही है।"

किन्तु यह दासता केवल समालोचना में ही नहीं है, निबन्ध और कहानी में भी है—लिखने के सिवा बोलने में भी है। गत उदयपुर-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर साहित्य-परिषद् के अध्यक्ष डाक्टर रामकुमार वर्मा ने अपने भाषण में कहा था—

"देखता हूँ कि भाषा के बोलने के सम्बन्ध में अधिक-से-अधिक लापरवाही बरती जाती है। मेरे एक विद्यार्थी ने एक दिन मुझसे कहा—'डॉक्टर साहब, आप उस मीटिंग में प्रेजेंट नहीं थे। बड़ा इंटरेस्टिंग डिसकशन हुआ। मैं स्पीकर के पाइंट ऑफ् व्यू से एग्री नहीं कर सका और मैंने ऐसी फोर्सफुल स्पीच डेलिवर की कि आडिएंस वाज मूव्हड कंपलीटली ऐंड दि हाउस वाज इन माइ फेवर।' मैंने उसे उसी समय रोककर कहा कि मैं नहीं समझा। जरा हिन्दी में कहिए। वह लज्जित हुआ और 'एक्सक्यूज़ मी' कहकर चला गया। उसने 'क्षमा कीजिए' नहीं कहा। उस दिन बाजार में खड़ा एक ग्रामीण कह रहा था—'ई ससुरी कण्टरौल का आँटा तो सिमण्ट अस दिखात बा।' यदि अँगरेजी की संज्ञाओं, उसके विशेषणों और क्रिया-विशेषणों के मिश्रण की यही प्रवृत्ति भाषा में रही, तो आज से सौ वर्ष बाद हिन्दी से संघर्ष लेने के लिए आज की हिन्दुस्तानी की भाँति कोई इंग्लिस्तानी भाषा खड़ी होगी और वही राष्ट्रभाषा होने के लिए हिन्दी से युद्ध करेगी।' आजकल के बहुत-से लेखों में अँगरेजी के कठिन शब्द, वाक्य, उदाहरण, सिद्धान्त आदि निस्संकोच व्यवहृत होते दीख पड़ते हैं। बहुत-से लेखक यह कहा करते हैं कि पाश्चात्य जगत् में साहित्य और कला के सम्बन्ध में जो अनेक नई-नई विचार-धाराएँ प्रकट होती रहती हैं, उनसे हमें अपने साहित्य को परिचित एवं लाभान्वित करते रहना चाहिए; क्योंकि वैसी विचार-धाराएँ हमारे भारतीय साहित्य में नहीं मिलतीं। किन्तु आचार्य द्विवेदीजी के समय तक भारतीय साहित्य इतना दरिद्र और असामयिक नहीं हुआ था। उस समय के बड़े-बड़े समालोचक और निबन्धकार अपने लेखों में जिन साहित्यिक सिद्धान्तों का उपयोग करते थे, वे विशुद्ध भारतीय होते थे और हिन्दी-पाठक उन्हें सरलता से हृदयंगम भी कर लेते थे। आचार्य द्विवेदीजी स्वयं ही अपने पाठकों को पाश्चात्य सिद्धान्तों और विचारों से परिचित कराते रहते थे, पर उन्हें अपना बनाकर अपने ही ढंग से व्यक्त किया करते थे। अँगरेजी शिक्षा के बहुल प्रचार के फलस्वरूप आज जो विचार हिन्दी-पाठकों के सामने रखे जाते हैं—उनके रखे जाने की नीति पर किसी को कोई आपत्ति शायद नहीं हो सकती, आपत्ति है उनके रखे जाने के ढंग

पर। यदि संसार-भर की ज्ञान-राशि को हम स्वदेशी शैली में पचा सकें, तो हमारे साहित्य के स्वस्थ शरीर में बाहरी द्रव्यों के उपद्रव नहीं घर कर सकते। श्रीवियोगीहरिजीने पूर्वोक्त आत्म-संस्मरण में लिखा है—

"कविता का यह विचित्र 'वादों' के साँचों में ढाला जाना भी मेरी समझ में नहीं आता। सिद्ध किया तो यही जाता है कि ये विविध 'साँचे' अपने यहाँ के साहित्य में पहले भी विद्यमान थे। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए भी मुझे तो ऐसा लगता है कि इन साँचों को तैयार करने में अधिकतर पाश्चात्य मसाले और नमूने से काम लिया गया है। परिणाम यह हुआ है कि यूरोपीय साहित्य का जो लोग मूल रूप में रसास्वादन कर चुके हैं—उनकी दृष्टि में हमारी चीज भोंड़ी-सी जँचती है, और जो उस साहित्य से अनभिज्ञ हैं, उन्हें वह अटपटी-सी लगती है। साँचे में रचना को पहले के कवि भी ढालते थे, मगर साँचा उनका अपना होता था। यह कह सकते हैं कि उस युग के कवि की जानकारी बहुत लम्बी-चौड़ी नहीं होती थी, पर यह अभाव भी उनके लिए वरदान था। उनका अध्ययन बहुत लम्बा-चौड़ा न होकर अपने-आप में गहरा होता था। अब अपना बहुत कम या नहीं के बराबर होता है। जिनको बाहर का परिचय है, उनके लिए इन रचनाओं में कुछ खास नहीं रहता। दूसरे, जो अपरिचित होते हैं, या तो आश्चर्यचकित हो जाते हैं, या फिर उनसे अभिभूत। ऐसा लगता है कि पराये भावों को भोंड़ेपन से रखा जाता है, आत्मसात् करने की शक्ति जैसे जड़ीभूत होती जा रही है। हम आगे बढ़े हैं सही, पर अपनी मौलिक परम्परा से सम्बन्ध छूटता जा रहा है। हम आज कहाँ 'सिंहावलोकन' करते हैं?"

यदि हम सिंहावलोकन करें भी, तो तबतक कोई अभीष्ट परिणाम न होगा, जबतक हमारे साहित्यकार अपने भावों को प्रांजल एवं विशद शैली में व्यक्त करने की आवश्यकता का अनुभव नहीं करेंगे तथा अपने विचारों से अधिक-से-अधिक लोगों को परिचित एवं प्रभावित करना न चाहेंगे। हमें साहित्यिक रीति-नीति और सिद्धान्त संकलित करते समय किसी अन्य भाषा के साहित्य से घृणा न करनी चाहिए, यह बात अपनी जगह पर ठीक है; किन्तु यह तो उससे भी बढ़कर ठीक है कि जबतक संकलित सामग्री पर हम अपना रंग न चढ़ा देंगे, तबतक वह हमारे साहित्य के लिए पुष्टिकर सिद्ध न होगी। और, यह तबतक संभव नहीं दीखता, जबतक हममें यह धारणा बद्धमूल है कि भारतीय साहित्य की कसौटी या विचार-धारा पुरानी पड़कर असामयिक और अव्यावहारिक हो गई है!

पत्रकार-विद्यालय

हमारे हिन्दी-पत्रकारों के लिए पत्रकार-कला की नियमित शिक्षा का प्रबंध संभवतः काशी-विद्यापीठ के सिवा अभी तक अन्यत्र कहीं नहीं हुआ है और काशी-विद्यापीठ में भी शायद स्थायी प्रबन्ध नहीं है। कुछ दिनों के लिए वहाँ प्रयोग-मात्र हुआ था।

राष्ट्रीय जागृति के विस्तार के कारण हिन्दी के पत्रों की मांग और लोकप्रियता दिन-दिन बढ़ती नजर आती है। किन्तु हिन्दी-पत्रों को अधिकतर केवल हिन्दी जाननेवाली जनता ही पढ़ती है। अँगरेजी पढ़े बाबू लोग तो अँगरेजी के ही अखबार पसंद करते हैं; उन्हें हिन्दी-पत्रों से संतोष नहीं होता। संतोष तो बहुत-से हिन्दी-पाठकों को भी नहीं होता; पर वे करें क्या; जो कुछ मिल जाता है, उसीसे भूख मिटा लेते हैं। हम नहीं जानते की हमारे पत्रकार अभीतक इस बात का अनुभव करते हैं या नहीं। 'हंस' (काशी) के सुयोग्य सम्पादक ने फरवरी-मार्च के संयुक्तांक में लिखा है—

"बहुत भयानक दरिद्रता हमें आजकल अपने साहित्यिक पत्रों के पन्नों में बिखरी दिखाई देती है। कोई भी साप्ताहिक उठा लीजिए और फिर पता लगाइए कि पठनीय सामग्री उसमें कितनी है। ऐसे पत्र बहुत थोड़े हैं, जिनमें आपको कुछ भी पढ़ने को मिल जाय। अधिकांश सचमुच रद्दी का ढेर है। यह बात हम अपने उत्तरदायित्व को अच्छी तरह समझ-बूझ कर कहते हैं। पत्र की अधिकांश जगह तो सस्ती रुचि के और अक्सर अश्लील विज्ञापन घेरे रहते हैं और बाकी जगह अनधिकारियों की चर्चा से ज्यों-त्यों भरी रहती है। किसी पत्र में—और मेरा मतलब उन पत्रों से भी है, जिनके सम्पादक सम्मान्य कांगरेस-नेता हैं—कोई योजना नहीं रहती, कोई स्पष्ट उद्देश्य नहीं रहता। राजनीतिक विषयों पर लेख क्या होंगे, बड़े-बड़े नेताओं की बात का ऊटपटांग पिष्ट-पेषण, तीतर-बटेर-सम्मिश्रण। दैनिक का काम तो दैनिक समाचार देना है, मासिक का काम रचनात्मक साहित्य-गम्भीर गवेषणात्मक लेखादि देना है; आधुनिक राजनीतिक और सामाजिक भाव-स्थितियों का आकलन तो साप्ताहिक पत्र में ही मिल सकता है। साप्ताहिक ही वास्तव में किसी आन्दोलन के आत्मिक बल और ओज के दर्पण होते हैं। अगर हमें अपने राष्ट्रीय आन्दोलन को स्वच्छ और सतेज बनाने में योग देना है तो हमारे साप्ताहिकों तथा अन्य पत्रों का स्वर बदलना होगा।"

केवल स्वर ही नहीं, कलेवर भी बदलना होगा। जबतक हम कलेवर नहीं बदलेंगे, हमारे अखबारों का गाँवों में खासा प्रचार नहीं हो सकता और गाँवों में ही हमें आसानी से हजारों पाठक मिल सकते हैं। हमने स्वयं देखा है, गाँववालों में अखबार पढ़ने की रुचि पैदा हो रही है; पर वे अखबारों में अपने काम की बातें ढूँढते हैं, मगर पाते नहीं, अगर पाते भी हैं तो अच्छी तरह समझते नहीं। इस प्रकार हमारे अखबार अपने प्रचार के अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र की उपेक्षा कर डालते हैं—अपार जन-चित के उद्बोधन में असमर्थ रह जाते हैं। यदि वे अपनी बातें जनता की भाषा में ही कहने लगें और जनता तक युग-सन्देश पहुँचाने को उतारू हो जायँ, तो वे किसी भी आन्दोलन का नेतृत्व कर सकते हैं; क्योंकि उनके हाथ में असंख्य जनता रहेगी। काशी-नागरी-प्रचारिणी पत्रिका के 'विक्रमांक' (उत्तरार्द्ध) में विद्वद्वर श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल ने लिखा है—
"प्रियदर्शी महाराज अशोक ने गाँवों की भारतीय जनता के लिए जिस शब्द का प्रयोग किया है, वह सम्मानित शब्द है 'जानपद जन'। सात लाख गाँवों में बसनेवाली जनता को हम इस पवित्र नाम से सम्बोधित कर सकते हैं। अशोक के हृदय में देश की प्राण शत-सहस्र

जनता के लिए अगाध प्रीति थी। उनके साथ साक्षात् सम्पर्क प्राप्त करने के लिए उन्होंने कई नये उपायों का अवलम्बन किया। उन्होंने जनता का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए जनता की सीधी-सादी ठेठ, भाषा का सहारा लिया। राज-काज में भाषा-सम्बन्धी यह परिवर्त्तन अशोक की अपनी विलक्षण सूझ और साहस का फल था। उस समय कौन सोच सकता था कि सम्राट् के धर्म-स्तम्भों पर जनता की ठेठ भाषा स्थान पाने के योग्य समझी जायगी। 'तुष्ट' की जगह 'तूठ', 'ब्राह्मण' की जगह 'बंभन' और पौत्र के लिए 'पोता'—ये इस ठेठ बोली के उदाहरण हैं। जानपद जन का परिचय पाने के लिए जानपदी भाषा का उचित आदर अत्यन्त आवश्यक है। जानपद जन के प्रति श्रद्धा होने के लिए जानपदी बोली के प्रति श्रद्धा पहले होनी चाहिए।"

इस उद्धरण से हमारा यह मतलब नहीं कि हमारे पत्रकार अपने पत्रों में जानपदी बोली या प्रान्तीय या स्थानीय बोली का ही प्रयोग करके जनता को वश में करें, बल्कि हमारा अभिप्राय यह है कि हमारे पत्रकार जो कुछ जन-जागरण के लिए लिखें या छापें उसे जनता की समझ और ज्ञान-सीमा के अनुकूल बना दें। मगर यह काम तभी हो सकता है, जब हमारे होनहार पत्रकारों को देश की आवश्यकता के अनुसार यथोचित शिक्षा दी जाय। खासकर दैनिकों और साप्ताहिकों के लिए, जिनके द्वारा अधिकांश जनता के हृदय पर हम अपना सिक्का जमा सकते हैं, पत्रकार-कला-मर्मज्ञों की अत्यन्त आवश्यकता है। इस समय भी हिन्दी-संसार में पत्रकार-कला के कई अच्छे जानकार हैं; पर वे सुयोग्य सहकारियों के अभाव में जनता की यथेष्ट सेवा नहीं कर पाते। और, यह अभाव तबतक बना ही रहेगा, जबतक एक अच्छा पत्रकार-विद्यालय स्थापित न होगा।

अखिल-भारतीय हिन्दी-पत्रकार-सम्मेलन के गत मथुरा-अधिवेशन में उसके सभापति पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी ने अपने उपयोगी भाषण में इस विषय की चर्चा करते हुए कुछ ऐसे धनी-मानी हिन्दी-हितैषियों का नाम लिया था जो इस तरह की एक संस्था की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। जैसे डालमियानगर के साहु शांतिप्रसादजी जैन, जिन्होंने चतुर्वेदीजी को एक हजार रुपये इस काम के लिए दिये थे और वे रुपये काशी-विद्यापीठ को भेज दिये गये; 'विश्वमित्र'-संचालक श्रीमूलचन्दजी अग्रवाल, जिन्होंने पत्रकारों की शिक्षा के लिए एक अच्छी रकम देने की घोषणा रजत-जयन्ती-अंक में की थी; श्रीघनश्यामदासजी बिड़ला, जिन्होंने पत्रकार-विद्यालय की योजना बनाकर श्रीपारसनाथसिंहजी के पास भेज देने का आदेश चतुर्वेदीजी को दिया था। चतुर्वेदीजी ने अपने उसी भाषण में पत्रकार-सम्मेलन से अनुरोध किया था कि उपर्युक्त सज्जनों तथा कुछ समर्थ संस्थाओं के सामने एक योजना बनाकर रखने के लिए कोई कमिटी बना दी जाय। किसी कमिटी की हमें खबर या याद नहीं, मगर एक छपी हुई योजना हमारे पास आई है। इसे श्रीयशपालजी जैन और श्रीजगदीशप्रसाद चतुर्वेदी ने बनाया है। यह गई तो सब जगह होगी, मगर इसकी चर्चा हमने अभी कहीं देखी नहीं। हमारे पत्र-सम्पादकों को इस पर पूरा ध्यान देना चाहिए। केवल ध्यान ही नहीं,

निरन्तर आन्दोलन करके इसे उत्तेजन भी देना चाहिए। हमें यह योजना बहुत अच्छी जँची। यदि अभी इतना ही कार्यान्वित हो जाय, तो आगे और भी सुधार होते रहेंगे। खेद है कि हमारे पत्र-सम्पादकों से देश के प्रत्यक आन्दोलन को बल मिलता है, पर उनके अपने लाभ और हित के आन्दोलन को उनसे कुछ भी सहारा नहीं मिलता। हमें आशा है कि उक्त योजना की सफलता के लिए सभी पत्र-संपादक पूरी तत्परता से प्रयत्न करेंगे।

'अमर शहीद की स्मृति'

श्रद्धेय पण्डित बनारसीदासजी चतुर्वेदी ने पत्रों में एक महत्त्वपूर्ण वक्तव्य प्रकाशित कराया है। पत्रकार-सम्मेलन के अध्यक्ष का जो कर्त्तव्य होना चाहिए, उन्होंने वही किया है। वक्तव्य का सारांश यह है कि स्वर्गीय गणेशशंकरजी विद्यार्थी का विस्तृत जीवन-चरित्र प्रकाशित किया जाय और उनके विषय में लिखे गये संस्मरणों, उनके निबन्धों, टिप्पणियों तथा भाषणों का संग्रह भी। हमें स्मरण है कि स्वर्गीय विद्यार्थीजी की स्मृति-रक्षा के लिए एक बार दानवीर श्रीशिवप्रसाद गुप्त और श्रीयुत श्रीप्रकाशजी भी उद्यत हुए थे। श्रद्धेय विद्यार्थीजी के बलिदान के बाद कई बार पत्रों में स्मारक-निर्माण की चर्चा चली। पर हुआ कुछ भी नहीं। यह हम सभी पत्रकारों और हिन्दी-प्रेमियों के लिए बड़ी लज्जा की बात है। यदि हम भूलते नहीं तो, एक बार चतुर्वेदीजी ने ही, हिन्दी-संसार के सामने यह प्रस्ताव रखा था कि उनका सच्चा स्मारक पत्रकार-विद्यालय ही होगा। वह भी न हुआ। इसके लिए हिन्दी-पत्र-सम्पादक तो दोषी हैं ही, कानपुर-जैसे धनाढ्य नगर के हिन्दी-प्रेमी भी कुछ कम दोषी नहीं। मगर सुबह का भूला शाम को भी घर आ जाय, तो भूला नहीं कहलाता। अभी समय है। यदि समय रहते हम चेत जायँ, तो बहुत बड़ा काम हो जाय। इस समय चतुर्वेदीजी का जो प्रस्ताव है, वह भी यदि कार्यरूप में परिणत हो जाय, तो हम हिन्दीवालों का बहुत बड़ा ऋण चुक जायगा।

विद्यार्थीजी के समय के 'प्रताप' में उनकी जो रचनाएँ हैं, वे हिन्दी की स्थायी सम्पत्ति हैं। वैसी ओजस्विनी रचनाएँ अन्यत्र कम मिलेंगी। उनके संग्रह और प्रकाशन से हमारे साहित्य की शोभा और जीवन-शक्ति बढ़ेगी। सुनते हैं, मराठी 'केसरी' में प्रकाशित लोकमान्य तिलक की एक-एक पंक्ति संगृहीत होकर ग्रंथ-रूप में प्रकाशित हो गई, बंकिम बाबू के सम्पादन-काल का 'बंग-दर्शन' पुनः मुद्रित होकर चौबीस खंडों में प्रकाशित हो गया; किन्तु हमारे बालकृष्णभट्ट का 'हिन्दी-प्रदीप' आजतक अन्धकार में ही विलीन है—विद्यार्थीजी की सजीव वाणी भी 'प्रताप' के जीर्ण-शीर्ण ७ पृष्ठों में मौन पड़ी है। हमें शीघ्र ही अपनी इस अमूल्य सम्पत्ति की रक्षा में प्रवृत्त होना चाहिए। 'अभ्युदय'-सम्पादक श्रीकृष्णकान्तजी मालवीय, 'आज'-सम्पादक श्रीपराड़करजी, 'स्वतन्त्र'-सम्पादक श्री अम्बिकाप्रसादजी वाजपेयी 'भारतमित्र'-सम्पादक श्रीगर्देजी आदि के महत्त्वशाली सम्पादकीय लेखों के सु-सम्पादित संग्रह जिस दिन प्रकाशित होंगे,

हिन्दी का रत्नागार उस दिन जगमगा उठेगा। चतुर्वेदीजी से हमारा नम्र निवेदन है कि विद्यार्थीजी की स्मृति-रक्षा के लिए उन्होंने जो काम सोचा है, उसके पूरा करने में अनावश्यक विलम्ब न होने दें।

हमारे मासिक-पत्र

[१] दिल्ली के छह मासिक हमारे सामने हैं—तीन सिनेमा-सम्बन्धी और तीन साहित्यिक। सिनेमा का 'चित्र-प्रकाश' और साहित्यिक 'आजकल'—दोनों एक ही तरह के (बड़े) आकार के हैं। पहले के सम्पादक हैं श्रीकरुणाशंकरजी और दूसरे के श्रीअनन्त-मराल शास्त्रीजी। दोनों ही बहुत अच्छे कागज पर बड़ी सुन्दरता से छपते हैं और दोनों में चित्रों की भी बहुलता रहती है। 'चित्र-प्रकाश' में केवल अभिनेताओं, नर्त्तकियों और मोहक दृश्यों के चित्र रहते हैं तथा 'आजकल' में केवल कला-पूर्ण एवं लेख-सम्बन्धी चित्र। 'चित्र-प्रकाश' ने मार्च के होलिकांक में सारे सिनेमा-संसार पर उपाधियों की महावृष्टि की है। इसमें 'रसभरी' के सम्पादक आचार्य मंगलानन्द गौतम का ही एक लेख साहित्य-सम्बन्धी है—'भारतीय सिने-पत्र और पत्रकार'। शुरू की कहानी 'किस्मत का खेल' सुरुचिपूर्ण नहीं है। अप्रैल के अंक में 'तीन चित्र' कहानी अच्छी है और उसके सिवा 'आज का जापान' तथा 'सात लाख ग्रामों को मत भूलिए' उपयोगी लेख हैं। 'आजकल' में दो स्थायी स्तम्भ हैं—'संसार-चक्र' और 'चयनिका'। पहले में देश-विदेश की महत्त्वपूर्ण बातें और दूसरे में कौतूहलवर्द्धक एवं ज्ञानवर्द्धक सामग्री का संकलन। तीसरा स्तम्भ 'पुस्तक-परिचय' है। सम्पादकीय लेखों के लिए कोई स्तम्भ नहीं। यह अभाव हमें बहुत खटका। प्रस्तुत अंक (अप्रैल) में चार कहानियाँ और दो कविताएँ हैं। एक जीवनी, एक पुरातत्त्व-सम्बन्धी, एक खनिज-सम्बन्धी, एक स्वास्थ्य-संबंधी और दो महिलागण-सम्बन्धी लेख हैं। भूतपूर्व 'सरस्वती'-सम्पादक श्रीपदुमलाल, पुन्नालाल बख्शी की 'अपनी बात' (जीवन-झाँकी) क्रमशः प्रकाशित होनेवाली अच्छी लेखमाला है। 'इंगलैंड के प्रधान मंत्री का देहाती निवास-गृह' और 'बुन्देलखण्डी लोकगीत' बड़े मनोरंजक लेख हैं। मगर, आवरण-पृष्ठ पर 'मासिक-पत्रिका' क्यों छपा है, समझ में न आया; होना तो चाहिए 'मासिक पत्र' ही। सिनेमा-पत्रिका 'रसभरी' और 'रंगभूमि' तथा साहित्यिक पत्रिका 'सरिता' तीनों 'हिमालय' के आकार के हैं। 'रसभरी के विशेषांक में प्रसिद्ध अभिनेता श्रीकिशोर साहू की 'कुदाली' कहानी एक सामयिक और कलात्मक कृति है। इसमें साहू महाशय का सचित्र परिचय भी छपा है। 'रंगभूमि' के होली-अंक (मार्च) में भी साहू महाशय की 'नौकर' कहानी सुन्दर है। फरवरी के अंक में अभिनेता श्रीकृष्णकान्त चतुर्वेदी ने लिखा है कि हमारे देश के कर्णधार, जिनके इशारे पर प्रमुख पूँजीपति नाचते रहते हैं, सिनेमा के सुधार की ओर से उदासीन हैं, नहीं तो सिनेमा के द्वारा 'जनता के बौद्धिक अथवा सांस्कृतिक विकास में 'लाभदायक होनेवाला कोई ठोस सन्देश' दिया जा सकता है। 'मजनू की चिट्ठी' कुरुचिपूर्ण है। 'सम्पादक की डाक में' प्रश्नोत्तरों के पढ़ने से सिनेमा-प्रेमियों की मनोवृत्ति और प्रवृत्ति

का खूब पता लगता है। गोहाटी (आसाम) के एक कप्तान साहब का प्रश्न है—क्या कवि 'नैपाली' नैपाली में भी कविता करते हैं? सम्पादक जी उत्तर देते हैं—नैपाली भाषा में आप जो कविताएँ करते हैं वे (उन्हें?) कागज पर नहीं बल्कि पत्नी के हृदय पर उतारते हैं, अतः उन कविताओं का हृदय-रूपी चहारदीवारी से बाहर आना असंभव है।' अधिकतर प्रश्नोत्तरों में विनोदमात्र हैं और कहीं-कहीं प्रश्नकर्त्ताओं की कलुषित चिन्ताधारा भी व्यक्त होती है। अप्रैल की 'सरिता' में प्रसिद्ध कवि और नाटककार श्री उदयशंकर भट्ट का एकांकी 'दो अतिथि', श्रीसम्पूर्णानन्दजी का 'आजकल के साम्राज्यों का स्वरूप', और श्रीअविनाशकुमारजी का 'मौर्यों के पूर्व की भारतीयकला' उल्लेखनीय निबन्ध हैं। कहानियाँ चार, कविताएँ दो और महिलोपयोगी लेख भी दो ही हैं। विशेष स्तम्भ दो हैं—'फोटोग्राफ' और 'चंचल छाया'। पहले में चार कला-चित्र और दूसरे में 'भारतीय फिल्मों की आलोचना।' अन्त में एक प्रकरण बालकों के लिए भी है। इसके सुयोग्य सम्पादक श्रीविजयनारायणजी अनेक हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने 'सरिता' के घाट पर 'कंट्रोल' लगा रखा है, नहीं तो हम इसमें से एकाध चुल्लू विमल जल अपने पाठकों की प्यासी आँखों पर जरूर छिड़कते। सस्ता-साहित्य-मण्डल से 'जीवन-साहित्य' को पुनः श्रीहरिभाऊ उपाध्यायजी के सम्पादकत्व में हिन्दी-सेवा करने का सुअवसर मिला है। उपाध्यायजी पुराने प्रतिष्ठित पत्रकार, साहित्यसेवी और देशभक्त तपस्वी हैं। आचार्य द्विवेदीजी और महात्मा गांधी के सहकारी रहकर आपने अमूल्य अनुभव अर्जित किये हैं। जनवरी-फरवरी के इस संयुक्तांक में आपने हिन्दी के लब्धकीर्त्ति विद्वान् 'आचार्य हरिरामचन्द्रजी दिवेकर' के संस्मरण लिखकर मानों हिन्दी-पाठकों को यह आश्वासन दिया है कि 'जीवन-साहित्य' में साहित्यिक संस्मरणों का क्रम सदा जारी रहेगा। डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल' का लेख 'भूमि का देवत्व-साधन' विद्वत्तापूर्ण है। सम्पादकीय लेख 'समाज-व्यवस्था के आधार' और 'राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी' विचारोत्तेजक हैं।

[२] कलकत्ता के मासिकों में 'विशाल-भारत' और 'विश्वमित्र' का स्थान प्रमुख है। 'विश्वमित्र' की प्रतीक्षा है, 'विशाल-भारत' प्रत्यक्ष है। इसके मार्च के अंक में श्रीउदयशंकर भट्ट का एकांकी 'प्रथम विवाह' अत्यन्त प्राचीन युग का दृश्य उपस्थित करता है। सोमदेव का कथासरित्सागर, रत्नगर्भा वसुन्धरा, त्रावणकोर की कला, कला और कलाकार तथा समाज, केरल के प्राचीन विद्यापीठ, लहसुन, कन्या की विदाई के गीत आदि लेख विशेष रूप से पढ़ने योग्य हैं। 'महाकवि नरहरि महापात्र' अनुसंधानपूर्ण लेख है। 'चिट्ठी-पत्री' स्तंभ विचार-विनिमय का हितकर साधन है। 'चयन' स्तंभ—कुछ और विस्तार चाहता है। सम्पादकीय, विचारों में साहित्यिक विषयों की उपेक्षा देखकर बहुत खेद हुआ। क्या कोई साहित्यिक समस्या सम्प्रति विचारणीय है ही नहीं? जनवरी और फरवरी की 'रानी' देखने से मालूम होता है कि खास कर स्त्रियों के लिए उपयुक्त पाठ्य-सामग्री जुटाने की चेष्टा नहीं की गई। खाली कहानियाँ पढ़कर मन बहलानेवाली स्त्रियों से समाज का उपकार नहीं हो सकता। उन्हें राजनीतिक लेखों से

पहले सामाजिक लेख पढ़ने देना चाहिए। 'रानी' को गरीब और दलित तथा ग्रामीण स्त्रियों के अभाव-अभियोगों पर भी ध्यान देना चाहिए। 'आधी दुनिया' की जिम्मेदारी 'रानी' पर है। सजावट और चित्रों से इसका बाहरी रूप-रंग तो बहुत आकर्षक है, मगर भीतरी गुण केवल उच्च शिक्षा-प्राप्त महिलाओं को ही आकृष्ट कर सकता है; साधारण पढ़ी-लिखी स्त्रियों के लिए इसकी उच्च कोटि की भाषा एक बाधा बन जायगी। 'अभिनय' का होलिकांक (मार्च) भी होली के उपाधि-वितरण में दानवीरता दिखाने से नहीं चूका है। अभिनेत्रियों पर भी बौछारें हुई हैं। 'भारतीय फिल्म' पर प्रोफेसर जगन्नाथप्रसादमिश्र का एक विचारपूर्ण लेख है। प्रश्नोत्तरों का स्तंभ यहाँ भी है और सुरुचि यहाँ भी पनाह माँगती है। सिनेमा-पत्रों के लिए सुरुचि की परिभाषा बदल गई है। 'सामयिक विचार-धारा' में सम्पादकीय-स्तंभ बड़े काम के हैं, हिन्दी-रंगमंच की आवश्यकता खास तौर से ध्यान देने योग्य है। सिनेमा-फिल्मों की कई समालोचनाएँ भी हैं, जिनमें स्वस्थ विचार व्यक्त किये गये हैं। इसके सम्पादक श्रीविश्वनाथ ब्रूबना और सहकारी श्रीरणधीर साहित्यालंकार इसे और भी वजनदार बनावें, तो बहुत अच्छा हो; क्योंकि इस युग में सिनेमा-पत्रों की लोकप्रियता और खपत बढ़ती जा रही है। यदि उनके सम्पादक चाहें, तो अनायास ही जनता की रुचि का परिष्कार कर सकते हैं। शान्ति निकेतन की त्रैमासिक पत्रिका 'विश्वभारती' का अक्तूबर-दिसम्बर (१९४५) का अंक साहित्य और कला का स्वच्छ दर्पण है। इसमें रवीन्द्र-साहित्य के सिवा कई गवेषणापूर्ण लेख हैं—'मध्य युग का नाम-तत्त्व' (आचार्य क्षितिमोहन सेन); 'सिन्धी कवि शाह अब्दुल लतीफ', 'सुदर्शनचरित', 'ईसाई-साहित्य में एक बौद्ध-कथा' आदि। श्रीनन्दलाल वसु का 'मण्डन शिल्प' नामक चित्र-बहुल लेख हमारी सांस्कृतिक कला की महिमा प्रदर्शित करनेवाला है। ऐसे लेख को पुस्तिका-रूप में प्रकाशित कर गाँवों में प्रचारार्थ भेजना चाहिए। इसके सम्पादक पण्डित हजारीप्रसादजी द्विवेदी के साहित्यिक मन्तव्य पढ़ने के लिए हिन्दी के साहित्यरसिक पाठक बहुत उत्सुक रहते हैं; इसलिए उन्हें सम्पादकीय स्तंभ की सुध लेने में उदासीनता न दिखानी चाहिए। आजकल की साहित्यिक प्रगति और समस्याओं पर हमारे मासिक-पत्र पाठकों को भरपूर मसाला नहीं मिलता। इस पर यथाशक्ति ध्यान देना चाहिए।

[३] काशी के चार पत्र—हँस, सात्त्विक जीवन, अप्सरा, सुप्रभातम्। चौथा 'संस्कृत-मासिकी लेखमाला' है। सम्पादक हैं श्रीकेदारनाथ शर्मा सारस्वत। बारह वर्षों तक संस्कृत-साहित्य की स्तुत्य सेवा करके यह पत्र बहुत विख्यात हो चुका है। परिस्थितिवश यह इस रूप में प्रकट हुआ है। इससे इसकी साहित्य-सेवा की सच्ची लगन सूचित होती है। इसके सम्पादक बड़े उत्साही और कर्मठ हैं। अब वह पूरी एकाग्रता से इसे स्थायी बनाने की धुन में लग गये हैं। संस्कृत-भाषा में यही सुसम्पादित और सर्वश्रेष्ठ पत्र है। संस्कृत के अनुरागियों को इसे अपनाकर उन्नतिशील बनाना चाहिए और श्रीगोपालशास्त्री दर्शनकेसरी का लेख 'संस्कृतज्ञानामात्मविस्मृतिः' ध्यान से पढ़कर

कुछ सोचना भी चाहिए। 'अप्सरा' का यह प्रणामांक श्रीपद्मनारायण आचार्य द्वारा सम्पादित है। आवरण-पृष्ठ पर मीरा और गिरधर गोपाल का भावपूर्ण चित्र है। विश्व-साहित्य को 'कामायनी' की देन, मैथिलीशरण गुप्त की देन, कला पर प्रगतिशील विचार, भारतीय चित्रपट में सुधार, कामायनी का शब्दार्थ, 'संस्कृत-भाषा के प्रणाम' आदि पठनीय लेखों से यह अंक सुशोभित है। ईश्वर से प्रार्थना है कि अपने स्वर्गीय सम्पादक 'श्रीश' जी की कीर्त्ति एवं स्मृति के रूप में यह अमर हो। 'सात्त्विक जीवन' का जैसा नाम है, वैसा ही काम। इस युग में भी यह अपना काम किये जा रहा है, इसका साहस और उत्साह अभिनन्दनीय है। 'हंस' प्रगतिशील साहित्य का सबल समर्थक है। इसके फरवरी-मार्च के संयुक्त अंक में प्रोफेसर नन्ददुलारे वाजपेयी का एक लेख 'नवीन काव्य-शैली' आरंभ में ही छपा है। उसमें उनके ये सुष्ठु विचार मनन करने योग्य हैं—"अनुभूति के क्षेत्र में बच्चन की-सी गहराई छायावादी कवियों में कम मिलेगी, यद्यपि बच्चन की यह गहराई अत्यधिक वैयक्तिक है। नवीन शैली में हमें इतना समक्ष रखना चाहिए कि शैली की दृष्टि से नवीनतम कविता बच्चन के जितने समीप है, उतने समीप पन्त और निराला के नहीं है। नवीन काव्यशैली का प्रतिनिधि कवि अभी क्षेत्र में नहीं आया। नवीन संस्कारों को लेकर ही वह आवेगा। नई कविता अभी अपनी निर्माणावस्था में है। नवीन कविता छायावादी कल्पना-प्रवणता के स्थान पर यथार्थवादी पद्धति को अपना रही है। काव्य में यथार्थवाद अथवा बाह्यार्थवाद की योजना एक शैली के रूप में स्वागत-योग्य है। हमारा काव्य इस नवीन शैली को अपनाकर विकास की नई दिशा में चल रहा है।" इसके बाद भी कई लेख बरबस ध्यान आकृष्ट करते हैं। जैसे—बिहार में प्रगतिशील लेखक-आन्दोलन की प्रगति, क्या प्रगतिवाद-राष्ट्रीयता का विरोधी है? अखिल भारतीय हिन्दी-पत्रकार-संघ, कार्ल मार्क्स। अप्रैल के अंक में भी—'प्रगतिवाद और हिन्दी पर उसका प्रभाव' ऐसा ही लेख है। श्रीपद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' का लेख 'श्रीलक्ष्मीनारायणमिश्र बी० ए०' हिन्दी में बिलकुल नये ढंग का है। कमलेशजी एक प्रश्नावली तैयार कर साहित्यिकों से मिलते और उनके 'आन्तरिक जीवन के रहस्य का उद्घाटन' करते हैं। साहित्य के हित में यह बहुत प्रशंसनीय कार्य है। 'हिमालय' के जो पाठक अन्यत्र मिश्रजी की कविता पढ़ेंगे, उन्हें मिश्रजी का यह आत्मपरिचय भी पढ़ लेना चाहिए। संतोष की बात है कि 'हंस' के सम्पादकीय स्तम्भों में साहित्यिक टिप्पणियाँ भी रहती हैं, जिनसे साहित्य की आधुनिक गति-विधि का दिग्दर्शन हो जाया करता है।

[४] प्रयाग तो पत्रों का गढ़ ही है। इस गढ़ की महारानी हैं 'सरस्वती'। उसके मार्चवाले अंक में मध्यकालीन कला एक सुन्दर सचित्र लेख है। उसका सारांश उसकी इन पंक्तियों में देखिए—"भारतीय संस्कृति का विकास प्रकृति की गोद में हुआ है। हमारा दर्शन अरण्यों की देन है। हमारी शकुन्तला हरिण-शावकों के साथ पली थी और वन-लताओं के साथ खेली थी। हमारे राम ने वसिष्ठ एवं विश्वामित्र के आश्रमों में

शिक्षा ग्रहण की थी। भारत के कृष्ण ने गोकुल में गायें चराई थीं। बौद्ध-मूर्त्तिकला एवं चित्रकला बोधिवृक्ष की छाया में पनपी थी। वृक्षिकाएँ, शालभञ्जिकाएँ, गंगा, यमुना, नाग, कमल आदि सब ऐसे अभिप्राय हैं, जो वनों की कल्पनाएँ हैं और गुप्तकालीन कला के प्राण हैं। गुहाओं की चित्रकारी में मानव और प्रकृति एक दूसरे का गाढ़ आलिंगन किये हुए हैं; परन्तु मध्यकालीन कलाकार प्रकृति से दूर जा पड़ा। फिर भी, वह प्रकृति को नितांत भुला नहीं सका। वह केवल उनके गौरव की पूर्ण रक्षा न कर सका और उसने उसका घटिया उपयोग किया—प्रधान भाव (बहुधा शृंगार) के उद्दीपन के रूप में।" प्रोफेसर भगवतीप्रसाद पान्थरी ने अपने लेख 'सिन्ध-विजय के कारण और प्रतिफल में लिखा है—"मुहम्मद कासिम की सिंध-विजय और वहाँ के हिन्दुओं की पराजय के प्रमुख कारण थे हिन्दुओं में देश-प्रेम और राष्ट्रीय भावना की कमी; उनकी आपसी फूट; अनैक्य और स्वार्थपरता। सिन्ध-निवासी वीरता के अभाव और सैनिक हीनता के कारण पराभूत नहीं हुए थे।" इस संघर्ष-युग में यह लेख विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। फिर 'जनानिस्तान' में एक मजेदार लेख है। पहले ही पृष्ठ में एक पाँती नजर आई—'ऐसी सुन्दर साड़ी पहने देखा कि मुँह में लार आ जाय।' मगर साड़ी तो चाटने की चीज नहीं!" लेखिका ने ठीक ही लिखा है—"देश में होनेवाले महिला-सम्मेलनों में खोखले प्रस्तावों का पास होना और ठोस कार्य-प्रणाली के अवलम्बन का अभाव निस्संदेह खटकनेवाली वस्तु है। जितने आवश्यक कार्य हैं, उन पर ब्रिटिश सरकार की नाईं सिर्फ 'सोच-विचार' ही किया जा रहा है! सभी सभा-सम्मेलनों का प्रायः यही हाल हो रहा है। जबानी—जमा-खर्च, जल्से, 'साड़ियाँ' और 'बस'।" लेखिका ने महिला-समाज की वर्त्तमान स्थिति पर हरएक पहलू से विचार किया है। बहुत ही रोचक और आकर्षक ढंग से लिखा है। दूसरों की सम्मतियाँ भी उद्धृत की हैं। एकाध देखिए न—"आजकल की लड़की को तो अनेक मजनुओं की लैला बनना प्रिय है। वह दुस्साहस पसन्द करती है।" "थिएटर की औरतों पर तो एक अलग निबन्ध लिखा जा सकता है। चीखनेवाले बच्चे, जगह के लिए लड़नेवाली देवियाँ!" "स्त्री-पुरुष भाई-बहन की सरलता से आपस में मिलें; लड़े-झगड़ें; काम करें; एक दूसरे की सहायता करें। पर स्त्री न देवता होने का अभिमान करे, न पुरुष अधिक योग्य और बलवान होने का। राष्ट्र का काम सुचारु रूप से चले। विश्व स्वर्ग बन जाय।" लेखिका ने प्रसंगवश 'कीट्स' की एक अच्छी सूक्ति दी है—"सौन्दर्य सर्वदा सुखदायी है। इसका जब जाल के समान उपयोग किया जाने लगे, तब अनैतिकता का प्रारम्भ होता है।" यह वाक्य प्रत्येक सुन्दरी के शृंगार-मंदिर में अंकित रहने योग्य है। अन्त में स्त्रियों की दशा पर एक और सूक्ति बड़े मार्के की है—"मुझ से क्या पूछते हो, दर्द किधर होता है; एक जगह हो, तो बताऊँ कि इधर होता है।" एक लेख खासकर बिहारियों के पढ़ने योग्य है—"बाबू रघुवीरनारायण और बटोहिया।" इस अंक में 'सम्पादकीय नोट तो काफी हैं, मगर एक भी साहित्यिक नहीं! सम्पादक शुक्लजी तो बड़े सरस साहित्यिक हैं और आचार्य द्विवेदीजी की परम्परा की आखिरी कड़ी भी, फिर

साहित्यिक समस्याओं की ऐसी उपेक्षा क्यों ? 'सामयिक साहित्य' का स्तंभ भी साहित्यिक विषय से शून्य ही है। 'शारीरिक मानसिक और नैतिक स्वास्थ्य का पथ-प्रदर्शक 'जीवन-सखा' हिन्दी का सुसम्पादित स्वास्थ्य मासिक कहे जाने योग्य है। इसका जनवरी का जल-चिकित्सा-अंक सचमुच 'जीवन-सखा' नाम को सार्थक करनेवाला है। मार्च की 'विश्ववाणी' में ऐतिहासिक शोधपूर्ण साहित्यिक और सांस्कृतिक तथा लोकोपकारी कई लेख हैं। जैसे—प्राचीन सुमेरी सभ्यता और संस्कृति, अन्नम में भारतीय सभ्यता और संस्कृति, गुप्त-साम्राज्य और भारत के जनतन्त्रात्मक गणराज्य, जायसी का प्रकृति-वर्णन, साँप का डसना और इलाज आदि। फरवरी के अंक में भी 'मिस्र का पुरातन मेम्फिस राज्य' और 'साइम में भारतीय सभ्यता-संस्कृति' बड़े महत्त्वपूर्ण लेख थे। इसके हरएक अंक में ऐसे लेख रहा करते हैं। मगर 'सम्पादकीय विचार' में साहित्यिक टिप्पणी का अभाव खटकता है। किसी तरह एक टिप्पणी को कुछ साहित्यिक मान सकते हैं—'सम्पादकों को पंडित नेहरू की सलाह' जिसमें पंडितजी की (नेहरूजी की) हिदायतें हैं, जिनपर सम्पादकजी की निराशा ध्यान देने योग्य है—"तो तमाम बातें बड़े काम की थीं, पर हमें अफसोस है कि ज्यादहतर सम्पादकों ने इन पर मुनासिब तवज्जह नहीं दी।" इसी में 'विश्ववाणी' की भाषा-शैली की भी झलक देख लीजिए। कहीं विश्व में यही वाणी फैल गई, तो जिन्ना साहब का स्वप्न सफल हो जायगा। अन्य लेखों में तो भाषा अच्छी आती है, मगर सम्पादकीय लेखों में अदबदाकर हिन्दी का हक हड़पा जाता है। इलाहाबादी 'तरुण' का सिद्धान्त युग के प्रवाह के अनुकूल है। इसका लक्ष्य उन्नति की घुड़दौड़ में बाजी मारता है। इसके विचार बहुत आगे बढ़े हुए हैं। इसके हरएक अंक में 'आवाज की दुनिया के दोस्तों' से बातें करनेवाले श्रीवात्स्यायन जी बड़े पते की बातें सुनाया करते हैं। विज्ञान-परिषद् का मुखपत्र 'विज्ञान' बहुत पुराना पत्र और अपने क्षेत्र में हिन्दी-माता के आँसू पोंछनेवाला अकेला सपूत है। इसके बासठवें भाग की छठी संख्या में 'व्यावहारिक मनोविज्ञान' बहुत विस्तृत और मनन करने योग्य लेख है। एक खंड 'सरल विज्ञान' का भी है, जिसमें सबके काम की वैज्ञानिक बातें सुबोध रीति से बतलाई गई हैं। वैज्ञानिक समाचार भी जगहित की दृष्टि से संकलित किये गये हैं। 'दीदी' माँ-बहनों के लिए अच्छी पत्रिका है। सम्पादक ठाकुर श्रीनाथसिंहजी नारी-समाज की समस्याओं के जानकार हैं। अप्रैल के अंक में स्त्रियों के लाभ की कई चीजें हैं। कहानियों की संख्या अधिक है। कविताएँ भी महिलोपयोगी ही हैं। स्त्रियों के अभाव-अभियोग पर 'दीदी' की अच्छी निगाह है। 'सम्मेलन-पत्रिका' पौष की और आई है अब ! सबसे पहले इसके नियमित प्रकाशन की सुव्यवस्था होनी चाहिए। इसमें 'साहित्य-लहरी का रचना-काल' पंडित प्रतापनारायणमिश्र गरुड़ध्वज (पंडित लक्ष्मीनारायण मिश्र के नये ऐतिहासिक नाटक की आलोचना) पढ़ने योग्य लेख हैं। 'हिन्दी-जगत्' स्तंभ में हिन्दी-संसार के साहित्यिक समाचार हैं, परन्तु पर्याप्त नहीं हैं। उनका संकलन जितनी ही अधिक मात्रा में किया जायगा, सम्मेलन की लोकप्रियता और शक्ति बढ़ेगी। 'नई जिन्दगी' उर्दू की पत्रिका है। 'खास पाकिस्तान नम्बर' डॉक्टर सैयद महमूद

(बिहार के कांगरेसी मंत्री) के सम्पादकत्व में निकला है। इसके स्थायी सम्पादक श्रीअनीसुर्रहमान साहब भी बिहार के ही हैं। इसमें उर्दू के बड़े-बड़े विद्वानों के पाकिस्तान-विरोधी लेख हैं। मूल्य २॥), पृष्ठ २४४। सम्पादक की सूझ सराहनीय है। राष्ट्रीय विचार के मुसलमान-साहित्यकारों का मत हिन्दीवालों के सामने रखने का प्रयत्न होना आवश्यक है। अतः इसके लेखों का हिन्दी-अनुवाद हिन्दी-दैनिकों में प्रकाशित होना चाहिए।

[५] लखनऊ की 'माधुरी' के फरवरी और मार्च के अंक साहित्यिक सामग्री से सुशोभित हैं। फरवरी-नम्बर में 'सीतापुरीय हिन्दी-साहित्य का इतिहास' महत्त्वपूर्ण लेख है। यदि सभी हिन्दी-प्रधान प्रान्तों के हर जिले के हिन्दी-साहित्य का इतिहास इसी तरह प्रकाशित हो जाय या होता रहे, तो साहित्य का कोष शीघ्र सम्पन्न हो जायगा। सम्पादक पाण्डेयजी चाहें, तो यह क्रम जारी रह सकता है। 'किसान-सतसई' का परिचय भी पढ़ने के लायक है। सम्पादकीय स्तम्भों में 'प्राचीन भारत के गाँव, उनका आकार-प्रकार और उनकी रीति-नीति' अत्यन्त समयानुकूल और सारगर्भ टिप्पणियाँ हैं। मार्च की टिप्पणियों में भी 'ऋग्वेद के दस्यु और आर्य' तथा 'परलोक' गवेषणापूर्ण हैं, मगर 'इहलोक' की भी कुछ सुध लेनी चाहिए। मार्च-नम्बर के कई लेख ध्यान आकृष्ट करनेवाले हैं—"स्वर्गीय व्रजराजमिश्र, 'कामायनी' का प्रथम सर्ग, साहित्यिक निर्माण-योजना, आधुनिक हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीय भावना, प्राचीन भारत में दण्ड-व्यवस्था, भारतीय मध्ययुग-काल पर एक दृष्टि, गद्य-काव्य का इतिहास और उसके प्रमुख लेखक, अश्कजी के 'नाटक, खजुराहो की शृंगार-कला इत्यादि।" इन लेखों से अंक गौरवपूर्ण जान पड़ता है। मुख-पृष्ठ की 'स्वयंवर' कविता तो हम न समझ सके, मगर अन्तिम कविता 'गीत' (श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री) ने तो झूमा दिया। 'खड़ीबोली' कविता रूप-रचना और भाव-व्यंजना में काफी प्रगतिशील है। वयोवृद्ध सम्पादक की पसन्द में रसिकता का पुट भी काफी है।

[६] आगरा का 'साहित्य-सन्देश' यदि छपाई की शुद्धता पर भी ध्यान देता, तो और भी अधिक पसन्द किया जाता। हास्यरस-प्रधान 'नोक-झोंक' खूब साफ-सुथरा और सजीला है। होलिकांक तो होलिकांक ही है, मार्च का अंक भी सरस व्यंग्य-विनोद से शराबोर है। अपने विषय के क्षेत्र में यह पत्र बेजोड़ नजर आता है। नवरस और षड्रस खूब चखाता है।

[७] देशी राज्य के मासिकों में 'वीणा' ही सर्वोत्तम है। फरवरी के अंक तक पंडित शान्तिप्रिय द्विवेदी इसके सम्पादक थे, मार्च और अप्रैल के अंक श्रीप्रयागनारायण 'संगम' के सम्पादकत्व में निकले हैं। आकार-प्रकार और छपाई-सफाई की दृष्टि से 'वीणा' इधर शिथिल-सी जान पड़ती है। क्या भूतपूर्व सम्पादक 'कुसुमाकर' जी 'वीणा' का वसन्त लेते गये? फरवरी के अंक में दो-चार लेख द्रष्टव्य हैं—साहित्य में प्रगति (श्रीयशपाल), इटली के अमर शिल्पकार, पड़ोसी देशों की कला-प्रगति, अद्भुत पारदर्शी

व्यक्ति । इस चौथे लेख में पूना के एक गृहस्थ योगी की अलौकिक शक्ति का वर्णन है। सम्पादकीय स्तम्भ में कला और साहित्य की अच्छी चर्चा है। कविताओं में श्रीबच्चनजी की 'मिलन-यामिनी' के सिवा सबकी भाषा में कविस्वातंत्र्य की मात्रा अधिक है। चिन्त्य प्रयोग और सन्दिग्ध स्थल कई मिले। जैसे श्रीपरदेशी की 'आत्मार्पण' कविता में "मूर्त्ति में ले प्राण-रज तुमने 'करी' निर्माण" यह पंक्ति विचार करने योग्य है। मार्च का अंक भी अधिकतर श्रीशान्तिप्रियजी का ही सम्पादित किया हुआ है। इसमें भी दो-चार लेख पढ़ लेने योग्य हैं साहित्य की मात्रा (रविबाबू का एक पत्र), वर्त्तमान गुजराती-साहित्य, 'पन्त' और 'अज्ञेय' की वैचारिक पृष्ठ-भूमि, 'द्वापर' (आलोचना)। इनके सिवा 'शक्ति और सौन्दर्य' एक बहुत ही लम्बी कविता भी पढ़ लेने योग्य है। इसकी कुछ पंक्तियों में कई शब्द खटकनेवाले हैं। अप्रैल के अंक में ऋतुराज (एक गीति-नाट्य), वासना और कला (कहानी), राजनीति में आदर्शवाद, ग्राम-समस्या—अच्छे लेख हैं और इनमें से कहानी को छोड़ शेष तीनों पर सम्पादकीय टिप्पणियाँ भी हैं। मुख्य लेखों पर सम्पादकीय अभिमत का प्रकाशन प्रायः पाठकों की विचार-पद्धति में सहायक होता है। यह नीति अच्छी है। मुख-पृष्ठ पर श्रीमती इन्दिरा गुप्ता के 'गीत' की कुछ पंक्तियाँ रसानुभूति जगानेवाली हैं। उज्जैन (मालवा) का 'कल्पवृक्ष' केवल देशी राज्य में ही नहीं, हिन्दी-संसार में अध्यात्म-विद्या का एक सुन्दर पत्र है। उसके सम्पादक श्रीदुर्गाशंकर नागर अच्छे चिन्तक हैं। जम्मू (काश्मीर) की सचित्र पत्रिकाएँ 'उषा' और 'भारती' पाठ्य-सामग्री अच्छी देती हैं; परन्तु सम्पादन पर ध्यान नहीं देतीं। भाषा और छपाई की अशुद्धियाँ सुन्दर सजावट और मनोहर लेखों के आवरण में नहीं छिप सकतीं। कुमारी शकुन्तला सेठ और श्रीअयोध्यानाथ 'वीर' के द्वारा सम्पादित 'उषा' के जनवरी-अंक में पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी का एक लेख है—'साहित्य क्यों पढ़ा जाता है ?' इसके अतिरिक्त 'भिखमंगी दुनिया, आर्थिक योजना, दिव्य जीवन, क्या हम ईमानदार हैं ?, काश्मीर में हिन्दी (सम्पादकीय)' ध्यान देने योग्य लेख हैं। यदि ये सुसम्पादित और सुमुद्रित भी होते, तो पाठकों को अधिक सुख देते। श्रीमती शांताकुमारीजी की 'भारती' के फरवरी-मार्चवाले संयुक्तांक में दो लेख विशेष महत्त्व के हैं—'नारी-आन्दोलन का लक्ष्य' और 'हिन्दी का विद्रोही कवि 'बच्चन'। महिला-संसार, शिशु-संसार, सिनेमा-संसार और ग्राम-सुधार की भी चर्चा है। कहानी, कविता, एकांकी, सचित्र यात्रा-वर्णन आदि के सिवा काश्मीर के हिन्दुओं की दयनीय दशाओं का दिग्दर्शन भी है। वहाँ हिन्दी भी अनाथा ही है ! ऐसी विषम परिस्थिति में ये दोनों पत्रिकाएँ वहाँ यथाशक्ति खूब काम कर रही हैं। और आशा है कि इनके सतत प्रयत्न से हिन्दी वहाँ अपदस्थ न होने पायगी। जयपुर का 'मानव' देशी राज्य का सबसे नया मासिक-पत्र है, जो श्रीरामनवमी से पंडित मोतीलाल शर्मा के सम्पादकत्व में निकलने लगा है। यह वहाँ के मानवाश्रम-विद्यापीठ का मुखपत्र है। बहुरंगा आवरण-पृष्ठ सौम्यभावपूर्ण चित्र से अलंकृत है। विद्वद्वरेण्य डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल का 'आचार-योग' इस अंक का सर्वोत्तम लेख है। 'मानव का अतीत, वर्त्तमान और भविष्य' भी सारगर्भ है। छपाई की सुन्दरता और शुद्धता

पर ध्यान देने की आवश्यकता है। मुखड़ा जितना सुन्दर है, उतना ही अन्तस्तल भी सुन्दर होना चाहिए, तभी मानव-समाज की सेवा कल्याणकारिणी सिद्ध होगी।

[८] पंजाब में अबोहर के साहित्य-सदन का मुखपत्र 'दीपक' बड़ी लगन से हिन्दी का प्रकाश फैला रहा है। अपनी परिमित शक्ति के प्रत्येक कण का सदुपयोग वह बड़ी श्रद्धा से करता है। अपने प्रान्त की साहित्यिक और सामाजिक प्रगति का निरीक्षण करते रहने में बहुत सजग है। अप्रैल के अंक में सर्वश्रेष्ठ लेख है 'दूध-समस्या' और स्वर्गीय बाबू श्यामसुन्दर दास के संस्मरण भी पढ़ लेने योग्य हैं। सम्पादकीय नोट में 'रेडियो की भाषा-नीति' का भंडा-फोड़ खूब हुआ है। पंजाब में हिन्दी की हलचल पर जैसी सावधान दृष्टि है, वैसी ही भाषा-संस्कार और छपाई के सुधार पर भी रहती तो और भी दीप्ति बढ़ जाती। 'सोलन' से त्रैमासिक रूप में प्रकाशित होनेवाले 'श्रीस्वाध्याय' का साहित्यांक ७८ पृष्ठों में साहित्य-सम्बन्धी और २८ पृष्ठों में ज्यौतिषविषयक लेखों से सम्पन्न है। ३७ रचनाओं में ३० साहित्यिक हैं, जिनमें सर्वोपरि स्थान पाँचवीं रचना का है—'साहित्यसेवी पृथ्वीपुत्र बनें' (डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल)। इसके बाद दिल्ली-प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष पंडित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के भव्य भाषण से संकलित तीन महत्त्वपूर्ण अंश पढ़ने ही योग्य हैं। डॉक्टर अग्रवाल के उक्त लेख की कुछ पंक्तियाँ अंकित कर रखने योग्य हैं। यथा—"हिन्दी-साहित्यकारों को अपनी खुराक भारत की सांस्कृतिक और प्राकृतिक भूमि से प्राप्त करनी चाहिए। लेखक जिस प्रकार के जीवन-रस को चूस कर बढ़ता है, उसी प्रकार की हरियाली उसके साहित्य में भी देखने को मिलती है। आज लोक और लेखक के बीच में गहरी खाई बन गई है। हिन्दी-लेखक को सबसे पहले भारत-भूमि के भौतिक रूप की शरण में जाना चाहिए। राष्ट्र का भौतिक रूप आँख के सामने है। एक-एक प्रदेश को लेकर यहाँ की पृथ्वी के भौतिक रूप का सांगोपांग अध्ययन हिन्दी-लेखकों में बढ़ाना चहिए। यह देश बहुत विशाल है। यहाँ देखने और प्रशंसा करने के लिए अतुल सामग्री है, उसका ज्ञान करते हुए हमें एक शताब्दी लग जायगी।" इसके आगे वे 'संस्कृत-साहित्य की शरण' में जाने की प्रेरणा देते हुए लिखते हैं—"इस देश में आलोचना के सिद्धान्तों के बारे में क्या सोचा जा चुका है; रस, रीति, ध्वनि क्या हैं—उनका दार्शनिक और साहित्यिक स्वरूप क्या है और मानव-जीवन के सनातन मनोभावों के साथ उनका क्या सम्बन्ध है, इसको बिना पढ़े जो आलोचक केवल मैथ्यू ऑर्नल्ड या वोर्सफाल्ड के विचारों को घोटकर हिन्दी-साहित्य की क्रूर समीक्षा करने लग जाते हैं, उनका लिखा हुआ साहित्य और चाहे जो हो, लोक की वस्तु नहीं बन सकता, राष्ट्रीय वृद्धि के कीटाणु उसमें नहीं पनप सकते। विदेशी विचारों को मस्तिष्क में भरकर उन्हें अधपके ही बाहर ऊँडल देने से किसी साहित्य का लेखक लोक में चिरजीवन नहीं पा सकता। हिन्दी-लेखक जबतक ऋषि-ऋण से उऋण नहीं होंगे, वे लोक-साहित्य की सृष्टि में पिछड़े रहेंगे।"

[९] मध्य देश के दो अच्छे मासिक—'राष्ट्रभाषा' और 'आगामी कल'। पहली पत्रिका राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति (वर्धा) से निकलती है, दूसरा निकलता है खंडवा से।

दूसरे के नववर्षांक और होलिकांक में पाठ्य-सामग्री काफी है, अच्छी की है, मगर भाषा और छापे की भूलें कहीं-कहीं बहुत झुँझलाहट पैदा करती हैं। छपाई की सफाई पर ध्यान न देने का नतीजा यह है कि अच्छे-से-अच्छे लेखों में भी निर्विघ्न आनन्द नहीं मिल पाता। नववर्षांक में कविताओं और कहानियों के सिवा निम्नलिखित लेख पठनीय हैं—"प्रसाद की कामायनी के साथ अन्याय (प्रो० प्रभाकर माचवे), स्वर्गीय भागरकरजी के संस्मरण (प्रो० विनयमोहन शर्मा), बुन्देलखण्ड में चार दिन (सेठ गोविन्ददास)।" इसके सम्पादक श्रीप्रभागचन्द्र शर्मा प्रसिद्ध साहित्यसेवी हैं। उन्हें सम्पादन और प्रकाशन के सौन्दर्य पर ध्यान रखना चाहिए। 'आगामी कल' (भविष्य) को सर्वांगसुन्दर देखने की स्वाभाविक उत्कण्ठा होती है। श्रीभदन्त आनन्द कौसल्यायन और श्रीशुकदेव नारायण (सहकारी) के सम्पादकत्व में 'राष्ट्रभाषा' बड़ी दृढ़ता और निर्भीकता से हिन्दी-सेवा कर रही है। हिन्दी के प्रति उसकी सच्ची निष्ठा और श्रद्धा सर्वथा स्तुत्य है। नागरी-लिपि में नये-नये सुधार करने की जो उसकी नीति और परिपाटी है, वह लिपि की सुगमता के लिए विशेष उपयोगी और लाभदायक नहीं है। छपाई और लिखावट में सुविधा होने के खयाल से ही लिपि-सुधार आवश्यक है; पर इस सुधार से तो वह सुविधा भी नहीं होती और प्राचीन प्रतिष्ठित परम्परा तो भ्रष्ट होती ही है। यों तो हर नये काम के लिए दलील और तर्क गढ़ लिये जा सकते हैं।

हमारे होलिकांक, कुछ विशेषांक और नवागन्तुक सहयोगी

हमें जितने होलिकांक मिले हैं, सब में साप्ताहिक 'योगी' (पटना) और 'आदर्श' (कलकत्ता) के अंक अच्छे हैं। इनकी सम्पादन-शैली, सजावट, हास्यरसपूर्ण सामग्री, सब कुछ सराहनीय है। 'तिरहुत-समाचार' (मुजफ्फरपुर) का अंक भी सुन्दर है। सारा अंक बड़े उत्साह से सजाया और सरसाया गया है। प्रयाग के 'भारत' का अंक सुपाठ्य लेखों से सुसज्जित है। होली का विश्वव्यापी उत्सव, भाँग और उसके औषधीय गुण, होली का महत्त्व आदि लेख स्थायी महत्त्व रखनेवाले हैं। आर्यमित्र (लखनऊ), लोकमत (नागपुर), ऊषा (गया), प्रभाकर (मुंगेर), मिथिला-मिहिर (दरभंगा), 'प्रकाश' (रीवाँ)—इन सबने अपने-अपने हौसले के मुताबिक होली मनाई है। किन्तु हमारे गाँवों में जो होली होती है, उसका सच्चा चित्र किसी में नहीं है। हिन्दी के पुराने अस्तंगत पत्रों के विस्मृत होलिकांकों का जीर्णोद्धार भी नये होलिकांकों के द्वारा किया जा सकता है। बिखरे हुए होली-साहित्य से उत्तमोत्तम सामग्री का संचय करके भी पाठकों को संग्रहणीय वस्तु दी जा सकती है। पर हममें परिश्रम और अनुसन्धान की लगन ही नहीं है। अनायास-लब्ध सामग्री से घड़ी-भर के लिए पाठकों का मनोरंजन तो हो सकता है, परन्तु वे पिछली परम्परा से परिचित होकर वर्त्तमान स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन नहीं कर सकते।

मधुकर (टीकमगढ़) और 'कर्मयोग (आगरा) और बिजली (पश्चा, हजारीबाग)— हिन्दी के तीन सुन्दर पाक्षिक पत्र हैं। पहला पण्डित बनारसीदासजी चतुर्वेदी-द्वारा सम्पादित होने के कारण साहित्यकारों को नई-नई सूझ और पाठकों को नये-नये ढंग की स्वाध्याय-सामग्री दिया करता है। अमूल्य अनुभूतियों और संस्मरणों से इसका हरएक अंक विभूषित रहता है। दूसरा भी अपने यशस्वी सम्पादक पंडित हरिशंकर शर्मा की समर्थ लेखनी के प्रसाद से उच्चकोटि का पत्र बन गया है। यह गीतामंदिर (आगरा) का मुखपत्र है। गत वसंत-पंचमी से निकल रहा है। कागज, छपाई, सजावट, सम्पादन-प्रणाली, लेख-चयन, सब कुछ दर्शनीय और प्रशंसनीय है। कितने ही मासिक भी इतने सुसम्पादित ढंग से नहीं निकलते। अधिकारी विद्वानों की छोटी-छोटी रुचिकर रचनाएँ इसके प्रत्येक अंक में आकर्षण का जाल बिछाये रहती हैं। इसके पढ़ने में खूब जी लगता है और इसके लेखों से जो आध्यात्मिक साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संदेश मिलते हैं, उनसे चित्त तृप्त और शान्त होता है। तीसरी पत्रिका के सिर पर एक बड़ी रियासत की छत्रच्छाया है। इसके प्रत्येक नये सम्पादक श्रीरामदयाल त्रिवेदी 'प्रवीन' इसकी परम्परागत प्रतिष्ठा को कायम रखने में सफल हुए हैं। इसका होलिकांक हर साल की तरह बहुत सुन्दर निकला है। इसका प्रायः प्रत्येक अंक सुन्दर हुआ करता है। गाँवों और किसानों पर इसका विशेष ध्यान रहता है। ये तीनों पाक्षिक हमारे हिन्दी-साहित्य का गौरव बढ़ाने में तत्पर हैं। इन्दौर की 'प्रजा-मण्डल-पत्रिका' का अधिवेशन-अंक अनेक नेताओं और जनसेवक देशभक्तों के चित्रों तथा भाषणों एवं प्रजा-मण्डल के कार्यविवरणों से भरा हुआ है। आवरण-पृष्ठ तिरंगे झंडे से सुशोभित है। जयपुर की 'लोकवाणी' का नववर्षांक स्वर्गीय सेठ जमनालालजी बजाज के संस्मरणों और देशीराज्य-सम्बन्धी विविध लेखों से सम्पन्न है। दानवीर सेठजी के संस्मरण इतने अच्छे हैं कि उनका पुस्तकाकार में संग्रह होना चाहिए। कई लेखों में देशी राज्यों की ज्वलन्त समस्याओं पर अनुभवी व्यक्तियों ने अच्छे ढंग से विचार प्रकट किये हैं। देशी राज्यों का भविष्य, राजपूताने की समस्याएँ, देशी राज्यों की वन्य-संपत्ति, संधियाँ और मृत्यु-पत्र आदि महत्त्वपूर्ण लेख हैं। रीवा के 'प्रकाश' का राज्याभिषेकोत्सव-अंक नये रीवाँ-नरेश के भड़कीले चित्रों और गुण-कीर्त्तनों से भरपूर है। एक लेख में कई बड़े राज्यों के सिंहासनों की सुन्दरता और बहुमूल्यता का मनोरंजक वर्णन है। वैदिक लोक-तंत्र की रूप-रेखा, मध्यकालीन राजागण, राजा और अभिषेक का महत्व इत्यादि लेख इतिहासप्रेमी पाठकों के लिए रोचक हैं। इन विशेषांकों में इधर-उधर से मसाला जुटा देने के सिवा सम्पादन-सम्बन्धी पर्याप्त परिश्रम नहीं किया गया है। जितना ध्यान बाहरी तड़क-भड़क पर दिया जाता है, उतना ही अगर भाषा की सफाई और मुद्रण-कला की सादगी पर भी दिया जाता, तो विशेषांकों में जो अतिरिक्त परिश्रम और द्रव्य लगता है, वह वस्तुतः सार्थक होता। काशी की नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका को चाहे जिस दृष्टि से देखिए, आदर्श ही दीख पड़ेगी। इसके पचासवें वर्ष का पहला-दूसरा अंक संयुक्त ही निकला है। इसके नये सम्पादक प्रो० विश्वनाथप्रसाद मिश्र को श्रीशिवनाथ

एम्० ए० के समान सुयोग्य सहायक मिल गये हैं। दोनों ही इस प्राचीन शोध-सम्बन्धिनी पत्रिका के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं। इस अंक में छह लेख हैं—अपभ्रंश-भाषा और साहित्य, वीर-गाथा-काल का जैनभाषा-साहित्य, मध्यदेश का भाषा-विकास, 'आलम' और उनका समय, मलिक मंझन और उनकी मधुमालत, विक्रम की छठी से पन्द्रहवीं शती तक की धर्मसाधना। तीसरे के लेखक हैं डाक्टर बाबूराम सक्सेना, चौथे के स्वयं सम्पादक मिश्रजी और छठे के पंडितहजारीप्रसाद द्विवेदी। ये लेख बड़े ज्ञानवर्द्धक और हृदयग्राही हैं। मलिक मंझनवाला भी खोज से भरा और दिलचस्प है। अध्ययनशील व्यक्तियों के लिए यह त्रैमासिक पत्रिका विश्राम-कुटी या शांति-कुंज है। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से जो 'हिन्दी' नाम की छोटी-सी सस्ती मासिक पत्रिका निकली थी, वह अब स्वतंत्र-रूप से पंडित चन्द्रबली पांडेय एम्० ए० के ही सम्पादकत्व में फिर निकलने लगी है। पाँचवें वर्ष के पाँच-छह अंक निकल चुके हैं। एक रुपया नाम-मात्र वार्षिक मूल्य और लेख बड़े काम के—एक-से-एक बढ़कर। हिन्दी-भाषा और नागरी-लिपि का पक्ष पुष्ट करने में इसकी प्रबल शक्ति अमोघ है। इसका हर एक अंक संचय करने योग्य होता है। प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी को इसे बराबर पढ़ना चाहिए। श्रीमान् सहगलजी का प्रसिद्ध मासिक 'कर्मयोगी' भी बरसों बाद फिर मई से निकलने लगा है। इलाहाबाद का 'रैनबसेरा' फिर गुलजार हुआ। हिन्दी के चमन में उर्दू की बुलबुलें चहक उठीं। इस अंक के विशिष्ट लेख हैं—पुरुवंश प्राचीन इतिहास (श्रीमिश्रबन्धु) क्रान्तिकारी कथाकार (श्रीउग्र), हिमालय की मनोरंजक कहानियाँ (सचित्र), बँगला का विद्रोही कवि नजरुल इस्लाम, राइफल और उसका इस्तेमाल। श्रीउग्रजी का लेख साहित्य-सागर का ज्वार-भाटा है, साहित्याकाश का वज्र-निर्घोष है, साहित्य-क्षेत्र का भीषण भूकम्प है। इस अंक में कई व्यंग्य-चित्र व्यंग्य-विनोदपूर्ण लेख, मनोरम कविताएँ और कहानियाँ तथा उर्दू के शेर हैं। शेरों के साथ शब्दार्थ भी होना चाहिए था—हिन्दी-पाठकों को शेरों का मजा लेने में सुविधा होती। सिनेमा और स्त्रियों के लिए स्वतंत्र स्तंभ हैं—कविताओं और शिकार तथा विश्व-साहित्य के लिए भी। आशा है कि सहगलजी का 'कर्मयोगी' साहित्य और समाज की दुनियाँ में काफी हलचल पैदा करेगा। कलकत्ता की 'रूपवाणी' का अप्रैलवाला अंक भी अभी मिला है। सम्पादक हैं श्रीवागीश्वर झा। मुख-पृष्ठ पर बिहार के तरुण कवि श्रीहरेन्द्रदेव नारायण की कविता है 'पथगीत' और उन्हीं का लिखा हुआ एक भावपूर्ण शब्द-चित्र है क्रांतिकारी नेता श्रीजयप्रकाशनारायण का। आज और कल के साहित्यिक, ग्रीस का कवि सोलन, काँगरेस मेडिकल मिशन की कहानी (सचित्र), सिनेमा और साहित्यिक (सम्पादकीय) इस अंक के सुपाठ्य लेख हैं। देशरत्न डॉ० राजेन्द्र प्रसादजी के 'खंडित भारत' ग्रंथ का एक अंश (पाकिस्तान का विश्लेषण) भी पढ़ने योग्य है। चित्रावली की सुन्दरता-व्यंग्य-चित्रों की बहार, सचित्र कहानी की सरसता, कागज की स्निग्धता, दुरंगी छपाई सब साधन प्रलोभन के ही हैं। जान पड़ता है सिनेमा-पत्रों पर कागज के कंट्रोल का कोई प्रभाव नहीं है। किन्तु सिनेमा का प्रभाव कवियों पर बड़ा जबरदस्त है। हमारे नेपाली जी का एक गीत छपा है 'छाई रतिया अँधेरी हो'! उसमें उनके कवित्व पर सिनेमा का 'साया' सघन

हो उठा है। जिसकी 'सुनहली' कविता का स्वाद याद है, उसकी 'रुपहली' कविता कभी रुच नहीं सकती। हिन्दी-साप्ताहिकों में काशी का 'सिद्धान्त' और अहमदाबाद का हरिजन-सेवक' दोनों अपने ढंग के आप ही हैं। पहले के सम्पादक हैं श्रीगंगाशंकरमिश्र और श्रीदुर्गादत्त त्रिपाठी तथा दूसरे के हैं महात्माजी के मंत्री श्री प्यारेलाल। पहले में धार्मिक और आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक विचार के लेखों की प्रधानता रहती है दूसरे के लेख तो प्रायः अधिकांश हिन्दी-पत्रों में प्रति सप्ताह 'उद्धृत होते रहते हैं। दोनों ही बड़ी सावधानता से सम्पादित होते हैं। फालतू बात एक भी नहीं, सिर्फ काम की बातें। वास्तव में ये विचार-पत्र हैं। इनसे दिल और दिमाग को पाक-साफ खुराक मिलती है। 'नया-साहित्य' और 'निर्माण' उच्चकोटि के नये प्रगतिशील पत्र हैं। पहला 'हिमालय' के आकार का, दूसरा पुस्तक-रूप में। पहले के सम्पादकों में नौ प्रख्यात प्रगतिशील लेखकों और कवियों के नाम हैं। दूसरे के सम्पादक हैं प्रतिभाशाली युवक कलाकार श्रीरांगेय राघव। साल भर में दोनों के छह अंक निकलेंगे (द्वैमासिक) पहले का तीसरा भाग और दूसरे का पहला अंक सामने है। पहला साम्यवादी दल (कम्युनिस्ट पार्टी) के जनप्रकाशन-गृह (वंबई) से निकलता है और दूसरा आगरा से। इस दूसरे का ध्येय है नये होनहार लेखकों को पूँजीवादी प्रकाशकों से बचाकर 'साहित्य की घृणित गुट-बन्दियों के गढ़ों को तोड़ना'। पहले का अभी एक ही लेख देख सके—श्रीशिवदानसिंहजी चौहान का 'काश्मीरी भाषा-साहित्य और कवि 'महजूर'। वह हमें बहुत सुन्दर प्रतीत हुआ। दूसरे का भी एक ही—'लोकगीत' हम पढ़ सके। आनन्द मिला, मन पर प्रभाव पड़ा।

—मासिक 'हिमालय' (पटना); वर्ष १, अंक ३, अप्रैल, १६४६ ई०

*

भाषा-संस्कार

'भाषा-संस्कार'-सम्बन्धी एक विचारपूर्ण लेख इसी पुस्तक (अंक) में प्रकाशित है। उसके विद्वान् लेखक (श्रीरामचन्द्र वर्मा) सुप्रसिद्ध कोषकार हैं। उनके अनुभव निरन्तर मनन और अन्वेषण के परिणाम हैं। हिन्दी-संसार में ऐसे और भी विद्वान् होंगे, जिन्हें भाषा-संस्कार पर विचार करते रहने का अभ्यास और अनुराग होगा। उनसे भी हमारा नम्र निवेदन है कि वे हमें नेक सलाह दें और सुगम मार्ग सुझावें। 'हिमालय' के प्रकाशन का श्रीगणेश करते समय हमने भाषा-संस्कार की चर्चा बराबर जारी रखने का निश्चय किया था। हम स्वयं तो भाषा के पंडित या मर्मज्ञ नहीं हैं, पर इस बात के अभिलाषी अवश्य हैं कि हमारी भाषा का रूप शुद्ध और सुन्दर हो। अपनी अल्पज्ञता के आतंक से सदा त्रस्त रहते हुए भी हम 'हिमालय' की भाषा को यथामति-यथाशक्ति शुद्ध-सुन्दर बनाये रखने का प्रयत्न करते रहते हैं। अपने सहयोगियों का सादर स्वागत करते समय उनसे भी प्रार्थना करते रहते हैं कि भाषा की शुद्धता और सुन्दरता पर वे भी

सदैव ध्यान रखने की कृपा करें। हम अपनी प्यारी भाषा को अनावश्यक नियमों के बंधन से जकड़कर जटिल बनाना नहीं चाहते। उसकी स्वाभाविक गति में बाधा देना हमारा अभीष्ट नहीं। भाषा-संस्कार का आन्दोलन उसके विकास में बाधक नहीं, बल्कि साधक होकर ही सफल हो सकता है। ऐसे महत्त्वपूर्ण आन्दोलन का नेतृत्व करने की क्षमता हम में नहीं है। हम तो भाषातत्त्वज्ञों और भाषाहितैषियों का केवल ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। कभी-कभी किसी पत्र-पत्रिका में इस विषय की चर्चा कर देने से ही काम न बनेगा। नियमित रूप से विचार-विमर्श होते रहने की आवश्यकता है। अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के उद्योग और सहयोग से ही इस आन्दोलन का संगठन और संचालन सफलतापूर्वक हो सकता है। इन सर्वमान्य संस्थाओं का संरक्षण और समर्थन प्राप्त होनेपर इसे संघ-शक्ति का बल मिलेगा। अखिलभारतीय पत्रकार-सम्मेलन यदि तत्पर हो जाय, तो यह और भी व्यापक बन सकता है। हिन्दी-पत्रकारों का सहयोग सबसे अधिक प्रभावशाली और सिद्धिदायक होगा। यदि पत्र-पत्रिकाओं के विज्ञ पाठक भी इसमें दिलचस्पी दिखावें, तो आशातीत लाभ की सम्भावना है। समालोचकों का तो यह कर्त्तव्य ही है। वे ही भाषा की फुलवाड़ी के चतुर माली और रखवार हैं। अगर वे कड़ी निगाह रखें, तो भाषा का बहुत उपकार हो। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि आजकल कहानियों और कविताओं की भरमार हर जगह है। इनके लेखकों की संख्या बहुत बढ़ गई है—बढ़ रही है। यह हर्ष और संतोष का विषय तो है; किन्तु इन लेखकों में ऐसे बहुत कम हैं जो भाषा की सफाई और सुघराई पर ध्यान रखते हों। अधिकांश तो गुरु बनकर ही क्षेत्र में आते हैं, शिष्यत्व को अपमानजनक समझते हैं। यह स्वावलंबन का भाव प्रशंसनीय भले ही हो, स्वाध्याय का अभाव प्रशंसनीय नहीं हो सकता। हिन्दी में आदर्श गद्यकार और आदर्श कवि पहले भी हुए हैं, आज भी हैं; पर भाषा सीखने की दृष्टि से उनकी रचनाओं का अध्ययन और मनन करना फालतू काम समझा जाता है। पंत, निराला और महादेवी के कल्पना-कानन में विहार करनेवाले बहुत होंगे, पर उनके सन्दर्भ-सौन्दर्य का सूक्ष्म निरीक्षण इने-गिने ही करते हैं। एक होनहार गद्यकार महाशय तो आचार्य द्विवेदीजी को अब 'चौथाई शताब्दी पिछड़ा हुआ शैलीकार' कहते हैं। वह बेधड़क कह जाते हैं कि आज के लेखकों और कवियों को 'प्रेमचंद' और 'प्रसाद' से कुछ नहीं मिल सकता! जहाँ ऐसी मनोवृत्ति के श्रद्धालु (!) जीव हैं, वहाँ भाषा में अराजकता कोई आश्चर्य की बात नहीं। ऐसे क्रान्तिकारी सज्जनों को भाषा-संस्कार की चर्चा में कोई रस नहीं मिल सकता। रस तो इसमें उन्हीं को मिलेगा, जो अपनी भाषा की प्रकृति और संस्कृति को सुरक्षित रखना चाहते हैं और जिनकी संख्या भी हिन्दी-जगत् में कुछ कम नहीं है।

कविताओं और कहानियों की बाढ़

हिन्दी-साहित्य-सरिता में कविताओं और कहानियों की बाढ़ देखकर जितनी प्रसन्नता होती है, उतनी ही चिन्ता भी। प्रसन्नता इसलिए कि हमारी भाषा का काव्य-

साहित्य और कला-साहित्य दिन-दिन विस्तृत और सम्पन्न होता जा रहा है। चिन्ता इसलिए कि विस्तार तो बढ़ रहा है और भांडार भी भर रहा है, किन्तु वास्तविकता और गंभीरता घट रही है। हमारे चिन्तित होने से न तो साहित्य का कुछ बनता-बिगड़ता है और न वह प्रवाह ही रुक सकता है। हम प्रवाह का पथावरोध करना भी नहीं चाहते। हम तो अपने उगते हुए कलाकारों की संख्या-वृद्धि से उत्साहित होनेवालों में हैं। हिन्दी-माता के मन्दिर में पुजारियों की भीड़ देखकर कौन हिन्दी-भक्त आनन्दमग्न न होगा? किन्तु यह अनुभूत सत्य है कि भीड़ में सब-के-सब पुजारी ही नहीं होते। ग्रहण और शिवरात्रि की भीड़ में बहुत-से पूजार्थी भगवान् कपाली के कपाल पर ही मिट्टी की गंगाजली फोड़ते हैं। ऐसे उतावले पूजार्थी से किसी भक्त की सहानुभूति नहीं हो सकती। हिन्दी के बहुत-से पुजारियों में ऐसा उतावलापन स्पष्ट दीख पड़ता है। इसके कारण हिन्दी के सिर जो कुछ बीत रहा है, वह खुली आँखों देख सकना असह्य-सा है। आज के सम्पादक और प्रकाशक अन्धाधुन्ध रचनाएँ और पुस्तकें प्रकाशित करते चले जाते हैं; पर उन्हें परिमार्जित और परिष्कृत रूप में प्रकाशित करने पर यथोचित ध्यान नहीं देते। सम्भव है, हमारी इस बात पर सहसा किसी को विश्वास न हो, पर यदि कोई भाषा-भाव की दृष्टि से पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों को ध्यान से देखने का कष्ट स्वीकार करे, तो हमें विश्वास है कि यह बात बहुलांश में विश्वसनीय प्रतीत होगी। कहानियों की जो पत्रिकाएँ निकलती हैं और कुछ साप्ताहिक तथा दैनिक पत्रों में—कितने ही मासिकों में भी—जो कविताएँ छपती हैं, उनपर यदि ठीक-ठिकाने से विचार किया जाय, तो अधिकतर ग्लानि और निराशा ही नसीब होगी। इसमें कहानी-लेखकों या कवियों का विशेष दोष नहीं है, वे अपनी साहित्य-सेवा की उमंग न रोक सकें, तो वह अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। दोषी वास्तव में हम सम्पादक ही हैं, जो अपने पत्रों या पत्रिकाओं के माध्यम से भाषा के पवित्र क्षेत्र में भ्रष्टता फैलाते हैं। हमारा काम होनहारों का केवल उत्साह बढ़ाना ही नहीं है, मार्ग-प्रदर्शन करना भी है। इस मार्ग-प्रदर्शन के लिए कठिन परिश्रम अपेक्षित है। और, अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं का रंग-ढंग देखने से पता चलता है कि वे इससे वंचित हैं। तब तो मजबूत बाँध के बिना बाढ़ का नियंत्रण असम्भव है!

पत्र-सम्पादन और प्रूफ-संशोधन

मुद्रण-कला और प्रूफ-संशोधन की कला में घना सम्बन्ध है। जहाँ मुद्रण-कला अपना समस्त सौन्दर्य समेटे रानी बनी बैठी हो, वहाँ प्रूफ-शोधन-कला यदि प्रसाधिका या चामरवाहिनी के रूप में उपस्थित न हो, तो मुद्रण-कला की सारी शान फिट पड़ जाती है। लेखक की विद्वत्ता और सम्पादक की पटुता तबतक कुछ भी रंग नहीं ला सकती, जबतक वह प्रूफ-शोधक की गहरी दृष्टि से अनुरंजित न हो। प्रूफ-शोधन अत्यन्त कठिन कर्म है और कुछ लोगों की दृष्टि में जघन्य कर्म भी। किन्तु जिस प्रकार भगवान् राम की कीर्त्ति-पताका के दण्ड-स्वरूप लक्ष्मण कहे गये हैं, उसी प्रकार लेखक और सम्पादक के

कीर्त्ति-केतु का दण्ड प्रूफ-शोधक कहा जा सकता है । खेद है कि हिन्दी-संसार में अच्छे प्रूफ-शोधक बहुत कम नजर आते हैं । उनकी कमी से आज विद्वान् लेखकों के उत्तम लेख और सुयोग्य सम्पादकों के सुन्दर अग्र-लेख भी फीके पड़ते दीखते हैं । कितनी ही पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ सुसज्जित और नेत्र-रंजक रूप धारण कर सामने आती हैं; पर प्रूफ-शोधन-कला की कसौटी पर उनके रूप का रहस्य खुल जाता है । यदि हम कुछ प्रमुख पत्रों और प्रमुख लेखकों-प्रकाशकों की पुस्तकों को अलग कर दें, तो बाकी जो कुछ बचेगा, सब प्रूफ-शोधन की दृष्टि से निरर्थक ही जँचेगा । कृपया इसे अतिशयोक्ति समझने के पहले कोई दैनिक या साप्ताहिक उठा लीजिए, चाहे कोई मासिक ही क्यों न हो, ध्यान से पढ़ जाइए, प्रूफ की बहुत-सी गलतियाँ अनायास मिल जायँगी । जान पड़ता है कि हिन्दी-जगत् में किसी को इस बात का अनुभव ही नहीं होता कि अशुद्ध छपाई से राष्ट्रभाषा हिन्दी का गौरव कितना घट रहा है । अँगरेजी के पत्रों और ग्रंथों को देखकर जब हम तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हैं, तब हिन्दी के अधिकांश पत्रों और पुस्तकों की शोचनीय दशा पर मन में जुगुप्सा उत्पन्न होती है—लज्जा आती है । कहनेवाले कहते हैं कि हिन्दी के नागराक्षर की तरह अँगरेजी के अक्षरों में छपाई का बखेड़ा या झंझट-झमेला नहीं है । किन्तु जिन पत्र-पत्रिकाओं में छपाई की सुविधा के लिए नागरी-लिपि का सुधार किया गया है, उनको भी हम सर्वथा निर्दोष नहीं पाते । रोग की उपयुक्त चिकित्सा न करके रोगाक्रान्त अंग में ही काट-छाँट करने लगना बुद्धिमानी नहीं है । सरल उपाय यह है कि प्रूफ-रीडरों को तैयार करने के लिए विद्यालय और परीक्षा का प्रबन्ध किया जाय । पत्रकार-विद्यालय चाहे जब खुले, पहले प्रूफ-रीडिंग की कला सिखाने के लिए मुख्य केन्द्र-स्थानों में संगठित प्रयत्न होना चाहिए । नहीं तो लेखकों और सम्पादकों का सारा परिश्रम निष्प्रयोजन एवं निष्फल होता रहेगा । इससे हिन्दी की लोकप्रियता और प्रतिष्ठा भी संकटापन्न होगी ।

'हिन्दी-सेवक-मण्डल'

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के प्राण पूज्य पण्डित रामनारायण मिश्रजी ने एक 'हिन्दी-सेवक-मण्डल' नामक संस्था स्थापित करने की योजना हिन्दी-जगत् के समक्ष उपस्थित की है । सभा ने यह योजना स्वीकृत कर ली है । उसकी रूप-रेखा बतानेवाला एक पत्रक साहित्य-संसार में वितरित हो चुका है । उसमें लिखा है—

"जिस प्रकार स्वर्गीय गोपालकृष्ण गोखले और लाला लाजपतराय ने यथानुक्रम पूना और लाहौर में दो लोकसेवक संस्थाएँ खोलकर राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में काम करने के लिए देश के त्यागी नवयुवकों को आकृष्ट किया था, उसी प्रकार एक हिन्दी-सेवक-मण्डल का संघटन सभा के अंतर्गत होना आवश्यक है । इस मण्डल का एक कार्यालय काशी में और दूसरा हरद्वार में होगा । इसके सदस्यों का कर्त्तव्य होगा कि वे देश-विदेश में घूम-घूमकर साक्षरता का प्रचार करें, एकलिपि-विस्तार-परिषद् को फिर से जीवित करें, प्राचीन हिन्दी-पुस्तकों की खोज करें, साहित्यगोष्ठियों और कविसम्मेलनों का संघटन करें,

विद्यालय और पुस्तकालय तथा वाचनालय स्थापित करें, हिन्दी पर होनेवाले प्रहारों से उसके बचाव का क्रियात्मक उपाय करें और आवश्यकता पड़ने पर ऐसे प्रहारों के विरुद्ध खुला आन्दोलन करें एवं साहित्य-सम्मेलन तथा अन्य हिन्दी-हितैषी संस्थाओं के कार्यों को आगे बढ़ायें। उनमें आध्यात्मिक भाव हों। वे निःस्वार्थ, उद्यमी और धैर्यवान् हों तथा केवल पुरस्कार लेकर कार्य सम्पन्न कर सकें और साम्प्रदायिकता से अपने को दूर रख सकें। मण्डल का कार्यारम्भ कम-से-कम दो सदस्यों से किया जा सकता है, जिसपर ५००० वार्षिक खर्च होने का अनुमान है। पर्याप्त धन प्राप्त होने पर कार्यारम्भ कर दिया जायगा।"

यही मण्डल की योजना का संक्षिप्त रूप है। हिन्दी की वर्त्तमान अवस्था को देखते हुए ऐसे मंडल की स्थापना नितान्त आवश्यक जान पड़ती है। आज हिन्दी को ऐसे नि.स्वार्थ सेवकों की बहुत आवश्यकता है, जो अपना सारा समय हिन्दी-हितसाधन में ही खपा सकें—अपने जीवन का प्रत्येक क्षण हिन्दी-हितचिन्तन में ही लगा सकें। यद्यपि इस युग में 'निःस्वार्थ' शब्द अत्यंत भयंकर है, और 'सेवा' शब्द भी कुछ कम निष्ठुर नहीं, तथापि इसी युग में कुछ गिने-चुने निःस्वार्थ सेवक अपने-अपने अभीष्ट क्षेत्रों मे सच्ची लगन से काम कर ही रहे हैं। सुविस्तृत हिन्दी-संसार भी खाली नहीं है। राजनीतिक क्षेत्र में तो मातृभूमि की सेवा के लिए त्याग-तपस्या करनेवालों को पदाधिकार या पुरस्कार और जनता का स्वागत-सत्कार प्राप्त होता रहता है, किन्तु साहित्यिक क्षेत्र में मातृभाषा के त्यागी सेवकों के लिए वैसे प्रलोभन या आकर्षण प्रायः नहीं है। इसलिए हिन्दी-प्रेमियों के सामने यह अग्नि-परीक्षा का प्रश्न है। फिर भी आशा है कि इस कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण होनेवाले कुछ लोग निकल ही आवेंगे। रह गई बात 'कार्यारम्भ' के लिए पर्याप्त धन की। हिन्दी-प्रेमियों के पास धन की कमी नहीं है, हिन्दी के कल्याण के लिए थैली खोलने की प्रवृत्ति की कमी है, नहीं तो कोई एक ही धनी 'कार्यारम्भ के लिए पर्याप्त धन' दे सकता है और दूसरा धनी चाहे, तो कार्य-संचालन के लिए भी। किन्तु ऐसा होना संभव नहीं; क्योंकि सभा और साहित्य-सम्मेलन की कई योजनाएँ और अपीलें पहले से ही धनिकों की बाट जोह रही हैं। इसलिए हिन्दी-प्रेमी जनता ही बूँद-बूँद से तालाब भर दे।

'संयुक्त पत्रकार-लेखक-संघ'

प्रयाग में ही पत्रकारों और लेखकों का एक संयुक्त संघ है। उसके प्रधान हैं 'कर्मयोगी'-सम्पादक श्रीसहगलजी। उसकी कार्यकारिणी समिति ने एक प्रस्ताव स्वीकृत किया है, जिसकी एक प्रति हमें भी प्राप्त हुई है। वह इस प्रकार है—"पूँजीपति लोग अपनी अपार सम्पत्ति के बल से देश के प्रायः सभी समाचार-पत्रों के मालिक बन गये हैं। और उसके फलस्वरूप पत्रकारों और लेखकों का जीवन संकट में पड़ता जा रहा है। यदि उन्होंने अपना तगड़ा संगठन कायम न किया, तो अबतक के पत्रकारों के उच्चादर्श ध्वस्त हो जायेंगे और हमारे पत्रकार पूँजीपतियों के हाथ में खिलौने बन जायेंगे, जिससे लोकमत पर भी कुठाराघात होने की संभावना है। अतएव, यह संघ समस्त श्रमजीवी पत्रकारों और लेखकों को सावधान करता है कि वे इस खतरे को समझें और अपना ऐसा

जबरदस्त संघ स्थापित करें कि वह ,उनकी स्वतंत्रता, मर्यादा, आर्थिक स्थिति आदि की रक्षा कर सके और जरूरत पड़ने पर पूंजीपति स्वामियों के साथ पत्रकार संघर्ष के लिए भी तैयार रहें ।"

प्रस्ताव तो बहुत बढ़िया है—देखने में सुन्दर, पढ़ने में मधुर, सुनने में सुहावना ! पर क्या यह कार्यान्वित भी हो सकेगा ? पत्रकार और लेखक क्या सचमुच संगठित होना चाहते हैं ? हम निराशावादी नहीं हैं, पर अनेक बार पत्रकारों और लेखकों के संगठन तथा संघ की चर्चा कानों से सुनकर भी आंखों से कुछ देख नहीं सके हैं; इसलिए सहसा विश्वास जमना मुश्किल है । पत्रकारों और लेखकों से प्रेरणा एवं प्रोत्साहन पाकर दूसरे लोग भले ही संगठित हो जायँ; पर स्वयं पत्रकार और लेखक शीघ्र अपना संगठन न कर सकेंगे । बीस बरसों से इनके संगठन का शोर सुनते आ रहे हैं ! अगर दरअसल इनमें संघ-शक्ति आ जाय, तो कौन ऐसा है, जो इनके आगे न झुकेगा ? हम प्रस्ताव की ओजस्विता की प्रशंसा करते हैं और उसे कार्यान्वित करनेवालों की तेजस्विता की प्रतीक्षा ।

हिन्दी-विश्वविद्यालय

हिन्दी-प्रेमी जानते हैं, विक्रम-संवत् २००० में बड़े समारोह से विक्रम-द्विसहस्राब्दी-महोत्सव उज्जैन में मनाया गया था । श्रीमंत ग्वालियर-नरेश की छत्रच्छाया में उत्सव तो सफल हुआ ही, हिन्दी-विश्वविद्यालय स्थापित करने का निश्चय भी हुआ । किन्तु घोषणा हुए दो वर्ष हो गये, आजतक ग्वालियर-राज्य ने हिन्दी-विश्वविद्यालय की योजना को कार्यरूप में परिणत न किया । ग्वालियर का हिन्दी-साप्ताहिक 'जीवन' प्रजापक्ष का एक सुन्दर पत्र है । उसके सुयोग्य सम्पादक कविवर 'मिलिन्द'जी अपने अग्रलेख में लिखते हैं—

"विक्रम-द्विसहस्राब्दी-उत्सव की योजना में, हमारी राय में, सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण अंश हिन्दी-भाषा के माध्यम द्वारा विविध ज्ञान, विज्ञान और व्यवसाय-कला की उच्च शिक्षा देनेवाले विश्वविद्यालय की स्थापना ही था । संवत् २००० में होनेवाला वह आयोजन संवत् २००२ की समाप्ति तक भी कोई रूप-रेखा ग्रहण नहीं कर पाया है और सन्देह होने लगा है कि शायद विक्रमोत्सव की सारी योजना के साथ-साथ हिन्दी-विश्वविद्यालय की स्थापना का प्रश्न भी हवा में उड़ गया है । इस सम्बन्ध में ग्वालियर-सरकार की ओर से केवल एक लाख रुपया ही दिया गया था और सवा दो लाख रुपया जनता की ओर से चन्दे के रूप में दिया गया था । यह सवा तीन लाख की निधि एक सार्वजनिक निधि थी, जिसका सरकार केवल ट्रस्टी ही थी । चन्दा लेते समय इस निधि के विनियोग के जो मार्ग जनता को बताये गये थे, उनमें हिन्दी-विश्वविद्यालय की स्थापना प्रमुख थी । ग्वालियर-गवर्नमेंट का कर्त्तव्य था कि अपनी घोषणा के अनुसार विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए और भी धन देती और जनता से लेती तथा पर्याप्त धन एकत्र करके उसे विश्वविद्यालय की स्थापना में ही लगाती । ऐसा न करके गवर्नमेंट ने जनता के विश्वास के साथ न्याय नहीं किया है............ ।"

इस संपादकीय मन्तव्य के प्रकाशित होने के बाद त्यागमूर्त्ति श्रीपुरुषोत्तमदासजी टण्डन, गत मार्च के अंत में ग्वालियर गये थे। उन्होंने भी अपने सार्वजनिक भाषण में कहा था—"मेरे लिए हिन्दी का प्रश्न स्वराज्य का प्रश्न है। मैं यह कहूँगा कि ग्वालियर ने हिन्दी के लिए बहुत कुछ किया है। अदालती भाषा हिन्दी की। ग्वालियर-नरेश ने हिन्दी-विश्वविद्यालय की बात चलाई थी, किन्तु अब वह चर्चा धीमी पड़ गई है। कार्य सोते-सोते नहीं होता। वे युवक हैं, उत्साही हैं, उनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं। वे हिन्दी-भाषा के माध्यम द्वारा हर प्रकार का उच्च ज्ञान देनेवाले इस प्रकार के विश्वविद्यालय का निर्माण कर पथ-प्रदर्शक का काम करें। आशा ही नहीं, किन्तु पूरा विश्वास है कि ग्वालियर-नरेश इस ओर उचित ध्यान देंगे और जो शुभ संकल्प प्रारम्भ में किया गया था, उसे शीघ्र पूरा करने का उपक्रम करेंगे। हिन्दी आज के बहुत-से प्रश्नों को हल कर सकती है और करती आई है।"

श्रद्धेय टण्डनजी के ये शब्द ग्वालियर-नरेश के कानों तक अवश्य पहुँचे होंगे। और, कार्यारम्भ के निमित्त सवा तीन लाख रुपये की पूँजी भी है ही। फिर, विलम्ब का कोई कारण नहीं देख पड़ता। राज्य की प्रजा को अपनी सरकार से अनुरोध करते रहना चाहिए; क्योंकि हिन्दी-विश्वविद्यालय की स्थापना का सर्वप्रथम श्रेय प्राप्त कर ग्वालियर गौरवान्वित हो उठेगा। राज्य का मुखपत्र 'जयाजी प्रताप' हिन्दी का बहुत सुन्दर सप्ताहिक है। उसको भी राज्य के उच्चाधिकारियों का ध्यान इधर आकृष्ट करना चाहिए। हम तो समझते हैं कि उज्जैन के ज्योतिषाचार्य पंडित सूर्यनारायणजी व्यास का ध्यान इधर अवश्य होगा; क्योंकि वही विक्रमोत्सव के संयोजक और इस योजना के उत्प्रेरक थे और वह चाहें, तो राज्य को कलंक से बचा सकते हैं।

हमारे प्रान्तीय साहित्य-सम्मेलन

पंजाब, युक्तप्रांत, मध्य-प्रदेश और बिहार में प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन हैं। पंजाब और बिहार के सम्मेलन अपेक्षाकृत सजीव और कार्यशील जान पड़ते हैं। पंजाब के सम्मेलन का सोलहवाँ अधिवेशन गत वर्ष दिसम्बर में हुआ था—रावलपिण्डी में। अमृतधारा (औषध) के आविष्कर्त्ता पं० ठाकुरदत्त शर्मा ने सभापति-पद से भाषण करते समय वैदिक मंगलाचरण में यजुर्वेद के एक मंत्र का भावार्थ बतलाया था—"वाणी, सभ्यता और देश की रक्षा करना सच्चा यज्ञ है। यही यज्ञ-सुख, आनन्द, विभूति और ऐश्वर्य का देनेवाला है।"

इस सम्मेलन का प्रधान कार्यालय लाहौर में है। त्यागमूर्ति गोस्वामी गणेशदत्तजी के प्रयत्न से इसमें नवजीवन का संचार हो गया है। इसके प्रधान मंत्री प्रोफेसर वसिष्ठ शर्मा एम्० ए० बड़े कर्मठ पुरुष हैं। उन्होंने श्रीभीमसेन विद्यालंकार-लिखित एक पुस्तिका प्रकाशित की है—'पंजाब में हिन्दी-भाषा की स्थिति'—जिसके प्रकाशन का सारा व्यय हिन्दी के प्रसिद्ध कवि और नाटककार श्रीउदयशंकरजी भट्ट ने दिया है। यह सम्मेलन सचमुच एक सजग संस्था है। बिहार के सम्मेलन के उन्नीसवें अधिवेशन का हाल हम पहले सुना चुके हैं। पटना में इस सम्मेलन का एक अपना विशाल

भवन है, जिसे सुसज्जित एवं साधन-सम्पन्न बनाने के लिए पूज्य राजेंद्र बाबू ने जनता से एक लाख रुपये की अपील की है। इस सम्मेलन की रजत-जयन्ती भी मनाई जानेवाली है। इसके अस्तंगत मुखपत्र 'साहित्य' को भी पुनरुज्जीवित करना है। प्रान्तीय सम्मेलनों में यही सबसे पुराना है। इस वर्ष के आरम्भ में मध्यप्रांत और विदर्भ का ग्यारहवाँ सम्मेलन डॉक्टर बलदेवप्रसाद मिश्र की अध्यक्षता में, नागपुर में हुआ था। उसमें विद्वद्वर सभापति के अतिरिक्त, पंडित माखनलालजी चतुर्वेदी और श्रीकौसल्यायनजी के भाषण बड़े महत्त्व के हुए थे। युक्तप्रान्तीय सम्मेलन तो मृगेन्द्र-गति से चलता है। गत अप्रैल में उसका छठा अधिवेशन शिकोहाबाद में हुआ। डॉक्टर अमरनाथ झा ने सभापति-मंच से भाषण करते हुए राष्ट्रभाषा के रूप की विशुद्धता पर काफी जोर दिया और कृत्रिम भाषा के निर्माण की खूब भर्त्सना भी की। प्रांत के शिक्षा-मंत्री श्रीसम्पूर्णानन्दजी ने सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए हमारे लिए गर्व की बात कह डाली—"संस्कृत को छोड़कर, आज भी, किसी भी भारतीय भाषा का वाङ्मय विस्तार या मौलिकता में, हिन्दी के आगे नहीं जाता।"

इस सम्मेलन के साथ ही व्रज-साहित्य-मण्डल का भी तीसरा अधिवेशन प्रयाग-विश्वविद्यालय के इतिहासाध्यापक डॉक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी के सभापतित्व में हुआ। त्रिपाठीजी व्रजभाषा-साहित्य के मर्मज्ञ हैं और घनानन्द-रसखान-साहित्य के विशेषज्ञ भी। उनके गवेषणात्मक भाषण में पांडित्य और लालित्य का मधुर मिश्रण दर्शनीय ही है। व्रज-साहित्य के ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विवेचन में उन्होंने खूब आनन्द-वर्षण किया है। व्रज-प्रांत का यह मण्डल भी एक क्रियाशील संस्था है। इसका गढ़ मथुरा है। इसकी मुखपत्रिका 'व्रजभारती' दो साल बड़ी सुन्दरता से निकली थी। पंडित बनारसीदासजी चतुर्वेदी, पंडित जवाहरलाल चतुर्वेदी, पंडित हरिशंकर शर्मा आदि इस मंडल के सहृदय सहायक हैं। इसके एक साल बाद का दिल्ली-प्रांतीय सम्मेलन है, जिसका दूसरा अधिवेशन पंडित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के सभापतित्व में गत मार्च में, दिल्ली में ही हुआ था। उनका भाषण काफी ओजस्वी रहा; राष्ट्रभाषा की पुष्टि में उसमें दो-टूक बातें कही गईं—डंके की चोट घोषणाएँ की गईं—रेडियो के रहस्यमय षड्यंत्र की तो खाल ही उधेड़ दी गई। जहाँ तक स्मरण है, मध्य-भारत में भी सम्मेलन है। शायद उसका दूसरा अधिवेशन पिछले किसी साल पंडित सूर्यनारायण व्यास के सभापतित्व में वहीं मालवा में हुआ था। एकबार राजस्थान के सम्मेलन की भनक भी कानों में पड़ी थी। कलकत्ता में कोई राजस्थानी-साहित्य-मण्डल है, जो शोध-सम्बन्धी अच्छा काम करता है; पर वह राजस्थान-प्रान्तीय सम्मेलन नहीं है। ऐसे तो बंगाल, आसाम, बर्मा और उड़ीसा में भी राष्ट्रभाषा-प्रचार-सभाएँ कभी कायम हुई थीं, जिनकी वर्त्तमान प्रगति का हमें ठीक पता नहीं, पर उन्हें भी हम प्रान्तीय सम्मेलन नहीं मान सकते। कलकत्ता में कोई बंगाल-हिन्दी-प्रचार-मण्डल आज भी है और उड़ीसा की राष्ट्रभाषा-प्रचार-सभा का तेरहवाँ अधिवेशन अभी हाल में ही श्रीव्रजमोहन बिड़ला के सभापतित्व में कटक में हुआ था। किन्तु यह तो दक्षिण-भारत की हिन्दी-प्रचार-सभा (मद्रास) के ढंग की संस्था है, प्रान्तीय सम्मेलन नहीं। बंबई में भी हिन्दी-विद्यापीठ है, सम्मेलन की हमें खबर नहीं। सिन्धप्रान्तीय सम्मेलन ने

तो इस बार कराची में अखिल भारतीय सम्मेलन को निमंत्रित करके अपनी प्रगति बतला ही दी है। दक्षिण-हैदराबाद में तो निजाम-सरकार की भलमनसी से हिन्दी पनपने ही नहीं पाती। मैसूर, ट्रावंकोर, कश्मीर आदि हिन्दू-राज्य भी उदासीन ही दीख पड़ते हैं, नहीं तो वहां के हिन्दी-प्रेमियों का साहित्यानुराग अबतक सम्मेलन के रूप में परिणत हो हो गया होता। हिन्दी की अनुदिन उन्नति देखते हुए यह आशा करना असंगत नहीं है कि अनतिदूर भविष्य में भारत का कोई खंड प्रांतीय सम्मेलन से वंचित रह न सकेगा।

हमारे दैनिक और साप्ताहिक पत्र

जैसा हम लिख चुके हैं, हिन्दी के अधिकांश दैनिकों और साप्ताहिकों के सम्पादन तथा मुद्रण पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। हम राष्ट्रभाषा के गौरव का ध्यान छोड़कर आर्थिक लाभ पर ही दृष्टि रखते हैं। जनता के पैसे का कोई महत्त्व नहीं, हमारा काम चालू रहना चाहिए। विज्ञापनों में न भाषा-भाव का खयाल, न लोक-रुचि का, खयाल सिर्फ टके का रहता है। सम्पादन-सम्बन्धी त्रुटियों के लिए कई बने-बनाये बहाने हैं—समय की कमी, अनुवाद की कठिनाई, सुयोग्य सहकारियों की दुर्लभता इत्यादि। छपाई की अशुद्धियों के लिए भी सुन्दर टाइप और अच्छे प्रूफ-रीडर का अभाव, नागराक्षरों की क्लिष्टता और असामयिकता, प्रकाशन की शीघ्रता इत्यादि! यह भी शिकायत कि खपत कम है। पहले काफी खपत हो ले, काफी पैसे आने लग जायँ, तब सुन्दर और शुद्ध छपाई की व्यवस्था की जाय! अच्छी चीज देकर काफी पैसे लेने की शर्त्त नहीं, काफी पैसे लेने के बाद अच्छी चीज देने की शर्त्त है! ये बातें राष्ट्रभाषा के हित में बहुत बड़ी बाधा है। हमारे बिहार में दो ही दैनिक हैं। किन्तु दुःख है कि दोनों के सुयोग्य सम्पादकों का सारा परिश्रम बस मशीन ही चाट जाती है। पता नहीं कि इनके संचालकों का मन क्यों मुर्दा हो गया है, जिसमें न राष्ट्रभाषा के गौरव की अनुभूति हो पाती है और न प्रान्त की अप्रतिष्ठा की ग्लानि। बाहर के दैनिक बिहार के दैनिकों से अच्छे हैं, पर उनमें भी सब ऐसे नहीं हैं कि हम उन्हें भारत की अन्य उन्नत भाषाओं के दैनिक के सामने निस्संकोच रख सकें। काशी के 'आज', संसार', और 'सन्मार्ग', कलकत्ता के 'विश्वमित्र', और 'विश्वबन्धु', दिल्ली के 'हिन्दुस्तान' और 'अर्जुन', 'भारत' (प्रयाग) और 'हिन्दी-मिलाप' (लाहौर) प्रसिद्ध और सुन्दर दैनिक हैं। किन्तु आरम्भ के तीन और अंत के दो विशेष आकर्षक हैं तथा बीच के चार अपनी नियमित गति से चल रहे हैं। ये पाँच स्पर्धावान् हैं और चार केवल कर्त्तव्यपरायण। इन चारों में भी 'विश्वबन्धु' और 'अर्जुन' अधिक सजग हैं। 'प्रताप' (कानपुर) और 'जागृति' (कलकत्ता) उपर्युक्त दैनिकों के आगे नहीं टिक पाते, ये दोनों ही शिथिलप्राय हैं। यदि हम केवल सम्पादन कला और मुद्रण-कला की दृष्टि से ही चुनाव करें और नई-नई उद्भावनाओं की शक्ति भी परखें, तो काशी और प्रयाग को ही श्रेय मिलकर रहेगा।

साप्ताहिकों में तो नाम गिनानेवाले ही बहुत हैं, काम दिखानेवाले कम। उनमें से कुछ को सिर्फ बाहरी तड़क-भड़क का शौक है, भीतरी सफाई का नहीं। काशी के 'आज'

और 'संसार' को दोनों का शौक है। वे ध्यान देने योग्य सभी बातों पर निगाह रखते हैं। वहीं के 'सिद्धान्त' की गंभीरता सराहने योग्य है। वह तो अहमदाबाद के 'हरिजन-सेवक' की तरह जितनी ही सादगी, उतनी ही पवित्रता से पाठकों को आध्यात्मिक आहार पहुँचाता है। किन्तु वह 'हरिजन-सेवक' की तरह जनता-पत्र नहीं है, धार्मिक साहित्य के विद्वान् रसिकों का पत्र है। जनता के ज्ञानकोष में सुवस्तु-संचय का अनुराग प्रयाग के 'भारत' में अधिक है। प्रति सप्ताह उसके 'साहित्य-विभाग' के चार पृष्ठ बड़े अनमोल होते हैं। वह उपयोगी और आकर्षक विषयों के चुनाव के साथ-साथ छपाई की शुद्धता और स्वच्छता पर भी बराबर ध्यान रखता है। उसकी सादगी में खूबसूरती है। उसकी 'देहाती दुनिया' की सैर करने से असली भारत की झाँकी मिलती रहती है। प्रयाग का सचित्र 'देशदूत' भी अपने को 'हिन्दी-भाषाभाषी भारतीय जनता का पत्र' कहता है और अपने इस कथन की सचाई साबित करने में गफलत नहीं करता। उसकी छपाई-सफाई भी अच्छी होती है। इधर उसका एक भोजन-अंक बहुत अच्छा निकला है। आगरा के 'सैनिक' का खाद्य-विशेषांक और भी अच्छा है। इस सचित्र 'सैनिक' का सम्पादन और मुद्रण पहले बड़ी लगन और सावधानी से होता था। इसके और 'अर्जुन' के सम्पादकीय लेख बड़े जोशीले होते हैं। खण्डवा के 'कर्मवीर' के सम्पादकीय लेखों में व्यंग्य और ध्वनि की व्यंजना, नई सूझ और नस की पकड़, अच्छी होती है। वह राष्ट्र के स्वाभिमान को ठेस पहुँचानेवाली बातों पर बड़ी मार्मिकता से अपना मत व्यक्त करता है। उसकी सामग्री-संकलन-शैली भी औरों से कुछ निराली है। वह टीमटाम के फेर में नहीं पड़ता। उसे राजनीति और साहित्य के रुख की पहचान है। प्रयाग का सचित्र 'अभ्युदय' अपने अग्रगामी दल का झंडा ऊँचा किये और शंख फूँकते रहने में निरंतर व्यस्त रहता है। उसका एक सुसम्पादित अँगरेजी-संस्करण भी निकलने लगा है। वह 'राजनीतिक भिक्षावृत्ति' पसन्द नहीं करता, अपने स्वतंत्र विचारों के स्पष्टीकरण में वह बहुत निर्भीक है। उसमें सनसनी पैदा करनेवाले लेख प्रायः मिलते हैं। कभी-कभी वह राजनीतिक संसार के गुप्त रहस्यों का उद्घाटन करके चकित-स्तंभित कर देता है। उसका डेढ़ सौ पृष्ठों का 'पाँचवाँ सुभाष-अंक' अनेक अलभ्य चित्रों से अलंकृत और 'नेताजी' के विविध वृत्तान्तों से भरपूर है। लेकिन इस तूफानी धूम-धड़ाके में उसका ध्यान सम्पादन-कौशल की ओर से खिसक-सा रहा है। लोक-रुचि पर उसकी धुन का बोझ न पड़ना चाहिए। काँगरेस-समाजवादी विचारधारा का प्रतिपादक 'हिन्दी-केसरी' अपने दल की सेवा में तल्लीन रहते हुए भी सम्पादन-सम्बन्धी परिश्रम से उदासीन नहीं है। वह गत पहली मई से इस नये रूप में निकलने लगा है। यों तो वह काशी का तीस वर्ष का पुराना पत्र है। उसके प्रधान सम्पादक हैं 'हिमालय'-पाठकों के परिचित श्री वी० पी० सिनहा और सम्पादक हैं श्रीशिवमूर्ति मिश्र 'शिव' और श्रीईश्वरचन्द्र सिंह। अबतक के उसके कुछ ही अंक नई चेतना नई प्रेरणा और नई स्फूर्ति का मर्मस्पर्शी सन्देश लेकर आये हैं। वह केवल ज्ञान नहीं बढ़ाता, हृदय की वेदना भी बढ़ाता है। उसका काम दिल बहलाना नहीं, दिल के सोये दर्द को जगाना है। आशा है

कि युग की पुकार को वह जनता तक पहुँचा सकेगा। कानपुर के, 'प्रताप' ने किसी दिन जनता तक युग-सन्देश पहुँचाया था; पर आज वह पूर्ववत् अपने ध्येय का धीर धुनी न रहा। उसका उज्ज्वल अतीत उसके वर्त्तमान का शव कबतक ढो सकेगा। उसकी छपाई कलम की कमाई खा जाती है। यही हाल खण्डवा (मध्यप्रदेश) के 'स्वराज्य' का है। वह श्रीकाका कालेलकर के लिपि-सुधार का समर्थक है। यह सुधार बहुत महँगा पड़ रहा है। अनभ्यस्त पाठकों को पग-पग पर हलवे में कंकड़ मिलते हैं। सच पूछिए, तो जबलपुर का 'शुभचिन्तक' इधर काफी उत्साह दिखा रहा है। दुरंगी छपाई और सजावट के साथ ही वह पाठ्य-सामग्री पर भी ध्यान रखता है। कानपुर का 'रामराज्य' भी ऐसा ही करता है। यदि ये दोनों थोड़ा और सावधान हो जायँ, तो इनकी सेवा से पाठकों को बड़ा संतोष होगा। नागपुर के 'लोकमत' से भी यही कहना है। वह पाठ्य-विषय की तरह छपाई पर ध्यान नहीं देता। किसी भी पत्र के लिए ये दोनों बातें जरूरी है, नहीं तो सब गुड़ गोबर हो जाता है। 'लोकमत' के संचालक पंडित रामशंकरजी त्रिपाठी दिल्ली से 'लोकमान्य' और बंबई से 'छाया' निकालते हैं। इन दोनों की छपाई में भी वैसी ही लापरवाही है। दुरंगे भड़कीले आवरण और चित्र-बाहुल्य से बाजार पर कब्जा किया जा सकता है, पर साहित्य-जगत् पर सिक्का नहीं जमाया जा सकता। बिना अमनिया किया हुआ सीधा रसोई का स्वाद तो बिगड़ता ही है। रोग का कारण भी बन जाता है। त्रिपाठीजी बड़े समर्थ पत्रकार हैं। क्यों न उनसे सुसम्पादित पत्र पाने की आशा की जाय? आशा तो विश्वमित्र-संचालक से भी की जाय, तो अनुचित न होगा। उनका 'विश्वमित्र' इस युग में भी अपनी पुरानी लीक पर पुरानी ही गति से जा रहा है। यदि उसका पड़ोसी 'आदर्श' कहीं होड़ बदकर उसके सामने अड़ा न होता, तो शायद उसके जीवन का छकड़ा जहाँ-का-तहाँ पड़ा रहता। बँगला के सुन्दर साप्ताहिकों के अखाड़े में सामर्थ्यशाली 'विश्वमित्र' को काँख-तले लँगोट दबाये चुप खड़ा देखकर भला कौन हिन्दीप्रेमी उसे ललकारे बिना मानेगा? हिम्मत सराहिए 'आदर्श' की, जो अकेला हो धार पर डटा हुआ है। उसकी शान की बलिहारी! हवड़ा की 'जागृति' बेचारी तो उसे दम-दिलासा देने में भी असमर्थ है। यह बेचारी खुद ही सुषुप्ति की दशा झेल रही है, इसलिए इसे न भाषा-भाव की खबर है, न शुद्ध छपाई की। इसके छोटे-बड़े शीर्षकों में अक्षर अंग-भंगी में शिवजी के गणों को भी चुनौती देते हैं! हमारे हिन्दी-पाठक धन्य हैं, जो हिन्दी के हित के लिए मक्खी तक निगल जाते हैं! और हमारे ये देवता तो प्रणम्य ही हैं, जो अशुद्ध भाषा और अशुद्ध छपाई के बल पर हिन्दी का झंडा ऊँचा रखने का दुस्साहस करते हैं। खेद है कि पत्र-जगत् में छपाई की शुद्धता-स्वच्छता का मूल्य या महत्त्व ठीक-ठीक नहीं समझा जाता। उदयपुर के 'नवजीवन' का प्रताप-अंक उदाहरणार्थ देखिए। उसकी भ्रष्ट छपाई कसाई की तरह रुचिर रचनाओं की गर्दन रेत रही है। हमारे बिहार में तो पटना के 'योगी' और 'हुंकार' तथा गया की 'उषा' और मुजफ्फपुर के 'तिरहुत-समाचार' को ही कुछ होश सँभालकर निकलने का शऊर है, 'नवशक्ति' तो बेहोशी में ही निकल पड़ती है। कभी तो उसके मोटे टाइप के शीर्षक

भी प्रदर्शनी में रखने योग्य मिल जाते हैं। राष्ट्रीयता के नशे में जैसे 'राष्ट्रवाणी' बनारसी नाक-कटैया के स्वांगों को मात करती है, वैसे ही 'नवशक्ति भी अपनी साधन-सम्पन्नता का नाहक उपहास कराती है। उसके सम्पादकीय और अन्य लेख तो बड़े काम के होते हैं, मगर उसकी सुरसा मशीन तो बड़ी खबक्कड़ है, वह सम्पादक के कीर्त्ति-मारुति को खड़ा ही लील जाती है। यद्यपि नीति की दृष्टि से 'योगी' उग्र और अग्रसर है, तथापि छपाई के खयाल से 'हुंकार' का लोहा उसे मानना चाहिए। वह मसाला बढ़िया जुटाता है, मगर चखाता है उतावले हाथों से। 'उषा' के सम्पादकीय लेख अपने नये तरुण सम्पादक की तरुणाई का तकाजा पेश करते हैं। 'तिरहुत-समाचार' में आगे बढ़ने का हौसला बड़ा जबरदस्त है, इसलिए उसे इसके नुस्खे का अनुपान ठीक जानना चाहिए। मुँगेर का 'प्रभाकर' अगर अनाड़ी प्रूफरीडरों का शिकार न होता, तो उसकी प्रभा पर बादलों की छाया न पड़ती, बल्कि वह दूर-दूर तक फैल जाती। देशी राज्य के साप्ताहिकों में ग्वालियर का 'जयाजी प्रताप' ही सुन्दर और उपयोगी है। वहाँ का 'जीवन' प्रजा के अधिकार-क्षेत्र का बहादुर सूरमा है। जयपुर की 'लोकवाणी' को देशी राज्य का सर्वप्रथम दैनिक होने का यश और गौरव प्राप्त हो गया, वह प्रजा के मर्दित हितों पर अमृत-वृष्टि के समान है।

कुछ त्रैमासिक और द्वैमासिक पत्र

इस समय हमारे सामने तीन त्रैमासिक और दो द्वैमासिक हैं। त्रैमासिक हैं—'राजस्थान-भारती', 'लोकवार्त्ता', और 'पारिजात'। द्वैमासिक—'नया साहित्य' और 'निर्माण'। 'भारती' का पहला अंक गत अप्रैल (१९४६) में निकला है। वह बीकानेर के 'सादूल राजस्थानी रिसर्च इंस्टिट्यूट' की मुखपत्रिका है। तीन विद्वान् उसके सम्पादक हैं—श्रीदशरथ शर्मा, एम्० ए०, डि० लिट्, श्रीअगरचन्द नाहटा, श्रीनरोत्तमदास स्वामी एम्० ए०, विद्यामहोदधि। वार्षिक मूल्य ८) और एक अंक का २।।) है। सार्वजनिक संस्थाओं, महिलाओं, अध्यापकों तथा विद्यार्थियों के लिए रियायती वार्षिक मूल्य ५) होगा। पृष्ठ-संख्या १३०। बहुत अच्छे कागज पर बड़ी सादगी, सफाई और सुन्दरता से छपी है। बीकानेर-नरेश, दोनों राजकुमार और राज्य के दीवान के चित्र भी हैं। एक चित्र बीकानेर-म्यूजियम की जैनसरस्वती की प्राचीन मूर्त्ति का है। जिस संस्था की यह पत्रिका है, वह बीकानेर-नरेश महाराज श्रीसादूलसिंहजी बहादुर के संरक्षण में गत वर्ष मार्गशीर्ष मास में स्थापित हुई थी। इनमें विशेषतया राजस्थान के साहित्य, इतिहास, पुरातत्त्व, लोकजीवन, कला एवं संस्कृति से सम्बन्ध रखनेवाले खोज-भरे निबन्ध प्रकाशित होंगे और नवनिर्मित आधुनिक राजस्थानी-साहित्य के लिए भी कुछ पृष्ठ रखे जायँगे। इसमें लेखों के पाँच विभाग हैं—निबंधमाला-हिन्दी-विभाग, राजस्थानी-लोक-साहित्य, प्राचीन राजस्थानी-साहित्य, आधुनिक राजस्थानी-साहित्य, निबंधमाला-अँगरेजी-विभाग। अंत के पचीस पृष्ठों में संस्था का प्रथम वार्षिक

कार्य-विवरण है। पहले विभाग में आठ लेख हैं—पृथ्वीराज-रासो, जीन माता का गीत, राजस्थानी-साहित्य, कविवर जान और उसके ग्रंथ, चरलू के शिलालेख, बीकानेर का एक आदर्श संग्रहालय, राजस्थान की वर्षा-संबंधी कहावतें, राजस्थानी मुहावरे। दूसरे विभाग में कहावतें और वर्षा-ऋतु के गीत हैं। तीसरे में राजस्थानी चारणी-गीत हैं। चौथे में वर्त्तमान छह राजस्थानी कवियों की रचनाएँ हैं। पाँचवें में 'मूल-पृथ्वीराजरासो—एक अपभ्रंश काव्य-ग्रन्थ' पर अँगरेजी-निबंध है। आँख से संबंध रखनेवाले १३८ मुहावरे जो छपे हैं, उनका संक्षिप्त भावार्थ भी दिया गया होता, तो अन्य प्रान्तों के लोग भी राजस्थानी मुहावरों की बारीकी और खूबी सुगमता से समझ जाते। कहावतों में भी कहीं-कहीं टिप्पणियों की जरूरत है। विद्वान् सम्पादकों से नम्र निवेदन है कि वे इसपर ध्यान देने की कृपा करें। वर्षा-ऋतु के गीतों और चारणी-गीतों के भावार्थ दिये गये हैं, इससे गीतों का रसास्वादन करने में आनन्द आता है। आधुनिक रचनाओं के साथ संक्षिप्त वक्तव्य और टिप्पणियाँ भी हैं। ऐसी सर्वाङ्गसुन्दर पत्रिका के लिए बीकानेर-दरबार के हिन्दी-प्रेम और साहित्यानुराग की जितनी भी प्रशंसा की जाय, थोड़ी होगी। राजस्थानी-साहित्य का उद्धार तो इससे होगा ही, हिन्दी-साहित्य का भी बहुत उपकार होगा। ऐसी ही पत्रिका प्रत्येक प्रांत से निकलनी चाहिए। टीकमगढ़ (मध्यभारत की लोकवार्त्ता-परिषद् की मुखपत्रिका 'लोकवार्त्ता' भी लगभग ऐसी ही पत्रिका है। वह हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्य-सेवी श्रीकृष्णनंद गुप्त के सम्पादकत्व में निकलती है। उसका वार्षिक मूल्य ६) और एक प्रति का १।।) है। इसके दूसरे वर्ष के दूसरे अंक (अप्रैल १९४६ ई०) में दस लेख हैं—भारत की वन्य जातियाँ, कुछ जनपदीय शब्दों की पहचान (डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल) गुजरात का लोक-साहित्य, देवी-देवताओं की बैठक, कुचबँदियों में अग्नि-परीक्षा की प्रथा, धान की खेती की शब्दावली, दो बुन्देलखण्डी गप्पें, एक बहुप्रचलित प्राचीन खेल (सम्पादक), बुन्देलखण्ड के लोक-विश्वास। अंत में चिट्ठी-पत्री, सूचनाएँ और जिज्ञासाएँ हैं। पहला लेख 'दी एबोरीजिनल्स' नामक प्रसिद्ध अँगरेजी-पुस्तिका के आधार पर लिखा गया है, जो आगामी अंक में पूरा होगा। अन्य सभी लेख मौलिक हैं। लेख-सूची में दो लेखों का उल्लेख नहीं किया गया है—सुनारों की सांकेतिक भाषा (श्रीगणेश चौबे, चम्पारन-निवासी), गोंड और गोंडवाना (श्रीकुँवर कन्हैयाजू)। दूसरा लेख, डॉक्टर अग्रवाल का सबसे बढ़कर मौलिक है। उसमें दस ग्रामीण शब्दों के प्राचीन एवं अर्वाचीन अर्थों और प्रयोगों का विश्लेषणात्मक अनुसन्धान किया गया है, जिससे लेखक की बहुज्ञता, बहुश्रुतता, और स्वाध्यायपरायणता प्रकट होती है। सम्पादकजी का खेल-सम्बन्धी लेख भी बहुत-कुछ वैसा ही है। 'गुजराती-लोक-साहित्य' पढ़कर चित्त भक्ति-गद्गद और शरीर पुलकित हो उठा। 'धान की खेती की शब्दावली' की अपनी खास मौलिकता और विशेषता है। 'सुनारों की भाषा' के लेखक की सूझ, खोज की लगन और श्रमशीलता सर्वथा श्लाघ्य है। दलालों, चोरों, कहारों आदि की भाषा पर भी चौबेजी को श्रम करना चाहिए। बिहार में भी एक ऐसी ही पत्रिका की जरूरत है, जो मैथिली,

मगही, भोजपुरी, सन्ताली आदि भाषाओं के साहित्य की छानबीन करती रहे। ग्रन्थमाला कार्यालय (बाँकीपुर, पटना) के 'पारिजात' का दूसरा अंक सरकारी प्रतिबन्ध के कारण पाँच महीने पर निकला है। अब वह जुलाई से मासिक-पत्र के रूप में निकलने जा रहा है। उसके नये सम्पादक होंगे हिन्दी के यशस्वी समालोचक प्रोफेसर नन्ददुलारे वाजपेयी (हिन्दू-विश्वविद्यालय)। प्रस्तुत अंक के सम्पादक प्रोफेसर रामखेलावन पाण्डेय ने लेखों का संग्रह अच्छा किया है—-हिन्दी-कविता और छन्द (श्रीदिनकर); कलाकार और समाज; वक्रोक्तिवाद (पं० रामदहिन मिश्र) ; विडम्बना (रेखाचित्र); भारतीय संस्कृति की देन (पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी) पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा (संस्मरण) आदि पठनीय और मननीय लेख हैं। चार कविताएँ भी हैं—गीत (निराला), बारहमासी (राकेश), मैं (श्रीनिरंकारदेव 'सेवक'), स्वप्न (श्रीहरेन्द्रदेव नारायण), दुर्भाग्यवश 'गीत' तो हम समझ ही न सके। 'बारहमासी' में अलबत आनन्द आया। 'मैं' पर इस युग की प्रगति-शीलता की छाप है। 'स्वप्न का भाव बहुत सुन्दर है, जो मन पर गहरी छाप छोड़ जाता है। वक्रोक्तिवाद', और 'विडम्बना' तथा दिनकरजी और द्विवेदीजी के लेख हमें सबसे अधिक पसन्द आये; क्योंकि उन्हें आद्यन्त पढ़ने में मन रमा रहा। 'बिहार में देशी भाषाओं की शिक्षा' और 'बँगला-साहित्य' तथा 'आधुनिक अँगरेजी-नाटक' की ज्ञानवृद्धि के लिए पढ़ जाना पड़ा और इनसे सचमुच जानकारी बढ़ी भी, मगर धैर्य की भी अग्नि-परीक्षा हो गई। श्रीतारकेश्वरप्रसादजी के एकांकी ('शीर्षकहीन नाटिका') में ये पंक्तियाँ समयानुकूल जँची—"आज कल की सृष्टि भी कला की हत्या हो रही है। वेदना-शून्य और अनुभूति-शून्य कला हमारे पतन की निशानी है। आज हमारी जनता आज की कला से प्रभावित नहीं है—इसलिए नहीं कि कला से उसे प्रेम नहीं है और इसलिए नहीं कि कला के उदात्त और प्रेरणात्मक गुणों से वह अपरिचित है, बल्कि इसलिए कि कला उसके दनिक जीवन में प्रवेश नहीं पा सकी है। क्यों प्रवेश नहीं पा सकी है, इसका कारण पूँजीपतियों का संरक्षण और भावुक कलाकारों की अस्वस्थता है। यह निश्चित है कि आज की भयंकर कुरूपता में कला नहीं पनप सकती—आज के बीभत्स रूपों और परिस्थितियों में कला एक रोग है। इसकी अस्वस्थता यक्ष्मा-पीड़ितों के चेहरे पर छाई अस्वाभाविक लाली की तरह है।" इन्हीं पंक्तियों का वक्ता पात्र 'बलराम' एक जगह कहता है—"शुतुरमुर्ग और स्त्रियों में इतना ही अंतर है कि शुतुरमुर्ग दुनिया से अपने को छिपाने के लिए अपना सिर बालू के अन्दर कर लेता है और स्त्रियाँ दुनिया को यथार्थ रूप में नहीं देखने के लिए अपनी आँखें बंद कर लेती हैं।" बलराम की एक यह उक्ति तो इस युग की ललाट-लिपि-सी जान पड़ी। "विवाह ! छुश ! विवाह क्यों ? आनन्द बन्धनहीन होना चाहिए।" हाँ, 'नया साहित्य' और 'निर्माण' का परिचय हम पिछली बार दे चुके हैं।[१] पहले में छपी तीन कविताएँ अच्छी लगीं—'आज बनो तुम फिर नव मानव' (पन्तजी), यज्ञ-प्रतिमा

१. देखिए अंक ३ की टिप्पणी-सं० ८।

(डॉ० रामविलास शर्मा), भूखा (बच्चनजी)। 'नये युग का गीत' भावपूर्ण तो है, मगर 'हर चरणों की है चाप नई' इस एक ही पंक्ति ने बार-बार मन को पेरकर मजा किर-किरा कर दिया। उसमें 'मानवी स्वर्ग, भी अशुद्ध प्रयोग है। श्रीभगवतीचरण वर्मा की कविता 'मनुष्य के प्रति' बड़ी ओजमयी है। उनमें भी 'सशक्त' शब्द का प्रयोग खटकनेवाला है। श्रीनरेन्द्र शर्मा की तीन कविताओं में 'हिन्दू-मुसलमान' एक ऐसी चीज है, जिसकी लाखों प्रतियाँ छपवाकर जनता में बँटवाने की जरूरत है। शुरू का पहला लेख 'मेरी दैनिकी का एक पृष्ठ' (श्रीगुलाबरायजी) भाषा-भाव की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर है। उसकी व्यंजनाएँ ध्वनिपूर्ण हैं। उसमें 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति' का अशुद्ध रूप छपा है—क्षणो क्षणो मंत्रवलामुदैति !' इस पत्र के प्रथम भाग में भी डॉक्टर रामविलास शर्मा के विद्वत्तापूर्ण लेख 'आदि काव्य' में कई श्लोकों के चरण अशुद्ध छपे थे। प्रस्तुत अंक का दूसरा लेख (पन्त का 'मानव') आलोचक की दुर्बोध अभिव्यक्तियों के कारण जमा नहीं है, बिखरा-सा जान पड़ता है। उसकी अस्पष्टता ने सरसता को ग्रस लिया है। पन्तजी उसमें साम्यवादी (कम्युनिस्ट) सिद्ध किये गये हैं। किन्तु, कवि तो मानवता का अग्रदूत है, किसी दल या मत का अनुयायी नहीं। यदि कोई कवि केवल काँगरेसी या लीगी है, तो बस चन्द रोज का मेहमान है। पन्तजी तो युगान्तव्यापी यश के धनी हैं। लेख की अंतिम पंक्ति विचारणीय है —"पन्तजी का सौन्दर्य-दर्शन लोक-प्राण है और इसी कारण उसमें आनन्दोन्मुख और आशावाद है।" यह 'आनन्दोन्मुख' चस्पाँ नहीं होता। श्रीअश्कजी का प्रहसन 'पक्का गाना' कुरुचि का उत्तेजक है। उसके अश्लील गीत शिष्ट समाज के योग्य नहीं। सज्जाद जहीर साहब का लेख (हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी) बड़ी खोज और मेहनत से लिखा गया है। उसमें एक दो बातें भ्रमात्मक हैं। जैसे—"बीसवीं सदी के आरम्भ में नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) की स्थापना हुई" (पृष्ठ ४४)। नहीं, उन्नीसवीं सदी के अंत में, सन् १८९३ ई० में। फिर, "हिन्दी-उर्दू-झगड़े का आरम्भ लगभग १९०० से होता है" (पृष्ठ ४५)। हिन्दी-साहित्य का इतिहास साक्षी है, उन्नीसवीं सदी के मध्योत्तर काल में यह झगड़ा शुरू हो चुका था। विद्वान् लेखक ने अंत में इस समस्या का हल यह बतलाया है—"भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी और उर्दू दोनों हों। जिसका जो जी चाहे, सो भाषा सीखे।" अगर यह 'हल' भारत-भूमि पर चल सका, तो एक अंगुल धरती भी परती न रहेगी। श्रीकेदारनाथ अग्रवाल की 'तीन कविताएँ' वास्तव में भाषा-भाव की दृष्टि से कविताएँ नहीं हैं; सरल तुकबन्दियाँ हैं। उनमें सामयिकता है, कवित्व नहीं। सीधी-सादी भाषा में सामयिक बातें कहकर भी कवि चमत्कार पैदा कर सकता है। तिरपनवें पृष्ठ पर बच्चनजी का 'भूखा' इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। पाठकों को स्मरण होगा, हम पिछली बार कह चुके हैं कि कश्मीरी-भाषा और साहित्य पर श्रीशिवदान सिंहजी चौहान का लेख इस अंक की सबसे सुन्दर चीज है। 'निर्माण' का भी परिचय हम पिछली बार दे चुके हैं। उसके प्रस्तुत अंक के आरंभ में ही सम्पादकजी कहते हैं—"बीज से महावट बनकर जो आज किरणें रोक रहा है, जिसकी रूढ़ियाँ जटाओं के समान लोटकर पृथ्वी को ग्रस लेना चाहतीं हैं, जिसकी

शाखाओं में पंछी विडंबित है; क्योंकि भीतर पलनेवाली नागिनी डस रही है, खा रही है, आज हमारा नया यौवन इस जर्जर पाप-लिप्त बुढ़ापे की जड़ों को खोद डालना चाहता है; क्योंकि सद्यजात प्रसून ही वास्तव में प्रत्येक युग का सशक्त (?) वरदान है।" हमारे मत से, यौवन का आवेश अवश्य ही अभिनन्दनीय है, पर उसके साथ संयम का सहयोग भी वांछनीय है। निर्माण के लिए सिर्फ जोश की ही जरूरत नहीं है, होश की भी है। किसी महानगर का 'इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट' अगर निर्माण-कार्य की सुविधा के लिए 'एटम बम' से काम लेने लगे, तो उसके निर्माण से जन-कल्याण नहीं हो सकता। हम न प्राचीनता के अन्ध-भक्त हैं न नवीनता के। हमारी धारणा है कि बुढ़ापे की अनुभूतियाँ और जवानी की उमंगें दूध-मिसरी होकर ही स्थायी निर्माण कर सकती हैं। जो कुछ प्राचीन है, सब त्याज्य है और जो कुछ नवीन है, सब ग्राह्य है, इस नीति से तो निर्माण का दीप-निर्वाण हो जायगा। साहित्य के नवनिर्माण का दायित्व अत्यंत गंभीर है। पहले तो 'निर्माण' की सतह दुरुस्त होनी चाहिए, तब अच्छी इमारतें खड़ी हो सकेंगी। भाषा और छपाई की शुद्धता पर यथोचित ध्यान न देने से ठोस निर्माण-कार्य न हो सकेगा। आरम्भ का लेख 'साहित्य की नई दिशा' नवयुग की उद्दीप्त चेतना का प्रतीक है। उसके क्रांतिकारी भावों की झलक उसकी इन अंतिम पंक्तियों में देखिए—"हिन्दी का युवा कवि सामाजिक अन्याय और कुरूपता को नवयुग की गंगा में बहाकर साफ कर देना चाहता है। अपने क्षोभ में वह सभी कुछ प्राचीन डुबा देना चाहता है।" श्रीविष्णुजी और श्रीअमृतरायजी की कहानियाँ—(क्रमशः) 'खंडित पूजा' और 'झंखड़ बिरवा' अच्छी बन पड़ी हैं। पहली में सरसता की निर्झरिणी राष्ट्रीयता की नदी बनकर देशानुराग-सागर में विलीन हो गई है। कहानी के नाटकीय अवसान का आकस्मिक प्रभाव बड़ा जबरदस्त है। दूसरी में मँजी हुई भाषा, सुहावनी शैली, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, घरेलू जीवन का चित्र, करुणा की फुहार, सब कुछ है। उसकी ये पंक्तियाँ बड़ी अनूठी हैं—"हँसते बच्चे को कभी न छेड़े। बच्चों ही के रूप में तो भगवान रहते हैं। बच्चे ही तो घर की शोभा हैं। उनकी इस धमाचौकड़ी से ही तो जिन्दगी का सूनापन कटता है, घर में सावन रहता है। बच्चे ही तो इस रामजी की बगिया के फूल हैं।" प्रसिद्ध कहानी-लेखक पं० देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' का लेख 'हिन्दी-लेखक और उनका पारिश्रमिक' विशेषतः लेखकों और पत्रकारों के ध्यान देने योग्य है। 'अंतिम विजय' (एकांकी) द्रविड-देश के एक प्राचीन कथानक पर आश्रित और ओजपूर्ण है। कविताओं में कुमारी निर्मला माथुर की 'कामना' बहुत सुकुमार है। 'पयाम' (श्रीकेदारनाथ अग्रवाल) की सिर्फ अन्तिम दो पंक्तियाँ ही अच्छी हैं—"उबाल,जोश, आग, गाज, जिन्दगी का नाम है; महान क्रांति का विधान जिन्दगी का काम है।" नारी-संबंधी तीन कविताओं की कुछ पंक्तियों में भाषा और छपाई की भूलें हैं, कुछ में भाव का भद्दापन। 'आज हिंदुस्तान जागा' की आरंभिक और अंतिम पंक्तियाँ भावोद्दीपक हैं, बाकी सब राष्ट्रीय आल्हा है। अंतिम लेख 'लोकगीत' में कालिदास के शाकुंतल की यह सूक्ति 'अर्थो हि कन्या परकीय एव' अशुद्ध रूप में यों छपी है—'आर्यो हि कन्या परकीव एव'! आरंभ की शीर्षकहीन कविता इस पत्र का लक्ष्य और सन्देश व्यक्त

करती है। आशा है, 'निर्माण' प्रतिभा और परिश्रम का रमणीय संगम-स्थल बनकर साहित्य का मालिन्य-मोचन करेगा।

कुछ प्रमुख मासिक-पत्र

हमारे मासिक-पत्रों में 'विशाल भारत' (कलकत्ता) ही एक है, जो एक-एक अंगुल स्थान का सदुपयोग कर अपने पाठकों को यथेच्छ पाठ्य-सामग्री देता है। उतना ठस मसाला अँटाने की कोशिश कोई पत्र नहीं करता। एक तो छोटे टाइप की साफ-सुथरी छपाई, दूसरे विभक्तियाँ सटी हुईं, तीसरे सादगी की साध; इससे तिल-भर जगह भी बेकार नहीं जाती। इसके सम्पादक श्रीमोहन सिंह सेंगर चुनिन्दा लेखों के चुनाव में बड़े कुशल हैं। अप्रैल के अंक में देखिए—"लंका का भारत से सांस्कृतिक सम्बन्ध और हिन्दी, कश्मीर के लोकगीत, एण्टन चेखव (जीवनी), गीत-काव्य का पारिभाषिक विवेचन, रस-सिद्धान्त और प्रगतिवाद, राष्ट्रभाषा और लिपि (डॉ० उदयनारायण तिवारी), सोवियत रूस के समाचार-पत्र, मौलाना गान्धी (श्रीमन्नारायण अग्रवाल), तमिल का एक काव्य 'तिरुक्कुरल', खौलता खून (श्रीरांगेय राघव)"—कितने आकर्षक लेख हैं! धारावाहिक उपन्यास और कहानियाँ अलग हैं। देहरादून जिले के एक पहाड़ी भूभाग 'जौनसार बावर' का सचित्र परिचय बहुत रोचक है। 'वर्ग-विभक्त समाज' एक गवेषणापूर्ण उत्कृष्ट लेख है। कविताओं में मुखपृष्ठ का 'हिमालय अभियान' ('राकेश') एक सुदीर्घ एवं सुचारु रचना है—तीन पृष्ठों में सजाई हुई, नहीं तो हम उसे अवश्य ही यहाँ उद्धृत करते। इसमें हिमालय की चढ़ाइयों का रोमांचक और हृदयग्राही वर्णन है। श्रीरांगेय राघवजी की कविता 'संधि का पाप, उनके उपर्युक्त लेख के समान ही सजीव, उन्मादक और मर्मस्पर्शी है। इन दोनों में भारतीय युवक-दल के अधीर हृदय का असली चित्र है। दोनों रचनाएँ लेखक की ललकार-भरी जवानी की ज्वालाएँ हैं। मई के अंक के मुखपृष्ठ पर भी राघवजी की एक कविता है— 'परदेशी का राज न हो' और इसमें भी उनके हृदय की प्रलयाग्नि धधकती नजर आती है। श्री 'राकेश' जी और श्रीकमलाकान्त पाठक की कविताएँ (रणशृंगी और नववसंत) भी मुखपृष्ठ पर ही हैं। इनमें भी वही जुझाऊ राग, वही जलती आग है। अन्त में भी दो सुन्दर कविताएँ हैं—'एलोरा' (डॉ० बलदेव-प्रसाद मिश्र) और 'नये मानव का उदय हो' (श्रीदेवराज)। शुरू का पहला लेख 'शृंगाररस' अपने विद्वान् लेखक (प्रो० नगेन्द्र) की स्वाध्याय-साधना और चिन्तनशीलता का साक्ष्य दे रहा है। उसमें शृंगार-रस का मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक, वैज्ञानिक और साहित्यिक विवेचन बड़ी सूक्ष्मदर्शिता से किया गया है। अन्त में कहा गया है—"पहले प्रकृत भावनाओं का संयम, दमन और गोपन ही उनका परिष्कार समझा जाता था; परन्तु आज इस प्रकार का दमन और गोपन अनावश्यक ही नहीं, अहितकर भी माना जाता है। क्षुधा और काम जीवन की मुख्यतम प्रवृत्तियाँ हैं, उनकी स्वस्थ अभिव्यक्ति जीवन के स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य है; उनका दमन, गोपन अस्वाभाविक है और उनको अतीन्द्रिय

रूप देना मन को छलना है। प्रगतिवाद का तत्त्वतः शृंगार के प्रति यही दृष्टिकोण है। परंतु अभी उसकी उपयुक्त अभिव्यक्ति के लिए उचित सामाजिक वातावरण तैयार नहीं है। भावना के स्वास्थ्य का वह युग अभी आने को है।" इसके आगे—गायनाचार्य विष्णु दिगंबर (प्रामाणिक जीवनी), आधुनिक तेलुगु-कहानी-साहित्य, कला और प्रचार, जायसी का युद्ध-वर्णन, टामस हार्डी (आलोचनात्मक परिचय) आदि पठनीय लेख हैं। 'तस्वीर का दूसरा पहलू' नामक अपने हिन्दी-हिन्दुस्तानी-विषयक लेख में श्रीकौसल्लायनजी ने बड़े मार्के की एक बात लिखी है—"श्रीमन्नारायणजी के लेख से हमें यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि बापू आजकल जहाँतक सम्भव हो, हिन्दुस्तानी में ही लिखते हैं। अँगरेजी 'हरिजन' में उनका अनुवाद छपता है। और वह मूल हिन्दुस्तानी लेख? निश्चयात्मक रूप से उन्हें 'हरिजन-सेवक' में छपना चाहिए और छपते ही होंगे। लेकिन 'हरिजन-सेवक' में प्रकाशित लेखों के साथ 'हरिजन' (अँगरेजी) से उद्धृत ही लिखा रहता है। पाठक पर संस्कार पड़ता है कि बापू के मूल लेख अँगरेजी में रहते हैं, हिन्दी 'हरिजन-सेवक' में तो अनुवाद-मात्र छपता है। ऐसा न होकर यदि अँगरेजी 'हरिजन' में 'हरिजन-सेवक से' हिन्दी का नाम रहे, तो हमें विश्वास है कि बापू के लेखों को मूल रूप में पढ़ने के लिए अनेक लोगों को अपना अँगरेजी-प्रेम कम करना ही पड़ेगा।" फिर आगे एक और पते की बात लिखी है—"आचार्य नरेन्द्रदेव हिन्दी-उर्दू दोनों के असाधारण वक्ता हैं। उस दिन बंबई की अखिल भारतीय काँगरेस-कमिटी में आपका भाषण ठेठ उर्दू में था। किसी ने पूछा—"आचार्यजी, बंबई में ऐसी उर्दू बोलने की क्या आवश्यकता थी?" वे बोले—"देखो भाई, मैं जब हिन्दी में बोलता हूँ, हिन्दी में बोलता हूँ। उर्दू में बोलता हूँ, उर्दू में बोलता हूँ। मैं हिन्दुस्तानी में कभी नहीं बोलता।" अब बताइए, उर्दू-हिन्दी के ज्ञान से उर्दू-हिन्दी मिलकर कितनी हिन्दुस्तानी बनी? और मजा यह है कि आचार्यजो हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा के सदस्य हैं।" सचमुच कौसल्यायनजी राष्ट्रभाषा के अनन्य भक्त हैं। हिन्दी-हिन्दुस्तानी-संबंधी उनके सभी लेखों का संग्रह शीघ्र प्रकाशित होना चाहिए। यह काम 'सभा' या 'सम्मेलन' का है। अप्रैल और मई की 'सरस्वती' (प्रयाग) हमारे सामने है। उसमें प्रवासी की आत्मकथा (स्वामी भवानीदयाल संन्यासी), भाषा का विकास, आधुनिक मराठी-उपन्यास की रूप-रेखा, उभयालंकार, 'सप्तसिन्धु, 'मराठी' में एक महाग्रंथ, दक्षिण-भारत हिन्दी-प्रचार सभा किधर? (श्रीरविशंकरशुक्ल), सम्राट् अकबर की जन्मतिथि, विद्यापति के गीत, मराठी-साहित्य के भीष्म पितामह आदि लेख ऐतिहासिक एवं साहित्यिक दृष्टि से पढ़ने योग्य हैं। ३४४ पृष्ठ पर श्रीसीताराम शास्त्री का हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी-संबंधी लेख भी ध्यान देने योग्य है। मई के अंक में सम्पादकीय टिप्पणियाँ आरंभ में ही छपी हैं। पं० देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' का लेख (मध्यपूर्व का विग्रह-केन्द्र) मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक है। 'किसानों का ऋण' और 'प्रज्वलित इंडोनेशिया' सामयिक लेख हैं। सदानन्द की काव्य-पद्धति, प्रसाद का कवि, हम हिन्दीवाले, महाकवि शम्भु, गजराज—एक अज्ञात कवि, 'भिखारी' का गंगादहार आदि साहित्यिक लेख विशेष

महत्त्व के हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण लेख है 'बीसवीं शताब्दी में उर्दू' (मुंशी महेशप्रसाद मौलवी आलिम-फाजिल), जिसमें मुंशीजी ने कुरानशरीफ के अट्ठाईस अनुवाद-ग्रंथों की सूची दी है और बतलाया है कि हिन्दी-उर्दू का झगड़ा ही उर्दू के अधिक प्रचार का कारण है। लिखते हैं—"१९०३ में अंजुमन-तरक्की-उर्दू (दिल्ली) की नींव पड़ी। इसके द्वारा एक सौ से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। 'हमारी जबान' एक पाक्षिक पत्र निकलता है, जो भारी संख्या में छपता है, वार्षिक मूल्य केवल १) है। 'उर्दू' नाम की त्रैमासिक पत्रिका भी अच्छे ढंग पर प्रकाशित होती है। 'साइन्स' नामकी एक उच्च कोटि की मासिक-पत्रिका भी। गत जनवरी से 'मआशियात' नामक एक उच्च कोटि की मासिक पत्रिका के प्रकाशन का प्रबंध हुआ है। अंगरेजी-उर्दू का जैसा अच्छा कोष प्रकाशित हुआ है, वैसा अँगरेजी-हिन्दी का कब कहीं से निकलेगा, नहीं कह सकता।" आगे चलकर उन्होंने ऐसी दस संस्थाओं के नाम दिये हैं, जो निरंतर उर्दू के प्रचार में दत्तचित हैं। एक बात उनकी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, जिस पर हिन्दी के हिमायतियों को शीघ्र ध्यान देना चाहिए—"जो लोग हिन्दी का भार उठाये हुए हैं, उनके ऊपर राजनीतिक या धार्मिक या कोई अन्य भार भी है और अंजुमन-तरक्की-उर्दू के प्राण मौलाना डॉक्टर अब्दुल हक साहब ऐसे हैं, जो अपने ऊपर केवल उर्दू का ही भार रखे हुए हैं। उनको रात-दिन, भीतर-बाहर जो कुछ सोचना या करना है, वह केवल उर्दू के ही लिए है। आप काफी बूढ़े हैं, किन्तु उर्दू के हक में जवान ही हैं। मेरे विचार से उनकी टक्कर का कोई व्यक्ति हिन्दी के लिए काम करनेवाला नहीं है।" इसके बाद मुंशीजी ने बतलाया है कि दक्षिण-हैदराबाद के उस्मानिया-विश्वविद्यालय में उर्दू की उन्नति के लिए जो अनुवाद-विभाग और सम्पादन-विभाग स्थापित हैं, उनसे अबतक तीन सौ से अधिक पुस्तकें निकल चुकी हैं और लगभग इतनी ही तैयार की जा रही हैं तथा १९१७ ई० से अबतक अनुमानतः तीन करोड़ रुपये खर्च हुए हैं। हमारे हिन्दी-प्रेमी देशी रजवाड़े न जाने कब अँखफोड़ होंगे! मुंशीजी को एक बात और भी ध्यान आकृष्ट करनेवाली है—"मेरा अपना खयाल है कि लाहौर से उर्दू के जितने समाचार-पत्र निकलते हैं, उतने किसी अन्य भारतीय भाषा में भारत के किसी अन्य नगर से नहीं निकलते। बंबई से लगभग एक दर्जन उर्दू-दैनिक निकलते हैं, लगभग पचास साप्ताहिक भी। कई उच्च कोटि की मासिक पत्रिकाएँ भी।" हमारे 'सम्मेलन' का ध्यान इस लेख की ओर अवश्य गया होगा। जून के 'हंस' (काशी) का जो पहला लेख (अकालोत्तर बँगला-संस्कृति) है, उसमें लिखी ई आधुनिक बँगला-साहित्य की उन्नति की बात भी ध्यान में रखने योग्य है। उसकी ये पंक्तियाँ स्वयं मुखर हैं—"कागज-नियंत्रण, चोर-बाजारी, महाकाल की क्रूर दृष्टि इन सबके बावजूद पिछले दो-तीन वर्षों के अंदर बँगला-भाषा में जितनी और जितने प्रकार की पुस्तकें प्रकाशित हुईं, उनका सही आँकड़ा निकालकर अगर हिन्दी-साहित्य से तुलना करें, तो हमें शर्म से सिर झुकाना पड़ेगा। दरिद्र, दुर्भिक्ष-ग्रस्त बंगाल का साहित्यिक ऐश्वर्य देखकर दाँतों तले अँगुली दबाये बिना नहीं रहेंगे।.... इस फाकेमस्ती के जमाने में भी सिर्फ रवीन्द्र-साहित्य की बिक्री से साल-भर में तीन लाख रुपये की आमदनी हुई, जब कि

पिछले साल सिर्फ साठ हजार की बिक्री हुई थी ''' बँगला-साहित्य को कहानियों और कविताओं का एक विराट मेला कहा जाय, तो कोई अत्युक्ति न होगी। उत्कृष्ट उपन्यासों की संख्या यद्यपि अँगुली पर गिनी जा सकती है, फिर भी वे हिन्दी-उपन्यासों की तुलना में कहीं अधिक हैं।" ऐसी ही एक बात 'सरस्वती' (अप्रैल) के पूर्वोक्त लेख में भी है—"मराठी का उपन्यास-क्षेत्र अन्य प्रांतीय भाषाओं की तुलना में अधिक समृद्ध मिलता है।" फिर, 'हंस' के उक्त अंक में ही आधुनिक मराठी-साहित्य का परिचय देते हुए प्रसिद्ध हिन्दी-लेखक प्रोफेसर माचवे ने भी 'मराठी कादम्बर्या' से एक उद्धरण दिया है—"कहते हैं कि बंगाली-हिन्दी-कथा-वाङ्मय मराठी से बढ़ा-चढ़ा हुआ है। परन्तु मराठी में अनूदित जो बंगाली या हिन्दी-उपन्यास हैं, मराठी के उपन्यास उनसे किसी प्रकार कम हैं, यह नहीं कहा जा सकता।" इसी लेख की एक विशेष बात उल्लेखनीय है—"विशेषतः इतिहास और कोश में मराठी ने बहुत-कुछ कार्य किया है। पेशवा-दफ्तर के पुराने कागजात खोजकर उन्हें पुनः प्रकाशित और सम्पादित करने का श्रेय महाराष्ट्र को है। महाराष्ट्र-ज्ञानकोश (विश्वकोश), फारसी-मराठी-कोश, व्यायाम-ज्ञान-कोश, मानसशास्त्रीय परिभाषा-कोश, लोकोक्ति कोश आदि उल्लेखनीय हैं।" प्रोफेसर नन्ददुलारे वाजपेयी का लेख (नवीन हिन्दी-कहानी) समीक्षात्मक है और नये कहानी-लेखकों के मनन करने योग्य है। अन्य उपयोगी लेख हैं—नाटक-शालाओं की आवश्यकता (श्रीवृन्दावनलाल वर्मा), 'रंगभूमि' पर एक नई दृष्टि, उपन्यास में ऐतिहासिकता, प्रेमचंद और जैनेन्द्र (प्रो० नलिनविलोचन शर्मा)। श्रीशमशेरसिंह के लेख (मूक नहीं यह पत्थर) की भाषा-शैली और वर्णन-भंगी बहुत अच्छी है। छपाई की शुद्धता और स्वच्छता पर सम्पादकजी को ध्यान देना चाहिए। अनावश्यक रिक्त स्थान छोड़ने से कागज का दुरुपयोग तो होता ही है, पाठकों का हक भी मारा जाता है। कविताओं में श्रीत्रिलोचनजी का 'स्वागत' सर्वोत्तम है। रमई काका के 'कारे घन' भी सरस हैं। बाकी सब दुरूह, निरर्थक और फालतू हैं। हिन्दी-पाठकों पर निरंकुश पत्रकारों के निष्करुण कृपाण का प्रहार इस युग के स्वेच्छाचारों में गिना जायगा। 'माधुरी' (लखनऊ) का गद्यभाग और पद्य-भाग दोनों सुसम्पादित और सार्थक होते हैं। अप्रैल के अंक में लेख-चयन मनोहर है—सन्त कबीर पर आलोचनात्मक दृष्टि, ग्राम्यगीतों में इतिहास, कर्नाटक के दासपन्थी, आधुनिक कविसम्मेलन, सिन्धी-भाषा का संस्कृत से संबंध, एक भूला हुआ प्राचीन भ्रमर-गीत, कृष्णकुमारी (ऐतिहासिक एकांकी), पार्टी-सम्मेलन, प्रकाशक-संघ-संगठन, भारतीय साहित्य में सन्त-साहित्य का वैलक्षण्य, सम्मान-प्राप्ति के उपाय, कविता का स्वरूप (सम्पादकीय)। इस अन्तिम टिप्पणी की ये कुछ पंक्तियाँ समझदारों के काम की हैं—'कविता दो वस्तुओं से बनती है। एक मनोभाव या अनुभूति और दूसरी सुकुमार छन्दोबद्ध भाषा में उसका रूपग्रहण। अनुभूति या भाव उसका आधेय है और छन्दोबद्ध भाषा उसका आधार; अनुभूति या भाव कविता का प्राण है और छन्दोबद्ध भाषा उसका स्वरूप। इनमें जो सम्बन्ध है, वह प्राण और देह के सम्बन्ध की तरह ही अविच्छेद्य है। आदर्श सुन्दर कविता की रचना के लिए इन दोनों की आवश्यकता है। जो कवि इस

नियम को मानकर कविता लिखते हैं, उनकी कविता भाव और भाषा से सर्वांगसुन्दर होती है।" किन्तु इस युग में नियम की पाबन्दी तो निंद्य और पाखंड है! मई के अंक में भी मनोरम लेख हैं—ग्वालियर का तोमर-वंश और उसकी कला, जायसी का विरह-वर्णन, परिहासविजल्पितम् (कवियों का दंगल), युग-प्रवर्त्तक कबीर, कालिदास की एक महत्ता, प्रसादजी की कुछ सूक्तियाँ (स्कंदगुप्त से), कालिदास का दुष्यन्त, छायावादी कवि और उनकी कविता। सम्पादकीय टिप्पणी एक ही है आठ पृष्ठों की 'कट-उपनिषद् का रहस्य'। श्रीचन्द्रभूषण त्रिवेदी 'रमई काका' की बैसवाड़ी बोली में 'धरती हमारि' कविता बड़ी प्यारी और स्वाभाविक है। मुख-पृष्ठ पर श्रीनिश्शंकजी की कविता (नयनों में प्यार तुम्हारा है) अति मनोज्ञ है। जून की 'विश्ववाणी' (प्रयाग) में आरम्भ के दो लेख दिलचस्प जानकारियों से भरे हुए हैं—'असुरिया की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति, (पं० सुन्दरलालजी) और 'मेक्सिको का सामाजिक जीवन'। चौथा लेख भी वैसा ही है—'मध्यकालीन भारत में हिन्दू-मुस्लिम-समस्या'। इसमें पण्डितराज का प्रसिद्ध श्लोक 'दिल्लीश्वरो वा' अशुद्ध छपा है। तीसरा छात्रोपयोगी है—'मैथिलशरण गुप्त में आदर्श नारी की भावना'। एक लेख 'अहम्' खूब मनन करने योग्य है। कविताओं में श्रीउपेन्द्र की 'बँध न सकी उन्मत्त जवानी' ही अच्छी है। सम्पादकीय स्तम्भ में 'काश्मीर' पर एक टिप्पणी है। जून के कर्मयोगी में भी है। दोनों पढ़कर मन दुबिधा में पड़ गया! कई मनोरंजक लेख 'कर्मयोगी' (प्रयाग) में भी हैं—हिन्दी-साहित्य में शकुन-विचार (डॉ० रसाल'), पुरुवंश का इतिहास (मिश्रबन्धु), प्रेम-रहस्य आदि। मद्रास के नेता श्रीराजाजी की एक कहानी (पश्चात्ताप) का आधार अशोक वनवासिनी सीता का स्वप्न है। रामायण की पुरानी कथा होने पर भी कल्पना और सूझ के बल पर कहानी अच्छी उतरी है। उसकी अंतिम पंक्तियाँ शिक्षाप्रद हैं—"कहा जाता है कि हनुमान् अमर हैं। सीता के दुःखों को हरने के लिए जिस प्रकार वह अशोक-वाटिका में पहुँच गया था, उसी प्रकार, राम का नाम लेने पर, हमारे दुःखों के हलका करने के लिए भी विश्वास कीजिए, वह निश्चय ही आवेगा।" इस अंक का महत्त्वपूर्ण लेख 'चीन का जन-साहित्य' है। उसका संक्षिप्त आशय इन्हीं पक्तियों में है—"संघर्ष से भरपूर गत सात-आठ वर्षों में जो चीनी-साहित्य तैयार हुआ है, उसमें दो बातें प्रमुख रूप से दिखाई पड़ती हैं—कलाकार ने जनता से सम्पर्क स्थापित कर जनता को आदमी बनाना सीख लिया है और स्वयं जनता ने भी अपने कलाकारों को उत्पन्न करना शुरू कर दिया है।" कविताओं में 'अमर सुभाष' और 'हुमायूँ' सिर्फ पढ़ लेने लायक हैं। उर्दू के शेरों में चुहल के सिवा कोई खास बाबत नहीं। 'गाँव' के सिवा और किसी उर्दू-कविता में शब्दार्थ भी नहीं हैं। अतः, अधिकांश हिन्दी-पाठक समझ न सकेंगे। 'कविसम्मेलन' बहुत भोंड़ी कविता है, अशिष्टतापूर्ण भी है। 'कविता-टाँग-तोड़क' जी की रचना 'भगवान शंकर' भी वैसी ही है। कर्मयोगी अपने नाम के गौरव पर ध्यान रखता, तो अच्छा होता। उसमें इतना अधिक हलकापन नहीं सोहता। उसके व्यंग्य-विनोदों में भाषा और भाव का चमत्कार बहुत कम है। इन्दौर की 'वीणा'

इधर कुछ ढीली हो गई है। उसके मई-जून के अंकों में सुसम्पादित और सुमुद्रित रचनाओं की कमी है। मई-नम्बर की पहली कविता 'भारती' के भाव भव्य हैं। 'अनुभूति' भी कोमल है। 'स्वदेशार्थ अभ्यर्थना' में कई दुष्प्रयोग हैं। सम्पादकजी की ज्योतिष-विषयक कविताएँ क्लिष्ट कल्पनामात्र हैं। 'वंशाखनन्दन' तो यथानाम तथागुण है। जटिलता की काल कोठरी में कविता की जान निकल जाती है। लेखों में बस तीन ही अच्छे हैं—गाँव के गीत, प्रसाद के गीतों में राष्ट्रीयता, कविता का विश्लेषण। प्रो० लालजीराम शुक्ल का लेख 'इच्छाशक्ति' दोनों अंकों में आधा-आधा छपा है और वही सर्वोत्तम तथा सर्वोपयोगी है। सम्पादकीय स्तम्भ में 'मानव-शरीर से काव्य की तुलना' की गई है। 'छन्दज्ञान' पर भी एक टिप्पणी है। हिन्दी-पाठकों को उससे कोई लाभ न होगा। इस विषय की छोटी-बड़ी अनेक पुस्तकें काफी प्रचलित हैं। फिर पिष्टपेषण क्यों? 'इन्दौर की साहित्यिक जाग्रति (?)' उपादेय टिप्पणी है। गत आधी शताब्दी में इन्दौर-राज्य के अन्दर जो पत्र-पत्रिकाएँ निकली हैं, उनका इसमें संक्षिप्त उल्लेख है। किन्तु खरगोन की 'वाणी' का नाम छूट गया है, वह एक अच्छी पत्रिका थी। जून-नम्बर की पहली कविता 'माया' में मधुर-भावनाएँ तो हैं, पर कई पंक्तियाँ मंद हैं। 'स्तरित' चिन्त्य प्रयोग है। भला यह 'कर्णकर्करी' क्या बला है? 'सान्ध्यतारा' कविता में तो केवल एक ही पंक्ति सुन्दर है—'किन्तु अब भी टिमटिमाता तिमिर का अभिषेक!' इसके रचयिता का नाम (शरदेन्दु) ही गलत है। 'निशा के मौनमय उद्रेक, और, प्रात छिपता सान्ध्य हँसता' भी अशुद्ध है। अन्य कविताओं में भी छपाई और भाषा-भाव की भूलें हैं। एक 'चित्र-नाट्य' (स्नेहश्रुति) में अँगरेजी के अनेक शब्द अँगरेजी अक्षरों में ही पचास बार छपे हैं, जिसका अर्थ कम-से-कम साठ फी सदी हिन्दी-पाठक ठीक-ठीक नहीं समझेंगे, मगर चीज अच्छी है। सम्पादकजी की ज्योतिष-विषयक कविताओं ने इस अंक का भी पीछा किया है, शायद वे साल-भर पत्रिका का पिण्ड न छोड़ेंगी! इस अंक में भी चार ही लेख पढ़ने योग्य हैं—गाँव के गीत, राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद (प्रो० कन्हैयालाल सहल), 'आँसू' के अध्ययन का एक नवीन दृष्टिकोण, समाज और साहित्य (प्रो० कमलाकान्त पाठक)। एक लेख कविवर 'सिरस' जी का है—हिन्दी काव्य-रचना में धींगा-धींगी। उसमें कही गई कई बातें यथार्थ हैं, पर उन्हें आजकल सुनेगा कौन? इस अंक से 'शिशु-संसार' नामक एक नये स्तंभ का श्रीगणेश हुआ है। इसमें गोरखपुर जिले के एक बालक ने भोजपुरी भाषा में एक प्रसिद्ध देहाती कहानी लिखी है—'कउवा और गवरइया की मिताई'। जनपदी बोलियों में ऐसी-ऐसी कहानियों का संग्रह होता चले, तो भाषातत्त्वज्ञों को कुछ-न-कुछ लाभ हो होगा। सम्पादकीय स्तम्भ में पहली टिप्पणी 'काव्य और अलंकार' है, जिसमें पाठकों के काम की कोई खास बात नहीं, बस वही चर्वित-चर्वण! हिन्दुस्तानी-सम्बन्धी दूसरी टिप्पणी में लिखा है—"बड़ा भाई अपने छोटे भाई के प्रति उदार होकर ही उसकी जिद से अपनी रक्षा कर सकता है। शायद अपने ऐसे ही सिद्धान्त के कारण महात्माजी ने शब्द-मिश्रण में फारसी, अरबी और संस्कृत के शब्दों का अनुपात ७५ और २५ प्रतिशत के लगभग रखा है। छोटे भाई के

लिए एक रियायत और दिखाई पड़ती है। कठिन प्रतीत होनेवाले संस्कृत-शब्दों का अर्थ कोष्ठक में अरबी-फारसी शब्दों में दे दिया गया है। किन्तु उसी प्रकार का खयाल बड़े भाई के लिए अनावश्यक समझा गया; आखिर वह बड़ा जो है, कोश देखे !!" फिर तीसरी टिप्पणी (लखनऊ-विश्वविद्यालय का हिन्दुस्तानी-माध्यम) में ये आशाप्रद पंक्तियाँ दीख पड़ी—"अब तो इस विषय में हिन्दू-विश्वविद्यालय को आगे आकर प्रमुख स्थान ग्रहण करना चाहिए। साथ ही, हिन्दी-माध्यम द्वारा उच्च शिक्षण-प्रसार का विचार रखनेवाली 'हिन्दी-युनिवर्सिटी, इंदौर' और 'सिंधिया-विश्वविद्यालय' जैसी गर्भगत संस्थाओं को भी प्रगट होना चाहिए। जयपुर को केन्द्र बनाकर राजपूताना-विश्वविद्यालय तो कदाचित् शीघ्र प्रत्यक्ष हुआ चाहता है।" इन्दौर से ही (ज्ञान-मंदिर, भानपुरा से) गत अप्रैल में 'जीवन-विज्ञान' निकला है। इसके सम्पादक श्रीचंद्रराज भंडारी हैं। आवरण-पृष्ठ पर ग्यारह विषयों की तालिका दी गई है—नारी-समस्या, वनस्पति-विज्ञान, चिकित्सा, आरोग्य, साहित्य, संस्कृति, शासन, कृषि, शिक्षा धर्म, कला। इससे यह सूचित किया गया है कि इन विषयों पर लेख छपा करेंगे। मुखपृष्ठ पर तो यहाँ तक लिखा है कि 'जीवनोपयोगी सर्वाङ्गीण साहित्य का समग्र भारत में पहला मासिक पत्र' यही है। वार्षिक मूल्य १०) और एक अंक का १) है। पृष्ठ-संख्या ६८ और छपाई साफ है। आरम्भ के पाँच पन्नों में बड़े-बड़े लोगों के सन्देश छपे हैं। उनमें से कुछ के चित्र भी—उनकी शुभ कामना के साथ ही छपे हैं। जितने विषयों का संकेत आवरण पर प्रमुखता के साथ किया गया है, लगभग उतने ही विषयों के लेखों का संग्रह और प्रकाशन भी। अधिकतर लेखक अपने विषय के अधिकारी विद्वान् हैं। कुल तेरह स्तंभ हैं। अंतिम में देश-विदेश का 'मासिक घटनाचक्र' है। प्रथम में सम्पादकीय लेख है—'महायुद्ध की उत्तर भूमिका' और द्वितीय स्तम्भ (वर्त्तमान दुनिया और उसकी गति-विधि) में एक लेख है—'विश्व-सुरक्षा-कौंसिल और विश्व-शान्ति'। आरंभ के इन दोनों लेखों में भाषा और छपाई की अनेक अशुद्धियाँ है। खेद है कि यहाँ सब के दिग्दर्शन का स्थान नहीं, पर ध्यान से पढ़नेवाले सज्जन सहसा समझ ले सकते हैं। यहाँ तक कि संयुक्त और समस्त शब्द कहीं भी एक साथ मिलाकर नहीं छापे गये हैं, जो बहुत खटकते हैं। कई वाक्यों की रचना भी विचित्र ढंग की है। एक छोटा-सा उदाहरण— 'हारी हुई जातियाँ तो खतम हो चुकीं, मगर जीती हुई जातियों के सामने कर्त्तव्य का एक भारी पहाड़ खड़ा हुआ है, जिसे उनको बुद्धिमानीपूर्वक पार करना है।" यदि सम्पादन पर पूरा ध्यान रखा जायगा, तो पत्रिका निस्संदेह सुन्दर और लोकोपयोगी होगी। कलकत्ता का 'विश्वमित्र' अपने नाम की सार्थकता पर ध्यान रखता है। विश्व-भूमंडल की वर्त्तमान समस्याओं और घटनाओं पर उसकी दृष्टि बनी रहती है। न जाने क्यों उसने चंद्रबिन्दु को सदा के लिए अर्धचन्द्र दे दिया है, जिससे शब्दों की स्वाभाविक ध्वनि को धक्का पहुँचता है, अन्तर-राष्ट्रीय विषयों और प्रश्नों पर उसके लेख बड़े ज्ञानवर्द्धक होते हैं। अप्रैल के अंक में राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक लेख अच्छे हैं। मुखपृष्ठ पर कविवर बच्चनजी की 'मिलन-यामिनी' कविता है। भाषा-भाव की सफाई और मधुर सुकुमारता बच्चनजी की रचनाओं की विशेषता है।

वह पाठक के हृदय को बड़े कौशल से पकड़कर प्यार से सहलाते हैं। कई पत्र-पत्रिकाओं में उनकी 'मिलन-यामिनी' चाँदनी छिटकाती नजर आती है। ईश्वर से प्रार्थना है कि कवि की इस 'मिलन-यामिनी' का कभी विहान न हो। अन्य कविताओं में श्रीशीतलासहायजी का 'गीत', श्रीशिवमूर्ति मिश्रजी की 'कल्पना क्या', श्रीघनश्याम अस्थाना की 'कोई मेरा मूल्य न आँके' श्रीकमलजी की 'तुम आये—अब मैं दीप जलाऊँ' हमें ज्यादा पसन्द आईं। इनमें कवि की वाणी हृदयंगम करके पाठक तत्क्षण कवि के साथ तादात्म्य का अनुभव करता है। 'तुम्हारा उपहार' रवि बाबू की गीतांजलि के बावनवें गीत का अनुवाद है, इसलिए भाव तो सुन्दर होना ही चाहिए—पर भाषा कामचलाऊ है। 'शैया' और 'शय्या' शब्द बहुत कसकते हैं। अब लेख देखिए—युद्ध के खतरों के बीच समाचार-संकलन के रोमांचक अनुभव (सचित्र), प्रवासी की आत्मकथा (स्वामी भवानी—दयालजी संन्यासी), जेल-जीवन के अनुभव, प्रगतिवाद में अराजकता तथा श्लील अश्लील का प्रश्न, गोस्वामी तुलसीदास के जन्मस्थान 'सोरों' पर विचार (श्रीभगीरथ-प्रसाद दीक्षित), महमूद और भारत के लूट की कहानी (श्रीभगवतीप्रसाद पान्थरी), बच्चों की शिक्षा और मनोवृत्तियाँ (सचित्र), भोजपुरी ग्रामगीतों की मार्मिकता। पान्थरीजी के ऐतिहासिक लेखों में प्रामाणिकता के साथ-साथ मनोरंजकता भी यथेष्ट होती है। 'समाधान' (पद्य-नाटिका) की भाषा कहीं-कहीं कवित्वमयी है, पर लंझाड़ वाक्यों के कारण बहुत क्लिष्ट और गूढ़ार्थ भी बन गई है। आखिर पद्य-नाटिका ही तो है! मगर कुछ सूक्तियाँ बड़ी मीठी-अनूठी हैं। चयनिका, अर्थचक्र, समाज-दर्पण, महिला-संसार, अन्तर-राष्ट्रीय, साहित्य-जगत् आदि स्थायी स्तम्भों में पाठकों को रमानेवाली प्रचुर सामग्री रहती है। दिल्ली का 'आजकल' तो हिन्दी-पाठकों को आकृष्ट करने में इस समय अद्वितीय हो रहा है। उसका 'वार्षिक अंक' उसके दूसरे वर्ष के आरंभ (मई) में निकला है। उसमें बढ़िया चुनिन्दा लेखों का अच्छा जमघट है। अधिकांश लेख सचित्र ही हैं। संस्कृत के विदेशी विद्वान्, भारत और तिब्बत के सांस्कृतिक संबंध, मुगल-काल में हिन्दू-मुस्लिम-व्यवहार और त्योहार (श्रीजंगबहादुर सिंह), अलंकृतकाल-रीतिकाल या शृंगार-काल (प्रो० विश्वनाथप्रसाद मिश्र), सुमित्रानन्दन पन्त (श्रीप्रकाशचन्द्र गुप्त), युद्धकालीन हिन्दी-साहित्य (श्रीकान्तिचन्द्र सौनरेक्सा), स्याम में भारतीय, ब्रिटेन के समाचार-पत्र, चार भाषाओं का राष्ट्र स्विट्जरलैण्ड इत्यादि लेख अत्यंत आकर्षक हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा का एकांकी (कलाकार का सत्य) अपने नाम की सार्थकता में सर्वाङ्गपूर्ण है। इसका अंतिम अंश पढ़कर चित्त भक्ति-गद्गद हो उठा। निराशा के अन्धकार में आशा की दिव्य ज्योति जगानेवाला यह एकांकी उन सभी कलाकारों को पढ़ना चाहिए, जो अपनी कृतियों के द्रुत प्रकाशन के लिए विह्वल रहा करते हैं। उन्हें यह आत्मविश्वास का अमर सन्देश देगा। इसकी भाषा, शैली, व्यंजना, कल्पना, सब में कवित्व का माधुर्य ओत-प्रोत है। जैसे थाल में सजे सरस व्यंजन 'तुलसी'-दल पड़ने से महाप्रसाद बनकर विशेष तृप्तिकर हो जाते हैं, वैसे ही भाषा-भाव की मधुरिमा में कवि-कल्पना के मिश्रण से यह चमत्कारपूर्ण हो गया है। भाषा-भाव की रमणीयता के

ख़याल से तीन लेख हमें और पसन्द आये—आचार्य चतुरसेन शास्त्री की कहानी (नवाब ननकू), नदी की आत्मकहानी (श्रीकामताप्रसाद सिंह), लोहार और तलवार (पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी'। प्रोफेसर प्रभाकर माचवे का 'मुँह' बड़ा सुन्दर है। मुहावरे की बन्दिश उसकी बाँकी चितवन है। चुहलबाजी उसकी मन्द मुस्कान है। वर्णनवक्रता उसकी भ्रू-भंगिमा है। फिर, और चाहिए ही क्या। कविताओं में दो ने प्रमुखता पाई है और वास्तव में वे ही इसकी अधिकारिणी भी हैं। दुरंगे मुखपृष्ठ पर श्रीउदयशंकरभट्ट की कविता (परिवर्त्तन) मनोहरता से सजाई गई है। वह आजकल की दुनिया की बोलती तस्वीर है। संसार का एक शाश्वत चित्र भी उसमें है। उसमें 'लोहू' का प्रयोग अच्छा न लगा। श्रीबच्चनजी की 'मिलन-यामिनी' तो बड़ी भावुकता से सचित्र पृष्ठ पर सजाई गई है। भावपूर्ण चित्र ने कविता-रानी को स्वर्ण-सिंहासन पर बिठा दिया है। इसी शीर्षक में यत्र-तत्र प्रकाशित कई कविताओं से यह हमें अधिक मनभावनी लगी। अंचलजी की 'नवागता', पालीवालजी की 'प्रेरणा', चिरंजीतजी की 'चिलमन' और विद्यावतीजी की 'शुभमिलन' कविताएँ उमंग में भरकर कलेजे से लग जाती हैं। गीतों में सिर्फ दो ही अच्छे जँचे—श्रीमती सुमित्राकुमारी सिनहा का और पं० हंसकुमार तिवारी का। पहले में चिरन्तन सत्य की झाँकी है, दूसरे में हृत्तन्त्री की झंकार। आरंभ में 'वसंत' नामक एक तिरंगा चित्र है, जिसमें दो श्यामगौरवर्णा पुष्पाभरणा प्रमदाओं की भाव-भंगिमा में कुशल कलाकार ने कुसुमाकर की कल्पना की है। ऐसे कलामण्डित विशेषांक के लिए सम्पादक (श्रीअनन्त-मराल शास्त्री) और उनके सहयोगियों को हार्दिक बधाई। दिल्ली की 'सरिता' का प्रत्येक अंक दो रंगों में कलापूर्ण ढंग से छपकर ठीक समय पर निकलता है। जुलाई का अंक जून में ही मिल गया। इसमें एक एकांकी, एक कविता, चार कहानियाँ और पाँच लेख हैं—समाज में पुरस्कारों का विभाजन (श्रीसम्पूर्णानन्द), हिन्दी-पत्र और अश्लील विज्ञापन (श्रीविष्णुदत्त मिश्र तरंगी), नवजात शिशु के वस्त्र, संयुक्त परिवार अब समयानुकूल नहीं रहा, हिन्दू-मुस्लिम रेखा और रंग (श्रीजंगबहादुर सिंह)। इसके स्थायी स्तंभ 'चंचल छाया' में सिनेमा-फिल्मों की खरी समालोचना रहा करती है। अपनी सचित्र कहानियों और नियमितता के कारण यह बहुत लोकप्रिय हो गई है। कलकतिया 'विश्वमित्र' की तरह इसने भी चन्द्रबिन्दु की उपयोगिता अस्वीकृत कर दी है।

—मासिक 'हिमालय' (पटना); वर्ष १, अंक ४, मई १९४६ ई०

*

पंजाब-विश्वविद्यालय में हिन्दी की उपेक्षा

पंजाब के डाक-विभाग में हिन्दी की उपेक्षा होने से वहाँ के हिन्दी-हितैषियों में जो हलचल मची थी, उससे हिन्दी-प्रेमी परिचित हैं। पंजाब के हिन्दी-भाषियों के सतत प्रयत्न से वहाँ की स्थिति में कुछ सुधार तो हुआ; पर वहाँ के हिन्दी-विरोधियों की

मनोवृत्ति अभी नहीं सुधरी है। विश्वविद्यालय में 'हिन्दी-रत्न', 'हिन्दी-भूषण' और हिन्दी-प्रभाकर' की जो उपाधि-परीक्षाएँ होती हैं, जिनमें इस साल तेरह हजार से भी अधिक परीक्षार्थी सम्मिलित हुए थे, उन परीक्षाओं की लोकप्रियता ज्यों-ज्यों बढ़ती जा रही है, त्यों-त्यों विश्वविद्यालय की उपेक्षा-नीति के कारण परीक्षार्थियों की कठिनाइयाँ भी बढ़ती जा रही हैं। इन परीक्षाओं के लिए विश्वविद्यालय की ओर से पढ़ाई का कोई प्रबन्ध नहीं है और न विश्वविद्यालय से स्वीकृत हिन्दी-विद्यालय ही वहाँ हैं—यद्यपि हिन्दी-परीक्षार्थियों से विश्वविद्यालय को चालीस हजार वार्षिक से अधिक आर्थिक आय होती है। और, जब विश्वविद्यालय के कुप्रबन्ध के प्रति हिन्दी-परीक्षार्थी विरोध-प्रदर्शन करते हैं, तब पुलिस की सहायता ली जाती है! परीक्षार्थियों में सैकड़ों कन्याएँ भी होती हैं; पर उनके साथ भी न्यायोचित व्यवहार की आवश्यकता नहीं समझी जाती! यह स्थिति विश्वविद्यालय के अधिकारियों की मनोभावना स्पष्ट बतला रही है। जब काशी, लखनऊ, नागपुर आदि के विश्वविद्यालय हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाकर राष्ट्रभाषा की महत्ता स्वीकृत कर रहे हैं, तब पंजाब-विश्वविद्यालय हिन्दी की अवज्ञा करके इस युग की माँग को अनसुनी करने पर तुला हुआ है, यह असह्य है। पंजाब-प्रांतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और उसके प्राणस्वरूप गोस्वामी गणेशदत्तजी जिस तरह डाक-विभाग को हिन्दी का महत्त्व समझा चुके हैं, उसी तरह विश्वविद्यालय को भी समझा देने का आयोजन करें—समस्त हिन्दी-संसार साथ देगा। हमें हिन्दी-हितघातियों को शांतिपूर्वक बतला देना है कि हिन्दी को खतरे में डालकर न कोई सुख की नींद सो सकता है, न सिर ऊँचा कर चल सकता है।

व्रज-विद्यापीठ की योजना

आज से छह साल पहले, मथुरा-आगरा-मण्डल में व्रज-भाषा-साहित्य की उन्नति के लिए, 'व्रज-साहित्य-मण्डल' की स्थापना हुई थी, जिसकी ओर से 'व्रजभारती' नामक पत्रिका भी कई साल तक प्रकाशित हुई थी। इस साल 'मंडल' ने व्रज-विद्यापीठ स्थापित करने की योजना बनाई है। विद्यापीठ में विद्यालय के अतिरिक्त तीन विभाग और होंगे—संग्रहालय, शोध-पीठ और परीक्षा-विभाग। सुनते हैं, 'व्रजभारती' का प्रकाशन भी पुनः होने जा रहा है। व्रजभाषा-साहित्य ही हिन्दी-साहित्य का मेरुदण्ड है। उसकी पुष्टि के लिए जितने भी काम होंगे, हिन्दी-साहित्य के अभ्युदय के आधार ही होंगे। हिन्दी-संसार में अनेक योजनाएँ बनती-बिगड़ती रहती हैं। हिन्दी-पत्रकार-विद्यालय की योजना अभी तक साँचे में पड़ी हुई है। इन योजनाओं के कार्यान्वित करने में सामूहिक प्रयत्न की आवश्यकता है। आधुनिक युग के साहित्य-सेवी व्रजभाषा-साहित्य के पुनरुद्धार की चिन्ता से सर्वथा मुक्त हो चुके हैं, फिर भी व्रजमंडल स्वयं इतना समर्थ है कि इस योजना को सफलता तक पहुँचाकर समस्त हिन्दी-जगत् का सहयोग प्राप्त कर सके। हमारे विश्वविद्यालयों में आज भी व्रजभाषा-साहित्य का पठन-पाठन जारी है। किन्तु, पाठ्य-ग्रंथों के अध्ययन-अध्यापन में नाना प्रकार की कठिनाइयाँ सामने आती हैं। इसलिए,

विद्यापीठ के दो विभागों—विद्यालय और शोध-पीठ का संस्थापन और संचालन शीघ्र ही होना चाहिए, अन्य दो विभाग आगे भी खुल सकते हैं। शोध-पीठ द्वारा जो प्रामाणिक ग्रंथ प्रकाशित होंगे, उनसे साहित्यिक परीक्षाओं में विशेष सुविधा और सफलता होगी। आशा है कि 'मंडल' की योजना के अग्रसर करने में हिन्दी-पत्रकार भी सहायक होंगे। परन्तु हिन्दी-पत्रकार-विद्यालय के लिए अभी तक हमारे पत्रकारों में कोई हलचल नहीं दीख पड़ती !

—मसिक 'हिमालय' (पटना); वर्ष १, अंक ५, जून १६४६ ई०

हमारे कुछ त्रैमासिक और द्वैमासिक

हमारे सामने छह पत्रिकाएँ उपस्थित हैं—नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका (काशी); अदिति (श्रीअरविन्द-निकेतन, नई दिल्ली); व्रजभारती (व्रजसाहित्य-मंडल, मथुरा); हिन्दुस्तानी (हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद); नया साहित्य (जनप्रकाशन-गृह, बम्बई); प्रतिभा (हिन्दकिताब्स, बम्बई)। पत्रिका के इक्यावनवें वर्ष का प्रथम अंक चार गवेषणापूर्ण लेखों से सुशोभित है—'रामचरित-मानस' के संवाद (श्रीशंभुनारायण चौबे); अबुलफजल का वध (श्रीचन्द्रबली पांडे); 'शिवभूषण' की बहुत पुरानी प्रति (श्रीविश्वनाथप्रसादमिश्र, सम्पादक); ईतिंसग-निर्दिष्ट 'सिद्धग्रंथ' (श्रीराजकुमार जैन, साहित्याचार्य)। पहले लेख में 'मानस' के चार संवादों पर विश्लेषणात्मक ढंग से बड़ी मार्मिकता के साथ विचार किया गया है। स्वाध्यायी लेखक की मननशीलता और सूक्ष्म-दर्शिता प्रशंसनीय हैं। दूसरा लेख ऐतिहासिक है और काफी छान-बीन करके लिखा गया है। उसकी कुछ पंक्तियाँ विशेष ध्यान देने योग्य हैं—"हमारा तो निश्चित मत है कि हिन्दी के कवि केशव ने इस विषय में जो कुछ लिखा है, वह सचमुच 'प्रमाण' है। फिर भी, अबुलफजल के प्रसंग अथवा जहाँगीर के इतिहास में केशव की पूछ नहीं। केशव का अध्ययन समुचित रूप से कब होगा, यह अभी नहीं कहा जा सकता। कारण कि वे दरबारी और कठिन कविता के प्रेत हैं। परन्तु इस जन (लेखक) का यह दृढ़ विश्वास है कि जबतक इन दरबारी कवियों का अध्ययन डटकर नहीं होता और जबतक हमारे इतिहास-लेखक इस युग के कवियों का मंथन जमकर नहीं करते, तबतक हमारा सच्चा इतिहास तो बन नहीं सकता। चोखा काम तो यही है कि हम किसी काल के इतिहास में तबतक हाथ न लगायें, जबतक हमें उस काल के कवियों का योग न मिला हो। कवि समाज की आँख है, जो इतिहास के पन्नों में नहीं, कविता के पदों में खुलती और विवेक को प्रशस्त मार्ग दिखाती है।" तीसरे लेख में महाकवि भूषण-कृत 'शिवभूषण' की संवत् १८१८ की लिखी प्राचीन प्रति की महत्ता एवं प्रामाणिकता तुलनात्मक परीक्षण द्वारा सिद्ध की गई है। चौथा लेख क्रमशः पूरा छपेगा। अन्त में 'प्राचीन हस्तलिखित हिन्दी-ग्रंथों की खोज' का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। उसमें सन् १९३८ से १९४० ई० तक की

खोज में मिले प्रमुख ग्रंथों के सम्बन्ध में मुख्य-मुख्य बातें दी गई हैं। इस 'पत्रिका' का सम्पादन बहुत सावधानता और लगन से होता है। 'अदिति' के चौथे वर्ष के तीन अंक मिले हैं—फरवरी, अप्रैल, अगस्त १९४६। यह 'श्रीअरविन्द की विशाल आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि से प्रेरित त्रैमासिक पत्रिका' है। अरविन्द-आश्रम (पांडिचेरी, फ्रेंच-उपनिवेश) में इसकी छपाई होती है; किन्तु पता दिया हुआ है—कनाट सरकस, नई दिल्ली। छपाई बहुत स्वच्छ और सुन्दर है। सादगी इसकी विशेषता है। प्रत्येक अंक में लगभग ६४ पृष्ठ पाठ्य-सामग्री है। जैसे शान्ति-निकेतन की 'विश्वभारती' हिन्दी को रवीन्द्र-साहित्य दे रही है, वैसे ही यह अरविन्द-साहित्य देती है। इसमें महात्मा अरविन्द की ही वाणी, उन्हीं की कविता, उन्हींके आध्यात्मिक पत्रों और दार्शनिक विचारों की प्रधानता है। इसके सिवा आश्रम के अन्य विद्वानों और भक्तों के भी सुविचारपूर्ण लेख हैं। जैसे—डॉक्टर इन्द्रसेन, श्रीविद्याव्रत, श्रीअभय, श्रीचन्द्रदीप, श्रीलीलावती, श्रीशिशिरकुमार घोष, श्रीअनिलवरण राय, श्रीनलिनीकान्त गुप्त आदि। इसके वैदिक, वेदान्तिक और शास्त्रीय लेख हृदय को शान्त, सुस्मित, विकसित एवं तृप्त करते हैं। महर्षि दयानन्द, आधुनिक भारत के दार्शनिक, साक्षी मन, पातंजल दर्शन का ईश्वर-सम्बन्धी विचार, विकार को जीतने की प्रक्रिया, भावी काव्य, साधक का भोजन आदि लेख मनन करने योग्य हैं। इसकी कविताओं में श्रीसुन्दरम् की 'प्राप्ति' और श्रीनारायणप्रसाद की 'चैत्य पुरुष' सुन्दर है। कविताओं की भाषा अनगढ़ न हो, इसका ध्यान रखना आवश्यक है। 'कौन' और 'अदिति मा' कविताओं की भाषा अच्छी है; किन्तु, 'अभिवर्षण' कविता में कई चिंत्य प्रयोग हैं। श्रीविद्याव्रतजी की 'नमस्कार' कविता भक्तिपूर्ण है। हिन्दी-पाठकों को छह रुपये वार्षिक खर्च कर 'अदिति' के ज्ञानभक्तिमय विमल विचारों से लाभ उठाना चाहिए। एक अंक का दाम सवा रुपया है। 'व्रजभारती' के दूसरे वर्ष के दो अंक मिले हैं। इस त्रैमासिकी के सम्पादक हैं श्रीसत्येन्द्र, एम्०ए०। वार्षिक मूल्य तीन रुपये। एक अंक में पाठ्य-सामग्री के चौवीस पृष्ठ हैं और दूसरे में अड़तालीस। छपाई साफ है। पहले अंक में व्रजभाषा की एक ग्रामीण कहानी (यारू होई तौ ऐसौ होई) छपी है। दूसरे में उसी देहाती कहानी पर स्वयं सम्पादकजी का एक अनुसंधानपूर्ण निबन्ध है। इस ग्राम्य कहानी के लेखक हैं पं० चन्द्रभाल 'राधे राधे'। टीकमगढ़ के 'मधुकर' और 'लोकवार्त्ता' में भी बुन्देलखंडी भाषा की ग्राम्य कहानियाँ छपती हैं। व्रजभाषा की इस कहानी में, जहाँ जरूरत है, वहाँ पाद-टिप्पणियाँ भी दी गई हैं। डॉ० वासुदेवशरण, एम्० ए० का लेख 'द्वादशज्योतिर्लिंग' उनके यश के अनुरूप ही है। 'श्रीगोविन्ददेवजी का मंदिर' नामक लेख में वृन्दावन के इस प्राचीन मंदिर का इतिहास है। 'नन्ददासजी पर मेरा अन्वेषण' (श्रीद्वारकादास पुरुषोत्तमदास पारिख) छोटा होने पर भी नई जानकारी बढ़ानेवाला लेख है। 'घनानन्द के प्रेमकाव्य की विशेषताएँ' (श्रीशम्भुप्रसाद बहुगुना, एम्० ए०), 'रामकाव्य-धारा की एक अनूठी रचना' (श्रीनारायणदत्त शर्मा, एम् ए०), 'विक्रमादित्य के समय मथुरा' (श्रीकृष्णाचार्य, एम्० ए०), 'व्रज-साहित्य में समीक्षा का स्वरूप' (श्रीशिवनाथ,

एम्० ए०), ये लेख विशेष रूप से पढ़ने योग्य हैं। बहुगुनाजी ने ठीक लिखा है—"हृदयवादी घनानन्द ने क्रिया-व्यापारों और चेष्टाओं की हलचल से अधिक महत्त्व हृदय की संवेदनाओं को दिया है। इसीलिए, उनका काव्य मतिराम देव, बिहारी आदि अन्य प्रेमकाव्य के कवियों से कहीं अधिक मार्मिक हुआ है। किन्तु इस मार्मिकता का सबसे प्रधान कारण है घनानन्द के विरह की स्वात्मानुभूति, जिसका इन अन्य कवियों में अभाव-सा था। दीनतापूर्ण हृदय के उल्लास से संयुक्त घनानन्द का विरह शान्त और गम्भीर, स्वस्थ और प्रांजल तथा प्रेम की भव्यतम व्यंजनाओं से पूर्ण है।" शर्माजी ने हस्तलिखित पुस्तकों की खोज करते हुए मथुरा में कवि रामसखे-कृत 'सीतारामचन्द्र-रहस्य' नामक पुरानी पोथी प्राप्त की है। उसीका आलोचनात्मक परिचय अपने लेख में दिया है। लेख अध्ययनशीलों को आकृष्ट करनेवाला है। रामसखे कवि की 'काव्य-भाषा, शैली, भाव-निर्वाह, शील-निरूपण' आदि की बड़ी प्रशंसा की गई है। उद्धृत उदाहरणों से वह प्रशंसा यथार्थ जान पड़ती है। आचार्यजी का लेख शुद्ध ऐतिहासिक शोधों के आधार पर प्रामाणिकता के साथ लिखा गया है। श्रीशिवनाथजी के लेख का महत्त्व इन पंक्तियों से स्पष्ट विदित होता है और लेख-पाठ से स्पष्ट प्रतीत भी होता है कि ये पंक्तियाँ काफी ऊहापोह के बाद लिखी गई हैं—"आज समीक्षा के जो दो प्रधान रूप निर्धारित किये गये हैं, वे दोनों संस्कृत-साहित्य में विद्यमान हैं। आज जिन्हें सैद्धान्तिक (थ्योरेटिकल क्रिटीसिज्म) और व्यावहारिक (प्रैक्टिकल क्रिटीसिज्म) समीक्षा कहते हैं, वे दोनों संस्कृत-साहित्य में मिलती हैं। संस्कृत-साहित्य में समीक्षा का जो रूप था—वह ज्यों-का-त्यों व्रज-साहित्य में आया। सैद्धान्तिक समीक्षा के अपने समीक्षक तो असली मानी में भिखारीदास ही हैं। व्यावहारिक समीक्षा टीकाओं में मिलती है। व्रज-साहित्य में टीकाएँ भी खूब लिखी गईं। व्रज-साहित्य में समीक्षा के स्वरूप में अपनापन है, इसमें कोई संदेह नहीं। इसकी सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों समीक्षाओं में मौलिकता है। यदि गद्य का विकास क्रमशः जारी रहता और इस प्रकार की समीक्षा का निर्माण भी न रुका होता, तो आधुनिक काल में सम्भवतः समीक्षा के क्षेत्र में विदेशी प्रेरणा की कोई विशेष आवश्यकता न प्रतीत होती।" इन उपयोगी लेखों के सिवा दो भाषण भी छपे हैं। शिकोहाबाद में गत अप्रैल में व्रज-साहित्य-सम्मेलन हुआ था। उसके सभापति डॉक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी का भाषण अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष चौधरी लायक सिंह का स्वागत-भाषण भी मनोहर और ज्ञानवर्द्धक है। इस पत्रिका की सेवाएँ अमूल्य हैं। आशा है कि व्रजभाषा-साहित्य का परिष्कार और उसके प्रभाव का विस्तार करने में यह पत्रिका सफल होगी। 'हिन्दुस्तानी' के सोलहवें भाग का प्रथम अंक (जनवरी-मार्च, १९४६) छह मनोरम लेखों से सुशोभित है। 'गाय के नाम' खूब मन रमानेवाला मौलिक लेख है। इसमें लेखक (श्रीहरिहरप्रसाद गुप्त, एम्० ए०) ने बहुत अन्वेषण और चिन्तन करके यह बतलाने की चेष्टा की है कि भिन्न-भिन्न रंग, रूप, स्वभाव एवं अवस्थावाली गाय के क्या-क्या नाम हैं। ठेठ देहात में प्रचलित कुछ नामों के मूल संस्कृत-शब्द भी ढूंढ़ निकाले गये हैं। ऐसे खोज-भरे लेखों से साहित्य का बहुत उपकार हो सकता है। लेखक महाशय

स्कूलों के डिप्टी-इन्स्पेक्टर हैं। यदि उनके ओहदे के लोग इस तरह की खोज किया करें तो साहित्य की श्रीवृद्धि ही होगी। 'अलंकार-शास्त्र का एक परिचय' (श्रीबलदेव उपाध्याय, एम्०ए०, साहित्याचार्य) सबसे पहला लेख है, जिसमें इस शास्त्र की प्राचीनता के साथ-साथ इसके प्रमुख आचार्यों के सिद्धान्तों का विशद विवेचन एवं विश्लेषण बड़ी विचक्षणता से किया गया है। अंतिम भाग में बतलाया गया है कि रस, अलंकार, गुण, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य, जो इस शास्त्र के छह मुख्य सम्प्रदाय हैं, उनके आचार्य कौन-कौन हैं तथा उनके मतों की क्या विशेषताएँ हैं। लेख तो पाण्डित्यपूर्ण है ही, रोचक एवं रमणीय भी है। दूसरे लेख (खाद्य-समस्या) में विद्वान् लेखक (प्रोफेसर फूलदेव सहाय वर्मा) ने अत्यंत ज्वलंत सामयिक विषय पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है। इसमें विज्ञानवेत्ता लेखक ने उत्तम खाद तैयार करने के बहुत ही आसान वैज्ञानिक तरीके बतलाये हैं। ऐसे लेखों का तो गाँवों के किसानों में प्रचार होना चाहिए। इसके सरल और सुलभ नुस्खे खेतिहरों के बड़े काम के होंगे। दैनिकों और साप्ताहिकों में उद्धृत करके इस लेख को ग्रामीण जनता तक पहुँचाने की आवश्यकता अनुभूत होती है। तीसरा लेख (कविवर जान का सबसे बड़ा ग्रंथ 'बुद्धिसागर') श्री अगरचन्दजी नाहटा का है, जो संभवतः बीकानेर की 'राजस्थान-पत्रिका' के सम्पादकों में हैं। अनुसन्धानशील लेखक ने बतलाया है कि यह 'ग्रंथ पंचतंत्र नामक प्रसिद्ध ग्रंथ का स्वतंत्र अनुवाद-सा है और शाहजहाँ को भेंट किया गया था'। संवत् १६९५ ग्रंथ का रचना-काल बतलाया गया है। अन्त में लिखा है—"समग्र ग्रंथ में दोहा और चौपाई दो ही छन्द हैं। पाँच चौपाइयों के बाद एक दोहा—यही क्रम है; दोहे ४८५ हैं; कुल पद्यों की संख्या २४२५ के करीब है; श्लोक-संख्या ३५०० के लगभग है; अभीतक इस ग्रंथ की दो ही (हस्तलिखित) प्रतियों का पता लगा है।" चौथा लेख है—'भारतीय इतिहास के अध्ययन का शिलान्यास' (डॉक्टर देवसहाय त्रिवेद, एम्० ए०) जिससे लेखक की ऐतिहासिक शोध-संबंधी गहरी लगन का पता लगता है। इसमें अधिकतर मगध-सम्राटों की चर्चा और इतिहासज्ञों की भ्रान्तियों का उल्लेख है। इतिहासानुरागी विद्वानों और पाठकों के अध्ययन करने योग्य है। अंतिम लेख (वत्सराज उदयन) पूर्व-प्रकाशित इसी नामके लेख का द्वितीय खंड जान पड़ता है। इसके लेखक (श्रीरामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री) ने उदयन का जीवन-परिचय बड़े विस्तार और बड़े रोचक ढंग से लिखा है। पढ़ने में यह लेख कथा-साहित्य के समान ललित एवं मनोज्ञ है। इसके कई अंशों से प्राचीन भारत के वैभव, ज्ञान गौरव, पौरुष एवं बुद्धि-विलास का आभास मिलता है। 'प्रसाद' जी के 'अजातशत्रु' नाटक में जो लोग उदयन का संक्षिप्त प्रसंग पढ़ चुके हैं, उन्हें यह विस्तृत लेख एक बार पढ़ लेना चाहिए। पत्रिका के अंत में जो समालोचनाएँ हैं, उनमें प्रयाग के नये मासिक पत्र 'नया हिन्द' की आलोचना विशेष ध्यान आकृष्ट करनेवाली है; क्योंकि सम्पादक (पं गणेशप्रसादजी द्विवेदी) ने उसमें 'हिन्दी और 'हिन्दुस्तानी' के जटिल प्रश्न पर, काफी छानबीन के बाद और काफी विस्तार के साथ, बड़े स्पष्ट विचार व्यक्त किये हैं। 'नया साहित्य' (सचित्र त्रैमासिक) के दो भाग ('चार और

पाँच'— अथवा चौथा और पाँचवाँ ?) उपस्थित हैं । चौथे में चार लेख बड़े सुन्दर हैं—गद्यकार महादेवी और नारी-समस्या (श्रीअमृतराय), प्राचीन साहित्य की समालोचना (प्रो० जगन्नाथप्रसाद मिश्र), समाज और नृत्य (श्रीशांता गांधी), मुसद्दस और भारत-भारती की सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि (श्री शमशेरबहादुर सिंह)। पहले लेख में सुयोग्य लेखक की कुछ पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—"कभी-कभी ऐसा जान पड़ने लगता है कि कवि महादेवी और गद्यकार महादेवी दो व्यक्ति हैं, एक नहीं ।····महादेवी ने स्वयं अपनी कविता का सबसे अच्छा परिचय दिया है—'मैं नीरभरी दुख की बदली' - उनकी इसी एक पंक्ति को मनमें रखे हुए आप उनके संपूर्ण काव्य-साहित्य का अवलोकन कर डालिए और तब आप तुरंत जान लेंगे कि यही भाव शिराओं में बहनेवाले रक्त के समान उसमें सर्वत्र प्रवाहित हो रहा है । ·····महादेवी के काव्य को मूलतः आत्मकेंद्रिक आत्मलीन कहना ठीक है, अपनी ही पीड़ा के वृत्त में उसकी परिसमाप्ति है । संसार की पीड़ा का स्वतः उसके लिए अधिक मूल्य नहीं है, मूल्य यदि है तो कवि की पीड़ा के रंग को गहराई देनेवाले उपादान के रूप में ।······इसके ठीक विपरीत महादेवी का गद्य-साहित्य मूलतः समाजकेन्द्रिक ? है । उसने जनता के पीड़ित जीवन को स्वर दिया है······उसमें एक विद्रोही की आत्मा रुदन कर रही है ।" लेख के अंतिम अंश में लेखक ने महादेवीजी के नारी-समस्या-सम्बन्धी विचारों के विषय में लिखा है—'महादेवी का मत है कि स्त्री का कार्यक्षेत्र घर भी है और बाहर भी । वे इतना कहकर ही संतोष नहीं कर लेतीं । वे अलग-अलग काम गिनाती भी हैं । जैसे महिला-साहित्य व बाल-साहित्य की रचना । इस दो प्रकार के साहित्य की रचना में स्त्रियों को ही सर्वाधिक सफलता मिलने की संभावना है; क्योंकि ये दोनों विषय एक प्रकार से उन्हीं से संबंध रखते हैं । इसके अलावा बालक-बालिकाओं की शिक्षा, रोगियों की सेवा-शुश्रूषा का कार्य······।" फिर लेख समाप्त करते हुए लेखक ने महादेवीजी को एक प्रकार से सलाह दी है कि वह यदि रूस के नारी-समाज की ओर देखतीं, तो उन्हें सन्तोष होता ! लिखते हैं—"महादेवी का नारी-स्वाधीनता का स्वप्न कम-से-कम एक देश (रूस ?) में जीवन की वास्तविकता पा चुका है । संसार के कम-से-कम छठे भाग पर एक ऐसा पूर्ण विकसित (रूसी ?) समाज है, जो महत्तम भारतीय आदर्श के अनुरूप नारी को वह मान और आदर देता है, जो मान और आदर आजतक (?) स्वयं भारतीय नारी को नहीं मिल सका ! महादेवी ने यदि सोवियत नारी के सम्बन्ध में यथेष्ट बातें पता लगाकर उनके आलोक में भारतीय नारी की समस्या पर विचार किया होता, तो उसके वर्त्तमान जीवन की विभीषिका और भविष्य के स्वप्नों के बीच एक लम्बी खाई न होकर कर्त्तव्य का एक सेतु होता और उनके विचारों की एक बड़ी कमी दूर हो जाती, अर्थात् आज की परवश भारतीय नारी के लिए तत्काल कर्म का सन्देश मिलता !" किन्तु हमारा अपना विचार है कि रूस के अथवा किसी भी पाश्चात्य एवं अन्य देश के नारी-समाज का आदर्श भारतीय नारी-समाज के लिए हितकर या अनुकूल नहीं हो सकता । किसी भी भारतीय समस्या का हल निकालने के लिए विदेशों का मुँह जोहने की जरूरत नहीं है । स्वयं भारतीय साहित्य में ही सभी भारतीय समस्याओं का

हल मौजूद हैं। महादेवीजी ने नारी-समस्या पर जो कुछ लिखा है, वह भारतीय दृष्टि से सुन्दर और पर्याप्त है। उनके विचार भारतीय संस्कृति से ओतप्रोत हैं। यदि वह सोवियत रूस से कुछ उधार न भी लेंगी, तो उनके विचारों की पूर्णता एवं उपयुक्तता में कोई बाधा न पड़ेगी। भारत के लिए वह दिन बड़े दुर्भाग्य का होगा, जब वह विशेषतः अपनी नारी-समस्या के सुलझाने में विदेशों के आदर्श का अनुकरण करने पर उतारू होगा अथवा विदेशी आदर्श से प्रेरणा लेकर तदनुसार ही अपनी नारी-समस्या का समाधान करना चाहेगा। दूसरे लेख में प्रोफेसर मिश्रजी ने लिखा है—"रीतिकाल के कवियों ने नायिका-भेद, नखशिख-वर्णन; कामोद्दीपन के रूप में प्रकृति-वर्णन करने अथवा अर्थ-चमत्कार एवं सरस शब्द-विन्यास दिखलाने का जो प्रयास किया है, उससे केवल यह कहकर उनके काव्यों की अवहेलना कर देना कि वे सब-के-सब कामुक एवं कल्पना-विलासी थे और वास्तव में जगत् के साथ—सामाजिक जीवन की समस्याओं के साथ उनकी रचनाओं का कोई सम्बन्ध नहीं था, समालोचना का प्रकृत उद्देश्य सिद्ध नहीं होता।" इस सुविस्तृत वाक्य की रचना कुछ अटपट मालूम होती है। 'अवहेलना कर देना' के स्थान पर 'अवहेलना कर देने से' होता, तो अच्छा रहता। नहीं तो, अन्तिम अंश (प्रकृत ... होता) को यों बदलना पड़ेगा—'प्रकृत उद्देश्य नहीं है' विद्वान् लेखक की राय में रीतिकालीन साहित्य की उपेक्षा करना उचित नहीं है। वह कहते हैं—"रीति-काल के कवियों ने श्रेणी-विशेष के जीवन को ही अपनी रचनाओं में स्थान क्यों दिया, उस समय की किन विचार-धाराओं ने उन्हें प्रभावित किया और उनकी कृतियों से तत्कालीन सामाजिक अवस्था का परिचय किस रूप में मिलता है, इन सब प्रश्नों पर ध्यान रखकर रीति-साहित्य का अनुशीलन होना आवश्यक है।" यहाँ तो राष्ट्रीयता के आवेश में आधुनिक देश-दशा की कसौटी पर रीति-साहित्य की उपयोगिता परखते हैं! उसकी मनोवैज्ञानिकता का विश्लेषण फालतू काम समझा जाता है! वह तो हमारे चरित्र को चुनौती देनेवाला माना जाता है! जो हो, तीसरा लेख श्रीमती शान्ता गांधी के मूल अँगरेजी-लेख का अनुवाद है। उसका मुख्य आधार भरत मुनि का प्राचीन भारतीय नाट्य-शास्त्र है पौराणिक कथाएँ भी। लेख गवेषणापूर्ण और ज्ञानवर्द्धक तथा मनोरंजक है। इसमें छपे श्लोक कुछ अशुद्ध हैं, जिनका शुद्ध रूप पाँचवें भाग के अंत में प्रकाशित कर दिया गया है। चौथे लेख में मौलाना हाली के 'मुसद्दस' और मैथिलीशरणजी की 'भारत-भारती' का तुलनात्मक अध्ययन सांस्कृतिक दृष्टि से उपस्थित किया गया है। इसका उत्तरार्द्ध पाँचवें भाग में प्रकाशित है। लेखक के प्रशंसनीय परिश्रम में लगन सूझ और सहृदयता का अच्छा मेल है। चार कहानियाँ भी हैं, जिनमें श्रीयशपालजी की छोटी कहानी 'साग' बहुत सुन्दर और सामयिक है। सात कविताओं में 'संन्यासी का गीत' स्वामी विवेकानन्द के 'साँग ऑफ् दी संन्यासी' का श्रीसुमित्रानंदन पंत-कृत हिन्दी-रूपान्तर है। यह और प्रोफेसर माचवे की 'चम्पा' कविता सबमें अच्छी हैं। इनमें कुछ शब्दों के चिन्त्य प्रयोग विचारणीय हैं। जैसे—अयास, केवल-मात्र, उरल, हेमल आदि। 'सांस्कृतिक जागरण' नामक साहित्यिक स्तंभ में आधुनिक

नाटक, नृत्यकला, फिलमी दुनिया आदि की चर्चा है। अन्त में, आलोचनाएँ हैं, जिनमें औचित्य और स्पष्टोक्ति सन्तोषप्रद है। पाँचवें भाग में तीन लेख खास तौर से पढ़ने लायक हैं—भारतीय साहित्य और कला में जन्मभूमि की कल्पना (डॉक्टर मोतीचंद), साहित्य की मर्यादा (पं० रामदहिन मिश्र) और फोटोग्राफी। डॉक्टर साहब के पहले लेख में संस्कृत के कई उद्धरण अशुद्ध छप गये हैं। अतिशय प्रसिद्ध उक्ति 'सूच्यग्रं न दास्यामि विना युद्धेन केशव' का रूप यों विकृत हो गया है—'मूच्याग्रं नं दद्यामि विना युद्धेन केशव'! फिर भी, यह बड़ी खोज और श्रमशीलता से लिखा गया है, इसलिए तन्मयता से पढ़ने योग्य है। समस्त पदों का अलग-अलग छपना भी ठीक नहीं है। 'छट्ठी शताब्दी' और 'आधीन' जैसे प्रयोग भी अप्रचलित हैं। मिश्रजी के लेख की ओर आजकल के साहित्यिकों का ध्यान जाना चाहिए; पर 'मर्यादा' नाम की कोई चीज इस युग में शायद कहीं भी शरण नहीं पा सकती! उसमें भी एक श्लोक अशुद्ध ही छप गया है। कविवर पन्तजी की 'चार कविताएँ' कमनीय हैं, मधुर और मृदुल हैं, चौथी तो सामयिक भी है। श्री 'अज्ञेय' जी की भी चार कविताएँ हैं, जिनमें 'हिमन्ती (?) बयार' और 'एक चित्र' विशेष हृदयग्राहिणी हैं। डॉक्टर रामबिलास शर्मा-कृत विक्तर हयूगो की कविताओं का अनुवाद खूब मन रमानेवाला है। उसका चित्ताकर्षक पाठ मस्तिष्क और हृदय को साथ-साथ ले चलता है। हमें इस पाँचवें भाग में यही चीज सबसे जँची। श्रीभगवतीचरणवर्मा के 'दो गीत' और श्रीनरेंद्र शर्मा के 'तीन गीत' सरस भावनाओं के सुकुमार सीकरों से सद्यःस्नात-से जान पड़ते हैं। कहानियाँ भी तीन हैं—लोग (श्रीअमृतराय), इंसान (श्रीरांगेय राघव), आपस की फूट (श्रीजगदीश-चन्द्र जैन)। यही इनका कोटिक्रम भी समझना चाहिए। किन्तु पहली दो में काफी होड़ भी है। प्रोफेसर प्रभाकर माचवे के अप्रकाशित उपन्यास 'बुभुक्षा' का एक अंश, 'काम और निष्काम' शीर्षक का, छपा है, जिसकी रचना-प्रक्रिया समझना सबका काम नहीं है। चीज तो अच्छी है बेशक, मगर गूढ़ है, सहज बोधगम्य नहीं। साधारण हिन्दी-पाठक की बुद्धि उस तत्व-तल तक नहीं पहुँच सकेगी, जहाँतक विद्वान् लेखक की पैठ है। इसकी कुछ पंक्तियाँ और उक्तियाँ गुदगुदी-भरी और दिलफरेब हैं। जैसे—"अविनाश बड़ा आत्मसंयम और नैतिकता की बातें करता है—दिल कम्बख्त का अनीता की इयररिंगों में झूल रहा है।"—"नारी वह जो रवीन्द्रनाथ की 'उर्वशी' के समान—'नह कन्या, नह माता, नह बधू, हे रूपसी 'उर्वशी' है, जिसके 'डान होते विषभाण्ड, सुधापात्र वाम करे' है, जिनकी मेखला के स्खलन मात्र से लाखों विश्वामित्रों की तपस्याएँ गड़गड़ा पड़ती हैं।"—"उसने वह फारसी कहावत पढ़ी थी कि 'इश्कों रॉ व मुश्का रॉ' (प्रेम और कस्तूरी) अधिक काल तक छिपे नहीं रह सकते।"—"संगीत भी एक विचित्र प्रवंचना है। मृगजल को जैसे किसीने 'ईथर में बिछा दिया हो"।—"काम और कस्तूरी! दोनों अमूल्य, अगोपनीय, नाभि के नीचे चर्म-मंजूषा में ..... !" इसमें कहीं-कहीं अँगरेजी के शब्द व्यवहृत हुए हैं, जो केवल हिन्दी जाननेवाले पाठकों के लिए हलवे के कंकड़ साबित होंगे। कुछ प्रसंग भी ऐसे हैं। जैसे—

"संगीत में अनीता की रुचि है। संगीत से वह उतना ही प्रेम करती है, जैसे कोई कुरंगिनी। फिर वह तो कुरंगिनी नहीं है। कहा जाता है कि सु-रंगिनी ही है। वह कस्तूरी-मृगी नहीं बनना चाहती है, वह नारी है, आधुनिक युग की; मादाम क्यूरी और डोलोरस पैशनेरिया, पर्लबक और ग्रेटा गार्बो, सरोजिनी नायडू और वीणा दास, जोया और विजयालक्ष्मी के युग की नारी। वह निरीह मृगी नहीं है।" इसके सिवा 'शोभामान', 'व्यापारित' आदि शब्दों का प्रयोग असाधु-सा जँचता है। बाकी सब सामग्री चौथे भाग के समान ही है। इसकी छपाई-सफाई विशेष श्लाघ्य है। हिन्दी-संसार में जन्म लेकर इसने अपना नाम सार्थक किया है। इसने सामयिक साहित्य-प्रकाशन को नई प्रेरणा भी दी है। इसकी साहित्यिक एवं चल-चित्र-संबंधी आलोचनाएँ भी मार्के की होती हैं। इसीकी जन्म-भूमि (बंबई) से 'प्रतिभा' नामक साहित्यमाला नई निकली है। गत विजया-दशमी के अवसर पर प्रकाशित प्रथम पुष्प में सोलह रचनाएँ हैं। सम्पादक-मण्डल में पाँच साहित्यिक सज्जन हैं। जिनमें प्रमुख हैं साहित्याचार्य पं० सीताराम चतुर्वेदी, एम्० ए०। हिन्द किताब्स (पोस्ट-बाक्स १२६१) प्रकाशक हैं। ११) वार्षिक और पंद्रह आने में एक प्रति। बढ़िया छपे हुए ८१ पृष्ठ हैं। आवरण पर वरद-हस्त वीणापाणि का नेत्ररंजक तिरंगा चित्र है। चतुर्वेदीजी साहित्य-जगत् के यशस्वी कलाविद् हैं। उनका यह सदुद्योग अभिनन्दनीय है। प्रथम लेख श्रीकन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी का है—रचनात्मिका शिक्षा। वह लिखते हैं—"रचनात्मिका शिक्षा का पहला काम तो छात्र को यह सिखाना है कि वह अपनी संस्कृति के शाश्वत आदर्शों के अनुकूल अध्ययन करे, विचार करे और व्यवहार करे। इस समय भारत में भौतिक सामग्रियों से लदा हुआ, सभ्यता के नाम से पुकारा जानेवाला जो जीवन दिखाई दे रहा है, उसे भारतीय संस्कृति का जीवन नहीं कह सकते। सांस्कृतिक आदर्श शाश्वत होते हैं। वे स्वतः अपने में साध्य होते हैं। सभ्यता तो जीवन का आवरणमात्र है, ठीक प्रकार से जीवन बिताने का साधनमात्र है। इस सभ्यता की दृष्टि से तो हम श्रीरामचन्द्र से भी आगे बढ़ गये हैं। हम लोग तो विमानों पर यात्रा करते हैं, किन्तु उन्हें तो नावों या चरणों पर ही यात्रा करनी पड़ी थी। किन्तु जब शाश्वत आदर्शों की, सत्य की, चरित्र की तथा मानवीय सम्बन्धों को सुरक्षित करनेवाले सौंदर्य की बात आती है, तब कौन ऐसा माई का लाल है, जो छाती ठोंककर आगे आवे और कहे कि मैं इन बातों में श्रीरामचन्द्रजी से भी आगे हूँ।" इसके आगे मुंशीजी ने अत्युच्च पाश्चात्य शिक्षाप्राप्त श्रीअरविन्द घोष और महात्मा गांधी का सांकेतिक उदाहरण देते हुए सांस्कृतिक स्वदेशी शिक्षा पर बहुत जोर दिया है। दूसरा लेख श्रीभदन्त आनन्द कौसल्यायनजी का 'अपरिग्रह' है, जो उनकी प्रकाशित पुस्तक 'जो न भूल सका' से उद्धृत किया गया है। तीसरा है 'कामायनी में आलंकारिक सौन्दर्य' और चौथा श्रीचन्द्रबली पांडेजी का 'तिपुरदास था पत्रदास' दोनों ही मार्मिकतापूर्ण हैं। पहले में कल्पना-माधुरी का दिग्दर्शन है और दूसरे में एक ऐतिहासिक तथ्य का विवेचन। पांडेजी ने स्पष्ट लिखा है—"हिन्दी में भी कहीं इतिहास है, इसका पता तो इतिहास के

बड़े-बड़े डाक्टरों और .सरों तक को नहीं है। पर इतिहास बताता है कि हिन्द का सच्चा इतिहास हिन्दी में ही है । हाँ, घटनाओं का कालवद्ध विवरण उसमें नहीं मिलता।" अन्त में भी कहा है—"कहाँ तक कहें, हिन्दी की उपेक्षा का जो दुष्परिणाम सबके सामने आ रहा है और हमारा मुसलमानी अतीत जितना अंधा हो रहा है, वह तबतक दूर नहीं हो सकता जबतक हम वस्तुतः हिन्दी का अध्ययन न करें। कहने को कोई कुछ भी कहे, पर वास्तव में हमारी स्थिति यही है कि हम आज प्रमादवश अपने अतीत से प्रतिदिन अनभिज्ञ होते जा रहे हैं और अपने इतिहास को विदेशी चश्मे से देखकर भवकूप में पड़ते जा रहे हैं।" पांडेजी की साहित्यिक खोज ने कितने ही रहस्यों का उद्घाटन करके समझदारों को जँचा दिया है कि हिन्दी-साहित्य अनेक ऐतिहासिक गुत्थियों के सुलझाने में समर्थ है। स्वयं सम्पादक चतुर्वेदीजी का लेख 'दानवों के बीच' सच्ची आप-बीती के आधार पर बड़े रोचक-रोमांचक ढंग से लिखा गया है। ठौर-ठौर सरस विनोद का पुट, चित्तप्रसादक शैली, साहसिकता की इयत्ता, भीषण लोमहर्षक वर्णन, प्रसंगानुकूल मनोज्ञ सूक्तियाँ, सबमें एक विचित्र आकर्षण है। बर्मा-प्रान्त के जंगलों और पहाड़ों की पैदल-यात्रा का यह वृत्तान्त इस सभ्य युग में भी राम-वन-यात्रा की भयंकरता को प्रत्यक्ष करनेवाला है। एक बात खूब लिखी है चतुर्वेदीजी ने—"जब हमें गरम-गरम दूध मिला, उस थकावट में, तभी ज्ञात हुआ कि गौ को माता क्यों कहते हैं। उन बड़े सींगोंवाली सुडौल गो-माताओं को प्रणाम है—सब देवता सचमुच आपमें वास करते हैं, यदि आपको छोड़ दें, तो देवता भी जीवित न रहें। इसीलिए किसी ने कहा था—गावस्त्रैलोक्यमातरः।" इसके बाद 'हृदय की रीत' एक रीति-कहानी है श्रीवीरेन्द्रकुमार जैन की, जिसमें शब्दालंकार की ही प्रधानता है, कथावस्तु मे कोई नवीनता अथवा सजीवता नहीं है। कई वाक्यों में केवल शब्दाडंबर की बहार है। "गन्धर्व-कन्याओं के संगीत-सा लहरिल उसका लावण्य था"—यही सर्व प्रथम वाक्य है। भला यह 'लहरिल' क्या बला है? 'लहरीला' का मौसेरा—? 'फेनिल' का फुफेरा—? "उस अबोधता के डाल पर बैठकर प्रणय की कोयल संसार की आँखों में मद भर रही थी"—मगर कोयल तो शायद कानों में ही मद भर सकती है! "नीलमोद्भासित, उपवन की वनानी, चाँदनी-धौत, आँसू-सागर" आदि भी रुचिकर प्रयोग नहीं हैं। चतुर्वेदीजी के समान विचारशील भाषाशास्त्री के सम्पादकत्व में 'प्रतिभा' के प्रतिभावानों पर कुछ तो नियंत्रण रहना ही चाहिए। स्वर्गीय आचार्य द्विवेदीजी के लिखे श्लोकवद्ध सम्पादक-स्तोत्र को सानुवाद प्रकाशित करने के लिए चतुर्वेदीजी को अनेक धन्यवाद। आशा है कि ऐसी और-और पुरानी चीजों का भी उद्धार 'प्रतिभा' करेगी। मौलाना अबुल कलाम आजाद का जो पत्र छपा है, वह निश्चय ही बहुत सुन्दर है; पर उसमें अभी और टिप्पणियों की जरूरत महसूस होती है; क्योंकि अधिकांश हिन्दी-पाठक मौलाना साहब की क्लिष्ट उर्दू नहीं समझ सकेंगे। ऐसे स्थलों में सबसे पहले हमें साधारण पाठकों की सुविधा का ध्यान रखना चाहिए। यों तो पत्र सचमुच कवित्व-पूर्ण है। बीच-बीच में जो उर्दू-फारसी के पद्य जड़े गये हैं, वे मौलाना की साहित्यिक

प्रवृत्ति का पता देते हैं। एक जगह वह प्राकृतिक दृश्य का वर्णन करते हैं—"कारबाहर निकली, तो सुबह मुस्कुरा रही थी। सामने देखा तो समन्दर उछल-उछलकर नाच रहा था। नसीमें सुबह के झोंके अहाते की रविशों में फिरते हुए मिले। ये फूलों की खुशबू चुन-चुनकर जमा कर रहे थे और समन्दर को भेज रहे थे कि अपनी ठोकरों से फिज़ाँ में फैलाता रहे। एक झोंका कार में से गुजरा, तो बेअख्तियार हाफिज की गजल याद आ गई—"सुबह की ठंडी हवा अपने साथ यार के जुल्फों की खुशबू लाई और मेरे पजमुर्दा दिल को नई जिन्दगी अता फरमा गई।" एक दूसरे फारसी पद्य का अर्थ देखिए—"ऐ बियाबान! तू फैल जा; क्योंकि आज रात में मेरी आहों का लश्कर दिल के खीमे से बाहर निकलनेवाला है!" इस प्रकार राष्ट्रपति आजाद का पत्र निहायत दिलचस्प है। हमारी हिन्दी में स्वर्गीय पंडित पद्मसिंह शर्मा के पत्र भी ऐसे ही दिलचस्प हैं, पर आज तक उनका संग्रह प्रकाशित न हुआ! पत्र-साहित्य का अभाव हिन्दी की एक बहुत बड़ी कमी है। 'प्रतिभा' का ध्यान इस कमी की ओर गया है, यह आशाप्रद है। 'एक करुण दृश्य' नामक लेख महाकवि श्रीहर्ष के नैषधीयचरित के एक कारुणिक दृश्य का चित्र है। उसमें उद्धृत श्लोक-खंडों में कहीं-कहीं अशुद्धि रह गई है जो छापे की भूल मालूम होती है। जैसे पृष्ठ ५४ में 'नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी' के स्थान पर 'नवप्रसूतिर्विरहा तपस्विनी' छप गया है। 'जूता' नामक हास्यरसात्मक कहानी में भी एक चित्र ही अंकित है। श्री 'बेढब' बनारसी की सूझ निराली होती ही है। लेफ्टिनेण्ट 'पिगसन' का नाम खूब चुना है—सार्थक और समीचीन! सम्पादकीय टिप्पणियों के विषय शुद्ध साहित्यिक हैं, जिन पर बड़े स्पष्ट शब्दों में सम्पादकीय मन्तव्य प्रकट किये गये हैं। 'प्रतिभा' की साहित्यिक रुचि सर्वथा अभिनंदनीय है।

साहित्य के रंगमंच पर सर्वधर्मसमन्वय

देश में जो घटनाएँ घटी हैं—जो परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई हैं, उनसे प्रत्यक्ष प्रकट हो रहा है कि राजनीतिक या सामाजिक या धार्मिक रंचमंच राष्ट्रीय एकता के लिए उतना उपयुक्त नहीं है, जितना साहित्यिक रंगमंच। सभी रंगमंचों की परीक्षा हो चुकी। साम्प्रदायिक शांति के लिए साहित्य का रंगमंच ही उपयुक्त है। इसी मंच पर सभी सम्प्रदाय के लोग पारस्परिक सद्भाव और सहृदयता से मिल सकते हैं। विश्वबन्धुत्व का केन्द्र यही मंच हो सकता है। सभी भाषाओं और सभी सम्प्रदायों के हिमायती इस मंच से हार्दिक एकता और सात्त्विक सौहार्द का संदेश पा सकते हैं। जो लोग इस रंगमंच के सूत्रधार हैं, उन्हें शीघ्र ही आगे बढ़ना चाहिए। हमें विश्वास है कि इसी रंगमंच पर सब तरह के विचारों और मतों का समन्वय हो सकेगा।

साहित्य की शिक्षा का प्रचार अत्यावश्यक

जो शिक्षा इस समय देश में सुलभ है उससे सच्चे मनुष्य बहुत कम तैयार होते हैं। फिर जिन्हें किसी प्रकार की शिक्षा सुलभ ही नहीं है, उनमें वास्तविक मानवता का

अभाव कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हमारे देश की अधिकांश जनता अशिक्षित है। वह यदि उत्तेजनावश मानवता खो देती है, तो यह विशेष अस्वाभाविक नहीं है—जब शिक्षितों में भी मनुष्यता प्रायः कम ही देखी जाती है। इसलिए, शिक्षितों में ऐसे साहित्य के प्रचार की आवश्यकता है, जो उनको वास्तविक मनुष्य बना सके और अशिक्षितों को आरंभ से ही ऐसी साहित्यिक शिक्षा दी जानी चाहिए, जो उनके भीतर की पशुता का हनन करके उन्हें सच्ची मनुष्यता सिखला सके। साहित्य की शिक्षा ही मानव-हृदय को मानवोचित गुणों से सम्पन्न कर सकती है। शिक्षा के प्रभाव को कभी-कभी मनुष्य का परम्परागत संस्कार भी खण्डित कर देता है। किन्तु यह संस्कार भी शिक्षा के अभाव से ही विकृत होता है। यदि शिक्षा की परम्परा निरंतर चलती रहे, तो मानव-जाति के बहुत-से दुर्गुणों का अंत हो सकता है—शर्त्त इतनी ही है कि वह शिक्षा शुद्ध साहित्यमयी हो। हमारा भारतीय साहित्य मानव-समाज के लिए जितना कल्याणकारी है, उतना और कोई साहित्य नहीं। जब से भारतीय साहित्य की शिक्षा का क्रम टूटा या शिथिल हुआ, तब से हमारी अधोगति शुरू हो गई। हमारे स्वदेशी साहित्य में ही ऐसी शक्ति है, जो हमें सहिष्णु, संयमी, सदाचारी, शुभकर्मा और सहानुभूतिशील बना सकती है। अतएव, हमें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि मानव-वर्ग से विद्वेष का विष निकाल डालनेवाली साहित्यिक शिक्षा का अधिकाधिक प्रचार हो, और ऐसे ही साहित्य की सृष्टि भी हो, जो हमारे पशुत्व का दमन या शमन कर सके।

—मासिक 'हिमालय' (पटना); वर्ष १, अंक ६ जुलाई, १९४६ ई०

'लेखकों की स्वच्छन्दता'

काशी के संस्कृत-मासिक पत्र 'सुप्रभातम्' के तेरहवें वर्ष की चौथी (गत आषाढ़ की) संख्या में एक लेख छपा है—'लेखकानां स्वच्छन्दता'। उसका संक्षिप्त आशय इस प्रकार है—"अशुद्ध शब्दों का प्रयोग विद्वानों के कान में तप्त तैल-बिन्दु के समान असह्य होता है····लेखकों की इच्छामात्र पर यदि भाषा अवलंबित हो जाय तो एक दिन सब की आँखों से उसकी मर्यादा गिर जायगी। इसलिए व्याकरण का अनुशासन अवश्य अंगीकृत करना चाहिए। एक-दो शब्दों को ही देखिए। यदि प-वर्ग आगे रहता है, तो 'अनुस्वार' म-कार के रूप में परिणत हो जाता है, ऐसा व्याकरण का नियम है। फिर भी क्यों दन्त्योष्ठ्य व-कार के साथ, सम्वत, स्वयम्वर आदि लिखे जाते हैं ? इसे लेखकों की स्वच्छन्दता न कहा जाय, तो और क्या कहा जाय ?" हिन्दी में प्रायः ये दोनों शब्द इसी रूप में छपे दीख पड़ते हैं। इनके सिवा अनेक शब्दों के अशुद्ध रूप धड़ल्ले से चल रहे हैं। 'ब' और 'व' के भेद का

विचार निरर्थक माना जाने लगा है। व्याकरण का अनुशासन मानने की प्रवृत्ति लुप्त होती जा रही है। प्रत्येक वर्ग के अक्षर अपने ही वर्ग के अंतिम (पंचम) अनुनासिक वर्ण के साथ संयुक्त होते हैं; पर हिन्दी में विशेषत: 'घन्टा', 'इन्डिया' आदि शब्द ही लिखे या छपे दीख पड़ते हैं। कहा जाता है कि लिपि और भाषा की क्लिष्टता बढ़ जाने से प्रचार में बाधा पड़ेगी। प्रचार के नाम पर संस्कार का संहार असह्य अनाचार है। जान पड़ता है, यह भाषा-संस्कार के बदले भाषा-संहार का युग है। पत्रकारों का न इधर ध्यान है, न इसमें अनुराग ही। भाषा-शास्त्री भी सगठित नहीं हैं। साहित्य-परिषदें असंख्य हैं, पर इस चर्चा में किसी की दिलचस्पी नहीं। 'सभा' या 'सम्मेलन' की भी इस दिशा में कोई खास तत्परता नहीं देखी जाती। ऐसी अनिश्चित स्थिति में लेखकों की स्वच्छन्दता का अनियन्त्रित होना स्वाभाविक है। हमारी समझ में लेखकों से अधिक सम्पादक ही स्वच्छन्द हैं। सम्पादक यदि सहृदयता और सावधानता से भाषा-संस्कार के महत्कार्य में तत्पर रहें, तो निश्चय ही उन्हें लेखकों का मधुर सहयोग प्राप्त होगा।

'निराला'-जयन्ती

काशी में वसन्त-पंचमी के अवसर पर हिन्दी के स्वनामधन्य कवि 'निराला' जी की स्वर्ण-जयन्ती मनाई गई। उन्हें ग्यारह हजार रुपयों की थैली भेंट की गई और अभिनन्दन-ग्रन्थ की पांडुलिपि भी। उनका जो सम्मान किया गया, उसमें यह नहीं सोचना चाहिए कि इतना ही सम्मान उनकी प्रतिभा अथवा साहित्य-सेवा के लिए उपयुक्त नहीं हुआ। देखना यह चाहिए कि सम्मान करनेवालों के हृदय में उनके प्रति कितनी श्रद्धा-भक्ति है। 'निराला'जी रुपयों से रीझनेवाले नहीं हैं। अर्पित ग्रंथ में भी उनके लिए विशेष आकर्षण नहीं। वह बड़े निःसंग व्यक्ति हैं। किसी बहुमूल्य वस्तु के प्रति भी उनमें व्यामोह कभी नहीं देखा गया। किन्तु अभिनन्दन करनेवालों का विश्वास है कि उनकी श्रद्धा अवश्य तृप्तिकरी होगी। इसी अवस्था में ऐसे महोत्सव की सफलता है। इसका अधिकांश श्रेय प्रोफेसर नन्ददुलारे वाजपेयी और प्रोफेसर विश्वनाथप्रसाद मिश्र तथा राष्ट्रभाषा-विद्यालय (काशी) के संचालकों को प्राप्त है। इन्हीं के उद्योग और सहयोग से यह आदर्श कार्य सविधि सम्पन्न हुआ है। पर केवल इन्हीं लोगों की ओर से कवि का अभिनंदन नहीं हुआ है, समस्त हिन्दी-संसार का इसमें हार्दिक योगदान था। यह 'निराला' जी की महत्ता और कीर्त्ति का स्पष्ट सूचक है। उनकी प्रतिभा के प्रसाद से साहित्य की जो श्री-वृद्धि हुई है, उसका बहुत व्यापक प्रभाव हिन्दी-जगत् पर है। पुन: इस बात में भी एक चिन्तनीय रहस्य है कि उनकी जन्मतिथि वसन्त-पंचमी है, जो विशेषत: सरस्वती-पूजा के लिए प्रसिद्ध है। अत: उनकी सरस्वती की सिद्धि ईश्वर-दत्त है। यदि वह अपनी आरंभिक प्रवृत्तियों और परिस्थितियों के वश होकर बँगला-साहित्य की सेवा में प्रवृत्त हो गये होते, तो आज बंगीय साहित्य-सेवी हमसे कहीं अधिक उनका

सम्मानं करते । किन्तु बँगला-साहित्य के समर्थ मर्मज्ञ होकर भी वह केवल मातृभाषा हिन्दी की सेवा में ही सतत दत्तचित्त रहे । हिन्दी-भाषा की ओजस्विता और उसका लालित्य उनकी कई कविताओं में देखने ही योग्य है। ऐसे कवि का सत्कार सर्वथा उचित और प्रमुख कर्त्तव्य है । इससे उदीयमान कवियों को भी शुभ प्रेरणा मिलेगी । ईश्वर से प्रार्थना है कि 'निराला'जी दीर्घायु हों और हमें उनकी अनेक जयन्तियाँ मनानें का सौभाग्य प्राप्त हो ।

'पोद्दार'-जयन्ती

वसंत-पंचमी के अवसर पर ही मथुरा में श्रीमान् सेठ कन्हैयालाल पोद्दार की हीरक-जयन्ती मनाई गई है । सेठजी संस्कृत-साहित्य और हिन्दी के प्राचीन साहित्य तथा रस-छन्द-अलंकार-शास्त्र के प्रकांड पंडित हैं । वह द्विवेदी-युग के सुप्रतिष्ठित सुलेखकों में अत्युच्च आसन के अधिकारी हैं। रस और अलकार के मर्मज्ञों में वह प्रामाणिक विद्वान् माने जाते हैं । उनका 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' हिन्दी का एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है । उनका 'मेघदूत-विमर्श' भी हिन्दी में पांडित्यपूर्ण समीक्षात्मक ग्रंथ है । खड़ीबोली के आरंभिक युग के कवियों में उनका आदरणीय स्थान है । अपनी विद्वत्ता और साहित्य-सेवा से उन्होंने हिन्दी का बहुत गौरव बढ़ाया है । साहित्य-शास्त्र का उनका अध्ययन जितना ही विस्तृत है, उतना ही गम्भीर भी । साहित्य के ऐसे ठोस विद्वान् का सम्मान करके मथुरा के 'व्रजसाहित्य-मण्डल' ने वास्तव में प्रशंसनीय कार्य किया है। साहित्य-जगत् में जो वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध हैं, उनकी स्तुत्य सेवाओं का स्मरण और अभिनन्दन होना ही चाहिए । सुना है कि व्रज-साहित्य-मण्डल की मुखपत्रिका 'व्रजभारती' का एक अभिनंदन-अंक भी निकलनेवाला है और शायद एक अभिनंदन-ग्रन्थ भी सेठजी को अर्पित किया जानेवाला है। 'मण्डल' के इस अभिनंदनीय प्रयत्न की सफलता चाहते हुए हम ईश्वर से सेठजी की दीर्घायु-कामना करते हैं ।

'प्रेमी'-अभिनंदन-ग्रंथ

बंबई के 'हिन्दी-ग्रंथ-रत्नाकर'-कार्यालय के संस्थापक और संचालक श्रीनाथूरामजी प्रेमी को एक अतीव सुन्दर अभिनन्दन-ग्रंथ अर्पित किया गया है। दस रुपये मूल्य और साढ़े सात सौ पृष्ठों का यह सुमुद्रित, सुसम्पादित और सुसज्जित ग्रंथ अनेक अधिकारी विद्वानों के सुचिन्तित लेखों से अलंकृत है। विषय-विभाग के अनुसार इसमें अठारह खंड हैं। प्रत्येक खण्ड के सम्पादक उस विषय के माननीय विद्वान् सज्जन हैं। अतः सम्पादकों की संख्या लगभग चार दर्जन है । सभी अपने-अपने विषय के अच्छे जानकार हैं । इसीलिए ग्रंथ सर्वांगसुन्दर तैयार हुआ है । यह हिन्दी-साहित्य-भाण्डार का एक अनमोल अलंकार कहलाने योग्य है । श्रीयशपालजी जैन, बी० ए०, एल्० एल्० बी० ने टीकमगढ़ (मध्यभारत) से इसे प्रकाशित

किया है। उन्हीं के अथक परिश्रम से हिन्दी को ऐसा उत्तम ग्रंथ मिला है। श्रीबनारसीदासजी चतुर्वेदी की प्रेरणा का यह सुपरिणाम है। श्रीचतुर्वेदीजी और श्रीयशपालजी ही ऐसे अमर ग्रंथ के प्रस्तुत करने के लिए धन्यवाद-भाजन हैं। श्रीमान् प्रेमीजी की साहित्य-सेवा जैसी ही महिमामयी है, वैसा ही यह ग्रन्थ भी निर्मल निर्मित हुआ है। प्रेमीजी केवल पुस्तक-प्रकाशक ही नहीं हैं, सुरुचि-सम्पन्न सुयोग्य सम्पादक भी हैं। उन्होंने हिन्दी में उस समय आदर्श एवं निष्कलंक ग्रन्थ प्रकाशित किये थे, जिस समय पुस्तकों के बाहरी और भीतरी सौन्दर्य का महत्त्व बहुत ही कम प्रकाशकों ने समझा था। उन्होंने हिन्दी को अनेक ऐसी पुस्तकें दीं, जिनका अन्तरंग और बहिरंग स्वच्छता, शुद्धता एवं सुन्दरता का उत्कृष्ट नमूना है। उनके प्रकाशन-मंदिर (हिन्दी-ग्रंथ-रत्नाकर) का नाम अक्षरशः सार्थक है। उनके प्रकाशित और सम्पादित ग्रंथ-रत्नों से हिन्दी का ग्रंथ-भांडार जगमगा रहा है। परमात्मा उन्हें शतायु करें कि हिन्दी का ग्रन्थ-कोश समृद्ध होता रहे।

बिहार के दो नये पत्र

इस बार स्वतंत्रता-दिवस (२६ जनवरी) बिहार के लिए दो साहित्यिक उपहार लेकर आया। श्रीदेवव्रत शास्त्रीजी के सम्पादकत्व में दैनिक 'नवराष्ट्र' का शुभ जन्म हुआ और श्रीबेनीपुरीजी के सम्पादकत्व में सप्ताहिक 'जनता' के पुनः प्रकाशन का श्रीगणेश हुआ। दोनों ही सम्पादक हिन्दी-संसार के सुविख्यात पत्रकार हैं। शास्त्रीजी जैसे अध्यवसायी, साहसी और कर्मठ पुरुष हैं, बेनीपुरीजी वैसे ही तेजस्वी और प्रतिभाशाली सम्पादक हैं। दोनों ने बिहार में पत्रकार-कला की उन्नति और गौरव-वृद्धि के लिए उल्लेखनीय प्रयत्न किया है। पत्र-पत्रिकाओं के लिए बिहार को लोग ऊसर भूमि कहा करते थे। इन दोनों ने उस ऊसर को ऐसा उपजाऊ बनाया कि आज बिहार के मस्तक से वह कलंक-पंक सदा के लिए धुल गया। 'नवराष्ट्र' के जन्म से कुछ ही महीने पहले शास्त्रीजी ने दैनिक 'राष्ट्रवाणी' और साप्ताहिक 'नवशक्ति' का सम्पादन-भार छोड़ा था। इन दोनों पत्रों के भी संस्थापक और संचालक वही थे। उन्होंने ही इन्हें स्थायी और उन्नत बनाया था। किन्तु उन्हें विषम परिस्थितियों से विवश होकर इन्हें छोड़ना पड़ा। तब उन्होंने अत्यल्प अवधि के अन्दर ही नवराष्ट्र प्रेस स्थापित करके नया दैनिक निकाल डाला। इसके नामकरण में उन्होंने बड़ी सूझ से काम लिया है। 'नवशक्ति' और 'राष्ट्रवाणी' के प्रति उनकी जो स्वाभाविक ममता थी, उसे मानों चरितार्थ करने के लिए दोनों के प्रथम शब्द से 'नवराष्ट्र' जैसा सामयिकतापूर्ण और युगानुकूल नाम बना लिया। नामानुसार पत्र भी नये राष्ट्र की आशाओं और आकांक्षाओं का मूर्त्त रूप निकला। हमें विश्वास है कि शास्त्रीजी ने जैसा शुरू में उसे स्वच्छ और शुद्ध रूप में निकाला है, वैसा ही बराबर निकाला करेंगे। बेनीपुरीजी का तो नाममात्र ही इस बात का प्रमाण है कि उनकी देखरेख में निकलनेवाला पत्र काफी जोशीला और सजीला होगा। 'जनता' देखकर कहना पड़ता है कि इस समय देश की जनता की जैसी मनोवृत्ति है, वैसी ही इसकी नीति है। यह काँगरेस-समाजवादी दल की साप्ताहिक मुखपत्रिका है। इसकी स्पष्टवादिता

और निर्भीकता से जनता विशेष प्रभावित और आकृष्ट होगी। इसकी दो-टूक बातें ही इसकी लोकप्रियता बढ़ावेंगी। इसके स्वर में सचाई और निखार है। इसकी वाणी में बेनीपुरीजी की तूफानी लेखनी की बिजली है। हमें आशा है कि निकट भविष्य में ही 'जनता' लक्ष्यवेध में सव्यसाची सिद्ध होगी।

पंजाब में हिन्दी पर संकट

पंजाब से हमें एक मुद्रित पत्रक मिला है, जिसकी कुछ पंक्तियाँ बड़ी भयावह हैं। यथा—"पंजाब और फ्रांटियर (सीमान्त-प्रदेश) में कन्या-पाठशालाओं से हिन्दी उठाने की चालें चली जा रही हैं। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के स्कूलों में बीस-बीस वर्ष पूर्व से लड़कियों को केवल हिन्दी ही पढ़ाई जाती थी, वहाँ भी उर्दू जारी की जा रही है। कितनी ही जगह हिन्दी-पाठशालाओं के 'ग्राण्ट' (सरकारी सहायता) बन्द होने जा रहे हैं। पाठशालाओं के संचालकों को सलाह दी जा रही है कि कन्याओं को उर्दू पढ़ाओगे, तो अधिक ग्राण्ट दिया जायगा, नहीं तो बंद होगा। कितनी जगहों में ऐसा हुआ भी है।" पंक्तियाँ स्वयं मुखर हैं। हम उर्दू के विरोधी नहीं हैं। उसकी प्रगति से हमारी साहित्यिक सहानुभूति है। किन्तु उसके हिमायती सज्जन हिन्दी की निरोहता पर अकारण आघात कर रहे हैं, यह गहरी चिंता का विषय है। भाषा के प्रचार और साहित्य के निर्माण में हम कभी साम्प्रदायिकता के विष को घर करने देना पसन्द नहीं करते, वहाँ हम केवल सद्भाव और सहयोग के अमृत का प्रयोग करना ही श्रेयस्कर समझते हैं। यदि सचमुच पंजाब और सीमांत में वही हो रहा है, जो ऊपर की पंक्तियों में दर्ज है, तो वहाँ के हिन्दी-प्रेमियों को मुकाबले का मोर्चा मजबूत बनाना चाहिए। जो हिन्दी की प्रगति देख सशंक हैं, उन्हें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि बालू के बाँध से गंगा का अखंड प्रवाह नहीं रोका जा सकता। कोई भाषा अब भारत में हिन्दी की राह का रोड़ा नहीं बन सकती। समय की माँग है—हिन्दी, युग की पुकार है—हिन्दी, भारतीयता की जान है—हिन्दी! यद्यपि पंजाब और सीमान्त के हिन्दीप्रेमी अल्पसंख्यक हैं, तथापि उनके स्वर के साथ समस्त हिन्दी-जगत् के कोटि-कोटि कंठों का स्वर सम्मिलित है। अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने अवश्य इधर ध्यान दिया होगा। पंजाब-प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन बड़ी सजग संस्था है। उसके उन्नायक स्वामी गणेशदत्तजी इस आक्रमण का प्रतिकार करने में पूर्ण समर्थ हैं। हमें आशा है कि पंजाब के हिन्दी-पत्रकार भी संयत रीति से हिन्दी की स्वत्व-रक्षा के प्रयत्न में संलग्न होंगे।

कहानियों की दो नई पत्रिकाएँ

'हिमालय' के आकार की दो पत्रिकाएँ इधर और निकली हैं। एक 'कहानियाँ' पटना से निकली है और दूसरी 'लहर' इलाहाबाद से। पहली के सम्पादक हैं हिन्दी के यशस्वी कथाकार श्रीमान् सूर्यपुराधीश राजा राधिकारमणप्रसाद सिंहजी, एम्० ए०। दूसरी के तीन सम्पादक हैं—श्रीज्ञानचंद जैन, श्रीगंगाप्रसाद पाण्डेय और श्रीओंकारनाथ

शरद। पहली के कार्यालय का पता है 'कदमकुआँ' और दूसरी का ९९ गाड़ीवान टोला। पहली का वार्षिक मूल्य दस रुपये है और दूसरी का छह रुपये। बाहरी आवरण दोनों का आकर्षक है। किन्तु अंतरंग दूसरी का ही अच्छा है। पहली में छपाई की गलतियाँ बहुत अधिक हैं, दूसरी में बहुत कम। भाषा की भूलों का भी यही हिसाब है। नई-नई पत्रिकाएँ निकालने का शौक सबको है, मगर भाषा-संस्कार पर सावधानतापूर्वक ध्यान रखकर सम्पादन-कार्य में तत्परता से परिश्रम करने का अनुराग बहुत कम लोगों में है। यह अत्यन्त कठिन और कष्टसाध्य कर्म है। हिन्दी के अधिकांश पाठक भाषा की त्रुटियों पर कभी ध्यान नहीं देते, केवल चटपटी चीजों पर लट्टू हो जाते हैं। जो पाठक भाषा की शैली के गुण-दोष से परिचित हैं, उन्हें सम्पादकों से ऐसा अनुरोध करना चाहिए कि भाषा बराबर निखरी हुई मिले। इन दोनों पत्रिकाओं में अच्छे-अच्छे साहित्यकारों की रचनाएँ हैं; पर उनका सविधि सम्पादन मनोयोगपूर्वक नहीं हुआ है। श्रीमान् राजासाहब तो भाषा-शैली की खूबियाँ और बारीकियाँ बड़ी मार्मिकता से परखते हैं। वह छपाई की अशुद्धियों को किसी तरह बर्दाश्त नहीं कर पाते, देखते ही झल्ला उठते हैं। फिर भी, उनके सम्पादकत्व में निकलनेवाली पत्रिका सुसम्पादित नहीं है, यह कहते हुए हमें बहुत संकोच और खेद हो रहा है। हम पत्र-पत्रिकाओं की संख्या-वृद्धि में हिन्दी की गौरव-वृद्धि नहीं मानते। पत्र-पत्रिकाएँ कम ही हों, पर आद्यन्त सुसंपादित हों, नहीं तो सारा प्रयास निष्फल और ग्लानि-गरिष्ठ है। पहली से दूसरी हमें ज्यादा पसन्द है; पर हम दोनों के भावी अभ्युदय की शुभ कामना करते हैं। दूसरी ने 'शैली के नवीन प्रयोगों की आकांक्षा' प्रकट की है, किन्तु—'गाँव के मुसलमानों ने उनका बड़े जोरों से इस्तकबाल मसलिद किया' और 'उनकी जहनियत गुलामी की जहनियत है' (पृष्ठ ५)—ऐसे नवीन प्रयोगों से साहित्य की शोभा नहीं बढ़ सकती। भाषा की प्रकृति परखना तलवार की धार पर चलना है।

'नर-नारी'—पत्रिका या पुस्तकमाला?

पी० पब्लिकेशन्स (पटना-सिटी) से यह एक ऐसी 'चितचोर' चीज निकली है, जिसको आज की नई दुनिया बड़े शौक से पसन्द करेगी। युवक-युवतियों के लिए तो यह एक अतिशय आकर्षण की वस्तु सिद्ध होगी। किंतु इसमें खतरे भी कम नहीं हैं। इसमें प्रकाशित सामग्री से पाठकों का मनोरंजन तो खूब होगा; पर जीवन-यात्रा के लिए उन्हें पुष्टिकर पाथेय नहीं मिलेगा। वर्त्तमान समाज का चारित्रिक ह्रास प्रत्यक्ष ही है। विवेकी नर-नारियों की संख्या बहुत ही थोड़ी नजर आती है। सुशिक्षित लोग भी नई रोशनी के उत्तेजक प्रभावों से ग्रस्त हैं। हर तरफ दुर्व्यसनों का बोलबाला है। ऐसी शोचनीय स्थिति में, इस तरह की 'रसीली' चीज कहाँ तक लोगों को संयम की प्रेरणा दे सकेगी, ठीक कहा नहीं जा सकता। मुखपृष्ठ पर अंकित परिचयात्मक वाक्य के अनुसार इसमें 'स्वास्थ्य(?), सौन्दर्य, यौन और मनस्तत्त्वमूलक साहित्य-संचयन' है; पर 'स्वास्थ्य' का उल्लेख सर्वप्रथम होने पर भी इसमें प्रकाशित बीस 'लुभावने'

लेखों के पढ़ने से यह ठीक पता नहीं लगता कि स्वास्थ्यवर्द्धक साहित्य इसमें कहाँ छिपा हुआ है ! स्वास्थ्य-रक्षा के लिए जो आवश्यक बातें जानने योग्य हैं भी, वे अत्यंत उत्तेजनावर्द्धक ढंग से लिखी गई हैं। ऐसे असंयत लेखों के पढ़ने से आज के युग के स्त्री-पुरुष सँभलकर संयमी बनने का प्रयास करेंगे, अथवा शरीर-संरक्षण के निमित्त ब्रह्मचर्य का महत्त्व समझने में प्रवृत्त होंगे, ऐसा विश्वास किसी तरह नहीं जमता। प्रकाशक महोदय का यदि यह उद्देश्य हो भी, तो वह इस प्रकार के क्षोभकारी साहित्य से सिद्ध नहीं हो सकता। वर्त्तमान परिस्थितियों पर निगाह रखकर बहुत सोचने-समझने पर भी यह नहीं सूझता कि ऐसे साहित्य से समाज का कल्याण संभव है या हो सकता है। इस तरह का 'यौन-मूलक और मनस्तत्त्वमूलक साहित्य' इस युग के मनचले लोगों की इंद्रिय-लालसा को उद्दीप्त भले ही कर दे—वासना की बुभुक्षा शान्त करने के लिए उन्हें उद्विग्न एवं पथभ्रष्ट भले ही कर दे, लोकहित-साधन नहीं कर सकता। युग का मनस्तत्त्व बरबस यही विश्वास दिलाता है। आवरण पर जो तिरंगा चित्र नर-नारी का है, वह भी न सुरुचि का परिचायक है और न संयमशीलता का प्रेरक। भीतर दिये गये चित्र भी इन्द्रियलोलुपता को उकसानेवाले और जन-जन के मन में छिपी भीषण आग को भड़कानेवाले हैं। पाश्चात्य जगत् की पुरानी विलास-लीलाओं की हृदयोन्मादिनी गाथाएँ और इन्द्रिय-तृप्ति की नई-नई आपात-मनोहर रीतियाँ जानकर हमारे दुर्बल देश के चंचलचित्त मनुष्य अविचलित रहकर आरोग्यमय सुदीर्घ जीवन पा सकेंगे, यह आशा घोर दुराशामात्र है। इसमें कहीं-कहीं कुछ काम की बातें भी हैं, जो हितकर मानी जा सकती हैं; पर वे दावानल की लपटों से घिरी हुई मृगी के समान हैं—वे अपने शुभ प्रभाव का संचार या विस्तार नहीं कर सकतीं। यदि आधुनिक समाज की मनोवृत्ति और प्रवृत्ति पर ध्यान रखकर इसे निष्कलुष बनाने की चेष्टा की गई, तो यह पत्रिका या पुस्तकमाला समाज-सेवा के लिए उपयोगी हो सकेगी।

श्रीवियोगीहरिजी का भाषण

अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के चौंतीसवें अधिवेशन (कराची) में, सभापति-पद से भाषण करते हुए, हिन्दी के तपस्वी साहित्य-सेवी श्रीवियोगीहरिजी ने कहा है—"रेडियो की वर्त्तमान हिन्दीघातक नीति का अन्त तुरंत होना चाहिए। सम्मेलन ने जिस सद्भावपूर्ण न्याय की आशा से बहिष्कार-आन्दोलन उठाकर सहयोग का हाथ बढ़ाया था, उसका सही उत्तर अबतक नहीं मिला।" और, सही उत्तर मिलने की आशा भी कम ही है। बहिष्कार-आन्दोलन उठाकर सम्मेलन ने 'हिन्दीघातक' रेडियो-विभाग के सामने घुटने टेककर आत्मसमर्पण किया है, रेडियो-विभाग की लीगी मनोवृत्ति में मानवता का स्पर्श तक नहीं है। हमारे बहिष्कार-आन्दोलन के खोखलापन से रेडियो-विभाग भली भाँति परिचित है। सच तो यह है कि हम हिन्दीप्रेमियों ने बहिष्कार-आन्दोलन को ठोस नहीं बनाया। हम जबतक रेडियो का मोह न छोड़ेंगे, तबतक कुछ भी न होगा। हम पहले भी कह चुके हैं और आज भी स्पष्ट कह रहे हैं कि रेडियो का पूर्ण

बहिष्कार किये विना कार्य-सिद्धि नहीं हो सकती। प्रत्येक हिन्दीप्रेमी रेडियो से पूर्ण असहयोग करे, रेडियो को घर से और मन से भी निकाल बाहर करे, भाषा की हत्या के प्रतिशोध की भावना को क्षण-क्षण उग्र एवं तीव्र करे, तभी काम बनेगा। दुआ और दुहाई से त्रिकाल में भी कुछ लाभ न होगा। हम रेडियो की तान पर अपने हृदय को थिरकाते भी रहें और अपनी भाषा के अपमान का प्रतिकार भी करलें, यह असंभव है। सिनेमा में हम अपने विद्यापति, सूर और तुलसी की दुर्गति देखकर भी उसके रसिक बने हुए हैं, उसमें अपनी प्यारी भाषा की छीछालेदर देख-सुनकर भी उसके कोष को अपनी गाढ़ी कमाई से भरते रहते हैं; भला ऐसा बुद्धू यजमान रेडियो और सिनेमा को कहाँ मिलेगा! हम हिन्दीप्रेमियों को अपने संख्या-बल का जो अभिमान है, वह झूठा है, पोला है, निर्मूल है, थोथा है, निर्जीव है, उसमें इतना दम नहीं कि हम अपनी भाषा का अनादर करनेवालों को टटका-टटका सबक सिखा सकें। हम लोग नाममात्र के हिन्दीप्रेमी हैं। अपनी भाषा के लिए हममें तनिक भी ममता नहीं। यही कठोर सत्य है।

दो नये मासिकों का स्वागत

काशीसे 'जनवाणी' पत्रिका नई निकली है। इसका कार्यालय काशी-विद्यापीठ में है। वार्षिक मूल्य है आठ रुपये। सम्पादक-मण्डल में चार विश्रुत विद्वान् हैं, आचार्य नरेंद्रदेवजी, श्री बी० पी० सिन्हा, प्रो० राजाराम शास्त्री और श्रीबैजनाथ सिंह 'विनोद'। स्वच्छ और शुद्ध छपे हुए ८२ पृष्ठों में विद्वत्तापूर्ण ग्यारह लेख हैं। सम्पादकीय लेखों के अतिरिक्त चार लेख विशेष उल्लेखनीय हैं—कला और संस्कृति (डॉ० भूपेन्द्रनाथदत्त) भारत की सांस्कृतिक समस्या (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी), दृश्य-शिक्षा और समाज का पुनर्निर्माण (डॉ० मोतीचन्द), बर्नार्ड शॉ की कुछ सूक्तियाँ (श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी)। पाँच कविताएँ हैं, जिनमें श्रीमैथिलीशरणजी का 'विश्वराज्य' अत्यंत हृदयग्राही और सामयिक है। छह सम्पादकीय टिप्पणियाँ हैं, जिनमें पाँच आचार्यजी की लिखी हुई हैं और एक श्री बी० पी० सिन्हाजी की। सम्पादकों के स्वतंत्र लेख भी हैं—पूँजीवादी समाज और प्रेस (आचार्यजी), काँगरेससमाजवादी नीति (श्रीसिन्हाजी), द्वन्द्व-न्याय—प्राच्य और और पाश्चात्य (प्रो० शास्त्रीजी), 'कुरुक्षेत्र' में युगदर्शन (श्री 'विनोद' जी)। इस अंतिम लेख में श्री 'दिनकर'जी के नवीन काव्य 'कुरुक्षेत्र' की समालोचना है। एक अनामिका रचना भी है—'समाजवादी की डायरी'। यह है भी कांगरेस-समाजवादी-दल की मासिक मुख-पत्रिका। चार मनस्वी मनीषियों के सम्पादकत्व में प्रकाशित इस राष्ट्रीय पत्रिका की सर्वोपयोगिता और सर्वाङ्गसुन्दरता स्वयंसिद्ध है। इसमें वर्त्तमान समय के देश की अन्तर्ध्वनि मूर्त्त हो गई है। यह सचमुच जन-मन की बात कहती है, इसलिए 'जन' शब्द केवल इसी के नाम के साथ सार्थक है। हम सर्वान्तः-करण से इसका स्वागत करते हैं। दूसरा पत्र है 'कृषक', जो नागपुर से निकला है। इसके प्रधान सम्पादक हैं श्रीमाणिकचन्द्र बोन्द्रिया, बी० एस्-सी०। वार्षिक चन्दा ६ रु० और पृष्ठ-संख्या ३० है। छपाई साधारण है। सम्पादन भी वैसा ही है। भाषा और छपाई

की अशुद्धियाँ खटकनेवाली हैं। विषयों का चुनाव बहुत सुन्दर और उपयुक्त है। हिन्दी में ऐसे पत्र की आवश्यकता है। परंतु सुसम्पादित और सुमुद्रित होने पर ही इसका महत्व कायम रह सकेगा। हम 'कृषक' को अधिक विकसित और उन्नत देखना चाहते हैं।

—मासिक 'हिमालय', (पटना); वर्ष १, अंक ७, अगस्त १९४६ ई०

हमारी भाषा और लिपि—दोनों अनाथा !

आजकल भाषा और लिपि के 'बिगाड़क' बहुत पैदा हो गये हैं। उन्हें अपनी योग्यता और प्रतिष्ठा का बड़ा अभिमान है। देशसेवा के क्षेत्र में कमाई हुई थोड़ी-सी कीर्त्ति के बल पर वे साहित्य-सेवा के क्षेत्र में मनमानी कर रहे हैं। अहिन्दू नेताओं के तरह वे भी विश्ववन्द्य बापू के शील-सौजन्य से अनुचित लाभ उठाते हैं। वे महात्मा गान्धी की साधुता का दुस्साहसपूर्वक दिन-दहाड़े दुरुपयोग करते हैं। राष्ट्रीयता के नाम पर वे अनर्थ को भी यथार्थ बतलाते हैं। 'अहं' की शिखा आकाश चूम रही है। न किसी में नियंत्रण करने की शक्ति है, न किसी में नियंत्रण मानने की प्रवृत्ति। बिना माथ की फौज है, दिन-दिन अराजकता बढ़ती ही जाती है। यदि इस स्वेच्छाचार के विरुद्ध कोई आवाज उठाता है, तो निरंकुशतापूर्वक कहा जाता है कि वह प्रगतिशील नहीं है—समय की गति नहीं पहचानता—युगधर्म की पुकार नहीं सुनता—देश की स्थिति नहीं समझता—स्वतंत्रता के मार्ग में रोड़े अटकाता है। तारीफ यह कि स्वतंत्रता के मार्ग के जितने रोड़े गिनाये जाते हैं, उनमें हिन्दी-भाषा और देवनागरी-लिपि की भी गिनती है!!! यहाँ तक कहा जाता है कि राष्ट्रीयता की रक्षा—साम्प्रदायिक एकता—के लिए भाषा और लिपि का, प्रिय से प्रिय वस्तु का, 'बलिदान' करना ही कर्त्तव्य है; भाषा और लिपि के मोह में पड़कर आजादी नहीं बिलमाई जा सकती!! मानों भाषा और लिपि के विकृत करने से आजादी दौड़ी चली आ रही है! काशी में जब अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन हुआ था, तब पूज्य महामना मालवीयजी ने भी अपने स्वागत-भाषण में भाषा और लिपि-सम्बन्धी स्वेच्छाचार को साहित्य की परम्परा के लिए अत्यन्त अनिष्टकर बतलाया था। इस बार कराची में श्रीवियोगीहरिजी ने भी अपने भाषण में कहा है—"हरिजनसेवक की वर्त्तमान हिन्दी—नहीं-नहीं, हिन्दुस्तानी—को जरा आप देखें। उसमें हिन्दी का बेमेल गठबन्धन किस भोंड़ेपन के साथ किया जा रहा है! हिन्दुस्तानी के नाम पर हिन्दी और उर्दू का यह भद्दा परिहास अच्छा नहीं।······असली सिर काटकर उसकी जगह बकरे का सिर चिपका देने से दक्ष-प्रजापति की जो शकल बनी थी, उसे देखकर तो भगवान् रुद्र भी खिलखिलाकर हँस पड़े थे। ····दो विभिन्न भाषाओं के समानार्थक शब्दों को एक साथ रखने से भी भाषा के आमफहम बनाने का प्रश्न हल नहीं होगा। साम्प्रदायिक ऐक्य-साधन की धुन में भाषा को जान-मानकर बिगाड़ना किसी भी दृष्टि से

समीचीन नहीं। बेमेल शब्दों को कान उमेठ-उमेठकर जबरदस्ती ऐसी जगह बिठाना, जो उनके लिए मौजूं न हों, एक व्यर्थ का ही प्रयास है। कभी इस तरह सुबोध और सामान्य भाषा बनी है? इस फेर में पड़कर भाषा को—हिन्दी को भी और उर्दू को भी—अस्वाभाविक और असुन्दर क्यों बनाया जा रहा है?" किन्तु सम्मेलनाध्यक्ष के इन प्रश्नों के उत्तर दे सकनेवाले महानुभाव कभी इन प्रश्नों की ओर फूटी निगाह से भी न देखेंगे। उनकी आँखों में चर्बी छा गई है। वे अपनी कुटेव पर तुले हुए हैं। उनका दावा है कि वे ही जो कुछ कर रहे हैं, उसीसे हिन्दी का उपकार होगा। वे राष्ट्रीय मोर्चे को मजबूत बनाने का बहाना रचकर हिन्दी और नागरी को जिबह कर रहे हैं। भाषा की कुटम्मस होती है 'नया हिन्द' के इलाहाबादी कारखाने में और लिपि की मरम्मत होती है वर्धा के कारखानों में। वहाँ की 'राष्ट्रभाषा'-नामधारिणी पत्रिका को राष्ट्रलिपि गढ़ने का गर्व है! उसी की एक नई सहेली वहीं पर पैदा हुई है—'महिला-आश्रम-पत्रिका', इन्हीं के दल में वर्धा का ही मासिक 'खादी-जगत' भी है। लिपि का सुधार-श्राद्ध बड़े समारोह से वर्धा में हो रहा है। देखादेखी खण्डवा (मध्यप्रदेश) का साप्ताहिक 'हिन्दी-स्वराज्य' भी इस श्राद्ध में पिण्डदान कर रहा है। उधर 'सर्वोदय' और 'सब की बोली' के कीटाणु 'हरिजन-सेवक' की नसों में घुसकर अपना काम कर ही रहे हैं। 'हरिजन-सेवक' जब निकला था, तब उसमें यह रोग नहीं था। अब वह भी पूज्य महात्मा गान्धी की ओट लेकर हिन्दी और नागरी को चुनौती दे रहा है। ये भाषा-निर्माता और लिपिसुधारक अँगरेजी-भाषा और अँगरेजी-लिपि से होड़ करने के लिए हिन्दी एवं नागरी का अंग-भंग कर रहे हैं। इनकी दलील है कि हिन्दी अपना असली नाम और रूप लेकर जनप्रिय एवं देशव्यापी नहीं हो सकती—लिखावट और छपाई में सुविधा तभी होगी, जब नागरी के अंग तराश डाले जायेंगे। भला किसमें इतना बुद्धि-बल है, जो ऐसे अभूतपूर्व आविष्कारकों को चरा सके? स्वेच्छाचार के इस युग में कौन इनकी लगाम थाम सकता है?

रेलवे-विभाग में हिन्दी की उपेक्षा!

काशी के नवयुग-हिन्दी-साहित्य-विद्यालय की ओर से एक छपी हुई गश्ती चिट्ठी हमारे पास आई है। सर्वत्र ही उसका वितरण हुआ है। उसमें हिन्दी-पत्रकारों से अपील की गई है कि रेलवे-विभाग में हिन्दी-भाषा और नागरी-लिपि की जो दुर्गति हो रही है, उसका वे अनवरत विरोध करें। विद्यालय के संचालकों को यह बात बड़े पते की सूझी है। उनलोगों ने चिट्ठी में कुछ अशुद्धियों के नमूने भी दिये हैं। वैसी ही अनेक अशुद्धियाँ और भी हैं। उन सबका संग्रह और संशोधन करके प्रत्येक प्रांत में अलग-अलग एक पुस्तिका छपवाने की जरूरत है। वह पुस्तिका पत्रकारों के पास भेजी जाय। विशेषतः दैनिकों और सप्ताहिकों के सम्पादक इस आन्दोलन को देश-व्यापी बना सकते हैं। रेल-यात्रा करनेवाले हिन्दीप्रेमी नई-नई अशुद्धियाँ टाँकते रहें और उन्हें उक्त विद्यालय में भेजते जायँ। फिर रेलवे-बोर्ड के सदस्यों और भारत-सरकार के

रेलवे-सदस्य के पास, उपर्युक्त पुस्तिकाओं के अतिरिक्त हिन्दीप्रेमी कौंसिल मेम्बरों के शिष्ट-मण्डल (डेपुटेशन) भेजे जायँ। छोटी-बड़ी कौन्सिलों में, प्रान्तीय एवं केन्द्रीय सरकार का, इस विषय के महत्त्व की ओर ध्यान आकृष्ट किया जाय। नियमित रूप से संगठित आन्दोलन करने से ही यह कार्य सिद्ध हो सकता है। पत्रकार यदि सतत सजग रहकर इस बात पर ध्यान रखेंगे, तो यह कठिन दीख पड़नेवाला काम सहज ही सरल हो जायगा। कराची के सम्मेलन में इस आशय का एक प्रस्ताव भी पास हुआ है— "रेल-स्टेशनों तथा रेल-गाड़ियों में राष्ट्रभाषा हिन्दी का जो अशुद्ध प्रयोग किया जाता है उसकी ओर यह सम्मेलन भारत-सरकार तथा रेलवे-संचालकों और जनता का ध्यान दिलाता है। और अनुरोध करता है कि ऐसे उपाय किये जायँ। जिनसे स्टेशनों और रेलगाड़ियों की भाषा और लिखावट ठीक हो।" हमारी समझ में उपाय वे ही हैं, जो ऊपर सुझाये गये हैं। केवल कागजी घोड़े दौड़ाने से कुछ होने-जाने का नहीं। लग्गी से घास टालने से घोड़ा नहीं खायेगा।

दो नई प्रकाशन-संस्थाएँ

इधर एक ही वर्ष के अन्दर हिन्दी-संसार में कई नई प्रकाशन-संस्थाएँ खुली हैं। ऐसी दो उल्लेखनीय संस्थाओं के परिचय-पत्र हमारे सामने हैं। लखनऊ (१७ केसरबाग) के 'हिन्दुस्तानी-पब्लिकेशन्स-लिमिटेड' के संचालक हैं कालाकाँकर (अवध) के प्रसिद्ध हिन्दी-साहित्यसेवी कुँवर सुरेशसिंहजी और अकोला (बरार-प्रांत) के 'हिन्द-प्रकाशन' के संचालक हैं विदर्भकेसरी श्रीब्रिजलाल बियाणीजी। कुँवर साहब की छपी योजना देखने से हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि की आशा तो बँधती है, पर अभी तक कोई प्रकाशित ग्रंथ देखने में नहीं आया है, जिससे संस्था के विषय में कोई धारणा स्थिर की जा सके। फिर भी इतना तो विश्वास है ही कि कुँवर साहब के संरक्षण में जो प्रकाशन-कार्य होगा, उससे हिन्दी के अभावों की ही पूर्त्ति होगी। हिन्दी में उपन्यास, कहानी, नाटक, काव्य, इतिहास, अर्थशास्त्र,राजनीति,धर्म, दर्शन आदि विषयों के ग्रंथ प्रायः देखने में आते रहते हैं, पर साहित्यिक ग्रंथावलियाँ कहीं से प्रकाशित होती नहीं नजर आतीं। जो साहित्यिक सम्पत्ति काल के गाल में लुप्त होती चली जा रही है, उसके पुनरुद्धार की ओर किसी प्रकाशक की प्रवृत्ति नहीं दीख पड़ती। केवल 'सभा' (काशी) और 'सम्मेलन' (प्रयाग) पर ही सारा भार छोड़ देने से काम नहीं चलेगा। 'सभा' तो अर्थाभाव के कारण अभी भारतेन्दु-ग्रन्थावली भी पूरी नहीं निकाल सकी है। 'सम्मेलन' भी 'प्रेमघन'-ग्रन्थावली का का एक ही खंड निकाल सका है। अनेक स्वर्गीय साहित्य-सेवियों की ग्रन्थावलियों के विना साहित्य-भाण्डार सूना और छूछा नजर आता है। कलकत्ता के वसुमती-साहित्य-मन्दिर ने स्वर्गीय बंगीय साहित्यिकों की कई ग्रंथावलियाँ प्रकाशित की हैं। उससे भी हमने आज तक कोई प्रेरणा नहीं प्राप्त की है। नई प्रकाशन-संस्थाओं को अपने लक्ष्य की दिशा बदलनी चाहिए। अनेक जीवित साहित्य-सेवियों की ग्रंथावलियों के भी प्रकाशित होने की आवश्यकता प्रतीत होती है। अस्तु; 'हिन्द-प्रकाशन' की ओर से पहली पुस्तक 'कल्पना-

कानन' निकली है, जो उसके संचालक श्रीबियाणीजी के अनल्पकल्पनामय गद्य-काव्यों का सुन्दर संग्रह है। पुस्तक का बहिरंग और अंतरंग बहुत ही नेत्र-रंजक और चित्ताकर्षक है। यद्यपि छपाई की शुद्धता और भाषा के संशोधन पर जैसा चाहिए, वैसा ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझी गई है, तथापि भाषा-भाव की मनोहरता एवं मुद्रण-कला की सुचारुता निस्सन्देह उल्लेखनीय है। श्रीबियाणीजी पुराने साहित्यानुरागी और यशस्वी राजनीतिक नेता हैं। उनके गद्य-काव्य में अभिनव अनुभूतियों की मिठास रसास्वादन के ही योग्य है। पहली ही रचना 'नर्त्तकी' से उनकी हृदयग्राहिणी वर्णन-शैली और सरस कल्पनाशक्ति का जो रमणीय आभास मिलता है, वह क्रमशः आनंदवर्द्धक होता चला जाता है। हमें आशा है कि सेठ बियाणीजी की समर्थ लक्ष्मी अपना स्वाभाविक चापल्य भूलकर सरस्वती से जो मधुर संबंध स्थापित करने चली है, उसके परिणामस्वरूप साहित्य का असीम उपकार होगा। तथास्तु।

'नया साहित्य' का 'निराला'-अंक

बम्बई के जन-प्रकाशन-गृह का द्वैमासिक 'नया साहित्य' बड़ी श्रद्धा और उमंग से साहित्य-सेवा की लगन प्रदर्शित कर रहा है। 'निराला'-स्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर प्रकाशित उसका विशेषांक स्वागत करने और सुरक्षित रखने योग्य है। पहला लेख श्रीराहुल सांकृत्यायनजी का है। वह लिखते हैं—"नवयुग-प्रवाह के लानेवाले तीन भगीरथों—पन्त, प्रसाद, निराला को पाना हिन्दी के लिए सौभाग्य है। मगर इन तीनों में भी निराला बिलकुल निराले हैं। वह लीक पर नहीं चल सकते; वह लीक पर चलने के लिए बनाये नहीं गये। लेकिन वह लीकों का ध्वंस ही करने की क्षमता नहीं रखते, वह नये के विधान करने की प्रभुता भी रखते हैं; युग की फरमाइश का वह अनादर नहीं कर सकते। हाँ, उनमें दोष हैं; वही जो उनके निराला नाम को सार्थक बनाते हैं, जो सदा अतिलौकिक असाधारण प्रतिभाओं में देखे जाते हैं। मगर मानवता पर पहुँचा समाज उन दोषों के रहते भी उनकी कद्र करता।" दूसरे लेख (सांस्कृतिक जागरण और निराला) में डॉक्टर रामविलास शर्मा ने उनकी कृतियों का विश्लेषणात्मक परिचय देते हुए लिखा है—"परिमल का कवि प्रेम और सौन्दर्य का कवि है। 'परिमल' की विशेषता यह है कि उसमें प्रकृति के ऐसे अनोखे चित्र आये हैं, जो हिन्दी-कविता में बिलकुल नये हैं। सामाजिक कविताएँ 'परिमल' में काफी हैं। कलेजे के दो टूक करनेवाला 'भिक्षुक' हिन्दी में अपना सानी नहीं रखता। 'परिमल' की रहस्यवादी कविताओं को एक साथ पढ़ने पर पता लगता है कि रवीन्द्रनाथ से अधिक कवि पर विवेकानन्द का प्रभाव है। 'अनामिका' संग्रह में आई रचना 'जीवन चिरकालिक क्रन्दन' में जीवन की कटुता और प्रखर वेदना गीत बन गई है। हिन्दी-कविता में ऐसा उत्कट आत्मनिवेदन 'विनयपत्रिका' के बाद पहली बार सुनाई पड़ा था।" तीसरे लेख में श्रीवृन्दावनलाल वर्माजी लिखते हैं—"जो लोग कवियों को न केवल पिंगल की जकड़ों में बाँधना चाहते हैं, बल्कि परिपाटियों की लीकों पर रेंगता हुआ देखना

चाहते हैं, उनको निरालाजी का स्वतंत्र और अबाध समीर पेड़ों को उखाड़कर फेंकनेवाला प्रभंजन प्रतीत हुआ। उनकी प्रतिभा चकाचौंध कर देनेवाली है। वह अपनी बात को जिस प्रकार कहते हैं, उसको बहुत कम लोग कह सकते हैं।" निरालाजी के चार पत्र भी छपे हुए हैं, जिनमें कई विलक्षण उक्तियाँ हैं। एक-आध देखिए—"महात्मा गाँधी ने जब मुझसे कहा था—मैं तो उथला आदमी हूँ। आपको याद होगा, मैंने जवाब दिया था—हमलोग उथले को गहरा और गहरे को उथला कर सकते हैं।" कविवर पन्त को वह लिखते हैं—"हिन्दी में अपनी कल्पना-शक्ति के लिए ही आप बेजोड़ समझे जाते हैं और अपनी अपराजिता भाषा के लिए; इसी मौलिक सागर की ओर हिन्दी के नवयुवकों के हृदय के नदी-नद बहे हैं; उन्हें इसी ओजस्विनी वाणी का कल्पनामृत पिलाइए। हिन्दी बड़ी गरीब है; कवि-कल्पना से बड़ा धन साहित्य में और नहीं।" अंतिम पत्र की अंतिम पंक्ति देखिए—"अकेला बैठा झरोखे से आकाश देखा करता हूँ।" श्रीसत्यरंजन ने 'निराला की जन्मभूमि बैसवाड़ा' नामक लेख लिखा है, जिसमें बैसवाड़े की साहित्यिक संस्कृति का बहुत सुन्दर चित्र अंकित है। किन्हीं 'मुंशी' जी के लिखे निरालाजी के 'संस्मरण' में निरालापन के मनोरंजक एवं शिक्षाप्रद दृश्य-चित्र बड़ी सहृदयता से उरेहे गये हैं। डॉक्टर रामविलास शर्मा ने 'निरालाजी और हिन्दी के प्रकाशक' नामक अपने दूसरे लेख में कई कारुणिक प्रसंगों का बड़े मर्मस्पर्शी शब्दों में वर्णन किया है। लिखा है—"उनके साथ प्रकाशकों का व्यवहार कभी सन्तोषप्रद नहीं रहा। उन्होंने कभी कला को नीचे गिराकर पैसा कमाने की कोशिश नहीं की। पैसे का अभाव रहते हुए भी उन्हें उसका मोह कभी नहीं रहा। किसी को जाड़े-पाले में ठिठुरते देखकर वह कोट या कंबल उतार कर दे देते हैं।" श्रीप्रकाशचन्द्रजी गुप्त के लेख (निरालाजी की नवीन गतिविधि) की ये पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं 'निराला विद्रोह और शक्ति के कवि हैं। जो संगीत-माधुरी उनके छायावादी काव्य में थी, आज वह लगभग विलीन हो चुकी है। कवि ने आज कठोर क्रूर यथार्थ का वरण किया है। उनका नया काव्य धरती के अधिक निकट है। भाषा उनकी जनता के अधिक समीप है। जबतक उनका पाठक उनकी एक काव्य-शैली ग्रहण कर पाता है, वह दो तीन नई शैलियाँ लेकर उसको चकित कर देते हैं। श्रीनिरंजन ने भी 'निराला की युद्धकालीन कविता' में लिखा है—"कुकुरमुत्ता दीनवर्ग का भी प्रतीक है और खाद का खून चूसनेवाले गुलाब को वह कैपिटलिस्ट कहकर उसकी निन्दा भी करता है।" 'अणिमा' में ऐसी चीजें भी हैं, जो विशेष व्यक्तियों के प्रति लिखी गई हैं। सन्त कवि रैदास को ज्ञान-गंगा में नहानेवाला चर्मकार कहकर उन्होंने प्रणाम किया है। शुक्लजी से अनेक वर्षों तक विरोध पाने पर भी उन्हें समालोचना की अमावास्या में उदित होनेवाला हिन्दी का दिव्य कलाधर कहा है। प्रसादजी को अग्रज कहकर उनको श्रद्धांजलि अर्पित की है। नये प्रयोगों में निरालाजी की गजलें भी शामिल हैं। गजलों में अनेक पंक्तियाँ ऐसी हैं, जिनमें उन्होंने नये ढंग से नई बातें कही हैं और जो चित्त पर चढ़कर फिर उतरती नहीं। शाश्वत सत्य और ब्रह्मानन्द-सहोदर की कल्पना से विचलित न

होकर उन्होंने बताया है कि लेखक का स्थान जनता के साथ है। उसीके सुख-दुख, आशा-निराशा, विद्रोह और विजय का चित्रण करके वह अपनी वाणी सार्थक कर सकता है। देश के जीवन में एक ओर भाई-भाई की मार-काट और गृहयुद्ध की लपटें फैल रही हैं, तो दूसरी ओर मजदूर-वर्ग के नेतृत्व में एक महान् क्रांतिकारी ज्वार आया है। निरालाजी के विकास की समूची परम्परा हमें सिखाती है कि इस ज्वार के साथ बढ़कर परिवर्त्तन की शुभ घड़ी लाने के लिए हिन्दी-लेखकों और कवियों को आगे बढ़ना है। उनके अदम्य जीवन और अनवरत साहित्य-साधना का यही सन्देश है कि हम देश को आज के घोर संकट से मुक्त करें।" श्रीराजीव सक्सेना ने 'निराला का युग और उनका काव्य' नामक लेख में स्पष्ट लिखा है—"कतिपय छायावादियों की प्रवृत्ति पर उन्होंनें स्पष्ट रूप में घोषित किया कि 'सामयिक हिताहित की चिन्ता न करके मनमाना साहित्य लिखना वैसा ही है, जैसा महमूद मियाँ का अपने बकरे को पूँछ की तरफ से जिबह करना।" श्रीभदन्त आनन्द कौसल्यायनजी ने अपने संस्मरण में खूब लिखा है—"अबोहर (पंजाब) के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में वह मंच पर बैठे हुए उसी ठाट से सिगरेट पीने लगे, जैसे काँगरेस-मंच पर अबुल कलाम आजाद! उन्होंने अपना जो भोजन का हिसाब-किताब स्वागत-समिति को लिखकर दिया, उसमें साफ तौर पर श्वेत-शालग्राम की चर्चा थी—स्वागत-समिति के आर्य-समाजी सदस्यों को चुभनेवाली।" काशी के राष्ट्रभाषा-विद्यालय की ओर से प्रेषित 'निरालाजी की जीवन-झाँकी' जो छपी है, उसमें भी कुछ मार्के की पंक्तियाँ हैं—"सरलता, उदारता और सहिष्णुता का जैसा एकत्र बेजोड़ समन्वय हम उनमें पाते हैं, वैसा ही त्याग, स्वाभिमान, और पाण्डित्य का विचित्र सामंजस्य। उनको कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। किन्तु वह अडिग रहे और साहित्य के आत्मसम्मान पर लेश-मात्र भी बल न लगने दिया।" अन्त में प्रोफेसर प्रभाकर माचवे ने निरालाजी की दो पुस्तकों ('बेला' और 'नये पत्ते') की आलोचना करते हुए लिखा है—"उनकी स्वस्थ, परुष, कलाकार आत्मा सर्वत्र दहाड़ती है, 'हुइ-हुइ' कर विलाप नहीं करती। निराला हिन्दी का एक अकेला कवि है, जो अपने कविकर्म के प्रति अत्यन्त सचेतन रूप से प्रामाणिक रहा है और साथ ही जिसने युग के बदलते हुए मूल्यों को भी सहेजा है—किताबों की मारफत नहीं, मगर जीवन के कड़ुए अनुभव से। उसकी स्याही की बूँद उसके अपने खून और पसीने की है; वह निरे खारे, बेअसर आँसुओं की फीकी-फीकी रोशनाई नहीं।" इस प्रकार यह सारा अंक मननीय है। इसमें निरालाजी की विविध-विषयक ५४ पुस्तकों की विवरणात्मक सूची भी दी गई है। उन पर लिखी गई सात कविताएँ भी हैं। श्रीपन्तजी की छोटी-सी कविता अत्यन्त सुन्दर है; पर उसमें शिली-भूत शब्द खटकता है। "स्फटिक शिलाओं से तूने वाणी का मंदिर; शिल्पि, बनाया—ज्योति-कलश निज यश का घर चिर। शिलीभूत सौन्दर्य ज्ञान आनन्द अनश्वर। शब्द-शब्द में तेरे उज्ज्वल जड़ित हिम-शिखर।"—अतीव सुन्दर पंक्तियाँ हैं। श्रीशिवमंगल सिंहजी 'सुमन' की कविता सबसे लम्बी और अच्छी है। (जिसे उन्होंने बड़ी

ओजस्विता के साथ काशी के जयन्ती-महोत्सव में सुनाकर सबको चकित-पुलकित कर दिया था); पर उसमें भी कवि-स्वातंत्र्य के कुछ नायाब नमूने हैं। डॉक्टर रामविलास शर्मा की भावमयी कविता की अंतिम दो पंक्तियाँ हैं—"पथ में उन अमिट रक्त-चिह्नों की रहे शान, मर मिटने को आते हैं पीछे नौजवान।" इसमें भी 'सहस्रार' के स्थान पर दो जगह 'सहस्नार' छप जाने से बड़ी भ्रांति होती है। श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री की कविता समास-बहुल कोमलकान्त पदावली के लालित्य से परिपूर्ण है। उसकी सुकुमार भावनाएँ अनुभवगम्य हैं; किन्तु साधारण पाठक सहसा उलझ जायँगे। प्रोफेसर प्रभाकर माचवे ने निराला-छन्द में 'निरालाजी महाराज को चिट्ठी' लिखी है और श्रीनरेन्द्र शर्मा की चार कड़ियों में से पहली कड़ी यह है—"स्वार्थ तज, परमार्थ के तट पर गये, बाँधे न बौद्धिक सेतु! ख्याति के निखरे शिखर पर रोप आये, तुंग भगवा केतु।" श्रीगिरिजाकुमार माथुर की कविता में भी मनोहर भावों की व्यंजना और कल्पना-चमत्कार है। कविसुलभ—स्वतंत्रता के लिए किसी प्रकार के कानून का नियंत्रण नहीं निबह सकता। सब मिलाकर यह विशेषांक अपना नाम सार्थक करता है। सम्पादकों का परिश्रम सफल है। बधाई!

'व्रजभारती' का पोद्दार-अंक

व्रजसाहित्य-मण्डल (मथुरा) की मुखपत्रिका 'व्रजभारती' के पोद्दार-अंक में केवल तीन ही लेख पोद्दारजी के सम्बन्ध में हैं। पहला लेख (पोद्दारजी का प्रभाव) संस्मरणात्मक है। उसके लेखक हैं सम्पादकाचार्य पं० हरिशंकर शर्मा कविरत्न। इसमें हमें कोई उल्लेखनीय प्रसंग या पंक्ति नहीं मिली। दूसरा बहुत ही छोटा लेख है—श्रीगोपाल प्रसाद व्यास का—'अभिनन्दन'। हाँ, तीसरा है श्रीपद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' का लेख, जो 'एक भेंट' के रूप में है। इसमें जो प्रश्नोत्तर हैं, बड़े चित्तप्रसादक और ज्ञानगर्भित हैं। साहित्यिकों से भेंट करके साहित्यिक विषयों पर उनके विचारों का संग्रह कर लेने में शर्माजी बड़े दक्ष हैं। उनकी साहित्यिक भेंटों से अनेक सुप्रसिद्ध साहित्य-सेवियों के जीवन-रहस्य उद्घाटित हुए हैं। इस लेख में भी श्रीमान् सेठजी के साहित्यिक सिद्धान्तों का प्रकटीकरण उन्होंने बड़े सुहावने ढंग से किया है। उनका प्रश्न-निर्वाचन-कौशल सर्वथा श्लाघ्य है। इस अंक के अन्य लेख भी बड़े महत्त्व के हैं। यथा—अष्टछाप से संबंधित व्रज के कुछ स्थान (डॉक्टर दीनदयाल गुप्त), भारतीय ललित-कलाएँ और मथुरा (श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी, एम्० ए०), भारत के संग्रहालयों में मथुरा का स्थान (श्रीराधेश्याम द्विवेदी), सोरपुर बटेश्वर और व्रजभाषा (श्रीभगीरथप्रसाद दीक्षित), ग्वाल-कृत 'रसरंग' (श्रीप्रभुदयाल मीतल), सोमनाथ और उनका 'प्रेमपच्चीसा' (श्रीशम्भुप्रसाद बहुगुना, एम्० ए०), व्रज की गीति-कहानी (सम्पादक श्रीसत्येंद्र, एम्० ए०) ये सभी लेख बड़ी खोज और लगन से लिखे गये हैं। यह पत्रिका अपनी निश्चित दिशा में बड़ी तत्परता एवं सफलता से लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रही है।

स्वर्गीय साहित्य-सेवियों के प्रति हमारा मुख्य कर्त्तव्य

इधर हमारे अनेक साहित्य-महारथी हम से बिछुड़ गये हैं। पूज्य महामना मालवीयजी महाराज, महाकवि हरिऔधजी, डॉक्टर श्यामबिहारी मिश्र, बाबू गोपाल-

राम गहमरी, डॉक्टर लक्ष्मण स्वरूप आदि हमारे साहित्य-संसार को शोकाकुल कर गये हैं। इन सब के लिए केवल शोक-सभा और समवेदना-प्रकाश करके ही हम अपने कर्त्तव्य की इतिश्री कर देते हैं, यह उचित और पर्याप्त नहीं है। इनके लेखों, भाषणों, कविताओं और ग्रंथों का संग्रह करके सुसम्पादित ग्रंथावलि निकालने का उद्योग होना चाहिए। यही उनका सच्चा स्मारक हो सकता है और इसी से साहित्य का भी गौरव एवं वैभव बढ़ सकता है। स्व० पं० गोविन्दनारायणमिश्र, और स्व० पं० माधवप्रसादमिश्र की ग्रन्थावली तो कुछ अधूरी ही सही, हम प्रकाशित कर सके है और पता लगा है कि दिल्ली से स्व० बाबू बालमुकुन्द गुप्त की ग्रंथावली भी उनके सुपुत्र निकालनेवाले हैं, पर अभीतक पं० बालकृष्णभट्ट, पं० प्रतापनारायणमिश्र, आचार्य द्विवेदीजी, महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा, हास्यरसावतार पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी आदि अनेक स्वर्गीय साहित्य-देवताओं की ग्रंथावलियाँ नहीं निकल सकी हैं। ग्रन्थावलियों का महत्त्व अभी हमारे प्रकाशकों और पाठकों ने शायद ठीक समझा ही नहीं है। स्वर्गीय साहित्य-सेवियों में बहुतेरे ऐसे हैं, जिनकी अनेक रचनाएँ आजतक अप्रकाशित हैं। उनमें कुछ ही ऐसे हैं, जिनके लिए कुछ पत्र-पत्रिकाओं ने अपने स्मृति-अंक प्रकाशित किये हैं, नहीं तो अधिकांश को केवल शोक-प्रस्तावों में ही समाधिस्थ रह जाना पड़ता है। प्रसादजी के लिए तो किसी पत्र-पत्रिका का स्मृति-अंक भी हमने नहीं देखा। हम दो-चार वाक्यों की श्रद्धांजलि अर्पित करके ही अपना कर्त्तव्य पूरा कर लेते हैं। यह लौकिक शिष्टाचार मात्र हमारे साहित्य का कुछ भी उपकार नहीं कर सकता। हिंदी-संसार में एक ऐसी साधन-संपन्न संस्था की आवश्यकता है, जो केवल इसी अभाव की पूर्त्ति में सदैव संलग्न रह कर अपनी सारी शक्ति इसी काम में लगाती रहे। तभी हमारे साहित्य का शिखर गगनचुम्बी हो सकेगा।

हमारे सुन्दर सामयिक साहित्य पर डाक-विभाग का डाका

हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक और प्रकाशक तथा प्रेमी पाठक भली भाँति जानते हैं कि सुन्दर-सुन्दर पत्र-पत्रिकाएँ कितनी अधिक संख्या में डाकविभाग द्वारा हड़पी जाती हैं। यह रोज का किस्सा है। हिन्दी-पाठक हैरान हैं। प्रकाशक परेशान हैं। सम्पादक संकट में हैं। कहीं कोई सुनवाई नहीं। 'अण्डर पोस्टिंग सर्टिफिकेट' भेजिए, डाक-विभाग जिम्मेवार नहीं। सम्पादकों को परिवर्त्तन में अच्छे पत्र नहीं मिल पाते। पाठकों की सुन्दर पत्रिकाएँ प्राय: गुम हो जाया करती हैं। विशेषांकों की लूट और भी भयावनी है। सभी सुन्दर पत्र-पत्रिकाओं की फाइलें अधूरी रह जाती हैं। ग्राहकों और पाठकों के पैसे से डाक-विभाग के बाबू लोग और उनके दोस्त दिल बहलाते हैं। पत्र-पत्रिकाओं के कार्यालय से सावधानपूर्वक अंक भेजे जाते हैं, पर पहुँचते बहुत कम हैं। ग्राहकों की शिकायतों से पत्र-व्यवस्थापकों के नाकों दम है। अखबार का डाकखाना कहता है कि हमारे यहाँ कोई गड़बड़ी नहीं हुई; ग्राहक का डाकखाना कहता है कि हमारे यहाँ पहुँचा ही नहीं! अजब तमाशा है, बीच में भूत उड़ा

ले गया ? अबतक हम पत्रकार 'प्रेस डेविल' से ही डरते थे, अब 'डाक-डेविल' से भी डरना पड़ रहा है ! बीच रास्ते में कौन कैसे गायब करता है, इसकी जिम्मेवारी किसी पर नहीं है ! परिवर्त्तन के पत्रों को हम लिखते हैं कि हमें पत्र का अमुक अंक नहीं मिला। उधर से उत्तर आता है कि अमुक तिथि को भेजा गया—अब दूसरी प्रति दुर्लभ है ! हमारे कितने ही सहयोगी हमारे पास भी यही लिखते हैं और हम भी वही सधा उत्तर देने को बाध्य हैं। ग्राहक-पाठकों को भी दुबारा दूसरी प्रति भेजना अशक्य है। वे बेचारे खेवा देकर भी निराधार बहे जाते हैं। पत्र-प्रकाशन-व्यवसाय को गहरा धक्का लग रहा है। डाक-विभाग जिम्मेदार नहीं है—बस बात यहीं खत्म है। सार्वजनिक सेवा में डाक-विभाग का कोई सानी नहीं समझा जाता। पर वह भी किसी तरह जोखम उठाने को तैयार नहीं हैं। रेलवाले 'रिस्क' नहीं लेते, डाकवाले उनसे कम किस बात में ? तब ? भुक्तभोगी अखबार किसके दरवाजे की साँकल हिलावें ? अगर पत्र-पत्रिका के न मिलने या न पहुँचने की शिकायत कीजिए, तो महीनों बाद टका-सा जवाब मिल जायगा कि बहुत खोज और जाँच-पड़ताल के बाद भी डाक-विभाग की कोई गलती नहीं साबित होती। ऐसे सूखे जवाब को हाय-मय सन्तोष के शहद से सरस करके चाटते-चाटते पत्र-प्रकाशक और पत्र-पाठक ऊब उठे हैं। जान पड़ता है कि गलती करते रहने के लिए तो विधाता ने पत्रकारों को ही सिरजा है, सचाई तो सिर्फ डाक-विभाग के ही बाटे पड़ी है। जो हो, पत्रकारों का परिश्रम, प्रकाशकों की पूँजी, पाठकों का साहित्यानुराग, साहित्य-प्रचार का उत्साह, ज्ञान-वितरण की योजना, ग्राहकों की गाढ़ी कमाई के पैसे—सब का मुहँ काला, सिर्फ डाक-विभाग का मुहँ उजाला !

कुछ नये सहयोगी

अपने चार नये सहयोगियों का स्वागत करते हुए हमें बड़ा हर्ष हो रहा है—वर्धा के गोविन्दराम-सेकसरिआ कॉमर्स कॉलेज में स्थापित अर्थ-साहित्य-प्रकाशन-मंडल द्वारा प्रकाशित त्रैमासिक 'अर्थ-सन्देश', मासिक 'युगवाणी' (कलकत्ता), मासिक 'दक्खिनी हिन्द' (मद्रास), साप्ताहिक 'आजाद हिन्द' (पटना)। पहले में अर्थशास्त्र-संबंधी उच्च कोटि का साहित्य तो है ही, सर्वजनोपयोगी सुगम अर्थ-साहित्य भी है। इसे देखकर ज्ञानमंडल (काशी) के अस्तंगत 'स्वार्थ' की याद हो आई। इसके संपादक हैं श्रीभगवतशरण अधोलिया और सह-सम्पादक श्रीदयाशंकर नाग, वार्षिक मूल्य है ६) और एक प्रति का १।।); प्रकाशन इसका फरवरी, मई, अगस्त और नवंबर में हुआ करेगा। इस प्रथमांक में साफ छपे ६४ पृष्ठ हैं और नव लेख। भाषा-भाव और भेष-भूषा में बड़ी सादगी है। इससे हिन्दी का एक अभाव कुछ हद तक दूर होगा। 'युगवाणी' के संचालक श्रीरामेश्वरप्रसाद सिंह और सम्पादक श्रीअनन्त हैं, पता है ३७४ अपर चितपुर रोड, वार्षिक है ६), पृष्ठ-संख्या है ५२, निकली है जनवरी, १९४७ ई० से और आकार है 'हिमालय' का-सा। छपाई साधारणतः अच्छी है। रचनाएँ भी रुचिकर हैं। 'दक्खिनी हिन्द' भी जनवरी, १९४७ ई० से ही निकलने लगा है। यह 'मद्रास-सरकार की हिन्दुस्तानी

पत्रिका' (?) है । प्रथमांक में ५६ पृष्ठ हिन्दी के और १३ उर्दू के हैं । एक प्रति का दाम एक अठन्नी । इसमें मद्रास शहर की कहानी, कन्नड-साहित्य की परम्परा, तेलुगु के प्राचीन साहित्य की एक झलक—यही तीन लेख खास तौर से पढ़ने योग्य हैं । 'त्यागराज का मंदिर' भी रोचक लेख है । छपाई-सफाई ठीक है । भाषा सुबोध हिन्दी है, खिचड़ी हिन्दुस्तानी नहीं । हिन्दी-उर्दू में लगभग एक ही तरह की पाठ्य-सामग्री है । 'आजाद हिन्द' अग्रगामी दल का पत्र है । २१ फरवरी, १९४७ ई० से निकल रहा है । सम्पादक हैं पं० मथुराप्रसाद मिश्र, एम्० ए० । वार्षिक मूल्य है ८), चिकने कागज पर साफ छपाई । मिश्रजी बड़े उत्साही नवयुवक हैं । पत्र में जोश की कमी नहीं है । लोक-रुचि के अनुकूल पत्र का स्वर भी है । किन्तु भाषा कई जगह लड़खड़ाती-सी मालूम होती है और छापे की भूलें भी रेंगती नजर आती हैं । इस दोष से हमारे कुछ ही साप्ताहिक बचे हुए हैं । हिन्दी-जगत् में कुशल प्रूफ-रीडरों और सुयोग्य सहकारियों का बड़ा टोटा है, यह जानते हुए भी, नये-नये पत्र निकालकर साहसी सम्पादक कदम बढ़ाते चले जा रहे हैं । इस प्रकार दल-विशेष या सम्प्रदाय-विशेष का काम तो ज्यों-त्यों निकल ही जाता है, पर भाषा और साहित्य के रथ का पहिया धँस जाता है ! हम मिश्रजी से नम्र निवेदन करते हैं कि अपनी उग्र नीति की तरह भाषा और साहित्य को भी अग्रगामी बनावें ।

'कृष्णायन'

मध्य-प्रदेश की सरकार के माननीय मंत्री पंडित द्वारकाप्रसादमिश्र पुराने हिन्दी-साहित्य-सेवी और प्रसिद्ध कांगरेसी नेता हैं । जबलपुर की सुप्रसिद्ध त्रैमासिक पत्रिका 'श्रीशारदा' तथा 'दैनिक लोकमत' के सुयोग्य संपादक एवं सेठ गोविन्ददासजी के साहित्यिक सखा के रूप में हिन्दी-संसार उन्हें पिछले पचीस वर्षों से जानता-मानता है । किन्तु एक सफल कवि के रूप में उन्हें जानने-मानने का अवसर कभी हिन्दी-जगत् को नहीं मिला था, आज सौभाग्यवश वह सुअवसर भी प्राप्त हो गया । उन्होंने 'कृष्णायन' नामक एक सर्वांगसुन्दर प्रबन्ध-काव्य की रचना करके हिन्दी को एक अनमोल ग्रंथ-रत्न भेंट किया है । लगभग एक हजार पृष्ठों का यह नयन-मन-प्राण-रंजक ग्रंथ इस शताब्दी के उत्कृष्ट हिन्दी-ग्रंथों में गिने जाने योग्य है । इसका प्राक्कथन देशरत्न डॉक्टर राजेन्द्रप्रसादजी ने लिखा है । इसकी विद्वत्तापूर्ण भूमिका के लेखक हैं प्रयाग-विश्वविद्यालय के डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा और डॉक्टर बाबूराम सक्सेना । तीन पृष्ठों में प्राक्कथन और बीस पृष्ठों में भूमिका है । मूल्य १२), मजबूत जिल्द, आकर्षक आवरण, शुद्ध सुन्दर छपाई, भाषा अवधी, छन्द दोहा-चौपाई । तुलसीकृत रामायण को आदर्श मानकर सात काण्डों में कृष्ण-कथा लिखी गई है । पहले का नाम अवतरण-काण्ड है, जिसमें भगवान् कृष्ण का जन्म और बाल-लीला वर्णित है । दूसरे मथुरा-कांड में कंस-वध आदि, तीसरे द्वारका-कांड में समुद्र-तट पर यदुवंशियों का उपनिवेश-स्थापन, चौथे पूजा-काण्ड में पांडवों के राजसूय यज्ञ में भगवान् कृष्ण का सर्वप्रथम पूजन, पाँचवें गीताकांड में श्रीकृष्णजी का महाभारत-युद्ध, सातवें आरोहण-कांड में श्रीकृष्णजी की योग-समाधि आदि । यही इसका अतिशय

संक्षिप्त परिचय है। इसके कई स्थल बड़े रमणीय एवं कवित्वपूर्ण हैं—प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन, नगर-वर्णन, समुद्र-वर्णन, द्रौपदी-दुकूल-मोचन-वर्णन आदि। हर तरह से हृदयहारी होने पर भी, इसका एक दोष बहुत खटकता है—अखरता भी है। वह है अवधी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का व्यवहार। इससे अवधी की 'ठेठ मिठास' गुम हो गई है—उसकी स्वाभाविक मृदुलता जाती रही है। यदि यह अस्वाभाविकता अवधी की जान आधी न कर दिये होती, तो निस्संदेह इस काव्य की सजीवता मौलिक आनन्द की सृष्टि करने में समर्थ होती। जहाँ-कहीं अवधी की मौलिकता अक्षुण्ण है, वहाँ सरसता सचमुच चुई पड़ती है। पर, इसमें संशय नहीं कि यह सद्ग्रंथ कवि की कीर्त्ति-काया को ध्रुव अमरत्व देनेवाला है।

—मासिक 'हिमालय' (पटना); वर्ष १; अंक ८, सितम्बर, १९४६ ई०

हिन्दी के दैनिक पत्र

हिन्दी में लगभग बीस दैनिक पत्र देखने में आते हैं, जिनमें अधिकांश पुराने और प्रतिष्ठित तथा प्रसिद्ध हैं। जो नये हैं, वे भी प्रतिद्वन्द्विता में सफलता पाने के इच्छुक हैं। पुराने पत्रों को नये पत्रों की प्रतिद्वन्द्विता से कुछ चिन्ता तो होती है; पर उत्साह और प्रेरणा भी मिलती है। हमारे यहाँ प्रतिद्वन्द्विता अधिकतर आर्थिक अथवा व्यावसायिक ही होती है, साहित्यिक बहुत कम। व्यावसायिक प्रतिद्वन्द्विता में प्रचुर द्रव्य और प्रचार-वृद्धि के कौशल की आवश्यकता है, साहित्यिक प्रतिद्वन्द्विता में द्रव्य के साथ-साथ मानसिक परिश्रम की भी। पृष्ठों और चित्रों की संख्या अथवा पाठ्य-सामग्री बढ़ा देने से ग्राहकों की वृद्धि अथवा पाठकों की तृप्ति जितनी मात्रा में होती है, उतनी मात्रा में भाषा और साहित्य की शोभा-सम्पत्ति नहीं बढ़ पाती। यह तो तभी बढ़ सकती है, जब संपादकीय विभाग के सभी सदस्य सद्भावपूर्ण सहयोग से दत्तचित्त हो इस बात पर ध्यान रखने में निरंतर तत्पर हों। जो लोग दैनिक पत्रों का साहित्यिक महत्त्व नहीं समझते, वे उन्हें राजनीतिक जागरण का साधनमात्र समझते हैं। किन्तु हमारे हिन्दी के दैनिकों ने जहाँ देश को उद्बुद्ध करने में अथक प्रयास किया है, वहाँ हिन्दी-प्रेमी जनता में साहित्यिक चेतना जगाने का श्रेय भी पाया है। आज प्रत्येक श्रेणी की जनता बड़ी लगन और उत्सुकता से दैनिक पत्रों को पढ़ती है। प्रतिदिन देश की दशा जानने की उत्कण्ठा से, दैनिकों की तलाश में, लोग दूर-दूर की दौड़ लगाते देखे जाते हैं। दैनिकों की यह दिन-दिन बढ़ती हुई लोकप्रियता हिन्दी के हित-साधन में बहुत सहायक हो रही है। आज हमें हर बात में दैनिकों की सहायता आवश्यक जान पड़ती है। भाषा और साहित्य की उन्नति में भी दैनिकों से बहुत सहारा मिल सकता है। धीरे-धीरे देहात में भी दैनिकों का दौर-दौरा दीख पड़ता है। नगर और

डाकघर से दूर-दूर के गाँवों में भी दैनिकों की माँग बढ़ रही है। अब कितने ही देहाती स्टेशनों पर दैनिकों की बिक्री होने लगी है। कहीं-कहीं अखबारों के एजेण्ट रेलों में सफर करने लगे हैं। इस प्रकार, हम देखते हैं कि देश की साधारण जनता तक पहुँचने के लिए दैनिक ही सर्वोतम साधन हैं। देश-देशान्तर के समाचारों के साथ हम भाषा और साहित्य का सन्देश भी दैनिकों द्वारा आसानी से जनता तक पहुँचा सकते हैं। कुछ दैनिक तो प्रति सप्ताह अपना एक विशेष संस्करण भी निकालते हैं, जिसमें कितने ही साप्ताहिकों और मासिकों से भी अच्छी साहित्यिक सामग्री रहती है, किन्तु सप्ताह में एक ही दिन की छूट पाकर साहित्य अपनी प्रगति से जनता को परिचित नहीं करा सकता। दैनिकों द्वारा हम रोज-रोज की राजनीतिक प्रगति का विस्तृत विवरण पा जाते हैं, पर साहित्यिक प्रगति का संक्षिप्त विवरण भी नहीं पाते—कभी-कभी कुछ साहित्यिक समाचारों को पढ़कर ही सन्तोष कर लेते हैं। भाषा और साहित्य से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत-सी ऐसी समस्याएँ हैं, जिनकी ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करने की बड़ी आवश्यकता है। किन्तु यह काम दैनिकों ने शायद उन साप्ताहिकों और मासिकों के लिए छोड़ दिया है, जिनकी पहुँच और पैठ जनता में आज उतनी नहीं है, जितनी दैनिकों की। हमारे दैनिक आजकल नित्य के अन्न-जल की भाँति जनता के जीवन के अंग बनते जा रहे हैं। यदि वे भाषा-साहित्य-सम्बन्धी प्रश्नों को भी जनता के सामने रोज रखते जाते, तो कितनी ही पहेलियाँ हल हो जातीं और कितने ही अभाव दूर हो जाते। कहा जाता है कि देश की राजनीतिक स्थिति के विषम एवं गम्भीर होने से दैनिकों को कभी राजनीति से अवकाश नहीं मिलता, इसलिए वे भाषा और साहित्य की ठीक सुधि नहीं ले पाते। किन्तु ऐसे कथन पर विश्वास करना दैनिकों की राष्ट्र-भाषा-भक्ति और उसके साहित्यानुराग पर सन्देह करना है। वे अपने प्रति अंक के बीस स्तंभों में से यदि एक भी पूरा स्तम्भ केवल भाषा और साहित्य की चर्चा के लिए सुरक्षित रहने दें, तो भाषा-साहित्य-विषयक अनेक समस्याओं की ओर जनता का ध्यान क्रमशः खिंचता जायगा। उनके सम्पादक-मण्डल का कोई एक सदस्य प्रति दिन की साहित्यिक गति-विधि से अपने पाठकों को परिचित करा सकता है। इसमें दैनिकों को भी कुछ कम लाभ न होगा। किन्तु हम देखते हैं कि कुछ दैनिकों को तो अपनी भाषा पर भी ध्यान देने की चिन्ता नहीं है, फिर वे भाषा की गुत्थियाँ क्या सुलझावेंगे! उनमें अनुवादित घोषणाओं, भाषणों, विज्ञप्तियों और समाचारों की भाषा पढ़कर कभी-कभी बड़ी निराशा होती है। पाठकों को अधिक-से-अधिक पाठ्य-सामग्री देने के लिए आवश्यक है कि सीमित स्थान का यथोचित उपयोग किया जाय। परन्तु समाचारों के संकलन में संक्षिप्तता के साथ-साथ सारगर्भता लाने का ध्यान छोड़कर अनावश्यक विस्तार कर दिया जाता है, जिससे सम्पादन-सम्बन्धी शिथिलता की सूचना मिलती है। कुछ दैनिक तो ऐसे भ्रष्ट छपते हैं कि प्रतिशत केवल पचास पंक्तियाँ ही सुगमता से स्पष्ट पढ़ी जाती हैं! कुछ ऐसे भी हैं, जो छपते तो साफ हैं, मगर छपाई और भाषा की भूलों से भरे रहते हैं। निश्चय ही कुछ ऐसे भी हैं, जिनमें संयोग से ही कोई मार्के की भूल

मिलती है। हम मानते हैं कि दैनिकों का प्रकाशन अत्यंत शीघ्रता में होता है, इसलिए आवश्यकता से अधिक उनसे आशा करना उचित नहीं है। दैनिकों की कठिनाइयों से भी हम अपरिचित नहीं हैं, फिर भी दैनिक-सम्पादकों के उत्तरदायित्व-ज्ञान पर हमारा विश्वास तो है ही; हम क्यों न उनसे हिन्दी की गौरव-रक्षा की आशा करें ? वे चाहें तो भाषा-संस्कार के आन्दोलन को जनप्रिय बनाकर देशव्यापी बना सकते हैं—भाषा का आदर्श रूप स्थिर करने में लोकमत को प्रभावशाली बना सकते हैं—शब्दों के रूप और प्रयोग में जो विविधता अथवा मतभेद है, उसके शमन के लिए जनमत की शक्ति का उपयोग कर सकते हैं—साहित्य के अभावों के दूर करने में जनता की संघ-शक्ति को दृढ़ कर सकते हैं। किन्तु, जनता पर काफी धाक रखनेवाले हमारे दैनिकों में ऐसी कोई प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित नहीं होती। काशी के दैनिक 'आज' और 'संसार' तथा 'सन्मार्ग', दिल्ली के 'हिन्दुस्तान' और 'नवयुग' तथा 'अर्जुन', कलकत्ता-बम्बई के 'विश्वमित्र', कानपुर के 'प्रताप', प्रयाग के 'भारत', आगरा के 'सैनिक', लाहौर के 'हिन्दी-मिलाप' और जयपुर की 'लोकवाणी' के अतिरिक्त पटना के तीन दैनिकों—आर्यावर्त, राष्ट्रवाणी और नवराष्ट्र - को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर सबकी श्रेणी सहज ही निर्धारित की जा सकती है। हमें आशा है कि हिन्दी-पाठक यह काम हमसे पहले ही कर चुके होंगे ! और शायद हमलोगों में विशेष मतभेद की भी गुंजाइश न होगी।

हिन्दी के साप्ताहिक पत्र

संभवतः इसमें कोई अतिरंजना नहीं कि हिन्दी में आज कई ऐसे अच्छे साप्ताहिक हैं, जिनका अंतरंग-बहिरंग परिष्कृत और आकर्षक प्रतीत होता है। सभी हिन्दी-प्रधान प्रान्तों से दो-चार सुन्दर साप्ताहिक निकल रहे हैं। उनकी सम्पादन-शैली और सजावट में सम्पादकों-प्रबन्धकों का मनोयोग स्पष्ट झलकता है। किन्तु ऐसे सर्वांगसुन्दर साप्ताहिकों की संख्या बहुत अधिक नहीं है, हो भी नहीं सकती। किन्तु जो उत्तम कोटि के पत्र नहीं हैं, वे भी औसत दर्जे के अच्छे पत्र कहे जा सकते हैं। सबके सिद्धान्तों और उद्देश्यों के प्रति यथोचित आदर-भाव रखते हुए किसी के लिए निकृष्ट श्रेणी की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। कारण, नये-पुराने या छोटे-बड़े साप्ताहिकों में जो प्रतिद्वन्द्विता की प्रेरणा काम कर रही है, वह उन्हें उनकी अपनी शक्ति के अनुसार लोक-प्रियता के पथ पर अग्रसर करती हुई मालूम होती है। आचार्य शुक्लजी के शब्दों में, "शक्तिशाली और प्रतिभा-सम्पन्न मनुष्य की तरह, वे पहले यह प्रयत्न करते हैं कि 'हम ऐसे हों' और फिर वैसे हो जाने पर वे यह प्रयत्न भी करते हैं कि 'हम ऐसे समझे जायँ'।" उनमें से कितने ही अपने इस प्रयत्न में सफल होते भी दीख पड़ते हैं। हाँ, सम्पादन और मुद्रण की दृष्टि से जिनका अस्तित्व अवांछनीय है, वे देखा-देखी भी सुधरने की कोशिश नहीं करते, यह आश्चर्य की बात है। और खेद की बात यह है कि कुछ अच्छे पत्र—जिनका साहित्य के इतिहास में गौरवपूर्ण स्थान है—सुसम्पादित होने पर भी, केवल सुमुद्रित न होने के कारण, प्रतिस्पर्द्धी सहयोगियों से

पिछड़ते जा रहे हैं। उनके पाठक केवल वे ही रह गये ह, जो उनकी दृढ़ नीति और उच्च परम्परा के भक्त हैं अथवा उनके पड़ोसी या प्रान्तीय हैं। कई पत्र तो नई रोशनी या नई रुचि के पाठकों को आकृष्ट और संतुष्ट करने के लिए नये युग की कई कलाओं को अपना साधन बना रहे हैं; इसमें उन्हें सफलता भी मिल रही है। जैसा हम पहले कुछ दैनिकों के प्रसंग में ऊपर एक जगह कह आये हैं, हमारे कई साप्ताहिक भी कितने ही साधारण मासिकों से अच्छे नजर आते हैं। और, दैनिकों के लिए जैसे काशी-प्रयाग और आगरा-दिल्ली का सिर ऊँचा है, वैसे ही साप्ताहिकों के लिए भी। हाँ, पटना और कलकत्ता-बंबई भले ही दैनिकों में उनसे होड़ न कर सके हों, पर साप्ताहिकों में तो करने लग गये हैं। पटना के 'योगी' और 'हुंकार', कलकत्ता के 'आदर्श' तथा बम्बई के 'आवाज' को देखकर प्रत्येक सहृदय का यही अनुभव होगा। काशी के 'समाज' और 'संसार', प्रयाग के 'भारत' और 'देशदूत', दिल्ली के 'अर्जुन' और 'नवयुग' इस समय बड़ी सुन्दरता और सावधानता से निकल रहे हैं। इन सब पत्रों में केवल 'भारत' का आकार-मात्र युगानुकूल नहीं है, मसाला तो मजे का रहता है—साहित्यिक सामग्री के लिए स्वतंत्र पृष्ठ रहते हैं, मगर ऐसे बेढंगे कि सुविधा के साथ सुरक्षित नहीं रखे जा सकते। अधिकांश अच्छे साप्ताहिकों ने अपना आकार समयानुसार कर दिया है, लेकिन'भारत' आज भी 'हिन्दी-बंगवासी' की परम्परा ढो रहा है। हाँ, जन्म उसका बड़े अच्छे आकार में हुआ था। बस 'समाज' का आकार-प्रकार विशेष सन्तोष-प्रद है। वह एक श्रेष्ठ और सुसम्पादित पत्र जँचता है। इधर आचार्य नरेन्द्रदेवजी उसके प्रधान सम्पादक हुए हैं। 'संसार' और 'अर्जुन' भी अपनी विशेषताओं की ओर सहसा ध्यान आकृष्ट कर लेते हैं। जैसे 'देशदूत' के सचित्र मुखपृष्ठ पर छपा रहता है—'हिन्दी भाषा-भाषी भारतीय जनता का पत्र' वैसे ही 'संसार' पर भी 'हिन्दी-साप्ताहिकों में सबसे अधिक बिकनेवाला'। न जानें क्यों, हमें यह विज्ञप्ति 'संसार' के गौरव के अनुकूल नहीं जँची, बल्कि 'देशदूत' वाली पसंद आई। वैसे ही 'आवाज' पर छपा 'प्रगतिशील साप्ताहिक, विशेष नहीं खटकता, पर 'नवयुग' का यह दावा थोड़ी देर कुछ सोचने के लिए बाध्य कर देता है—'उत्तर-भारत का सर्वाधिक लोकप्रिय सचित्र राष्ट्रीय साप्ताहिक'। इसमें शक नहीं कि 'नवयुग' बहुत सुन्दर निकलता है—'आवाज' और 'देशदूत' की तरह अपने मुख्य आवरण पर पूरे पृष्ठ के नये-नये आकर्षक चित्र देता रहता है; मगर आत्मविज्ञापन के विना भी उसका दावा कायम रह सकता है। उत्तर-भारत का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है। उसमें कई हिन्दी-प्रधान प्रांत और प्रमुख नगर हैं। सब स्थानों से कोई-न-कोई साप्ताहिक निकलता ही है। खास दिल्ली में ही 'अर्जुन' और 'लोकमान्य'-जैसे प्रतिष्ठित एवं प्रसिद्ध पत्र हैं। पड़ोस के आगरा में 'सैनिक' का सावधान पहरा है ही। उत्तर पंजाब में सुन्दर-सचित्र 'हिन्दी मिलाप' है, जिसका आकार तो असामयिक है, पर अपने प्रान्त की सेवा में वह बड़ी निर्भीकता से तत्पर है। क्या वह अपने घर में किसी से मात हो सकता है? मध्यप्रदेश में भला 'कर्मवीर' के सामने किसी की कौन सुनेगा? खण्डवा का 'कर्मवीर' समस्त हिन्दी-संसार में बड़ी इज्जत की

निगाह से देखा और बड़ी उत्सुकता से पढ़ा जाता है। उसके सम्पादकीय लेख बड़े महत्त्व के और व्यंग्य भी बड़े मार्मिक होते हैं। मध्यप्रदेश में तो 'हिन्दी-स्वराज्य' (खण्डवा) और 'शुभचिंतक' (जबलपुर) तथा 'लोकमत' (नागपुर) भी नाकाबन्दी किये हुए हैं। 'लोकमत' और 'शुभचिंतक' तो युग की माँग और रुचि का भी ध्यान रखते हैं। मध्य-भारत में भी ग्वालियर के 'जयाजी प्रताप' और 'जीवन' तथा इन्दौर की 'प्रजामण्डल-पत्रिका' और रीवा के 'प्रकाश' का उजाला छा रहा है। इधर झाँसी के 'स्वतंत्र' और कानपुर के स्वनामधन्य 'प्रताप' तथा 'रामराज्य' का बोलवाला उनके आसपास के क्षेत्र में कुछ कम नहीं है। 'प्रताप' की पुरानी हड्डियों में वही पुराना राष्ट्रीय जोश है, जिससे आज भी उसके तन में शिकन नहीं आई है—यद्यपि उसकी वर्त्तमान स्थिति से उन लोगों को सन्तोष नहीं हो रहा है, जो उसके पुराने वैभव के दिन देख चुके हैं। किन्तु 'स्वतंत्र' और 'रामराज्य' का वेश-विन्यास लोकरुचि के अनुकूल है। प्रयाग और काशी के साप्ताहिक अपने गढ़ में पूरे सजग हैं। प्रयाग के 'अभ्युदय' और पटना के 'आजादहिंद' से अग्रगामी दल को बड़ा बल मिल रहा है। उसी तरह काशी के 'समाज' और पटना की 'जनता' के प्रभाव से समाजवादी दल का प्रचार-विभाग भी शक्तिशाली होता नजर आता है। उधर आर्यसमाजी दल में नई चेतना जगानेवाला 'आर्यमित्र' लखनऊ में अपना कायाकल्प करके शीघ्र ही दैनिक एवं मासिक रूप में भी जन्म-ग्रहण करने जा रहा है। सनातनधर्मी दल पर भी काशी के 'सिद्धान्त' की अच्छी धाक है। इससे कोई सहमत हो या नहीं, पर है यह दर्शनीय पत्र अवश्य। इन युक्तप्रान्तीय पत्रों का बहुत प्रचार इधर बिहार में भी है और उधर राजपूताना में भी; क्योंकि विशेषतः इन्हीं दोनों प्रान्तों को बाहरी पत्रों का आसरा करना पड़ता है। पटना की 'नवशक्ति' से बिहार के पाठकों का जी भरता नहीं, बस 'योगी' और 'हुंकार' का ही सहारा है। 'तिरहुत-समाचार' (मुजफ्फरपुर), 'मिथिला-मिहिर' (दरभंगा) और 'प्रभाकर' (मुँगेर) अपना-ही-अपना क्षेत्र बड़ी तत्परता से सँभाले हुए हैं। गया की 'ऊषा' अभी विहग-कलरव से ही लोक-रंजन कर रही है, सुनहली किरणों से रंजित नहीं हुई है। इसलिए कलकतिया 'विश्वमित्र' और 'आदर्श' तथा काशी-प्रयाग के पत्रों से ही बिहार का घाटा पूरा होता है। राजस्थान की भी कुछ ऐसी ही स्थिति है। केवल जयपुर की 'लोकवाणी' और उदयपुर के 'नवजीवन' से ही 'मरुधरनि' में 'देवधुनि-धारा' कैसे बह सकती है? इसलिए पंजाब और दिल्ली के पत्रों की ज्ञान-गंगा वहाँ का अभाव दूर करती है। यों तो जैसे दिल्ली के दैनिक उधर कानपुर तक धावा मारते हैं और काशी-प्रयाग के दैनिक इधर बिहार के पूरबी छोर तक, वैसे ही वहाँ के साप्ताहिक भी काफी लंबी दौड़ लगाते हैं; मगर समस्त हिन्दी-प्रदेश पर किसी एक का सिक्का जमा नहीं दीखता। ऐसा तो अकेला 'हरिजन-सेवक' ही है। वह भी विश्ववन्द्य बापू के प्रताप से स्पृहणीय लोकप्रियता अर्जित करके अपनी एकच्छत्र सत्ता पर फूल उठा है और इसीलिए उसके अहमदाबाद के कारखाने में निरीह हिन्दी पर लगातार अत्याचार हो रहे हैं। महात्मा गान्धी के प्रभाव की ओट में नागरी-लिपि और हिन्दी-भाषा की छाती पर जो मूँग दली

जाती है, उससे उन गान्धी-भक्तों को खून के घूंट पीकर रह जाना पड़ता है, जो बड़ी श्रद्धा से यह मानते हैं कि हिन्दी का उपकार जितना पूज्य बापू ने किया है, उतना किसी ने नहीं। किन्तु आज जो लोग अपने को 'गान्धीजी का रँगरूट' कहकर हिन्दी को नाहक हलाल कर रहे हैं, उनका हाथ हिन्दीवाले नहीं पकड़ सकते, ईश्वर ही उनसे प्रायश्चित्त करायेगा कभी ! हम कई अन्य साप्ताहिकों में भी भाषा-सम्बन्धी असावधानता देखते हैं, जिसके लिए उनके अनधिकारी सम्पादकों की दयनीय शिथिलता ही उत्तरदायी है। कुछ साप्ताहिक तो न भाषा पर ध्यान देते हैं, न छपाई पर, सिर्फ बाहरी तड़क-भड़क से जनता को चकमा देना चाहते हैं। निश्चय ही आजके अधिकांश साप्ताहिकों में कितने ही उपयोगी लेख निकला करते हैं, कहानियाँ और कविताएँ भी छपती हैं—कुछ में तो व्यंग्य-विनोद और राशिफल तथा महिलोपयोगी एवं बालोपयोगी रचनाएँ भी; किन्तु केवल कुछ इने-गिने जिम्मेदार पत्र ही इन सभी रचनाओं के भाषा-भाव पर निगाह रखते हैं, बाकी सब-के-सब ज्यों-त्यों काम चलता कर देते हैं। प्रायः विविध-विषयक पत्रों की ही संख्या अधिक है। किसी एक क्षेत्र को चुनकर उसे ही उर्वर बनाने की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। जैसे—हास्य-रस का अथवा स्त्रीजनोचित कोई स्वतंत्र साप्ताहिक हिन्दी में नहीं है, यह एक खटकनेवाली बात है। हाँ, बालकों के लिए एक नया साप्ताहिक 'होनहार' कलकत्ता (२०१ हैरिसन रोड) से हाल ही निकला है। उसके उत्साही सम्पादक श्रीसूर्यदेव उपाध्याय 'अनुरागी' उसे मासिक पत्र के आकार में निकाल रहे हैं। इसी तरह स्त्रियों, किसान-मजदूरों, विद्यार्थियों आदि के लिए भी स्वतंत्र साप्ताहिकों की आवश्यकता है। ऐसे तो स्वास्थ्य, विज्ञान, इतिहास आदि विषयों के भी विशिष्ट पत्र हों, तो और अच्छा। जो हो, हमारे हिन्दी-साप्ताहिकों की वर्त्तमान प्रगति किसी प्रकार असंतोषप्रद नहीं प्रतीत होती। यदि उन्हें सुयोग्य एवं कर्त्तव्यनिष्ठ पत्रकारों का सहयोग प्राप्त हो, उनके संचालक यदि व्यावसायिक दृष्टि के साथ साहित्यिक दृष्टि से भी काम लें, उनके लेखक और पाठक उनसे भाषा और छपाई की शुद्धता तथा स्वच्छता के लिए निरंतर आग्रह करते रहें, तो उनकी प्रगति और भी तीव्रतर हो सकती है। जबतक हिन्दी-जगत् की जनता अपने पैसों की कीमत नहीं समझेगी और असावधान पत्रों से अपनी सुविधा तलब न करेगी, तबतक बहुतेरे पत्र बस बला टालते रहेंगे।

हमारा मासिक साहित्य

हम अपने पाठकों को मासिक-साहित्य का क्रमबद्ध परिचय देते रहना चाहते थे। पर सभी मासिक हमें नियमित रूप से नहीं मिलते। इसलिए प्रायः सभी मासिकों का क्रम खंडित है। विशेषांकों का भी यही हाल है। अतएव जिसके जो अंक मिले हैं, उन्हीं पर विचार करना है। प्रांतों और नगरों के क्रम से ही मासिकों का परिचय देने में सुविधा होगी। पहले भारत की राजधानी से ही शुरू करना ठीक है। दिल्ली के दो सर्वांगसुन्दर मासिक—'आजकल' और 'सरिता'—इतने सुहावने-लुभावने हैं कि रास्ते में ही लूट जाते हैं। सुना कि 'आजकल' का वार्षिकांक अतीव मनोहर निकला;

पर उसे हम देख न सके। एकाध प्राप्त साधारण अंक से ही उसकी उत्तमता का अनुमान कर लेते हैं। 'सरिता' भी हमारे सौभाग्य-मरुस्थल की रेत में गुम हो जाया करती है। अगर भूले-भटके कभी चली आती है, तो उसका सौन्दर्य देख अप्राप्त अंकों के लिए दिल में आह उठती है। हाँ, सस्ता-साहित्य-मण्डल का 'जीवन-साहित्य' अलबत शांति देने चला आता है। उसके मुख-पृष्ठ पर छपा है—'जीवन की अहिंसक पुनर्रचना का पत्र'। यह सर्वथा सार्थक है। इसके राजनीतिक, साहित्यिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक लेख बड़े प्रभावशाली होते हैं। सम्पादकीय स्तम्भों में साहित्यिक विषयों की भी चर्चा रहती है। सिनेमा का पत्र 'चित्रप्रकाश' भी अपनी सुन्दरता के ही कारण राहजनी का शिकार हो जाता है। सिनेमा की सुन्दरियों की चारु चित्रावली इसे पथभ्रांत कर देती है। आगरा के 'साहित्य-सन्देश' का स्थान हमारे साहित्यिक मासिकों में अद्वितीय है। उसका विशुद्ध साहित्यिक रूप अपनी गंभीर मुद्रा से बहुत प्रभावित करता है। उसके समीक्षात्मक लेखों से साहित्य की कितनी ही जटिल समस्याओं का समाधान सुलभ हो जाता है। उसकी पुस्तकालोचनाएँ और सम्पादकीय टिप्पणियाँ साहित्य की आधुनिक प्रगति का स्पष्ट संकेत देती रहती हैं। वहीं का 'नोंक-झोक' हास्यरस का गद्य-पद्यमय चटपटा मसाला हर महीने लाता है, लेकिन उसके गद्य-पद्य में भाषा और छपाई की भूलें प्राय: मिला करती हैं। इससे भान होता है कि उसके संपादन पर यथोचित ध्यान नहीं दिया जाता। भारत की पुरानी राजधानी कलकत्ता का 'विश्वमित्र' अपनी अन्तरराष्ट्रीयता की राह पकड़े चला जा रहा है। उसकी अपनी दिशा, अपनी सूझ और अपना लक्ष्य है। किन्तु वंग-साहित्य के गढ़ में रहकर भी वह हिन्दी-पाठकों को कभी वंगीय साहित्य की तीव्र प्रगति का पता नहीं देता। वहाँ का 'विशालभारत' अब सम्पादकप्रवर पं० श्रीरामशर्माजी के हाथों में पड़कर नये रंग में सँवर गया है। जनवरी, १९४७ ई० से शर्माजी ने उसे सँभाला है। उनकी जादू-भरी लेखनी से निकले १९४२ के संस्मरण और स्वर्गीय आचार्य द्विवेदीजी के पत्र क्रमशः प्रकाशित होकर एक नया आकर्षण उत्पन्न कर रहे हैं। सम्पादकीय स्तंभों में भी अब राजनीतिक समस्याओं पर दो-टूक बातें सुन पड़ती हैं और साहित्यिक समस्याओं की भी सुधि ली जाने लगी है। उसके सुचिन्तित लेख उसे उच्च कोटि का पत्र प्रमाणित करते हैं। 'रानी' और 'रूपवाणी' भी अपने सुसज्जित वेश-विन्यास से यह प्रमाणित करती हैं कि कलकत्ता में सुंदर पत्र-प्रकाशन के लिए कितने अच्छे साधन सुलभ हैं। लेकिन इन्हें भी शौकीन लोग प्राय: बीच रास्ते में ही उड़ा लेते हैं। 'युगवाणी' किसी तरह पहुँच जाती है। यह अपने नाम की सार्थकता सिद्ध करने में यत्नशील है। लेकिन सम्पादन में इसे अभी और सजग होना पड़ेगा। 'इण्डस्ट्रियल गजट' हिन्दी में अपने विषय का अकेला है। कलकत्ता-जैसे व्यापार-केन्द्र से निकलने के कारण इसका महत्त्व भी है। इसका पिछला होली-अंक अच्छा निकला था। मद्रास से सिर्फ 'दक्खिनी हिन्द' आता है, जो मद्रास-सरकार का हिन्दुस्तानी मुख-पत्र है, लेकिन कहता यह अपने को 'पत्रिका' ही है। इसकी छपाई-सफाई बहुत अच्छी है। चित्र-संग्रह भी खूब करता है। अगर

इसीकी भाषा का नाम हिन्दुस्तानी है, तो किसी हिन्दी-प्रेमी को आपत्ति नहीं हो सकती। इसके द्वारा दक्षिण-भारत की बहुत-सी साहित्यिक और सांस्कृतिक बातें मालूम हो जाती हैं। बंबई से भी केवल 'हिन्दी-प्रचार-पत्रिका' ही आती है। यह बंबई-हिन्दी-विद्यापीठ से निकलती है। साफ-सुथरी साहित्यिक चीज है। छोटे-छोटे बड़े काम के लेख रहते हैं। पंजाब की ओर से अबोहर का 'दीपक' ही अकेला आता है। इसके लेखों के विषय तो लोकोपयोगी होते हैं अवश्य; पर इसके सम्पादन में मनोयोग की बड़ी कमी है। इसकी यह शिथिलता बहुत दिनों से चल रही है। राजपूताना के 'राजस्थान-क्षितिज' की भी यही गति है। न छपाई-सफाई पर ध्यान है, न भाषा की प्रकृति पर। पता नहीं, कौन-सा शौक पूरा करने के लिए लोग पत्र-प्रकाशन पर तुल जाते हैं। साहित्यानुराग की खाज मिटाने चलते हैं और भाषा में कोढ़ पैदा कर देते हैं! यह कोढ़ की खाज दिन-दिन बढ़ रही है। मध्यभारत से अनेक पत्र निकलते हैं—'जीवन-विज्ञान' और 'वीणा' इंदौर से, 'कल्पवृक्ष' उज्जैन से, 'मानसमणि' रामवन (रीवाँ-राज्य) से। 'पहले दोनों साहित्यिक हैं, पिछले दोनों धार्मिक और आध्यात्मिक। 'वीणा' का अतीत जितना सुन्दर था, वर्त्तमान और भविष्य उतना नहीं दीखता। रचनाएँ उसमें अच्छी आती हैं; मगर उसकी प्रतिष्ठा के अनुकूल उसकी सम्पादन-शैली नहीं जँचती। थोड़ी-सी सावधानी से वह अपना पूर्व गौरव पा सकती है। आशा है, नई सम्पादिका श्रीमती चन्द्रारानी सिंह की उँगलियाँ उसके ढीले-उलझे तारों को सुधार सकेंगी। 'जीवन-विज्ञान' में विविध विषय के रुचिकर लेख तो रहते हैं, मगर छपाई की स्वच्छता के साथ शुद्धता का मेल कम बिठाया जाता है। भाषा-संबंधी असंगतियों पर भी पूरा खयाल नहीं रखा जाता। इतिहासिक, सिद्धान्तिक, हिरण्यकश्यप, दुश्मनीय आदि जैसे अनेक अशुद्ध शब्द इसमें मिलते रहते हैं। सम्पादकीय स्तम्भों में साहित्य की उपेक्षा भी खटकती है। 'कल्पवृक्ष' से चित्त और चरित्र को नूतन स्फूर्त्ति मिलती है। 'मानसमणि' रामभक्ति-साहित्य का प्रचारक-मात्र है। सम्पादन-कौशल के सौन्दर्य से शून्य होने के कारण केवल भावुक भक्तों और सन्तों के काम का है। इसमें तुलसी-साहित्य पर अच्छे लेख आते हैं, लेकिन छप्पन प्रकार के भोग में मरी मक्खियाँ भी कम नहीं रहतीं। मध्यप्रदेश के मासिकों में खंडवा का 'आगामी कल' ही अग्रगामी है। यह 'आजकल' के समान बड़े आकार में अच्छे ढंग से निकलता है। इसमें राजनीतिक, सामाजिक साहित्यिक और सांस्कृतिक लेखों का चयन बड़े ठिकाने का रहता है। छपाई भी इधर साफ होने लगी है। जबलपुर के मिशन प्रेस से ईसाई मिशनरियों का 'भानूदय' निकलता है। यह सचित्र है, फिर भी एक रुपया वार्षिक मूल्य है—शायद प्रचार-बहुलता के लिए इतना सस्ता है। इसमें कुछ चीजें काम की भी रहती हैं। वर्धा से तीन मासिक आते हैं—नई दुनिया, राष्ट्रभाषा और खादी-जगत्। इनमें पहली सचित्र है। इसमें नागरी-लिपि, हिन्दी-भाषा और हिन्दी-साहित्य के प्रति ममता एवं श्रद्धा झलकती है। दूसरी में लिपि-सुधार का आग्रह तो है, मगर लेखादि महत्त्व के होते हैं, जिनकी भाषा भी शुद्ध हिन्दी रहती है। तीसरा, हाथ के बने कागज पर साफ छपता है। इसके सम्पादन में सावधानता

रखी जाती है । भाषा इसकी बोलचाल की हिन्दुस्तानी होती है। ग्रामोद्योग-संबंधी लेख भी छपते हैं, मगर प्रधानता खादी-विषयक लेखों की ही है । खद्दर के अर्थशास्त्र पर इसका विशेष ध्यान है। युक्तप्रदेश में प्रयाग ही मासिकों का गढ़ है। इस गढ़ की महारानी 'सरस्वती' है । अब यह सामयिक साहित्य के प्रकाशन पर विशेष ध्यान रखती है । मुख्यत: राजनीतिक विषयों पर अधिकतर लेख छपते हैं। सम्पादकीय स्तंभों में भी साहित्यक चर्चा गौण ही रहती है। लेकिन हर अंक में दो-चार छोटे-मोटे साहित्यिक लेख जो रहते हैं, वे पठनीय ही होते हैं । 'विचार-विमर्श' और 'विविध विषय' नामक स्तम्भों में साहित्यिक रचनाओं की अधिकता रहती है। 'सामयिक साहित्य' स्तम्भ में देश के ज्वलन्त प्रश्नों पर आधुनिक पत्रों के विचार संकलित किये जाते हैं। इस रानी का राजकुमार 'बालसखा' सुप्रसिद्ध बालोपयोगी पत्र है, जिसके वार्षिकांक बाल साहित्य की स्थायी चीज होते हैं । युवकों का एकमात्र मासिक 'तरुण' देश के सुप्रभात का अरुण है। अपने लक्ष्य की सिद्धि में इसकी एकाग्रता अभिनन्दनीय है। इसके एक हाथ में युगधर्म का शंख है, दूसरे में क्रान्ति-कृपाण। रसिक और तरंगी भी है। तिरंगे आवरण-पृष्ठ पर प्राय: तरुणियों की ही तस्वीरें रहती हैं। श्रीसहगलजी का 'कर्मयोगी' यदा-कदा दर्शन दे जाता है। जब कभी निकलता है, बन-सँवरकर ही चलता है । उर्दू के शेरों का बड़ा शौकीन है । सम्पादकीय लेख बड़ा करारा लिखता है। कुछ लेखों में उर्दू फारसी के बड़े क्लिष्ट शब्द रहते हैं। शेरों और गजलों के साथ पर्याप्त पाद-टिप्पणियाँ नहीं रहतीं, जिससे हिन्दी-पाठकों को झुँझलाहट होती है । इसके व्यंग्य-चित्रों से खासा मनोरंजन होता है । 'दुबेजी की चिट्ठी' और 'अपने राम की राय' में बरबस हँसाने की चेष्टा दीख पड़ती है । कविताओं की भाषा कहीं-कहीं खटक जाती है। एक ही उदाहरण 'क्विट इण्डिया' में देखिए—'रास्ता' का तुक 'त्रासता' से भिड़ाया है। भिड़न्त तो भद्दा है ही, 'त्रासता' भी त्राहि-त्राहि कर रहा है ! 'विश्ववाणी' में ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विषयों पर मननीय लेख आते हैं। नामी-गरामी विद्वानों का सहयोग उसे प्राप्त है। उसमें अधिकांश रचनाएँ विशुद्ध हिन्दी की होती हैं, कुछ उर्दू-मिश्रित हिन्दुस्तानी की भी । सम्पादकीय लेखों में हिन्दुस्तानी का तीव्र आग्रह रहता है । उसका नया लाड़ला 'नया हिन्द' तो हिन्दुस्तानी के नाम पर हिन्दी की हत्या करने में बड़ा निर्मम है। उसका पकिस्तानी दुराग्रह बरदाश्त करनेवाली जनता भी धन्य ही है ! हिन्दुस्तानी-स्काउट-एसोसियेशन की मुख-पत्रिका 'सेवा' अपने क्षेत्र में सराहनीय ढंग से सेवा कर रही है । उसका नया रंग-रूप बड़ा सुहावना हो गया है । विज्ञान-परिषद् का मुखपत्र 'विज्ञान' हिन्दी में अपने विषय का एकमात्र श्रेष्ठ पत्र है । इसके द्वारा हिन्दी का वैज्ञानिक साहित्य क्रमश: पुष्ट हो रहा है । सम्पादन भी इसका बड़ी लगन से होता है। महिलाओं की दो पत्रिकाएँ 'दीदी' और 'जननी'—हमारी बहन-बेटियों को सच्ची भारतीय गृहिणी बनाने में दत्तचित्त हैं। 'दीदी' में प्राय: सचित्र लेख भी दीख पड़ते हैं। अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की मुख-पत्रिका 'सम्मेलन-पत्रिका' में दो-चार उत्कृष्ट साहित्यिक लेखों के सिवा हिन्दी-जगत् के ज्ञातव्य विषयों का विवरण भी

रहता है, पर वह प्राय: ठीक समय पर नहीं निकला करती। यों तो प्रयाग से 'माया' आदि कहानियों की कई पत्रिकाएँ निकलती हैं, पर इधर की नई 'लहर' ने 'कथा-साहित्य में नवीन चेतना का प्रतिनिधि' बनकर कुछ ही महीनों में अच्छी प्रगति दिखाई है। अखिल-भारतीय योगी-मण्डल का योग-अध्यात्म-सम्बन्धी सचित्र मासिक 'योगेन्द्र' अब पुनः प्रकाशित होने लगा है। और, इनके अतिरिक्त और भी कई पत्र प्रयाग से निकलते हैं, पर उन्हें देखने का सौभाग्य हमें प्राप्त नहीं। लखनऊ की 'माधुरी' का सम्पादन उसके वयोवृद्ध यशस्वी संपादक पं० रूपनारायण पांडेयजी के हाथों बड़ी योग्यता से होता है; किन्तु उसके धनाढ्य संचालक अब उसकी उन्नति की ओर से बहुत उदासीन हो गये हैं, इसलिए वह सिद्धहस्त सम्पादक पाकर भी कोई नवीन प्रगति नहीं प्रदर्शित करती। उसमें साहित्यिक लेखों की कमी नहीं रहती और वह उदीयमान साहित्यकारों को प्रोत्साहन भी पर्याप्त प्रदान करती है, पर अपनी पूर्वार्जित कीर्त्ति को यदि वह विस्मृत न करती, तो साहित्य को विशेष सम्पत्तिशाली बना सकती थी। वहाँ के गंगा-ग्रंथागार से बच्चों के लिए 'बालविनोद' बहुत बढ़िया निकलता है। इधर क्रान्तिकारी पत्रकार श्रीयशपालजी ने 'विप्लव' के पुनः प्रकाशन का भी श्रीगणेश कर दिया है। यह 'भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का अग्रसर मोर्चा' मजबूत करने में बड़ी दृढ़ता से तत्पर हो गया है। इसके विचारोत्तेजक लेख बड़े मर्मस्पर्शी होते हैं, और यह बड़ी निर्भीकता से नवयुग के सन्देश सुनता है। अपने तेजस्वी नाम की सार्थकता सिद्ध करने में यह बड़ा उग्र है। काशी का 'हंस' प्रगतिशीलता का पुजारी तो है ही, साहित्यिक प्रवृत्ति का भी पोषक है। उसमें पढ़ने योग्य प्रचुर साहित्यिक सामग्री मिलती है; पर कविताओं में भाषा-भाव-संबंधी स्वच्छन्दता अधिक व्याप्त रहती है। समाजवादी पत्रिका 'जनवाणी' काशी-विद्यापीठ से निकलने लगी है। कागज और छपाई की सुन्दरता अनुपम है। रचनाओं की महत्ता और सम्पादन की कुशलता इसे हिन्दी-मासिकों में चोटी की चीज साबित करती है। कई दृष्टियों से यह अनूठी है। मथुरा से दो पत्रिकाएँ आती हैं — 'ब्रजभारती' और 'अखण्डज्योति'। पहली ब्रजभाषा-साहित्य की श्रीवृद्धि में सतत संलग्न है और दूसरी आध्यात्मिक साहित्य के प्रचार में। पूर्वोल्लिखित 'कल्पवृक्ष' के समान इसका उद्देश्य भी पाठकों में संयमशीलता और शाश्वत शांति का प्रसाद-वितरण करना है। इस दिशा में गोरखपुर का 'कल्याण' अग्रगण्य है। उसके अतुलनीय विशेषांकों की धूम समग्र हिन्दी-जगत् में है। उससे हमारे अनेक मासिकों को शुद्धता और सम्पादन-पटुता का सबक सीखना चाहिए। धार्मिक साहित्य और ईश्वर-भक्ति के प्रचार में उसने आदर्श लोकप्रियता पाई है। बिहार का इकलौता साहित्यिक पत्र 'पारिजात' बड़ी नियमितता से लोकरंजक साहित्य का सौरभ बिखेर रहा है। समसामयिक राजनीति के पहलुओं को भी यह सुरभित किया करता है। उसका अनुज 'किशोर' हमारे होनहार किशोरों का एकमात्र सलोना पत्र है। हिन्दीभाषी बालकों के लिए पुस्तक-भण्डार (पटना) के सचित्र 'बालक' की सेवाएँ भी उल्लेखनीय हैं। यह अपने नये सम्पादक श्रीरामदयाल पांडेय के हाथों सँवरकर अपने विकास-सुवास से खूब नयन-

मन-रंजन कर रहा है। इसमें बालक-बालिकाओं के योग्य शिक्षाप्रद रचनाएँ तो छपती ही हैं, उनकी भी मनोहर रचनाएँ स्थान पाती हैं। पांडेयजी से प्रार्थना है कि इसके लेखों और कविताओं की भाषा को और भी सुगम बनाने की कृपा करें। बिहार-कोआपरेटिव-फेडरेशन (पटना) का सचित्र मुखपत्र 'गाँव' ग्रामोन्नति-सम्बन्धी सर्वोपयोगी लेखों से सुसज्जित रहता है। परन्तु इसकी भी भाषा ग्रामीणों के लिए सुबोध रखी जाय, तो बड़ा लाभ हो। इसका फेडरेशन-काँगरेस-अंक अभी हाल ही निकला है। सन्त पब्लिकेशन्स (पटना) की 'कहानियाँ' देखने से अनुमान होता है कि डाक से आई हुई कहानियाँ तुरन्त प्रेस में ही सीधी चली जाती हैं, उनका विधिवत् सम्पादन नहीं होता। छपाई की अशुद्धियाँ भी कथा-कल्लोल में तैरती दिखाई देती हैं। इस बात पर ध्यान देने से यह अच्छी चीज बन सकती है; क्योंकि इसे कृती कथाकारों का सहयोग सुलभ है। मुजफ्फरपुर से पुस्तकमाला के रूप में 'हिम-कण' प्रकट हुआ है। इसके सम्बन्ध में भी हम वही बात कहने के लिए विवश हैं। इसमें भी कृतविद्य कलाकारों की रचनाएँ हैं—यदि उन्हें विराजने के लिए विशुद्ध आसन मिला, तो हम आशा करते हैं कि इसके शीतल 'कण' साहित्य-पिपासुओं को तृप्त कर सकेंगे। मासिकों के प्रकाशन का उत्तरदायित्व अत्यन्त गम्भीर है। शौक चर्राते ही इस कूचे में पाँव रख देने से फिसल पड़ना स्वभाविक है। अन्न-वस्त्र की तरह भाषा और साहित्य पर 'कण्ट्रोल' लादनेवाली कोई सरकार इस देश में नहीं है, विदेशों की बात राम जाने। किन्तु चुटकियों का खेल समझकर जो लोग मासिक साहित्य का बोझ उठाते हैं, वे भाषा के साथ मनमाने खिलवाड़ करना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते हैं। पर उन्हें कविवर 'प्रसाद' की वह उक्ति ध्यान में रखनी चाहिए कि जन्मसिद्ध कोई भी अधिकार लोकमत का समर्थन या सहारा चाहता है।

'हिन्दी में शब्द-द्वैध'

फरवरी, १९४७ ई० की 'माधुरी' में डॉक्टर हरदेव बाहरी, एम्० ए० का एक लेख प्रकाशित हुआ है—'हिन्दी में शब्द-द्वैध'। उस पर हिन्दी-संसार को अवश्य ध्यान देना चाहिए। लेख देखने से विद्वान् लेखक की अध्ययनशीलता प्रकट होती है। उन्होंने सप्रमाण एवं सोदाहरण दिखलाया है कि हिन्दी में अनेक शब्दों के रूप एवं प्रयोग में इतनी अधिक विभिन्नताएँ हैं कि साहित्य की अनुदिन वृद्धि होने पर भी भाषा में एकरूपता और प्रौढ़ता नहीं आने पाती। उस लेख का प्रकाशन यदि सभी दैनिकों और साप्ताहिकों में हो सकता, तो बहुसंख्यक हिन्दी-प्रेमियों को उस पर सोचने-विचारने का सुअवसर मिलता। यदि यह कहा जाय कि जितने लेखक और पत्र हैं, शब्दों के रूप और प्रयोग भी उतने ही प्रकार के मिलते हैं, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी; क्योंकि लिखावट और छपाई में बहुत-से शब्द विभिन्न रूपों में देखे जाते हैं—एक ही शब्द अनेक रूपों में लिखा, छपा और प्रयुक्त देख पड़ता है। कुछ लोग कहते हैं कि हमारी भाषा अभी साँचे में है—विकास के पथ पर है, उसका रूप अभी स्थिर नहीं हो सकता। लेकिन हमें

यह तो देखना ही चाहिए कि वह कैसे साँचे में ढल रही है और उसका विकास स्वभाविक रूप से हो रहा है या नहीं। प्रयाग के साहित्य-सम्मेलन, काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा और पत्रकार-संघ को मिलकर एक विद्वत्समिति की स्थापना भाषा-संस्कार के लिए करनी चाहिए। यह काम किसी एक के बूते का नहीं है। २४ मई (१९४७) के साप्ताहिक 'कर्मवीर' में भी नागरी-लिपि-सुधार-सम्बन्धी एक लेख गोरखपुर के प्रोफेसर राजनाथ पांडेय, एम्० ए०, साहित्यालंकार का छपा है। पांडेयजी ने कुछ उदाहरण देकर बतलाया है कि एक ही पुस्तक और एक ही पत्रिका में एक ही शब्द के विभिन्न रूप पाये जाने से भिन्न भाषाभाषियों को हिन्दी पढ़ने और सीखने में कैसी सुविधा और असुविधा होती है। इसके लिए उन्होंने भी एक समिति कायम करने पर जोर दिया है। जैसा हमने पहले निवेदन किया है, 'सम्मेलन' और 'सभा' द्वारा स्थापित समिति पर ही हिन्दीभाषियों का विश्वास जम सकता है, किन्तु सबसे पहले पत्रकारों का हार्दिक सहयोग मिलना चाहिए; क्योंकि समिति के निर्णय को कार्यान्वित करने और लोकमान्य बनाने में केवल पत्रकारों की ही सहायता सफल हो सकती है। इस समिति में तो प्रत्येक प्रान्त के प्रकाशकों और पत्रकारों के प्रतिनिधि भी रहें, तो काम ज्यादा ठोस होगा। इस काम में जितना ही अधिक विलम्ब होगा, उतना ही अधिक भाषा का अपकार होता जायगा।।

चिरगाँव (झाँसी) का श्रीगणेशशंकर-हृदयतीर्थ

हिन्दी के राष्ट्रकवि श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त के दिगन्तव्यापी सुयश ने 'चिरगाँव' का नाम अक्षरशः सार्थक कर ही दिया था, श्रीगणेशशंकर-हृदयतीर्थ ने भी उसे अमरत्व प्रदान कर दिया। यह तीर्थ अमरशहीद श्रद्धेय विद्यार्थीजी का एक आदर्श स्मारक है। सन् १९३६ ई० के जनवरी में सर्वप्रथम यह पुस्तकालय-रूप में स्थापित हुआ था। क्रमशः इसका कार्यक्षेत्र विस्तृत होता गया। अनाथ-मृत-संस्कार, चक्षु-दान-यज्ञ, गोशाला आदि लोक-सेवा के विविध कार्य इसके द्वारा होने लग गये। तब इसका 'हृदयतीर्थ' नामकरण यथार्थ ही हुआ। मगर जब इसमें पुस्तकालय-वाचनालय के अतिरिक्त व्यायाम-शाला, ग्रामोद्योग, पाठशाला, मनोविनोद-कुंज (पार्क) आदि की भी व्यवस्था की गई, तब एक स्वतंत्र भवन की आवश्यकता अनुभूत हुई। जिस गाँव के महाकवि से देश की अनेक संस्थाओं को नई प्रेरणा मिली है—जनसाधारण को उद्‌बोधन का नव सन्देश मिला है, उस गाँव की जनता भला कर्त्तव्य-पथ पर क्यों न अग्रसर हो? अविलंब अठारह सौ रुपये में जमीन खरीद ली गई और सन् १९४६ ई० के मार्च में पहली तारीख को राष्ट्र के उन्नायक पं० जवाहरलालजी नेहरू के करकमलों से भवन का शिलान्यास भी हो गया। नेहरूजी को छप्पन सौ की थैली भी भेंट की गई, जिसे उन्होंने इस संस्था को ही अर्पित कर दिया। अब भवन-निर्माण का काम जारी है; मगर जैसा कलापूर्ण भवन बनाने की रूपरेखा तैयार की गई है, वैसा बनवाने में साठ हजार का खर्च कूता गया है। साथ ही, एक 'गणेशशंकर-स्मृति ग्रंथ' के प्रकाशित करने का प्रयत्न भी हो रहा है, जिसमें लगभग

पन्द्रह हजार रुपये लगेंगे। प्रतापी विद्यार्थीजी की एक विशाल प्रस्तर-मूर्त्ति भी स्थापित की जायगी और उनके जीवनोद्देश्य के अनुकूल अनेक प्रकार के लोक-कल्याणकर रचनात्मक कार्य भी किये जायँगे—इसके लिए भी पचीस हजार की आवश्यकता है। इस प्रकार, एक लाख रुपये चाहिए। हिन्दीप्रेमियों पर विद्यार्थीजी का जो ऋण है, वह तो एक करोड़ देने पर भी नहीं चुक सकता। मगर अभी हमलोगों में वीर-पूजा की भावना अच्छी तरह नहीं जगी है। अरे यह एक लाख तो सिर्फ एक लाख हिन्दीभाषियों के एक-एक ही रुपया दे देने से पूरा हो जायगा। इसमें हमारे सभी पत्रकार-बन्धुओं का सहयोग-साहाय्य अपेक्षित है। हम पत्रकारों की यह प्रवृत्ति खेदजनक है कि अपने स्वर्गीय बन्धुओं के प्रति कभी कर्त्तव्य-पालन नहीं करते। यदि पत्रकार चाहें, तो हृदयतीर्थ की आवश्यकतापूर्त्ति सहज ही हो सकती है। कानपुर के नागरिकों और धनाढ्यों का ध्यान भी इधर आकृष्ट करना होगा। हृदयतीर्थ के संचालकों से नम्र निवेदन है कि उपर्युक्त स्मृति-ग्रंथ में, या उसी के साथ स्वतंत्र ग्रंथ में, विद्यार्थीजी की ओजस्विनी रचनाओं का संग्रह भी प्रकाशित करें—उनके सम्पादकीय अग्रलेखों, टिप्पणियों, भाषणों, चिट्ठियों आदि का संग्रह प्रकाशित होने से हिन्दी की लुप्तप्राय अमूल्य निधि सुरक्षित हो जायगी। तीर्थ में उनके स्मृति-चिह्नों का संग्रह भी रहे, तो अच्छा होगा। हम तीर्थ की उत्तरोत्तर उन्नति चाहते हैं।

—मासिक 'हिमालय' (पटना); वर्ष १, अंक ६, अक्तूबर, १९४६ ई०

उड़ीसा-प्रान्त का 'राष्ट्रभाषा-पत्र'

उत्कल-प्रांतीय राष्ट्रभाषा-प्रचार-सभा (चाँदनी चौक, कटक) से 'राष्ट्रभाषा-पत्र, नामक एक हिन्दी-उड़िया-मिश्रित मासिक-पत्र निकलता है। उसका यह तीसरा साल चल रहा है और सभा का चौदहवाँ। उड़ीसा के शिक्षा-मंत्री पं० श्रीलिङ्गराजमिश्र और श्रीअनसूयाप्रसाद पाठक उसके सम्पादक हैं। उसमें व्यवहारोपयोगी हिन्दी-शब्दों और हिन्दी-वाक्यों के अनुवाद उड़िया-भाषा और उड़िया-लिपि में दिये जाते हैं। शुद्ध हिन्दी लिखने और बोलने के लिए उड़िया-भाषियों को हिन्दी-व्याकरण के नियम भी बतलाये जाते हैं। उड़ीसा-प्रान्त-सम्बन्धी अनेक ज्ञातव्य विषयों की चर्चा उसमें रहती है। वहाँ की भौगोलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक बातें उससे मालूम होती रहती हैं। किन्तु उसमें भाषा और छपाई की भूलों की इतनी भरमार रहती है कि पग-पग पर झुँझलाहट होती है। हमारे अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को इधर ध्यान देना चाहिए। राष्ट्रभाषा-प्रचार के नाम पर ऐसी भ्रष्ट भाषा चलाई जा रही है, जिसे पढ़कर बड़ी ग्लानि और लज्जा का अनुभव होता है। राष्ट्रभाषा-प्रचार-सभा को हिन्दी-प्रधान-प्रान्तों से कोई सुयोग्य लेखक बुला लेना चाहिए।

नहीं तो, सारा श्रम व्यर्थ होगा। उसमें तुलसीदास-कृत 'रामचरित मानस' का उड़िया-भाषा में पद्यानुवाद भी क्रमशः प्रकाशित हो रहा है। श्रीजगद्बन्धु महापात्र का वह पद्यानुवाद पढ़ने से साफ जाहिर होता है कि संस्कृत-बहुल हिन्दी ही उड़िया-भाषियों के लिए सुगम है। उक्त सभा के चौदहवें वार्षिकोत्सव के सभापति-पद से भाषण करते हुए उड़ीसा के प्रधान मंत्री माननीय श्रीहरेकृष्णजी महताब ने भी कहा है कि "हमारी भाषा में संस्कृत के बहुत शब्द हैं, अतः उनको (उड़िया-भाषियों को) बहुत-कम नये शब्द सीखने पड़ते हैं।" किन्तु तब भी उनके भाषण में हर जगह 'हिन्दुस्तानी' का ही गीत गाया गया है! 'पत्र' की भाषा शुद्ध हिन्दी है, फिर भी उसमें सर्वत्र ही 'हिन्दुस्तानी' शब्द के प्रति विशेष आग्रह और ममत्व प्रकट किया गया है। 'हिन्दी' शब्द से, राष्ट्रभाषा के 'हिन्दी' नाम से, लोग व्यर्थ ही चिढ़ते और भड़कते हैं, तथा जान-बूझकर 'हिन्दी' शब्द का तिरस्कार करके 'हिन्दुस्तानी' शब्द का व्यवहार करते हैं। यह मनोवृत्ति अत्यंत निन्दनीय है। जब ठेठ देहाती के भी समझने योग्य सरल-से-सरल हिन्दी लिखी ही जा सकती है और उसमें उर्दू के सुप्रचलित शब्द भी सुगमता से व्यवहृत होते ही हैं, तब फिर खाहमखाह नया नाम गढ़ने की जरूरत ही क्या है? अब भी तो हिन्दुस्तानी के हिमायतियों की आँखें खुलनी चाहिए।

हिन्दुस्तान-पाकिस्तान की भाषा

यद्यपि हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के विभाजन से 'हिन्दी' का स्वत्व स्वभावतः सुदृढ़ हो गया, तथापि अभी 'हिन्दुस्तानी' की रट लगी हुई है। बात यह है कि पहले ही से, राष्ट्रीय एकता के 'आतंक' के कारण, 'हिन्दी' को राष्ट्रभाषा कहने और मानने की हिम्मत पुलपुली हो गई है। यह इसी देश में सम्भव है कि अपनी भाषा की प्रकृति एवं संस्कृति का सर्वनाश करने में बड़े-बड़ों को भी टुक झिझक या हिचक नहीं होती। जान पड़ता है कि राष्ट्रभाषा के लिए यदि 'हिन्दी' नाम या शब्द व्यवहृत किया गया, तो हिन्दुस्तान की आजादी खतरे में पड़ जायगी? क्या आजादी तभी टिकाऊ होगी, जब भाषा के साथ 'हिन्दुस्तानी' और साहित्य के साथ 'हिन्दी' शब्द अलग-अलग चलते रहेंगे? राष्ट्रीयता क्या तभी कायम रह सकेगी, जब हमारे इतिहासकार 'हिन्दी-साहित्य' की जगह 'हिन्दुस्तानी-साहित्य' लिखा करेंगे? किसी देश में भाषा और साहित्य के लिए दो अलग-अलग नाम नहीं दीख पड़ते। बोलचाल और व्यवहार की भाषा का नाम 'हिन्दुस्तानी' और साहित्य की भाषा का नाम 'हिन्दी' रखने से तो हमारे इतिहास की परम्परा ही बिगड़ जायगी। वर्धा की हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा के प्रधान मंत्री और वर्धा के ही हिन्दुस्तानी-शिक्षा-केन्द्र के प्रमुख संचालक श्रीमन्नारायण अग्रवालजी ने अभी हाल में कहा है कि 'पाकिस्तान ने यदि उर्दू को अपनी राष्ट्रभाषा मान लिया, तो हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित करने के आन्दोलन का विरोध करना हिन्दुस्तान के लिए भी असंभव हो जायगा' और आगे फिर कहा है कि 'हिन्दुस्तानी-आन्दोलन का मूलाधार भारत की अखंडता कायम रखना था,

इसीलिए दो राष्ट्रों के सिद्धांत का विरोध किया जाता था; हमें आशा है कि विभाजन के बाद भी भारत की सांस्कृतिक एकता कायम रहेगी, और वह हिन्दुस्तानी—जो हिन्दी और उर्दू के समन्वय से बनी है—हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दोनों की राष्ट्रभाषा रहेगी'। ईश्वर की बड़ी दया होगी यदि अग्रवालजी की आशा, पूरी हो जाय। उनकी आशा से सहानुभूति रखते हुए भी—कहना पड़ता है कि अपनी हिन्दुस्तानी की परिभाषा उन्होंने गलत बतला दी है। उनकी हिन्दुस्तानी भला हिन्दी और उर्दू के समन्वय से कहाँ बनी है ? वह तो हिन्दी की खाल में उर्दू का भुस भरकर बनाई गई है ! हिन्दुस्तानी का रहा-सहा सतीत्व भी भ्रष्ट करनेवाले 'नया हिन्द' और 'हरिजन-सेवक' इसके प्रत्यक्ष गवाह हैं ! हमें तो घोर आश्चर्य है कि अब भी अग्रवालजी का स्वप्न-भंग नहीं हुआ, उनका धैर्य सचमुच हिमालय से भी अटल है—उनकी आशा शायद आकाश से भी अनन्त है ! पर हमें विश्वास है कि उनको भी कांगरेस की तरह विवश होना पड़ेगा और हिन्दुतानी का मोह छोड़ हिन्दी की गोद में ही अपनी सारी श्रांति-भ्रांति मिटाने के लिए विश्राम लेना पड़ेगा। उनको तो अब मृगतृष्णा में न पड़ा रहना चाहिए। राष्ट्रभाषा कहकर 'हिन्दुस्तानी' का प्रचार और 'हिन्दी' शब्दमात्र से घृणा करनेवाले पत्रों में जैसी भाषा व्यवहृत होती है, वैसी भाषा को 'हिन्दी' न कहकर हठवश 'हिन्दुस्तानी' कहते रहना बड़ा भारी दुराग्रह है। मद्रास-सरकार का मासिक मुखपत्र 'दक्खिनी हिन्द' भी अपनी सुबोध 'हिन्दी' को जबरदस्ती 'हिन्दुस्तानी' कहता चला जा रहा है। उत्कल-प्रांत के 'राष्ट्रभाषा-पत्र' का भी वही रवैया है। भला 'हिन्दी' नाम से इतनी घृणा क्यों ? हिन्दुस्तानी के गढ़ वर्धा से निकलनेवाली 'राष्ट्रभाषा' पत्रिका को तो 'हिन्दी' शब्द से कोई घृणा नहीं है। राष्ट्रभाषा-प्रचारकों में ही यह पारस्परिक मतभेद कैसा ? फिर मद्रास और उत्कल की प्रांतीय भाषाओं पर तो संस्कृत की ही गहरी छाप है। उनका तो हिन्दी से ही मेल बैठ सकता है। बंगाल और महाराष्ट्र तथा गुजरात का भी यही हाल है। जिस राष्ट्रीय एकता के नाम पर हिन्दी ठुकराई और हिन्दुस्तानी अपनाई गई थी, उसका स्वप्न तो टूट ही गया ; अब हिन्दुस्तानी की लाश ढोने से फायदा ? पाकिस्तान में उर्दू के बदले हिन्दुस्तानी चलेगी, यह कल्पना करना भी आकाश-कुसुम लोढ़ना है। हाँ, हिन्दुस्तान के अल्प-संख्यक भाइयों की सुविधा के खयाल से, राष्ट्रीयता की रक्षा के बहाने से, हिन्दुस्तानी के अस्तित्व की आवश्यकता का तर्क पेश किया जा सकता है। किन्तु जब हिन्दुस्तान के अल्पसंख्यकों के समझने योग्य 'हिन्दी' लिखी या बोली नहीं जा सकेगी, तभी व्यवहारोपयोगी भाषा के लिए 'हिन्दुस्तानी' नाम गढ़ा जायगा। हिन्दी तो स्वयं ही ऐसी समर्थ भाषा है कि उसके द्वारा हम हरएक भारतीय के हृदय तक अपना प्रेम-सन्देश पहुँचा सकते हैं। पर यदि हिन्दुस्तान के अल्पसंख्यकों में पूर्ववत् संकीर्ण सांप्रदायिक मनोवृत्ति बनी रही और वे 'हिन्दी' नाम से उसी तरह घृणा भी करते रहे, तो हिन्दी को स्वयं ही अपना कल्याण-मार्ग ढूंढ़ निकालना होगा। हमने अबतक की स्थिति देखकर जो कुछ सोचा-समझा है, उसके परिणामस्वरूप हम अभी यही आशा कर सकते हैं कि उर्दू

अगर पाकिस्तान की भाषा हो भी जायगी, तो राष्ट्रीयता महारानी की कृपा से हिन्दी बेचारी हिन्दुस्तान की भाषा न होने पावेगी ; राष्ट्रीयता के पुजारी अन्ततक हिन्दुस्तानी को ही महत्त्व देते रहेंगे। हिन्दीवालों को अभी से सावधान हो जाना चाहिए। अभी तक हिन्दुस्तान-पाकिस्तान की भाषा का प्रश्न नहीं उठा है सही, पर उसके उठते कुछ देर न लगेगी। हिन्दी को अभी संघर्ष ही संघर्ष तो करना है। उसको तो तबतक दम नहीं लेना है, जबतक उसका राष्ट्रभाषा कहलाने का अधिकार मान नहीं लिया जाता। हिन्दुस्तानी तो उसकी एक शैलीमात्र है और हिन्दीवाले उसे शैली के रूप में ही स्वीकृत कर सकते हैं ; क्योंकि वे तो उर्दू तक को हिन्दी की एक शैली ही मानते हैं। राष्ट्रभाषा का नाम तो हिन्दी ही रहेगा—चाहे जब हो, जैसे हो।

'वीर अर्जुन' (दिल्ली) का 'भारत-विभाजन-योजना-अंक'

साप्ताहिक 'अर्जुन' का १६ जून[1] (१९४७) का अंक ध्यान से पढ़ने योग्य है। उसमें देश के बँटवारे के बारे में बहुत-सी जानने योग्य जरूरी बातें बतलाई गई हैं। है तो यह विशेषांक २६ पृष्ठों का ही, पर वर्त्तमान जटिल समस्या के सम्बन्ध में विचार करने के लिए वह काफी प्रेरणा, सामग्री और जानकारी दे देता है। उसके महत्त्वपूर्ण लेखों में प्रकट किये गये विचार और दिये गये आँकड़े तथा सुझाव बड़े ठोस और प्रामाणिक आधारों पर अवलंबित तथा दूरदर्शितापूर्ण हैं। एक लेख है 'विभाजन और भाषा-समस्या', जिसके लेखक हैं श्रीधर्मवीर प्रेमी, एम्० ए०, साहित्यरत्न। हिन्दी-हितैषियों को यह लेख पढ़ना चाहिए। इसकी अंतिम पंक्तियाँ हमें बल देनेवाली हैं—"भले ही राजसत्ता काँगरेस के हाथ में रहे; किन्तु हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि राजसत्ता भाषा पर शासन नहीं चला सकेगी। राष्ट्र की भावनाओं को जगाने और एक छोर से दूसरे छोर तक राष्ट्रीयता को फैलाने में राष्ट्रभाषा हिन्दी का हाथ रहा है। काँगरेस का झंडा-गान जिसने अनेक स्वतंत्रता-संग्रामों में जनता को उत्साह और स्फूर्त्ति दी है—हिन्दी की ही देन है। यही हिन्दी आज काँगरेस को सत्ता मिलने पर उसके द्वारा कुचली जावे, इससे अधिक दुर्दिन और क्या होगा ? किन्तु हमारा अटल विश्वास है कि वैसा दुर्दिन आयगा नहीं।" तथास्तु; पर यदि वैसा दुर्दिन किसी तरह आया ही, जैसी आशंका भी है, तो उसका सामना करने के लिए हिन्दी-प्रेमियों को अभी से तैयार रहना चाहिए। पहले तो अभी से ऐसी कोशिश होनी चाहिए कि वैसा दुर्दिन आये ही नहीं। सभी हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं को एक स्वर से हिन्दी को हिन्दुस्तान की भाषा के रूप में कायम रहने देने के लिए सरकार से अनुरोध करना चाहिए। यह काम हिन्दी का है कि वह हिन्दुस्तान के सभी लोगों की समझ में आने योग्य अपना रूप बना ले—यद्यपि वह रूप बनाना नहीं है, वह तो बना-बनाया है।

---

१ 'हिमालय' का नवम्बर, १९४६ ई० का अंक बहुत अधिक विलम्ब से निकला था, इसीलिए इस टिप्पणी में जून, १९४७ ई० के 'अर्जुन' का उल्लेख है।—ले०

हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा और हिन्दुस्तानी तालीमी संघ

'वीर अर्जुन' के उपर्युक्त लेख में ही हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा की कार्यसमिति के उस प्रस्ताव का उल्लेख है, जिसमें समिति ने प्रान्तीय सरकारों से अनुरोध किया है कि शीघ्र ही हिन्दुस्तानी की शिक्षा दोनों लिपियों में अनिवार्य की जाय। उसी लेख में उस बात का भी जिक्र है, जो महात्मा गान्धी ने श्रीकाका कालेलकर से कही है। वह बात इस तरह है—"सरकार यह एलान करे कि जिन्हें दोनों लिपियाँ नहीं आतीं, उनके लिए यह नहीं कहा जा सकेगा कि वे हिन्दुस्तानी जानते हैं। जिन्हें हिन्दुस्तानी का सर्टिफिकेट हासिल करना हो, या कोई खास नौकरी मिलती हो, उनके लिए दोनों लिखावटों की जानकारी लाजिमी कर दी जानी चाहिए।" यह घोर अन्याय से भरी बात अंधभक्तों के इस देश में ही कही-सुनी जा सकती है। जब स्वयं ईश्वर ही भक्तों की अनन्य, श्रद्धा-भक्ति का निर्ममतापूर्वक दुरुपयोग करने लग जाय—अपनी प्रभुता से अनुचित लाभ उठाने लग जाय, तब किसी का चारा ही क्या है! उक्त लेख के अनुभवी लेखक ने बहुत ठीक लिखा है—"काँगरेस के कुछ आलोचकों का तो मत यहाँ तक है कि भाषा के साथ यह खिलवाड़ काँगरेस ने इतना भाषा को आमफहम बनाने के उद्देश्य से नहीं किया है, जितना मुसलमानों को प्रसन्न करने के उद्देश्य से किया है।" "भाषा के प्रश्न पर काँगरेस की आलोचना करनेवालों का निश्चित मत है कि 'एक अजीब किस्म की कौमियत कायम करने के लिए भारत का सब-कुछ बलिदान किया जाता रहा है। भाषा भी उन्हीं में एक है!" तो क्या करोड़ों हिन्दी-भाषी अपनी प्यारी भाषा का बलिदान खुली आँखों देखते रहेंगे! क्या दोनों लिपियाँ सीखने में राष्ट्र का श्रम और समय नष्ट करना अब भी आवश्यक ही है? सीखने के लिए तो हम खुशी से और शौक से फारसी-लिपि भी सीखेंगे; पर वह केवल इसीलिए कि हमें उस भाषा के साहित्य से सभी अच्छी चीजें लाकर अपने साहित्य को सजाना है, और इसी लक्ष्य के अनुसार हम गुजराती, उड़िया, बँगला, गुरुमुखी तथा दक्षिणी लिपियाँ भी सीखेंगे; बल्कि इन भारतीय लिपियों के सीखने से हमारी सांस्कृतिक एकता भी पुष्ट होगी। किन्तु हम अपनी देवनागरी-लिपि के अतिरिक्त दूसरी कोई भी लिपि अपनी ही इच्छा से सीखेंगे—वह हमें जबरदस्ती नहीं सिखलाई जा सकती—वह 'अनिवार्य' बनाकर हमारे ऊपर लादी नहीं जा सकती। हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा को अगर अपनी इज्जत प्यारी हो, तो भाषा के क्षेत्र में पाकिस्तान की सृष्टि करना छोड़ दे और जिस काँगरेसी सरकार से वह अपने मन्तव्य मनवाने जा रही है, वह सरकार भी यदि शान्तिपूर्वक राष्ट्र-निर्माण का काम चलाना चाहती है, तो हिन्दी-भाषा और नागरी-लिपि पर क्रूर अत्याचार करने का हौसला छोड़ दे। नहीं तो, जहाँ रचनात्मक कार्यक्रम के लिए उत्साह की लहर उमड़नी चाहिए, वहाँ विद्रोह का तूफान उठ खड़ा होगा। साप्ताहिक 'अर्जुन' के ही ६ जून (१९४७) वाले अंक में 'हिन्दुस्तानी तालीमी संघ' की भी काली करतूतों का ब्योरा छपा है। 'संघ' को भी अब समय रहते सावधान हो जाना चाहिए। प्रभुता का

मद बड़ा विस्फोटक होता है। मदान्ध होकर अधिकार का दुरुपयोग करनेवाला अंत में धोखा खाता और पछताता है। उसको कम-से-कम ईश्वर और ईमान से तो जरूर डरना चाहिए; क्योंकि अनुचित पक्षपात के लिए वहाँ सफाई देनी पड़ती है। एक हाथ में प्रेम का प्याला और दूसरे में जहर का प्याला लेकर वह मानवता की मर्यादा नहीं निबाह सकता। जिस शक्ति के बलपर वह उछल-कूद कर रहा है, उसके प्रति हिन्दी-संसार में असन्तोष का भाव सघन होता जा रहा है। हिन्दी कोई गाजर-मूली नहीं है कि वह झट उसे उखाड़ फेंकेगा। हिंन्दी को कोई लाख कृतघ्न और दुस्साहसी कहे, वह अपनी सत्ता के लिए लड़ने में किसी का भी मुलाहजा नहीं करेगी। उसकी प्रकृति और संस्कृति को चौपट करनेवाला कोई 'फरिश्ता' भी है तो क्या ?

उदयपुर में हिन्दी-हितकर कार्य

उदयपुर केवल राजस्थान का ही नहीं, हिन्दुस्तान का भी गौरव है। उसके लिए राजस्थान की तरह हिन्दुस्तान को भी अभिमान है। वह सदा हिन्दू-संस्कृति का संरक्षक रहा है। प्रताप-जयंती के अवसर पर वहाँ के महाराणा ने, नये शासन-सुधारों की घोषणा करते हुए देवनागरी-लिपि में लिखी जानेवाली हिन्दी को राजभाषा स्वीकृत किया है। साथ ही, उसी अवसर पर, 'महाराणा-प्रताप-हिन्दी-विश्वविद्यालय' का उद्‌घाटन भी किया, जिसके लिए राजकोष से बीस लाख की आरंभिक सहायता दी और दो लाख की वार्षिक, तथा सत्ताईस लाख की स्थायी सम्पत्ति एवं निधि भी इसके खर्च के लिए दी। हिन्दू-जाति के हृदय में महाराणा के लिए आज भी सर्वोच्च सिंहासन है। उन्होंने यह जो कुछ किया है, अपनी कुल-मर्यादा के अनुरूप ही किया है। यह सब तो उन्हें कई साल पहले ही कर दिखाना चाहता था। फिर भी, उपयुक्त अवसर पर ही अभीष्ट कार्य हुआ, यह संतोष की बात है। उन्हें राजस्थानी रियासतों का संघ स्थापित करते देख ऐसा मालूम होता है कि वह समय की गति पहचानते हैं। हो सकता है कि उदयपुर में अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का जो महाधिवेशन हुआ था। उसका कुछ प्रभाव इस काम में हो। तब तो और भी महाराणा हमारी हार्दिक बधाई के पात्र हैं। समस्त हिन्दी-जगत् का हृदय आज श्रद्धा और कृतज्ञता से भरा हुआ होगा। हमने सुना था कि विगत विक्रम-द्विसहस्राब्दी के अवसर पर ग्वालियर-नरेश ने भी हिन्दी-विश्वविद्यालय की स्थापना के निमित्त घोषणा की थी। किन्तु आजतक उसकी प्रगति का कुछ समाचार न मिला। खबर तो एक ऐसे ही शुभ उद्योग की जयपुर से भी मिली थी—और शायद एक बार इन्दौर से भी। पर हमें विश्वास है कि उदयपुर की घोषणा शीघ्र ही कार्य-रूप में परिणत होगी। वहाँ एक काम और भी बड़े महत्त्व का हो रहा है। उदयपुर-विद्यापीठ के प्राचीन-साहित्य-शोध-संस्थान में 'पृथ्वीराज रासो' का एक प्रामाणिक संस्करण तैयार हो रहा है। उसके सम्पादक हैं कविराज मोहनसिंह। उसमें शब्दार्थ और पद्यार्थ के अतिरिक्त आवश्यक मानचित्र भी दिये जा रहे हैं। उसकी अनुसन्धानात्मक विस्तृत भूमिका विद्वान् सम्पादक के पचीस वर्षों के

गम्भीर अध्ययन की कसौटी होगी। चालीस रुपये में सम्पूर्ण ग्रन्थ प्राप्य होगा। यह काम साहित्य के लिए अत्यन्त हितकर होगा। 'रासो' हिन्दी का आदि-काव्य माना जाता है। जाता है। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से उसका जो संस्करण प्रकाशित हुआ है वह टिप्पणियों और विवृतियों से युक्त होने पर भी हिन्दी-पाठकों के लिए यथेष्ट उपयोगी नहीं है। श्रद्धेय लाला भगवान 'दीन' और अध्यापक रामदास गौड़ के अनुरोध से पंडित गोविन्दनारायणमिश्र ने उसकी टीका लिखने का इरादा किया था और शायद काम में हाथ भी लगा दिया था, परन्तु वे लोग तो अनेक मनोनीत साहित्यिक कार्य अधूरा छोड़कर विवश चले गये। अब प्राचीन साहित्य के लिए चिन्ता करनेवाले बहुत कम लोग हैं। पूज्य पं० अम्बिकाप्रसादजी वाजपेयी की प्रेरणा से, भारतीय साहित्य-सम्मेलन के काशीवाले अधिवेशन में, प्राचीन साहित्य को समयानुकूल लोकोपयोगी बनाने की योजना ध्यान में लाई गई थी, जिसमें 'रासो' का स्थान सर्वप्रथम था; किन्तु हमारी योजनाओं की दशा सर्वविदित है! हर्ष की बात है कि उदयपुर का शोध-संस्थान 'रासो' के उद्धार में तत्पर हो गया है। विश्वास है कि हिन्दीप्रेमियों की चिर-पोषित आशा पूरी होगी।

वंगीय हिन्दी-परिषद् (कलकत्ता)

सन् १९४५ ई० के सितम्बर में वंगीय हिन्दी-परिषद् (३७४ अपर सर्कुलर रोड में) स्थापित हुई थी। तभी से यह संस्था बड़ी लगन से हिन्दी की सेवा कर रही है। इसका, पहले वर्ष (दिसम्बर १९४६ तक) का, कार्य-विवरण देखने से इसकी कार्यतत्परता और कार्यक्षमता का स्पष्ट अनुभव होता है। इसके वर्त्तमान सभापति हैं प्रो० ललिताप्रसाद सुकुल, एम्० ए०, जो कलकत्ता-विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हैं। इसके मंत्री श्रीमोहनसिंहजी सेंगर हैं, जो कुछ दिन पहले तक 'विशाल भारत' के सम्पादक थे। पूर्वीय भारत में कलकत्ता भी एक प्रकार से हिन्दी का गढ़ ही है। बँगला के अभेद्य दुर्ग के मध्य में यह गढ़ गत शताब्दी से ही अटल खड़ा है। इस गढ़ में कई तरह की साहित्यिक संस्थाएँ हैं। किन्तु यह संस्था, अपने विस्तृत कार्यक्षेत्र और व्यापक उद्देश्यों के कारण, सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होती है। इसके उद्देश्यों को देखने से अनुमान होता है कि भविष्य में इसके द्वारा हिन्दी का महान् उपकार होगा। इसके कार्यक्रम भी स्तुत्य हैं—समय-समय पर सांस्कृतिक उत्सव और साहित्यिक-जयंतियाँ मनाना, समागत साहित्यिकों के अभिनन्दन और साहित्यिक चर्चा के लिए गोष्ठियों की व्यवस्था करना, पत्र-पत्रिका-पुस्तकादि का प्रकाशन तथा एक साहित्य-विद्यालय के साथ-साथ विशाल पुस्तकालय-वाचनालय का संस्थापन आदि। किन्तु खेद है कि इसके आय-व्यय का ब्योरा संतोषप्रद नहीं है। कलकत्ता के धनाढ्य हिन्दी-हितेच्छुओं को इस संस्था की उपयोगिता पर ध्यान देकर इसकी सहायता में तत्पर होना चाहिए। इसके सदस्यों की लिखी चार पुस्तकें शीघ्र प्रकाशित होनेवाली हैं—भक्त, साधक और उपासक (प्रो० ललिताप्रसाद सुकुल), आधुनिक हिन्दी-कविता (प्रो० कल्याणमल लोढ़ा), चन्दबरदाई (श्रीविपिनविहारी त्रिवेदी,

एम्॰ ए॰), बँगला का उपन्यास-साहित्य (श्रीकमलादेवी गर्ग, एम्॰ ए॰)। इन्हीं श्रीमती-गर्ग की लिखी 'तुलसी-परिचय' नामक एक पुस्तिका पहले-पहल प्रकाशित की गई है। ४८ पृष्ठों की इस सुमुद्रित पुस्तिका में तुलसीदासजी और उनकी कृतियों के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ और ज्ञातव्य बातें संक्षेप में दी गई हैं। अंतिम भाग के दो पृष्ठों में तुलसी-वचनावली और बारह पृष्ठों में प्रसिद्ध हिन्दी-कवियों की रचनाओं के रूप में श्रद्धांजलियाँ हैं। आवश्यकता थी समालोचकों के मत की भी। तुलसीदासजी और उनकी कविता पर मान्य समीक्षकों के अभिमतों का संकलन कर देने से यह पुस्तिका कॉलेज के छात्रों के लिए भी विशेष उपादेय हो जाती। कॉलेजों में अब केवल समीक्षात्मक पढ़ाई होती है और इसमें समीक्षा का अंश कुछ है ही नहीं। अतः, कॉलेज के छात्र इससे यथेच्छ लाभान्वित न हो सकेंगे। इसके अलावा भी, तुलसीदासजी के विषय में अभी और भी बहुत-सी बातें जानने योग्य हैं। उन सब का भी संग्रह होना चाहिए। जैसे, उनके चित्र, उनकी मूर्त्ति, उनके टीकाकार, उनके नाम से सम्बद्ध स्थान और संस्थाएँ, इत्यादि। इसी तरह की पुस्तकें हिन्दी के सभी प्रसिद्ध कवियों और लेखकों सम्पादकों पर निकलनी चाहिए। हमारी राय में इसी तरह की परिषद् भी मराठी, गुजराती, दक्षिणी आदि प्रमुख भारतीय भाषाओं के केन्द्रों में स्थापित करने की आवश्यकता है। जिससे राष्ट्रभाषा हिन्दी का सभी प्रान्तीय भाषाओं से निकट सम्पर्क बना रहे। इस परिषद् के परिषदों को वर्त्तमान वंगीय साहित्य से उत्तमोत्तम सामग्री लेकर हिन्दी-पाठकों को देते रहने की भी चेष्टा करनी चाहिए।

'आजकल' का वार्षिकांक

दिल्ली के मासिक 'आजकल' का वार्षिक अंक हमें अब प्राप्त हुआ है। यह तीसरे वर्ष का प्रथमांक है। इसके प्रधान सम्पादक हैं श्रीअनन्तमराल शास्त्री। तीन उप-सम्पादक हैं—श्रीकेशवगोपाल निगम, श्रीओम्प्रकाश वैश्य, श्रीशंभूनाथ 'शेष'। दो चित्रकार हैं—श्रीएस्॰ मिलर और श्रीब्रह्मदेवशर्मा। पता है पोस्ट-बक्स नं॰ १६६ और मूल्य १।); पृष्ठ-संख्या १५६; पर चित्र-संख्या इतनी अधिक है कि गिनने का साहस नहीं। कविताएँ तेरह हैं और कहानियाँ दस—सभी विख्यात कलाकारों की हैं। सेठ गोविन्ददासजी का एक एकांकी नाटक (बन्द नोट) भी है और वह उनकी कीर्त्ति के अनुरूप ही है। पहली कविता (गृहकलह) श्रीमैथिलीशरणजी की है, जो केवल चार पंक्तियों की होने पर भी देश की अन्तर्ध्वनि-सी प्रतीत होने के कारण सर्वश्रेष्ठ है—

खोज सरल सौ छिद्र तरलतर क्षोभ-गरल ही छन वठा,
भाई के ऊपर ही भाई खड्ग खींचकर तन बैठा!
आशा लेकर उठ न सका हा! मातृ-भूमि का मन बैठा,
तुम दो के झगड़े में देखो कौन तीसरा बन बैठा!

श्रीनवीनजी की कविता—'गमक रहा है स्मृति में प्रियतम तव अंगराग, नासा में लहर रहा वह नव मादक पराग' यद्यपि गूढ़ वेदान्तीय रहस्य से भरी है, तथापि अपनी

प्रासादिकता और रसमयता से मन को आनन्द-मग्न कर देती है। श्रीबच्चनजी की 'मिलन-यामिनी' का तो फिर क्या कहना ! इस कवि का नाम जैसा प्यारा और भोला है, भाषा भी वैसी ही मीठी और सुहावनी है। बड़े आह्लाद का विषय है कि कवि की 'मिलन-यामिनी' द्रौपदी-दुकूल बन गई है—हर तरफ वर्त्तमान साहित्याकाश में छा गई है। यह जब-कभी जहाँ-कहीं आती है, 'सोहागरात' का आनन्द लाती है। लेकिन एक बात भेदभरी है—'आजकल' को जैसी मिलन-यामिनी नसीब होती है, और किसी को नहीं ! शायद इस मासिक के अनिंद्य सौन्दर्य पर कवि लट्टू है ! कवि की उन्मादिनी उक्तियाँ देखिए—"तृप्ति क्या होगी अधर के रस-कणों से, खींच लो तुम प्राण ही इन चुम्बनों से, प्यार के क्षण में मरण भी तो मधुर है !" ये तो अंत की पंक्तियाँ हैं, बीच की देखिए—"साँस में उत्तप्त आँधी चल रही है, किन्तु मुझको आज मलयानिल यही है, प्यार के शर की शरण भी तो मधुर है।" भाषा की कोमलता मानो कवि के ही बाँटे पड़ी है। एक पाँती हमें बहुत भाई—'गल रही भुज-पाश में दीवार तन की !' इसी प्रकार डॉक्टर रामकुमार वर्मा की 'तुम्हारी याद' की ये पंक्तियाँ भी—"जब कि लहरों के हृदय का एक छाला फूटता है—नील नभ से जब अचानक एक तारा टूटता है—वेदना का स्वर बना कर, जब विहग ने गीत गाये—तब मुझे तुम याद आये !" श्रीजनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' के 'संकेत-पथ' की ये पंक्तियाँ भी कैसी मार्मिक हैं—"खोज में खोया, न अपना ही पता अब पा रहा हूँ; अंक कोई है कि जिस पर शून्य बनकर छा रहा हूँ।" कहानियों में श्रीअमृतराय की 'विलायती शराब' और श्रीचन्द्रकिरण सौनरेक्सा की 'जिन्दगी की माँग' भाषा, भाव, कला, रचना-प्रक्रिया आदि की दृष्टि से बहुत अच्छी हैं—ठौर-ठौर मन को ठिठका लेती हैं और फिर उसे मौज में आगे ले चलती हैं। श्रीपहाड़ीजी की कहानी 'अवरोध और गति' में नामानुसार गुण भी आ गया है—दोनों चीजें क्रमशः चलती हैं, और कथानक की रेखाएँ कुछ सघन हो गई हैं। तीन लेख हमें खास तौर से पसन्द आये—गाये जा हिन्दुस्तान (श्रीदेवेन्द्र सत्यार्थी), पंजाब के लोकप्रिय कवि (डॉ॰मोहनसिंह दीवाना), हिन्दी-काव्य में कौआ (श्रीचन्द्रबली पांडे)। सबसे पहला लेख (नया वर्ष आ गया—पं॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी) और सबसे आखिरी लेख (वस्त्र—प्रो॰प्रभाकर माचवे) अपने-अपने रंग में बेजोड़ हैं। द्विवेदीजी की सांस्कृतिक विचारधारा बड़ी निर्मल और शीतल है। गहनता को भी सरलता देने में द्विवेदीजी बस द्विवेदीजी ही हैं। प्रो॰ माचवे की हास्यरसात्मक रचना बड़ी लहरदार है। कल्पना की उड़ान, भाषा की चुलबुलाहट, रस की तरलता, उक्तियों की वक्रता सब पर नया रंग है। इस विशेषांक की तो बात ही निराली है, साधारण अंकों को देखने से भी यही धारणा बनी है कि 'आजकल' हर तरह से हिन्दी का अग्रगण्य मासिक पत्र है। इस वार्षिकांक का तो रोम-रोम रमणीय है !

द्वैमासिक साहित्य-संकलन—'प्रतीक'

१४ हेस्टिंग्स रोड, इलाहाबाद से 'प्रतीक' का प्रथम ग्रीष्म-संस्करण प्रकाशित हुआ है। उसके चार सम्पादक हैं—श्रीसच्चिदानंद हीरानन्द वात्स्यायन (अज्ञेयजी),

प्रो० डॉक्टर नगेंद्र नगाइच, श्रीयुत श्रीपतराय ('हंस'-सम्पादक) और श्रीनेमिचन्द्र जैन। चारों सज्जन बड़े यशस्वी साहित्यसेवी हैं। कवि, समालोचक, कथाकार, निबंधकार और पत्रकार के रूप में चारों सम्पादकों की बड़ी ख्याति है। अच्छे छपे १३४ पृष्ठ हैं और नौ रुपये वार्षिक मूल्य है। जिल्द के चिकने आवरण पर ग्रीष्म के प्रतीक अमलतास के फूलों का सुन्दर चित्र है। भारतीय महिला-चित्रकार स्वर्गीया 'अमृत शेरगिल' का जीवन-वृत्त श्रीरामचन्द्र टण्डनजी ने संस्मरणात्मक शैली में लिखा है, जिसके साथ सात सादे चित्र भी प्रकाशित हैं। आरंभ में पाँच पृष्ठों का सम्पादकीय वक्तव्य है, जिसका शीर्षक 'अज्ञेय' जी ने 'संयोजना' रखा है। उसकी कुछ पंक्तियों से 'प्रतीक' की नीति और उसके उद्देश्य का परिचय मिलता है। जैसे—"प्रतीक आधुनिक हिन्दी के समूचे साहित्यिक कृतित्व का प्रतिनिधित्व करने का यत्न करेगा और इस एक दायित्व को इतना बड़ा मान लेगा कि साहित्येतर विविध विषयों की लुभावनी सामग्री ढूंढने नहीं जायगा। हाँ, साहित्य के निर्माण, रूप-संस्कार और विकास के साथ जिन मानवीय उद्योगों का सम्बन्ध है, उनकी ओर अवश्य ध्यान दिया जायगा। 'प्रतीक' किसी दल का पत्र या आयोजन नहीं है। वह देश की स्वाधीन साहित्यिक चेतना का प्रतीक है।" वर्त्तमान प्रगतिशीलता के संबंध में सम्पादकीय नीति का स्पष्टीकरण सर्वथा सन्तोषप्रद है—"हम यह नहीं मानते कि प्रगति केवल अतीत से कटकर, अपनी सारी परम्परा को उच्छिन्न करके ही है—क्योंकि यह तो एक दूसरे प्रकार की आकाश-बेल हो गई, और यदि जड़ें धरती में नहीं हैं, तो इससे क्या कि आकाश संघर्ष के धुएँ से काला अथवा लाल है? हम समझते हैं कि प्रगति प्राचीन मर्यादाओं को भीतर से प्रसृत करके उदार बनाने में है—परम्पराओं के खंडन में नहीं, बल्कि मण्डन और उन्नयन में है।" आरम्भ में सब से पहली रचना कविवर श्रीमैथिलीशरण गुप्तजी का एक काव्यांश ('दिवोदास') है, जो एक पुराण-प्रसिद्ध कथा के आधार पर रचा गया है और जिसमें मनुष्यत्व एवं पुरुषत्व की महिमा सर्वोपरि दिखाई गई है। पौरुष-पराक्रम को दैवाधीन माननेवाले भाग्यवादी इससे मनोबल पा सकते हैं। श्रीभारतभूषण अग्रवाल-लिखित चार दृश्यों का एकांकी 'पलायन' कई मनोरम सूक्ति-वाक्यों से बड़ा सुहावना लगता है। उसमें अंकित सिद्धार्थ का चित्र ऐतिहासिक परम्परा के अनुकूल होने से स्वाभाविक प्रतीत होता है; किन्तु यशोधरा की वाचालता और तार्किकता में लेखक की नई उद्‌भावना-शक्ति झलकती है—उसकी उदासीनता भी नई कल्पना-सी लगती है। श्रीलक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का लेख (सन् सत्तावन और परवर्त्ती हिन्दी-साहित्य) विशेष महत्त्वपूर्ण है। उसमें विद्वान् लेखक ने दिखाया है कि हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों और लेखकों की कृतियों में सिपाही-विद्रोह की चर्चा बहुत ही कम या नहीं के बराबर मिलती है; पर लोकगीतों में गदर का वर्णन काफी मिलता है। बहुत-से ग्रामगीत और ग्रामीण कवियों के पद उद्‌धृत हैं, जिनसे लेखक की यह बात प्रमाणित हो जाती है कि 'हिन्दी के इतिहास-प्रसिद्ध कवियों और लेखकों की भाँति जनता भारत के राजनीतिक इतिहास की एक प्रमुख घटना के प्रति उदासीन नहीं रही और उसने निष्पक्ष तथा निस्संकोच भाव से अपने विचार प्रकट किये हैं।' इसके

बाद लेखक ने हिन्दी-कवियों और हिन्दी-लेखकों की इस उदासीनताके कारणों पर बड़ी गवेषणा के साथ विचार किया है। डॉ० नगेन्द्र का लेख (रस की स्थिति) मन को बरबस अपने में तल्लीन कर लेता है। इस अंक में सबसे विद्वत्तापूर्ण लेख यही है। इसमें साहित्यिक माधुर्य और रसानुभूतिजन्य आनन्द उपलब्ध होता है। संक्षेप में लेख का सारांश इस प्रकार समझा जा सकता है—"कवि अपनी अनुभूति को सहृदय के प्रति इस प्रकार प्रेषणीय बनाता है कि उसको ग्रहण कर सहृदय को आनन्द की उपलब्धि होती है।····रस की स्थिति सहृदय के अंतर में ही है। कवि जब अपनी अनुभूति को व्यक्त कर पाता है, तब उसे भी आत्माभिव्यक्ति का—अस्मिता के आस्वादन का—रस मिलता है।···इस प्रकार कवि अनुभूति के साथ अपना रस भी सहृदय के पास भेजता है। अतएव रस की स्थिति कवि के हृदय में मानना उतना ही अनिवार्य है, जितना सहृदय के हृदय में; क्योंकि यदि कवि के कथन में रस नहीं है, तो सहृदय के हृदय में स्थित रस सुप्त पड़ा रहेगा, और इसी तरह यदि सहृदय के हृदय में रस नहीं है, तो कवि का संवेद्य निष्फल जायगा।····इसमें सन्देह नहीं कि काव्य पढ़कर या नाटक देखकर सहृदय को जो रसास्वादन होता है, उसकी मूल स्थिति उसीके हृदय में है। परंतु यह तभी संभव है, जब कवि अपनी अनुभूति को उसतक पहुँचाने में स्वयं रस ले सका हो।···· इस प्रकार कविता के विषय में यह लोक-परिचित उक्ति कि वह हृदय से हृदय में पहुँचती है, मनोवैज्ञानिक रूप में भी पूर्णतः सत्य है।" अंतिम भाग में तीन कहानियाँ और तेरह कविताएं तथा प्रसिद्ध उपन्यास 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' की तीन—तीन समालोचकों की लिखी—समालोचनाएँ हैं। ये सब रचनाएँ 'प्रतीक' की प्रतिष्ठा के अनुकूल ही हैं। विभिन्न विद्वानों की लिखी, एक ही पुस्तक की, विविध समालोचनाएँ हिन्दी-पाठकों की विवेचना-शक्ति बढ़ाने में सहायक होंगी। आशा और विश्वास है कि 'प्रतीक' के प्रयत्न से हिन्दी का साहित्यिक धरातल उन्नत एवं उर्वर होगा।

नये सहयोगियों का सादर स्वागत

इस समय दो नये मासिक और चार नये साप्ताहिक पत्र हमारे सामने हैं। मासिकों में 'युगधारा' और 'मस्ती' तथा साप्ताहिकों में 'सन्मार्ग', 'प्रकाश', 'नया राजस्थान' और 'किसान' नवजात पत्र हैं। काशी के संसारप्रेस से 'युगधारा' निकली है, जिसके सम्पादक हैं श्रीकमलापति त्रिपाठी और श्रीमुकुंदीलाल श्रीवास्तव। जुलाई[1] (१९४७) के प्रथमांक में साफ छपे ६४ पृष्ठ हैं, जिनमें कई लेख सचित्र भी हैं। पत्रिका का उद्देश्य बतलाते हुए सम्पादकों ने लिखा है—"ऐसे समय जब नव-भारत का निर्माण हो रहा है, यह और भी आवश्यक है कि भारतीय जन-समाज विश्व की गतिविधि से पूर्णतः परिचित हो। 'युगधारा' का प्रकाशन मुख्यतः उस परिचय को प्रदान करने के उद्देश्य से ही किया जा

१. यह टिप्पणी हिमालय के नवम्बर, १९४६ ई० के अंक में छपी थी, पर वह अंक बहुत अधिक विलम्ब से निकला था। इसीलिए, जुलाई, १९४७ ई० में प्रकाशित पत्र का परिचय उसमें छपा था।—ले०

रहा है।" इसीलिए इसमें देश-विदेश की राजनीतिक परिस्थितियों और समस्याओं पर ही अधिकतर विशेषज्ञ लेखकों के लेख दिये गये हैं। अंत में देश-विदेश की प्रमुख राजनीतिक घटनावली का तिथिक्रमानुसार संक्षिप्त विवरण भी दिया गया है और सम्पादकीय टिप्पणियों में भी अन्तरराष्ट्रीय विषयों की ही चर्चा की गई है। इस प्रकार, इस पत्रिका ने हिन्दी-पाठकों को भूमण्डल के देशों की वास्तविक स्थिति बतलाते रहने का बीड़ा उठाया है, जिससे वे सभी देशों के पारस्परिक सम्बन्ध और स्वार्थ-संघर्ष तथा आर्थिक-राजनीतिक-व्यवस्था-सम्बन्धी ह्रास-विकास का परिचय प्राप्त करते रहें। बड़े उपयुक्त अवसर पर यह पत्रिका प्रकट हुई है और अन्तरराष्ट्रीय प्रश्नों के अच्छे जानकारों का सहयोग इसे प्राप्त है। आजकल प्रायः सभी पाठक देश-विदेश की राजनीतिक हलचलों से परिचित होनेके लिए उत्सुक दीख पड़ते हैं। उन्हें आठ रुपये सालाना खर्च करके इसे निरंतर पढ़ना चाहिए। हमें पूरी आशा है कि यह पत्रिका राष्ट्र-निर्माण और राष्ट्र-विकास के लिए राजनीति-दक्ष नागरिक तथा सजग जनता तैयार करने में समर्थ होगी। बहुत अच्छा होता, यदि इसके कुछ पृष्ठों का उपयोग अन्तरराष्ट्रीय साहित्यिक गतिविधि का परिचय देने के लिए भी किया जाता। विश्वास है कि यह बात भी सम्पादकों के ध्यान में अवश्य होगी। हम हिन्दी-संसार में सर्वत्र ही इसका प्रचार देखना चाहते हैं। दूसरी पत्रिका 'मस्ती' मई (१९४७) से निकलने लगी है। यह 'बंबई-प्रांत की एक मात्र हिन्दुस्तानी (?) मासिक पत्रिका' है। मुख्य आवरण-पृष्ठ पर लिखा है—'स्वर्गीय रामकृष्ण भटोरे की स्मृति में'! किन्तु स्व० भटोरेजी कौन थे, इसकी संक्षिप्त चर्चा भी कहीं नहीं है! पंद्रह पृष्ठों की पत्रिका का वार्षिक मूल्य चार रुपया बहुत अधिक है। भाषा इसकी हिन्दी है, मगर ललाट पर 'हिन्दुस्तानी' की ही बिन्दी है। ऐसी मस्तानी सुहागिन 'मस्ती' भला हिन्दी का क्या उपकार करेगी? इसके सम्पादक श्रीअक्षयकुमारजी हैं, जिन्होंने इस प्रथमांक में प्रकाशित किसी रचना का भी विधिवत् सम्पादन नहीं किया है भाषा और छपाई की तथा सम्पादन-कला-संबंधी अशुद्धियाँ इसमें प्रायः मिलती हैं। बोरीवली, बंबई के पते से मँगाकर परीक्षा कर देखिए। सम्पादकजी लिखते है—"हम 'मस्ती' के जरिये हिन्दुस्तानी जबान में जनता की सारी बातों को सामने लाना चाहते हैं।" दया कीजिए भगवन्! अब जनता पर जबरदस्ती 'हिन्दुस्तानी जबान' का बोझ न लादिए, उसकी सारी बातों को सामने लाने में अकेली हिन्दी ही समर्थ है!

अजमेर का 'नया राजस्थान' भी अपने को 'हिन्दुस्तानी भाषा का राष्ट्रीय साप्ताहिक' घोषित करता है। भाषा उसकी हिन्दी है, मगर भाषा का नाम 'हिन्दुस्तानी' रख दिया गया है—शायद राष्ट्रीयता के जोश में, अथवा 'राष्ट्रीय साप्ताहिक' कहलाने का गौरव कायम रखने के लिए? ऐसे ही पत्र जो सारा काम हिन्दी-भाषा से लेते हैं और महत्त्व देते हैं हिन्दुस्तानी को, हिन्दी के हक में खलल डालते हैं। इसके सम्पादक श्रीरामनारायण चौधरी सुपरिचित हिन्दीसेवी और अनुभवी पत्रकार हैं, मगर राजस्थान के राष्ट्रीय नेता होने के कारण 'हिन्दुस्तानी' की लाज (या लाश) ढो रहे हैं। यह 'राष्ट्रीय दुर्बलता' वस्तुतः दयनीय है। जान पड़ता है कि राष्ट्रीय नेताओं में इतना साहस ही

नहीं है कि राष्ट्रभाषा को 'हिन्दी' नाम से पुकारें। 'हिन्दी' नाम उनके लिए हौआ हो गया है। पत्र निकालते हैं हिन्दी-भाषा में, मगर उसे हिन्दी का पत्र कहने से डरते हैं कि कहीं राष्ट्रीयता में धब्बा न लग जाय! हिन्दी की चिन्दी उड़ानेवाले 'हरिजन सेवक' को भी जब हिन्दीवाले हिन्दी का ही पत्र मानते हैं, तब भी हिन्दी बेचारी को कहीं पनाह नहीं मिलता —हर जगह निगोड़ी हिन्दुस्तानी ही उसकी जगह छेक लेती है! जो हो, 'नया राजस्थान' के जन्म लेने से हिन्दी के अच्छे साप्ताहिकों में एक सुन्दर पत्र की वृद्धि ही हुई है। सात रुपये वार्षिक मूल्य में साफ छपे हुए सोलह पन्ने बहुत महँगे नहीं हैं; क्योंकि पाठ्य-सामग्री काफी अच्छी दी गई है। सन्मार्ग तो और भी सुन्दर है। वह तो छह रुपये वार्षिक मूल्य में बीस सुमुद्रित पृष्ठ देता है। पाठ्य-सामग्री भी, छोटे स्वच्छ अक्षरों में, पर्याप्त है। इतना ही है कि हिन्दुत्व की रक्षा ही उसका मुख्य ध्येय है। हिन्दुओं की धार्मिक और सांस्कृतिक उन्नति तो उसका लक्ष्य है ही, अखंड भारत में भी उसकी आस्था है—उसकी वाणी में स्वदेशाभिमान की मधुर गूँज भी है। वह गंगा-दशहरा से निकलने लगा है। उसके प्रधान सम्पादक पं० गंगाशंकर मिश्र हैं। सम्पादक-मण्डल में तीन सज्जन और भी हैं—पं०कमलाप्रसाद अवस्थी, पं० शिवप्रसाद मिश्र, पं० कान्तानाथ पांडेय। मालूम होता है कि हिन्दुओं के स्वत्व-संरक्षण के निमित्त देश में जो धार्मिक सत्याग्रह-संग्राम छिड़ा हुआ है, उसीके लिए व्यापक आन्दोलन करने को यह पत्र निकाला गया है। जिन पाँच माँगों की पूर्त्ति के लिए धर्मयुद्ध चलाया जा रहा है, उनके प्रति जनता की जितनी सहानुभूति होगी, उतनी ही इसकी प्रचार-वृद्धि भी। हमारी समझ में 'सन्मार्ग' को हिन्दू-जनता के घर-घर पहुँचकर धार्मिक प्रवृत्ति जगानी चाहिए, सरकार के घर में धूम मचाने से कोई लाभ न होगा। अस्तु; बिहार के साप्ताहिकों में वैद्यनाथधाम (देवघर) का 'प्रकाश' शीघ्र ही अपने लिए एक उचित स्थान बना लेगा। पहली जून (१९४७) से वह निकलने लगा है। सम्पादक उसके श्रीप्रताप साहित्यालंकार हैं, और पाँच प्रभावशाली व्यक्तियोंका एक संचालक-मण्डल है—श्रीमोतीलाल केजरीवाल, श्रीबुद्धिनाथझा 'कैरव', श्रीगौरीशंकर डालमिया, श्रीरामराज जजवाड़े और श्रीप्रफुल्लचंद्र पट्टनायक। वार्षिक मूल्य ६॥) और पृष्ठ-संख्या १६ है। छपाई साफ और दुरंगा छपा मुखपृष्ठ है। विषय-विभाजन और सामग्री-संकलन का ढंग आकर्षक। कहानी, कविता, लेख, हास्य-विनोद आदि से सुसज्जित। सुयोग्य सम्पादक को भाषा पर अभी और ध्यान देना पड़ेगा। 'किसान' की भाषा भी किसानों के योग्य नहीं है। वह कानपुर से निकला है और उसके तीन सम्पादक हैं—श्रीराजाराम शास्त्री, एम्० एल्० ए० (प्रधान) और पं० कृष्णविहारी अवस्थी तथा पं० कमलदेव शर्मा। आठ पृष्ठों के साधारण छपे पत्र का वार्षिक मूल्य ६) किसानों के लिए उचित नहीं जँचता। किसानों और मजदूरों का पत्र खूब साफ छपना चाहिए, ताकि वे आसानी से उसे पढ़ ले सकें। उसकी भाषा भी बहुत सुगम होनी चाहिए, जिसे वे पढ़ते ही तुरत समझ लें। यह काम तभी हो सकता है, जब नेतृत्व का मोह छोड़कर सारा समय सम्पादन-कार्य में ही पूर्ण मनोयोग के साथ लगाया जाय। यहाँ तो तीन नामी संपादक हैं और अखबार निकला निहायत

मामूली ! न तो भाषा पर परिश्रम किया गया है और न कृषकोपयोगी सामग्री के संकलन पर ही यथोचित ध्यान दिया गया है। छपाई की सुन्दरता और पाठ्य-विषयों की सजावट के लिए भी कोई प्रयत्न नहीं किया गया है। आराम-कुर्सी पर लेटकर किसानों का नेतृत्व भले ही किया जा सकता हो, परंतु किसानों की वास्तविक सेवा के लिए निकाले गये पत्र का यथार्थ सम्पादन तो उस तरह नहीं हो सकता; वह तो बड़ी मशक्कत का काम है। सार्वजनिक नेता जब सम्पादक बनते हैं, तब अधिकतर अपने रंगरूटों को खटाते हैं, जिसका कुफल भाषा और साहित्य को भोगना पड़ता है। 'किसान' के उद्देश्य महान् हैं; पर उसकी सिद्धि के लिए जागरूकता और श्रमशीलता की जरूरत है, नहीं तो किसानों की गाढ़ी कमाई के पैसों से खिलवाड़ ठीक नहीं।

—मासिक 'हिमालय' (पटना); वर्ष १, अंक १०, नवंबर, १९४६ ई०

हिन्दी और हिन्दुस्तानी

हमारे देश को औपनिवेशिक स्वराज्य मिल गया। विभाजित हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की सरकारें अपना-अपना राजकाज सँभालने लगीं। अब हिन्दी और हिन्दुस्तानी का प्रश्न, हिन्दी-प्रेमियों और हिन्दी-हितैषियों की दृष्टि में, महत्त्वहीन हो गया है। किन्तु पाकिस्तानी सरकार की भाषा-नीति की तरह हिन्दुस्तान-सरकार की भाषा-नीति अभी तक संतोषजनक रीति से स्पष्ट नहीं हुई है। फिर भी, हिन्दीवालों को विश्वास है कि हिन्दुस्तानी के हिमायतियों का दुराग्रह दीर्घायु नहीं होगा। हिन्दुस्तान में अब हिन्दी की प्रगति रुक नहीं सकती। आखिर हिन्दुस्तानीवालों को अपयश के सिवा कुछ हाथ न लगेगा। जैसे उनका विश्वास अपनी दृढ़ता पर है, वैसे ही हिन्दीवालों का भी अपने संकल्प पर। यदि उनके हाथ में अधिकार है, तो हिन्दीवालों के हृदय में अनन्य अनुराग है। इस प्रकार, हिन्दुस्तानी अधिकार-मद में फूली हुई है और हिन्दी स्वाधिकार-रक्षा के लिए कमर कस चुकी है। इस युग का अनुभव यही बतलाता है कि अधिकार की प्राप्ति और रक्षा के लिए जूझने की हिम्मत रखनेवालों के सामने अधिकार-मद को घुटने टेकने पड़े हैं !

भक्त और भगवान की लड़ाई !

हिन्दी और हिन्दुस्तानी का झगड़ा भक्त और भगवान का झगड़ा है ! यह झगड़ा नहीं, रगड़ा है। हिन्दी कहती है—"जनम कोटि लगि रगरि हमारी, बरौं संभु न तु रहौं कुँआरी।" हिन्दुस्तानी कहती है—"कहहु करहु किन कोटि उपाया, इहाँ न लागिहि राउर माया; देहु कि लेहु अजस करि नाहीं, मोहि न बहुत प्रपंच सोहाहीं।" पहला कथन पार्वती का है, दूसरा कैकेयी का। दोनों का भुगतान जग-जाहिर है ! भक्त

और भगवान की लड़ाई का नतीजा भी दुनिया खूब जानती है। हिन्दुस्तानी के पक्ष में जगन्मान्य महात्मागांधी हैं, जिनके चरणों पर ब्रिटिश साम्राज्य को सिर टेकना पड़ा है। बड़े-बड़े त्यागी तपस्वी नेताओं की सेना उनके साथ है, जिसकी अमोघ शक्ति के प्रभाव से दुर्लभ स्वराज्य भी सुलभ हुआ है। किन्तु हिन्दी के पक्ष में केवल हिन्दी-भक्तों की श्रद्धा-भक्ति ही है। हिन्दी के पास तर्क-युक्ति के तीखे-चोखे तीर भी हैं; पर हिन्दुस्तानी के पास राजकीय सत्ता का अजेय ब्रह्मास्त्र है। तब भी हिन्दी कदराती नहीं है। हनुमान ने ब्रह्मास्त्र झेलकर भी रामकाज साधा था। हिन्दी भी ब्रह्मास्त्र झेलेगी, रामकाज साधेगी। 'राम-काज किन्हें बिना' उसे विश्राम कहाँ? उसने पूज्य बापू का आशीर्वाद सबसे पहले पाया था, जिसमें से अब हिन्दुस्तानी भी हिस्सा बटाना चाहती है—नहीं, वह तो बापू का सारा वरदान ही स्वयं हड़प जाना चाहती है! आश्चर्य और दुःख है कि उसके इस अन्याय की पीठ पर बापू का भी हाथ है। इतने पर भी, जितने हिन्दी-भक्त हैं, सब बापू के भी भक्त हैं। वे जानते और मानते हैं तथा भारतीय परम्परा भी बतलाती है कि जब-जब भक्तों ने भगवान से रार ठानी है, विजय पाई है। बापू से या उनकी सेना से लोहा लेने की शक्ति हिन्दी-भक्तों में भले ही न हो, भक्त में भगवान से भिड़ने की शक्ति होती भी नहीं, किन्तु भगवान की भक्ति के बल पर ही भक्त निर्भय हो भगवान से उलझ पड़ता है। भगवान की पूरी जीवनी पढ़ जाइए, उनके गले में हमेशा 'हार' का ही हार पड़ा है, भक्तों से जयमाल उन्हें कभी नसीब ही न हुई!

हिन्दी के हक पर हिन्दुस्तानी का कब्जा

'दक्खिनी हिन्द' मद्रास-सरकार का मासिक मुखपत्र है। उसके जुलाई[1] (१९४७ ई०) के अंक में देशरत्न डॉक्टर राजेन्द्रप्रसादजी का एक भाषण छपा है। दक्षिण-भारत की हिन्दी-प्रचार-सभा का नाम बदलकर हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा रखा गया है। यह 'शुभ' कर्म पूज्य राजेन्द्र बाबू से कराया गया है। १९ मई (१९४७ ई०) को हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा के भवन की नींव रखते हुए पूज्य राजेन्द्रबाबू ने जो भाषण किया, उसका एक महत्त्वपूर्ण अंश हम यहाँ अविकल रूप से उद्धृत करते हैं—"जो संस्कृत और हिन्दी के पक्षपाती हैं, उनसे मैं यह कहना चाहता हूँ कि हिन्दुस्तानी से घबड़ाने की कोई बात नहीं है। बात यह है, अगर मुझे बंगाल जाकर हिन्दुस्तानी बोलना पड़े, तो विशेष कर हिन्दुस्तानी में मुझे ऐसे अल्फाज लाने पड़ेंगे, जो संस्कृत से आये हुए हैं; क्योंकि वहाँ के लोग संस्कृत से मिली हुई भाषा को ज्यादा समझ सकेंगे, और अगर मुझे फ्रांटियर या पश्चिमी पंजाब में बोलना पड़े, तो वहाँ मुझे ऐसी भाषा बोलनी पड़ेगी, जिसमें ज्यादा फारसी अल्फाज आयें; क्योंकि उधर के लोग ज्यादा फारसी समझेंगे। हिन्दुस्तानी की सबसे बड़ी बात यह होगी कि उसमें संस्कृत और फारसी दोनों के लफ्ज रहेंगे और इसलिए वह ऐसी होगी, जिसको दोनों समझ सकेंगे।" हम अत्यंत

१. देखिए प्रस्तुत पुस्तक के पृष्ठ ५३१ की पाद-टिप्पणी।

नम्रता से पूछना चाहते हैं—क्या 'हिन्दी के पक्ष में सबसे बड़ी बात' यह नहीं हो सकती ! क्या हिन्दी में संस्कृत और फारसी के ऐसे शब्द नहीं खपे हुए हैं कि बंगाल और सीमान्त या पंजाब में काम दे सकें। क्या आज की जरूरत के मुताबिक हिन्दी अपनी शैली में फारसी-अरबी-तुर्की शब्दों को नहीं खपा रही है ? फिर क्या कारण है कि उसको राष्ट्रभाषा का नाम न देकर हिन्दुस्तानी को वह नाम जबरदस्ती दिया जा रहा है ? राष्ट्रभाषा का नाम धारण करने का हक केवल हिन्दी का ही है, हिन्दुस्तानी तो उसकी चेरी है—शैलीमात्र है। भला चेरी किस कुलीनता के बल पर रानी बनने चली है ? हिन्दी में इतनी शक्ति पर्याप्त मात्रा में है कि वह अपना रूप सबके समझने योग्य बना ले। वह तो अपने को सर्व-सुगम भाषा साबित कर चुकी है। संस्कृतवालों की तो कोई बात ही नहीं, फारसीवालों को भी वह अपनी गोद में जगह देने को हमेशा तैयार है। तब भी उसके स्वाभाविक स्वत्व पर झपट्टा मारने के लिए हिन्दुस्तानी परचाई जा रही है ! हिन्दीवाले कभी जीते-जी यह बरदाश्त नहीं कर सकते।

काकासाहब का विश्वास

आचार्य काका कालेलकर हिन्दुस्तानी के सुप्रसिद्ध भक्त हैं। १३ जुलाई[1] (१९४७ ई०) के 'हरिजन-सेवक' में उन्होंने लिखा है कि पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के नाम से देश के दो टुकड़े हो जाने पर भी हिन्दुस्तानी के लिए 'हम विश्वास क्यों खोयें ?' तथा अपना यह दृढ़ विश्वास भी प्रकट किया है कि पाकिस्तान एक दिन हिन्दुस्तान में मिलकर रहेगा। इसलिए हिन्दुस्तानी को ही राष्ट्रभाषा बनाना आवश्यक है। उनके निश्चय में कठोर आग्रह झलकता है—"देश की स्थिति का और देश के भविष्य का पूरा विचार करके हमने तो तय किया है कि आजतक जो नीति हमने चलाई, आइन्दा के लिए भी वही सही है। वही हम चलायेंगे यानी जहाँ तक हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा का ताल्लुक है, हम आसान हिन्दी और सहल उर्दू के मिलाने से जो हिन्दुस्तानी बनती है, उसीको राष्ट्रभाषा मानेंगे और उसके लिए नागरी और उर्दू—दोनों लिपियाँ लाजमी तौर पर सीखना जरूरी मानेंगे।" हिन्दुस्तानी की परिभाषा में हमारे नेताओं की कूटनीति का अज्ञेय रहस्य छिपा हुआ है ! कहते हैं आसान हिन्दी और सहल उर्दू, मगर महाराज मानसिंह की नीति निबाहने के लिए लिखते और बोलते हैं विकृत हिन्दी और क्लिष्ट उर्दू ! इससे भी बढ़कर जबरदस्ती यह करते हैं कि अपने भावों और विचारों को जिस भाषा-शैली में व्यक्त करते हैं, वह यद्यपि हिन्दी की ही प्रचलित शैली होती है, तथापि उसे वे हिन्दुस्तानी ही कहते हैं और इस प्रकार यह दावा कायम रखने की कोशिश करते हैं कि उन्हींके मुखारविन्द से जो भाषा टपकेगी, वही राष्ट्रभाषा-पद की अधिकारिणी होगी ! जान पड़ता है कि वे अपनी ही मानी हुई और गढ़ी हुई भाषा को जहर के घूँट की तरह जनता के हलक के नीचे जबरदस्ती उतारना चाहते हैं। जनता जबतक

१. देखिए प्रस्तुत पुस्तक के पृष्ठ ५३१ की पाद-टिप्पणी।

उनकी देशभक्ति और तपस्या का लिहाज करती है, तबतक वे मजे में पापड़ बेल सकते हैं, मगर जिस दिन जनता अनुचित और अनधिकार जोर-जबरदस्ती महसूस करेगी, उस दिन जैसे सभी अन्धपरम्पराओं के विरुद्ध विद्रोह होगा, वैसे ही भाषा-संबंधी पर-रोचन-नीति के विरुद्ध भी। राजसत्ता की वैधानिक शक्ति के बल पर भाषा नहीं चलाई जा सकती। उधर दक्षिण हैदराबाद में निर्ममता से हिन्दी की हत्या हो रही है और उस दिन पाकिस्तान-विधान-परिषद् में भी श्रीयुत भीमसेन सच्चर को हिन्दी में भाषण करने की इजाजत नहीं दी गई, इधर हिन्दुस्तान में भी हमारे मान्य नेता हिन्दी को अपनी चाटुकारिता की नीति का शिकार बनाना चाहते हैं। उन्हें यह याद रखना चाहिए कि वे जनता की मुरौवत से अनुचित लाभ उठाने का दुस्साहस कर रहे हैं। हिन्दुस्तान की जनता अब राष्ट्रभाषा का नाम 'हिन्दी' सुनना चाहती है। अगर उसपर कहीं जबरन 'हिन्दुस्तानी' लादी जायगी, तो वह कन्धे झाड़कर लताड़े विना न मानेगी।

'भारतीय संस्कृति'

हिन्दी के सुकीर्तिशाली साहित्य-सेवी प्रोफेसर प्रभाकर माचवे, एम्० ए० के सम्पादकत्व में, रतलाम (मध्यभारत) के 'भारतीय संस्कृति-सदन' से, 'भारतीय संस्कृति' नामक एक उत्तम त्रैमासिक पत्रिका, जुलाई [१] (१९४७ ई०) से, निकली है। वार्षिक मूल्य इसका ४) ही है। संभवतः हिन्दी में यही सबसे सस्ती त्रैमासिक पत्रिका है। किन्तु उत्कृष्टता एवं उपयोगिता में यह किसी से कम नहीं है। इसके मुद्रण-सम्बन्धी कुछ दोषों के दूर करने में यदि प्रकाशक 'सदन' तत्पर रहा, तो यह अपनी बहुमूल्य पाठ्य-सामग्री के कारण हिन्दी के राष्ट्रभाषा-नाम का गौरव बढ़ाकर लोकप्रियता प्राप्त करेगी। इसमें हिन्दी की रचनाओं के साथ-साथ मराठी, गुजराती, तमिल, बँगला और अँगरेजी की गद्य-पद्य-रचनाओं के सुगम हिन्दी-अनुवाद भी दिये गये हैं। पहला लेख 'भारतीय संस्कृति' मराठी से अनूदित है। उसकी कुछ ध्यातव्य पंक्तियों को हम संक्षेप में यहाँ देते हैं—

"भारतीय संस्कृति हृदय और बुद्धि की पूजा करनेवाली है। उसका अर्थ है—विशालता, सत्य के प्रयोग, स्थाणु न रहते हुए ज्ञान की टोह में सतत आगे बढ़ना। दुनिया में जो भी कुछ सुन्दर, शिव और सत्य है, उसे लेकर बढ़नेवाली यह संस्कृति है। दुनिया के सब ऋषि-महर्षियों को, संतों को यह पूजती है। महत्ता कहीं भी हो, यह उसकी पूजा करेगी—आदर और आनन्द से उसका संग्रह करेगी। संकुचित वृत्ति इसे मान्य नहीं। भारतीय संस्कृति कहते ही सागर और अम्बर—यह दो महान् वस्तुएँ मेरे आगे खड़ी होती हैं; प्रकाश और कमल—यह दो दिव्य वस्तुएँ झलकती हैं; त्याग, संयम, वैराग्य, प्रेम, ज्ञान, विवेक की याद हो आती है। भारतीय संस्कृति का अर्थ है सान्त से अनन्त की ओर, भेद से अभेद की ओर, कीचड़ से कमल की ओर, विरोध से अविरोध की ओर, विकार से विवेक की ओर, कोलाहल से संगीत की ओर, दुर्व्यवस्था से व्यवस्था की ओर बढ़ते जाना। इसका अर्थ है मेल—सब धर्मों का, सब जातियों का, सब ज्ञान-विज्ञानों का,

१. देखिए प्रस्तुत पुस्तक के पृष्ठ ५३१ की पाद-टिप्पणी।

सब कालों का, सारी मानव-जाति का। प्रयत्नवाद और आशावाद का समन्वय भारतीय संस्कृति है।" श्रीतेजनारायण काक, एम्० ए० की कविता (आवश्यकता का अजगर) सर्वोत्तम है—अनुभूत सत्य को प्रत्यक्ष करती है—

"आज विश्व को निगल रहा है आवश्यकता का अजगर
जिसका अधर टिका है भू पर ओठ छू रहा है अम्बर
जिसके विषमय दाँत दमकते विस्फारित मुख के अन्दर
लाल-लाल दो नेत्र धधकते अंगारों-से मस्तक पर
जिसकी खर-निश्वास-वायु के सहस पाश में बँध-बँधकर
विवश खिंचे जाते हैं मानव क्षुधित अतल उर के भीतर
जिस आवश्यकता-अजगर से भीत त्रस्त हैं सचराचर
कौन करेगा उसका कीलन तंत्र-मंत्र संयम-बल पर?"

प्रोफेसर प्रकाशचन्द्रगुप्त ने अपने विचारपूर्ण लेख (प्रगतिवाद की व्याख्या) में प्रगतिवाद की जन्मकथा और महत्ता बतलाई है—"संगठित आन्दोलन के रूप में भारतीय प्रगतिवाद का जन्म सन् १९३६ ई० में उसकी कान्फ्रेन्स से हुआ। यह कान्फ्रेन्स लखनऊ में हुई और प्रेमचंद इसके सभापति थे। प्रेमचंद एक लंबे अरसे से हिन्दी और उर्दू में लिख रहे थे। उनके सहयोग से प्रगतिवादी आन्दोलन को बहुत प्रोत्साहन मिला। प्रेमचंद के साहित्य में शोषित वर्गों के उत्पीड़न का चित्र है। प्रगतिवाद इस समुदाय के प्रति न्याय की माँग लेकर बढ़ा था, अतएव प्रेमचन्द इस आन्दोलन के स्वाभाविक नेता और अग्रणी थे। प्रेमचंद भारतीय परिस्थितियों की जिस माँग को साहित्य में पूरा कर रहे थे, उसीने प्रगतिवाद को भी जन्म दिया।······हिन्दी का अधिकतर जागरूक साहित्य प्रगतिवाद से प्रभावित है; क्योंकि प्रगतिवाद आज हिन्दी की सबसे बलवती धारा है। छायावाद का उत्तराधिकार उसने दृढ़ता से सँभाला और हिंदी-साहित्य को नवीन गति और शक्ति दी। जब कलाकार का संबंध समाज से टूट रहा था, प्रगतिवाद ने फिर से यह संबंध जोड़ा और साहित्य में मानवता की पुकार उठाई। समाज के सबसे दलित और दीन वर्गों का अगुआ साहित्य बना, और यह नया प्राण-बल खोजने में उसने कला का अभिनव शृंगार किया, और अभिव्यक्ति के नये मार्ग निकाले।" यह स्पष्ट व्याख्या साधारण हिन्दी-पाठकों के लिए भी सुबोध है। पुराने साहित्यिक डॉ० दिवाकर साहित्याचार्य ने 'ब्रह्मगंगा' नामक लेख में बड़े मार्के की एक बात लिखी है—"आज ब्राह्मण कहलानेवाला प्रत्येक व्यक्ति अपने को किसी-न-किसी गोत्र का समझता है। ये गोत्र प्राचीन ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। पर इनकी संख्या भी आज निश्चित करना असंभव है। महाभारत के लेखक व्यास मुनि के अनुसार मूल गोत्र चार ही हैं—वसिष्ठ, भृगु, कश्यप तथा अत्रि; दूसरे गोत्र कर्मों से होते हैं।"—इसका अर्थ स्पष्ट है कि प्राचीन काल में

ब्राह्मण जन्म से नहीं होते थे, कर्मों से होते थे। अपना सर्वस्व प्रजाहित के लिए देनेवाले ब्राह्मण होते थे। पर आगे चलकर अपने-अपने गोत्राभिमान से ब्राह्मण विभक्त होने लगे। अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए धन, जमीन तथा अधिकार बढ़ाकर जमने लने और लोकोपकार कार्य को भूलते गये। ब्राह्मणों का महत्त्व इन कारणों से घटता गया। अंत में जबसे इन्होंने अपने कुल या गोत्र सीमित कर दिये, तब से यह गंगा गंदी होती हुई खारे समुद्र में जा मिली। ब्राह्मण-संस्कृति यदि फिर से उज्जीवित करना हो, तो जो देश के लिए, जाति के लिए अपना सर्वस्व-अर्पण करें, संग्रह न करें, वे त्यागी पुरुष ही ब्राह्मण कहलाये जायँ।" विद्वद्वर डॉ० भगवानदासजी ने भी अपने कई निबंधों में इसी मत का प्रतिपादन किया है। आचार्य शुक्लजीने भी अपने एक निबंध में लिखा है कि वर्णाश्रम-धर्म की व्यवस्था तभी से बिगड़ी, जब से उच्च वर्णों में कर्त्तव्य-ज्ञान शिथिल हो गया। यथा—"ब्राह्मणों और क्षत्रियों को लोकहित के लिए अपने व्यक्तिगत सुख का हर घड़ी त्याग करने के लिए तैयार रहना पड़ता था। ब्राह्मणों को तो सदा अपने व्यक्तिगत सांसारिक सुख की मात्रा कम रखनी पड़ती थी। क्षत्रियों को अवसर-विशेष पर अपना सर्वस्व—अपने प्राण तक—छोड़ने के लिए उद्यत होना पड़ता था। जबतक उच्च श्रेणियों के कर्त्तव्य की कठिनता प्रत्यक्ष रहेगी—कठिनता के साक्षात्कार के अवसर आते रहेंगे—तबतक नीची श्रेणियों में ईर्ष्या-द्वेष का भाव नहीं जाग्रत् हो सकता। जबतक वे क्षत्रियों को अपने चारों ओर धन-जन की रक्षा में तत्पर देखेंगे, ब्राह्मणों को ज्ञान की रक्षा और वृद्धि में सब कुछ त्यागकर लगे हुए पावेंगे, तबतक वे अपना सब कुछ उन्हीं की बदौलत समझेंगे और उनके प्रति उनमें कृतज्ञता, श्रद्धा और मान का भाव बना रहेगा। जब कर्त्तव्य-भाग शिथिल पड़ेगा और अधिकार-भाग ज्यों-का-त्यों रहेगा, तब स्थिति-विघातिनी विषमता उत्पन्न होगी।" इसी विषमता के कारण आज हर तरफ संघर्ष बढ़ता नजर आ रहा है। श्रीमती लीलावती मुंशी ने 'प्राच्य और पाश्चात्य संगीत' पर तुलनात्मक विचार उपस्थित करते हुए कहा है—"भारतीय संगीत-पद्धति यूरोपीय संगीत-पद्धति से बिलकुल भिन्न है। वहाँ न तो रागों के लिए भिन्न-भिन्न वर्ग ही हैं और न उनके गाने के लिए विशेष समय या ऋतु ही निश्चित है। भारतीय संगीत में शास्त्रीयता की अपेक्षा कलात्मकता अधिक है। वह गति में तीव्र है, यूरोपीय संगीत मूलतः वैज्ञानिक है। भारतीय संगीत के लिए मधुर तथा कोमल ध्वनि की आवश्यकता है, यूरोपीय संगीत को गंभीर।" उनके विचारों में मतभेद की काफी गुंजायश है। दो कविताएँ और भी बहुत सुन्दर हैं—'तृप्ति' (श्रीशम्भूनाथ सिंह) और 'साँझ हो गई' (श्रीहरिनारायण व्यास)। दोनों में कल्पना और हार्दिकता का मधुर संयोग है। 'व्रजभारती'-सम्पादक श्रीसत्येन्द्र एम्० ए०, का लेख ('मंजरी' का मूल) बहुत ही सरस और गवेषणापूर्ण है। 'साहित्य-संवाद' नामक स्तंभ हमें बहुत पसंद आया। उसमें देश-भर के मुख्य साहित्य-केन्द्रों के कलाकारों और साहित्यिक संस्थाओं की प्रगति के संक्षिप्त विवरण दिये गये हैं। 'सम्पादकीय विचार' बड़े गंभीर, ज्ञानवर्द्धक, ओजपूर्ण और मनन करने योग्य हैं। यह पत्रिका उपयुक्त समय में प्रकाशित हुई है। इस समय

ऐसी पत्रिका की आवश्यकता थी। सम्पादक भी इसको बहुत अच्छे मिल गये हैं। भविष्य इसका उज्ज्वल दीखता है। हमें विश्वास है कि इसके गुणों से आकृष्ट होकर हिन्दी-पाठक इसका सादर स्वागत करेंगे।

'नया हिन्दुस्तान'

बनारस से 'नया हिन्दुस्तान' नामक साप्ताहिक पत्र हरिशयनी एकादशी (२९ जून[1] १९४७ ई०) से निकलने लगा है। इसके प्रधान सम्पादक श्रीशम्भूनाथसिंह एम्० ए०, हिन्दी के सुपरिचित कवि, कथाकार और पत्रकार हैं। इसके सहकारी सम्पादक श्रीठाकुरप्रसादसिंह भी अपने 'महामानव' नामक सुन्दर काव्य-ग्रंथ के कारण बहुत विख्यात हैं। दूसरे सहकारी हैं श्रीकिशोरीरमन राना। तीनों ही सज्जन बड़े उद्योगी और कर्म्मठ जान पड़ते हैं। उनका स्वावलंबन और अध्यवसाय अनुकरणीय है। उनके प्रथम प्रयास में ही उनकी आशातीत और कल्पनातीत सफलता देखकर चकित रह जाना पड़ता है। आठ रुपये वार्षिक मूल्य में लगभग तीस-बत्तीस पृष्ठों का सर्वांगसुन्दर साप्ताहिक निकालकर वे पूर्व-प्रतिष्ठित साप्ताहिकों के साथ अगली कतार में तनकर आ खड़े हुए हैं। हमें उनके साहस और लगन की प्रशंसा करने में बड़ा संतोष हो रहा है। उनके अनुभव की पूँजी थोड़ी कही जाय भले ही, पर उनके परिश्रम की पूंजी इतनी प्रचुर है कि 'पत्र' का प्रत्येक पृष्ठ उसका प्रमाण पेश कर रहा है। उनके सम्पादकीय विचारों में ओज और तेज काफी नजर आता है। उनके सम्पादन-कौशल में आधुनिकता की मात्रा पर्याप्त है। सभी सामयिक विषयों पर सुसम्पादित पाठ्य-सामग्री, निर्भीकतापूर्ण न्यायोचित सम्पादकीय अग्रलेख और टिप्पणियाँ, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के समाचारों का संकलन, सुरुचिपूर्ण साहित्यिक चर्चा, देश-विदेश के ज्वलन्त प्रश्नों पर निष्पक्ष विचारों का प्रकाशन, भारत के विभिन्न प्रान्तों का भौगोलिक एवं ऐतिहासिक परिचय, सब कुछ इस पत्र में बड़े ठिकाने से सजा-सजाया मिलता है। हम हिन्दी में ऐसे उच्चकोटि के साप्ताहिक पत्र के शुभागमन का सादर अभिनन्दन करते हैं। ईश्वर इसे अमर करें।

मध्यप्रदेश का साहित्यिक मासिक 'युगारंभ'

जबलपुर के साहित्य प्रेस से, यशस्वी साहित्य-सेवी श्रीब्योहार राजेन्द्रसिंहजी के सम्पादकत्व में, प्रथम श्रावण से 'युगारंभ' प्रकाशित हुआ है। लगभग पचास पृष्ठों का यह छोटा-सा पत्र यद्यपि साधारण कागज पर सफाई से ही छपा हुआ है, तथापि इसमें प्रकाशित रचनाएँ बड़ी अनूठी और अनमोल हैं। चार रुपये वार्षिक मूल्य में ऐसा बढ़िया साहित्यिक मसाला बहुत कम पत्र देते हैं। इस एक पत्र से ही मध्यप्रदेश की साहित्यिक प्रगति की झलक मिल जाती है और हिन्दी-संसार की गतिविधि का भी पता लग जाता है। 'सकलन' और 'संचय' नामक स्थायी स्तम्भों में हिन्दी-जगत् के

---

१. देखिए प्रस्तुत पुस्तक के पृष्ठ ५३१ की पाद-टिप्पणी।

उत्तमोत्तम सुपाठ्य विषयों का संग्रह करके सम्पादक ने अपनी परिष्कृत रुचि का प्रशंसनीय परिचय दिया है। उसमें जनहित की परख भी झलकती है। सम्पादक की सूझ और लगन में सहृदयों के लिए एक विचित्र आकर्षण है। यद्यपि कविताएँ नहीं हैं, तथापि गद्य-लेख बड़े सरस और मनोहर हैं—'विशालबुद्धि व्यास' (काका कालेलकर), वर्षा ऋतु (रवीन्द्रनाथ ठाकुर), संस्कृति-केन्द्र की रूपरेखा (श्रीबनारसीदास चतुर्वेदी), नर्मदा का सन्देश (आचार्य क्षितिमोहन सेन)। इनके अतिरिक्त स्वयं सम्पादक के लिखे दो लेख भी हैं—'महाभारत की महत्ता' और 'संग्रहालयों द्वारा शिक्षा'। समालोचनाएँ और साहित्यिक टिप्पणियाँ—सब सम्पादक की ही लिखी हुई हैं और पत्र के आधे से अधिक अंश में उनका विस्तार है। इन सभी सम्पादकीय लेखों से सम्पादक की बहुज्ञता और बहुश्रुतता स्पष्ट व्यक्त होती है। हिन्दी-भाषा और हिन्दी-साहित्य से संबंध रखनेवाले अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर सम्पादक ने बड़े अच्छे सुझाव पेश किये हैं और उनके सुलझे विचारों में चिन्तनशीलता की गहराई भी काफी है। हम ईश्वर से इस साहित्यिक सखा की दीर्घायु-कामना करते हैं।

साहित्यिक-सांस्कृतिक मासिक पुस्तिका 'समता'

मध्यप्रदेश से ही 'समता' भी सितंबर[1] (१९४७ ई०) से निकलने जा रही है। इसके सम्पादक-मंडल में छह विद्वान् साहित्यकार हैं—श्रीनन्ददुलारे वाजपेयी, श्रीरामेश्वर शुक्ल 'अंचल' श्रीशिवदान सिंह चौहान, डॉक्टर नारायणविष्णु जोशी, श्रीगोपीकृष्णप्रसाद, श्रीगजानन-माधव मुक्तिबोध। श्रीवसंत पुराणिक इसके प्रबंध-संपादक हैं। वार्षिक मूल्य इसका दस रुपया होगा और एक प्रति का एक रुपया। पता है इसका ६०१, गोलबाजार, जबलपुर। इसके परिचय-पत्र का संक्षिप्त अंश इस प्रकार है—"नई प्रगतशील चेतना का साहित्यिक माध्यम होने के साथ ही साथ 'समता' हिन्दी की साहित्यिक परम्परा के आलोचन, उन्नयन तथा विकास में सहायक होने का प्रयत्न करेगी। उसके द्वारा जीवन तथा साहित्य की समस्याएँ परखी जायँगी। वह साहित्य और कला के नवीन प्रयोगों का स्वागत करेगी, जिससे नवीन परिस्थिति के अनुकूल अभिव्यंजना-शैली का विकास हो। साहित्य का अन्य कलाओं के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए संगीत, नाटक, जन-नाट्य, लोक-गीत तथा लोक-कलाओं की भी उपेक्षा नहीं की जायगी। उसमें विदेशी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के कलाकारों की कला और साहित्य का अध्ययन नियमित रूप से मिलेगा। दर्शन, पुरातत्त्व, इतिहास, राजनीति आदि विषयों पर भी उसमें गंभीर लेख मिलेंगे। हिन्दी के श्रेष्ठ विचारकों तथा लेखकों का सहयोग उसे प्राप्त है। नई प्रतिभाओं के लिए उसके पृष्ठ खुले हुए हैं।" उधर लब्धप्रतिष्ठ सम्पादक-मण्डल, इधर आशा और उल्लास बढ़ानेवाले अभिवचन—विश्वास जमना स्वाभाविक है। हिन्दी की चौमुखी उन्नति देखकर हृदय आनन्द-विह्वल हो उठता है—कुछ कहने की इच्छा रहते हुए भी कुछ कहते नहीं बनता। मगर

१. देखिए प्रस्तुत पुस्तक के पृष्ठ ५३१ की पाद-टिप्पणी।

इस समय इतना ही कहना काफी है कि 'समता' से आशाएँ बहुत बड़ी-बड़ी हैं, जिनकी पूर्त्ति प्रथमांक से ही होने लगेगी, ऐसी ही हमारी निश्चित धारणा है। तथास्तु।

अखिल-भारतीय साहित्य-सम्मेलन

दिल्ली में १३-१४-१५-१६ सितंबर[1] (१९४७ ई०) को प्रमुख भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों का सम्मेलन होनेवाला है। दक्षिण हैदराबाद की 'प्रेमचंद-सोसाइटी' के तत्त्वावधान में इसका आयोजन हो रहा है। इसके संयोजकों में डॉक्टर राजेन्द्रप्रसादजी, डॉक्टर जाकिर हुसैन, श्रीमती सरोजिनी नायडू, श्रीवियोगीहरि, श्रीजैनेन्द्रकुमार, श्रीशान्तिस्वरूप भटनागर, काजी अब्दुल गफार आदि माननीय सज्जन हैं। इसके स्वागताध्यक्ष हैं सर शंकरलाल और कार्य-समिति के अध्यक्ष हैं श्रीजैनेन्द्रकुमार। प्रधान मंत्री हैं श्रीमती सत्यवती मल्लिक और डॉक्टर अख्तरहुसैन रायपुरी तथा कार्यालय-मंत्री श्रीयशपाल जैन। इस सम्मेलन के आयोजन का 'मूल उद्देश्य यह है कि भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं के साहित्यकार एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आकर साहित्य की विशिष्ट एवं सामान्य समस्याओं पर विचार कर सकें।' निस्सन्देह उद्देश्य बहुत पवित्र और महान् है। इसकी सफलता में भी कोई शंका नहीं है; क्योंकि देश के स्वाधीन होने के कारण इसकी सिद्धि में बाधा पड़ने की संभावना नहीं है। सभी भारतीय साहित्यकारों के सद्भावना-प्रेरित सहयोग से हमारी सांस्कृतिक प्रगति निश्चय ही बलवती होगी। विशेषतः राष्ट्रभाषा हिन्दी के साहित्य का अभ्युदय और अभ्युत्थान तो इसी बात पर निर्भर है कि इसका घनिष्ठ सम्पर्क सभी देशी भाषाओं के साहित्य से स्थापित हो जाय। हमें पूर्ण विश्वास है कि यह सम्मेलन एक सुसंगठित स्थायी संस्था के रूप में कायम रहकर भारत की राजधानी से सर्व-साहित्य-समन्वय का सूत्र-संचालन करता रहेगा। इसकी ओर से अनुभवी और मर्मज्ञ-विशेषज्ञ अनुवादकों, समालोचकों, संकलयिताओं तथा सम्पादकों के मण्डलों की स्थापना होनी चाहिए, जिनके द्वारा सभी भाषाओं के साहित्य पारस्परिक आदान-प्रदान से लाभान्वित होते रहें। साथ ही, इस संस्था की एक अपनी मुखपत्रिका भी होनी चाहिए, जिसके द्वारा सभी भाषाओं के साहित्य की गतिविधि और विकास का पता लगता रहे। इन दो अत्यावश्यक कामों के सिवा ग्रंथ-प्रकाशन-योजना पर भी ध्यान देना अनिवार्य है, जिससे प्रत्यक्ष लाभ यह होगा कि एक भाषा के साहित्य-भाण्डार के उज्ज्वल रत्नों से दूसरी भाषा के साहित्य-कोष की श्रीवृद्धि होगी—गौरव-गरिमा बढ़ेगी। यों तो और भी कई काम हाथ में लेने योग्य हैं, पर इस समय यदि ये तीन काम ही ठिकाने से किये जायँ, तो देश की साहित्यिक और सांस्कृतिक चेतना का नवजागरण हमारी राष्ट्रीय एकता को खूब पुष्ट करेगा। हाँ, इन कार्यों की पूर्त्ति के लिए प्रचुर धन की आवश्यकता होगी। यह आर्थिक समस्या तो देश की वर्त्तमान परिवर्त्तित परिस्थिति में हिन्दी-हितैषियों के संकल्पमात्र से हल हो सकती है। आशा है कि हमारे देश के समवेत साहित्यिक परस्पर विचार-विनिमय कर शीघ्र ही उचित मार्ग का अवलम्बन करेंगे और हमारी राष्ट्रीय

१. देखिए प्रस्तुत पुस्तक के पृष्ठ ५३१ की पाद-टिप्पणी।

सरकारभी राष्ट्र-कल्याण की कामना से यथेष्ट द्रव्यदान देकर साहित्यकारों को अपना मिशन पूरा करने के लिए निश्चिन्त कर देगी।

व्रजसाहित्य-मण्डल (मथुरा) के सत्प्रयत्न

व्रज-साहित्य-मंडल एक सजीव संस्था है। उसकी गतिशीलता सदैव उन्नति की ओर उन्मुख रहती है। उसकी मुखपत्रिका 'व्रजभारती' व्रजभाषा-साहित्य के उद्धार, प्रचार और परिष्कार के लिए अथक प्रयत्न करने में सतत संलग्न है। 'मंडल' के सदुद्योग के फलस्वरूप ही प्रतिवर्ष अखिल-भारतीय व्रज-साहित्य सम्मेलन हुआ करता है। उसका चतुर्थ अधिवेशन श्रीमान् पंडित कृष्णदत्त पालीवालजी की अध्यक्षता में फीरोजाबाद में हो चुका है। सन्तोष की बात है कि सम्मेलन के अधिवेशनों में प्रस्तावों की धूम नहीं मचने पाती। अबतक उसमें उतने ही प्रस्ताव स्वीकृत हुए हैं, जितने कार्य-रूप में परिणत किये जा सकते हैं। फीरोजाबाद में शोक-प्रस्ताव के अतिरिक्त केवल तीन ही प्रस्ताव स्वीकृत हुए हैं। यह 'मंडल' के विचारवान् और कार्य-तत्पर संचालकों के कर्त्तव्य-ज्ञान का सूचक है। वे ढिंढोरा पीटना नहीं चाहते, ठोस काम करना पसंद करते हैं। वे पंचवर्षीय योजना बनाकर सच्ची लगन से उसकी पूर्त्ति के निमित्त यत्नवान् हैं। उस योजना की संक्षिप्त रूपरेखा का दिग्दर्शनमात्र निम्नलिखित कार्यक्रम से हो सकता है—ग्राम-साहित्य-संकलनकर्त्ताओं के लिए शिक्षण-शिविर की स्थापना, व्रज-साहित्य के अध्ययन-अध्यापन के लिए विद्यापीठ का संस्थापन, व्रज के भूगोल-इतिहास का शोधन और प्रकाशन, व्रजभाषा के कोष और व्याकरण तथा सचित्र व्रज-विश्वकोष का निर्माण, व्रज-साहित्य-संग्रहालय और व्रज-कला-परिषद् की स्थापना, कोष-व्याकरणादि के साथ व्रजभाषा के महत्त्वपूर्ण ग्रंथों और संकलित ग्राम-साहित्य का प्रकाशन। अन्य जनपदों की बोलियों में भी जो लोक-साहित्य लुप्त-प्राय और बिखरा पड़ा है, उसके उद्धार एवं संग्रह के लिए भी इस योजना से काम लिया जा सकता है। सभी प्रांतों के लोक-संग्रही सज्जन इस योजना को अवश्य देखें और इससे प्रेरणा लेकर इसीके आधार पर अपनी प्रांतीय सुविधा के अनुसार आसानी से नई योजनाएँ बना लें। डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल की जनपद-कल्याणी योजना का प्रचार पंडित बनारसीदासजी चतुर्वेदी बहुत कर चुके हैं। इन योजनाओं के कार्यान्वित होने का समय आ गया। प्रांतों के सांस्कृतिक विकास से ही राष्ट्र की शक्ति एवं विभूति की वृद्धि होगी। 'मंडल' ने व्रज-ग्राम-साहित्य-संकलन का जो विवरण प्रकाशित किया है, उसे भी प्रत्येक प्रांत के लोक-साहित्य-संग्रही को देखना चाहिए और 'मंडल' द्वारा ही प्रकाशित 'ग्राम-साहित्य-संकलन-प्रणाली' नामक पुस्तक के अनुसार कार्यारम्भ कर देना चाहिए। 'मंडल' ने एक पुस्तक 'हस्तलिखित-ग्रंथ-शोधन-विधि' भी प्रकाशित की है, उसके अनुसार भी प्रत्येक प्रांत में प्राचीन ग्रंथों का शोध होना आवश्यक है। ग्राम-साहित्य का संकलन तो कई प्रान्तों में मन्द गति से हो भी रहा है; पर प्राचीन ग्रन्थों का शोध अभी तक काशी-नागरी-

प्रचारिणी सभा द्वारा अधिकतर युक्तप्रांत में ही हुआ है—राजस्थान, मध्यभारत, मध्यप्रदेश बिहार आदि प्रांत अछूते बचे हुए हैं ; इन प्रान्तों में भी बहुत-से प्राचीन ग्रंथ-रत्न बिखरे पड़े हैं, जिनके उद्धार से हमारे साहित्य के इतिहास को बहुत प्रकाश मिल सकता है। ऐसी शुभ प्रेरणाओं के लिए हमें 'मण्डल' का कृतज्ञ होना चाहिए। एक बात और हम 'मंडल' के ध्यान में लाना चाहते हैं। वह है शीघ्रातिशीघ्र सूर-साहित्य का सम्पादन और प्रकाशन। तुलसी-साहित्य की टीकाएँ बहुत-सी हैं; पर सूर-साहित्य की एक भी टीका आज तक नहीं निकली ? क्या व्रज-मंडल में सूर-साहित्य के अनुरागी या मर्मज्ञ हैं ही नहीं ? यह तो विश्वसनीय बात नहीं। 'मंडल' को इसीके लिए सबसे पहले उद्योग करना चाहिए। विश्वविद्यालयों और विद्यापीठों में सूर का अध्ययन हजारों विद्यार्थी कर रहे हैं। उन्हें सूर-साहित्य की समालोचनाएँ तो बहुत मिल जाती हैं; पर सूर के पदों का स्पष्ट भावार्थ बतानेवाली कोई टीका नहीं मिलती। तुलसी-साहित्य में छात्रों को कभी कहीं कठिनाई नहीं झेलनी पड़ती; किन्तु सूर-साहित्य में उन्हें अनेक स्थलों पर निराशा होती है। व्रजभाषा-साहित्य के आदि कवि की लोकप्रियता बढ़ानेके लिए 'मंडल' को इधर ध्यान देना चाहिए।

हिन्दी में लिखा गया सबसे पहला फैसला

बुलन्दशहर (युक्तप्रान्त) के 'सिविल और असिस्टेंट सेशन जज' श्रीमोहनशंकर सक्सेना ने पहले-पहल हिन्दी में फैसला लिखना शुरू करके हाकिमों की आँख की पट्टी तो खोली ही है, हिन्दी के न्यायालय-प्रवेश-पथ पर भी आलोक की किरणें छिटकाई हैं। वह एक पुराने हाकिम हैं। उन्होंने इण्ट्रेंस तक ही हिन्दी पढ़ी है। आजकल के बहुतेरे हाकिम बी० ए० और एम्० ए० तक हिन्दी पढ़े हुए हैं। उनमें कितने ही नवयुवक भी होंगे, जो कॉलेज की हिन्दी-परिषद् में राष्ट्रभाषा के पक्ष-समर्थन में जोशीला व्याख्यान झाड़ चुके होंगे। किन्तु समस्त देश में एक ही व्यक्ति ऐसा निकला, जिसने स्वराज्य के शुभागमन की आशामात्र से हुलसकर, स्वराज्य-तिथि से एक मास पूर्व ही, निर्द्वन्द्व भाव से, साहसपूर्वक, हिन्दी में फैसला लिखने का श्रीगणेश कर दिया। अखबारों में इस खबर के छपने पर भी आजतक कहीं से किसी हाकिम के उत्साह-प्रदर्शन का समाचार नहीं मिला है। जब भारतीय विधान-परिषद् ने हिन्दी-नागरी में विधान तैयार करने का निश्चय प्रकट कर दिया, तब तो कचहरियों के अफसरों को भी स्वाधिकार के सदुपयोग का साहस प्रदर्शित करना चाहिए। श्रीसक्सेनाजी ने सबसे आगे बढ़कर जो हौसला और हिम्मत दिखाई है, उसके लिए हिन्दी-संसार में उनकी प्रशंसा ही हो रही है। किन्तु उन्होंने हिन्दी में फैसला लिखने का जो संकल्प किया है, उसकी पूर्त्ति में वह बहुत-सी बाधाओं का भी अनुभव कर रहे हैं। वह लिखते हैं—"कानूनी शब्द हिन्दी में नहीं मिलते। हिन्दी के स्टेनो-टायपिस्ट नहीं मिलते। हिन्दी का टायपराइटर तो मेरा अपना ही है। परन्तु उस

पर खुद छापने या टायपिस्ट से छपवाने में समय बहुत लगता है। टाइप करना तो मैंने उसे सिखा लिया है, परन्तु हिन्दी शार्टहैंड की किताबें नहीं मिलतीं, जो उसे सिखाया जा सके। खैर, मैं तो अब यही प्रयत्न करूँगा कि अपना फैसला सेशन का हिन्दी में ही देता रहूँ—सिविल केस का हिन्दी में दे ही नहीं सकता, जबतक रूल न बदल जाय। मेरी मंगल-कामना यही है कि हमारी मातृभाषा हिन्दी को अपना पूर्व गौरव प्राप्त हो और यह भारत की राष्ट्रभाषा हो। मेरी अब पूर्ण चेष्टा यही रहेगी कि अधिक-से-अधिक निर्णय हिन्दी-भाषा में ही दिये जायँ। हिन्दी ही हमारी मातृभाषा है और कदापि कोई दूसरी भाषा उसका स्थान हमारे हृदय में प्राप्त नहीं कर सकती। मैं इस बात को अब दावे के साथ कह सकता हूँ कि हिन्दी को अब कोई उसके उच्च आसन से नहीं हटा सकता। न्यायालयों में हिन्दी का प्रचार अत्यंत आवश्यक है। भारत के अधिकतर जन इसी भाषा से परिचित हैं। उनके आपसी झगड़ों का निर्णय उसी भाषा में होना चाहिए, जिसको वे पूर्ण रूप से समझ सकें और तब ही उनको न्यायालयों की कारवाइयों में वह अटूट विश्वास हो सकता है, जैसा होना चाहिए और जिस विश्वास को उनमें उत्पन्न करना प्रत्येक सरकार का सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य है। परन्तु हमारे मार्ग में इस समय अनेक कठिनाइयाँ हैं। प्रथम तो सरकारी नियम कुछ ऐसे हैं, जिनका हमें पालन करना ही है। जैसे, सिविल जजी में गवाहों के बयान अँगरेजी में ही लिखने पड़ते हैं, फिर निर्णय हिन्दी में कैसे लिखा जा सकता है। द्वितीय, हमारा समस्त विधान अँगरेजी में ही है। इन विधानों में शब्दों के कानूनी अर्थ दिये हुए हैं। उनका हिन्दी में अनुवाद करना अत्यंत कठिन है। यदि किसी ने प्रयत्न किया भी, तो यह नहीं कहा जा सकता कि उस अनुवादित हिन्दी शब्द से सब लोग वही अर्थ समझेंगे। जैसे 'एविक्ट' और 'डिस्चार्ज' में कानून में बहुत भेद है। यह भेद अँगरेजी-भाषा का नहीं है, कानून का पैदा किया हुआ है। इनके अनुवाद को जबतक कानून का ही आश्रय नहीं मिलेगा, तबतक ये सर्वसाधारण में प्रचलित नहीं हो सकते। किसी कोष में इनका कुछ अनुवाद हो सकता है, किसी में कुछ। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि समस्त आधुनिक विधानों का अनुवाद सरकार की ओर से हिन्दी में कराया जाय और भविष्य में जो विधान बनें, वे सब हिन्दी में ही बनें या उनके हिन्दी-अनुवाद साथ-साथ सरकार की ओर से प्रकाशित हों। तब ही कानूनी अर्थ के लिए हर जगह हर आदमी एक ही शब्द का प्रयोग करेगा। इसके साथ-साथ यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि हिन्दी के टायपराइटर और स्टेनोग्राफर न्यायालयों और सब सरकारी दफ्तरों में रखे जायँ, जिससे हमारा कार्य वैसी ही सुगमता और शीघ्रता से होता रहे, जैसा अबतक होता आ रहा है। मुझे पूर्ण आशा है कि हिन्दी-प्रेमी हिन्दी के प्रचलित करने के आन्दोलन में इन बातों की ओर भी ध्यान रखेंगे।" हमें भी आशा है कि इन बातों की ओर काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा, अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, काशी-विद्यापीठ, कानपुरस्थ कानून-कार्यालय, हिन्दी-प्रेमी विधानवेत्ता विद्वान्, हिन्दी-पत्रकार-संघ, और सम्पादक-समुदाय का ध्यान शीघ्र ही आकृष्ट होगा तथा वे राष्ट्रीय सरकार से

निरंतर अनुरोध करेंगे कि विधान-विषयक पारिभाषिक शब्दों और अभिव्यंजकों के स्थिरीकरण के लिए विधान-विशेषज्ञों की एक विद्वत्समिति अविलम्ब नियुक्त की जाय।

—मासिक 'हिमालय' (पटना); वर्ष १, अंक ११, दिसंबर, १६४६ ई०

नव-संस्कृति-संघ

कुछ ही दिन हुए, अखिलभारतीय समाजवादी दल के सम्मेलन के अवसर पर कानपुर में एकत्र समाजवादी कलाकारों और साहित्यिकों ने, दो दिनों के विचार-विनिमय के बाद, यह तय किया था कि 'नव-संस्कृति-संघ' (न्यू कल्चर सुसाइटी) नामक एक संस्था स्थापित की जाय। उस अवसर पर भारतवर्ष के हरएक प्रांत के कलाकार और साहित्यिक वहाँ उपस्थित थे। संस्था का उद्देश्य यह निश्चित हुआ था—"हमारी संस्कृति और हमारे जीवन के सांस्कृतिक पहलू का इस तरह विकास किया जाय कि हमारे समाजिक जीवन का पुनर्निमाण स्वतंत्रता, समता और मानवता के आधार पर हो तथा उसमें सौन्दर्य एवं आनन्द की पूर्ण प्राप्ति संभव हो सके।" इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए एक कार्यक्रम बना था, जिसके चार विभागों की संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार थी—"(१) विचार-विनिमय के लिए लेखक, कवि, कथाकार और सम्पादक एकत्र किये जायँ, ताकि वे जनता के जीवन की अपूर्णताओं एवं अभावों के चित्रण की ओर अधिक ध्यान दे सकें, और उन्हें ऐसी सहायता देने की चेष्टा की जाय कि वे जनता के स्वतंत्र एवं सम्पूर्ण जीवन के विकास के योग्य साहित्य का निर्माण कर सकें। (२) जो कलाकार नाटक, संगीत, नृत्य एवं चित्रांकन में संलग्न हैं, वे इस तरह संगठित और उत्साहित किये जायँ कि वे अपनी कला-कृतियों में जनता की उमंगों और आकांक्षाओं का सही प्रतिनिधित्व होने दें। (३)शहरों और गाँवों में सांस्कृतिक केन्द्र खोले जायँ। (४)नई संस्कृति से संबंध रखनेवाली पुस्तकों और पत्रिकाओं के प्रकाशन का प्रबंध किया जाय।" इस कार्यक्रम के साथ ही 'नई संस्कृति' नामक मासिक-पत्रिका निकालने का भी निश्चय हुआ था। तबतक एक अस्थायी समिति भी संगठित कर ली गई, जिसके संयोजक श्रीरामवृक्ष बेनीपुरीजी चुने गये और सदस्य तो सभी प्रान्तों के कुछ गिने-चुने साहित्य-सेवी निर्वाचित हुए। किन्तु साम्प्रदायिक दंगों के कारण अभी तक संघ का काम ठीक तरह चालू न हो सका। अब शीघ्र ही प्रत्येक प्रांत में संघ का संगठन करने का उद्योग किया जा रहा है। काशी में एक अखिल-भारतीय सांस्कृतिक सम्मेलन करने का प्रयत्न भी हो रहा है। आशा है कि इस संघ के प्रयास से हिन्दी-साहित्य में नवीन सांस्कृतिक चेतना का प्रसार होगा। साथ ही, विश्वास भी है कि पंडित सुन्दरलालजी की 'हिन्दुस्तानी कल्चर सोसाइटी' के समान यह संघ अनर्थ नहीं करेगा—'नया हिन्द' की भाँति 'नई संस्कृति' हिन्दी-भाषा पर अत्याचार नहीं करेगी। लेकिन एक और बात भी यहाँ ध्यान में आती है। साहित्य और संस्कृति की उन्नति के लिए

अखिल-भारतीय संस्थाएँ यदि बहुत-सी हो जायँगी, तो सारी शक्तियाँ बिखर जायँगी। इस क्षेत्र में अपने जीवन का प्रत्येक क्षण लगानेवाले कार्यकर्त्ता गिने-चुने ही हैं। अलग-अलग टुकड़ियों या क्षेत्रों में उनके विभक्त हो जाने से किसी एक संस्था का भी काम ठीक तरह न हो सकेगा। इस बात पर भी गंभीरता और दूरदर्शिता से विचार कर लेना चाहिए। भारतीय भाषाओं के साहित्यिकों का एक अखिल-भारतीय संगठन अलग हो रहा है, प्रगतिशील साहित्यिकों का भी वैसा ही एक संगठन पहले से है, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन तो है ही। इन सब में अधिकतर उन्हीं व्यक्तियों के नाम कुछ हेरफेर के साथ नजर आते हैं, जो व्यक्ति सचमुच लगन से काम करनेवाले हैं। आखिर, मनुष्य की सीमित शक्ति कहाँतक और किधर-किधर हाथ-पैर मारेगी? यही विचारणीय है कि अखिल-भारतीय संस्थाओं की संख्यावृद्धि से विशेष लाभ होगा या संघ-शक्ति और सद्भावपूर्ण सहयोग से। यदि अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अन्दर ही विभिन्न विभाग खोलकर हिन्दी की बहुमुखी उन्नति के लिए सम्मिलित प्रयत्न करने का उद्योग किया जाय, तो क्या अभीष्ट-सिद्धि नहीं हो सकती?

साहित्यिक संन्यासियों की आवश्यकता

हिन्दी अब राष्ट्रभाषा और राजभाषा का गौरवास्पद पद अधिकृत करती जा रही है। उसके साहित्य की अभिवृद्धि के लिए देश में यत्र-तत्र नाना प्रकार के उत्साहवर्द्धक उद्योग हो रहे हैं। किन्तु हिन्दी के राष्ट्रभाषा-पद-गौरव की रक्षा के लिए अभी बहुत-से छोटे-बड़े काम करने को पड़े हुए हैं—अभी बहुतेरे अभावों की पूर्त्ति करनी पड़ेगी। इसके लिए साहित्यिक संन्यासियों की आवश्यकता अनुभूत होती है। स्वराज्य-प्राप्ति के लिए काँगरेस को जितना त्याग और कष्ट-सहन करना पड़ा है, उतना ही साहित्य के अभ्युदय के लिए भी हिन्दीवालों को करना पड़ेगा। इस समय हिन्दी को भी वलिदानी साहित्यिकों की बड़ी आवश्यकता है। हिन्दी के हितार्थ आज त्यागी और कष्ट-सहिष्णु व्यक्तियों की अनवरत सेवा अपेक्षित है। करोड़ों हिन्दी-भाषियों में से सौ-पचास साहित्यिक संन्यासियों का निकल आना कोई कठिन बात नहीं है। काँगरेस की विजय इसीलिए हुई कि देश-भर में उसको सौ-पचास व्यक्ति ऐसे मिल गये, जो अपना सारा समय काँगरेस के काम में ही लगाते थे—घर-बार और जीविका की चिंता छोड़कर अपना जीवन देशोद्धार के काम में ही खपाते थे। साहित्य को अभी ऐसे सर्वस्व-त्यागी नहीं मिले हैं। कुछ त्यागी-तपस्वी मिले भी हैं, तो वे योगक्षेम की चिन्ता से सर्वथा मुक्त नहीं हो सके हैं। अब जरूरत ऐसे लोगों की महसूस हो रही है, जो जीविकोपार्जन और परिवार-पालन की समस्याओं से छुटकारा पाकर अपना कुल समय हिन्दी के उत्थान में ही लगावें। जिनकी आर्थिक स्थिति संतोषप्रद हो, जिनपर परिवार के पोषण का भार न हो, जिनको जीवन-निर्वाह के लिए अपने कुटुम्ब से पर्याप्त सहायता मिल सकती हो, जो सांसारिक चिन्ताओं से अपने मन को शांतिपूर्वक हटा सकते हों, जो सादगी से जीवन-यापन करते हुए पूर्ण मनोयोग के साथ साहित्य-सेवा में दत्तचित्त होना चाहते हों, उन्हें अब अविलम्ब कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होकर अपनी योग्यता

एवं रुचि के अनुकूल साहित्यिक कार्य में लग जाना चाहिए। और, जो लोग स्वभावतः सांसारिक प्रपंचों से विरक्त होकर अपनी आंतरिक प्रेरणा से साहित्य-सेवा-व्रती बनने में समर्थ हों, उनको तो शीघ्र ही आदर्श उपस्थित करना चाहिए। अपनी जीविका-वृत्ति के लिए दिन-रात परिश्रम करते हुए केवल अवकाश के समय साहित्य-सेवा से मनोरंजन कर लेनेवाले साहित्यिकों से ही अब हिन्दी के सुविस्तृत क्षेत्र के सभी कार्य सुचारू रूप से सम्पन्न नहीं हो सकते। जो लोग केवल साहित्योपजीवी हैं और अपना जीवन साहित्य-सेवा के लिए ही अर्पित किये हुए हैं, उनसे वे ही निश्चित काम हो सकते हैं, जिनपर वे नियुक्त हैं; पर अभी और भी बहुत-से ऐसे अछूते काम पड़े हुए हैं, जिनके लिए स्वार्थत्यागी निष्काम कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता है। बहुत-सी साहित्यिक संस्थाओं की अनेक योजनाएँ पर्याप्त धन और त्यागशील कार्यकर्त्ताओं के अभाव के कारण कार्यान्वित नहीं हो रही हैं। यदि हिन्दी-प्रेमियों और हिन्दी-हितैषियों का ध्यान इधर शीघ्र आकृष्ट न हुआ, तो राष्ट्रभाषा हिन्दी अपने महत्तम गौरव का पालन कैसे करेगी?

काशी का 'भारतीय ज्ञानपीठ'

'ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध और अप्रकाशित सामग्री का अनुसन्धान और प्रकाशन तथा लोकहितकारी मौलिक साहित्य का निर्माण' करने के पवित्र उद्देश्य से, दुर्गाकुण्ड, बनारस सिटी में, सेठ शांतिप्रसादजी जैन ने 'भारतीय ज्ञानपीठ' नामक प्रकाशन-मंदिर की स्थापना की है, जिसकी अध्यक्षा हैं श्रीमती रमा जैन। इस 'पीठ' की 'लोकोदय-ग्रन्थमाला के प्रथम तीन ग्रंथ-पुष्प हमें प्राप्त हुए हैं, जिनकी रंगीनी, सुकुमारता, सुषमा और सुरभि वस्तुतः चित्ताकर्षिणी है। पहला ग्रंथ 'मुक्तिदूत' है, जिसके लेखक श्रीवीरेंद्रकुमार जैन, एम्० ए० हैं। ३१६ पृष्ठों की इस सजिल्द पुस्तक का मूल्य पौने पाँच रुपये है। आरंभ के बारह पृष्ठों में सम्पादक श्रीलक्ष्मीचन्द्र जैन, एम्० ए० (डालमियानगर) ने जो प्रस्तावना लिखी है, उससे पुस्तकगत विषय का विश्लेषणात्मक परिचय मिल जाता है। इस पौराणिक 'रोमांस' में, सम्पादक के कथनानुसार, 'अंजना और पवनंजय की पौराणिक कथा आधुनिक उपन्यास के रूप में, उपस्थित की गई है। जैन-पुराणानुसार हनुमानजी की जन्म-कथा बड़ी रोचकता और रोमांचकता से वर्णित है। भाषा-शैली प्रौढ़ एवं परिष्कृत है। प्रेमाख्यान के अनुरूप ही भाषा सरस और वर्णन-शैली सुहावनी है। दूसरा ग्रंथ है 'दो हजार वर्ष पूर्व पुरानी जैनकथा-कहानियाँ', जिसके लेखक हैं डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, एम्० ए०। यह भी २०२ पृष्ठों की सजिल्द पुस्तक है, जो तीन रुपये में सुलभ है। इसकी भूमिका में आचार्य हजारीप्रसादजी द्विवेदी ने लिखा है कि 'संगृहीत कहानियाँ बड़ी सरस हैं' और बड़े सहज ढंग से लिखी गई हैं, 'इसलिए बहुत सहज-पाठ्य हो गई हैं।' कहानियाँ तीन खण्डों में विभक्त हैं—लौकिक, ऐतिहासिक और धार्मिक। कुल चौंसठ कहानियाँ हैं। विद्वान् लेखक ने सोलह पृष्ठों की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना में जैनकथा-साहित्य और इन संगृहीत कहानियों के संबंध में बहुत-सी जानने योग्य बातें लिखी हैं। वास्तव में कहानियाँ व्यावहारिक, नैतिक और धार्मिक शिक्षाओं से

भरी पड़ी हैं। यह पुस्तक आबाल-वृद्ध-नर-नारी—सब के लिए उपयोगी है। हिन्दी में यह एक अनूठी चीज निकली है। तीसरी पुस्तक 'पथचिह्न' के लेखक श्रीशांतिप्रिय द्विवेदी हैं, जिनके लेखन-कौशल से हिन्दीपाठक भली-भाँति परचित हैं। वह स्वयं ही अपने 'दो शब्द' में लिखते हैं—"पथ-चिह्न में मैंने अपनी स्वर्गीया बहिन को भारतमाता की आत्मा के रूप में स्मरण किया है। उसीके व्यक्तित्व को केन्द्र-बिन्दु बनाकर अपने जीवन और युग की समस्या को स्पर्श किया है। इस प्रकार यह पुस्तक व्यष्टि से समष्टि की ओर है।" इसके चार आरम्भिक पृष्ठों में हिन्दू-विश्व-विद्यालय के आचार्य केशवप्रसादजी मिश्र का लिखा 'पूर्वाभास' है, जिसकी ये पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—"इस पुस्तक में भावुक मन और तत्पर बुद्धि के समागम का मधुर परिपाक है। इसका क्रियाकल्प (रचना-प्रकार) नवीन और अत्यंत रुचिर है। इसमें कृतिकार के निर्माण-संकल्प का क्रमिक विकास और इसका रूप-विन्यास अत्यंत मनोहर और हृदयंगम हुआ है। इसकी शैली सम्पन्न, अनुरूप, भावप्रवण तथा व्यंजक है। पृष्ठ-पृष्ठ पर ये विशेषताएँ लक्षित होती हैं। शांतिप्रिय ने अपने हृद्गत भावों की तात्त्विक व्यंजना के लिए कुछ नये शब्दों की भी सृष्टि की है, जो श्लाघ्य है।" अब इससे बढ़कर पुस्तक या लेखक के लिए दूसरा कोई प्रशंसापत्र नहीं हो सकता। आचार्य मिश्रजी ने एक बात बड़े मार्के की लिखी है, जिस पर इस युग के मानव को पूरा ध्यान देना चाहिए। वह यह है—"परमात्मा ने मानव को सच्चा मानव होने के दो वर दिये हैं—बुद्धि और श्रद्धा। बुद्धि सभी प्रकार के व्यवहारों का कारण है। इसीसे बुद्धि को महत्तत्त्व होने का गौरव मिला है। हेतुवाद और प्रज्ञावाद इसके दो प्रधान आयुध हैं, जिनके द्वारा यह उथल-पुथल मचाया करती है। ज्ञान, विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि-आदि इसके क्रीड़ा-क्षेत्र हैं। यह श्वेत को श्याम और श्याम को श्वेत कर सकती है। यह क्या? कहाँ? कैसे?—जैसे प्रश्नों की झड़ी लगाया करती है और उनके उत्तर देने में आकाश-पाताल एक किया करती है। सही, लेकिन इससे तर्क-वितर्क का ताप बढ़े तो बढ़े, तृप्ति की शीतलता कभी न मिलेगी। अतः, इसको सात्म्य और अनुकूल करने के लिए दूसरा वरदान—श्रद्धा है। बुद्धि मस्तक और श्रद्धा हृदय से सम्बद्ध है। श्रद् हृद् का ही रूपान्तर है, अतः श्रद्धा का अर्थ है—हृदय का धारण और पोषण। श्रद्धा वस्तुतः सब प्रकार के भावों का प्रतीक है। श्रद्धा अथवा साध से सम्पादित कर्म ही समर्थ होता है, सफल होता है—'यदेव श्रद्धया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छान्दोग्य)। बुद्धि और श्रद्धा के असामंजस्य से ही संसार में नाना प्रकार के उत्पात खड़े होते हैं। बुद्धिवादी मानव जब श्रद्धा का अनुशासन नहीं मानता और हृदयहीन होकर वर्त्तमान युग के सबसे बड़े लक्ष्य 'अर्थ' को ही परमार्थ समझकर स्वायत्त करना चाहता है, तभी ऐसा दुरन्त संघर्ष उठ खड़ा होता है। इस दावाग्नि का शमन श्रद्धा ही करती है।" भला इस विशुद्ध बुद्धिवादी युग में इन पंक्तियों का महत्त्व कौन समझेगा? बुद्धिमत्ता के अहंकार ने आज के श्रद्धाहीन-हृदयहीन मानव को दानव बना दिया है! अस्तु; इस सवा सौ पृष्ठों की सजिल्द पुस्तक का मूल्य दो रुपये है। उपर्युक्त तीनों पुस्तकों की छपाई अतीव सुन्दर और स्वच्छ-शुद्ध है।

तीनों का अन्तरंग और बहिरंग तन-मन-नयन के लिए आनन्दप्रद और शांतिदायक है। हम ज्ञानपीठ के संचालकों की योजनाएँ पढ़कर बहुत आशान्वित हैं। ज्ञानेश्वर विश्वेश्वर उन्हें सफल करें, जिससे हिन्दी में दर्शनीय एवं मननीय पुस्तकों की वृद्धि हो।

पंडित रामदहिन मिश्रजी का भगीरथ-प्रयत्न

बिहार के दो प्रसिद्ध मासिकों—'किशोर' और 'पारिजात' के सम्पादक तथा संचालक पंडित रामदहिन मिश्रजी पिछले कई साल से रस-छन्द-अलंकार-संबंधी एक विशाल ग्रंथ के प्रणयन में तन-मन-धन से लगे हुए हैं। अपनी ढलती उम्र और खिसकती तन्दुरुस्ती का कुछ खयाल न करके वह बरसों से इसी काम में अहर्निश दत्तचित्त हैं। उनका अनवरत युवकोचित परिश्रम और उनकी सच्ची लगन देखकर श्रद्धा के साथ-साथ ईर्ष्या भी होती है। उन्होंने पाँच खण्डों मे 'काव्यालोक' नामक ग्रंथ तैयार कर लिया है, जिसका दूसरा खण्ड प्रकाशित हो गया है और पहला खंड भी शीघ्र प्रकाशित होनेवाला है। प्रकाशित द्वितीय खंड की आलोचना 'हिमालय' की चौथी पुस्तक में छप चुकी है। उस में शब्द-शक्तियों का शास्त्रीय विवेचन पाण्डित्यपूर्वक किया गया है। इसी प्रकार अर्थ, भाव, कल्पना, रस, छंद, अलंकार, शैली आदि विषयों पर बड़े विस्तार से, शास्त्रीय प्रमाणों और आधुनिक उदाहरणों के साथ, अन्यान्य खंडों में विचार किया गया है। जब पाँचों खंड प्रकाशित हो जायँगे, तब हिन्दी-साहित्य के प्रतिष्ठित ग्रन्थों में उनकी गणना होगी। इधर मिश्रजी ने उन पाँच भागों का सारांश लेकर 'काव्यदर्पण' नामक एक नया ग्रंथ तैयार करके प्रकाशित कर दिया है। यह ग्रंथ पाँच सौ पचपन पृष्ठों का है। इसके आरंभ में एक सौ पृष्ठों की विद्वत्तापूर्ण भूमिका अलग है। इसमें उन्होंने साहित्यशास्त्र की सारी मुख्य बातें, नवीन विचारों और नवीन उदाहरणों के साथ, दे देने का प्रयास किया है। उनका यह प्रयास देखकर उनके कठोर परिश्रम और गम्भीर स्वाध्याय का पता लगता है। उन्होंने काव्यशास्त्र-सम्बन्धी सभी महत्त्वपूर्ण विषयों को बड़ी स्पष्टता और सरलता से समझाने की चेष्टा की है। इस चेष्टा में उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली है। वास्तव में यह ग्रंथ अपना 'काव्यदर्पण' नाम सार्थक करता है। इसके अन्दर विद्वानों के मतभेदों की भी गुंजायश हो सकती है, मगर यह तो सभी शास्त्रीय ग्रंथों के बारे में कहा जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि पण्डितजी ने यह जो पारिजात-पुष्पों की मनोहारिणी माला हिन्दी-माता को अर्पित की है, उसके स्वर्गीय सौरभ से साहित्य-मन्दिर अनेक आगामी वर्षों तक निश्चय ही आमोदपूर्ण बना रहेगा।

हिन्दी की एक दर्शनीय वार्षिक पत्रिका

श्रीअरविन्द-आश्रम (पांडिचेरी) की त्रैमासिक पत्रिका 'अदिति' का परिचय पहले कई बार दिया जा चुका है। इसबार वहाँ से निकली हुई 'अर्चना' नामक एक सर्वांग-सुन्दर वार्षिक पत्रिका आई है। यह स्वतंत्रभारत-दिवस (१५ अगस्त[१] १९४७ ई०) को निकली है। इसी दिन महात्मा अरविन्द की पचहत्तरवीं जयन्ती थी। अब यह प्रतिवर्ष

१ देखिए प्रस्तुत पुस्तक के पृष्ठ ५३१ की पाद-टिप्पणी

इस तिथि पर निकला करेगी। अत्युत्तम कागज पर अतीव सुन्दर छपाई इसकी बाहरी विशेषता है। १४३ पृष्ठों में छपा हुआ आध्यात्मिक साहित्य मन को संयत, प्राण को तृप्त, बुद्धि को निष्कलुष और हृदय को आह्लादित करता है—यही इसकी आन्तरिक सुन्दरता है। इसका अन्तरंग और बहिरंग शान्तिदायक है। इसमें छत्तीस गद्य-पद्य-रचनाएँ हैं और ग्यारह चित्र। इसके सम्पादक और प्रकाशक श्रीचन्द्रदीपजी हैं। चार रुपये में ऐसी चितचोर चीज हिन्दी-पाठकों के लिए एक वरदान ही है। श्रीअरविन्द और श्रीमाताजी की रचनाओं में 'हृत्पुरुष' और 'साधना के चार सहायक' तथा 'आत्मसंयम' विशेष रूप से अध्ययनशीलों के मनन करने योग्य हैं। अन्य रचनाओं में भी निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं—चन्द्रोदय (श्रीपन्तजी की कविता), आनन्द का रहस्य (श्री 'माधव'), राष्ट्र का अन्तरात्मा (श्रीनलिनीकांत गुप्त), चैत्यपुरुष (श्रीचारुचन्द्र दत्त), मातृपूजा (श्रीशुद्धानंद भारती), भगवत्कृपा (श्रीसुन्दरम्), साधना (श्रीईश्वरभाई पटेल), मन्मना भव (श्रीलक्ष्मणनारायण गर्दे), श्रीअरविन्द से बातचीत (श्रीदिलीपकुमार राय)। श्रीअरविन्द के जीवन, विचार और साधना-सिद्धि से सम्बन्ध रखनेवाले लेख भी तीन-चार बहुत अच्छे हैं। सम्पादकीय विचार एक तल्लीन चिन्तक के उत्प्रेरक उद्गार हैं। हिन्दी-प्रेमियों को 'अर्चना' का संग्रह मानसिक अर्चन के लिए करना चाहिए।

'प्रतीक' का पावस-अंक

इलाहाबाद के द्वैमासिक 'प्रतीक' के ग्रीष्म-अंक का परिचय हम दे चुके हैं। प्रस्तुत पावस-अंक में सत्रह कविताएँ, पाँच कहानियाँ और तीन निबन्ध हैं। श्रीदिनकरजी के नवीन काव्यग्रंथ 'कुरुक्षेत्र' की—डॉक्टर नगेंद्र और डॉ० देवराज की लिखी हुई—दो समीक्षाएँ हैं। पहली कविता (वर्षा) कविवर पन्तजी की है और पहली कहानी (राखी) श्रीवृन्दावनलाल वर्मा की। दोनों इस अंक के अनुकूल हैं। पहला निबन्ध श्रीभगवतशरण उपाध्याय का है, जिसमें उन्होंने 'गीता' को 'वर्ग-संघर्ष का प्रतीक' और कृष्ण को अनार्य एवं अकुलीन सिद्ध किया है! 'इतिहास के दृष्टिकोण' से विद्वान् लेखक के विचार आधुनिक बुद्धिवादी युग के प्रगतिवादी पाठकों को प्रभावान्वित करेंगे। इसमें केवल मस्तिष्क के ऊहापोह का खेल है, हृदय का योग नहीं है। अलबत विद्वत्ता की लीला देखने योग्य है! दूसरा निबन्ध पं० इलाचंद्र जोशी का है 'आधुनिक कथा-साहित्य'। यही इस अंक का सबसे बड़ा निबन्ध है। सबसे सुन्दर भी यही है। किन्तु तीसरे निबन्ध (लोकवार्त्ता की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि) में भी दूसरे से कुछ कम गुरुता नहीं है। यह तीसरा श्रीसत्येंद्रजी का है। यह साहित्य के एक सांस्कृतिक अंग को परिपुष्ट करने की प्रेरणा देता है। इसमें अपेक्षाकृत नवीनता और सूझ भी काफी है। सेठ गोविन्ददासजी का एकांकी एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक कहानी के आधार पर आश्रित है। खास तौर से स्त्रियों को इसे पढ़ना चाहिए। पुरुषों के लिए इसमें एक सामयिक सन्देश है। कविताओं में श्री 'नवीन'जी की 'कार्य-कारण-शून्यता' के अन्दर हमें काव्यानन्द नसीब न हुआ; क्योंकि विज्ञान और वेदान्त से हम कोरे हैं। पन्तजी और

बच्चनजी से ही सन्तोष हो गया। कविता में पहेली बूझने का अभ्यास कभी किया ही नहीं। प्रगति-पथ पर जो कविता-देवियाँ मिल जाती हैं, उन्हें करबद्ध प्रणाम कर लेने का ही अभ्यास है। 'प्रतीक' का 'साहित्य-संकलन' बहुत उच्च कोटि का है। उसके लिए उन्नत एवं उर्वर मस्तिष्क का पाठक भी चाहिए। उससे साहित्य का मान बढ़ रहा है।

मासिक साहित्य में चार चाँद······!

हमें जो नये मासिक-पत्र इधर प्राप्त हुए हैं, उनमें साहित्यिक दृष्टि से प्रयाग का 'भारतीय' ही सर्वश्रेष्ठ है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि और नाटककार पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र इसके संपादक हैं। स्वराज्य-दिवस (१५ अगस्त, ४७ ई०) को, पं० जगन्नाथप्रसाद मालवीय (संचालक) ने, ५० खुशहाल पर्वत (इलाहाबाद) से, इसे निकाला है। इसकी पृष्ठ-संख्या ६४ और वार्षिक मूल्य ६) तथा छपाई तो साधारण ही है; किन्तु रचनाओं का चुनाव अत्यन्त सुन्दर है। कुछ लेखों का पाठ विशेष आनन्दप्रद है। जैसे—भारतीयता (डॉ० बाबूराम सक्सेना), कवि (श्रीभगवतशरण उपाध्याय की काल्पनिक कहानी), अतीत का अनुराग (प्रो० विश्वनाथप्रसाद मिश्र), 'मानस' में भविष्य-कथन (डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'), मानसिक शक्ति का साक्षात्कार (प्रो० लालजीराम शुक्ल), एकांकी नाटक के तत्त्व (श्रीशिवनाथ, एम्० ए०), नारी का रंग (सम्पादक-लिखित एकांकी), पं० रामावतारमिश्र, बी० ए० का लेख (राजनीति या नरमेध) अति सामयिक और विचारोत्तेजक है। श्रीचन्द्रबली पांडे, एम्० ए० का लेख ('बाग ओ बहार' में नागरी) गवेषणापूर्ण है। श्रीविजयशंकर मल्ल, एम्० ए० का लेख (आलोचना की प्रक्रिया) गंभीर और अध्ययनीय है। श्रीउदितनारायण सिंह, एम्० ए० का लेख (आकाश-गंगा) वैज्ञानिक होने पर भी रोचक है। कविताओं में तीन हमें बहुत अच्छी लगीं—आज रात भर बरसे बादल (श्रीशिवमंगल सिंह 'सुमन', एम्० ए०), उषा-गान (श्रीपूर्णशंकर भट्ट, एम्० ए०), गीत (श्रीसुरेन्द्रकुमार श्रीवास्तव, एम्० ए०)। सम्पादकीय टिप्पणियाँ आरंभ में हैं। पत्र का लक्ष्य बतलाते हुए सम्पादक ने लिखा है—"साहित्य, कला, राजस्व, समाज और लोक-संग्रह में 'भारतीय' समाजवादी विधान और व्यवस्था का पोषक होगा।" भाषा की समस्या पर भी ठीक ही लिखा है—"भाषा बनाने का अधिकार नेताओं का नहीं है। भाषा बनाने का काम साहित्यकार, काल और प्रवाह के अनुकूल, बराबर करते रहे हैं। इस समय भी वे कर रहे हैं। अपभ्रंश से भाषा साहित्यकारों ने ही निकाली। जो काम मध्ययुग में कबीर, सूर, तुलसी और उनके सहधर्मियों ने किया था, वही काम आज के साहित्यकार भी पूरा करें, इसी की सुविधा हमें अपने नेताओं से मिलनी चाहिए। जिस तरह वह मध्ययुग हमारे लिए अकबर या औरंगजेब का नहीं, जायसी और तुलसी का है, ठीक उसी प्रकार हमारा यह युग माउण्टबाटन, जिना या जवाहरलाल का नहीं, हमारे सजग साहित्यकारों का होगा। देश की स्वतंत्रता और

उसकी प्रकृति के प्रति जब देशवासी निष्ठावान् होंगे, तब निश्चय ही, क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, पारसी, ईसाई सबकी भाषा हिन्दी होगी। भाषा का यह वैज्ञानिक अधिकार कबतक दबा रहेगा ?" भारतीय साहित्य-सम्मेलन से भी अनुरोध करते हुए यह स्पष्ट कहा है—"साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में इस समय सबसे विचारणीय बात यह होगी कि परतंत्रता की शताब्दियों में हमने स्वतंत्र चिन्तन या अनुभूति का माध्यम छोड़कर अनुकरण पर जीने की जो कला अपना ली थी, उसे अब भी छोड़ देना है अथवा अब भी हम उससे लिपटे रहेंगे। हमारे कहने का मतलब यह नहीं है कि साहित्य के वे प्रयोग, जो विदेशों में चल रहे हैं, हमारे लिए सर्वथा अग्राह्य हैं, और न हम रूढ़िवादी ही बनना चाहते हैं; यहाँ हम जो कुछ भी कहते हैं, वह इतना ही है कि हमें भारतीय जीवन के अनुरूप साहित्य की दिशा निर्धारित करनी है।" सम्पादक के एक सफल चिन्तक होने के कारण उनके विचारों में मननशीलता और मौलिकता की मात्रा पर्याप्त है। हम इस नये सहयोगी का सोल्लास स्वागत करते हैं। दूसरी नई पत्रिका 'आँधी' है, जो काशी के संसार प्रेस से निकली है। इसके सम्पादक हैं पं० कमलापति त्रिपाठी और प्रो० कृष्णदेवप्रसाद गौड़। पाँच रुपये वार्षिक मूल्य में स्वच्छ-सुन्दर छपे चौंसठ पृष्ठ प्रतिमास चुनिन्दा कहानियाँ उपस्थित करते हैं। हिन्दी की आधुनिक कहानियों पर समीक्षात्मक विचार भी इसमें रहते हैं। अक्तूबर (१९४७ ई०) की चौथी संख्या 'गाँधी-अभिनन्दन-अंक, के रूप में निकली है। यह एक संग्रहणीय वस्तु है। कहानियों की वर्त्तमान पत्रिकाओं में यही सर्वश्रेष्ठ जँचती है। तीसरा सचित्र पत्र 'आरोग्य' भी गोरखपुर के 'आरोग्य-मंदिर' से, श्रीविट्ठलदास मोदी के सम्पादकत्व में, (जुलाई १९४७ ई०) से ही निकलने लगा है। इसकी छपाई अत्यंत सुन्दर है। शुद्धता और स्वच्छता भी खूब है। चार रुपये वार्षिक मूल्य में बड़े आकार के चौबीस पृष्ठ, और प्रत्येक पृष्ठ में तीन स्तंभ—इस प्रकार भरपूर पाठ्य-सामग्री मिलती है। प्राकृतिक चिकित्सा इसका मुख्य ध्येय है। हिन्दी में प्रयाग का मासिक 'जीवन-सखा' भी इसी का सखा है। स्वास्थ्य-रक्षा-सम्बन्धी ऐसा सर्वाङ्गसुन्दर पत्र हिन्दी में दूसरा नहीं है। तन-मन को स्वस्थ रखने के लिए इसका पाठ सबके हितार्थ अनिवार्य प्रतीत होता है। चौथी सचित्र महिलोपयोगी पत्रिका 'ज्योत्स्ना' है, जो सितंबर (१९४७ ई०) से, श्रीशिवेन्द्रनारायण के सम्पादकत्व में, पटना (कदमकुँआ-पार्क) से निकल रही है। आठ रुपये वार्षिक शुल्क में साठ पृष्ठ पाठ्य-विषय और लगभग एक दर्जन सुन्दर चित्र मिलते हैं। लेख, कहानी, कविता, सूक्ति, चिट्ठी-पत्री, प्रेम-पत्रावली, सब कुछ तो है; पर सम्पादकीय विचार नहीं हैं। समालोचनाएँ भी केवल स्त्रीजनोचित साहित्य की ही रहतीं, तो विशेष लाभ होता। रसोई, दस्तकारी, घरेलू-चिकित्सा, शिशु-पालन, गृह-प्रबन्ध आदि और भी अनेक विषय हैं जिनके लिए छोटे-मोटे स्थायी स्तम्भ रखे जा सकते हैं। 'प्रेमपत्रावली' और 'पूछ-ताछ' की चिट्ठी-पत्री में संयम और शिष्टता का खयाल रखने की जरूरत है। स्त्रियों और बच्चों की समस्याओं और संस्थाओं पर, तथा उनके योग्य प्रकाशित एवं आवश्यक साहित्य पर भी, कुछ जानने योग्य बातें रहा करें, तो उपयोगिता और भी बढ़ सकती है।

सम्पादकीय विचारों के विना बहुत फीकी लगती है। रचनाओं का यथोचित सम्पादन भी होना चाहिए, तभी स्त्रियों का उपकार हो सकेगा। भाषा और छपाई की भूलें कुढ़ाती हैं। तिरंगे आवरण-पृष्ठ पर कौमुदी का रसास्वादन बड़ा ही मादक दृश्य है! कदाचित् आधुनिक-महिला-मानस के लिए ऐसा ही मानसोन्मादी दृश्य स्पृश्य है!

कुछ नये दैनिक और साप्ताहिक पत्र

स्वाधीनता-दिवस को पटना से दो नये दैनिक निकले हैं—'प्रदीप' और 'नवीन भारत'। बिहार के प्रसिद्ध अँगरेजी-दैनिक 'सर्चलाइट' के कार्यालय से 'प्रदीप' प्रकाशित हुआ है और 'नवीन भारत' श्रीजगतनारायणलाल, एम्० एल्० ए० के संरक्षण में निकला है। आरंभ में प्रयाग के दैनिक 'भारत' के सम्पादकीय विभाग से आकर श्रीशंकरदयालुजी श्रीवास्तव ने 'प्रदीप' के उन्नीस अंकों का सम्पादन किया था। बीसवें अंक से सम्पादक-प्रवर पंडित श्रीकांत ठाकुर विद्यालंकार सम्पादन कर रहे हैं, जो 'विश्वमित्र', 'आज' आदि प्रसिद्ध दैनिकों का सम्पादन कर पर्याप्त ख्याति और कीर्त्ति पा चुके हैं। प्राप्त नये साप्ताहिकों में चार बाहर के हैं और चार बिहार के। बम्बई से श्री'उग्र' जी का 'विक्रम' फिर प्रकट हुआ है। यह 'विचार-पत्र' है। 'गोविन्दबाड़ी, कालवा देवी' इसका पता है। दुरंगी छपाई है। सोलह पृष्ठ हैं। वार्षिक ५॥) है। उग्रजी की लेखनी हिन्दी-संसार में अपने रंग-ढंग की अकेली है। उनके 'बिन्दु-बिन्दु-विचार' उनकी भैरवी के भीषण हुंकार होते हैं। ऐसा निर्द्वन्द्व सम्पादक कोई बनना भी चाहे तो, बन नहीं सकता। 'विक्रम' का पराक्रम ऐसा प्रबल है कि थोड़ी ही देर में मस्तिष्क, हृदय और बुद्धि को बड़ी प्रचंडता से झकझोर डालता है। यह तूफानी पत्र हिन्दी-पत्रों के गण में वीरभद्र है। कलकत्ता (१२१, चित्तरंजन एवेन्यू) से, अखौरी महेन्द्रकुमार वर्मा, एम्० ए० के सम्पादकत्व में, पौने सात रुपये वार्षिक मूल्य और बीस पृष्ठों का, सचित्र-विचित्र 'भोजपुरी' निकला है। इसकी सम्पादकीय टिप्पणियों में भी छोटे-छोटे व्यंग्य-चित्र छपते हैं। इसके प्रायः सभी पृष्ठ दुरंगे और कई तो कलात्मक ढंग से सजाये हुए भी होते हैं। क्रीड़ा-व्यायाम, विज्ञान, साहित्य, देश-विदेश, कहानी, कविता आदि स्तम्भों में खासी जानकारी और दिलचस्पी बढ़ानेवाली सामग्री आती है। भोजपुरी भाषा के लेखों के लिए एक पृष्ठ सुरक्षित है। छपाई भी बढ़िया है। १५ अगस्त (१९४७ ई०) से निकला है और अबतक के सभी अंक बड़े आकर्षक हुए हैं। प्रयाग से कहानी-प्रधान सचित्र 'मधुप' निकला है, जिसके बत्तीस पृष्ठों में कहानियों के सिवा कविता, हास्य-विनोद, स्वास्थ्य-विषयक तथा नारी-समाज-सम्बन्धी लेख भी रहते हैं। रूप-रंग मासिक का-सा है और वार्षिक १०)! अब ५) वार्षिक का मासिक संस्करण भी निकलनेवाला है। सम्पादक का शुभ नाम 'एम्० एल्० पांडेय' अच्छा नहीं लगता, बेढंगा मालूम होता है; पूरा भारतीय नाम रहने में ही शोभा है। छपाई की शुद्धता पर ध्यान देने की जरूरत है, यों पत्र बड़ा सुन्दर है। चौथा पत्र है 'अकेला', जो तिनसुकिया (आसाम) से

निकलता है। इसका रूप-रंग भी मासिक-जैसा है। संचालक इसके श्रीविश्वनाथप्रसाद गुप्त हैं और सम्पादक श्रीनवाबसिंह 'रघुवंशी'। आसाम-भर में इसका खासा प्रचार जान पड़ता है। सम्पादन सावधानता से होना चाहिए। छपाई तो साधारणतः अच्छी ही है। चौबीस पृष्ठों में काफी मसाला देता है। आसाम के हिन्दुओं की रक्षा की चिन्ता भी रखता है। कविता, कहानी, लेख आदि उपयोगी एवं मनोरंजक सामग्री की भी कमी नहीं रहती। इस सुदूरवर्त्ती प्रांत के सहयोगी की दीर्घायु-कामना स्वतः मन में जाग उठती है। इसी प्रकार चार नये पत्र बिहार से भी स्वतंत्रता-दिवस पर निकले हैं और चारों ही सुन्दर हैं, फिर भी सचित्र 'जन्मभूमि' सबसे सुन्दर है। यह पटना-सिटी से श्रीगिरिधारीलाल शर्मा 'गर्ग' के सम्पादकत्व में निकली है और महेन्द्रू-पटना से श्रीप्रफुल्ल-चन्द्र ओझा 'मुक्त' के सम्पादकत्व में 'मजदूर-संसार' का प्रकाशन हुआ है। 'मुक्तजी' और 'गर्गजी' अपनी धुन के पक्के साहित्य-सेवी हैं। अतः दोनों पत्र अच्छे ही हैं। 'जन्मभूमि' तो प्रायः ऐसे अनोखे लेख भी छापा करती है, जैसे अन्यत्र नहीं मिलते। 'मजदूर-संसार' के प्रबन्ध-सम्पादक श्रीभोलानाथ चौधरी मजदूरों के नेता कहे जाते हैं, इसलिए बारह रुपये वार्षिक मूल्य पर उनका ध्यान जाना चाहिए। मजदूरों के लिए बहुत सस्ता और बोल-चाल की सीधी-सादी भाषा का पत्र विशेष हितकर होगा। जमशेदपुर (तातानगर) से श्रीगंगाप्रसाद 'कौशल' के सम्पादकत्व में जो 'मजदूर-आवाज' निकला है, उसका वार्षिक ७) है और मजदूर-संघ के सदस्यों के लिए ६) है। मजदूरों को, पाँच रुपये में ही, उन्हीं के समझने योग्य सुगम भाषा में, उन्हीं के काम की बातों से भरा हुआ, खूब सफाई से छपा पत्र मिलना चाहिए। किसानों, मजदूरों, स्त्रियों और बच्चों के पत्रों की भाषा तभी उपयुक्त हो सकती है, जब उस पर काफी मिहनत-मशक्कत हो। मगर हमारे यहाँ तो भाषा की एक ही लाठी है, चाहे विद्वान् हाँके जायँ या किसान! पटना से 'राष्ट्रदूत' भी निकला है। यह अपने को 'प्रगतिशील राष्ट्रीय पत्र' घोषित करता है। अपनी घोषणा के पालन में कुछ तत्पर भी रहता है। इसके प्रबन्ध-सम्पादक श्रीयमुनादास कनौजिया, बी० ए० हैं। सम्पादक दो सज्जन हैं—श्रीकमलेश्वरी प्रसाद यादव, एम्० ए०, एम्० एल्० ए० तथा श्रीबलिराम भगत, बी० ए० हैं। छह रुपये वार्षिक में बीस पृष्ठों की पाठ्य-सामग्री कम नहीं है। सफाई, सजावट, रंगीनी आदि पर सम्पादकों का ध्यान है। हम इन नये दैनिकों और साप्ताहिकों का सादर स्वागत करते हैं। साथ ही, प्रार्थना भी करते हैं कि भाषा और छपाई की शुद्धता पर विशेष ध्यान रखने की कृपा करें। ये दोष बड़े ग्लानिकारक हैं!

'लोकायन' एक संस्कृति-पीठ

हिन्दी के स्वनामधन्य सुकवि श्रीसुमित्रानन्दन पन्त के शुभ प्रयत्न से प्रयाग में 'लोकायन' नामक एक संस्कृति-पीठ की स्थापना हुई है। इस संस्था की रूप-रेखा का निर्माण स्वयं पंतजी ने ही किया है। इसके उद्देश्य हैं—'संस्कृति के विकास के लिए अनुकूल वातावरण का विकास करना, विभिन्न संस्कृतियों के विरोधों से मनुष्य की

चेतना को मुक्त करना, और सब प्रकार के विभेदों को मानवीय एकता में ढालना तथा नवीन रूप से लोकचेतना का संघटन कर उसे उच्च, गंभीर एवं व्यापक बनाने की चेष्टा करना।' इसमें चार विभाग होंगे—ज्योति-द्वार, संस्कृति-द्वार, जीवन-द्वार और कला-द्वार। पहले विभाग का मुख्य उद्देश्य होगा—देश-विदेश के विद्वानों से सम्पर्क स्थापित कर ज्ञान की वृद्धि और उसका समन्वय करना; इस विभाग के अन्तर्गत शोध और शिक्षा का प्रबन्ध रहेगा। दूसरे विभाग द्वारा विचार-विनिमय के लिए नियमित रूप से गोष्ठियों का आयोजन होगा, जिनमें विशिष्ट व्यक्ति आमंत्रित किये जायँगे और उनकी विवेचना का सारांश इस संस्था की मुखपत्रिका 'लोक-चेतना' द्वारा प्रकाशित होता रहेगा। तीसरे विभाग में प्रयोगशाला रहेगी, इसमें एक 'विद्यायन' भी होगा, जिसमें ग्राम और नगर के युवकों को कला-कौशल के माध्यम द्वारा ऐसी शिक्षा दी जायगी, जिससे लोक-संस्कृति के अनुकूल उनके जीवन का निर्माण हो सके। चौथे विभाग में प्रचार-कार्य होगा; इसके द्वारा संस्था के सांस्कृतिक मन्तव्यों का प्रचार और देश-विदेश के कलाकारों का सहयोग प्राप्त किया जायगा। 'रंग-भारत' के अभाव की पूर्त्ति के लिए सांस्कृतिक जीवन का प्रचार अभिनय द्वारा किया जायगा और 'विद्यायन' के विद्यार्थी गाँवों में ग्रामगीतों एवं लोकनृत्यों द्वारा लोकहितकर भावनाओं का प्रचार करेंगे। इस संस्था के सारे काम हिन्दी में ही होंगे। इसका केन्द्र-स्थान प्रयाग होगा। इसके उद्देश्यों और विभागों को देखकर आशा बलवती होती है। इस समय देश में जहाँ-तहाँ साहित्य, समाज, सभ्यता एवं संस्कृति की उन्नति के लिए चौमुखी चेष्टाएँ हो रही हैं। इन सब चेष्टाओं के मूल में अभिनव उत्साह और सत्प्रेरणाएँ झलक रही हैं। अतः इनकी सफलता में सन्देह करने का कोई कारण नहीं दिखाई देता। किन्तु एक बात की आशंका रह-रहकर मन में उठती है। वह यह है कि ऐसी पवित्र संस्थाओं के संचालन के लिए सुयोग्य कार्यकर्त्ता हमारे बीच बहुत कम हैं। फिर भी, कविवर पन्तजी के मधुर-मनोज्ञ व्यक्तित्व का व्यापक प्रभाव और उनकी लोक-प्रियता इस संस्था के लिए वरद सिद्ध होगी। उनके सहृदय मित्रों, प्रशंसकों, सहायकों और समर्थकों की संख्या इतनी अधिक है कि इस संस्था की प्रगति अनायास उत्तरोत्तर बढ़ती जायगी। हम हृदय से इसके कार्यक्रम की सफलता चाहते हैं।

—मासिक 'हिमालय' (पटना), वर्ष १; अंक १२; जनवरी, १९४७ ई०

*

[५]

साहित्यिकों की चिट्ठियों का संग्रह

सम्मेलन के अनुसंधान-विभाग में इधर कुछ साहित्यिकों की चिट्ठियाँ भी संगृहीत हुई हैं। उनमें अधिकांश तो स्वर्गीय साहित्यिकों की हैं; पर कुछ जीवित साहित्यिकों की भी हैं, जो यह समझकर सुरक्षित रख ली गई हैं कि भविष्य में वे भी कुछ काम देंगी ही।

चिट्ठियों से बहुत-सी ऐसी बातों का पता लग जाता है, जिनका पता लेखों, भाषणों और पुस्तकों से नहीं लगता। बहुत-से साहित्यिक भी अपनी चिट्ठियों की रक्षा नहीं करते। हमारे देश के विद्यार्थियों और नवयुवकों में डाक-टिकट, फोटो आदि संग्रह करने का शौक तो है; पर साहित्यिकों की चिट्ठयों के संग्रह का शौक शायद ही किसीको हो। मगर यह काम बड़ा दिलचस्प है; लगन सच्ची हो, तो बहुत कठिन भी नहीं है। साहित्यानुरागियों को इधर ध्यान देना चाहिए। यह भी एक प्रकार की साहित्य-सेवा ही होगी।

हिन्दी में पत्र-पुस्तक-प्रकाशन

हिन्दी में पत्र-पत्रिकाएँ और पुस्तकें तो बहुत निकलती हैं, पर उनमें काम की बहुत कम होती हैं। मतलब यह कि उनमें ऐसी चीजें कम दीख पड़ती हैं, जिन्हें देखकर यह कहने की उमंग हो कि हिन्दी में एक नई चीज निकली। पत्र-पत्रिकाएँ जो निकलती हैं, वे बाहरी सजावट पर जितना ध्यान देती हैं, उतना भीतरी शुद्धता पर नहीं। भाषा अथवा शैली पर ध्यान देने का अवकाश बहुत कम लोगों को मिलता है। इसपर तो कोई विचार-विनिमय करना भी नहीं चाहता। पुस्तकें भी जो निकलती हैं, उनके देखने से अनुमान होता है कि मुद्रण-कला के विशेषज्ञों का हिन्दी-संसार में बहुत अभाव है। बड़े-बड़े लेखकों की महत्त्वपूर्ण पुस्तकें भी छपाई के दोषों से मुक्त नहीं मिलतीं। भाषा और साहित्य की समृद्धि-वृद्धि चाहनेवालों को इसकी चिन्ता करनी चाहिए—उपाय भी इसका होना चाहिए। भाषा और साहित्य की वास्तविक प्रतिष्ठा बहुत-कुछ शुद्ध मुद्रण-कला पर ही निर्भर है।

—त्रैमासिक 'साहित्य' (पटना); वर्ष १, अंक १, चैत्र, २००७ वि०, मार्च, १९५० ई०

दैनिक 'आज' का नगर-विशेषांक

काशी के 'आज' को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ दैनिक कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है। उसके सम्पादकीय विचारों की महत्ता सर्वोपरि है। उसके साप्ताहिक विशेषांक संग्रहणीय और मननीय होते हैं। उसके नगर-विशेषांक भारत की एक अत्यन्त प्राचीन सांस्कृतिक महा-नगरी का प्रामाणिक इतिहास तैयार कर रहे हैं। कहा जा सकता है कि धीरे-धीरे काशी का विश्वकोष बन रहा है। इस दिशा में अन्य नगरों के हिन्दी-दैनिकों को भी 'आज' से प्रेरणा लेनी चाहिए। अब तो नगरों से आगे बढ़कर जिलों और गाँवों तक दृष्टि फैलाने की जरूरत है। वहाँ भी बहुत-सी संग्रहणीय सामग्री उपेक्षित पड़ी है। पटना का दैनिक 'विश्वमित्र' इधर 'पाटलिपुत्र के अंचल से' पुराने वृत्तान्त सुनाने लगा है। पटना भी बहुत पुराना और ऐतिहासिक नगर है। यहाँ से पाँच दैनिक और पाँच साप्ताहिक

निकलते हैं। वे बिहार के ऐतिहासिक स्थलों पर ज्ञानवर्द्धक और मनोरंजक सामग्री एकत्र करके बिहार का एक प्रामाणिक इतिहास तैयार करा सकते हैं। इसके सिवा और भी अनेक प्रकार के उपयोगी विवरण हैं, जिनके संकलन से बिहार के लुप्तप्राय गौरव का उद्धार हो सकता है। 'आज' के अनुकरण से हमारे दैनिक और साप्ताहिक पत्र देश और समाज तथा साहित्य का बहुत बड़ा उपकार कर सकते हैं।

हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं का आलोचनात्मक परिचय

'हिमालय' में हम बराबर हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं का निरीक्षण-परीक्षण किया करते थे। उसमें हम यही प्रयत्न करते थे कि उसे पढ़कर हिन्दी-पाठकों को हिन्दी-साहित्य-जगत् की प्रगति का कुछ आभास मिल जाय। इधर हम देखते हैं कि उज्जैन के मासिक 'विक्रम' और पटना की 'ज्योत्स्ना' में प्रायः हिन्दी-पत्रों की गतिविधि की परख होती रहती है। यह काम दो ही मासिकों द्वारा संतोषप्रद रीति से पूरा नहीं हो सकता। हिन्दी-पाठकों के सामने हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं पर अधिक-से-अधिक स्वस्थ और विश्वसनीय लोकमत उपस्थित होना चाहिए। इससे सामयिक साहित्य की प्रगतिशीलता में विशेष प्रखरता आवेगी। हिन्दी-पाठकों की ज्ञान-सीमा का भी विस्तार होगा। किन्तु यह काम कठिन है। इससे कटुता और अप्रियता भी बढ़ती है। तब भी साहित्य का परिष्कार करने और आलोचना की सचाई कायम रखने के लिए यह कर्त्तव्य ही है।

—त्रैमासिक 'साहित्य' (पटना); वर्ष, १ अंक ३, आश्विन, २००७ वि०, अक्तूबर, १९५० ई०

'साहित्य' पर डाक-विभाग की कृपा

'साहित्य' पर हमारे डाक-विभाग की अविरल कृपा-दृष्टि है। कोई ऐसा पत्र-संचालक, पत्र-सम्पादक और पत्र-पाठक नहीं है, जो डाक-विभाग के उत्कट हिन्दी-प्रेम से अवगत न हो। सुन्दर पत्र-पत्रिकाओं के व्यवस्थापक और पाठक सदैव चिन्तित एवं शंकित रहा करते हैं। पाठकों और ग्राहकों की शिकायतों से पत्र-प्रकाशक परेशान हैं तथा पत्र-प्रकाशकों की असमर्थता से पाठक और ग्राहक। डाक-विभाग दिन-दिन उद्भट हिन्दी-प्रेमी बनता जा रहा है। उसका अनुदिन विवर्द्धमान हिन्दी-प्रेम भी अभिनन्दनीय है—चिरस्मरणीय है!

बिहार के प्रकाशक और लेखक

बिहार में साधन-सम्पन्न प्रकाशक गिने-चुने ही हैं। ईश्वर की कृपा से अब वे पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन की लाभ-हानि से परिचित होते जा रहे हैं। हमारी सरकार उन्हें इस विषम चिन्ता से मुक्त कर देना चाहती है। हिन्दी-साहित्य के लिए यह परम सौभाग्य की बात है। आशा है कि निकट भविष्य में हमारे अधिकांश समर्थ

प्रकाशक पाठ्य-पुस्तकों की मोह-माया से पिण्ड छुड़ाकर साहित्य की सेवा में संलग्न हो जायँगे। कई प्रसिद्ध प्रकाशकों ने साहित्यिक पुस्तकों के प्रकाशन पर अपना ध्यान केन्द्रित करने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया है। इसका बहुत-कुछ श्रेय बिहार-सरकार की उस योजना को है, जिसके द्वारा बिहार के पुस्तकालयों को चुनी हुई सुन्दर साहित्यिक पुस्तकें वितरित की जाती हैं। किन्तु बिहार के बहुत-से नये-पुराने लेखक अपनी रचनाओं के प्रकाशन के लिए अत्यंत उत्सुक हैं और उन्हें प्रकाशकों का सहारा नहीं मिलता। उपन्यास, नाटक, कविता, कहानी, निबन्ध-संग्रह आदि कई लेखकों के पास तैयार पड़े हैं; कुछ के पास तो महत्त्वपूर्ण विषयों के बड़े ग्रन्थ भी तैयार हैं; पर उनके छपने का कोई डौल नहीं बँधता। कुछ लेखकों ने तो स्वयं ही प्रकाशक बनने का दुस्साहस किया है। इस प्रकार लेखकों की रचना-शक्ति कुण्ठित हो जाती है। प्रोत्साहन के अभाव में प्रतिभा पर प्रतिबन्ध-सा लग जाता है। आखिर लिखी हुई पुस्तक के छपने का डौल न लगने पर लेखक कहाँ तक या कबतक धैर्य धारण करेगा। पुस्तक-प्रकाशन-सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण बहुत-से होनहार लेखक हतोत्साह होते जा रहे हैं। उन्हें प्रकाशकों का यदि अवलम्ब मिले, तो वे अच्छे साहित्यसेवी बन सकते हैं। प्रकाशक चाहें, तो उनसे अपनी पसन्द की पुस्तकें भी लिखवा सकते हैं।।

जमीन्दारियाँ और लाइब्रेरियाँ

बिहार-सरकार अब जमीन्दारियों का अन्त करने जा रही है। किन्तु बिहार के बड़े-बड़े जमीन्दारों के पास जो बड़ी-बड़ी लाइब्रेरियाँ हैं, उनके विषय में सरकार ने कुछ सोचा है या नहीं, इसका कुछ पता नहीं। जमीन्दारी उठ जाने पर जमीन्दार किसी तरह लाइब्रेरियों की रक्षा नहीं कर सकेंगे। उनकी लाइब्रेरियों में जो सामग्री अबतक संचित या सुरक्षित है, उसका वास्तविक मूल्य कोई विद्वान् और साहित्यानुरागी ही आँक सकता है। सरकार के शासक-वर्ग में विद्वानों तथा साहित्यप्रेमियों की कमी नहीं है। यदि लाइब्रेरियों के विषय में कुछ विचार नहीं किया गया अथवा लाइब्रेरियों की उपेक्षा जान-बूझकर की गई, तो बिहार-राज्य की बहुत बड़ी ज्ञान-सम्पत्ति नष्ट हो जायगी। यदि उन लाइब्रेरियों के सम्बन्ध में सरकार लोकहित की भावना से जमीन्दारों के साथ बातचीत करे, तो कोई अच्छा रास्ता निकल सकता है। जहाँ-जहाँ लाइब्रेरियाँ हैं, वहाँ-वहाँ सरकार अपनी ओर से केन्द्रीय लाइब्रेरी कायम करके आसपास की जनता का बहुत उपकार कर सकती है। संभवतः हमारे सुशिक्षित और प्रजाहितैषी जमीन्दार भी जनता की भलाई के इस काम में सरकार का जरूर साथ देंगे। अगर जमीन्दार खुद लाइब्रेरी के शौकीन हों और खुशी से उनकी देखरेख करते रहने को तैयार हों, तो सरकार की ओर से जैसे प्रान्त की लाइब्रेरियों को संरक्षण प्राप्त हो रहा है, वैसे ही उन लाइब्रेरियों को भी विशेष रूप से साहाय्य मिलना चाहिए। पर यदि जमीन्दार अपनी जमीन्दारी की तरह अपनी लाइब्रेरी का भी मोह छोड़ दें, तो सरकार को अपने राज्य की विशाल ज्ञानराशि की रक्षा अवश्य करनी चाहिए।

प्रान्त के पत्रकारों और विद्यानुरागियों को इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है। यदि अपने स्थान पर किसी लाइब्रेरी के सुरक्षित रह सकने की आशा या संभावना न हो, तो उसके ग्रन्थ-भाण्डार को राजधानी (पटना) में लाकर विद्वानों के लिए सुलभ कर देना सर्वोत्तम होगा। पटना-विश्वविद्यालय, रिसर्च-सोसाइटी, सिन्हा-लाइब्रेरी, साहित्य-सम्मेलन आदि संस्थाओं में बिहार की रियासती लाइब्रेरियों के ग्रन्थ-संग्रह भली भाँति सुरक्षित रखे और उदार जमीन्दारों के स्थायी स्मारक बनाये जा सकते हैं।

—त्रैमासिक 'साहित्य' (पटना); वर्ष १, अंक ४, पौष, २००७ वि०,
जनवरी, १९५१ ई०

हिन्दी के पत्रों की बाढ़

हिन्दी में पत्र-पत्रिकाओं की संख्या दिन-दिन बढ़ती नजर आती है। दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक आदि नित्य नये दीख पड़ते हैं। इनमें कुछ तो बहुत ही अच्छे है ; पर अधिकांश ग्लानिकारक ही हैं। सम्पादन-कला से बहुत कम पत्रों का सम्बन्ध है। कुछ अच्छे पत्रों का बाहरी रूप-रंग तो बड़ा आकर्षक है; पर उनमें छपे महत्त्वपूर्ण लेख भी सुसम्पादित नहीं होते। अधिकांश में छपाई की गलतियाँ बहुत रहती हैं। ऐसा जान पड़ता है कि छपाई की शुद्धता पर ध्यान देना हमारे अधिकतर सम्पादक पसन्द नहीं करते। पत्रसंचालक या प्रकाशक तो शुद्ध छपाई की चिन्ता करना अनावश्यक समझते हैं। खेद है कि भाषा की शुद्धता भी बहुतों के द्वारा उपेक्षित है। इन बातों की सचाई के प्रमाण तभी मिलेंगे, जब पत्र-पत्रिकाएँ बारीकी से देखी जायँगी। प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में भी गिनी-चुनी ही ऐसी हैं, जिनमें सम्पादन-कला का आदर्श निभाया जाता है। हमारी यही इच्छा है कि हिन्दी जब राष्ट्रभाषा और राजभाषा हो गई है, तब उसके लेखकों तथा सम्पादकों को पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं की शुद्धता पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। इस पर सबसे अधिक ध्यान प्रकाशकों का रहना आवश्यक है। हिन्दी में अनेक सामयिक पत्र-पत्रिकाएँ ऐसी हैं, जिनके सम्पादक यदि शुद्धता स्वच्छता और सुन्दरता पर खास तौर से ध्यान देना भी चाहते हैं, तो पत्र-संचालक अथवा प्रकाशक की उदासीनता से नहीं दे पाते। हमारे अधिकतर पत्र-संचालक जितना अपने आर्थिक लाभ का ध्यान रखते हैं, उतना अपने पत्र के गौरव का नहीं। यदि कोई साहित्यिक सम्पादक स्वयं ही पत्र-संचालक भी होता है, तो पूँजी के अभाव में वह अपने पत्र को मनचाहे ढंग से सर्वाङ्गसुन्दर नहीं बना पाता, और यदि बनाने का दुस्साहस करता भी है, तो आर्थिक हानि के कारण पत्र को नियमित एवं स्थायी नहीं बना सकता। फिर एक बात यह भी है, कि कोई पूँजीपति अथवा धनाढ्य प्रकाशक अगर

सर्वाङ्गसुन्दर एवं सुसम्पादित पत्र निकालता और चलाता भी है, तो उसके शान-गुमान का कभी अन्दाज ही नहीं मिलता, उसके मिजाज और दिमाग का पारा हमेशा चढ़ा ही रहता है; वह धरातल पर खड़े साहित्यिक सम्पादक पर सातवें आसमान से नजर डालता है ; वह पत्रकार को चाँदी का चेरा समझता है ! ऐसे संकुचित दृष्टिकोण के पत्राध्यक्षों से हिन्दी-पत्रों की मर्यादा नहीं बढ़ सकती । वर्त्तमान परिस्थिति से यही अनुमान होता है कि हिन्दी में अब न कोई चिन्तामणि घोष होगा, न महावीरप्रसाद द्विवेदी, न शिवप्रसाद गुप्त, न बाबूराव विष्णु पराड़कर, न शिवनारायण मिश्र, न गणेशशंकर विद्यार्थी, न रामानन्द चटर्जी, न बनारसीदास चतुर्वेदी । पत्र-संचालक और सम्पादक का आदर्श सम्बन्ध उन्हीं लोगों के साथ चला गला । सम्पादक की वास्तविक प्रतिष्ठा समझनेवाले पत्र-संचालक अब नहीं रहे ; यदि कहीं एकाध हों भी, तो उनसे केवल अनामिका सार्थवती होती है ।

हिन्दी में प्रूफ-रीडिङ्ग की कला

साधारणतः प्रूफ-रीडिङ्ग का काम बहुत रद्दी समझा जाता है । इसे विद्वान् लोग दिमाग को दिक करनेवाला और आँख फोड़नेवाला काम समझते हैं । सचमुच हिन्दी का प्रूफ पढ़ना आँखों का इत्र निकालना है । किन्तु यह काम चाहे कितना भी फालतू या मनहूस या नेत्रोत्पीड़क हो, यह तो हर हालत में मानना ही पड़ेगा कि इस काम का महत्त्व भी सर्वोपरि है । यदि प्रूफ ठीक शोधा न जाय, तो अच्छे-से-अच्छे लेख कौड़ी के तीन हो जा सकते हैं । प्रूफ-रीडिङ्ग में कसर रह गई, तो अर्थ का अनर्थ हो ही जायगा । लेखक का आशय क्यों गुम हुआ ? कविता में अर्थ की संगति क्यों नहीं बैठती ? समस्त पदों में छत्तीस का नाता क्यों है ?—इस तरह के बहुतेरे प्रश्नों का एक ही उत्तर दिया जा सकता है—प्रूफ सावधानता से देखा न गया । ऐसी महिमा है प्रूफ-संशोधन की । इस कला की सच्ची सहायता के विना लेखक और कवि की कला कच्ची रह जा सकती है । किन्तु यह सब कुछ सही है, जब हिन्दी के पत्रकार और प्रकाशक प्रूफ-संशोधन-कला की उपेक्षा न करके उसकी अपेक्षा का अनुभव करें, साथ ही जो लोग हिन्दी के सूत्रधार अथवा भाग्यविधाता हैं और उसकी गौरव-गरिमा के सुरक्षित रखने में तत्पर हैं, वे भी अनुभव करें; केवल अनुभव ही करके न रह जायँ, वल्कि इस कला की शिक्षा के लिए प्रत्येक प्रान्त में आयोजन करें । हिन्दी के सम्पादकों और पत्रकारों के जो भारतीय एवं प्रान्तीय सम्मेलन हैं, उनका तो सबसे पहला काम यही है कि हिन्दी में अच्छे प्रूफ-रीडर पैदा करें—हिन्दी की प्रतिष्ठित शिक्षण-संस्थाओं में उनकी नियमित शिक्षा की व्यवस्था करें । किन्तु कभी-कभी ऐसा अनुभव होता है कि हिन्दी की समस्याओं पर ध्यान देने या विचार करने को फुर्सत ही किसी को नहीं है ! मानों हिन्दी का कोई धनीधोरी और हमदर्द है ही नहीं । केवल हिन्दी-हित ही जिसके चिन्तन का विषय हो, ऐसा एक भी समर्थ व्यक्ति हिन्दी-संसार में नहीं रह गया । महावीरप्रसाद द्विवेदी और श्यामसुन्दर दास चले गये, हिन्दी-हितैषणा उनके साथ गई । टंडनजी को

राजनीति से छुट्टी ही नहीं। पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी हिन्दी-सम्बन्धी प्रश्नों पर बराबर विचार करते रहते हैं; मगर उनके सुझावों पर हिन्दी-जगत् में जैसा संगठित आन्दोलन होना चाहिए, वैसा नहीं होता; क्योंकि हमारे पत्रकारों और सम्पादकों की दृष्टि में हिन्दी की समस्याओं पर निरन्तर विचार या आन्दोलन करते रहने की आवश्यकता नहीं है। उदाहरण के लिए प्रूफशोधन-कला ही लीजिए। इस कला की महत्ता से कौन हिन्दीप्रेमी अपरिचित है? किन्तु हमारे प्रकाशक और प्रेसों के मालिक सस्ते-से-सस्ते प्रूफशोधक खोजते हैं। उनकी दृष्टि में प्रूफशोधक एक निरीह प्राणी है, फिर भी बेचारा उनकी दया का पात्र नहीं! उसका अस्तित्व अनिवार्य नहीं समझा जाता! कितने ही प्रेसाध्यक्ष प्रूफरीडर रखने की आवश्यकता ही नहीं समझते। सचमुच हिन्दी-जगत् के अनेक प्रेसों में प्रूफरीडर हैं ही नहीं। बहुत-से पत्र-पत्रिका-कार्यालयों में भी प्रूफरीडर नहीं रखे जाते। छोटे-मोटे प्रकाशक, जिनके पास अपना प्रेस नहीं है, दूसरे प्रेसों पर ही निर्भर रहते हैं, नहीं तो किसी लेखक या विद्वान् से ही काम लेते हैं। किन्तु प्रत्येक लेखक अच्छा प्रूफरीडर नहीं हो सकता। विद्वान् से प्रूफ-रीडिङ्ग कराना तो तभी उचित है, जब कोई अत्यन्त महत्त्वशाली ग्रंथ छप रहा हो। पर विद्वानों में भी अच्छे प्रूफशोधक बहुत कम ही होते हैं। यह आवश्यक भी नहीं कि हरएक विद्वान् सुयोग्य सम्पादक और प्रूफरीडर भी हो। लेखक या विद्वान् जितना समय और दिमाग प्रूफ में लगावेगा, उतने में वह सुन्दर साहित्य की रचना कर सकता है। हमें पता है कि हिन्दी-संसार के अनेक यशोधन विद्वानों का काफी से ज्यादा समय प्रूफ देखने में बरबाद हो गया है और अब भी हो रहा है। यदि इस कला की शिक्षा पाये हुए योग्य व्यक्ति सुलभ होते, तो अनेक विद्वानों के जीवन के अमूल्य क्षण साहित्य-सृष्टि के लिए बच पाते। जब हमें इस समय हिन्दी को राष्ट्रभाषा और राजभाषा की पद-मर्यादा के योग्य बनाना तथा अपने साहित्य का नवनिर्माण करना है, तब यह अत्यावश्यक है कि हम अपनी भाषा की हरएक छोटी-बड़ी समस्या पर गहराई से विचार करते रहने में तत्पर हों, और हम समझते हैं कि प्रूफरीडिङ्ग की कला सिखाने तथा इस कला को उन्नत करके हिन्दी का मान बढ़ाने की समस्या सर्वापेक्षा महत्त्वपूर्ण है।

हिन्दी के शब्दों की एकरूपता

हाथ की लिखावट और छपाई में हिन्दी के अथवा हिन्दी में प्रयुक्त होनेवाले अन्य भाषाओं के शब्द नाना रूप में दीख पड़ते हैं। अहिन्दी-भाषा-भाषियों के लिए यह बहुत बड़ी कठिनाई है और हिन्दीवालों के लिए एक जटिल समस्या। प्रचलित रूपों में इतनी विविधता है कि हिन्दी सीखनेवाले इस विषय में सदैव संशयालु बने रहते हैं। जब कभी वे किसी अच्छे जानकार के आगे अपनी शंका पेश करते हैं तब अच्छे-से-अच्छे जानकार को भी निरुत्तर रह जाना पड़ता है। शंकालु व्यक्तियों के प्रश्नों से प्रायः ऐसा अनुमान होता है कि यह अनेकरूपता हिन्दी की प्रगति में वस्तुतः बड़ी बाधा है। इसके कारण जवाबदेह सम्पादकों की भी कठिनाइयाँ बहुत बढ़ जाती हैं। कुछ पत्र-पत्रिकाएँ तो ऐसी हैं ही,

जिनके अपने कुछ खास नियम हैं। वे उन्हीं बँधे-सधे नियमों के साँचे में सभी रचनाओं को ढालने के लिए बाध्य हैं। विभिन्न लेखकों की विभिन्न लेखन-शैलियाँ होती हैं। सम्पादक को अपने निश्चित नियमों के अनुसार सभी साहित्यकारों की रचनाएँ सुधारनी पड़ती हैं। इसमें समय और शक्ति का क्षय होता है। पर इसमें साहित्य-रचयिताओं का कोई दोष नहीं दीख पड़ता; क्योंकि हिन्दी में अभी तक लिखावट और छपाई के अन्दर शब्दों की एकरूपता निश्चित ही नहीं हुई है। पता भी नहीं लगता कि आखिर कौन इसे निश्चित करेगा। हमारे अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को लज्जाजनक झगड़ों से फुर्सत नहीं। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा भी दलबन्दी अथवा अर्थाभाव के कारण हिन्दी और नागरी के हित-साधन का अपना कार्यक्रम पूरा नहीं कर पाती। पत्रकारों और सम्पादकों को राजनीतिक प्रपंच से अवकाश ही नहीं कि लिपि और भाषा की समस्याओं के समाधान के लिए नियमित रूप से आन्दोलन करें। सरकार के बूते का यह काम नहीं। विधान-सभा के कानून से लेखन-मुद्रण-प्रणाली नहीं सुधारी जा सकती। तब फिर यह काम करेगा कौन? हिन्दी केवल राष्ट्रभाषा या राजभाषा घोषित होने से ही भारत-व्यापिनी भाषा बन जायगी? उसके विरोधियों और शत्रुओं की कुछ कमी नहीं है। उसकी राह में रोड़े अटकानेवाले बराबर सजग हैं। उसके छिद्रान्वेषक भी विलक्षण सूक्ष्मदर्शी हैं। ऐसे लोगों की गुटबन्दी भी कमजोर नहीं है। किन्तु यह सब जानते हुए भी, हम जो हिन्दी के हिमायती या हितैषी होने का दावा रखते हैं, बिलकुल बेखबर हैं, गफलत की नींद सो रहे हैं, सचमुच हिन्दी की इज्जत खो रहे हैं। हमें लिपि, भाषा, व्याकरण, मुद्रण आदि में जो भी सुधार या परिष्कार या परिवर्त्तन करना है, उसे सामूहिक या व्यापक रूप में शीघ्र कर डालना चाहिए। सुनते हैं कि दिल्ली में एक अखिल-भारतीय हिन्दी-परिषद् खुली है, जो हिन्दी-नागरी-सम्बन्धी आधुनिक समस्याओं पर ध्यान रखती और विद्वानों का भी ध्यान आकृष्ट करती है, किन्तु जबतक हिन्दी की सभी प्रसिद्ध संस्थाओं और पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा जन-साधारण के बीच नियमित आन्दोलन नहीं होगा, तबतक किसी एक संस्था या एक पत्रिका के प्रयत्न से कुछ फल न निकलेगा। मासिकों से अधिक यह काम दैनिकों एवं साप्ताहिकों का है; क्योंकि सर्वसाधारण तक उन्हीं की पहुँच है। यदि जनता में इस विषय का निरन्तर आन्दोलन होता रहे, तो लोग इसका महत्त्व समझकर इसमें दिलचस्पी लेने लगेंगे। लोकमत जाग्रत् होने पर ही अधिकारी विद्वानों का एक निर्णायक-मंडल बन सकेगा। विद्वन्मण्डल का निर्णय सर्वमान्य होगा, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु इसके लिए उन सैकड़ों शब्दों का चुनाव या संग्रह करना पड़ेगा, जिनके विभिन्न प्रकार के रूप प्रचलित हैं। यह चुनाव या संग्रह सामूहिक सहयोग द्वारा आसानी से हो सकता है। पत्र-पत्रिकाओं में भी ऐसे शब्दों की तालिका क्रमश: प्रकाशित की जा सकती है। पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा ही हिन्दी-प्रेमी जनता और लेखक-वर्ग का मत एवं विचार जाना जा सकता है।

—त्रैमासिक 'साहित्य' (पटना); वर्ष २, अंक १, चैत्र, २००८ वि०, अप्रैल, १९५१ ई०

*

हमारी साहित्यिक परीक्षाएँ

हिन्दी की कई ऐसी सुप्रतिष्ठित संस्थाएँ हैं, जिनकी ओर से साहित्यिक परीक्षाओं की व्यवस्था की गई है। उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, मद्रास आदि प्रान्तों में ऐसी संस्थाएँ कई साल से अपनी परीक्षाएँ चला रही हैं। इन परीक्षाओं में हजारों विद्यार्थी अथवा परीक्षार्थी प्रतिवर्ष सम्मिलित होते हैं। उनमें से अधिकांश उत्तीर्ण भी होते हैं। उनकी शिक्षा के लिए प्रमुख स्थानों में विश्वविद्यालय, विद्यापीठ, महाविद्यालय आदि संचालित हो रहे हैं। फिर भी उनकी संख्या दिन-दिन इतनी अधिक बढ़ती जा रही है कि अनेक स्थानों में उनकी नियमित शिक्षा के लिए समुचित प्रबन्ध करने की आवश्यकता अनुभूत होने लगी है। कई जगह साहित्यिक शिक्षण-संस्थाएँ निकट भविष्य में खुलनेवाली भी हैं।

इन साहित्यिक परीक्षाओं से हिन्दीभाषी और अहिन्दीभाषी प्रान्तों में असंख्य साहित्यिक उत्पन्न हो चुके हैं और होते जा रहे हैं। इनके द्वारा हिन्दीप्रेमियों और हिन्दी-हितैषियों की भी संख्या बहुत बढ़ी है और आगे भी बढ़ने की संभावना है। अबतक लाखों भारतवासी इन परीक्षाओं के कारण राष्ट्रभाषा हिन्दी के साहित्य से थोड़ा-बहुत परिचित हो चुके हैं। इस प्रकार इन परीक्षाओं ने हिन्दी के प्रचार-प्रसार और निर्माण तथा उत्थान में चिरस्मरणीय सहायता पहुँचाई है। इनके प्रभाव का विस्तार अत्यन्त व्यापक क्षेत्र में दीख पड़ता है।

किन्तु यह कहना और मानना पड़ेगा कि इन परीक्षाओं की व्यवस्था में बहुत-सी त्रुटियाँ हैं। इनके केन्द्रों की संख्या हजारों है। देश के कोने-कोने में केन्द्र खुले हुए हैं। पर केन्द्रों की कोई प्रामाणिक व्यवस्था नहीं है। मुख्य संचालन-केन्द्रों में यथोचित व्यवस्था होगी; पर बाहर के केन्द्रों में सन्तोषप्रद नहीं है। हमने अनेक केन्द्र देखे हैं। हमने बड़े खेद के साथ यह अनुभव किया है कि ये सारी परीक्षाएँ अप्रामाणिक और अव्यवस्थित हैं। हमारे हिन्दी-पत्रकार इतने महत्त्वपूर्ण विषय की ओर से सर्वथा उदासीन हैं। वे इन परीक्षाओं की महत्ता, उपयोगिता एवं लाभकारिता से निश्चय ही परिचित हैं। परन्तु वे इनमें सुधार करने की आवश्यकता पर न कभी विचार करते हैं, न कुछ लिखते हैं। यदि वे इधर थोड़ा भी ध्यान दें, तो सरकारी विश्वविद्यालयों की परीक्षाओं के समान ही इनका भी महत्त्व बढ़ जाय।

हमारी इन परीक्षाओं का महत्त्व आज इस कदर घट गया है कि परीक्षोत्तीर्ण व्यक्तियों को सरकारी नौकरियाँ पाने में अब बड़ी निराशा होने लगी है। इससे इन परीक्षाओं में लोगों की आस्था घटती जा रही है और उनमें सामूहिक असन्तोष भी बढ़ने लग गया है। किन्तु अपनी कमजोरियों को जानते हुए हम सरकार से किसी प्रकार का अनुरोध करने का साहस नहीं कर पाते। जबतक हम भीतरी-बाहरी गड़बड़ी ठीक नहीं कर लेते, तबतक हम न किसी का मुँह बन्द कर सकते हैं और न अपने मुँह की लाली रख सकते हैं।

हमारे परीक्षा-केन्द्रों में परीक्षार्थियों के बैठने और लिखने का स्थान इतना संकीर्ण और अपर्याप्त होता है कि सब-के-सब एक दूसरे से हिले-मिले रहते हैं, सुगमता से परस्पर बातें कर लेते हैं, आसानी से एक दूसरे की कॉपी देख पाते हैं और पारस्परिक सहायता में निर्द्वन्द्व भाव से तत्पर हो जाते हैं। निरीक्षण करनेवाले भी इतने ढीले-ढाले होते हैं कि निर्भयता से नकल करनेवालों को स्वभावत: छूट मिल जाती है। परीक्षार्थियों की भेड़-धसान देखकर परीक्षा प्रहसन-मात्र प्रतीत होती है।

जो सज्जन परीक्षक हैं या रह चुके हैं, उनका यह व्यक्तिगत अनुभव है कि बहुत-सी उत्तर-पुस्तिकाएँ एक दूसरे से बहुलांश में मिलती-जुलती हैं। कितनी ही तो अविकल रूप में समानता रखती हैं। इसमें प्रधान दोष परीक्षा-प्रणाली का है। परीक्षार्थी यदि सुयोग पाकर अनुचित लाभ उठा लेते हैं, तो इसमें भी उनका विशेष दोष नहीं; क्योंकि सुअवसर पाकर अवैध लाभ उठा लेना मानव-स्वभाव की सहज प्रवृत्ति है। वास्तव में परीक्षा-भवन का प्रबन्ध ऐसा होना चाहिए कि निरीक्षक की आँखें बचाकर कोई चोरी करने की सुविधा ही न पा सके।

इतना ही नहीं, परीक्षाओं को संचालित करनेवाले प्रधान केन्द्रों में भी कई तरह की दुर्व्यवस्था देखी जाती है। वह चाहे प्रश्न-पत्र के सम्बन्ध में हो या प्रवेश-पत्र के सम्बन्ध में या समस्त बाहरी केन्द्रों के नियंत्रण के सम्बन्ध में। पर दुर्व्यवस्था, असावधानता, शिथिलता, अनुशासन-हीनता और उत्तरदायित्व-शून्यता का अनुभव व्यापक रूप से किया जाने लगा है। यह हम हिन्दीवालों के लिए बहुत ग्लानिकारक और लज्जाजनक है। हमें लोकमत को शुद्ध करने के लिए अपनी परीक्षाओं के नियमों को पुनः शोधना तथा चुस्त-दुरुस्त करना होगा। नहीं तो इन परीक्षाओं की जमी-जमाई साख और धाक कुछ दिनों में उखड़ जायगी।

सरकारी विश्वविद्यालयों की वार्षिक परीक्षाओं में बड़ी कठोरता से कड़ाई बरती जाती है। उन परीक्षाओं के लिए बहुत ही कड़े और निर्मम नियम बनाये गये हैं। उन नियमों के भंग होने पर कठिन-से-कठिन दण्ड की व्यवस्था है। इसलिए उन परीक्षाओं की एक निश्चित मर्यादा है। हम यदि अपनी साहित्यिक परीक्षाओं को भी उन्हीं परीक्षाओं के समकक्ष बनाना चाहते हैं, तो हमें भी मर्यादा का पूरा ध्यान रखना होगा। हम कहते तो हैं कि हमारी परीक्षाएँ मैट्रिक, आई० ए०, बी० ए० अथवा एम्० ए० के बराबर हैं; पर जो हिन्दीदाँ होते हुए भी परीक्षा की मर्यादा का ध्यान रखना न्यायसंगत समझते हैं, वे स्पष्ट शब्दों में कह बैठते हैं कि हिन्दी की साहित्यिक परीक्षाओं की अब कोई प्रामाणिकता नहीं रह गई। हम भले ही पक्षपातवश हिन्दी की ओर से कठहुज्जत करें; पर हमारी लचर दलीलों से इस बौद्धिक युग में हमारी परीक्षाओं की प्रतिष्ठा नहीं कायम रह सकती।

लिखित और मौखिक परीक्षाओं में जैसे परीक्षार्थियों से सामना होता है, वैसे अयोग्य परीक्षार्थी होते तो सब जगह हैं, पर सब जगह सफलता उतनी सस्ती नहीं होती,

जितनी हमारे यहाँ है। कहनेवाले कहते ही हैं और जाननेवाले जानते भी हैं कि हमारे यहाँ सफलता की खैरात भी बँटती है। यहाँ तक हमें शिकायत सुननी पड़ती है कि लब्धांक रह गये परीक्षक के पास और परीक्षोत्तीर्णों की नामावली प्रकाशित हो गई। ऐसी बातों में कहाँ तक सचाई है, कहना कठिन है। यद्यपि सरकारी विश्वविद्यालयों की परीक्षाएँ भी सर्वतोभावेन निष्कलंक नहीं हैं, तथापि उनके सभी संचालक अपने उत्तरदायित्व के प्रति पूर्ण सजग हैं तथा उनका नियंत्रण सन्तोषप्रद है। हमें भी अपनी साहित्यिक परीक्षाओं को विश्वसनीय और लोकप्रिय तथा सर्वमान्य बनाने से लिए उन्हें यथासंभव शीघ्र ही सुव्यवस्थित करना चाहिए, नहीं तो हमारे उत्तीर्ण परीक्षार्थी निस्सार उपाधियों को लेकर इतस्ततः भटकते फिरेंगे और हिन्दी के छिद्रान्वेषियों तथा शुभैषियों को भी बात-बात में उँगली उठाने का मौका मिलता रहेगा।

—त्रैमासिक 'साहित्य' (पटना); वर्ष २, अंक २, चैत्र, २००८ वि०, अप्रैल, १९५१ ई०

लेखक-सम्पादक-सम्बन्ध

लेखक और पत्र-सम्पादक का बड़ा घनिष्ठ संबंध है। दोनों के पारस्परिक सहयोग के विना साहित्य-रचना का उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। लेखक के भाव और विचार सम्पादक के पत्र द्वारा जनता तक पहुँचते हैं। सम्पादक के पत्र का कलेवर लेखक के सहयोग से सुन्दर होता है। इस तरह, एक का दूसरे के लिए महत्त्व बहुत अधिक है। किन्तु हिन्दी-संसार में लेखक से अधिक सम्पादक का ही महत्त्व है। विगत युग के सम्पादक को लेखक के साथ-साथ पाठक भी पैदा करना था; पर आज के सम्पादक को वह सब कुछ नहीं करना, केवल जनता के मन में सुरुचि पैदा करना है। जबतक जनसाधारण में सुरुचि पैदा न होगी, तबतक सत्साहित्य का प्रचार नहीं बढ़ेगा। यह सुरुचि पैदा करने का काम लेखक से अधिक सम्पादक कर सकता है। इस काम में सम्पादक का उत्तरदायित्व लेखक से कहीं अधिक है। सम्पादक चाहे, तो जनता के नैतिक स्तर को ऊँचा उठा सकता है, और गिरा भी सकता है। हिन्दी में कुछ ऐसे गैर-जिम्मेदार सम्पादक पैदा हो गये हैं, जिनका मुख्य लक्ष्य है पैसा—जनता का चरित्रोत्कर्ष नहीं। उन ऐसे सम्पादकों को कुछ भ्रष्ट रुचि के लेखक भी मिल गये हैं। इससे निम्न कोटि के साहित्य का प्रचार दिन-दिन बढ़ रहा है। फलस्वरूप जनता की नैतिकता पानी की चाल चल रही है। हमारी राष्ट्रीय सरकार की निगाह इसपर नहीं पड़ती। जवाबदेह सम्पादक की नजर अगर पड़ती भी है, तो उसकी कोई सुनवाई नहीं हो पाती।

हमारी जनता अधिकांश अशिक्षित अथवा अर्द्ध-शिक्षित है। उसमें हिताहित की समझ कम है। उसमें अपने अधिकार और अपनी शक्ति का ज्ञान नहीं है या बहुत थोड़ा है।

उसकी नैतिकता की नींव हिलानेवाले जितने सजग हैं, उतना ही वह खुद असावधान है। यदि जनता में कुछ दम होता—कुछ चेतना होती, तो चौराहों पर अनिष्टकर साहित्य की होलियाँ जलाई जातीं। तब जनता के चरित्र के साथ खिलवाड़ करनेवाले पैसापंथी सम्पादकों के होश ठिकाने आते। तब सत्साहित्य की पूछ होती। तब सत्साहित्य पनपता—पल्लवान्वित होता और पुष्पित। किन्तु, जब हमारे बहुतेरे लेखक भी कर्त्तव्य-ज्ञान से वंचित हैं, तब उनमें ऐसा साहस नहीं कि स्वेच्छाचारी सम्पादकों से असहयोग कर सकें। जिस दिन सस्ता बाजारू साहित्य तैयार करनेवाले लेखकों के मन में क्रान्ति की भावना जाग उठेगी, उस दिन मन-मथनकारी साहित्य का दिवाला पिट जायगा। परन्तु ऐसा तभी होगा जब सत्साहित्य की सृष्टि करनेवाले लेखकों को सुरुचि-सम्पन्न सम्पादकों की ओर से उतना ही प्रोत्साहन प्राप्त होगा, जितना अवांछनीय साहित्य वमन करनेवाले लेखकों को निरंकुश सम्पादकों से प्राप्त होता है। लेखक और सम्पादक के मधुर सम्बन्ध से ही साहित्य सँवरेगा।

आज हिन्दी में अच्छे लेखकों की कुछ कद्र होने लगी है। लब्धप्रतिष्ठ लेखकों को कुछ आर्थिक पुरस्कार भी मिलने लगे हैं। छुटभैया लेखक भी कुछ-न-कुछ पाने लग गये हैं। किन्तु फिर भी स्थिति कुछ ऐसी सन्तोषप्रद नहीं है कि कोई लेखक स्वतन्त्र अथवा स्वावलम्बी जीवन बिता सके। बड़े-से-बड़े यशस्वी लेखक भी दिन-रात खटने के बाद किसी तरह अपनी ही आवश्यकताओं की कुछ पूर्त्ति कर पाते हैं, अपने परिवार का भरण-पोषण नहीं। इसका मुख्य कारण यह जान पड़ता है कि स्वाधीनचेता सम्पादकों की बड़ी कमी है। उन्हें पत्र-संचालक अथवा प्रकाशक की इच्छा के अनुसार ही अपने लेखकों को पुरस्कृत करना पड़ता है। जो सम्पादक स्वयं ही संचालक एवं प्रकाशक भी हैं, उनकी आर्थिक स्थिति प्रायः ऐसी दृढ़ नहीं कि लेखकों को यथेच्छ पुरस्कार दे सकें। पत्राध्यक्षों के निर्देशानुसार काम करनेवाले सम्पादक इच्छा रहते हुए भी अपने लेखकों को सन्तुष्ट नहीं कर पाते।

इस युग में रोटी का सवाल बड़ा बीहड़ हो गया है। लेखकों का हिन्दी-प्रेम अथवा साहित्यानुराग जीविका की जटिल समस्याओं के बीच उलझकर हतप्रभ-सा हो रहा है। विशेषतः उदीयमान लेखकों और कवियों को पराधीन या स्वाधीन सम्पादकों से मनचाहा सहारा नहीं मिलता। इस तरह बहुत-से होनहार लेखक अच्छी तरह उभरने नहीं पाते। यदि प्रतिभा की परख रखनेवाले सम्पादक लब्धकीर्त्ति लेखकों के साथ-साथ नये उगते हुए मेधावी लेखकों का भी उत्साहवर्द्धन करते चलें, तो भावी पीढ़ी स्वतः पुष्ट होती जायगी। सब तरह से विचार करने पर इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि हिन्दी की वर्त्तमान स्थिति समझते हुए और उसकी बढ़ती हुई प्रगति को विशेष उत्तेजित करने के लिए लेखकों और कवियों को कुछ दिन धैर्य और सन्तोष से काम लेना पड़ेगा तथा जनता में सुरुचि पैदा करने का दृढ़ संकल्प करना होगा। और, सम्पादकों को मिठास के साथ साहित्य-स्रष्टाओं को अपनाना होगा और उन्हें यथाशक्य सन्तुष्ट रखकर उनसे ऐसा साहित्य तैयार कराना होगा, जिससे हिन्दी-पाठकों का वास्तविक कल्याण हो सके।

हिन्दी और अँगरेजी के पत्रकार

यद्यपि देश के जागरण में, स्वतन्त्रता-संग्राम में, राष्ट्रीय आन्दोलन की सफलता में और लोकमत को अनुकूल तैयार करने में हिन्दी-पत्रों ने ही सबसे अधिक परिश्रम किया है, तथापि अँगरेजी के पत्रों का महत्त्व आज भी हिन्दी-पत्रों से अधिक समझा जा रहा है। आज भी जनसाधारण पर हिन्दी-पत्रों की ही धाक है, पर हिन्दी-पत्रकारों की दशा सर्वत्र शोचनीय ही है। निश्चय ही पहले से अब हिन्दी के सम्पादकों का मूल्यांकन अधिक होने लगा है, फिर भी अँगरेजी-पत्रों के सम्पादकों से उनकी कोई तुलना नहीं की जाती।

जहाँ एक ही कर्यालय से अँगरेजी और हिन्दी के अखबार साथ-साथ निकलते हैं, वहाँ दोनों के सम्पादकों के और अन्य सहायक पत्रकारों के वेतन-क्रम में इतनी अधिक विषमता है कि पत्र-संचालकों की इस भेदनीति का रहस्य समझ में नहीं आता। अगर समझ में आता भी है तो यही कि अभी तक हमारे हिन्दी-भाषाभाषी पत्राध्यक्षों की मनोवृत्ति भी अँगरेजियत के रंग में शराबोर है और वे आजतक हिन्दी की शक्ति का ठीक-ठीक अनुमान भी नहीं कर सके हैं। यह सही है कि सरकार की ओर से अँगरेजी को अपना अस्तित्व कायम रखने के लिए बारह वर्ष का एक युग मिल गया है, परन्तु वह इसलिए नहीं मिला है कि हिन्दी को लताड़कर अँगरेजी को चन्दन का टीका लगाया जाय, बल्कि वह इसलिए मिला है कि निश्चित अवधि के अन्दर ही अँगरेजी का स्थान लेने योग्य हिन्दी बना दी जाय। किन्तु यह तभी संभव होगा, जब हिन्दी-भाषाभाषी पत्रस्वामी ईमानदारी से हिन्दी के पृष्ठपोषण और उन्नयन में तत्पर हों।

अँगरेजी के अखबारों को जितनी सुविधाएँ सुलभ हैं, उतनी ही कठिनाइयाँ हिन्दी-पत्रों को नसीब हैं। हिन्दी-पत्रों के मार्ग में पग-पग पर विविध बाधाएँ हैं। उन सबको झेलते हुए हमारे पत्रकार आर्थिक संकट भी झेल रहे हैं। किन्तु उनके त्याग का मूल्य आँकनेवाला कोई सहृदय भी होना चाहिए। अँगरेजी के पत्रों से हमारा कोई द्वेष नहीं—हमारी कोई शिकायत नहीं, पर हिन्दी-पत्रों से हमारी स्वाभाविक सहानुभूति इसलिए है कि जनसमाज के उद्बोधन के प्रयत्न में वे विदेशी भाषा के पत्रों से बहुत आगे बढ़े हुए हैं। मगर हमारी छूछी सहानुभूति की तबतक कोई सार्थकता नहीं, जबतक हमारे पत्राध्यक्षों में यह अनुभूति नहीं पैदा होती कि देशी भाषा के पत्रों के हाथ में ही देश का भविष्य है और उस महान् भविष्य के निर्माण में हिन्दी-पत्र ही समर्थ होंगे।

अँगरेजी के पत्रों का अन्तरराष्ट्रीय महत्त्व बतलाकर उनका पक्ष समर्थन किया जाता है। हम उसका विरोध करना नहीं चाहते। हम अँगरेजी पढ़ने-लिखने को भी नापसन्द नहीं करते। लेकिन यह जरूर खलता है कि हिन्दी पढ़ने और समझने की शक्ति अथवा योग्यता रखनेवाले लोग भी यह कहते हुए अँगरेजी के पत्र पढ़ा करते हैं कि हिन्दी-पत्रों से सन्तोष ही नहीं होता। निस्सन्देह, उस सन्तोष के भीतर गुलामी के कीटाणु भरे हुए हैं, जो केवल अँगरेजी के पत्रों से ही प्राप्त होता है। आखिर वह सन्तोष कब और कैसे प्राप्त होगा? वह तो तभी प्राप्त हो सकता है, जब हिन्दी के पत्रों की अवस्था क्रमशः उन्नत की जाय—उन्हें सामूहिक रूप से आश्रय एवं प्रोत्साहन दिया-दिलाया जाय।

अँगरेजी पढ़े-लिखे लोगों से अगर यह कहा जाय कि अँगरेजी अखबारों के साथ कुछ हिन्दी-पत्र भी लिया कीजिए, तो वे विना हिचक-झिझक के ही पैसे के अभाव का बहाना कर बैठेंगे। हमारे बंगाली भाई अँगरेजी के बहुत बड़े हिमायती हैं, पर उनमें से शायद ही कोई ऐसा अभागा होगा, जो नियमित रूप से एक-दो बँगला पत्र न खरीदता और पढ़ता हो। मुसलमान भाई भी अँगरेजी के साथ ही उर्दू को भी अपनाने का खयाल रखते हैं। मराठी, गुजराती, तामिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, उत्कल आदि भाषाओं के अँगरेजी पढ़े-लिखे लोग भी अपनी-अपनी भाषा के पत्रों को अकुण्ठित चित्त से अपनाते हैं। किन्तु हिन्दी-संसार के अँगरेजीदाँ लोगों में बहुत ही कम ऐसे हैं, जो अपनी भाषा के प्रति ममता कुछ रखते हैं। अँगरेजी के ये अनन्य उपासक यदि हिन्दी की ओर भी थोड़ा ध्यान देते चलें, तो हिन्दी को जो जनता का सहारा मिल रहा है, वह और भी सबल होता जायगा, जिससे हिन्दी के सम्पादकों और पत्रकारों की मान-मर्यादा काफी बढ़ जायगी।

हमारा खयाल है कि लोकप्रियता और प्रचार-वृद्धि के लिए तथा अँगरेजीदाँ लोगों को स्वाभाविक रीति से आकृष्ट करने के लिए हिन्दी के सम्पादकों और पत्रकारों को घोर परिश्रम करना होगा। सच तो यह है कि आज यदि वे वस्तुतः परिश्रम करते होते, तो अँगरेजी के मुकाबले उनका मोल न घटता। मोर्चे पर डटने के लिए जितनी क्षमता और सत्ता अपेक्षित है, उतनी तो उनमें होनी ही चाहिए। हिन्दी के कुछ पत्र आज भी अँगरेजी से टक्कर लेने योग्य हैं, कुछ सम्पादक और पत्रकार भी बराबरी में धार पर डटे रहने योग्य हैं; किन्तु अँगरेजी के सामने हिन्दी की जो हीनता हमारे अपने लोगों की नजरों में समाई हुई है, वही कंचन को काँच कर रही है।

हिन्दी में हस्तलिखित पत्र-पत्रिकाएँ

इधर हिन्दी-प्रेमियों में एक नई कलात्मक प्रवृत्ति जाग रही है। हिन्दी-सम्बन्धी बहुत-सी संस्थाएँ हस्त-लिखित पत्र-पत्रिकाएँ निकालने लगी हैं। कहीं कोई साहित्य-परिषद् निकालती है, कहीं कोई बालगोपाल-मण्डली या नवयुवक-गोष्ठी। कहीं किसी पुस्तकालय या छात्रावास से निकलती है, कहीं किसी मुहल्ले और महिला-समिति से। हमारा अन्दाज है कि अकेले बिहार में ही कम-से-कम एक-डेढ़ सौ हस्त-लिखित पत्रिकाएँ बड़ी सजधज से निकला करती हैं। कहीं उनका रूप मासिक है, कहीं द्वैमासिक या त्रैमासिक, कहीं-कहीं षाण्मासिक और वार्षिक भी। तारीफ यह कि उनके विशेषांक भी समय-समय पर निकला करते हैं। उनकी बहुरंगी सजावट देखने ही योग्य होती है। देखने से हिन्दी-प्रेमियों के उत्साह और परिश्रम का तो अन्दाज लगता ही है, उनकी सुरुचि और लगन का भी पता लगता है। साथ ही, कला के प्रति उनके अविरल अनुराग का प्रमाण भी मिलता है।

हमने पचासों हस्त-लिखित पत्रिकाएँ देखी हैं। कुछ तो ऐसी सजीली दीख पड़ीं, जैसी कोई मुद्रित पत्रिका भी शायद ही हो। कुछ के विशेषांक तो मुद्रित विशेषांकों से बढ़े-चढ़े नहीं, तो उनके समकक्ष जान पड़े। पाठ्य-सामग्री का संकलन भी दूसने योग्य नहीं।

लिखावट की सुघराई छपाई को भी मात करनेवाली और चित्रकारी तो इतनी चमत्कारपूर्ण कि जान पड़ता है, जनसमाज के अन्दर कला की अभिरुचि अंकुरित हो रही है और आज की नई पीढ़ी में नये कलाकारों का एक खासा दल तैयार हो रहा है ।

उदाहरण के लिए स्थानीय हिन्दी-साहित्य-संघ (गर्दनीबाग, पटना) की 'रश्मि' नामक पत्रिका के 'मेघांक' का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा । इसमें लगभग तीन दर्जन चुनी हुई रचनाएँ लिपिबद्ध हैं । लिपिकार का हस्तकला-कौशल तो मनोहर है ही, मेघ-सम्बन्धी रचनाओं का संग्रह और उनके भावानुकूल उन्हें अलंकृत एवं चित्रित करने का प्रयास भी प्रशंसनीय है । अज्ञात रूप से, समाज के एक निभृत कोने में, विना किसी प्रकार की आकांक्षा के, काफी तल्लीनता और श्रद्धा के साथ, देश के नौनिहालों के ऐसे कितने ही दल चुपचाप कला की आराधना कर रहे हैं । उनकी एकान्त साधना कभी व्यर्थ न होगी । उनकी चीज की कद्र भावी युग में अवश्य होगी । आज के युग में भी उनकी कलाप्रियता का उचित आदर होना चाहिए । साहित्यिक महोत्सवों के अवसर पर ऐसी पत्रिकाओं की पृथक् प्रदर्शनी होने की आवश्यकता है और उनके कुशल कलाकारों को पुरस्कृत एवं उत्साहित करना भी वांछनीय है ।

हम ऐसी पत्रिकाओं के संचालकों से यह निवेदन भी करेंगे कि वे स्थानीय और पड़ोसी चीजों को विशेष महत्त्व दिया करें । आशय यह कि जहाँ से जो पत्रिका निकलती हो, वहाँ के कलावन्तों, गुणियों, शिल्पियों और दर्शनीय वस्तुओं का प्रामाणिक वर्णन उसमें होना चाहिए । अपने जिले और नगर का, अपने सबडिवीजन और परगने का, अपने अड़ोस-पड़ोस के पहाड़-नदी-जंगल का, इसी प्रकार पशु-पक्षी और पेड़-पौधे तथा मन्दिर-तालाब का गवेषणात्मक वर्णन लिपिबद्ध होता चलेगा, तो एक दिन कभी ऐतिहासिक शोध का विषय बन जायगा और पत्रिका की कीमत बहुत अधिक बढ़ जायगी । वह दिन दूर नहीं है, जब देहात और शहर के पुराने खँड़हर और टीले बड़ी लगन से खोदे जायेंगे तथा उनमें पुराने चिह्नों की खोज करने के लिए बड़े-बड़े अन्वेषक तत्पर होंगे । उस समय ऐसी ही पत्रिकाओं की तलाश होगी, जो आज देश के लुप्तप्राय वैभव एवं समाधिस्थ गौरव का अनुसन्धान करने में तत्पर रहेंगी ।

जहाँ कहीं हमने ऐसी पत्रिका देखी, वहाँ हमने यही अनुभव किया और परामर्श भी दिया कि अपने आस-पास के कलाकारों, साहित्यिकों, पहलवानों, नायकों, कारीगरों और हुनरमन्दों का चित्र-चरित्र-संग्रह करके सुरक्षित रखिए, ताकि आगे चलकर देश के विविध क्षेत्रों का लेखा-जोखा तैयार करने में सुगमता हो, जिससे आगे की पीढ़ी यह अनुभव कर सके कि हमारे पूर्वजों की सांस्कृतिक चेतना प्रसुप्त नहीं, बल्कि प्रबुद्ध थी । केवल इतना ही नहीं, ऐसी पत्रिकाओं में सीमित क्षेत्रों के हर तरह के आर्थिक आँकड़े भी एकत्र किये जा सकते हैं । जनसंख्या, पशुधन, फल-फूल, उपज, मिट्टी, खनिज, जनता की आर्थिक स्थिति, सार्वजनिक संस्थाओं का इतिवृत्त आदि भी ऐसे प्रयोजनीय विषय हैं, जिनका ब्योरा जुगाकर रखने से देश की आर्थिक जाँच-पड़ताल में बड़ी मदद मिल सकती है । इस तरह का काम भविष्य में आशातीत लाभ पहुँचा सकता है ।

हर्ष का विषय है कि इस यन्त्र-युग में हस्त-लिखित पत्रिकाओं के द्वारा हस्त-लिपि-सौन्दर्य का बहुत-कुछ संरक्षण हो रहा है। यदि उनमें पुराने ढंग की पक्की स्याही और वैज्ञानिक ढंग से बने रंगों का प्रयोग होने लगे, तो आज के शोध में उपलब्ध हुई प्राचीन पाण्डुलिपियाँ जिस तरह अपने लिपिकारों के कलाप्रेम का परिचय देती हैं, उसी तरह आज की हस्त-लिखित पत्रिकाएँ भी आनेवाले युग में आज की कला-प्रवृत्तियों के प्रति लोगों का सम्मान-भाव जाग्रत् करेंगी। इसलिए अपने-अपने जन्मस्थान में इन पत्रिकाओं के कला-मंडित अंकों का सुरक्षित रहना परमावश्यक है।

इन पत्रिकाओं से एक लाभ और होता है। जिन कलाकारों की कृतियाँ किसी कारण से मुद्रित पत्रिकाओं में प्रकाशित नहीं हो पातीं, उनका उत्साह-भंग होने नहीं पाता। उनके हृदयोद्गारों को इन पत्रिकाओं में शरण मिल जाती है और इतने से ही सन्तोष करके वे अपने साहित्यानुराग को चरितार्थ समझते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन पत्रिकाओं की सेवा में संलग्न बहुत-से कलाकार भविष्य के साहित्य-क्षेत्र में प्रकाश्य रूप से आगे आवेंगे और अपनी बहुदिनलालित लालसा की पूर्ति के साथ-साथ साहित्य-संवर्द्धन भी करेंगे। एवमस्तु।

—त्रैमासिक 'साहित्य' (पटना); वर्ष २, अंक ३, आश्विन, २००८ वि०, अक्तूबर, १९५१ ई०

लेखक-प्रकाशक-सम्बन्ध

हिन्दी-संसार में इस बात की आम शिकायत है कि लेखकों और प्रकाशकों का पारस्परिक सम्बन्ध अच्छा न रहने से हिन्दी-साहित्य की यथेष्ट प्रगति नहीं हो पाती। इस शिकायत में सचाई-झुठाई का अंश कितना-कितना है, इसका पता तो ठीक-ठीक तभी लग सकता है, जब मुख्य-मुख्य लेखक और प्रकाशक अपने साहित्यिक संस्मरण लिख डालें। प्रकाशक तो शायद कोई लिखने पर राजी होगा ही नहीं; लेखक को भी हिचक और शंका होगी। कारण, इस युग में सत्य का मुँह सोने से बन्द कर दिया जाता है। लेखक अपनी बिपता लिखेगा, प्रकाशक झट मानहानि का लक्ष्यवेधी बाण संधानेगा। हाँ, कवि और कथाकार चाहें तो इस विषय पर स्वाभाविक कविताएँ और कहानियाँ लिख सकते हैं। इस विषय के उपन्यास भी बड़े रोचक होंगे। ऐसी रचनाओं को प्रकाशित करनेवाले कुछ उदार प्रकाशक हिन्दी-जगत् में हैं भी।

हिन्दी-जगत् अथवा जगतीतल में भले-बुरे सर्वत्र ही हैं। लेखकों और प्रकाशकों में न सभी बुरे हैं, न सभी अच्छे। बहुत-से लेखक महानुभाव भी ऐसे हैं, जो प्रकाशकों को मट्ठा फूँककर पीने के लिए बाध्य कर चुके हैं। अगर प्रकाशकों से लेखक चूसे और ठगे गये हैं, तो कितने ही लेखकों ने भी प्रकाशकों को चूना लगाया है और उलटे छुरे से

मूँड़ा है। कहीं-कहीं जैसे को तैसा मिला है, कहीं जौ के साथ घुन पिस गया है, कहीं बुरे ने भले की राह बिगाड़ी है, कहीं दोनों ने लुटिया डुबोई है। किन्तु प्रकाशकों की तुलना में तो लेखकों की कोई हस्ती ही नहीं है। अधिकांश लेखक साधन-हीन, अभावग्रस्त और निर्धन हैं, पर प्रकाशकों में टुटपुँजिया बहुत कम हैं। यदि आज लेखकों और प्रकाशकों में परस्पर सहयोग एवं सद्भाव होता, तो साहित्य की प्रगति कुछ और ही होती। किन्तु लेखक यदि प्रकाशकों की सहानुभूति एवं सहायता के लिए उत्सुक भी हैं, तो अधिकांश प्रकाशकों के व्यवहार-बर्ताव में कोई आकर्षण नहीं दीख पड़ता। इससे साहित्य के विकासक्रम में बहुत बाधा पड़ रही है। साथ ही, लेखकों के असन्तोष से प्रकाशकों की भी यथेष्ट उन्नति नहीं हो पाती।

रॉयल्टी की प्रथा को सुव्यवस्थित एवं विश्वसनीय ढंग से चलाने का श्रेय इने-गिने प्रकाशकों ने ही प्राप्त किया है। अधिकांश प्रकाशक इस प्रथा का पालन अथवा निर्वाह समुचित रीति से नहीं कर पाते। वे स्वेच्छानुसार एक मुश्त रकम चुकाकर कॉपीराइट ही खरीद लेते हैं। इससे लेखकों को किसी प्रकार का स्थायी लाभ नहीं होता। कितने ही लेखकों की रचनाएँ सस्ते दाम में खरीदकर प्रकाशक काफी पैसे बना लेते हैं; पर वे फिर कभी लेखक की ओर फूटी निगाह से भी नहीं देखते। इस तरह न साहित्य पनप सकता है और न प्रकाशकों की बरकत हो सकती है। लेखक और प्रकाशक आपस की ईमानदारी से ही साहित्य को समृद्ध कर सकते हैं। लेखक यदि प्रकाशक को धोखा देंगे तो साहित्य से कमाया हुआ पैसा कभी न रसेगा। यही हाल धोखेबाज प्रकाशक का भी होगा। लेकिन दोनों की दयानतदारी कुछ ही दिनों में रंग लायेगी। सवाल सिर्फ अभ्यास का है। सचाई के व्यवहार का अभ्यास शुरू में कष्टकर भले ही प्रतीत हो, पर अन्त में वह जौहर दिखाती ही है। हमारे लेखक और प्रकाशक यदि अब भी चेतते और हार्दिक सहयोग के भाव से साहित्य के नवनिर्माण में जुट जाते, तो इस समय हिन्दी के बहुत-से अभाव दूर हो जाते। जबतक दोनों परस्पर शंकित और संदिग्धचित्त रहेंगे, तबतक अभीष्ट-सिद्धि की कोई आशा नहीं।

हमारे जो प्रतिनिधि कौंसिलों में हैं, वे कभी कॉपीराइट के कानून में कोई सुधार करना-कराना नहीं चाहते। उन्हें दुनिया-भर की समस्याएँ सूझती हैं, पर साहित्यकारों की समस्याओं के लिए उनके हृदय में किसी तरह की सहानुभूति नहीं। ऐसी शोचनीय स्थिति में राष्ट्रभाषा हिन्दी के साहित्य का नवनिर्माण जैसा चाहिए, वैसा नहीं हो सकता। आज हिन्दी के राजभाषा हो जाने पर भी लेखकों की ऐसी दशा नहीं है कि वे स्वतंत्र या स्वावलम्बी जीवन बिता सकें। पत्र-सम्पादकों के हाथ में कोई आर्थिक अधिकार नहीं और पत्र-संचालकों के मन में लेखकों की वास्तविक दशा की अनुभूति नहीं। कुछ गिने-चुने लब्धप्रतिष्ठ लेखक आर्थिक पुरस्कार पा जाते हैं, पर बहुतेरे उदीयमान लेखकों को यथोचित प्रोत्साहन नहीं मिलता। इससे उगती हुई पीढ़ी उत्साह के साथ आगे नहीं बढ़ रही है। कई प्रतिभाशाली होनहारों को निराश एवं हतोत्साह होकर साहित्य-सृष्टि से विरक्त हो जाना पड़ता है।

यद्यपि प्रकाशकों के द्वारा लेखकों के शोषण की और लेखकों से प्रकाशकों के धोखा खाने की कहानियाँ जग-जाहिर हैं, तथापि लेखक-प्रकाशक के परस्पर असहयोग से कभी साहित्य का कल्याण नहीं हो सकता। दोनों में परस्पर सहयोग की भावना का उदय होना अत्यावश्यक है। किन्तु पहले प्रकाशकों को ही आगे बढ़ना है, लेखकों का सहयोग उनकी सहृदयता पर ही निर्भर है। यदि प्रकाशक यह समझने लग जायँ कि लेखकों को सद्व्यवहार से अपनाये विना अथवा उन्हें सन्तुष्ट रखे विना हम सदा समृद्ध नहीं रह सकते, तो निश्चय ही लेखक निर्विकार चित्त से उनका साथ देंगे, और तब दोनों की सदाशयता से साहित्य का उत्तरोत्तर अभ्युदय होने लग जायगा। अब वह समय आ गया है कि ये दोनों ही मिल-जुलकर हमारे साहित्य के अभावों की पूर्ति में सम्मिलित शक्ति से दत्तचित्त हों। तथास्तु।

—त्रैमासिक 'साहित्य' (पटना); वर्ष २ अंक ४, पौष, २००८ वि०,
जनवरी, १९५२ ई०

"क्या साहित्य में गत्यवरोध है?"

साहित्य में गत्यवरोध का प्रश्न बहुत विवादास्पद है। उसके सम्बन्ध में मतभेद होना स्वाभाविक है। अपने-अपने दृष्टिकोण से सबको साहित्य का मूल्यांकन करने का अधिकार है। वर्त्तमान समय में साहित्य की गति वस्तुतः अवरुद्ध हो गई है अथवा वह प्रगतिशील है, इस पर सहसा कोई निश्चित मत स्थिर नहीं किया जा सकता। आधुनिक साहित्य की गतिविधि पर हमारे विद्वान् समालोचक जो कुछ भी अभिमत प्रकाशित करते हैं, उस पर चौंकने की भी जरूरत नहीं है। नये लेखकों की साहित्य-सेवा पर यदि कोई अधिकारी समीक्षक अपना मत प्रकाशित करता है, तो उससे नये लेखकों को यह कदापि न समझना चाहिए कि समीक्षक ने द्वेष की प्रेरणा से अपना मन्तव्य व्यक्त किया है। न तो प्रतिष्ठित साहित्यकारों की सभी रचनाएँ हिन्दी-साहित्य को समृद्ध करनेवाली होती हैं और न सभी होनहार लेखकों की रचनाएँ सदोष अथवा प्रोत्साहन के योग्य। अपनी-अपनी श्रद्धा और प्रतिभा-शक्ति के अनुसार सबको मातृ-भाषा के साहित्य की सेवा करने का अधिकार है।

व्यक्तिगत रूप से हम यह मानने को तैयार नहीं हैं कि हमारे हिन्दी-साहित्य का विकास-क्रम रुका हुआ है। और, न हम यही मानना पसन्द करते हैं कि राष्ट्रभाषा के साहित्य का विकास जिस गति से होना चाहिए, उस गति से संतोषप्रद विकास हो रहा है। साहित्य का विकास देश और समाज की परिस्थितियों पर बहुत-कुछ निर्भर करता है। हम समझते हैं कि राष्ट्रभाषा के साहित्य की गति तबतक तीव्रतर नहीं हो सकती, जबतक परिस्थितियाँ अनुकूल न होंगी।। जिसमें साहित्य-सेवा करने का अनुराग है और जिसमें वास्तविक साहित्य-निर्माण की सच्ची लगन है, वह अपनी

आन्तरिक निष्ठा के साथ अपना काम करता चला जाता है; वह सपने में भी यह नहीं सोचता-समझता कि दुनिया क्या कह रही है? आत्मनिरीक्षण किये विना लोकमत के पीछे परेशान होना विशुद्ध साहित्य-सेवी का लक्षण नहीं है। यदि कोई यह समझता है कि हम अपनी रचनाओं से सचमुच हिन्दी-साहित्य को अलंकृत और गौरवान्वित कर रहे हैं, तो उसको सुधी समीक्षकों की आलोचना से अधीर न होना चाहिए। साथ ही, जिन प्रतिकूल परिस्थितियों में हमारे उदीयमान साहित्यकार उत्साह के साथ साहित्य-क्षेत्र में काम कर रहे हैं, उन परिस्थितियों का पर्यवेक्षण किये विना नये साहित्यिकों को कोसना समीक्षकों के लिए भी सुशोभन नहीं है। किंतु, यहाँ यह कठोर सत्य भी कह देना आवश्यक है कि हमारे साहित्य में जो स्वेच्छाचार का प्रसार देखने में आता है, उसको रोकने के लिए साहित्य-हितैषी आलोचकों को अपना उचित विचार प्रकट करने का जन्मसिद्ध अधिकार है। अगर कोई यश और द्रव्य के लोभ से अथवा नये मार्ग का प्रवर्त्तक बनने की आकांक्षा से अनिष्टकर अथवा अरुचिकर साहित्य की सृष्टि करता है, तो साहित्य को पथ-भ्रष्ट अथवा दिशा-भ्रष्ट होने से बचानेवाले समर्थ आलोचकों का कर्त्तव्य है कि वे सद्भाव के साथ विपथ लोगों को सुपथ पर लाने की चेष्टा करें।

—त्रैमासिक 'साहित्य' (पटना); वर्ष ३, अंक २, आषाढ़ २००९ वि०, जुलाई, १९५२ ई०

*

समय बड़ा बलवान् है

लोगों का कहना है कि समय बड़ा बलवान् है। संसार की दशा देखने से भी प्रतीत होता है कि सचमुच काल बड़ा बली है। उसकी चपेट में आने से कोई नहीं बचता—कुछ भी नहीं बचता। यह संसार ही काल का कलेवा है। किन्तु कहा जाता है कि वह नाम को नहीं खाता। फिर भी, ऐसे नाम, जिनको काल नहीं पचा सकता, संसार के इतिहास में बहुत कम पाये जाते हैं। अधिकांश नामों की चमक को वह धूमिल अवश्य कर देता है। जंगल, पहाड़, नदी, समुद्र, मरुस्थल आदि भी काल-चक्र में पड़कर अस्तित्वहीन हो जाते हैं। बड़े-बड़े साम्राज्य बड़े-बड़े सम्राट्, विश्व-विजयी वीर, विश्व-विश्रुत विद्वान् और कलाकार काल के गाल में समाकर नामशेष हो गये। उनकी कहानी और कीर्त्ति को समय कभी उदरस्थ न कर सका; क्योंकि संसार की जो वस्तु साहित्य की छत्रच्छाया में चली आती है, वह कराल काल के प्रभाव से बच जाती है।

जो समय कभी पर्वत को पाताल पठाता, जंगल को जलाता, समुद्र को सुखाता और ऊषर को उर्वर बनाता है, वही समय सच्चे साहित्य के सामने हार खाता है। साहित्य जिसको अपनी शरण में ले लेता है, उसपर काल झपट्टा मारने का साहस नहीं करता। भले ही वह साहित्यकार के पार्थिव शरीर को अपनी विकराल दंष्ट्रा में दबाकर लील जाय,

पर साहित्यकार की सच्ची साधना से सिरजे गये साहित्य पर उसके दाँत नहीं गड़ पाते। संभवतः साहित्य को काल स्वयं भी बचा रखना चाहता है; क्योंकि वह जानता है कि हमारी गतिविधि का लेखा-जोखा सुरक्षित रखनेवाला केवल साहित्य ही है। काल की शक्ति, उसकी महिमा, उसकी अजेयता उसकी दुर्लङ्घ्यता आदि का पता देनेवाला साहित्य ही है। यदि समय का गुणगान साहित्य नहीं करता तो समय का महत्त्व कदाचित् स्थिर नहीं रह पाता।

समय तो निश्चय ही बलवान् है; किन्तु यह भी अतिशयोक्ति नहीं कि साहित्य भी समय से कुछ कम बलवान् नहीं है। शर्त इतनी ही है कि वह साहित्य तपी हुई साधना के गर्भ से प्रसूत हो, उसमें अनुस्यूत भाव विशुद्ध और पीयूषप्राय हो, उसमें गुम्फित विचार शाश्वत हो, उससे व्यक्त होनेवाला अर्थ लोकरंजक और श्रेयस्कर हो। किन्तु ऐसे साहित्य की रचना 'न चाल्पस्तपसः फलम्।'

आज हमारे साहित्य में नाना प्रकार के 'वाद' प्रचलित हैं, अनेक प्रकार की धाराएँ चल पड़ी हैं और विविध भाँति की शैलियाँ भी गद्य और पद्य दोनों में चालू हैं। यह सब देखकर बहुत-से लोग काफी चिन्तित हो रहे हैं। कोई सोचता है कि साहित्य में अवाञ्छनीय रचनाओं की संख्या बढ़ रही है, कोई समझता है कि साहित्य में निरंकुश भाव से मनमानी चल रही है; कितनों की तो यह भी धारणा है कि कुछ लोग अप्रयोजनीय साहित्य गढ़ रहे हैं और कितने तो यहाँ तक आशंका करते हैं कि साहित्य की गति ही रुक गई है। यह 'गत्यवरोध' (डेड लॉक) राजनीतिक क्षेत्र से आया हुआ एक होआ है। वास्तव में साहित्य की गति न रुकती है—न रुक सकती है। जबतक गतिशील संसार और मानव-समाज है, तबतक साहित्य में गत्यवरोध की चिन्ता व्यर्थ है। संसार की गति भी समय के अनुसार मन्द और अमन्द होती रहती है। नदी की धारा भी मन्द और प्रखर हुआ करती है। साहित्य-सेवी जब साहित्य-साधना से विरत होकर फालतू बातें सोचने लगता है, तब हिन्दी-साहित्य में उसे गत्यवरोध और स्वेच्छाचारिता का होआ दीखने लगता है। साहित्य-साधक तो एकाग्र मन से साहित्य-रचना में और साहित्य के कल्याण-साधन में दत्तचित रहता है। वह इस चिन्ता में व्याकुल नहीं रहता कि कौन साहित्य-सेवी अराजकता फैलाता है, परम्परा बिगाड़ता है, नया पंथ चलाता है अथवा साहित्य का सर्वनाश करता है। साहित्य कोई ऐसी चीज नहीं है, जिसको कुछ लोग मिलकर हमेशा के लिए भ्रष्ट कर देंगे। जो साहित्य को भ्रष्ट करने का प्रयास करेंगे, वे स्वयं ही कुछ दिनों में नष्ट-भ्रष्ट हो जायेंगे। साहित्य तो विराट्-रूपमय ब्रह्म की स्वर-लहरी और भावधारा है। उसे जो दूषित और कलुषित करेगा, वह स्वयं अधःपतित हो जायगा। यदि प्रत्येक साहित्य-सेवी शान्त मस्तिष्क और श्रद्धालु हृदय से साहित्य-साधना में सतत संलग्न रहे, तो गत्यवरोध और निरंकुशता का भूत उसे नहीं लग सकता।

संसार की तरह साहित्य में भी नई-नई परम्पराएँ चली हैं और चलती आई हैं। समाज में कितने ही पन्थ और संप्रदाय उत्पन्न हुए और थोड़े-घने समय तक प्रभावशाली

भी रहे। उन परम्पराओं और पन्थों के प्रवर्त्तन के लिए साहित्य भी बना। ऐसी घटनाएँ अतीत में हो चुकी हैं, वर्त्तमान में भी हो रही हैं, भविष्य में भी होंगी, बलवान् समय सब को परखता रहेगा। जिसमें कुछ दम रहेगा वही टिकेगा, नहीं तो समय के एक धक्के में ही चूर हो जायगा। जो चीज ठोस बन पड़ेगी, वह समुद्र में अटल चट्टान की तरह काल-प्रवाह झेलती रहेगी। जिस साहित्य-साधक की रचना में कुछ तथ्य होगा, जिसमें लोक-हृदय को रमाने की शक्ति होगी, जिसमें जनगण-मंगल के तत्त्व होंगे, उसको समय सदा अपने साथ रखेगा। जो कुछ निरर्थक और निष्प्रयोजन होगा, उसे समय स्वयं विलीन कर देगा और जो तत्त्व महत्त्वपूर्ण होगा, उसको लाख विरोधों के बीच भी समय बराबर कायम रखेगा।

—त्रैमासिक 'साहित्य' (पटना); वर्ष ३, अंक ३, आश्विन, २००६ वि०
अक्तूबर, १६५२ ई०

राष्ट्रभाषा का विरोध

आजकल राष्ट्रभाषा हिन्दी के विरोधियों की संख्या बढ़ गई है। हिन्दी जिन प्रान्तों की भाषा नहीं है, उनके निवासी यदि किसी कारण विरोध करें, तो कुछ अंश तक सत्य भी हो सकता है; पर हिन्दी-प्रधान प्रान्तों के निवासियों का विरोध सर्वथा असह्य प्रतीत होता है। हिन्दी-प्रधान प्रान्तों के अँगरेजीदाँ बाबू लोग और ऊँचे ओहदे के अधिकतर सरकारी अफसर हिन्दी की व्यंजना-शक्ति में विश्वास नहीं करते। उत्तरप्रदेश और बिहार के समान विशुद्ध हिन्दी-प्रान्त भी ऐसे सज्जनों से विभूषित हैं। किन्तु इससे राष्ट्रभाषानुरागियों को अधीर या क्षुब्ध न होना चाहिए। यह समय हिन्दी के लिए निस्सन्देह बड़े संकट का है। वास्तव में यह हिन्दी-प्रेमियों के धैर्य की अग्नि-परीक्षा का समय है। मनःसंयम, वाक्संयम और लेखनी-संयम से काम लेने की आवश्यकता आ पड़ी है। हम हिन्दीवालों की असंयत वाणी और लेखनी से हिन्दी के हित की हानि होगी। हिन्दी के कुछ नामी विद्वानों ने ही अहिन्दी-प्रान्तों में बड़ी बहकी-बहकी गरबीली बातें कहकर वहाँ का वातावरण बिगाड़ दिया है। हिन्दी के हितैषियों और समर्थकों की संख्या बढ़ाने के लिए हिन्दीवालों को बड़ी नम्रता, उदारता, सहिष्णुता और मधुरता से काम लेना होगा। हमारे जिन साहित्यिक पूर्वजों की तपस्या से हिन्दी आज राष्ट्रभाषा हुई है उन्होंने हिन्दी-हितार्थ जो त्याग किये और अपमान झेले हैं, उनकी कहानी बड़ी कारुणिक है। हमें भी अहिन्दी-भाषियों और हिन्दी-विरोधियों की ठसक बड़ी मिठास के साथ बरदाश्त करनी पड़ेगी। अहंकार और फटकार से तो वायुमण्डल क्षुब्ध ही होगा।

अँगरेजी-राज्य के भारत में हिन्दी का ऐसा विरोध कहीं देखा-सुना नहीं गया था। उस समय हिन्दी ही राष्ट्रीय एकता की आधारशिला समझी जाती रही। उन दिनों

अहिन्दी-भाषी लोग भी हिन्दी की व्यापकता और सुबोधता के कायल थे। किन्तु भारत के स्वतंत्र होने पर संविधान में हिन्दी जब राष्ट्रभाषा मानी गई, तब भिन्न भाषा-भाषियों में विरोध-भाव बढ़ने लगा। बहुत-से बड़े-बड़े विद्वान् भी, जो पहले हिन्दी के समर्थक थे, अपने मस्तिष्क का सन्तुलन खो बैठे। इधर हिन्दी-जगत् के कुछ प्रभावशाली व्यक्ति भी हिन्दी का डंका पीटकर अहिन्दी-भाषियों को भड़काने लगे। फल यह हुआ कि जिनके मन में सद्भाव था, वे भी हिन्दी के उत्कर्ष को ईर्ष्या-द्वेष की दृष्टि से देखने लगे। यद्यपि यह स्थिति अधिक दिनों तक नहीं रहेगी, तथापि भविष्य को अनुकूल बनाने के लिए हम हिन्दीवालों को अभी से सजग और सचेष्ट हो जाना चाहिए।

राष्ट्रभाषा-विरोधियों में यह झूठी आशंका फैल गई है कि उनकी मातृभाषा अथवा प्रान्तीय भाषा को हिन्दी हानि पहुँचायेगी—उसका विकास न होने देगी। यह धारणा सर्वथा निराधार है। अत्यन्त लज्जा और ग्लानि का विषय है कि अहिन्दी-क्षेत्र के असाधारण योग्यतावाले विद्वान् भी ऐसी भ्रान्त धारणा के शिकार हैं। शायद उन्हें पता ही नहीं कि हिन्दी ने कई प्रान्तीय भाषाओं को उनके अपने प्रान्त से बाहर बहुत दूर तक फैलाया है। कई प्रान्तीय अथवा क्षेत्रीय भाषा के साहित्यकार उसी प्रान्त या क्षेत्र की सीमा में बँधे रह गये होते, यदि उन्हें हिन्दी का सहारा न मिला होता। जिस किसी भाषा का साहित्य-सौरभ हिन्दी ने पाया है, उसे हवा की तरह दूर-दूर तक फैलाया है, अब भी हिन्दी आसेतु-हिमाचल गन्धवाह का ही काम करेगी। जिस दिन हिन्दी के माध्यम से सभी प्रान्तीय और क्षेत्रीय भाषाओं के साहित्य का रसास्वादन किया जाने लगेगा, उस दिन विरोध आप-से-आप मिट जायगा। इसलिए राष्ट्रभाषा के भक्तों का यही कर्त्तव्य है कि विरोध मिटाने का ही उद्योग करते रहें—बढ़ाने का नहीं।

एक बात और। हमारी सरकार को भी अपने संविधान की रक्षा पर यथेष्ट ध्यान देना चाहिए। हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद भीख-जैसा नहीं मिला है। अपनी पूर्वार्जित लोकप्रियता और सुविस्तृत व्यापकता के बल पर ही राष्ट्रभाषा का गौरव उसने पाया है। तब भी इस पदगौरव का उसे गर्व नहीं है। वह प्रत्येक प्रदेश और क्षेत्र की भाषा से हार्दिक स्नेह रखना चाहती है। किसी भाषा से न उसे होड़ करना है, न वैर-विरोध। यदि सरकारी संकेत और सहारे से विरोध दूर करने का प्रयास होता रहता, तो बहुत आसानी से विरोध शीघ्र शान्त हो जाता। अपने संविधान का पालन कराने में यदि सरकार तत्पर होगी, तो भ्रान्तिमूलक विरोध कुछ ही दिनों में शान्त हो जायगा।

अन्तिम बात ध्यान देने योग्य यह है कि जब से भारत में भाषाधार प्रान्त-निर्माण की आँधी उठी है, तब से देशवासियों के विचार में भाषा-सम्बन्धी संकीर्णता और मोह-ममता बहुत अधिक बढ़ गई है। मगर इससे हिन्दी को किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है। वह सभी भाषाओं का फूलना-फलना देखकर सन्तुष्ट ही होगी। अन्त में हिन्दी की नेकनीयत ही फलेगी। किसी भाषा का अपकार उसके ध्यान में नहीं है। किसी भाषा से उसकी प्रतिद्वन्द्विता भी नहीं है; क्योंकि देशप्रियता में और राष्ट्रीय हितसाधन में उसकी बराबरी करने योग्य कोई भाषा इस देश में है ही नहीं। इसलिए विरोध के

टिकने का कोई पुष्ट आधार नहीं है। वह स्थायी नहीं हो सकता। वह एक प्रकार का मौसमी तूफान है। विशाल राष्ट्रवृक्ष पर छाई हुई हिन्दी-लता उस तूफान से झकझोरी जायगी सही, उसके फूल झड़ जायँगे भले ही, पर वह जड़ से उखड़ नहीं सकती।

राष्ट्रभाषा की लदाई!

हमारे देश के बड़े-बड़े नेता और उच्चाधिकारी तथा प्रशासक जब कभी कहीं भाषण करते हैं, तब बेधड़क कह डालते हैं कि हिन्दी को किसी के ऊपर जबरदस्ती नहीं लादना चाहिए। मगर किसी वक्ता ने यह साबित नहीं किया कि किस पर कौन हिन्दी लाद रहा है। जब हमारी राष्ट्रीय सरकार ने सर्वसम्मति से भारतीय संविधान में हिन्दी को राष्ट्रभाषा और राजभाषा का पद दिया है, तब हिन्दी-भाषियों और हिन्दी-संस्थाओं पर ऐसा दोषारोपण नहीं किया जा सकता। जो महानुभाव यह आरोप करते हैं, उन्हें स्वयं ही समझ लेना चाहिए कि हिन्दीवालों के हाथ में ऐसी कोई सत्ता ही नहीं है, जिसके बल पर वे हिन्दी सीखने के लिए किसी को बाध्य कर सकें। और, यदि हिन्दीवालों के हाथ में ऐसी सत्ता होती भी, तो वे हिन्दी को कभी किसी अनिच्छुक पर नहीं लादते। हमारी सरकार भले ही अपना संविधान मनवाने के लिए अपने वैधानिक अधिकार का प्रयोग अथवा उपयोग करे; परन्तु हिन्दीवाले तो अहिन्दीभाषियों से बन्धुत्व और सद्भाव से ही कह सकते हैं कि राष्ट्रीय एकता के लिए हिन्दी को अपनाइए। हिन्दीवाले यही कहते हैं और कहते रहेंगे। जो सज्जन हिन्दीवालों में साम्राज्यवादी भावना की आशंका करते हैं, वे जब भारतीयता की दृष्टि से हिन्दी का महत्त्व और भारत-राष्ट्र के सामूहिक संगठन में इसकी शक्ति का चमत्कार देखेंगे, उनका भ्रम निकट भविष्य में ही आप-से-आप दूर हो जायगा। हिन्दी किसी पर असह्य भार बनकर लदना नहीं चाहती, वह तो फूल-माला और शरबत की तरह सबके कण्ठ की शोभा और तृप्ति बनना चाहती है। उसे जो अपनावेगा, वह राष्ट्रीयता का अमृत पीकर कृतार्थ होगा। यह अमृत किसी दूसरी भाषा के पास नहीं है। हिन्दी को यह अमृत संस्कृत से मिला है। इसीलिए इस अमृत में गंगाजल का गुण है। वह गुण सर्वविदित है।

भाषाधार-प्रान्त-निर्माण का आन्दोलन हमारे देश में दिन-दिन प्रबल होता नजर आता है। इसके प्रभाव से प्रान्तीय और क्षेत्रीय भाषाओं का पक्षपात भी बढ़ता जा रहा है। राष्ट्रभाषा की महत्ता पर से लोगों का ध्यान हट-सा रहा है। किन्तु जब सभी भाषा-क्षेत्रों का निर्माण होने से लोगों का मनोरथ पूरा हो जायगा, तब राष्ट्रभाषा की आवश्यकता का अनुभव स्वतः होने लगेगा। आज भी, जब भाषा-क्षेत्रों का नव-निर्माण होना बहुत-कुछ बाकी है, किसी प्रान्तीय अथवा क्षेत्रीय भाषा के विकास के मार्ग में हिन्दी बाधा बनकर नहीं अड़ती। हिन्दी कहीं कानाफूसी और जासूसी भी नहीं करती फिरती कि कौन भाषा या बोली कहाँ क्या कर रही है और क्यों कर रही है। वह तो सभी भाषाओं और बोलियों का, उनके अपने-अपने क्षेत्र में, फूलना--फलना देखना चाहती है। हिन्दी-भाषी कभी किसी पर यह दबाव नहीं डालते कि अपनी मातृभाषा का

तिरस्कार करके राष्ट्रभाषा को अपनाइए। अन्य भाषाओं ने अभी तक हिन्दी को उतना नहीं अपनाया है, जितना हिन्दी ने उसको। हिन्दी को अपनी श्रेष्ठता और सम्पन्नता का अहंकार नहीं है—साथ ही, किसी से किसी अंश में कम होने की हीन-भावना भी नहीं है। वह तो सारा भेदभाव भूलकर आरम्भ से ही सबके प्रति सख्य-सौहार्द प्रदर्शित करती आ रही है। ऐसी दशा में किसी पर भी उसके जबरदस्ती लादे जाने का आरोप सर्वथा निराधार है। जो सज्जन बार-बार हिन्दी पर ऐसा दोष लगाया करते हैं, उन्हें हिन्दी की वास्तविक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

जब हिन्दी-प्रधान क्षेत्रों के नेता और वक्ता विना सोचे-समझे राष्ट्रभाषा की लड़ाई की शिकायत या चर्चा करते हैं, तब अहिन्दी-क्षेत्रों के लोग अपने विरोध के लिए बड़ा भारी सहारा पा जाते हैं। कम-से-कम हिन्दी-क्षेत्र के प्रमुख प्रभावशाली व्यक्तियों को इस तरह की बेबुनियाद बात नहीं कहनी चाहिए। सार्वजनिक प्रभाववाले लोगों को हमेशा यही कोशिश करनी चाहिए कि हमारी राष्ट्रीय सरकार के संविधान का पालन करने में जनता आनाकानी न करे। जनता पर जिनकी धाक है और जनता में जिनकी साख है, उन लोगों को यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि भारतीय एकता के दृढ़ करने में राष्ट्रभाषा हिन्दी ही सर्वश्रेष्ठ साधन सिद्ध हो सकती है। जो लोग चारों धाम की यात्रा और अन्यान्य प्रमुख तीर्थस्थानों में भ्रमण कर चुके हैं, उनके अनुभव जानने का जिन्हें अवसर मिला है, वे इस तथ्य को सहज ही समझ सकते हैं। इसलिए निराश न होकर पूर्ण उत्साह के साथ हम हिन्दीवालों को हिन्दी के हित के कामों में तन-मन-धन से जुट जाना चाहिए।

राष्ट्रभाषा अनाथा क्यों?

राष्ट्रभाषा को हम आज जितना असहाय देखते हैं उतना पहले कभी नहीं देखा था। दयानन्द और भारतेन्दु के युग में यह निराश्रित नहीं थी। द्विवेदीजी और श्यामसुन्दरदासजी ने इसे भलीभाँति सनाथ किया था। इन महापुरुषों ने राष्ट्रभाषा के पोषण एवं संरक्षण में ही अपना आदर्श जीवन बिताया। इन्हीं की प्रेरणा और इन्हीं के प्रोत्साहन से अनेक साधक तैयार हुए, जिनकी तपस्या आज फूली-फली नजर आती है। किन्तु आज तो राष्ट्रभाषा हिन्दी के सिर पर किसी की छत्रच्छाया नहीं दीख पड़ती। वह आज सर्वथा अनाथा-सी दृष्टिगोचर होती है। अब उन पूर्वोक्त महानुभावों की तरह कोई ऐसा नहीं दीखता, जो दिन-रात हिन्दी-हित की ही चिन्ता में तल्लीन रहता हो। हाँ, हमारे श्रद्धेय राजर्षि टण्डनजी अगर चाहें, तो आज राष्ट्रभाषा को सनाथ कर सकते हैं। किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि वे राजनीति से विरक्त नहीं हो सकते। यदि एकमात्र राष्ट्रभाषा का झंडा लेकर वे आज भी खड़े हो जायँ, तो वे राष्ट्र की सबसे अधिक सेवा कर सकते हैं। आज निराशा के घोर अंधकार में वही एक प्रकाश-स्तम्भ दीख पड़ते हैं। राष्ट्रभाषा को आज उनके एकान्त नेतृत्व की आवश्यकता है। जबतक कोई अखिल-भारतीय ख्याति का त्यागी-तपस्वी व्यक्ति केवल राष्ट्रभाषा की ही सेवा-सहायता में तन्मय न होगा, तबतक राष्ट्रभाषा की असहायावस्था का अन्त न होगा। बहुधन्धी और प्रपंची तथा अपने

अवकाश में से सुविधानुसार आंशिक समय देनेवाले लोगों से इस समय हिन्दी का कल्याण नहीं होगा। जनता किसी सच्चे मार्गप्रदर्शक की बाट जोह रही है। यदि कोई मिशनरी स्पिरिट से काम करनवाले उत्साही जनों का दल होता, जो अहर्निश हिन्दी का ही काम करता, तो आशा का संचार हो सकता था। किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि जिन भारत-प्रसिद्ध हिन्दी-संस्थाओं पर हिन्दी की स्वत्व-रक्षा का भरोसा था, वे भी दलबन्दी का अखाड़ा बन गई हैं। सोते-जागते प्रतिक्षण हिन्दी की ही चिन्ता में लवलीन रहनेवाला एक सार्वदेशिक कीर्त्ति का व्यक्तित्व आज राष्ट्रभाषा को चाहिए। ऐसे व्यक्तित्व की अपेक्षा जितनी आज है, उतनी कभी न थी।

राष्ट्रभाषा के निराधार होने का एक कारण और भी है। आर्यावर्त्त (उत्तर-भारत) की प्रान्तीय सरकारें तो राष्ट्रभाषा के हित में कुछ तत्पर भी हैं, पर खेद है कि केन्द्रीय सरकार से यथोचित प्रेरणा और उत्तेजना नहीं प्राप्त हो रही है। यह शोचनीय स्थिति ही राष्ट्रभाषा को दयनीय स्थिति में डाले हुई है। हमारी राष्ट्रीय सरकार ने ही अपने संविधान में हिन्दी को राष्ट्रभाषा-पद का महान् गौरव प्रदान किया। अब यदि उस पद-गौरव की यथेष्ट रक्षा नहीं हो रही है, तो इसकी लाज हमारी सरकार को ही होनी चाहिए। सरकार का समर्थन पाकर भी राष्ट्रभाषा यदि आज बेचारी ही है, तो इसका घोर दुर्भाग्य ही कहना चाहिए। आखिर सरकार से भी अधिकार-रक्षा कराने के लिए एक प्रभावशाली व्यक्तित्व चाहिए ही, जिसके बिना आज राष्ट्रभाषा अनाथा है!

—त्रैमासिक 'साहित्य' (पटना); वर्ष ४, अंक ३; आश्विन २०१० वि०,
अक्तूबर, १९५३ ई०

राष्ट्रभाषा का स्वरूप

राष्ट्रभाषा के स्वरूप के विषय में चारों ओर मतभेद देख पड़ता है। कोई कहता है कि रघुवीरी हिन्दी चलनी चाहिए, कोई गांधीजी की हिन्दुस्तानी का हिमायती है। कोई प्रेमचन्दी हिन्दी पसन्द करता है, कोई पद्मसिंही। आधुनिक तार्किक लोग नाना प्रकार के विचित्र तर्क पेश करते हैं। किन्तु जिन मननशीलों ने आज तक की विविध शैलियों का अध्ययन-अनुशीलन किया है, वे राष्ट्रभाषा के स्वरूप के विषय में विशेष चिन्तित नहीं हैं; क्योंकि भाषा का रूप स्थिर करके उसे सर्वत्र चला देना किसी एक के बूते की बात नहीं है। यह काम न किसी सरकार के डर से होगा और न किसी संस्था के प्रचार से। कोई भाषाशास्त्री समर्थ साहित्यकार भी सारे देश को अपना अनुयायी नहीं बना सकता।

राजा लक्ष्मणसिंह, राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द, स्वामी दयानन्द सरस्वती, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पंडित बालकृष्ण भट्ट, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, बाबू श्यामसुन्दर दास, हरिऔधजी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि जितने कलम के

धनी हैं, उनकी शैलियाँ देखकर रंग-विरंग आनन्द उपलब्ध होता है अवश्य; पर किसी की शैली के सम्बन्ध में निश्चित रूप से यह कह सकना अत्यन्त कठिन है कि ऐसा ही राष्ट्र-भाषा का रूप होगा।

कुछ विचारकों का अनुमान है कि मेरठ-मथुरा और आगरा-दिल्ली तथा काशी-प्रयाग और लखनऊ-कानपुर के आसपास के क्षेत्रों की भाषा से ही राष्ट्रभाषा का रूप बनेगा। खड़ीबोली के गढ़ में गढ़ी हुई भाषा यदि राष्ट्रभाषा हो, तो सन्तोष का ही विषय है। महात्मा गांधी ने एक बार विचार प्रकट किया था कि 'चन्द्रकान्ता' की भाषा ही राष्ट्रभाषा हो सकती है। किन्तु इस समय अहिन्दी-भाषियों का रुख देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रभाषा का रूप-निर्माण करने में भारतवर्ष के सभी प्रान्तों के निवासी अपने अधिकार का उपयोग करना चाहते हैं।

जब भाषाधार प्रान्त-निर्माण का काम पूरा हो जायगा और अन्तर-प्रान्तीय माध्यम के रूप में हिन्दी काम करने लगेगी, तब इसके वर्त्तमान रूप में कितने और कैसे परिवर्त्तन होंगे, यह तो अभी कल्पना का ही विषय है। यदि कहीं भारतीय राष्ट्रभाषा का प्रसार बृहत्तर भारत में हो सका—प्रवासी भारतवासियों में भी हो सका—तो इसके विराट् रूप की कल्पना कर सकना इस समय भी संभव है; क्योंकि दक्षिणी और पूर्वी अफ्रिका, केनिया, मोरिशस, ट्रिनिडाड, फीजी, मलाया, लंका आदि द्वीपों एवं विदेशों में रहनेवाले बहुतेरे भारतीय आज भी हिन्दी बोलते और समझते हैं, हिन्दी में स्वदेश-बन्धुओं से चिट्ठी-पत्री करते हैं, हिन्दी में पत्र-पत्रिकाएँ निकालते हैं, यहाँ तक कि हिन्दी में पुस्तकें भी लिखते हैं। उनकी भाषा सुनकर और पढ़कर साफ जाहिर होता है कि राष्ट्रभाषा पर केवल हिन्दी-प्रधान प्रान्तों का ही एकाधिपत्य नहीं रहेगा। साथ ही यह भी मालूम होता है कि राष्ट्रभाषा के वास्तविक विराट् रूप का निर्माण होने में अभी कुछ दिन और लगेंगे।

अब राष्ट्रभाषा पर भारत की सभी जातियों, समाजों और सम्प्रदायों का वैधानिक अधिकार हो गया, इसलिए सभी भाषाओं और धर्म-मतों के लोग इसपर अपनी छाप छोड़े विना न रहेंगे। अब राष्ट्रभाषा पर कोई बाड़ा या घेरा नहीं लग सकता। इसका रूप-वैभव अब अपार और अनन्त होकर ही रहेगा। तब इसके रूप-सौष्ठव के निखरने में भी समय लगेगा। इसके लिए हम हिन्दीवालों को उदार और सहनशील बनना पड़ेगा। कट्टरपन्थी बनने से राष्ट्रभाषा की क्षति होगी।

राष्ट्रभाषा की क्षति की सम्भावना अहिन्दीभाषियों से कम दीख पड़ती है; क्योंकि वे उसके रूप को कभी असंस्कृत नहीं होने देंगे। राष्ट्रभाषा के रूप को बिगाड़ने का काम हिन्दी के जन्मस्थान उत्तर-भारत में ही हो रहा है। केन्द्रीय सरकार की प्रेरणा से कुछ अनधिकारी व्यक्ति बिलकुल बनावटी भाषा गढ़ रहे हैं। केन्द्र से ही शह पाकर कुछ स्वार्थ-साधिका संस्थाएँ राष्ट्रभाषा के रूप को विकृत कर रही हैं। अपने को हिन्दी के हिमायती और विद्वान् माननेवाले कुछ सज्जन मनमाने ढंग से भाषा और लिपि पर बल-प्रयोग कर रहे हैं। हमें आशा है कि अहिन्दीभाषी कभी ऐसे निर्मम नहीं होंगे। सम्भव है कि वे

व्याकरण में कुछ स्वेच्छाचार दिखावें और शब्दों तथा मुहावरों के प्रयोग में भी कुछ स्वेच्छा से काम लें; पर वे राष्ट्रभाषा के स्वरूप और उसकी प्रकृति को क्षत-विक्षत एवं भ्रष्ट नहीं करेंगे। किन्तु हमारे बीच रहकर जो लोग राष्ट्रभाषा और भारतीय संस्कृति की जड़ खोद रहे हैं, उनके विरुद्ध हिन्दी-जगत् में संगठित रूप से आन्दोलन होना चाहिए। भाषा की नई टकसाल खोलकर उसमें हिन्दुस्तानी के नाम पर जो खोटे और नकली सिक्के ढाले जा रहे हैं, उनका जबरदस्त बहिष्कार होना अत्यन्त आवश्यक है। फारसी-अरबी-तुर्की आदि भाषाओं के जो हजारों शब्द हिन्दी में खपे हुए हैं, उनको हम पचा ही चुके हैं और आवश्यकतानुसार आगे भी बहुत-से नये-नये शब्दों को हम खुशी से पचावेंगे; मगर जो न अरबी है, न फारसी, जो न घर का है, न घाट का, जो खिचड़ी-खचड़ा है, उसको स्वीकार करके भाषा की नस्ल बिगाड़ना महापाप होगा।

राष्ट्रभाषा को ऊँचा पीढ़ा देकर हिन्दी की जो दयनीय दुर्गति की जा रही है, वह सर्वथा निन्दनीय है, कोटि कण्ठ से उसकी भर्त्सना होनी चाहिए। हिन्दी की संस्थाएँ और पत्रिकाएँ सजग हों। हिन्दी के अखबार लगातार आवाज उठावें। केवल विरोध का नारा बुलन्द करने से ही काम न चलेगा, भाषा में अस्वाभाविकता लानेवाले मनगढ़न्त और बेडौल शब्दों का तिरस्कार भी करना पड़ेगा। यदि भाषा पर आया हुआ घोर प्राण-संकट टालने के लिए हिन्दीवाले अब भी सावधान न होंगे, तो निश्चय ही राष्ट्रभाषा का स्वरूप नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा।

महान् आश्चर्य और घोर विषाद का विषय है कि अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के रहते, राष्ट्रभाषा के शब्दकोष का निर्माण 'जामिया मीलिया' और 'हिन्दुस्तानी कल्चर सोसाइटी' में हो रहा है। ऐसी ही और भी संस्थाएँ अनोखे शब्द गढ़ने में लगी हुई हैं। मगर इन संस्थाओं में, राष्ट्रभाषा में चलाने के लिए, जो अनगढ़ शब्द बनाये जा रहे हैं, वे राष्ट्रभाषा के कलेवर को दूषित करनेवाले हैं। सहसा देखने में वे सरल हैं, पर पचने में तो गरल ही होंगे। उनसे राष्ट्रभाषा के स्वरूप में कुछ भी भारतीयता नहीं रह जायगी—उसकी राष्ट्रीयता नष्ट हो जायगी। हमें अपनी राष्ट्रीय सरकार से सामूहिक रूप में साग्रह अनुरोध करना चाहिए कि वह कोटि-कोटि प्रजा में बढ़ते हुए असन्तोष को भड़काने की भूल न करे।

—त्रैमासिक मासिक 'साहित्य' (पटना); वर्ष ४, अंक ४; पौष २०१० वि०, जनवरी, १९५४ ई०

राष्ट्रभाषा और उर्दू

इस देश में हिन्दू और मुसलमान सदियों से साथ रहते आये हैं। भारत के खण्डित हो जाने पर भी उसके अनेक प्रान्तों में लाखों मुसलमान अब भी हैं। प्रायः सभी जगहों में वे हिन्दुओं के पड़ोसी हैं। राजनीतिक आन्दोलनों के पहले तो वे बहुत ही अच्छे पड़ोसी थे।

भाषा और साहित्य के क्षेत्र में भी उनकी सहृदयता और उदारता सराहनीय थी। पर्व-त्योहारों में भी उनके साथ कोई भेद-भाव न था। हिन्दुओं की आदर्श सहिष्णुता से उन्होंने बराबर लाभ उठाया। आज भी, पाकिस्तानी भावना का जहर फैल चुकने पर भी, उनके साथ लेन-देन का रोजगार हर जगह चालू है। उनके धार्मिक उत्सवों में अब भी यथासंभव सहयोग और भाईचारा कायम है। अब भी दोनों बहुत दूर तक एक-दूसरे के सुख-दुःख में साथी हैं। सैकड़ों वर्ष से दोनों के बोलचाल की भाषा एक रही है। दोनों की भाषा में पहले केवल लिपि का ही भेद था। कई लेखकों और कवियों की उर्दू-रचनाएँ ऐसी हैं, जो अगर नागरी-लिपि में लिख दी जायँ, तो मुहावरेदार सरल हिन्दी की ही एक शैली प्रतीत होंगी। लिपि की दीवार हटा देने पर बहुत-सी उर्दू की रचनाएँ हिन्दी की हो जायेंगी। अगर कुछ भेद कहीं मालूम भी होगा, तो वह साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के लेखकों के दुराग्रह का परिणाम ही होगा; क्योंकि जब से पारस्परिक सद्भाव विषाक्त होने लगा, तभी से दोनों की भाषा के स्वरूप में पार्थक्य बढ़ने लगा। लिपि की दीवार हटते ही यह पार्थक्य स्पष्ट दृष्टिगोचर होगा। केवल फारसी-लिपि ने हिन्दी को उर्दू के नाम से साम्प्रदायिक भाषा बना दिया है। अरबी, फारसी और तुर्की के अनेक शब्द हिन्दी में प्रचलित हैं। ऐसी हिन्दी को ही फारसी-लिपि में लिखकर उसे उर्दू के नाम से पुकारना और क्षेत्रीय भाषा कहना एक नया झगड़ा खड़ा करना है। उर्दू तो बहुत दिनों से हिन्दी की मुसलमानी शैली मानी जाती है, पर पहले कभी इसका विरोध नहीं हुआ। अब जान-बूझकर जोर-जबरदस्ती से भारत की तरह भाषा का रूप भी खण्डित किया जा रहा है। जमीन का पाकिस्तान बनने से तो राष्ट्र में अशान्ति बढ़ ही रही है, जबान का पाकिस्तान बनने पर वह अशान्ति और भी बढ़ती रहेगी। इसलिए दोनों पक्ष के शान्तिप्रिय साहित्य-सेवी समझ-बूझकर राष्ट्रीय एकता को खतरे से बचाने की कोशिश करें।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय, तो उर्दू केवल दुर्बोध लिपि और अरबी-फारसी के क्लिष्ट शब्दों के जाल में फँस जाने के कारण ही राष्ट्रभाषा हिन्दी से अलग नजर आती है यदि अप्रचलित, अपरिचित और दुरूह शब्दों के प्रयोग का दुराग्रह न हो, तो हिन्दू-मुस्लिम जनता की भाषा में विशेष भेद न रहेगा। जब से व्यावहारिक भाषा पर भी साम्प्रदायिकता का भार पड़ने लगा, तब से खींचतान बढ़ती ही जा रही है। जहाँ सिर्फ नाम का ही भेद था, वहाँ रूप और प्रकृति में भी भेद डालने की नीयत से बीच में खाई खोदी जाने लगी, और वह खाई दिन-दिन चौड़ी होती जा रही है। इससे राष्ट्र के साथ-साथ राष्ट्रभाषा का भी अंग-भंग होगा। यह संकट राष्ट्रीय एकता के लिए घातक हो सकता है।

सच पूछिए, तो अरबी और फारसी का आगमन कभी अरब और फारस से हुआ होगा, मगर उर्दू तो सोलहो आने भारत की ही उपज है। उसे कोई फौजी छावनी की भाषा कहे या बेगमों के महल की, मगर यह शुरू में 'बाबू इङ्गलिश' की तरह मुसलमानी हिन्दी के सिवा और कुछ नहीं थी। जनभाषा तो उस समय भी हिन्दी ही थी। खुसरो, कबीर, जायसी, रहीम आदि इसके प्रमाण हैं। यह कदापि नहीं कहा या माना जा सकता

कि लश्कर के बाजार में या शाही दरबार में सिर्फ अरबी-फारसी का ही व्यवहार होता था, जनभाषा का वहाँ गुजर नहीं था। जनभाषा हिन्दी में ही अरबी-फारसी के मेल-जोल से मुसलमानी रंगत आ गई। उसीको मुसलमान भाई उर्दू कहने लगे। हिन्दुओं की 'खड़ी बोली' ही मुसलमानों में 'उर्दू' कहलाने लगी। 'खड़ीबोली' के क्षेत्र में ही उर्दू पैदा हुई थी। वास्तव में वह 'खड़ीबोली' (हिन्दी) का ही मुसलमानी रूप है। इस तरह उर्दू तो हिन्दी की मुसलमानी शैली का ही पुराना नाम है। उसके क्रिया-पद, अव्यय, मुहावरे, तद्धित, कृदन्त आदि हिन्दी-व्याकरण के अत्यन्त निकट हैं। दुर्गम लिपि और अरबी-फारसी की बाहरी पोशाक उतार देने पर उसकी गठन बस हिन्दी की ही है। उसको व्रजभाषा और अवधी की तरह क्षेत्रीय भाषा नहीं कह सकते। हिन्दी-क्षेत्र की विभिन्न बोलियों से अलग उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। पुराने समय के हिन्दू और मुसलमान अपनी-अपनी अलग भाषा नहीं मानते थे; लिपि भले ही भिन्न रही हो। आज भी मलिक मुहम्मद जायसी का 'पद्मावत' फारसी-लिपि में लिखा मिलता है, पर वह अवधी भाषा का प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ है। फारसी-लिपि के माध्यम से मुसलमानों ने हिन्दी की खूब सेवा की थी। यों तो मुसलमान कवियों की साहित्य-सेवा से हिन्दी का इतिहास उज्ज्वल है और हिन्दू-साहित्यकारों की सेवा से उर्दू का इतिहास भी खूब जगमगा रहा है। पंजाब के हिन्दू-घरानों में कभी रामायण-महाभारत की कथाएँ भी फारसी-लिपि में ही पढ़ी जाती थीं। लिपि और भाषा का झगड़ा तो शुद्ध साम्प्रदायिक है। बुगदादी भाषा लिखने-बोलनेवालों की हठधर्मी से उर्दू की अलग हस्ती कायम की जा रही है, नहीं तो भाषाशास्त्रियों के मतानुसार वह राष्ट्रभाषा हिन्दी का ही अभिन्न अंग है।

यह बात भी प्रत्यक्ष ही सिद्ध है कि देवनागरी-लिपि में लिखी जाने पर उर्दू कहीं की क्षेत्रीय भाषा न रहकर राष्ट्रभाषा के कक्ष में चली जायगी। देवनागरी उसे अमृत पिला देगी। भेदभाव की भित्ति भूमिसात् हो जायगी। दोनों पक्ष के लोग एक-दूसरे की संस्कृति से परिचित हो जायेंगे। दिन-दिन बढ़ता हुआ वैमनस्य क्रमशः विलीन हो जायगा। आपस के मनोमालिन्य की खाई पट जायगी। किन्तु वर्त्तमान काल के वातावरण एवं लक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दीवालों की सद्भावना भी शंका-सन्देह की दृष्टि से देखी जा रही है। तब भी हम हिन्दीवालों को चाहिए कि उर्दू को अपने से अलग न होने दें; क्योंकि वह हिन्दी की ही एक सुहावनी शैली है। और, जिस दिन राष्ट्रभाषा के हितैषियों की ओर से, फारसी-लिपि में छपी उत्तमोत्तम साहित्यिक पुस्तकें देवनागरी-लिपि में छपकर प्रकाशित होने लगेंगी, उसी दिन हमारे मुसलमान भाई यह अनुभव करने लगेंगे कि जिस भाषा पर वे खास अपनी छाप लगाते हैं, वह हिन्दी की एक विशिष्ट शैली के सिवा और कुछ नहीं है। उर्दू की अच्छी-से-अच्छी किताबों को देवनागरी-लिपि में, टीका-टिप्पणी और गवेषणापूर्ण भूमिका के साथ, प्रकाशित कर देने पर राष्ट्रभाषा का वह खजाना आसानी से वापस आ जायगा, जो फारसी-लिपि की चीनी दीवार के पीछे छिपा पड़ा है। अन्त में, देवनागरी के सहारे

अपनी भाषा की व्यापकता बढ़ते देखकर, आशा है, मुसलमान भाई भी हमारी बात का तथ्य समझ जायेंगे। उनका यह भ्रम भी दूर हो जायगा कि देवनागरी से उनकी सांस्कृतिक हानि होगी। उनकी लिपि तो फारसी के लिए सदा बनी ही रहेगी। साहित्यिक दृष्टि से फारसी बहुत समृद्ध भाषा है। उसके पढ़नेवाले उसीकी लिपि के सहारे उससे लाभ उठावेंगे। इधर देवनागरी के बल पर इस्लामी संस्कृति भी समस्त राष्ट्र में उजागर हो जायगी।

हाँ, हिन्दीवालों की ओर से उर्दू के विरोध का भी कोई प्रश्न नहीं है। कोई अंगी अपने ही किसी अंग से विरोध क्यों करेगा? विरोध तो उर्दूवालों की ओर से ही आगे बढ़ाया गया है। हिन्दीवाले तो बराबर उर्दू को अपनाते आये हैं। आज भी हिन्दीवालों में ऐसे बहुतेरे हैं, जो केवल हिन्दी के माध्यम से उर्दू-साहित्य का अच्छा ज्ञान रखते हैं। किन्तु मुसलमान भाइयों में ऐसे सज्जन बहुत कम ही होंगे, जो केवल फारसी-लिपि के माध्यम से हिन्दी-साहित्य अथवा भारतीय साहित्य का कुछ परिचय पा सके हों। हिन्दीवालों के मन में उर्दू के प्रति घृणा नहीं है, पर उर्दूवालों के मन में हिन्दी के प्रति काफी उदासीनता है। इसके लिए प्रमाणों की कमी नहीं है। उर्दू के लेखकों और कवियों को हिन्दीवाले बड़े शौक से पढ़ते हैं और उनमें कितनों को प्यार भी करते हैं, पर उर्दूवालों में वैसे हिन्दी-साहित्यानुरागी शायद ही ढूँढ़े मिलेंगे। इन सब बातों से यह साफ जाहिर है कि राष्ट्रभाषा और उर्दू में कोई मौलिक भिन्नता नहीं है और किसी प्रकार का साम्प्रदायिक विरोध भी नहीं है। अगर कोई ऐसे सपने देखता है, तो वह कभी भारत की राष्ट्रीय एकता का हिमायती नहीं हो सकता।

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की हीरक-जयन्ती

हिन्दी को राष्ट्रभाषा होने योग्य बनाने के प्रयत्न में सबसे अधिक योगदान 'सभा' ने ही किया है। यों तो 'सभा' से ही प्रसूत 'सम्मेलन' भी प्रभूत यश का भागी है, पर 'सभा' का स्थान सर्वोपरि है, इसमें मीन-मेष नहीं। जान पड़ता है, ईश्वरीय प्रेरणा से ही, विश्वनाथपुरी में, विक्रम की बीसवीं शताब्दी के मध्य में, हिन्दी के विशेष प्रचार और उत्थान के लिए, सभा का शुभजन्म हुआ था। सभा के सतत सहयोग से हिन्दी का जो सम्मान-संवर्द्धन और साहित्य-निर्माण हुआ, उसे इतिहास सदा गर्व-गौरव के साथ याद किया करेगा। सभा के प्राण और हृदय बाबू श्यामसुन्दरदास और पंडित रामनारायण मिश्र हिन्दी के सच्चे आचार्य हुए। उनकी तपस्या खूब फूली-फली। ईश्वर की दया से दोनों ने सभा की स्वर्ण-जयन्ती देख ली थी। बड़े हर्ष और सन्तोष की बात है कि सभा के संस्थापकों में अन्यतम ठाकुर शिवकुमार सिंह ने सभा की हीरक-जयन्ती भी देख ली। बड़े पुण्य से ऐसा संयोग होता है। सभा तो सचमुच अनेक साधकों की पुञ्जीभूत साधना का ही मूर्त्त रूप है। ऐसे अवसर पर उन साधकों का अनायास स्मरण होना स्वाभाविक है—लाला भगवान दीन, पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू जगमोहन वर्मा, बाबू रामचन्द्र वर्मा,

पं० केदारनाथ पाठक आदि के नाम कभी भुलाये न जायेंगे। ऐसे तो शुरू से आज तक के सभा के जीवनेतिहास में एक-से-एक यशोधन हिन्दी-भक्तों के नाम सादर स्मरणीय हैं—सर्वश्री राधाकृष्णदास, महामना मदनमोहन मालवीय, बालकृष्ण भट्ट, कार्त्तिकप्रसाद खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, जगन्नाथदास रत्नाकर, महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्यामबिहारी मिश्र, गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा, हीरालाल, रामावतार शर्मा, विष्णुलाल पण्ड्या, कामताप्रसाद गुरु, गौरीशंकरप्रसाद, मुन्शी अजमेरी, लज्जाशंकर झा, व्रजरत्न दास, रायकृष्ण दास, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, चन्द्रबली पाण्डेय, अमरनाथ झा, हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजबली पाण्डेय आदि के नाम भी सभा-भवन में प्रायः गूंजा करेंगे। ऐसी गौरवमयी परम्परा किसी भी साहित्यिक संस्था के लिए गर्व की वस्तु है। किन्तु यह तभी हमेशा कायम रह सकती है, जब सभा में पूर्ववत् साहित्य-निर्माण का महत्त्वपूर्ण कार्य बराबर होता रहे।

महोत्सव के अवसर पर सभा को हजारों रुपये मिले हैं। आशा है कि पहले की तरह यदि लगन से काम होता रहा तो और भी रुपये मिलेंगे। लेकिन सभा को अब बाजार का रुख देखकर प्रकाशन नहीं करना है। उसे विश्वविद्यालयों के लिए पाठ्य-ग्रन्थ भी नहीं प्रस्तुत करना है। उसे तो आकर-ग्रन्थों, विविध कोशों, प्रामाणिक अनुवादों, साहित्यिक ग्रन्थावलियों, अलभ्य एवं सहायक ग्रन्थों के प्रकाशन पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। हिन्दी में सचित्र विश्वकोश की बड़ी आवश्यकता है। वैदिक, पौराणिक और ऐतिहासिक तथा भौगोलिक कोश भी नहीं हैं। इसी तरह रामायण-महाभारत-कोश की कमी खटकती है। हिन्दी के अभावों की तालिका बहुत लम्बी है। किन्तु सभा-जैसी समर्थ संस्था यदि वास्तव में कर्मनिष्ठ हो जाय, तो साहित्य के महान् कार्यों के सम्पन्न करने की व्यवस्था हो सकती है। विश्वास है कि सभा के वर्त्तमान प्रधान मंत्री डॉक्टर राजबली पाण्डेय हिन्दी-प्रेमियों की आशा पूरी करने में दत्तचित्त होंगे।

महाकवि 'निराला' की अस्वस्थता

हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं में महाकवि 'निराला' के अस्वस्थ होने के चिन्ताजनक संवाद प्रकाशित हो रहे हैं। उनकी सेवा-शुश्रूषा के लिए आर्थिक सहायता की अपील भी छपी। केन्द्र की और उत्तरप्रदेश की सरकार से आर्थिक सहायता मिलने के समाचार भी देखने में आये। 'निराला' जी के संरक्षकों और मित्रों में खूब विवाद छिड़ा तथा पारस्परिक आरोपों के खंडन-मंडन भी हुए। किन्तु निरालाजी की स्थिति में क्या सुधार हुआ, इसका ठीक पता नहीं लगता। हम स्वयं अस्वस्थ होने से विवश हैं, नहीं तो उनके पास पहुँचकर वास्तविक स्थिति अवश्य देखते-समझते।

'निराला' जी के साहित्यिक जीवन के आरम्भिक काल से हमने उनको बहुत निकट से देखा-परखा है। उनकी प्रकृति से हम बहुत-कुछ परिचित हैं। किसी प्रकार की परिस्थिति उनके स्वभाव, हृदय या विचार में परिवर्त्तन नहीं ला सकती। वे अपनी अन्तरात्मा की प्रेरणा से ही सारा काम करते हैं; यों तो सलाह सबकी सुन लेते हैं।

उनका अन्तःकरण पवित्र और कोमल है। शील और धैर्य की मात्रा उनमें काफी है। मौन रहकर कष्ट सहते रहने की शक्ति उनके बराबर कम लोगों में होगी। वे सच्चे अर्थ में जन-जन के सुहृद् हैं। साहित्य-संसार में फैले हुए राग-द्वेष और परोत्कर्षासहिष्णुता से वे दूर रहते हैं। पुरुषत्व के वे प्रतीक हैं। उनका स्वाभिमान अखण्ड है, तो उनका विनय भी आकर्षक है। सेवा-सत्कार करनेवाले के वे खुद सेवक बन जाते हैं। जो उनके मनस्तत्त्व से ठीक परिचित नहीं हैं, वे उनको विकृत-मस्तिष्क तक कह डालते हैं। पर वस्तुतः वे सदा अपने-आप में लीन रहने के कारण बाह्यज्ञान-शून्य-से प्रतीत होते हैं। कभी-कभी अपनी चिन्तन-धारा में निमग्न रहने से वे आत्मविस्मृत-से दीख पड़ते हैं। उन्हें सँभालने के लिए उनकी प्रकृति के अनुकूल व्यक्ति चाहिए।

लोग कहते हैं कि धातुओं में ईश्वरीय विभूति कंचन में है और उसी में कलियुग का निवास भी, इसलिए जो कंचन को कौड़ी के मोल का कर देता है, उससे कंचन भी खूब बदला चुकाता है। इस समय निरालाजी से शायद कंचन ही बदला सधा रहा है। वे कंचन के किंकर कभी न रहे। अपने कंचन के भोगनेवालों को पहचानते हुए भी वे मन मैला नहीं करते। उनके पास लक्ष्मी बहुत आई, पर उसका संचय-संरक्षण उनसे न बन पड़ा; फिर भी उसका कभी तिरस्कार न करके उन्होंने सदुपयोग ही बराबर किया। उनके द्रव्य का दुरुपयोग दूसरों के द्वारा हुआ हो तो आश्चर्य नहीं। किन्तु, उनके हाथ से जब पैसे निकले, तब परोपकार-पथ के ही पथिक हुए। उनके पास या साथ रहकर कोई जरूरतमन्द नहीं रह सकता। उनका आनन्द दुःखियों के दुःख-हरण में है। इष्ट-मित्र के काम आ जाने में ही उन्हें संतोष होता है। ऐसे महाप्राण कवि की सेवा कर सकना सब के बस की बात नहीं।

अच्छा तो यह होता कि प्रयाग के जिम्मेदार साहित्य-सेवी उनके सम्बन्ध में स्पष्ट वक्तव्य प्रकाशित कर हिन्दी-प्रेमी जनता और सरकार को उनकी ठीक-ठीक दशा बतला देते। साहित्य-सम्मेलन को भी अपनी ओर से विज्ञप्ति प्रकाशित करनी चाहिए। सरकारी सहायता की रकम उनकी चिकित्सा में ठीक तरह से खर्च हो रही है या नहीं, इसकी देखभाल कोई नहीं कर सकता। स्वस्थ रहने पर तो वे अपने पैसों को शरीर की सेवा में लगाते ही नहीं, अस्वस्थता में वह कैसे संभव है। यदि हिन्दी-प्रेमियों को उनकी प्राण-रक्षा सचमुच अभीष्ट है, तो उन्हें किसी अच्छे अस्पताल के डॉक्टरों और नर्सों के संरक्षण में रखने के लिए सरकार से ही अनुरोध करना चाहिए। सरकारी सहायता की रकम यदि सरकार की ही देख-रेख में खर्च हो, तो श्रेयस्कर होगा। ऐसी व्यवस्था उत्तरप्रदेश की सरकार के लिए कोई कठिन काम नहीं है। परमेश्वर से प्रार्थना है कि 'निराला' जी शीघ्र स्वस्थ होकर पुनः हमलोगों को निश्चिंत करें।

—त्रैमासिक 'साहित्य' (पटना); वर्ष ५, अंक १; चैत्र, २०११ वि०, अप्रैल, १९५४ ई०

हिन्दी-शिष्ट-मण्डल दक्षिण-भारत की ओर—

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से एक हिन्दी-शिष्ट-मण्डल दक्षिण-भारत में सद्भावना-प्रसार के निमित्त जा रहा है। उस मण्डल में डॉक्टर अमरनाथ झा, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ० राजबली पाण्डेय, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय, श्रीदिनकरजी और श्रीगोविन्दप्रसाद केजरीवाल जानेवाले हैं। कुछ दिन पहले भी एक हिन्दी-शिष्ट-मण्डल उधर गया था। उसमें श्रीमती महादेवी वर्मा, आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय, पण्डित सीताराम चतुर्वेदी, कविवर दिनकरजी आदि सज्जन सम्मिलित थे। उस यात्रा का विवरण भी काशी के प्रसिद्ध दैनिक 'आज' में छपा था। 'आज' में दक्षिण-भारत क चिट्ठियाँ प्रायः छपती रहती हैं। उनसे यह पता लगता है कि अब धीरे-धीरे वहाँ का वातावरण हिन्दी के अनुकूल होता जा रहा है। आशा है कि नये 'मण्डल' के जो सदस्य पहले दक्षिण-यात्रा कर चुके हैं, वे अपने पिछले अनुभवों से लाभ उठावेंगे।

हम तो कभी दक्षिण नहीं गये, पर हमने अनुभवी लोगों से सुना है कि दक्षिणी भाइयों को हिन्दी के पक्ष में लाने के लिए अँगरेजी भाषा में प्रभावशाली भाषण करनेवाले ऐसे कुशल वक्ता की आवश्यकता है, जो हिन्दी-साहित्य का भी मर्मज्ञ हो और जो अहंकार-शून्य होकर हिन्दी के साहित्यिक ऐश्वर्य का परिचय दे सके। निश्चय ही इस बात की जानकारी मण्डल-सदस्यों को भी होगी।

मण्डल को वहाँ जाकर केवल राष्ट्रभाषा का महत्त्व प्रकट करना और हिन्दी-साहित्य का वैभव बखानना ही नहीं है, बल्कि राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में जो भ्रान्त धारणाएँ दक्षिणी मस्तिष्कों में बद्धमूल हो गई हैं, उन्हें निर्मूल भी करना है। साथ ही, दक्षिणी भाषाओं के साहित्य का चरमोत्कर्ष स्वीकृत करते हुए यह भी सुझाना और जँचाना है कि एकमात्र राष्ट्रभाषा के आधार से ही दक्षिणी साहित्य भारतव्यापी हो सकता है।

दक्षिणी साहित्यकारों से यह भी अनुरोध करना आवश्यक होगा कि वे राजनीति को साहित्यिक मंच अधिकृत न करने दें और मिथ्या भ्रमजाल में पड़कर राष्ट्रीय एकता की शक्ति को क्षीण न करें। दक्षिण और उत्तर के साहित्य में पारस्परिक आदान-प्रदान और भाव-विचार-विनिमय का अटूट सम्बन्ध बराबर बना रहे, इसीके लिए अथक प्रयत्न होना चाहिए। यदि कोई दक्षिणी भाषाएँ जाननेवाला सदस्य भी मण्डल में होता, तो बहुत अच्छा होता। ऐसे सज्जन उधर बहुत मिलेंगे, और विश्वास है कि मण्डल को उनका सहयोग भी प्राप्त होगा।

दक्षिण में हिन्दी की लोकप्रियता बढ़ाने के लिए केवल शिष्टमण्डल भेजने से काम न सरेगा। उत्तर से जो हिन्दी के प्रतिनिधि उधर जायें, वे यदि दक्षिणी भाषाओं में भी दक्ष हों, तो वहाँ और भी अधिक प्रभाव पड़ेगा। दक्षिण में तो हिन्दी-प्रचार काफी हुआ है और अब भी हो रहा है; पर उत्तर में ऐसी कोई संस्था नहीं, जो हिन्दीवालों को दक्षिणी भाषाएँ सिखा सके। सुनने में आया है कि प्रयाग में भारतीय हिन्दी-परिषद् की ओर से

इसी काम के लिए भाषा-विद्यापीठ खुलनेवाला है। उत्तर-भारत के प्रत्येक प्रधान केन्द्र में ऐसी संस्था की आवश्यकता प्रतीत होती है। काशी इसके लिए सर्वोत्तम केन्द्र है। वहाँ दक्षिणी अध्यापक भी आसानी से मिल सकते हैं। 'सभा' का शिष्ट-मण्डल सर्वतोभावेन सफलमनोरथ हो, यही ईश्वर से प्रार्थना है, और आशा है कि शिष्ट-मण्डल की सफलता से उत्साहित होकर 'सभा' काशी में भी दक्षिणी भाषाओं की शिक्षा का प्रबन्ध करायेगी।

आर्यभाषा-पुस्तकालय की हीरक-जयन्ती

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के आर्यभाषा-पुस्तकालय की हीरक-जयन्ती विक्रम-संवत् २०१३ में मनाई जायगी। उसके लिए 'सभा' आज से ही आयोजन करने में लग गई है। महोत्सव की एक सामान्य रूपरेखा 'सभा' की ओर से प्रचारित हो रही है। इसमें आवश्यकतानुसार नये भवन और व्याख्यान-मण्डप के निर्माण की योजना तो है ही, देश-भर के पुस्तकालयों के संगठन और विकास के प्रयास एवं उपाय करने की योजना भी है। वास्तव में सभा का यह आयोजन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें समस्त हिन्दी-जगत् का हार्दिक सहयोग अपेक्षित है।

'सभा' की योजना पाँच लाख की है। दो वर्ष में केवल हिन्दी-प्रधान प्रान्तों से ही इतनी रकम इकट्ठी हो सकती है। सभी हिन्दी-हितैषी आज से ही यथाशक्य दान देने का संकल्प कर लें, तो 'सभा' की माँग अनायास पूरी हो जायेगी। हिन्दी-पत्रकारों को भी 'सभा' के आयोजन की सफलता के लिए कृतसंकल्प होना चाहिए।

हमारा सुझाव है कि नये भवन का नाम 'भारतेन्दु-भवन' और व्याख्यान-मण्डप का नाम 'श्यामसुन्दर-मण्डप' तथा अनुशीलन-कक्ष का नाम 'रामचन्द्र शुक्ल-कक्ष' होना चाहिए। साथ ही, पुस्तकालय में उसके मूल-संस्थापक श्रीगदाधर सिंह की प्रस्तर-प्रतिमा स्थापित की जाय। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, कविवर रत्नाकर आदि ने जो अपने संग्रहालय 'सभा' को दान दिये हैं, उनमें उन महारथियों के तैलचित्र भी विभागानुसार पृथक्-पृथक् रहें। यदि 'सभा' के संचालक उचित समझें तो रामनारायण मिश्र, लाला भगवान दीन और 'प्रसाद' तथा प्रेमचन्द की स्मृति में भी एक-एक प्रकोष्ठ बनवा सकते हैं। ऐसे स्मारक हमारी श्रद्धा के प्रतीक होंगे और साहित्य-जगत् की भावी पीढ़ियों को सदैव प्रेरणा देते रहेंगे। इन कामों के लिए एक-एक दानशील व्यक्ति भी अलग-अलग धनराशि देकर अमरकीर्त्ति हो सकते हैं।

—त्रैमासिक 'साहित्य' (पटना); वर्ष ५, अंक २; आषाढ, २०११ वि०, जुलाई, १९५४ ई०

*

बिहार के दो साहित्यकारों का राष्ट्रीय सम्मान

भारत-सरकार के शिक्षा-विभाग ने बिहार के दो प्रमुख साहित्य-सेवियों को दो-दो हजार रुपये पुरस्कार देकर सम्मानित किया है। श्रीदिनकरजी को उनकी सुप्रसिद्ध

कविता-पुस्तक 'कुरुक्षेत्र' के लिए और श्रीबेनीपुरीजी को उनकी अनूठी गद्य-रचना 'माटी की मूरतें' के लिए यह पुरस्कार मिला है। हिन्दी-संसार के सात साहित्यकारों की पुस्तकें पुरस्कृत हुई हैं, जिनमें दो बिहार की हैं। यह बिहार के लिए बड़े गर्व-गौरव और आनन्दोल्लास का विषय है। अपनी उत्कृष्ट रचनाओं से बिहार को गौरवान्वित करनेवाले दोनों आदरणीय बन्धुओं का हम हार्दिक अभिनन्दन करते हैं। साहित्य-जगत् में, अपनी अनवरत साहित्य-सेवा के कारण, दोनों ही विख्यात हैं। समस्त देश में दोनों की ख्याति फैली हुई है। बिहार के बाहर भी दोनों की प्रतिष्ठा-प्राप्ति से बिहार का सिर ऊँचा हुआ है। बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के दोनों ही मान्य सदस्य हैं। दोनों की कमनीय कृतियों से हिन्दी-साहित्य समृद्ध हो रहा है। भगवान् दोनों को दीर्घायु करें कि उनकी यशस्करी प्रतिभा का प्रसाद सदैव साहित्य को मिलता रहे।

बेनीपुरी-ग्रन्थावली

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी ने अपनी ग्रन्थावली का पहला खण्ड बड़ी सजधज से स्वयं प्रकाशित किया है। उसमें उनकी छह पुस्तकें हैं—माटी की मूरतें, गेहूँ और गुलाब, लालतारा (शब्द-चित्र), पतितों के देश में, कैदी की पत्नी (उपन्यास), चिता के फूल (कहानियाँ)। सब मिलाकर लगभग छह सौ सुमुद्रित पृष्ठ हैं। प्रत्येक रचना के मार्मिक भाव का संकेत करनेवाले शीर्षकालङ्कार-चित्र प्रसिद्ध कलाकार श्रीविजयवर्गीय के अंकित किये हुए हैं। जिल्द के रंगीन आवरण का नेत्ररंजक चित्र भी उन्हीं की तूलिका का चमत्कार है। अन्त में उन उदार दाताओं की नामावली दी गई है, जो एक-एक सौ रुपये पेशगी देकर ग्रन्थावली के स्थायी ग्राहक बने हैं। ग्रन्थावली दस भागों में निकलेगी। प्रत्येक भाग का मूल्य दस रुपये होगा। दूसरा भाग भी निकट भविष्य में निकलनेवाला है। उसमें बेनीपुरीजी के नाटकों का संग्रह है। उस नाटकावली के लिए उन्होंने कुछ नये नाटक भी लिखे हैं। विश्वास है कि कथा-साहित्य की तरह वे नाटक-साहित्य में भी लब्धकीर्त्ति होंगे। ग्रन्थावली-प्रकाशन का यह विराट् आयोजन बेनीपुरीजी की उद्योगशीलता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। 'उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः' कहावत को सार्थक करके उन्होंने जो साहस प्रदर्शित किया है, वह निराश लेखकों के लिए उत्साहवर्द्धक है। कम-से-कम बिहार के निराधार लेखकों के लिए तो यह एक अनुकरणीय आदर्श है। बिहार के इस शुभ प्रयास को परमात्मा सफल करे।

—त्रैमासिक 'साहित्य' (पटना); वर्ष ५, अंक ३; आश्विन, २०११ वि०, अक्तूबर, १९५४ ई०

कैलासवासी सम्पादकाचार्य पराड़करजी !

मुक्तिधाम काशी में सम्पादकप्रवर पण्डित बाबूराव विष्णु पराड़कर का मोक्षलाभ हुआ। उनकी साहित्य-सेवा, देशभक्ति, कीर्त्ति और मृत्यु चिरस्मरणीय और स्पृहणीय है। 'आज'-सम्पादक के रूप में उन्होंने राष्ट्र और समाज की जो स्तुत्य सेवा की, वह साहित्य के इतिहास में स्वर्णवर्णाङ्कित रहेगी। राष्ट्रभाषा हिन्दी और भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा के संरक्षण और संवर्द्धन में वे सदैव तत्पर रहते थे। दैनिक 'आज' को उन्होंने सुसम्पादित मासिक पत्र के समान संग्रहणीय और मननीय बना दिया। प्रेस-कमीशन ने उनके 'आज' को एक संस्था कहा है। उनके वियोग से शोकाकुल होकर समस्त देश ने श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है। ऐसा ही मरण जीवन का आभरण है।

पराड़करजी के पिता बिहार के भागलपुर-कॉलेज में संस्कृताध्यापक रह चुके थे। स्वयं पराड़करजी ने भी भागलपुर में ही शिक्षा पाई थी। इस प्रकार बिहार से उनका ममतामय सम्बन्ध था, पर उनके हृदय में सम्पूर्ण भारत-राष्ट्र के लिए उत्कृष्ट ममता थी। उनकी कल्पना में बृहत्तर भारत का रूप था। उनकी चिन्ता का विषय मानव-जाति का हित था। मानवता के कल्याण की भावना में ही वे लीन रहते थे। किन्तु जीते-जी उनको हमलोगों ने ठीक नहीं पहचाना। उनके साथ हिन्दी-पत्रकारिता का पिछले पचास वर्ष का इतिहास चला गया। हमलोग वह साहित्यिक सम्पत्ति उनसे नहीं ले सके। अब उनके लिए शोकातुर होना व्यर्थ है। वे किसी प्रकार शोचनीय नहीं हैं। शोचनीय तो हमलोग हैं, जो उनके दिमागी खजाने से वंचित रह गये। अब भी हम उनकी लेखनी के पिरोये हुए रत्नों को बिखरकर बरबाद होने से बचावें तो उऋण हो सकते हैं।

प्रसंगवश यहाँ यह भी कहना असंगत न होगा कि श्रद्धेय गणेशशंकर विद्यार्थी के लिए भी हम केवल आँसू बहाकर ही रह गये, बल्कि उनको भूल भी गये! उनके ओजस्वी-तेजस्वी लेख साहित्य-संसार में लुप्तप्राय हैं। उनके आत्मोत्सर्ग पर महात्मा गांधी को भी ईर्ष्या हुई थी। उनके स्मारक-निर्माण की भी कुछ दिनों खूब धूम रही। किन्तु उनके प्राणप्रिय 'प्रताप' की एक पंक्ति भी आज कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। वैसा प्रतापी लेखक क्या फिर इस युग में पैदा होगा? यदि हम विद्यार्थीजी का सिरजा हुआ साहित्य सुरक्षित नहीं रख सके, तो कैसे आशा की जाय कि पराड़करजी की साहित्य-सम्पदा हम बचा लेंगे। चर्चा तो इस समय भी स्मारक की हो रही है। किन्तु साहित्यस्रष्टा का सच्चा स्मारक तो उसके रचे हुए साहित्य का प्रकाशन ही हो सकता है।

हम लोग सुनते तो हैं कि 'मराठा केसरी' में छपे लोकमान्य तिलक के सभी सम्पादकीय लेख ग्रन्थाकार में प्रकाशित हो गये और बंग-साहित्य-सम्राट् बंकिमचन्द्र के मासिक 'बंगदर्शन' के सभी अंकों के पुनर्नवीन संस्करण भी निकल गये; पर तब भी

हमलोगों को कुछ प्रेरणा नहीं मिलती। यदि पराड़करजी की अगली वर्षी पर उनकी सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थावली से ही श्रद्धाञ्जलि अर्पित की जायगी, तो निश्चय ही उनकी दिवंगत आत्मा को वास्तविक तृप्ति और शान्ति प्राप्त होगी। तथास्तु।

बिहार के दो स्वर्गीय साहित्यसेवी

पुराने साहित्यसेवी क्रमशः बिहार के धराधाम से उठते जा रहे हैं। मन में यह प्रश्न भी उठने लगता है कि उनके स्थान की पूर्ति अब होगी या नहीं। श्रीपारसनाथ-सिंह और श्रीरघुवीर नारायण के स्वर्गारोहण से जो स्थान रिक्त हुए हैं, उनकी पूर्ति निकट भविष्य में होनेवाली नहीं नजर आती। कहने की इच्छा तो यह होती है कि पुराने महानुभाव सदा के लिए अपनी जगह खाली कर गये।

श्रीपारसनाथसिंह एक बहुश्रुत विद्वान् थे। पत्रकार, इतिहासकार, शैलीकार, निबन्धकार और ज्योतिर्विद्याविशारद तो वे थे ही, मनुष्य बहुत ऊँचे दर्जे के थे। विद्वत्ता और मनुष्यता के संयोग से उनका व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली था। अपनी विलक्षण मेधाशक्ति के बल से उन्होंने यश और सम्मान के साथ धन भी काफी कमाया। उनकी पुण्यस्मृति में 'सर्चलाइट' और 'प्रदीप' (पटना) तथा 'लीडर' और 'भारत' (प्रयाग) के जो स्मारक-अंक निकले, उन्हें देखकर उनकी लोकप्रियता और बहुमुखी प्रतिभा का जो प्रशस्त परिचय मिला, वह बिहार के लिए वस्तुतः गर्व-गौरव का विषय है। परमात्मा उनकी दिवंगत आत्मा को आत्मसात् करें।

श्रीरघुवीर नारायणजी अपने 'बटोहिया' नामक लोकगीत के लिए बहुत विख्यात थे। भोजपुरी-भाषा के उस एक ही गीत ने उनको अमर बना दिया। किसी समय उस देशानुरागपूर्ण गीत की मधुरिमा देश-देशान्तर के सुविस्तृत, भोजपुरी क्षेत्र के वायुमण्डल में व्याप्त होकर दिशाओं को सुरभित-मुखरित करती रही। सन् १९१२ ई० में जब भारतीय काँगरेस का महाधिवेशन पटना में हुआ था, तब उन्हीं का रचा हुआ 'भारत-भवानी' नामक राष्ट्रीय गीत 'वन्देमातरम्' के स्थान पर गाया गया था। उनके ये दोनों गीत उस युग के जन-जन के कण्ठ में बसे हुए थे। ये गीत विदेशों के प्रवासी भारतीयों में भी प्रचलित हो गये थे। कविताएँ तो उन्होंने और भी लिखीं, पर ये दो ही गीत सहृदय-समाज में उनके सम्मान के कारण हुए। विद्वद्वर पं० रामावतार शर्मा, पं० अम्बिकादत्त व्यास और बाबू शिवनन्दन सहाय उनके काव्य-गुरु थे। इन्हीं तीनों से उन्हें काव्य-साहित्य की शिक्षा-दीक्षा मिली थी। वास्तव में तो वे अँगरेजी के बड़े उद्भट कवि थे। उनकी अँगरेजी-कविताओं पर बड़े-बड़े अँगरेज विद्वान् भी मुग्ध हो चुके थे। उस समय (सन् १९०५ ई०) के इंगलैण्ड के राजकवि (पोयट लारियट) अलफ्रेड आष्टिन ने उनकी एक अँगरेजी-कविता (ए टेल ऑव बिहार) की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। उनकी अँगरेजी-कविता-पुस्तकें यदि कभी छप सकेंगी, तो इसमें सन्देह नहीं कि उनकी प्रतिभा का चमत्कार गुणग्राहियों को चकित किये बिना न रहेगा। उनसे आत्मकथा लिखवाने का हम साग्रह प्रयत्न करते रह गये, पर वे संकोचवश लिख न सके। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति दें।

यह परम सन्तोष का विषय है कि दोनों ही सज्जन, दिवंगत होने से पूर्व, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा पुरस्कृत हो चुके थे। श्रीपारसनाथसिंह को उनके 'जगतसेठ' नामक एतिहासिक ग्रन्थ पर एक हजार रुपये का, पुरस्कार मिला था और रघुवीर बाबू को डेढ़ हजार का वयोवृद्ध-सम्मान-पुरस्कार। ईश्वरेच्छया पुरस्कार की सार्थकता सिद्ध हो गई।

—त्रैमासिक 'साहित्य' (पटना); वर्ष ५, अंक ४, पौष, २०११ वि०, जनवरी, १९५५ ई०

*

हिन्दी में पत्र-साहित्य की कमी

हिन्दी में कुछ उपन्यास और कहानियाँ तो पत्रव्यवहार के रूप में हैं, पर साहित्यिकों के पत्रों के संग्रह नहीं हैं। पत्र-पत्रिकाओं में कभी-कभी साहित्यिक पत्र छप जाते हैं, पर पुस्तक के रूप में पत्र-संग्रह नहीं दीख पड़ते। इधर पूज्य आचार्य द्विवेदीजी की पत्रावली का प्रकाशन पुस्तकाकार में हुआ है, पर अभी ऐसे पत्र-संग्रहों की और भी आवश्यकता है।

उर्दू में पत्र-साहित्य-सम्बन्धी दर्जनों अच्छी पुस्तकें हैं। अन्य प्रमुख भारतीय भाषाओं में भी हैं। उनमें से चुने हुए पत्र-संग्रहों के अनुवाद भी हिन्दी में निकाले जा सकते हैं। अँगरेजी-साहित्य से भी इस विषय की उपयोगी सामग्री संकलित की जा सकती है। किन्तु, अनुवादमात्र से वह उद्देश्य नहीं सिद्ध हो सकता, जो मौलिक पत्रों से होगा।

जो मौलिक साहित्यिक पत्र अबतक पत्र-पत्रिकाओं में जहाँ-तहाँ छप चुके हैं, उनका भी क्रमबद्ध संग्रह निकल जाय, तो अनेक ज्ञातव्य साहित्यिक बातें प्रकाश में आ सकती हैं। समर्थ प्रकाशकों को इधर ध्यान देना चाहिए। प्रकाशित होने से पहले, पत्रों का चुनाव साहित्यिक महत्त्व की दृष्टि से होना आवश्यक है।

हिन्दी में कई साहित्यसेवी अच्छे पत्र-लेखक हो गये हैं। कुछ तो आज भी हैं। उन सबके पत्रों के संग्रह का यदि शीघ्र उद्योग न हुआ, तो जैसे आत्मकथा और संस्मरण न लिखवाने से स्वर्गीय वयोवृद्धों के साथ साहित्यिक-परम्परा का इतिहास लुप्त हो गया, वैसे ही कुछ दिनों में यत्र-तत्र बिखरे पड़े पत्र-साहित्य का भी लोप हो जायगा। हमारी ही असावधानता से अबतक असंख्य अमूल्य पत्र नष्ट हो चुके। अब भी यदि प्रयत्न किया जाय, तो संग्रहणीय सामग्री प्राप्त हो सकती है।

पत्रों में लेखक की स्वाभाविक लेखन-शैली के दर्शन होते हैं। यदि कुछ मूल पत्रों के ब्लॉक बनवाकर छापे जायँ, तो लेखक की हस्तलिपि भी युगों तक सुरक्षित रह सकती है। उर्दू के साहित्यिक पत्रों के अनुवाद की भी आवश्यकता नहीं। उनका तो नागराक्षरों में रूपान्तर कर देना ही पर्याप्त होगा। इससे भाषा-शैली की साहित्यिक मौलिकता एवं विशेषता सुरक्षित रह जायगी। कुछ क्लिष्ट शब्दों का सरलार्थ दे देने से काम चल जायगा। विशेष स्थलों पर, प्रसंगों के स्पष्टीकरण के लिए, सुबोध टिप्पणियों की भी आवश्यकता होगी। पत्र-लेखक का संक्षिप्त परिचय तो अनिवार्य ही होगा। अनुवादित पत्र-संग्रहों में भी इन बातों की ओर ध्यान देना पड़ेगा।

सुनते हैं कि पण्डित बनारसीदासजी चतुर्वेदी के पास अनेक महत्त्वपूर्ण पत्रों का खासा संग्रह है। यदि पता लगाने की धुन हो, तो बहुत-से साहित्यिक पत्र मिल सकते हैं। कुछ तो कई संग्रहालयों में मिल जायँगे और कुछ मिलेंगे पत्र-पत्रिका-सम्पादकों से। पत्र-पत्रिकाओं में इस विषय का आन्दोलन करने से विशिष्ट पत्रों के संग्रह की प्रवृत्ति लोगों में बढ़ेगी। साहित्यिक समस्याओं पर अधिकारी विद्वानों से पत्राचार करने की प्रथा भी चलाई जा सकती है। पूंजीदार प्रकाशक यदि इस दिशा में कदम आगे बढ़ावें, तो हिन्दी-पाठकों में एक नई रुचि पैदा होगी।

प्रेम-पत्रों के आधार पर रसात्मक रचनाएँ भी प्रस्तुत की जा सकती हैं। प्राचीन संस्कृत-साहित्य में इसके लिए काफी मसाला मिलेगा। शकुन्तला, रुक्मिणी, दमयन्ती आदि की कथाएँ पत्रात्मक काव्य की आधारशिला बन सकती हैं। यदि संयत भाव से लिखे जायँ, तो भगवान् कृष्ण के नाम गोपियों के पत्र बड़े मर्मस्पर्शी हो सकते हैं। इस तरह अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक प्रसंग हैं, जिन पर गद्य या पद्य में पत्र-साहित्य तैयार हो सकता है।

किन्तु, काल्पनिक रचनाओं से वास्तविक पत्रों का मूल्य कुछ और ही होगा। असली पत्र भी वही प्रकाशित किया जाय, जिसकी मूल प्रति कहीं ऐसी जगह सुरक्षित हो, जहाँ कोई देखना चाहे, तो आसानी से देख सके, नहीं तो वर्त्तमान युग के साहित्य-संसार में बड़ी धांधली मचेगी। जबतक पत्र की प्रामाणिकता विश्वसनीय न होगी, तबतक पत्र न आकर्षक होगा, न प्रभावशाली।

हिन्दी में यात्रा-सम्बन्धी पत्रात्मक साहित्य भी कुछ है। उसकी वृद्धि बहुत थोड़े प्रयास से हो सकती है। उसके विकास और विस्तार में पैदल तथा नाव, रेल, जहाज, मोटर आदि से यात्रा करनेवाले सैलानी लेखक सहायक हो सकते हैं। विदेश-यात्रा के अनुभव भी कुछ पत्रों के रूप में लिखे गये हैं, जो सचमुच बड़े रोचक हैं; पर वैसे अनेक प्रकार के और विभिन्न क्षेत्रों के अनुभव जब पत्र के रूप में हिन्दी को प्राप्त होंगे, तब कहीं उसका पत्र-साहित्य सर्वाङ्गसुन्दर हो सकेगा। तथास्तु।

जमीन्दारियाँ और लाइब्रेरियाँ

हमारी सरकार ने अधिकांश जमीन्दारियों को अधिकृत कर लिया है। अखबारों से पता चलता है कि जमीन्दारों के फालतू मकानों को भी लोकहितार्थ अधिकृत करने के विषय में कोई समझौता होनेवाला है। तब तो जमीन्दारों के संरक्षण में जो पुस्तकालय थे, उनको भी सरकारी संरक्षण में लेने का समझौता होना चाहिए। इससे राष्ट्र की बहुत-सी अमूल्य साहित्यिक सम्पत्ति सुरक्षित हो जायगी।

कई जमीन्दारों के घरेलू पुस्तकालय बड़े महत्त्व के हैं। संभव है कि जमीन्दारी उठ जाने से वे अपने पुस्तकालय की रक्षा एवं व्यवस्था न कर सकें। इसलिए सरकार को देश की साहित्य-सम्पदा के बचाने में तत्पर होना चाहिए। यदि जमीन्दार किसी कारण पुस्तकालय का मोह न छोड़ सकें, तो आवश्यकतानुसार सरकारी सहायता लेकर उसका

सार्वजनिक उपयोग होने दें। किन्तु, जो ऐसा न कर सकें, वे सरकार के राजकीय पुस्तकालय में अपने नाम से एक संग्रह-कक्ष खुलवा सकते हैं। चाहे जैसे हो, पुस्तकालयों की रक्षा ही अभीष्ट है।

हजारों रुपये की उपयोगी पुस्तकों से भरे हुए पुस्तकालय वास्तव में देश और समाज के रक्षणीय धनकोष अथवा ज्ञानकोष हैं। रियासतों और जमीन्दारियों के मिट जाने से कई तरह की लोकहितकर संस्थाएँ अनाथ हो गई हैं—यद्यपि उनकी क्षतिपूर्त्ति दूसरी तरह से होती जा रही है; पर पुस्तकालयों के नष्ट हो जाने पर उनके अभाव की पूर्त्ति किसी प्रकार न हो सकेगी; क्योंकि उनमें बहुत-से प्राचीन अलभ्य ग्रन्थ हैं, जो अनुसन्धायकों के शोधकार्य में सहायक हो सकते हैं। किन्तु अब वे कुछ ही दिनों के मेहमान हैं। यदि उनकी रक्षा में विलम्ब हुआ, तो देश की बड़ी भारी साहित्यिक हानि होगी। राज्य-पुस्तकालय-संघ को भी इधर ध्यान देना चाहिए।

विद्याव्यसनी राजा-रईसों और संग्रही साहित्यिकों के बहुत-से पुस्तकालय कुपात्रों के हाथ में पड़कर नष्टभ्रष्ट हो चुके, जिनमें साहित्य-जगत् की ऐतिहासिक परम्पराएँ और कितनी ही अमूल्य निधियाँ लुप्त हो गईं। यदि देश तथा समाज के लोग उनकी सुरक्षा एवं सुव्यवस्था की चिन्ता करते, तो आज साहित्य के इतिहास का रूप कुछ और ही होता। आज भी अनेक अच्छे पुस्तकालय उपेक्षित एवं अरक्षित दशा में पड़े हुए हैं; पर कोई उनकी ओर ध्यान नहीं देता है। पुस्तकालयों के हितार्थ आवश्यक विधान बनना चाहिए। विधान-सभाओं के सदस्य चाहें, तो सरकार को सुझाव दे सकते हैं। पुस्तकालय को राष्ट्रीय सम्पत्ति समझना जनता का भी कर्त्तव्य है। यदि जनता सजग होती, तो आज तक असंख्य ग्रन्थ-भाण्डार हमारे देश का गौरव बढ़ाते होते। अब भी जो कुछ शेष है, उसकी रक्षा के लिए जनता को ही तत्पर होना है। जमीन्दारों की प्रजा अब सरकारी प्रजा हो गई। वह सरकार से अनुरोध कर सकती है कि जमीन्दारी पुस्तकालयों को सरकारी संरक्षण प्राप्त होना आवश्यक है।

मातृभाषा के प्रेम की बाढ़

भारत के स्वतंत्र होने के बाद 'मातृभाषा' के प्रेम की भयंकर बाढ़ से समस्त राष्ट्र परिप्लावित हो उठा है। अब माने-जाने विद्वान् भी स्वच्छन्दतापूर्वक कहने का साहस करते हैं कि प्रारम्भिक शिक्षा का माध्यम 'मातृभाषा' ही हो। जबतक अँगरेजों का अंकुश सिर पर था, तबतक वे कभी ऐसा साहस नहीं दिखाते थे। अँगरेजों के आतंक से बड़े-बड़े मातृभाषा-भक्त भी अँगरेजी के खिलाफ आवाज उठाने की हिम्मत नहीं करते थे। हाँ, भारत के कुछ तेजस्वी सपूतों ने, राजनीतिक लक्ष्य की सिद्धि के लिए, आवाज बुलन्द भी की, तो अँगरेजी का पाया न हिल सका। आज भी, अँगरेजों का राज चला गया, अँगरेजी का राज कायम है। इतने पर भी स्वदेशाभिमान प्रकट करने में हम नहीं सकुचाते !

देश के एक कोने से आवाज आ रही है कि अँगरेजी की आयु अभी और पन्द्रह वर्ष बढ़ाई जाय ! राजनीति के आचार्य होने का दावा करनेवाले लोग अखिलभारतीय सरकारी नौकरियों की प्रतियोगिता-परीक्षा में भी हिन्दी को माध्यम नहीं होने देना चाहते। देशभक्ति के गर्व में यह धमकी भी दी जा रही है कि जबरदस्ती हिन्दी लादने पर राष्ट्रीय एकता भंग हो जायगी। यहाँ तक कि भारत की कुछ प्रादेशिक भाषाओं की तुलना में हिन्दी को हेय सिद्ध करने का दुस्साहस भी दिखाया जा रहा है। यह देश का घोर दुर्भाग्य है। यह भारतीयता अथवा राष्ट्रीयता का लक्षण नहीं है। यह महात्मा गांधी के सिद्धान्त का हनन और देश की एकता के नाश का उपक्रम है।

आजादी से पहले अँगरेजी के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा करनेवालों के तर्क में तो दम-खम भी होता था, मगर आज हिन्दी के विरोधियों के तर्क में तो न कोई युक्ति है, न दूरदर्शिता। किसी भाषा के साथ हिन्दी कभी होड़ नहीं करती। सभी भगिनी भाषाओं से वह स्नेह और सद्भाव रखती है। प्रान्तीय भाषाएँ भी उसका सहारा पाकर भारतव्यापिनी बन गई हैं। तब भी उसके विरोध में हठ और द्वेष का प्रदर्शन हो रहा है। यह दुःख और चिन्ता की बात है। जो लोग विदेशी शासन में हिन्दी को सार्वदेशिक एकता का आधार कहते और मानते थे, वे आज स्वदेशी शासन में एक उन्नत भाषा के प्रति साधारण शिष्टता का भी निर्वाह नहीं करते। किसी भाषा और उसके साहित्य की शान के खिलाफ अपमानजनक बातें कह डालना विद्वान् या साहित्यकार के लिए सुशोभन नहीं है।

अहिन्दीभाषी क्षेत्रों के लोग यदि अपनी प्रान्तीय भाषा को शिक्षा और राजकाज का माध्यम मानकर राष्ट्रभाषा हिन्दी को राष्ट्रीय व्यवहार का साधन स्वीकार करते हैं, तो उनकी बात कुछ दूर तक समझ में आती है; पर हिन्दी-प्रधान प्रदेशों के लोग जब हिन्दी के स्थान पर लोकभाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने का दुराग्रह करते हैं, तब उनकी लचर दलीलों पर बड़ी ग्लानि होती है। जब समस्त राष्ट्र के लिए अँगरेजी ही शिक्षा का माध्यम थी, तब क्षेत्रीय भाषाओं के हिमायती कभी 'मातृभाषा' का सपना भी नहीं देखते थे। आज अपनी सरकार की छत्रच्छाया में भाषाधार-प्रान्त निर्माण के लोभ या मोह से 'मातृभाषा' का प्रेम उमड़ आया है। मातृभाषा के प्रेम में यह अचानक उबाल निष्प्रयोजन नहीं है। इसके भीतर गंभीर कारण है।

खेद है कि स्वतंत्रता मिलने के बाद मातृभाषा का अर्थ संकुचित हो गया है। उसके साथ ही मातृभूमि का अर्थ भी सिकुड़ गया है। पराधीनता की दशा में हम भारतभूमि को मातृभूमि मानते थे, अब किसी छोटे सूबे या जिले को मानने लग गये हैं। दासता के युग में मनुष्य-गणना के समय हमने हिन्दी को मातृभाषा माना था, आज स्वाधीन होकर हम भोजपुरी या अपनी किसी क्षेत्रीय भाषा को मातृभाषा कहकर अनर्थ की सृष्टि करते हैं। यदि हमारी मातृभूमि भारत है, मगध नहीं, तो हमारी मातृभाषा हिन्दी ही है, मगही कदापि नहीं। अतः कम-से-कम हिन्दी-प्रधान प्रान्तों में तो राष्ट्रभाषा हिन्दी को

आरम्भ से ही शिक्षा का माध्यम होना चाहिए, भोजपुरी या अवधी या किसी अन्य क्षेत्रीय भाषा को नहीं। हिन्दी-प्रदेशों की कोई क्षेत्रीय भाषा हिन्दी से अधिक सरल नहीं है। प्रारम्भिक शिक्षा में भी हिन्दी-भाषा और उसकी देवनागरी-लिपि, क्षेत्रीय भाषाओं और उनकी लिपियों से, सुगम एवं सुबोध ही प्रमाणित होगी। आश्चर्य है कि गुलामी में तो बच्चों के लिए भी अँगरेजी आसान थी और आजादी में अपनी संस्कृत-हिन्दी कठिनतम हो गई है।

किसी क्षेत्रीय अथवा प्रान्तीय भाषा से हिन्दी का विरोध नहीं है। वह तो बोलियों और भाषाओं के विकास तथा विस्तार-प्रसार में सहायक सिद्ध हो रही है। लोकभाषाओं के साहित्य का उद्धार और परिष्कार तथा प्रचार करने में वह सदा सजग और तत्पर है। लोकसाहित्य के संग्रह एवं प्रकाशन की दिशा में भी वह प्रगतिशील है। लोकभाषाओं के उपयोगी शब्दों, मुहावरों, कहावतों, गीतों आदि को वह साहित्यिक सम्मान देती चल रही है। वह तो किसी तरह किसी भाषा की उन्नति में बाधा नहीं पहुँचाती। फिर भी उसको अपदस्थ करने की नीयत से मातृभाषा-प्रेम का प्रदर्शन किया जा रहा है। यह प्रवृत्ति देश के एकता-सूत्र को छिन्न-भिन्न करनेवाली है। कोटि-कोटि जनता जिस भाषा को बोलती-समझती है, उसके स्वाभाविक अधिकार की उपेक्षा करके सीमित क्षेत्र की भाषा को आश्रय देना अपने विशाल राष्ट्र की धज्जियाँ उड़ाना है। यदि सचमुच राष्ट्रभाषा हिन्दी को वही स्थान देना है, जो अँगरेजी का था या अभी तक है, तो आरम्भ से ही शिक्षा का माध्यम उसे बनाना चाहिए। तभी देश का सामूहिक विकास और उत्थान होगा, नहीं तो वह टुकड़ों में बँटकर शक्तिहीन और निस्तेज हो जायगा। केवल हिन्दी ही समग्र राष्ट्र को सूत्रबद्ध करके समुन्नत और गौरवशाली बनाने में समर्थ है।

—मासिक[1] 'साहित्य' (पटना); वर्ष ६, अंक १, चैत्र, २०१२ वि०, अप्रैल, १९५५ ई०

काशी का सार्वभौम संस्कृत-प्रचार-कार्यालय

राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रकृत स्वरूप और भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए संस्कृत-प्रचार परमावश्यक है। संस्कृत-ज्ञान के बिना भारतीयता नहीं टिक सकती। इस युग में हिन्दी के माध्यम से ही संस्कृत-प्रचार हो सकता है। यह काम उपर्युक्त संस्था बड़ी लगन से कर रही है। साहित्याचार्य वासुदेव द्विवेदी, वेदशास्त्री उसके संचालक और व्यवस्थापक हैं। घर बैठे संस्कृत सीखनेवालों के लिए उन्होंने कई उपयोगी पुस्तकें प्रकाशित की हैं। संस्कृतानुरागी उनसे लाभ उठा सकते हैं। किन्तु, संस्कृत के श्लोकों का हिन्दी में सरलार्थमात्र प्रकाशित करने से ही काम न सरेगा। जैसे गोरखपुर के गीता

---

१. छठे वर्ष (१९५५ ई०) में त्रैमासिक 'साहित्य' मासिक रूप में निकला था। —ले०

प्रेस की सटीक 'गीता' में प्रत्येक श्लोक का अर्थ, पदान्वय के अनुसार, स्पष्टता से समझाया गया है, वैसी ही सुबोध हिन्दी-टीका संस्कृत-ग्रन्थों की निकलनी चाहिए। रामायण, भागवत, महाभारत, महाकाव्यों आदि की वैसी ही टीकाएँ खण्डशः प्रकाशित करने से संस्कृत-प्रचार में सफलता हो सकती है।

हिन्दी में शोध-सम्बन्धी कठिनाइयाँ

हिन्दी के जो विद्वान् साहित्यिक विषयों में खोज करना चाहते हैं, उनके सामने अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। खोज के काम में पुरानी पत्रिकाओं के अंकों की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु, पुराने और प्रसिद्ध पुस्तकालयों में भी पुरानी फाइलें नहीं मिलतीं। शोधकार्य में पुस्तकों के प्रथम संस्करण की सहायता अमूल्य होती है। पर, किसी अच्छे पुस्तकालय में भी प्रथम संस्करण की पुस्तकें नहीं मिल पातीं। साहित्यिक शोधों में दैनिक और साप्ताहिक पत्रों की आवश्यकता भी अनुभूत होती है। परन्तु, इनका क्रमबद्ध संग्रह तो कहीं भी सुलभ नहीं। अस्तङ्गत पत्र-पत्रिकाओं में बहुमूल्य शोध-सामग्री भरी पड़ी हैं, पर सार्वजनिक पुस्तकालयों में अधिकांशतः वे भी दुर्लभ हैं। कुछ लोगों के घरेलू पुस्तकालय में समाधिस्थ पत्र-पत्रिकाएँ अरक्षित दशा में देखी जाती हैं, पर वे शोधकर्त्ताओं के लिए अप्राप्य हैं। इन कारणों से हिन्दी में साहित्यिक शोध का काम अधूरा रह जाता है। हिन्दी-संसार में किसी ऐसे एक भी पुस्तकालय का पता नहीं है, जहाँ आज तक की प्रकाशित सभी पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं का अखण्ड संग्रह हो। साहित्य-जगत् के अनुसंधायकों के लिए यह स्थिति अत्यन्त निराशाजनक है। खेद है कि इस स्थिति के सुधार का कोई संगठित प्रयास आज भी नहीं हो रहा है।

अँगरेजी में हिन्दी-ग्रन्थमाला की आवश्यकता

हिन्दी के सम्बन्ध में अँगरेजी के विद्वानों के विचार सुनकर बड़ा क्लेश होता है। किन्तु, यह क्लेश तबतक बराबर होता ही रहेगा, जबतक उनके विचारों में परिवर्त्तन करने का प्रयत्न नहीं किया जाता। यह प्रयत्न शीघ्र ही होना चाहिए। यदि हिन्दी के चुने हुए ग्रन्थों का प्रामाणिक अनुवाद अँगरेजी में प्रकाशित किया जाय, तो अँगरेजीदाँ लोगों में हिन्दी की प्रतिष्ठा बढ़ सकती है। यह काम किसी एक प्रकाशक का नहीं है। इसके लिए एक स्वतन्त्र प्रकाशन-संस्था की आवश्यकता प्रतीत होती है। ग्रन्थों का चुनाव और अनुवाद एक विद्वत्समिति द्वारा होना चाहिए। यदि कोई समर्थ प्रकाशक भी इस दिशा में अग्रसर होने का साहस करे, तो वह कभी घाटे में नहीं रहेगा। हिन्दी-पुस्तकों से अँगरेजी-पुस्तकों की बिक्री अधिक ही होगी। यह व्यवसाय लाभदायक सिद्ध होगा। सबसे पहले हिन्दी-साहित्य का विस्तृत इतिहास अँगरेजी में निकलना चाहिए। यों तो प्रमुख भारतीय भाषाओं में भी ऐसा ग्रन्थ निकले, तो लाभ ही होगा। तभी अहिन्दी-भाषियों की आँखें खुलेंगी और भ्रान्त धारणाएँ बदलेंगी।

साहित्यिक भाषणों का संग्रह

हिन्दी-संसार की अनेक साहित्यिक संस्थाओं के वार्षिकोत्सवों तथा विशेषाधिवेशनों के अवसर पर जो महत्त्वपूर्ण भाषण होते हैं या हो चुके हैं, उनका संग्रह न होने से साहित्य

का बड़ा अपकार होता है और हो रहा है। अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनों के सभापतियों एवं स्वागताध्यक्षों के भाषणों का सुसम्पादित संग्रह प्रकाशित होने से हिन्दी-क्षेत्र का क्रमबद्ध साहित्यिक इतिहास एक नजर में देखा जा सकता है। स्वागत-भाषणों में स्थानीय साहित्यिक प्रगति का विवरण रहा करता है। उनसे अनुसन्धायकों को काफी सहायता मिल सकती है। यदि संग्रह-ग्रन्थ के बृहदाकार होने का भय हो, तो सभापतियों और स्वागताध्यक्षों के भाषणों से मुख्यांशमात्र संकलित करके प्रकाशित किया जा सकता है। असंख्य सम्मेलनों और परिषदों के अमूल्य भाषण आज सर्वथा दुष्प्राप्य हैं। अनेक साधक साहित्यकारों के भावोद्‌गार और विचार आज हमारी आँखों से ओझल हैं। साहित्य-भाण्डार की अपार सम्पत्ति हमारी उदासीनता और असावधानता से नष्ट होती जा रही है। आश्चर्य है कि उसकी रक्षा की चिन्ता भी कोई नहीं करता !

—मासिक 'साहित्य' (पटना); वर्ष ६, अंक २-३, वैशाख-ज्येष्ठ, २०१२ वि०,
मई-जून १९५५ ई०

साहित्य और गाय

भारतवर्ष में साहित्य और गाय का सम्बन्ध बहुत पुराना है। प्राचीन भारतीय साहित्य के अध्ययन-मनन से यह रहस्य स्पष्ट प्रकट होता है। हमारा पुराना साहित्य जिन साधकों द्वारा सिरजा गया है, उनका मस्तिष्क गव्य पदार्थ से ही पुष्ट हुआ था।

यह मानी हुई बात है कि भोजन का प्रभाव मनुष्य के विचार और आचरण पर अवश्य पड़ता है। गाय का दूध-दही-घी निस्सन्देह सात्त्विक भोजन है। आजकल वह प्रायः दुर्लभ-सा हो गया है। इसी कारण आज के साहित्य का बहुलांश वजनदार और टिकाऊ नहीं जान पड़ता।

पहले देश में जंगल और गोचर-भूमि की कमी नहीं थी। गायें नित-नूतन घासें चरती थीं। उन घासों में जड़ी-बूटियाँ भी रहती थीं। अतः गोदुग्ध अत्यन्त लाभदायक होता था। गोचारण की सुविधा होने से गोपालन में विशेष कठिनाई नहीं थी। गोदुग्ध सर्वजन-सुलभ था। गाँवों में तो पहले दूध की बिक्री ही नहीं होती थी।

किन्तु, आज की गायों को, शहर में या देहात में, प्रायः शुद्ध और पुष्टिकर चारा नहीं मिलता। जूठी और गन्दी चीजें खाते रहने से उनका दूध दूषित हो जाता है। आज भी जंगल और हरे-भरे मैदान में चरनेवाली गायों के दूध से ग्राम-नगर के गली-कूचे में लत्ता-पत्ता चबाती फिरनेवाली गायों के दूध की कोई तुलना नहीं। आज के अधिकांश साहित्यकार अधिकतर नगरों में ही रहते हैं। अतः मस्तिष्क-पोषण का सर्वोत्तम

साधन गोदुग्ध-घृत उन्हें प्राप्त नहीं होता। सामूहिक स्थिति यही है, व्यक्तिविशेष को प्राप्त भी हो, तो उसका कोई महत्त्व नहीं।

भारतीय साहित्यकार की मेधा अथवा प्रतिभा विशेषत: निर्मल दूध और फलों के रस से ही पुष्ट होती थी। समस्त आर्ष साहित्य की सृष्टि तपोवनों में ही हुई थी, जहाँ गाय के दूध और कन्द-मूल-फल का बाहुल्य था। वह दूध वास्तव में अमृत-तुल्य गुणद होता था। फलों का रस तो प्राणपोषक और ओज-तेज-वर्द्धक है ही। किन्तु, आज के साहित्यकार को वह अमृत नसीब नहीं है; फलों का रस तो शायद सौ में एक को ही सुलभ हो।

जबतक गाय के दूध-दही-घी और कन्द-मूल-फल से भारतीय साहित्यकार की तुष्टि-पुष्टि होती रही, तबतक जो साहित्य बना, वह आज भी प्राणवान् है। वह सदियों को लाँघता हुआ आ रहा है, फिर भी शिथिल और निस्तेज नहीं है। आज का अधिकांश साहित्य ऐसा नहीं नजर आता जो युगों की सीमाएँ पार करके भी सजीव और समर्थ बना रहेगा। केवल दालदा, चाय और अण्डे के बल पर ठोस साहित्य बन भी नहीं सकता।

हम अपने जिस पुराने साहित्य पर गर्व-गौरव का अनुभव करते हैं और जिस पर हमारे देशवासियों का सांस्कृतिक जीवन आश्रित है, उसकी आधार-शिला गाय ही है। इसीलिए, हमारा पुराना साहित्य गाय के गुणगान से भरा हुआ है। हमारे पूर्वजों ने तो 'गोब्राह्मणहिताय' ईश्वरावतार तक माना है। हमारे धार्मिक साहित्य में गाय के रोम-रोम में विविध देवताओं की कल्पना की गई है। उसके मूत्र और गोबर को आयुर्वेद ने परम गुणकारी माना है। उसके संसर्ग और सेवन से अनेक रोगों के नाश का विधान भी पाया जाता है।

विचारपूर्वक देखने पर सूझ पड़ेगा कि भारत में गाय सचमुच एक सांस्कृतिक पशु है। भारतीय संस्कृति से उसका घना सम्बन्ध पदे-पदे दृष्टिगोचर होता है। मनुष्य के पालन-पोषण में ही नहीं—बुद्धि-विवर्द्धन में भी उसकी अनिवार्य सहायता एवं उपयोगिता का मूल्याङ्कन करके ही उसे माता की पदवी दी गई है। यदि कृषिप्रधान देश में वह सर्वथा अवध्य मानी गई है, तो यह भी कोई आश्चर्य की बात नहीं। आश्चर्य तो यह है कि भारतीय साहित्य के निर्माण में उसका योगदान आज कम ही लोग मानेंगे।

इस वैज्ञानिक युग के पाठक सहसा इस तथ्य पर भी विश्वास न करेंगे कि तामसी भोजन से तमोगुणी प्रकृति बनती है और तामसी प्रवृत्तियों की प्रेरणा से तैयार हुआ साहित्य चिरन्तन नहीं होगा। यह बात हास्यास्पद प्रतीत होती हुई भी बावन तोले पाव रत्ती ठीक है कि शाश्वत साहित्य की सृष्टि के लिए सतोगुणी प्रकृति एवं सत्प्रवृत्ति ही आवश्यक है। वह सात्त्विक तत्त्व मनुष्य को गाय से ही मिल सकता है।

साहित्य की प्राणवत्ता कायम रखने के लिए ही हमारे पुराकालीन साहित्य में गोपालन-विधि पर विशेष बल दिया गया है। शुद्ध अन्न-जल और पवित्र चारा पानेवाली गाय के दूध में जो पौष्टिक तत्त्व होते हैं, वे उपेक्षिता गाय के द्रव्य में कदापि नहीं हो सकते।

आज का साहित्यकार न तो गो-पालन में समर्थ है और न वह सुविधा से गो-द्रव्य ही पा सकता है। ऐसी स्थिति में उसके मस्तिष्क का पोषण जिन अनिष्ट पदार्थों से होगा, उनका असर उसके भाव-विचार पर पड़ना स्वाभाविक है।

यदि प्रयोग के तौर पर कहीं प्रकृति की गोद में कोई साहित्यिक आश्रम स्थापित किया जाय, जहाँ विशुद्ध गव्य पदार्थ और फल-फूल की प्रचुरता एवं सुलभता हो, और वहाँ के शान्त वातावरण में रहकर चिन्तन-अनुशीलन करते हुए साहित्यकार मनोयोगपूर्वक साहित्य-रचना करें, तो निश्चय ही साहित्य का कायाकल्प हो सकता है। आज के हमारे कितने ही प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार अमर साहित्य के निर्माण में समर्थ हैं, परन्तु प्रतिभा के पोषक तत्त्व के अभाव में उनकी शक्ति क्षीण हो रही है। वनस्पति घृत से वह शक्ति प्रबल न होगी।

साहित्य और चरित्र

भारतवर्ष में मनुष्य की विद्या-बुद्धि से अधिक उसके चरित्र की महत्ता मानी गई है। मानव-जीवन-रूपी सुमन में चरित्र ही सुगन्ध है। सुगन्ध के विना सुमन का सौन्दर्य केवल नेत्ररंजक है, हृदयग्राही नहीं। यदि साहित्य को हम मानव-जीवन की व्याख्या मानते हैं, तो उसमें सौरभ का होना आवश्यक है, नहीं तो उसमें क्षणिक आकर्षण-मात्र होगा, वह हृदयाह्लादक नहीं हो सकता।

चरित्र की परिभाषा आज भले ही बदल गई हो, पर मनुष्य की सद्वृत्तियों से उसका नाता कोई नहीं तोड़ सकता। आज तो साहित्य की परिभाषा भी रंग-विरंग दीख पड़ती है; किन्तु मनुष्य की अनुभूतियों एवं भावनाओं से उसका जन्म तो सर्वमान्य है ही। मनुष्य के हृदय से ही साहित्य में रस आता है। मानव-मस्तिष्क ही उसमें चमत्कार लाता है। मनुष्य की कल्पना से उसमें रमणीयता आती है। साहित्य की रचना में साहित्यकार के हृदय और मस्तिष्क का संयोग अपेक्षित है। साहित्यकार के हृदय और मस्तिष्क पर उसके शील का प्रभाव पड़ता है। यदि उसका चरित्र उन्नत होगा, तो उसका रचा हुआ साहित्य भी उच्च कोटि का होगा।

ऐसा कोई विधि-विधान नहीं है कि जो चरित्रवान् हो, वही साहित्य-रचना कर सकता है। साहित्य-रचना करने के लिए कोई प्रतिबन्ध होना भी सम्भव नहीं। साहित्य-सृष्टि का अधिकार सबको है। जिसमें योग्यता और प्रतिभा हो, वह साहित्य-निर्माण कर सकता है। यदि योग्यता और प्रतिभा के साथ उसमें चरित्र भी हो, तो सोने में सुगंध। यह अनुभूत बात है कि चरित्रवान् का रचा हुआ साहित्य अधिक स्थायी और लोक-हितकर होता है। जिस साहित्य के पीछे उसके रचयिता का चरित्र-बल और उसकी लोकमङ्गल-कामना है, वह बहुत दिनों तक स्थिर रहेगा। किन्तु, जिसमें केवल बुद्धि-विलास ही होगा, उसका प्रभाव अधिक दिनों तक समाज पर नहीं रह सकता।

केवल लोकप्रियता ही साहित्य की कसौटी नहीं मानी जा सकती। जो कुछ प्रकाशित हो जाता है, वह सब-का-सब साहित्य ही नहीं है। क्षणिक मनोरंजन करनेवाला साहित्य तो दिमागी ऐयाशी है। कोरा वाग्विलास कभी समाज पर अपनी गहरी छाप नहीं

छोड़ सकता। वह आतिशबाजी का काम कर सकता है, सूरज और चाँद का गौरव नहीं पा सकता। आज जो प्रचुर मात्रा में साहित्य का प्रकाशन हो रहा है, उसके विषय में यह कहना कठिन है कि उसकी आयु कितनी होगी। जिसका उद्देश्य केवल अर्थलाभ है, जिसमें केवल यशलाभ-लोभ की प्रेरणा है, वह साहित्य कभी समय की गति के थपेड़े नहीं सह सकता। जिसमें लोक-कल्याण की भावना निहित है, लोकोपकार ही जिसका मुख्य लक्ष्य है, वही साहित्य समय-सागर की तरंगों पर तिरता रह सकता है। खरे-खोटे की पहचान के लिए काल की कसौटी बड़ी सच्ची है। उसका मूल्याङ्कन न्यायपूर्ण होता है !

आज राशि-की-राशि साहित्य-रचना हो रही है। कोई अपनी वासनाओं को तृप्त करता है, कोई दूसरों की प्रवृत्तियों को क्षण-भर उत्तेजित करके नाम कमा लेता है। कोई ईर्ष्या-द्वेष का आवेश शान्त करना चाहता है, कोई लोकरुचि के साथ खिलवाड़ करता है। कहीं-कहीं कलम की खाज भी मिटाई जाती है। लोक-रंजन की पवित्र भावना घोर कलह-कोलाहल में अपना काम कर रही है। किन्तु समय तो उसी का साथ देगा, उफान और उड़ान का हाल सेमर के फल का-सा होगा। साहित्य का इतिहास इसका साक्षी है।

आज भी जो गहरी निगाह से देखना चाहे, वह देख सकता है कि साहित्यकार के चरित्र का उसके साहित्य पर कैसा प्रभाव है। निष्पक्ष समय भी बतलाता जा रहा है कि उसके प्रवाह में क्या-क्या डूब जायगा और क्या-क्या निरन्तर बहता रहेगा।

साहित्य और लोकरुचि

साहित्य की समृद्धि जनता के हार्दिक सहयोग पर निर्भर है। हिन्दी-संसार की जनता का झुकाव जैसा साहित्य की ओर होना चाहिए, वैसा नहीं दीख पड़ता। हिन्दी पढ़नेवालों की संख्या सबसे अधिक बतलाई जाती है। वह संख्या करोड़ों तक है। किन्तु, हिन्दी की पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं की खपत हजारों तक भी नहीं है, लाखों की क्या बात। हिन्दी-पाठकों की संख्या के अनुपात से हिन्दी के प्रकाशनों का प्रचार नगण्य है। जो लोग अच्छा साहित्य रचते और छापते हैं, उनकी खास शिकायत है कि हिन्दी-प्रेमी जनता में सुरुचि का बड़ा अभाव है; क्योंकि उत्कृष्ट साहित्य आज उतना नहीं खपता, जितना निकृष्ट। हिन्दी-जगत् में कई लेखक और प्रकाशक ऐसे भी हैं, जो जनता की कमजोरियों से फायदा उठाकर पैदा करने की धुन में लगे रहते हैं। खेद और आश्चर्य है कि बहुत-से पढ़े-लिखे लोग भी ऐसे स्वार्थ-साधकों के शिकार हैं। चिन्ता की बात यह भी है कि जनता की रुचि को भ्रष्ट करनेवाले साहित्य का निर्भीकता से विरोध भी नहीं होता। बिना किसी प्रभावशाली प्रतिबन्ध के वह समाज की नसों को दूहता जा रहा है। कुछ लोगों का अनुमान है कि विरोध करने और प्रतिबन्ध लगाने से उस साहित्य का और भी अधिक प्रचार बढ़ेगा। किन्तु यह धारणा ठीक नहीं। सामूहिक रूप से विरोध होने पर सरकार का भी ध्यान आकृष्ट होगा। कानूनी प्रतिबन्ध लगने पर प्रचार बढ़ने की आशंका नहीं रहेगी।

आजतक हिन्दी-पाठकों की रुचि को परिष्कृत करने का कोई संगठित प्रयत्न नहीं हुआ है। अनिष्टकर साहित्य के बहिष्कार के लिए जहाँ-तहाँ कुछ उद्योग हुआ भी, तो वह

व्यापक और स्थायी न हो सका। हमारे सभी अखबार अगर एक स्वर से कुरुचिपूर्ण साहित्य का विरोध करने पर तुल जाते, तो जनता अवश्य सावधान होती। सच्ची लगन के मार्ग-दर्शक न मिलने से जनता पथभ्रष्ट हो रही है।

हिन्दी में आज सुन्दर साहित्य काफी प्रकाशित हो रहा है। यदि उसकी खपत सन्तोषजनक होती, तो हमारे लेखकों की दशा क्रमशः सुधरती जाती और प्रकाशक भी प्रोत्साहन प्राप्त होने से लेखकों को अपनाते। परन्तु, स्थिति यह है कि विचारोत्तेजक साहित्य पड़ा रह जाता है और इन्द्रियोत्तेजक साहित्य मैदान मार लेता है। लोकरुचि के मन्द होने से स्वस्थ साहित्य का यथेष्ट प्रचार नहीं हो पाता।

इतना ही नहीं, जनता की उदासीनता से साहित्यिक संस्थाओं की योजनाएँ भी सफल नहीं हो पातीं। अपनी प्रवृत्तियों के उद्दीपन के लिए लोगों के पास पैसों की कमी नहीं है, पर साहित्य के नाम पर सब अपनी अण्टी टटोलने लगते हैं। लोगों के बजट में सिनेमा को जगह नसीब है, मगर साहित्य को नहीं। जन-समाज के जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं में जबतक साहित्य को स्थान नहीं मिलता, तबतक साहित्य की लोकप्रियता नहीं बढ़ सकती। लोकरुचि को ग्रसनेवाले मन्द साहित्य के तिरस्कार से ही अमन्द साहित्य की वृद्धि हो सकती है।

—मासिक 'साहित्य' (पटना); वर्ष ६, अंक ४; आषाढ, २०१२ वि०; जुलाई, १९५५ ई०

डॉक्टर अमरनाथ झा का आकस्मिक निधन

सितम्बर की दूसरी तारीख को सन्ध्या समय अचानक सूचना मिली कि डॉक्टर अमरनाथ झा का देहान्त हो गया। एकाएक समस्त देश में शोकान्धकार छा गया। इस अनभ्र वज्रपात से सब लोग स्तब्ध रह गये। जीवन की क्षणभंगुरता पर आस्था रखनेवाले भी विचलित हो उठे। डॉक्टर झा के आदर्श जीवन से परिचितों के मतानुसार उन्हें पुण्यात्मा की मौत नसीब हुई। वे अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के भूतपूर्व अध्यक्ष, प्रयाग और काशी के विश्वविद्यालयों के भूतपूर्व उपकुलपति, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के सभापति, बिहार-राज्य के जनसेवा-आयोग के अध्यक्ष, भारतीय हिन्दी-आयोग के मान्य सदस्य और न जाने कितनी ही देशी-विदेशी संस्थाओं के प्रधान तथा सदस्य थे। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से जो हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास तैयार हो रहा है, उसके भी वे प्रधान सम्पादक थे। उस इतिहास में उनसे जो सुझाव-सलाह मिलने की आशा थी, वह समाप्त हो गई। अँगरेजी-साहित्य के वे अच्छे मर्मज्ञ थे। अनेक भाषाओं के साहित्य से उनका घनिष्ठ परिचय था। उनकी विद्वत्ता असाधारण थी। किन्तु, उनके काण्ड पाण्डित्य से हम कुछ भी लाभ न उठा सके!

हमारे बीच से वे एकाएक उठ गये। अब हम उनके विद्या-वैभव का गुणगान करते नहीं अघाते। पर जबतक वे हमारे बीच रहे, हमने उनका जौहर नहीं परखा। यदि उनसे अँगरेजी-साहित्य का इतिहास हिन्दी में लिखवा लिया गया होता, तो आज हमारे पास एक अमूल्य साहित्यिक निधि होती। वे तो किसी दृष्टि से भी शोचनीय नहीं हैं, शोचनीय तो हमलोग हैं कि उनकी ज्ञान-गरिमा से अपने साहित्य को गौरवान्वित न कर सके। एक-से-एक वरेण्य सरस्वती-पुत्र हिन्दी-जगत् में आये और चले गये, हमारे प्रकाशक उनका सदुपयोग करके साहित्य का कुछ उपकार न कर सके। आज भी कितने ही व्यक्ति ऐसे हैं, जिनके विषय में हम किसी दिन अकस्मात् वसा ही शोक-संवाद सुनेंगे, जैसा डॉक्टर झा के सम्बन्ध में सुना था। पर, कभी हम उनसे साहित्य के लिए कोई धरोहर लेने की चिन्ता या चेष्टा नहीं करते। फिर, उनके दिवंगत होने पर हाय-हाय करना व्यर्थ है। स्वाध्याय-तप में तल्लीन रहनेवाले विद्वान् तो सहज ही मोक्ष के अधिकारी हैं। उनको शान्ति देने के लिए ईश्वर-प्रार्थना करना लोकाचार-मात्र है।

डॉ० झा अपने भारत-विख्यात पिता डॉ० गंगानाथ झा के सच्चे उत्तराधिकारी थे। उन्होंने अपने वंश की पाण्डित्य-परम्परा खूब निबाही। शिक्षा-शास्त्री के रूप में उन्होंने देश-विदेश में ख्याति पाई। उनकी प्रकृति में साहित्यिकता थी। उनके साथ जो ज्ञान-सम्पदा विलीन हो गई, वह यदि आज हमारे साहित्य-कोष में संचित होती, तो उनके प्रति हमारी श्रद्धा सचमुच सार्थक हो पाती। शोक-सन्ताप इसी बात का रह गया कि उनके पार्थिव शरीर के साथ-साथ उनका यशःशरीर भी हमारी आँखों से ओझल हो गया!

श्रीबेनीपुरी-ग्रन्थावली का दूसरा खण्ड

श्रीबेनीपुरीजी की ग्रन्थावली का दूसरा खण्ड (नाटक-संग्रह) प्रकाशित हो गया। पहले खण्ड का परिचय 'साहित्य' में पहले छप चुका है। इस खण्ड की छपाई-सफाई और सजधज भी पहले खण्ड के समान ही है। अभी आगे आठ खण्ड और भी निकलनेवाले हैं। साहित्य-रचना की विभिन्न दिशाओं में बेनीपुरीजी की बहुमुखी प्रतिभा अपना जौहर दिखा रही है। इस नाटकावली में उनकी सूझ और कल्पना-शक्ति के पुष्ट प्रमाण मिलते हैं। उनकी उद्भावना-शक्ति का चमत्कार 'सीता की माँ' में दीख पड़ता है। 'अम्बपाली' में ठौर-ठौर मनोहर सूक्तियाँ भी हैं। उनकी भाषा की सरलता एवं सरसता में ही उनकी लोकप्रियता निहित है। हिन्दी में ग्रंथावलियों का बहुत अभाव है। एक लेखक की सभी रचनाओं का संग्रह एकत्र मिलने से अध्ययन-मनन में बड़ी सुविधा होती है। अन्य भारतीय भाषाओं में अनेक साहित्यकारों की ग्रन्थावलियाँ निकल चुकी हैं। हिन्दी में इस महत्त्वपूर्ण कार्य की ओर यथोचित ध्यान नहीं दिया गया है। इससे स्वाध्याय और अनुसन्धान के काम में बड़ी बाधा पड़ती है। बेनीपुरीजी ने अपनी ग्रंथावली स्वयं प्रकाशित करके अनुकरणीय कार्य किया है। यद्यपि आर्थिक दृष्टि से वे इतना बड़ा काम ठानने में समर्थ नहीं थे, तथापि अपने उद्योग-बल से उन्होंने इस महान् कार्य को सफलता के मार्ग पर अग्रसर कर दिया है। यह भी अन्य लेखकों के लिए उत्साहवर्द्धक आदर्श है।

यदि समर्थ लेखक अध्यवसाय से काम लेकर अपनी-अपनी ग्रन्थावली प्रकाशित करें, तो वे कुछ दिनों में स्वावलम्बी हो सकते हैं। आजकल ग्रन्थावलियों की खोज और माँग होने लगी है। स्वर्गीय बाबू बालमुकुन्द गुप्त के सुपुत्र ने उनकी ग्रन्थावली प्रकाशित करके साहित्य का बड़ा उपकार किया है। साहित्यसेवी से ऐसे ही उऋण होना चाहिए। साहित्य-सेवियों के वंशधर यदि ऐसे साहित्यिक ऋण-शोध का महत्त्व समझते, तो अबतक कितनी ही ग्रंथावलियाँ प्रस्तुत हो गई होतीं। बेनीपुरीजी के मार्ग-प्रदर्शन से प्रेरणा पाकर तो जीवित अधिकारी लेखकों में असीम साहस का संचार होगा।

पण्डित छविनाथ पाण्डेय के 'अटपटे चित्र'

पण्डित छविनाथ पाण्डेय हिन्दी के बहुत पुराने और लब्धप्रतिष्ठ साहित्यसेवी हैं। उनकी मौलिक और अनूदित पुस्तकों की संख्या लगभग एक सौ है। इधर उन्होंने जो आत्म-संस्मरण लिखे हैं, वे साप्ताहिक 'योगी' (पटना) में क्रमशः छप रहे हैं। उन्होंने अपने संस्मरणों में कठोर सत्य का उद्घाटन किया है। वे अपने जीवन के अनुभवों को भी लिपिबद्ध कर रहे हैं। जीवन-भर कर्मठ रहकर अब वे बुढ़ापे के अवकाश-काल का सदुपयोग करने में तत्पर हैं। सच्चे साहित्यसेवी का यही कर्त्तव्य भी है। वह संसारी लोगों की तरह केवल हरि-भजन में ही अपना बुढ़ापा नहीं बिताता। वह तो सारे जीवन की कमाई—सासारिक अनुभवों की पूंजी—साहित्य को ही सौंप देता है। उससे काफी लोक-हित-साधन भी होता है। पाण्डेयजी की एक नई पुस्तक 'उपमा-प्रकाशन' (सर्वोदय प्रेस, आर्यकुमार रोड, पटना—४) से निकली है—'अटपटे चित्र'। इसमें तेरह व्यक्तियों के चित्र अंकित हैं। सभी व्यक्ति साधारण कोटि के हैं; पर सूक्ष्मदर्शी लेखक ने उनकी विशेषताओं के निरीक्षण में बड़ी पैनी दृष्टि से काम लिया है। साधारणजन के जीवन को भी साहित्यिक कितनी बारीक निगाह से देखकर उसमें से खूबियाँ निकाल सकता है, यह इन चित्रों से प्रकट होता है। ये चित्र कुतूहलवर्द्धक तो हैं ही, मनोरंजक और उपदेशप्रद भी हैं।

हिन्दी में रेखाचित्रों की बड़ी आवश्यकता है। बेनीपुरीजी की 'माटी की मूरतें' इस विषय की बड़ी सुन्दर पुस्तक है। हमें स्मरण है कि आरा-निवासी स्वर्गीय बाबू रघुनाथ प्रसाद मुख्तार ने भी अत्यन्त सामान्य व्यक्तियों के बड़े आकर्षक चित्र अंकित किये थे, पर वे प्रकाशित न हो सके। ऐसे चित्रों के अंकित करने में स्वाभाविकता की रक्षा से ही लेखक का कौशल सूचित होता है। कुशल लेखक ही साहित्य के इस अंग को सजा सकता है। सादगी में खूबसूरती लाकर पाण्डेयजी ने प्रशंसनीय कुशलता दिखाई है।

—मासिक 'साहित्य' (पटना); वर्ष ६, अंक ५-६; श्रावण-भाद्र, २०१२ वि०;
अगस्त-सितम्बर, १९५५ ई०

लेखक-पाठक-प्रकाशक

हिन्दी में लेखक बहुत अधिक हैं; पाठक और प्रकाशक बहुत कम हैं। यह एक विचारणीय समस्या है। लेखकों और कवियों की असंख्य रचनाएँ अप्रकाशित पड़ी हैं, प्रकाशक नहीं मिलते, प्रकाशक को पाठक नहीं मिलते। सम्भव है, अधिकांश रचनाएँ निम्न-कोटि की हों, पर कुछ जो उच्च कोटि की हैं, वे भी अप्रकाशित पड़ी हैं। प्रकाशक कभी प्रतिभा को परखते नहीं और न मेधावी को ढूंढ़ते हैं। लेखक और कवि ही प्रकाशक ढूंढ़ते फिरते हैं। प्रकाशक केवल यशोधनों को ही अपनाते हैं, उदीयमानों पर विशेष ध्यान नहींदेते। किन्तु, यशोधन भी तभी अपनाये जाते हैं, जब प्रकाशक का दरवाजा खटखटाते हैं। उदीयमान से तो प्रकाशक आजीवन कृतज्ञता, की आशा करता है। प्रकाशक 'दावा' करता है कि वह यदि 'कृपा' न करता, तो 'बेचारा' उदीयमान 'कभी' प्रकाश में न आता। प्रकाशक की मर्जी पर लेखक की जिन्दगी है!

लेन-देन में सचाई का व्यवहार करनेवाले प्रकाशक 'कनिष्ठिकाधिष्ठित' हैं। लेखकों में भी कुछ ऐसे हैं, जो दूध के धुले नहीं हैं। पर, साहित्य की प्रगति में बाधा पड़ने का मुख्य कारण है समर्थ और दूरदर्शी प्रकाशकों की कमी। जो प्रकाशक सचमुच समर्थ हैं, वे विशेषतः बाजार का रुख देखते रहते हैं, साहित्य के अभावों की पूर्त्ति पर बहुत कम ध्यान देते हैं। साहित्य की आवश्यकताओं पर दृष्टि रखनेवाले प्रकाशकों का अभाव-सा है, इसी कारण वैसे लेखकों का भी अभाव है। युग की माँग पूरी करनेवाले सुयोग्य लेखकों की खोज करके उन्हें उपयुक्त काम में नियोजित करने की चिन्ता से प्रकाशक मुक्त हैं। लेखकों की बेकारी का कारण यह भी है।

पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ने का व्यसन अभी जनता में नहीं पैदा हुआ है। घरेलू खर्च के बजट में पुस्तकों और पत्रिकाओं को शायद ही कहीं जगह मिलती है। इनका प्रवेश या समावेश अभी तक जीवन की आवश्यकताओं में नहीं हुआ है। हिन्दी-जगत् के पाठकों में क्रय-शक्ति की कमी नहीं है, कमी है केवल साहित्यानुराग की। कवि-कण्ठ-काकली सुननेवाले असंख्य हैं, पर कवि की पुस्तक खरीदनेवाले मुट्ठी-भर हैं। हिन्दी-प्रधान प्रान्तों में भी भाषा और साहित्य के श्रद्धालु भक्त इने-गिने हैं। मुफ्तखोर पाठकों की बाढ़ हर तरफ है। प्रकाशकों की यही शिकायत है कि हिन्दी-क्षेत्र के विस्तार की तुलना में पाठकों की संख्या नगण्य है। हिन्दी में, पाठकों की ओर से, पुस्तकों की माँग बढ़ने पर ही प्रकाशक उत्साहित हो सकते हैं। प्रकाशकों को प्रोत्साहन मिलेगा, तो लेखकों के भी सुदिन बहुरेंगे। हिन्दीभाषियों की विराट् संख्या के अनुपात में हिन्दी-पाठकों की संख्या तो कम है ही, उच्च स्तर का साहित्य पढ़नेवाले उच्च श्रेणी के पाठक भी बहुत कम हैं। हिन्दी-क्षेत्र के धनी-मानी सज्जन हिन्दी-पुस्तकें और हिन्दी-पत्र-पत्रिकाएँ बहुत कम खरीदते तथा पढ़ते हैं। यही हाल उस क्षेत्र के उच्च शिक्षाप्राप्त महानुभावों का भी है।

भारत की प्रमुख प्रादेशिक भाषाओं की स्थिति हिन्दी से अच्छी जान पड़ती है। उन भाषाओं में पाठकों की संख्या हिन्दी की अपेक्षा बहुत अधिक है। यहाँ तक कि उर्दू में भी

अच्छे लेखकों की प्रतिष्ठा हिन्दी से अधिक है। उर्दू में अपेक्षाकृत अधिक पाठक भी हैं। बँगला, मराठी आदि की तो बात ही क्या। प्रेस-कमीशन की रिपोर्ट से यह रहस्य प्रकट हो गया है।

हिन्दी के जो लेखक स्वयं प्रकाशक बन गये हैं, वे संकटग्रस्त हैं। उन्हें ईमानदार पुस्तक-विक्रेता बहुत कम मिलते हैं। लेखक स्वयं अपनी पुस्तक छापकर या किसी प्रकाशक द्वारा प्रकाशित कराकर उसकी बिक्री या रायल्टी के पैसे निश्चिन्तता से पाता रहे, ऐसी सुव्यवस्था बहुत ही कम जगहों में देखने में आती है। कठिनाइयाँ भी चिन्तनीय हैं।

संघबद्ध होकर अन्य व्यवसाय करने की प्रवृत्ति तो समाज में है; पर पुस्तक-पत्र-प्रकाशन का व्यवसाय अधिकतर व्यक्तिगत रूप में ही होता है। प्रकाशन-कम्पनियाँ बहुत बड़े पैमाने पर संघटित और संचालित हों तथा उनमें पर्याप्त धनराशि लगाकर सुप्रबन्ध किया जाय, तो राष्ट्रभाषा के गौरवानुकूल प्रकाशन-कार्य हो सकता है। संघशक्ति के अभाव में टुटपुँजिया लोगों से अब काम न सरेगा। पूँजीपति की मनोवृत्ति के लोग प्रकाशन-क्षेत्र में अवतीर्ण होकर भी साहित्य का अभीष्ट हित-साधन नहीं कर सकते। ये समस्याएँ चिन्त्य और जटिल हैं। इनपर विस्तार से निरन्तर विचार होना चाहिए।

एक दक्षिणी हिन्दी-लेखक का शुभ प्रयास

आन्ध्र-राज्य की राजधानी (कुरनूल) के एक साहित्यिक नागरिक श्रीबाल्शौरि रेड्डी ने 'पंचामृत' नामक एक पुस्तक लिखी है। वह हैदराबाद (दक्षिण) की हिन्दी-प्रचारक-सभा से प्रकाशित हुई है। आन्ध्र-हिन्दी-परिषद् की प्रेरणा से वह रची गई है। उसमें तेलुगु भाषा के पाँच प्राचीन प्रतिनिधि-कवियों का संक्षिप्त परिचय तथा उनकी कुछ उत्कृष्ट रचनाओं का हिन्दी-अनुवाद-सहित संकलन है। तेलुगु-भाषी श्रीरेड्डी महोदय हिन्दी के भी विद्वान् हैं। उनका हिन्दी-अनुवाद सुबोध और सरस है। मूल कविताएँ देवनागरी-अक्षरों में छपी हैं और साथ-साथ गद्यानुवाद भी है। अनुवाद की सुगमता से मूल रचना का जो भाव हृदयंगम होता है, वह बड़ा मधुर और हृदयग्राही है। पुस्तक पढ़ने पर उत्तर और दक्षिण-भारत के साहित्य में सांस्कृतिक एकता परिलक्षित होती है।

पुस्तक के आरम्भिक चालीस पृष्ठों में विद्वान् अनुवादक ने तेलुगु भाषा के सहित्य का संक्षिप्त परिचय दिया है। पुस्तक के अन्त में तेलुगु-हिन्दी-पर्याय-शब्दार्थ-कोष रहने से तुलनात्मक अध्ययन का भी कुछ आनन्द मिल जाता है। चुनी हुई पुरानी तेलुगु-कविताओं के मनोहर भाव सरल हिन्दी-गद्य में पढ़कर मन यह चाहता है कि पाँच पुराने प्रमुख हिन्दी-कवियों की उत्तमोत्तम रचनाओं का तेलुगु-अनुवाद भी प्रकाशित किया जाता, तो बड़ा अच्छा होता। इतना ही नहीं, दक्षिण की मुख्य साहित्यिक भाषाओं में ऐसे हिन्दी-ग्रन्थों का प्रामाणिक अनुवाद प्रकाशित होना चाहिए, जिनसे उत्तर-दक्षिण-भारत के सांस्कृतिक समन्वय का आधार पुष्ट हो।

सुनने में आया है कि भारत-सरकार हिन्दी के कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थों का अनुवाद प्रमुख भारतीय भाषाओं में करा रही है। अखिल भारतीय और प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनों

तथा नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी)-जैसी समर्थ संस्थाओं को भी इस दिशा में अग्रसर होना चाहिए। हिन्दी-संसार में अब इस तरह का साहित्यिक आदान-प्रदान होने लगा है। दक्षिणभारत-हिन्दी-प्रचार-सभा का मुखपत्र 'दक्षिण भारत' इस क्षेत्र में विशेष सजग है। 'कल्पना', 'अजन्ता' पत्रिकाओं से भी इस विषय में आलोक मिलता रहता है। अन्यान्य हिन्दी-पत्रिकाएँ भी हिन्दीतर भाषाओं की साहित्यिक प्रगति से हिन्दी-पाठकों को परिचित कराती रहती हैं। किन्तु, स्वतंत्र पुस्तक के रूप में हिन्दीतर भाषाओं के श्रेष्ठ साहित्य का हिन्दी-अनुवाद और उच्चकोटि की हिन्दी-पुस्तकों का अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद यथेष्ट रीति से नहीं हो रहा है, जिसकी इस समय नितान्त अपेक्षा है।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् को गोस्वामी तुलसीदासकृत 'रामचरितमानस' का बँगला-भाषा में पद्यानुवाद प्रकाशनार्थ प्राप्त हुआ है। पुरुलिया (मानभूमि)-निवासी श्रीमदनमोहन चौधरी ने बड़ी सफलता से समश्लोकी बंगानुवाद किया है—बाँयें-दाँयें मूल-अनुवाद साथ-साथ हैं (जैसा दिल्ली के हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस ने रामचरितमानस का ही अँगरेजी-पद्यानुवाद प्रकाशित किया है)। आशा है कि निकट भविष्य में हिन्दी के अनेक प्रभावशाली ग्रन्थ अन्य भारतीय भाषाओं में भी अनूदित हो जायेंगे, जिससे उत्तर-दक्षिण की राष्ट्रीय एकता का सूत्र दृढ़ होगा।

श्रीरामचन्द्र वर्मा की 'शब्द-साधना'

आजकल भाषा की शुद्धता और शैली की सुन्दरता पर बहुत कम लोग ध्यान देते हैं। शब्दों के भाव, अर्थ और प्रयोग का यथार्थ ज्ञान हुए विना न भाषा शुद्ध हो सकती है, न शैली सुन्दर। वर्त्तमान समय में शब्दों के वास्तविक अर्थ और उनके उपयुक्त प्रयोग पर विचार करने का अवकाश बहुत कम सज्जनों को है। पहले के प्रमुख साहित्यिकों का यही व्यसन था। शब्दों के अर्थ और प्रयोग पर विचार करते रहने का अभ्यास उनका स्वभाव-सा बन गया था। वैसे हिन्दी-भक्त साहित्यकारों में अब काशी-निवासी श्रीरामचन्द्र वर्मा ही शेष दृष्टिगोचर होते हैं।

हिन्दी के सौभाग्य से अब एकमात्र वर्माजी ही काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के 'बृहत् हिन्दी-शब्द-सागर' के स्वनामधन्य सम्पादकों में से बच रहे हैं। शब्द-ब्रह्म की अनवरत उपासना में ही उनके जीवन का प्रत्येक क्षण व्यतीत होता है। लगभग पचास वर्षों से वे भाषा की प्रकृति और शैली की सुबोधता पर गहन विचार करते आ रहे हैं। संक्षिप्त हिन्दी-शब्द-सागर, प्रामाणिक हिन्दी-कोश, अच्छी हिन्दी, हिन्दी-प्रयोग आदि महत्त्वपूर्ण पुस्तकें रचकर उन्होंने ही शब्दों की आत्मा और भाषा के शुद्ध रूप की परख तथा शैली के परिष्कार की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। वृद्धावस्था में दृष्टि-शक्ति क्षीण होने पर भी वे निरन्तर हिन्दी-भाषा के सुधारने-सँवारने में ही तन्मय रहा करते हैं। उनकी चिरस्मरणीय सेवाओं की ओर हिन्दी-संसार और सरकार को विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए।

इधर वर्माजी की एक नई पुस्तक प्रकाशित हुई है—'शब्द-साधना'। यह पुस्तक हिन्दी के विचारशील विद्वानों को एक नवीन दिशा में सोचने-समझने की प्रेरणा देती है।

इसकी विश्लेषणात्मक शैली में उनकी सूक्ष्मदर्शिता ध्यान देने योग्य है। हिन्दी के समभावात्मक एवं पर्यायवाची शब्दों के प्रकृत अर्थ तथा सार्थक प्रयोग में कहाँ कितना अन्तर होता है, इसका उन्होंने बड़े विशद ढंग से विवेचन किया है। विश्वास है कि भाषा-सम्बन्धी अराजकता के इस युग में यह पुस्तक अभय वरदान सिद्ध होगी।

इस पुस्तक का प्रवेश और प्रचार सभी शिक्षण-संस्थाओं में अनिवार्य रूप से होना अत्यावश्यक है। अध्यापकों और विद्यार्थियों को इसका अध्ययन-मनन करके इसकी उद्भावनाओं एवं मान्यताओं पर मनोयोगपूर्वक विचार करना चाहिए। इसके अन्त के इकतालीस पृष्ठों में जो दोहरी (हिन्दी-अँगरेजी और अँगरेजी-हिन्दी) अनुक्रमणिका है, उससे सरकारी दफ्तरों तथा अनुवाद-विभागों में इसकी विशेष उपयोगिता प्रमाणित होगी। हिन्दी-शब्दों के अर्थ और प्रयोग के सम्बन्ध में सम्प्रति जो भ्रम-सन्देह फैल रहा है, उसका निवारण तथा भाषा-विशारदों को विचारमग्न करने में यह पुस्तक बहुत दूर तक समर्थ हो सकती है। भाषा-विषयक भ्रान्ति और अनिश्चितता दूर करने के लिए वर्माजी ने जो इतनी बड़ी पुस्तक लिखकर हिन्दी-हित-साधन का प्रयत्न किया है, उसके निमित्त साहित्य-संसार के शब्द-शिल्पियों की ओर से हम उनका हार्दिक अभिनन्दन करते हैं।

—मासिक 'साहित्य' (पटना) ; वर्ष ६, अंक ७; आश्विन, २०१२ वि०;
अक्तूबर, १९५५ ई०

रजत-जयन्ती-समारोह के अध्यक्ष कविवर 'दिनकर'

सम्मेलन के रजत-जयन्ती-महोत्सव ने उसके इतिहास में एक गौरवपूर्ण अध्याय जोड़ दिया है। इस समारोह के सिरमौर 'दिनकर' जी हैं, जिन्होंने अपनी ओजस्विनी वाणी और मर्मस्पर्शिनी लेखनी के प्रताप से समस्त राष्ट्र में बिहार का मस्तक उन्नत किया है। बिहार के हिन्दी-कवियों की उज्ज्वल परम्परा पर दृष्टिपात करने से यह बात सहसा ध्यान में आ जाती है कि महाकवि विद्यापति के बाद 'दिनकर' ही एक ऐसे बिहारी कवि हुए हैं, जिनकी ख्याति बिहार की सीमा पार करके भारत-भर में फैली है। हिन्दी-प्रधान प्रान्तों के अतिरिक्त अहिन्दीभाषी क्षेत्रों में भी उनकी और उनके साथ-ही-साथ बिहार की भी कीर्त्ति का विस्तार हुआ है। यहाँ तक कि गत वर्ष उन्होंने पाश्चात्य जगत् को कवि-मण्डली में भी जाकर भारत-भाल-बिन्दी हिन्दी की महिमा घोषित की है। अतः बिहार का उनपर गर्व करना स्वाभाविक है।

यदि यह सचमुच सत्य है कि कवि के कण्ठ से भीतर का ब्रह्म बोलता है, तो हम निस्संकोच एक पुरानी बात का स्मरण करा देना असंगत नहीं समझते। सन् १९३३ ई० के नवम्बर महीने की 'गंगा' पत्रिका में 'दिनकर' जी की 'ताण्डव' और दिसम्बर के अंक में 'हिमालय' कविता प्रकाशित हुई थी, और १९३४ ई० की जनवरी में बिहारव्यापी

भीषण भूकम्प हुआ। उस समय सहृदय साहित्यिकों में प्राय: यह चर्चा होती रही कि कवि के अन्तर्यामी ने एक-डेढ़ महीना पहले ही भूकम्प की भविष्यवाणी कर दी थी। इस तरह जगन्नियन्ता का संकेत कवि की अमर-वाणी में ध्वनित हुआ था।

सम्मेलन ने अपनी रजत-जयन्ती पर ऐसे भारतविख्यात बिहारी कवि को सर्वोच्च सम्मान देकर वास्तविक गुणग्राहकता का ही प्रदर्शन किया है। यह सम्मान 'न चाल्प-स्तपस: फलम्'। इसका महत्त्व और भी बढ़ गया, जब हमारे परमाराध्य राष्ट्रपति देशरत्न डाक्टर राजेन्द्रप्रसादजी महोत्सव का उद्घाटन कर रहे हैं और बिहार-राज्य के मुख्य-मंत्री बिहार-केसरी डॉक्टर श्रीकृष्णसिंहजी स्वागताध्यक्ष के आसन पर विराजमान हैं। साहित्य, संस्कृति और राजनीति का यह त्रिवेणी-संगम 'सम्मेलन' को आज पुण्य-तीर्थ बना रहा है। धन्य यह शुभ-संयोग !

वार्षिक महाधिवेशन के सभापति श्रीमथुराप्रसाद दीक्षित

'सम्मेलन' के जन्मदाताओं में प्रमुख दीक्षितजी आज अपने ही हाथ के रोपे और अपने ही स्वेद के सींचे हुए हरिचन्दन की सघन-शीतल छाया में खड़े हैं, और वह हर्षोल्लास से उत्फुल्ल हो, उनपर स्नेह-सरस सम्मान-सुमनांजलि बरसा रहा है।

दीक्षितजी देश-सेवा के विविध क्षेत्रों में बड़े उत्साह से काम करते रहे हैं और लगन से काम करनेवालों के साथ सदा अपना कन्धा जोड़कर चले हैं। राजनीतिक क्षेत्र में वे देश की स्वतंत्रता की लड़ाई के सिपाही रहे, और 'तरुण भारत' तथा 'देश' नामक राष्ट्रीय साप्ताहिकों की सेवा में रहकर अपनी पत्रकार-कला का भी परिचय दिया। साहित्य की अभावपूर्त्ति के लिए उन्होंने 'कुँवरसिंह', 'नादिरशाह', 'चाणक्य', 'वैशाली', 'गोविन्दगीतावली' आदि गवेषणापूर्ण पुस्तकों को तैयार किया। धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में वे स्वर्गीय दरभंगा-नरेश महाराजाधिराज रमेश्वर सिंह के निजी सचिव होकर बरसों काम करते रहे। समाज-सेवा के लिए वे मुजफ्फरपुर की नवयुवक-समिति और बिहार-प्रान्तीय सेवा-समिति के भी प्रमुख स्वेच्छा-सेवक हुए। जान पड़ता है कि उनकी चौमुखी सेवाओं से सन्तुष्ट होकर परमात्मा, अन्त में, उनकी अग्नि-परीक्षा के लिए, सम्मेलन की सेवा की कसौटी काम में लाना चाहता है। विश्वास है कि वह जो चाहेगा, उसे निबाहेगा भी। तथास्तु।

कवि-सम्मेलन के अध्यक्ष श्रीवियोगीजी

रजतजयन्ती-समारोह और वार्षिक महाधिवेशन के साथ जो विराट् कवि-सम्मेलन हो रहा है, उसके सहृदय सूत्रधार श्रीवियोगीजी बिहार के आधुनिक कवियों में वयोवृद्ध एवं समादरणीय हैं। वे केवल कुशल कवि ही नहीं, कीर्त्तिशाली कथाकार, सिद्धहस्त संस्मरण-लेखक और बहुश्रुत विद्वान् तथा विख्यात व्यंग्यचित्रकार भी हैं। वे हास्यरस के तो एक प्रतिभाशाली लेखक हैं ही, हिन्दी-पाठक उनकी पत्रकार-कला की प्रवीणता से भी परिचित हैं। सम्मेलन ने उनकी दीर्घकालीन साहित्य-सेवा को समादृत करके अपने कमनीय कर्त्तव्य का ही पालन किया है। उनकी कला की अर्चना का यह उपयुक्त

अवसर 'सम्मेलन' के ध्यान में आया, इसके लिए हम उसे बधाई देते हैं, और वियोगीजी के समान नायक-मणि को शोभा-सम्पन्न करनेवाले समवेत सरस्वतीनन्दन कविरत्नों की भी बन्दना करते हैं।

सम्मेलन के सत्सेवकों का स्मरण

रजत-जयन्ती के इस शुभ अवसर पर सम्मेलन के उन निष्ठावान् सेवकों का स्मरण तथा अभिनन्दन करना कर्त्तव्य है, जिन्होंने सम्मेलन के निर्माण एवं संचालन में हार्दिक सहयोग देकर हिन्दी के हित-साधन का सतत प्रयास किया था और जो आज भी कर रहे हैं। ऐसे श्रद्धालु सेवकों में कुछ दिवंगत सज्जन भी हैं। उनमें श्रीवैद्यनाथप्रसादसिंह, रामधारीप्रसाद, युद्धविक्रम मारुक और राघवप्रसादसिंह उल्लेखनीय हैं। वर्त्तमान सज्जनों में स्वयं सभापति दीक्षितजी, आचार्य बदरीनाथ वर्मा, पण्डित छविनाथ पाण्डेय, रामवृक्ष बेनीपुरी और ललितकुमारसिंह 'नटवर' सादर स्मरणीय हैं। इस समय के अधिकारियों और सहायकों में सर्वश्री देवव्रत शास्त्री, व्रजशंकर वर्मा, उमानाथजी, व्रजनन्दन आजाद, रामदयाल पाण्डेय, आरसीप्रसाद सिंह, बालेश्वरप्रसाद अग्रवाल, सुधांशुजी, जगन्नाथप्रसाद मिश्र, साँवलियाबिहारीलाल वर्मा, श्रीकान्त ठाकुर विद्यालंकार तथा राजेन्द्र शर्मा सोत्साह सम्मेलन की सेवा में संलग्न रहे हैं और आज भी हैं। सम्मेलन को इन सबके सहयोग का सहारा और भरोसा बराबर रहा है, अब भी है, आगे भी रहेगा। रजत-जयन्ती के मंगलमय अवसर पर सम्मेलन अपने इन सभी सत्यसेवकों और समर्थकों की आन्तरिक अभ्यर्थना करता है तथा भगवान् से प्रार्थना करता है कि इनकी सेवाएँ चिर-काल तक सम्मेलन को सुलभ रहें। एवमस्तु।

—'साहित्य', रजत-जयन्ती-विशेषांक (पटना); वर्ष ६ अंक ८—१२; कार्त्तिक—फाल्गुन, २०१२ वि०; नवम्बर, '५५ से मार्च, १९५६ ई०

'संस्कृति के चार अध्याय'

इसमें सन्देह नहीं कि श्रीदिनकर की प्रतिभा और रचना से, उनकी वाणी और लेखनी से, राष्ट्रभाषा हिन्दी के साथ-साथ बिहार का भी गौरव बढ़ा है। हिन्दी-संसार में उनकी नई पुस्तक (संस्कृति के चार अध्याय) की काफी चर्चा हुई है और हो रही है। बिहार के साहित्यकारों की नई पुस्तकों में हिन्दी-जगत् का ध्यान सबसे अधिक इसीने आकृष्ट किया है। हमारे राष्ट्र के सर्वमान्य सूत्रधार पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने एक अच्छी भूमिका लिखकर इसका गौरव बढ़ाया है।

'संस्कृति के चार अध्याय' का प्रत्येक अध्याय उसके स्वाध्यायशील लेखक की मननशीलता का प्रमाण है। विचारपूर्वक देखने से प्रतीत होता है कि प्रत्येक अध्याय एक स्वतंत्र ग्रन्थ का विषय है। तब भी अध्यवसायी लेखक ने काफी विस्तार के साथ हर एक

अध्याय के विवेच्य विषय का प्रतिपादन किया है। कहीं-कहीं अधिक विस्तार भी हुआ है, पर वर्णन-शैली की सुबोधता और सरसता के कारण वह अरुचिकर नहीं होने पाया है। इसलिए, ऐसा कहीं नहीं अनुभव होने पाता कि लेखक ने अपनी विद्वत्ता प्रदर्शित करने के लिए पुस्तक लिखी है, प्रत्युत ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने हिन्दी के औसत श्रेणी के पाठकों तक सांस्कृतिक सन्देश पहुँचाने का ही प्रयत्न किया है। यदि कोई पाठक ऐसे भी होंगे, जो लेखक को कवि के रूप में न जानते हों, तो वे भी यह पुस्तक पढ़कर अनुमान कर सकेंगे कि यह एक कवि की गद्य-रचना है।

यह पुस्तक ऐतिहासिक और आध्यात्मिक साहित्य के गहन अनुशीलन का परिणाम है। विद्वान् लेखक की विचारधारा में अवगाहन करने से दो बातें ध्यान में आती हैं—एक तो यह कि लेखक को कुछ आधुनिक दार्शनिकों और कवियों ने विशेष प्रभावित किया है, दूसरी यह कि संस्कृति एवं कविता का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। और, वह सम्बन्ध शाश्वत है।

श्रीदिनकरजी इतिहास के विद्यार्थी रहे हैं। अतः महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं की परम्परा में उन्होंने संस्कृति के सूत्र का अन्वेषण बड़ी मार्मिकता से किया है। सबसे पहले वे साहित्य-क्षेत्र में एक मेधावी कवि के रूप में आये थे। उसके बाद वे एक चिन्तनशील निबन्धकार के रूप में प्रत्यक्ष हुए। उनके इन दोनों रूपों का निखार इस पुस्तक में दीख पड़ता है।

पुस्तक का आकार जितना विशाल है, उसका प्रतिपाद्य विषय उतना ही मनोरम है। पुनः विषय को उपस्थित करने का ढंग इतना स्पष्ट और आकर्षक है कि बहुत मोटी होने पर भी यह पुस्तक अपने जिज्ञासु पाठक के धीरज को थकाती नहीं, बल्कि उत्तरोत्तर उकसाती चली जाती है। यह इसकी सबसे बड़ी विशेषता जान पड़ती है।

इसमें जहाँ भारतीय और विजातीय संस्कृतियों का समन्वय प्रतिपादित है, वहाँ कुछ मतभेद के स्थल हो सकते हैं; पर भारत के सांस्कृतिक विकास तथा ह्रास की लम्बी कहानी में ऐसे स्थलों का होना स्वाभाविक भी है। हमारा अनुमान है कि लेखक की विचारधारा का प्रवाह-क्षेत्र कालक्रम से परिवर्त्तित भी होगा। उस समय इस पुस्तक के कुछ स्थल भी परिवर्त्तित होंगे। वह समय, इसकी लोकप्रियता देखते हुए, दूर नहीं जान पड़ता। जो हो, इस पुस्तक ने बिहार की साहित्य-सेवा का मान ऊँचा किया है, जिसके लिए लेखक का सत्प्रयास अभिनन्दनीय है।

दो नई पत्रिकाएँ—'हिन्दी रिव्यू' और 'छपाई-कला'

हिन्दी में पत्र-पत्रिकाएँ कम नहीं हैं, फिर भी नई-नई निकलती ही जाती हैं। पुरानी और नई में भी अधिकांश अनावश्यक और अवांछनीय हैं। बहुतों के कारण तो हिन्दी की बदनामी बढ़ती है और पाठक या ग्राहक भी धोखे में पड़कर विरक्त हो जाते हैं। किन्तु, कभी-कभी अच्छी पत्रिकाएँ भी सामने आती हैं, जिनकी उपयोगिता स्वीकार करने में हिचक नहीं होती। ऐसी ही दो पत्रिकाएँ इस वर्ष प्रकाशित हुई हैं।

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से अँगरेजी में 'हिन्दी-रिव्यू' का प्रकाशन आरम्भ हुआ है। उसके सम्पादक हैं प्रोफेसर रामअवध द्विवेदी। उसमें हिन्दी का पक्ष पुष्ट करनेवाले सामयिक लेख छपते हैं। हिन्दी की उत्कृष्ट कविताओं के पद्यानुवाद भी उसमें दिये जाते हैं। यह काम बड़े महत्त्व का है।

अँगरेजी-साम्राज्य का अन्त हो गया, पर अभी इस देश में अँगरेजी भाषा का साम्राज्य साँस ले रहा है। अँगरेजी के हिमायती प्रायः हिन्दी को हेय दृष्टि से देखते हैं। कुछ लोग तो हिन्दी को तुच्छ भी समझने का साहस करते नहीं सकुचाते। उनको हिन्दी की कविताओं का पद्यानुवाद पढ़कर हिन्दी की विशेषताओं का ज्ञान हो सकता है। उन लोगों तक हिन्दी के गुणों की सुगन्ध पहुँचाने के लिए 'सभा' का यह प्रयत्न सर्वथा प्रशंसनीय है।

हिन्दी-संसार में अँगरेजी के भी कई सुयोग्य लेखक हैं। वे जानते हैं कि 'मॉडर्न रिव्यू' से बँगला के साहित्य को कितना उत्तेजन मिला है। यदि वे हिन्दी-साहित्य की खूबियों को अँगरेजी के पाठकों के आगे पेश करें, तो हिन्दी की उपेक्षा करनेवाले सचेत हो सकते हैं। बिहार के प्रसिद्ध कवियों में छोटे-छोटे गीतों की रचना करनेवाले प्रतिभाशाली सज्जन हैं। प्रभातजी, जानकीवल्लभजी, रामदयालजी, रुद्रजी, किशोरजी आदि कवियों के सुन्दर गीत हिन्दी-क्षेत्र में बड़े अनूठे सिद्ध हुए हैं। इन कवियों में अपनी रचना का भावपूर्ण अनुवाद करने की भी क्षमता है। इन्हें 'हिन्दी-रिव्यू' के सहयोग से अँगरेजीवालों को आकृष्ट करना चाहिए। पत्र-सम्पादक द्विवेदीजी को भी हिन्दी-जगत् की प्रतिभाओं को परखकर अपनाना उचित है।

दूसरी पत्रिका 'छपाई-कला' पूना (राष्ट्रभाषा-मुद्रणालय, नारायण पेठ) से निकली है। इसके सम्पादक श्रीवंकटलाल ओझा और श्रीवसन्त देवकुले हैं। इसके नाम के अनुकूल ही इसकी छपाई-सफाई है। प्रेस और छपाई से सम्बन्ध रखनेवाले सभी आवश्यक विषयों की ओर इसका ध्यान गया है। लेख लिखने के लिए नये-नये विषयों की सूची भी दी गई है। 'नागरी-लिपि की उत्पत्ति और मुद्रण-कला का इतिहास' नामक प्रथम लेख बहुत-सी जानकारियों से भरा है। मुद्रण-कलानुरागियों के लिए यह पत्रिका वास्तव में बहुमूल्य है।

हिन्दी में छपाई की कला आज दिन-दिन उन्नति करती जा रही है। फिर भी, उसमें अभी काफी कसर है। छपाई-सफाई की सुन्दरता पर जितना ध्यान दिया जा रहा है, उतना उसकी शुद्धता पर नहीं। शुद्धता के विना सुन्दरता गुड़-गोबर है। कहीं-कहीं सुन्दरता में भद्दापन दीख पड़ता है। कला की बारीकी जानने के लिए अभ्यास और अनुभव की आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्त्ति इस पत्रिका से भली भाँति हो सकती है। यह चीज लेखक, सम्पादक, मुद्रक, प्रकाशक सबके काम की है।

—त्रैमासिक 'साहित्य' (पटना); वर्ष ७, अंक १; चैत्र, २०१३ वि०;
अप्रैल, १९५६ ई०

बिहार के कवियों की गद्य-रचनाएँ

बिहार के कई कवि अपनी कविता के कारण तो हिन्दी-संसार में प्रसिद्ध ही हैं, अपनी गद्य-रचनाओं से भी उन्होंने हिन्दी-पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। इस प्रसंग में चार कवियों की ओर सहसा हमारा ध्यान जाता है। वे हैं—श्रीदिनकर, पण्डित मोहनलाल महतो 'वियोगी', आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री और पण्डित हंसकुमार तिवारी।

श्रीदिनकरजी की गद्य-रचनाओं में सबसे पहला निबंध-संग्रह 'मिट्टी की ओर' है। उसके बाद 'अर्द्धनारीश्वर' और 'रेती के फूल' के नाम से दो निबन्ध-संग्रह और भी प्रकाशित हो चुके हैं। उनके सांस्कृतिक निबन्धों का चौथा संग्रह 'हमारी सांस्कृतिक एकता' भी प्रकाशित है। सम्भवतः इसी चौथी पुस्तक का विकसित-विराट् रूप उनका 'संस्कृति के चार अध्याय' नामक ग्रन्थ है। श्रीदिनकरजी का गद्य काव्यात्मक है। उनके गद्य में जो स्वाभाविक बाँकपन है, वह उसकी सुबोधता में बाधक नहीं होता।

वियोगीजी का रचा हुआ कथा-साहित्य तो सुन्दर है ही, उनके लिखे संस्मरण भी साहित्यिक निधि हैं। उनकी हास्य-व्यंग्यपूर्ण कहानियाँ भी मार्के की हैं। उनकी नई पुस्तक 'जातक-कालीन भारतीय संस्कृति' बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से प्रकाशित होनेवाली[1] है। उसमें उन्होंने बौद्ध-ग्रन्थों और जातक-कथाओं से ही प्रमाणित किया है कि भगवान् बुद्ध वैदिक मार्ग के विरोधी नहीं, बल्कि प्रकारान्तर से समर्थक ही थे।

शास्त्रीजी कुशल कथाकार के सिवा समर्थ निबंधकार और सफल समीक्षक भी हैं। उनके समान प्रौढ़ निबन्धकार हिन्दी-संसार में गिने-चुने ही होंगे। संस्कृत-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् होने के कारण उनका शास्त्रीय पक्ष अत्यन्त प्रबल है। इसीलिए, उनकी पद्धति शुद्ध भारतीय है। उनके प्रकाशित निबन्ध-संग्रह ('साहित्य-दर्शन' और 'चिन्ताधारा') हिन्दी की लाली रखनेवाले हैं।

तिवारीजी पत्रकार और कथाकार के साथ-साथ निबन्धकार भी उच्चकोटि के हैं। उनके निबन्ध-संग्रह उनकी चिन्तनशीलता और समीक्षा-शक्ति के परिचायक हैं। उनकी 'कला' नामक पुस्तक एक उत्कृष्ट गद्य-रचना है। बँगला से हिन्दी-अनुवाद करने में वे बड़े सिद्धहस्त हैं, यह भी उत्तम गद्यकार का ही लक्षण है।

ऐसे ही एक पाँचवें कवि श्रीजनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' हैं, जिनकी गद्य-पद्य रचनाएँ हिन्दी में पर्याप्त ख्याति पा चुकी हैं। वे जैसे ओजस्वी वक्ता हैं, वैसे ही कुशल कथाकार और आलोचक भी। यदि वे पण्डित नन्दकिशोर तिवारी की तरह विरक्त होकर साहित्य-क्षेत्र से संन्यास न लेते, तो उनके निबन्ध और संस्मरण हिन्दी को गौरवान्वित करते। उनके अंकित किये हुए 'रेखा-चित्र' उन्हें गद्यकवि भी प्रमाणित करते हैं।

---

१. यह पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है।—ले०

छठे कवि श्रीआरसीप्रसाद सिंह कथाकार के रूप में काफी प्रसिद्ध हो चुके हैं। गद्य-क्षेत्र की अन्य दिशाओं में उनका अभियान दृष्टिगोचर नहीं हुआ है। निबन्धकार और आलोचक की प्रतिभा पाकर भी वे कविता की आराधना में ही एकनिष्ठ हैं। हिन्दी के पुराने महाकवियों की जो पद्यबद्ध जीवनियाँ वे लिखने लगे हैं, उनमें कवि-हृदय की विशेषताएँ दर्शनीय हैं।

कवि 'प्रभात' की कोई ऐसी उल्लेखनीय गद्य-रचना अभी तक सामने नहीं आई है, जो उनके सुयश के अनुकूल हो। पर, उनकी प्रखर मेधाशक्ति से जो परिचित हैं, वे यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि जब कभी वे गद्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होंगे, यश के ही भागी बनेंगे। सुना है कि उनके आलोचनात्मक निबन्ध प्रकाशित होने पर बड़े क्रान्तिकारी सिद्ध होंगे। हम उनकी प्रतीक्षा में बड़े उत्सुक और आशान्वित हैं।

पण्डित रामदयाल पाण्डेय लब्धकीर्त्ति कवि एवं पत्रकार हैं। उनकी जो छोटी-मोटी गद्य-रचनाएँ प्रकाशित हैं, वे भी महत्त्व की हैं; पर अभी तक उन्हें काव्य-क्षेत्र की तरह गद्य-क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखलाने का अवसर नहीं मिला है। वे जैसे प्रभावशाली वक्ता हैं, वैसे ही गद्यकार भी। उनका गद्य विचारपूर्ण और संयत होता है। वर्त्तमान राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक समस्याओं पर वे जो सम्पादकीय मन्तव्य प्रकट करते रहे हैं, उन्हें देखते हुए ऐसा भान होता है कि आधुनिक युग के ज्वलन्त प्रश्नों पर उनकी गद्य-रचना विशेष शक्तिशालिनी होगी। हम उनके योग्य उनकी कोई गद्यात्मक पुस्तक देखना चाहते हैं।

कवि 'केसरी' अँगरेजी-साहित्य के सुयोग्य प्राध्यापक हैं। किन्तु, अँगरेजी-साहित्य से उन्होंने हिन्दी को कुछ नहीं दिया। उनकी कोई गद्य-रचना हमारे देखने में नहीं आई। उनसे हिन्दी की यह शिकायत रहेगी कि उन्होंने अपनी अध्ययनशीलता को आलस्य की गोद में डाल दिया है। हमारे वयोवृद्ध कवि 'मनोरंजन' जी भी अँगरेजी-साहित्य के अनुभवी प्राध्यापक हैं। उन्होंने गद्य में काफी अच्छी चीजें लिखी हैं, जिनमें से कुछ तो पत्र-पत्रिकाओं तक ही पहुँच सकीं, शेष रचनाएँ पाण्डुलिपि के रूप में ही पड़ी हैं। महाकवि बिहारीलाल पर अनेक रोचक निबन्ध उन्होंने लिखे हैं और कई वर्णनात्मक लेख भी; पर अब वे हिन्दी-संसार से प्रायः उदासीन हो गये हैं। उनकी हिमालय-यात्रा-सम्बन्धी पुस्तक 'उत्तराखण्ड के पथ पर' प्रकाशित और प्रसिद्ध हो चुकी है।

कवि केसरीकुमार सिंह की कविताएँ हमारे लिए भले ही दुरूह हों; पर उनका गद्य हमें मुग्ध कर देता है। उनकी कई सुन्दर गद्य-रचनाएँ प्रकाशित हैं। हमारी धारणा है कि उनके अन्दर जो कवि है, वह पद्य की अपेक्षा गद्य में ही उतरना अधिक पसन्द करता है। वे प्रसिद्ध प्रयोगवादी कवि हैं, पर उनकी कवित्व-शक्ति उनके लिखित निबन्धों और उनकी मार्मिक आलोचनाओं में ही प्रदर्शित हो पाती है। यह उचित भी है; क्योंकि लब्धप्रतिष्ठ प्राध्यापक का गद्य ही हृदयहारी होना चाहिए।

श्रीराजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह का गद्य और पद्य पर समान अधिकार है। वे जितने सुन्दर कवि हैं उतने सुन्दर लेखक भी। उनकी 'अम्बपाली' आदि प्रकाशित कविता-पुस्तकें उनकी कवि-प्रतिभा की परिचायिका हैं। भारतीय संसद् में वे हमारे प्रान्त के एक प्रतिनिधि-सदस्य हैं। उनकी कहानियों में उनकी कलाकुशलता और उनके निबन्धों में उनकी ज्ञान-गरिमा देखकर बड़ा सन्तोष होता है। उनके शोधपूर्ण ऐतिहासिक लेख भी महत्त्वशाली होते हैं।

हमारे वयोवृद्ध कवियों में पं० श्रीदुलारे मिश्र 'मधुकर' और पं० श्रीजनार्दन मिश्र 'परमेश' अतीत युग में अपनी गद्य-रचनाओं से पत्र-पत्रिकाओं की शोभा बढ़ाया करते थे। पर, आज वे काव्य-क्षेत्र से भी अवकाश ग्रहण कर चुके हैं। श्रीबुद्धिनाथ झा 'कैरव' ने तो अपने प्रसिद्ध गद्य-ग्रन्थ (साहित्य-साधना की पृष्ठभूमि) के लिए बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से एक सहस्र मुद्रा का पुरस्कार भी प्राप्त किया है।

श्रीजयकिशोरनारायण सिंह, साहित्याचार्य अब 'छिपे रुस्तम' कवि हैं। भगवान् ने उन्हें 'छपास' का रोग नहीं दिया है। उनकी कविताएँ, कहानियाँ, निबन्ध और आलोचनाएँ प्रचुर मात्रा में लिखी पड़ी हैं। यदि वे प्रकाशित हो पातीं, तो बिहार की साहित्य-सेवा का बहुत सम्मान होता। उन्होंने 'मेघदूत' का जो पद्यानुवाद किया है, वह जब छपेगा, तब आजतक के अनुवादों में आदरणीय स्थान का अधिकारी होगा। संस्कृत के विद्वान् होने के कारण वे बहुत सुन्दर गद्य लिखते हैं। अँगरेजी और बँगला में भी उनकी अच्छी गति है। पर, दुर्भाग्यवश अभी तक बिहार उनकी विदग्धता की विभूति से वंचित है।

श्रीप्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' जैसे अच्छे कवि हैं वैसे कथाकार और पत्रकार भी। उनकी परिमार्जित गद्य-शैली से प्रकट होता है कि वे एक समर्थ गद्यकार हैं। वे संस्कृत और बँगला से जो अनुवाद करते हैं, वह मौलिक गद्य की तरह प्रतीत होता है। 'पुलिना के पत्र' और 'संन्यासी' नामक उनके दो उपन्यास हमने देखे हैं। श्रीललितकुमारसिंह 'नटवर' पत्रकार और नाटककार के रूप में परिचित हो चुके हैं। पर, आजकल वे चल-चित्र-जगत् में अपना नाट्य-कौशल दिखला रहे हैं। श्रीरामेश्वर झा 'द्विजेन्द्र' पत्रकार और कथाकार के रूप में भी हिन्दी की सेवा कर रहे हैं। उनके कहानी-संग्रह 'किरात-कन्या' से उनका गद्य-रचना-कौशल प्रकट होता है। आजकल वे 'भागलपुर-समाचार' के सम्पादक हैं।

हमारे अन्य सुपरिचित कवियों में केवल श्रीब्रजकिशोर नारायण ही नाटककार और उपन्यासकार के रूप में भी आगे आये हैं। वे पत्रकार भी हैं। उनका विदेश-यात्रा-वर्णन बड़ा मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक है, जो पुस्तक-रूप में प्रकाशित[1] होनेवाला है। प्रोफेसर आनन्दनारायण शर्मा भी निबन्ध और आलोचनाएं काफी लिखते हैं, पर अभी तक उनकी कोई गद्यात्मक पुस्तक हमारी नजर से नहीं गुजरी है। श्रीउमेशचन्द्र 'मधुकर' के पास भी निबन्ध और कहानियाँ अप्रकाशित पड़ी हैं। श्री 'अरुण' और प्रोफेसर 'किशोर' अभी काव्योद्यान में ही रम रहे हैं। श्री 'मुकुर' की गद्य-रचनाएँ

१. यह पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है। —ले०

पत्र-पत्रिकाओं तक ही सीमित हैं। 'सुजन' जी और 'रुद्र' जी की प्रवृत्ति गद्य की ओर नहीं दीख पड़ती, पर वे चाहें, तो सफल गद्यकार हो सकते हैं; क्योंकि सरकारी अनुवाद-विभाग में उन्हें भाषा-शैली पर विचार करते रहने का सुयोग मिला हुआ है। प्रोफेसर सिद्धनाथ कुमार ने रेडियो की टेकनीक पर एक अच्छी गद्य-पुस्तक लिखी है, जो हिन्दी में अपने विषय की नई चीज है। आकाशवाणी के क्षेत्र में उनकी प्रतिभा ने प्रशंसनीय काम कर दिखाया है। उनकी गद्य-पद्य-रचनाओं में उनका उज्ज्वल भविष्य झलकता है। श्रीहवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' और श्री श्रीरञ्जन सूरिदेव के निबन्ध पत्र-पत्रिकाओं में छपते हैं। पर, उनका कोई संग्रह कहीं से नहीं निकला है।

श्रीहरेन्द्रदेव नारायण का भी कोई निबन्ध-संग्रह देखने में नहीं आया है। पर, उनकी पत्रकार-कला का परिचय मिल चुका है और उनकी कवयित्री पत्नी श्रीमती प्रकाशवती नारायण ने कहानियाँ लिखने में अच्छी कुशलता प्रदर्शित की है। श्री 'मुकुल' जी कुशल पत्रकार के साथ ही नाटककार और कथाकार भी हैं। उनके दो मौलिक नाटकों के साथ उनका एक कहानी-संग्रह भी प्रकाशित हुआ है। कवि नागार्जुन की गद्य-रचनाएँ हिन्दी-संसार में लोकप्रियता और प्रशंसा पा चुकी हैं। उनका 'गीतगोविन्द' का सरल गद्यानुवाद सुन्दर उतरा है। उनके उपन्यासों की गद्य-शैली विशेषतापूर्ण है। डॉक्टर दिवाकरप्रसाद विद्यार्थी जब कवि और कथाकार तथा आलोचक के रूप में प्रकट हुए, तब ऐसा प्रतीत हुआ कि उनकी प्रतिभा बिहार का नाम चमकावेगी, पर उन्होंने आतिश-बाजी की तरह साहित्याकाश को उद्भासित करके हिन्दी को चित्त से उतार ही दिया। वे अँगरेजी-साहित्य के प्रौढ विद्वान् हैं, पर उनके गंभीर अध्ययन का प्रसाद हिन्दी को न मिल सका। यदि वे अँगरेजी में हिन्दी-साहित्य का इतिहास ही लिख देते तो कोई शिकायत न रहती।

कवि 'शेखर' (प्रोफेसर मुरलीधर श्रीवास्तव) अच्छे आलोचक और निबन्धकार हैं। उन्होंने बिहार के प्रमुख कवियों और गद्यकारों पर आलोचनात्मक पुस्तकें लिखी हैं। अँगरेजी की कुछ प्रसिद्ध पुस्तकों का गद्यानुवाद भी सफलतापूर्वक किया है। अनुवाद प्रायः गद्यकार के लिए कड़ी कसौटी हुआ करता है।

'हिन्दी-साहित्य-कोश'

हिन्दी में अनेक प्रकार के कोश हैं। नये-नये बनते भी जा रहे हैं। तब भी कई तरह के कोशों के अभाव का अनुभव किया जा रहा है। पर, जो बन रहे हैं, वे जब निकलेंगे, तब बहुत-से अभाव दूर हो जायेंगे। भौगोलिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, पौराणिक, वैदिक आदि कई प्रकार के कोशों की रचना की सूचना दीख पड़ी है; पर 'हिन्दी-साहित्य-कोश' का प्रणयन विशेष महत्त्वपूर्ण प्रयास है। 'साहित्य' में हमने बहुत पहले ही इसकी आवश्यकता की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया था।

यह कोश काशी के ज्ञान-मण्डल-कार्यालय से प्रकाशित होनेवाला[1] है। इसके लिए जो सम्पादन-समिति बनी है, उसके सदस्य हैं—डॉक्टर धीरेन्द्रवर्मा (प्रधान), डा० ब्रजेश्वर वर्मा, डॉ० धर्मवीर भारती, श्रीरामस्वरूप चतुर्वेदी, डॉ० रघुवंश (संयोजक)। अनुमानतः, यह रॉयल आकार के आठ सौ पृष्ठों का होगा। संभव है कि तैयार होते-होते पृष्ठ-संख्या एक हजार तक भी पहुँच जाय। इसके सम्पादकीय विभाग का प्रधान कार्यालय प्रयाग में रखा गया है, जिसका पता है—३४, चैथम लाइन्स। इसके तैयार होने की अवधि डेढ़ वर्ष रखी गई है, जो कार्य की गुरुता देखते हुए कम ही जान पड़ती है। इसमें दो-चार साल भी लग जायँ, तो कोई बड़ी बात नहीं, कमाल ही होगा।

इसमें प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र-सम्बन्धी विषयों—रस, ध्वनि, अलंकार, छन्द आदि के अतिरिक्त पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के तत्त्वों और सिद्धान्तों का भी विशद विवेचन रहेगा। साहित्य-संसार में प्रचलित विविध प्रकार के नये-पुराने 'वादों' एवं प्रवृत्तियों का विश्लेषण, उनका ऐतिहासिक और शास्त्रीय परिचय देते हुए, निष्पक्ष भाव से किया जायेगा। हिन्दी-भाषा और उसके विस्तृत क्षेत्र की जनपदीय बोलियों का मार्मिक विवेचन, भाषा-विज्ञान के आधार पर, तटस्थता के साथ होगा। साहित्यिक और पारिभाषिक शब्दों के प्रामाणिक अर्थ के साथ-साथ उनके प्रयोग की विशेषताएँ भी बतलाई जायेंगी। इस प्रकार, यह ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य के अध्ययन-अध्यापन में तो सहायक होगा ही, उसमें अनुसन्धान करनेवालों के लिए भी यह बड़ा हितकर सिद्ध होगा।

यथासंभव इसको साहित्यिक विश्वकोश बनाने का प्रयत्न होना चाहिए। प्रथम संस्करण के प्रकाशित और व्यवहृत होने के बाद ही इस बात का पता लग सकता है कि इसमें कहाँ क्या कमी रह गई है। ऐसे कोश का आकार-प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ता ही जायगा। प्रथम प्रयास में ही सारी आवश्यकताओं की पूर्त्ति नहीं हो सकती। तब भी साहित्यानुरागियों और साहित्य सेवियों को अपनी कठिनाइयों और समस्याओं को सम्पादकों के पास अपनी सम्मति के साथ भेजना चाहिए। जो अहर्निश साहित्य का अनुशीलन करते हैं, उन्हें नाना प्रकार की जानकारियों की जरूरत महसूस होती है। अगर वे अपनी जिज्ञासाओं से सम्पादकों को परिचित कराते चलें, तो वे कोश को सर्वाङ्गपूर्ण बनाने में काफी दूर तक सफल हो सकते हैं। सम्पादक-मण्डल को साहित्य-जगत् के विशेषज्ञ विद्वानों का भी सहयोग सुलभ है, यह सन्तोष का विषय है। इससे आशा होती है कि कोश का अभीष्ट रूप ही सामने आवेगा। ज्ञानमण्डल का यह अभिनन्दनीय सत्कार्य सांगोपांग सम्पन्न हो, यही ईश्वर से प्रार्थना है।

संताली भाषा का एकमात्र पत्र 'होड़-सोम्बाद'

बिहार-सरकार के जनसम्पर्क-विभाग द्वारा वैद्यनाथ धाम, देवघर (संताल परगना) से, श्री 'समीर' जी के सम्पादकत्व में, गत नौ वर्षों से 'होड़-सोम्बाद' नामक संताली भाषा

१. यह ग्रंथ प्रकाशित हो चुका है।—ले०

का समाचार-पत्र देवनागरी-अक्षरों में निकलता है। अबतक संताली भाषा रोमन-लिपि में ही लिखी जाती रही है, किन्तु इस पत्र के प्रकाशन-काल से संताली-भाषियों में नागराक्षर का भी प्रचार हो रहा है।

यह पत्र न केवल बिहार के आदिवासियों में, बल्कि उड़ीसा, पश्चिम बंगाल और आसाम के आदिवासियों के बीच भी प्रचलित है। इसके द्वारा आदिवासियों में देवनागराक्षर का प्रचार दृढ़ता से हो रहा है। फलस्वरूप, हिन्दी-प्रचार का उर्वर क्षेत्र तैयार होता जाता है। इस पत्र में केवल देश-विदेश के समाचार ही नहीं छपते, बल्कि संताली भाषा के साहित्य से संबंध रखनेवाले लेख भी छपते हैं, जिनसे संतालीभाषियों की सामाजिक स्थिति, धार्मिक भावना और साहित्यिक तथा सांस्कृतिक चेतना का भी पता लगता है। इस पत्र के द्वारा संताली भाषा के बहुत-से आदिवासी लेखक और कवि प्रकाश में आये हैं तथा यह भी प्रकट हुआ है कि अन्य जनपदीय भाषाओं की तरह संताली भाषा भी साहित्यिक सम्पत्ति से संपन्न है।

आदिवासी संताली हमारे देश के अत्यन्त प्राचीन निवासी हैं। पर, अधिकतर जंगली प्रदेशों में रहने के कारण उनका सम्बन्ध भारतवासी जनता से टूट-सा गया था। किन्तु, इस पत्र के द्वारा दोनों में निकटतम सम्बन्ध स्थापित होने की आशा है। इसका श्रेय इस पत्र के सम्पादक श्री 'समीर' जी को है, जो संताली के पंडित होते हुए भी हिन्दी के सुपरिचित लेखक हैं और जिनके लेखों से हिन्दी-संसार में आदिवासी क्षेत्र की भाषाओं के साहित्य की विशेषताएँ प्रकट हुई हैं।

हमारी समझ में, अच्छा होता, यदि इस पत्र के एक स्तम्भ में संताली और हिन्दी की गद्य-पद्य-रचनाओं के बिंब-प्रतिबिंब-भाव प्रकाशित हुआ करते, जिनसे दोनों भाषाओं के गद्य-पद्यात्मक साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन में सहायता मिलती। यदि संताली भाषा के शब्दों, मुहावरों, कहावतों और पहेलियों का अर्थ और पर्याय भी हिन्दी में प्रत्येक अंक में दिया जाता, तो दोहरा लाभ होता। सम्पादक 'समीर' जी दोनों भाषाओं के विद्वान् हैं, इसलिए आशा है कि वे हमारे सुझाव पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करेंगे।

—त्रैमासिक 'साहित्य' (पटना); वर्ष ७, अंक २; आषाढ़, २०१३ वि०;
जुलाई, १९५६ ई०

बिहार के दो वयोवृद्ध साहित्य-सेवियों का देहावसान

गत भाद्र मास के अन्दर ही बिहार के दो पुराने और प्रतिष्ठित साहित्य-सेवियों का स्वर्गारोहण बड़ा दुःखद हुआ है। पण्डित देवदत्त त्रिपाठी और बाबू व्रजनन्दन सहाय 'व्रजवल्लभ' के निधन से प्राचीन साहित्यिक परम्परा के दो विशाल प्रतीक-स्तम्भ धराशायी हो गये।

त्रिपाठीजी श्रीकृष्णजन्माष्टमी के दूसरे दिन और व्रजवल्लभ जी भाद्र-पूर्णिमा को स्वर्गवासी हुए। अन्तकाल में दोनों की आयु क्रमशः बयासी और चौरासी वर्ष की थी। दोनों शाहाबाद जिले के निवासी थे। साहित्य-सेवा में यावज्जीवन दोनों का मनोयोग रहा।

त्रिपाठीजी संस्कृत के तो लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् और कवि थे ही, हिन्दी के भी अनुरागी और लेखक थे। उनके स्वर्गीय पिता महामहोपाध्याय रघुनन्दन त्रिपाठी भी हिन्दी के हितैषी और समर्थक थे। सौभाग्यवश हम दोनों से परिचित थे। संस्कृत के अनन्य उपासक होते हुए भी दोनों ने हिन्दी को सहर्ष राष्ट्रभाषा माना तथा हिन्दी बोलने और लिखने में भी सदा गर्व-गौरव का ही अनुभव किया। दोनों ही संस्कृतज्ञ पण्डित-समाज का ध्यान सदा हिन्दी के महत्त्व की ओर आकृष्ट करते रहे। हिन्दी-हित-साधन में दोनों कभी पश्चात्पद न हुए। दोनों की जीवनी हिन्दी में पुस्तकाकार प्रकाशित है। पण्डित देवदत्तजी ने अपने दीर्घ जीवन के अन्तिम दिनों तक जो डायरी लिखी है, वह भी यदि छप सकती, तो पिछले चालीस-पचास वर्षों की संचित साहित्यिक स्मृतियाँ सुरक्षित रह जातीं और इस प्रकार साहित्य की एक अमूल्य निधि का उद्धार भी हो जाता।

व्रजवल्लभजी का पेशा तो वकालत का था, पर साहित्य-सेवा उनकी पैतृक सम्पत्ति थी। उनके स्वर्गीय पिता स्वनामधन्य बाबू शिवनन्दन सहाय भारतेन्दु-युग से द्विवेदी-युग पर्यन्त अनवरत साहित्य-समाराधन में संलग्न रहे। पिता की तरह पुत्र ने भी लगातार पचास वर्षों तक हिन्दी-साहित्य की स्तुत्य सेवा की। दोनों की सेवाएँ चिरस्मरणीय हैं। जीवनी-लेखन के क्षेत्र में पिता कीर्त्तिशाली हुए और पुत्र उपन्यासकार के रूप में। ऐसे आदर्श उदाहरण हिन्दी-जगत् में विरल हैं।

व्रजवल्लभजी यशस्वी कथाकार के अतिरिक्त व्रजभाषा और खड़ीबोली के सुन्दर कवि भी थे। उनके सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास 'सौन्दर्योपासक' ने बीसवीं सदी की दूसरी दशाब्दी के आरम्भ में ही बड़ी प्रसिद्धि पाई थी। उस समय उसकी गणना गद्य-काव्य में होने लगी थी। द्विवेदी-युग की 'सरस्वती' में कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने उसकी आलोचना करते हुए उसे बँगला-भाषा के उस समय के उत्तम उपन्यासों का समकक्ष बतलाया था। उसके आरम्भ में जो 'प्रेम' शीर्षकवाली कविता है, वह भी 'सरस्वती' में छपी थी। फिर काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की मनोरंजन-पुस्तकमाला में प्रकाशित उनका 'लालचीन' नामक दूसरा उपन्यास भी हिन्दी के तत्कालीन ऐतिहासिक उपन्यासों में उच्च स्थान का अधिकारी माना गया था। उनका दूसरा ऐतिहासिक उपन्यास 'विस्मृत सम्राट्' और अन्तिम दार्शनिक उपन्यास 'विश्व-दर्शन' हिन्दी के कथा-साहित्य की शोभा बढ़ानेवाला है। उनके उपन्यासों की भाषा बड़ी ललित और सरस है। उनकी शैली हृदयग्राहिणी है। अपने युग के उपन्यासकारों में उन्होंने स्पृहणीय कीर्त्ति अर्जित की थी। हिन्दी-साहित्य के कथाकारों में उनका नाम निस्सन्देह अमर रहेगा।

व्रजवल्लभजी ने ही सब से पहले 'मैथिल-कोकिल विद्यापति' नामक गवेषणापूर्ण पुस्तक लिखकर विद्यापति को पुष्ट प्रमाणों के आधार पर बिहार-निवासी महाकवि सिद्ध किया।

उस समय वे आरा नगर की नागरी-प्रचारिणी सभा के मंत्री थे। उन्हीं के समय में 'सभा' ने भारत के देशी राज्यों, विश्वविद्यालयों और सरकारी कचहरियों में देवनागरी-लिपि और हिन्दी-भाषा के प्रचार का व्यापक आन्दोलन किया था। उन्होंने अपने जीवन-काल में ही अपना और अपने पिता का बृहत् ग्रन्थ-संग्रहालय आरा के बाल-हिन्दी-पुस्तकालय को समर्पित कर दिया था, जो उनकी इच्छा के अनुसार उनके पिता के स्मारक-रूप में वहाँ सुरक्षित है और साहित्यिक शोध-कार्य के लिए विशेष उपयोगी होने के कारण दर्शनीय है।

अँगरेजी और बँगला के कथा-साहित्य की कुछ पुस्तकों का हिन्दी-अनुवाद भी उन्होंने किया था। बँगला उनकी घरेलू भाषा के समान थी। उनका विवाह एक बंगीय परिवार में हुआ था। वे दीर्घजीवी पूर्वजों के वंशधर थे। उनके पितामह को हमने भी लगभग एक सौ दस वर्ष की आयु में देखा था और उनके वृद्ध पिता से तो अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ में प्रेरणा भी प्राप्त की थी। उनके ज्येष्ठ सुपुत्र श्रीरमेशनन्दन सहाय, एम्० ए०, बी० एल्० ने भी वंश-परम्परागत साहित्य-सेवा का क्रम अच्छा चलाया था। 'माधुरी' आदि उच्चकोटि की पत्रिकाओं में उनकी अनेक रचनाएँ प्रकाशित होती रहीं। हम उन्हें सुयोग्य उत्तराधिकारी के रूप में देखना चाहते हैं।

हिन्दी-साहित्यसेवियों के साहित्यिक पत्रों का संग्रह

गत वर्ष हमने 'साहित्य' द्वारा हिन्दी में पत्र-साहित्य की कमी की ओर हिन्दी-पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया था। प्रसंगवश यह भी लिखा था कि उर्दू में पत्र-साहित्य हिन्दी से बहुत अधिक है। यह देखकर किञ्चित् सन्तोष हुआ कि पूज्य आचार्य द्विवेदीजी के पत्रों का संग्रह श्रीबैजनाथसिंह 'विनोद' ने इण्डियन प्रेस (प्रयाग) से प्रकाशित कराया था और अब श्रद्धेय पण्डित पद्मसिंह शर्मा के पत्रों का संग्रह पण्डित बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने आत्माराम ऐण्ड सन्स (दिल्ली) से प्रकाशित कराया है। ऐसे पत्र-संग्रहों के प्रकाशन का क्रम यदि बराबर चलता रहा, तो आशा है कि हिन्दी का पत्र-साहित्य आगे आनेवाले कुछ ही वर्षों में बहुत सम्पन्न हो जायगा। हिन्दी-पाठकों में भी पत्र-साहित्य पढ़ने की प्रवृत्ति क्रमशः बढ़ रही है। धीरे-धीरे प्रकाशक भी इसकी उपयोगिता समझने लगे हैं। लेखकों को भी साहित्यिक पत्रों के संग्रह में दत्तचित्त होना चाहिए।

सबसे पहले पुराने और स्वर्गीय साहित्य-महारथियों के पत्रों का संग्रह प्रकाशित होना आवश्यक है। किन्तु, उनका मिलना बड़ा कठिन है। तब भी सतत प्रयास से अनेक महान् साहित्यकारों के पत्र प्राप्त किये जा सकते हैं। पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक इस काम में विशेष सहायक होंगे। पत्र-संग्रह का आन्दोलन होने से यदि कुछ साधारण पत्र भी एकत्र हो जायँगे, तो उनमें से महत्त्वपूर्ण पत्रों का चुनाव किया जा सकता है। इस दिशा में बराबर खोज होती रही, तो साहित्य-जगत् की बहुतेरी पुरानी घटनाएँ प्रकाश में आवेंगी और कितनी ही लुप्त बातों का उद्धार होगा।

प्रेमचन्दजी के पत्रों का संग्रह उर्दू में छपा है, पर हिन्दी में आज तक नहीं छपा, यह आश्चर्य और खेद की बात है। उनके पत्रों के संग्रह में विशेष कठिनाई होने की आशा नहीं है। उनके कितने ही पत्र कई पत्रिकाओं में छप भी चुके हैं। उनकी समस्त रचनाओं को प्रकाशित करनेवाले उनके सुपुत्रों को यह काम तत्परता से और अविलम्ब करना चाहिए। गणेशशंकरजी विद्यार्थी के पत्र भी खोज करने से अभी मिल सकते हैं। उनके पत्रों का संग्रह हिन्दी-साहित्य और भारतीय राजनीति के बहुत-से रहस्यों का उद्‌घाटन करेगा। इसी प्रकार, साहित्यिक पत्रों के अतिरिक्त राजनीतिक पत्रों का संग्रह एवं प्रकाशन भी होना चाहिए। महान् और लोक-सेवक व्यक्तियों के घरेलू पत्र भी बड़े मनोरंजक और शिक्षाप्रद होंगे। यदि ऐसे पत्रों का संग्रह किया जाय, तो बिखरी हुई विपुल साहित्य-सामग्री एकत्र हो सकती है। इस कार्य के पूरा होने से साहित्य का बड़ा भारी उपकार होगा।

—त्रैमासिक 'साहित्य' (पटना); वर्ष ७, अंक ३; आश्विन २०१३ वि०;
अक्तूबर, १९५६ ई०

अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी का स्मारक

हिन्दी-पत्रकारिता के इतिहास में कानपुर के 'प्रताप'-सम्पादक स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी का शुभ नाम सुनहले अक्षरों में सदैव अंकित रहेगा। आज तक हिन्दी-संसार में उनके समान प्रतापी सम्पादक कोई न हुआ। जिस समय, आज से लगभग पच्चीस वर्ष पहले, साम्प्रदायिक एकता की बलि-वेदी पर उन्होंने आत्मोत्सर्ग किया था, उस समय उनका स्मारक बनाने के लिए काफी आन्दोलन हुआ। उस आन्दोलन में देश के बड़े-बड़े नेताओं का सहयोग होने पर भी, उस समय उनके बलिदान के गौरव के अनुकूल कोई स्मारक न बन सका। परन्तु, हर्ष और सन्तोष का विषय है कि कानपुर के उदार नागरिकों के सदुद्योग से उनका एक स्मारक वहाँ स्थापित हो गया है। उसका नाम 'गणेशशंकर विद्यार्थी-स्मारक-शिक्षा-समिति' है। समिति के मंत्री श्रीराधाकृष्णजी से प्राप्त सूचनाएँ उत्साह-वर्द्धिनी हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. स्मारक—विद्यार्थीजी की आदमकद मूर्त्ति जयपुर में बन रही है। आगामी २८ फरवरी तक तैयार हो जायगी, तथा हम आगामी २५ मार्च—उनके बलिदान-दिवस पर उसे कानपुर में स्थापित कर देना चाहते हैं।

२. विद्यालय—माण्टसरी तथा माध्यमिक दोनों ही मेण्टन रोड, कानपुर में किराये के भवन में चल रहे हैं। इस वर्ष हायर सेकण्डरी तक मान्यता प्राप्त कर लेना चाहते हैं। भवन के लिए जमीन भी संभवतः इस वर्ष मिल जायगी।

३. ग्रन्थ—विद्यार्थी जी की जीवनी इसी जनवरी माह में प्रकाशित हो रही है। सम्पूर्ण ग्रन्थ यथाशीघ्र तीन माह के भीतर प्रकाशित कर देना चाहते हैं।

पूर्वाङ्कित सूचनाओं के अतिरिक्त समिति का उद्देश्य यह भी है कि वर्त्तमान माध्यमिक विद्यालय को एक आदर्श राष्ट्रीय शिक्षा-संस्था के रूप में कॉलेज तक बढ़ाया जाय तथा श्रद्धेय विद्यार्थीजी की जीवनी के सिवा उनके लेखों, भाषणों एवं संस्मरणों का प्रकाशन भी किया जाय।

हमारा विचार है कि उनकी पुण्य-स्मृति में जो विद्यालय संचालित हो रहा है, वह महाविद्यालय के रूप में परिणत हो अवश्य, पर उसमें हिन्दी-पत्रकारिता-कला और पत्र-सम्पादन-कला की विधिवत् शिक्षा का भी समुचित प्रबन्ध किया जाय। तभी वह संस्था उनके जीवन के सिद्धान्तों और लक्ष्यों की पूर्त्ति कर सकेगी। इसके अतिरिक्त, 'प्रताप' में उन्होंने जितने सम्पादकीय अग्रलेख लिखे थे और सम्पादकीय टिप्पणियाँ भी लिखी थीं, उन सबको अविकल रूप में समय-संकेतपूर्वक प्रकाशित कर दिया जाय। यों तो, उनके अन्यत्र प्रकाशित लेखों और उनकी रचित पुस्तकों को भी सुसम्पादित ग्रन्थावली का रूप देना अत्यावश्यक है।

कानपुर धनाढ्यों का महानगर है। वह उत्तर-भारत का एक प्रमुख व्यापार-केन्द्र है। विद्यार्थीजी ने अपनी निष्कलंक देशभक्ति और चिरस्मरणीय साहित्य-सेवा से उस नगर को विशेष गौरवान्वित किया है। प्रसन्नता की बात है कि उसके सजग नागरिक अपना कर्त्तव्य समझ रहे हैं, अतः आशा है कि विद्यार्थीजी का स्मारक उनके नाम और यश के अनुरूप ही चिरस्थायी रूप धारण करेगा।

जहाँ तक हमको स्मरण है, श्रद्धेय विद्यार्थीजी का एक स्मारक महाकवि मैथिली-शरण गुप्त के जन्म-ग्राम (चिरगाँव, झाँसी) में भी स्थापित है। संभवतः, वह भी शिक्षण-संस्था और व्यायामशाला के रूप में है, किन्तु विद्यार्थीजी के समान तेजस्वी पत्रकार और मनस्वी साहित्यकार की वास्तविक स्मृति-रक्षा उनकी सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थावली से ही हो सकती है। यदि उनके लिखे पत्रों का संग्रह भी प्रकाशित हो सके, तो उससे साहित्य का वैभव ही बढ़ेगा, और हमारी नई पीढ़ी को पर्याप्त प्रेरणा भी मिलेगी।

अमर कथाकार प्रेमचंदजी का स्मारक

प्रेमचंदजी हिन्दी के केवल कथाकार ही न थे, बल्कि एक यशस्वी पत्रकार और निबंधकार भी थे। उनके रचे हुए कथा-साहित्य और निबंधों का प्रकाशन हो चुका है। हमें विश्वस्त सूत्र से पता चला है कि उनके सम्पादकीय लेखों, टिप्पणियों और पत्रों का भी संग्रह प्रकाशित होनेवाला है। साहित्यस्रष्टा का सच्चा स्मारक उसके द्वारा रचित साहित्य का संरक्षण ही है। संतोष है कि उनके उत्तराधिकारियों को उनकी साहित्यिक सम्पत्ति की सुरक्षा पर ध्यान है।

इधर काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के सत्प्रयास से प्रेमचन्द-स्मारक के निर्माण का विशेष आयोजन हुआ है। सभा के कर्णधारों और हितैषियों ने जो प्रेमचन्द-स्मारक-मण्डल बनाया है, उसने निम्नलिखित निश्चय किये हैं :

१. प्रेमचंदजी ने अपने गाँव (लमही, पांडेपुर, वाराणसी) के मकान के जिस कमरे में जन्म लिया था, धन एकत्र करके उसकी सुरक्षा का प्रबन्ध किया जाय तथा भवन के चारों ओर एक पक्की प्राचीर बनवाई जाय। इस काम में दस हजार रुपये खर्च होने का अनुमान है।

२. गाँववालों ने जो प्रेमचंद-विद्यालय स्थापित किया है, उसके निमित्त कोई उपयुक्त स्थान निश्चित करके नया भवन बनवाया जाय। साथ ही, विद्यालय के संचालन तथा भवन-निर्माण के हेतु एक लाख रुपयों का प्रबन्ध किया जाय। इसके लिए प्रान्तीय सरकार, केन्द्रीय सरकार तथा जनता से आर्थिक सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया जा रहा है। उक्त विद्यालय में एक प्रेमचंद-पुस्तकालय की भी व्यवस्था रहेगी।

३. 'लमही' ग्राम का नाम बदलकर 'प्रेमचंद-ग्राम' रखने तथा काशी के क्वीन्स-कॉलेज के पास से जो सड़क पांडेपुर होती हुई 'लमही' ग्राम जाती है, उसका नाम प्रेमचंद-मार्ग कराने के लिए भी उचित कार्यवाही की जाय।

४. प्रेमचंद की पत्नी श्रीमती शिवरानी देवी से उनका गाँववाला मकान माँगकर उसमें प्रेमचंद-स्मारक बनाया जाय, जिसमें स्मारक के दर्शनार्थ आनेवाले सज्जनों के विश्रामालय का भी प्रबन्ध रहे और उसमें समस्त प्रेमचंद-साहित्य के प्रदर्शन की व्यवस्था भी हो। प्रेमचंदजी के हस्तलिखित कागज-पत्र भी उसमें संचित किये जायँ। उस भवन की मरम्मत में पाँच हजार रुपये के खर्च का अनुमान है। उसी भवन में प्रेमचंदजी के जन्मगृह में एक हजार रुपये के खर्च से प्रेमचंदजी की एक पाषाण-प्रतिमा स्थापित की जाय—इस कार्य को प्राथमिकता दी जाय।

५. प्रेमचंदजी की निधन-तिथि हर साल आठ अक्तूबर को और जन्म-तिथि ३१ जुलाई को पड़ती है। अतः, ये स्मृति-तिथियाँ समस्त हिन्दी-संसार में यथोचित रीति से मनाई जायँ।

६. 'लमही' ग्राम को जानेवाली कच्ची सड़क, जिला बोर्ड अथवा प्रान्तीय सरकार द्वारा, चौड़ी और पक्की बनवा दी जाय।

सभा ने आज तक हिन्दी-भाषा की समृद्धि, देवनागरी-लिपि के प्रचार, हिन्दी-साहित्य के अभ्युदय, और लोकप्रिय साहित्य-सेवियों के सम्मान के लिए जो प्रयत्न किये हैं, वे ऐतिहासिक महत्त्व के हैं। उसके द्वारा संघटित यह स्मारक-मण्डल भी वैसा ही महत्त्वपूर्ण कार्य करने में समर्थ होगा, ऐसा हमारा विश्वास है। आशा है कि सारा हिन्दी-जगत् सभा के इस शुभ-अनुष्ठान में हार्दिक-आर्थिक योगदान करेगा।

बहुत अच्छा होता, यदि प्रेमचंदजी की सभी रचनाओं के प्रथम संस्करणों और उनके द्वारा सम्पादित पत्रों—साप्ताहिक 'जागरण' और मासिक 'हंस'—की प्रतियाँ भी प्रेमचंद-पुस्तकालय में सुरक्षित रख दी जातीं। विविध अवस्थाओं के उनके चित्र भी संगृहीत हों, तो और अच्छा। बिहार के सुपरिचित हिन्दी-साहित्यसेवी और कवि तथा कुशल अभिनेता श्रीललितकुमारसिंह 'नटवर' ने दिल्ली के हिन्दी दैनिक 'हिन्दुस्तान' में एक संस्मरणात्मक लेख लिखकर यह सुझाव दिया था कि 'मिल-मजदूर' नामक फिल्म में

प्रेमचंदजी ने स्वयं जो अभिनय किया था, उसका भी फोटो-फिल्म संगृहीत होना चाहिए। विश्वास है कि सभा द्वारा निर्मित उक्त 'मंडल' हमारे नम्र निवेदन पर ध्यान देने की भी कृपा करेगा।

स्वर्गीय महाराज कुमार बाबू रामदीनसिंह का स्मारक

उन्नीसवीं सदी के अन्तिम और बीसवीं सदी के प्रथम प्रहर में भारतेन्दु-सखा बाबू रामदीनसिंह की साहित्य-सेवा ने अखिल हिन्दी-जगत् का ध्यान आकृष्ट किया था। उन्होंने ही सबसे पहले भारतेन्दु-साहित्य के प्रकाशन और प्रचार का प्रयत्न किया था। यदि अतिशयोक्ति न समझी जाय, तो वे भारतेन्दु की कीर्त्ति-पताका के दंड बने थे। वे अपने समय के साहित्य-सेवियों के लिए कल्पतरु कहे जाते थे। उस समय के अनेक प्रमुख साहित्यकारों के वे आश्रयदाता थे। अपने अभिन्न मित्र भारतेन्दु की तरह उन्होंने भी बहुत-से साहित्यिक व्यक्तियों की पुस्तकों की पांडुलिपियाँ मुँहमाँगा पुरस्कार देकर संगृहीत की थीं, जिनमें से बहुतेरी तो उनके जीवन-काल में ही प्रकाशित हो गईं और उनके निधन के बाद अनेक अप्रकाशित पड़ी रहीं। उनके द्वारा स्थापित खड्गविलास प्रेस (पटना) के संग्रहालय में आज भी प्रचुर प्रकाशित प्राचीन साहित्य और अप्रकाशित भी संचित हैं। वह साहित्य-भांडार वर्त्तमान युग के साहित्यिक अनुसंधायकों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। किन्तु, दुर्भाग्यवश लोक-लोचन से ओट होने के कारण साहित्यिक शोध-कार्य के लिए उसका सार्वजनिक सदुपयोग नहीं हो पाता। जिस प्रकार उनकी स्मृति में पटना-विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में, एक साहित्यिक व्याख्यान-माला चलती है, जिसमें महाकवि 'हरिऔध', स्वनामधन्य मिश्रबन्धु, रायकृष्णदास आदि समर्थ साहित्य-सेवियों के भाषण हो चुके हैं, उसी प्रकार यदि उनके प्रेस में संचित संग्रहालय पटना-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अन्तर्गत सुरक्षित रख दिया जाता, तो साहित्यिक शोध-कार्य में अभूतपूर्व प्रगति होती।

स्वर्गीय महाराज कुमार के सुयोग्य उत्तराधिकारी श्रीशार्ङ्गधरसिंहजी केन्द्रीय संसद् के मान्य सदस्य हैं और पटना-विश्वविद्यालय के उपकुलपति भी रह चुके हैं। यद्यपि उनके समान शिक्षा-प्रेमी और विद्यानुरागी को किसी प्रकार का सुझाव देना अनावश्यक है, तथापि इस साहित्यिक आवश्यकता की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया गया, पर खेद है कि आज तक उसकी पूर्त्ति नहीं हुई।

हमें स्मरण है कि स्वर्गीय महाराजकुमार के ज्येष्ठ सुपुत्र स्वर्गीय रायबहादुर रामरणविजयसिंहजी जब तत्कालीन बिहार-प्रादेशिक-साहित्य-सम्मेलन के (सन् १९२५ ई० में सम्पन्न) मुंगेर-अधिवेशन के सभापति हुए थे, तब उनकी सेवा में सम्मेलन की ओर से एक शिष्ट-मंडल उपस्थित हुआ था और उसने उनसे अनुरोध किया था कि स्वर्गीय महाराज कुमार का स्मारक एक विशाल साहित्यिक संग्रहालय के रूप में, बिहार की राजधानी में, स्थापित किया जाय। हमें यह भी स्मरण है कि उन्होंने सम्मेलन का भवन-निर्माण हो जाने पर उसी में अपने दिवंगत पिता की पुण्य-स्मृति में

'रामदीन-स्मारक-संग्रहालय' स्थापित करने का वचन दिया था। किन्तु, जब सन् १९३७ ई० के बाद सम्मेलन-भवन बनकर संग्रहालय को सुरक्षित रखने योग्य तैयार हुआ, तब उसके पूर्व ही दुर्दैव-वश वे इस धराधाम से विदा हो चुके थे। यदि आज वे जीवित होते, तो इस दुःखद टिप्पणी के लिखने की आवश्यकता न होती।

हमें पता है कि कई अधिकारी विद्वानों ने उपर्युक्त संग्रहालय से काफी लाभ उठाकर भी उसकी सुरक्षा के लिए हिन्दी-जगत् का ध्यान कभी आकृष्ट नहीं किया। हमें यह भी पता लगा है कि कुछ प्रतिष्ठित साहित्य-सेवियों ने उस संग्रहालय से बहुत-सी शोध-सामग्री हस्तगत करके उसे सदा के लिए अधिकृत कर लिया है। परन्तु, जब उसके सदुपयोग करने की सुविधा दुर्लभ है, तब साहित्यान्वेषकों का उससे येन केन प्रकारेण यथासम्भव लाभ उठा लेना अनुचित भी नहीं कहा जा सकता। फिर भी, उस अमूल्य संग्रह की रक्षा और उपयोगिता के लिए पटना-विश्वविद्यालय और बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के संचालकों तथा बिहार-सरकार के शिक्षा-विभाग को अविलम्ब प्रयत्नशील होना चाहिए। यदि ईश्वर की कृपा से ऐसा हुआ, तो हिन्दी-साहित्य के शोध-कार्य में निस्सन्देह बहुमूल्य सहायता प्राप्त होगी। तथास्तु।

'श्रीवेङ्कटेश्वर-समाचार' का हीरक-जयन्ती-अंक

बम्बई के हिन्दी-साप्ताहिक 'श्रीवेङ्कटेश्वर-समाचार' का हीरक-जयन्ती-विशेषाङ्क गत कार्त्तिक मास (नवम्बर, १९५६ ई०) में बड़ी सजधज से निकला है। वह इकसठवें वर्ष का सत्ताईसवाँ अंक है। उसके १८० पृष्ठों में अनेक धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक लेख स्थायी महत्त्व के हैं। आकर्षक आवरण और स्वच्छ-सुन्दर छपाई के कारण वह नेत्ररंजक प्रतीत होता है। अनेक चित्रों और सुचिन्तित लेखों से अलंकृत यह विशेषाङ्क दर्शनीय और संग्रहणीय है। कई विशेष मननीय लेखों के अतिरक्त अन्य उपयोगी लेख भी पठनीय हैं। साहित्यिक संस्मरणों ने इस विशेषाङ्क को तो गौरवान्वित किया ही है, साहित्यिक इतिहास के लिए भी अमूल्य सामग्री जुटा दी है। हिन्दी-पत्रकारिता-सम्बन्धी कुछ संस्मरण बड़े रोचक और अनुसन्धानशील सज्जनों के लिए उपादेय हैं। हिन्दी-साप्ताहिकों में 'श्रीवेङ्कटेश्वर-समाचार' ने देश, समाज, धर्म और साहित्य की सेवा लगातार साठ वर्षों तक करके जो प्रतिष्ठा प्राप्त की है, वह अभिनन्दनीय और चिरस्मरणीय है। प्रतिवर्ष प्रकाशित होनेवाले उसके दीपावली-विशेषाङ्क साहित्य-भाण्डार में संचित रखने योग्य होते हैं। हिन्दी-संसार में दूसरा ऐसा कोई साप्ताहिक पत्र दृष्टिगोचर नहीं होता, जिसने नियमित रूप से इतनी लम्बी अवधि तक जनता की स्तुत्य सेवा की हो। उसका यह गौरव हिन्दी-पाठकों के लिए गर्व का विषय है। हम उसके समर्थ संचालकों और वर्त्तमान सम्पादक पं० देवेन्द्र शर्मा शास्त्री को ऐसा सर्वाङ्गसुन्दर अंक प्रकाशित करने के हेतु हार्दिक बधाई देते हैं।

—त्रैमासिक 'साहित्य' (पटना); वर्ष ७, अंक ४; पौष २०१३ वि०; जनवरी, १९५६ ई०

हिन्दी में साहित्यिक शोध के साधनों की कमी

आधुनिक साहित्य-संसार में शोध-कार्य का महत्त्व दिन-दिन बढ़ रहा है। अनुसंधायकों की रुचि और प्रवृत्ति भी उधर बढ़ती जाती है। गवेषणा के विषयों की संख्या और विविधता में वृद्धि होती नजर आती है। किन्तु, शोधकों के सामने कठिनाई यह है कि उन्हें उपयुक्त और पर्याप्त सामग्री कहीं एक स्थान में नहीं मिल पाती। उन्हें हिन्दी में कोई ऐसा साधन सुलभ नहीं, जिससे वे जान सकें कि गवेषणा के योग्य कौन-सी सामग्री कहाँ मिलेगी। शोध-समस्याओं के सुलझाने की ओर किसी का ध्यान नहीं है।

विश्वविद्यालयों और साहित्यिक संस्थाओं के पुस्तकालय में जो शोध-सामग्री है, उसकी कोई विवरणात्मक सूची हिन्दी में प्राप्य नहीं है, जिससे यह जाना जा सके कि कहाँ किस विषय में खोज करने की सुविधा होगी। यदि देश-भर के प्रमुख ग्रन्थागारों की शोध-सम्बन्धी विस्तृत सूची हिन्दी में प्रकाशित हो जाती, तो खोज के काम में काफी सहायता मिलती। इससे शोध-विषयक कठिनाइयाँ तो दूर होतीं ही, अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के निर्माण से साहित्य की श्रीवृद्धि भी होती। किन्तु, हिन्दी-संसार में कोई ऐसी समर्थ संस्था नहीं है, जो यह काम सफलता से कर सके। यह काम, तो सरकार के ही करने योग्य है।

भारत बहुत विशाल देश है। हिन्दी का क्षेत्र भी कम विस्तृत नहीं है। खोज के सामान अनेक संग्रहालयों में जहाँ-तहाँ बिखरे पड़े हैं। खोज का काम तभी सुगमता से हो सकता है, जब खोज का सारा सामान एक ही जगह मिल सके। ऐसी कोई जगह हिन्दी-जगत् में नहीं दीख पड़ती। कहीं एक स्थान में सब तरह की शोध-सामग्री का संग्रह मिलना भी सम्भव नहीं जान पड़ता। किन्तु, यह सम्भव है कि विषय-विभाग करके साहित्य की विभिन्न शाखाओं में खोज करने के लिए अलग-अलग प्रबन्ध किया जाय। स्थान-विशेष में विषय-विशेष की शोध-सामग्री का संग्रह करके उसकी सूची हिन्दी में प्रकाशित कर दी जाय। प्रत्येक राज्य की राजधानी में सरकार की ओर से ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए।

यह काम प्रमुख संग्रहालयों अथवा शोध-संस्थानों के पारस्परिक सहयोग से, या हमारी राष्ट्रीय सरकार चाहे तो, आसानी से पूरा हो सकता है। खासकर विदेशों में जो शोध-सामग्री चली गई है, उसकी अविकल प्रतिलिपि स्वदेश में मँगाना सरकार के लिए ही सम्भव है। विदेशों के पुस्तकालयों में भारतीय भाषाओं के असंख्य दुर्लभ ग्रन्थ सुरक्षित हैं। उनका पूरा परिचय हिन्दी में छप जाने से अनेक रहस्यों का उद्घाटन होगा। फलस्वरूप, खोज की नई-नई दिशाओं में शोधकर्त्ताओं का अभियान होने लगेगा।

सबसे पहला आवश्यक काम है—प्रमुख ग्रन्थागारों में संचित शोधोपयोगी सामग्री की विवरणात्मक सूची हिन्दी में प्रकाशित करना। अँगरेजी में ऐसी सूचियाँ मिलती हैं। उनमें से भी हिन्दी के काम का ब्योरा छाँटकर निकाला जा सकता है। हिन्दी में ऐसी सूची के छपने पर खोज करनेवालों को बड़ा प्रोत्साहन मिलेगा। कई ग्रन्थ-भाण्डारों की सूचियाँ हिन्दी में प्रकाशित भी हुई हैं। किन्तु, हिन्दी में शोधकार्य की वर्त्तमान प्रगति को

देखते हुए हम उन्हें पर्याप्त नहीं कह सकते। जिन ग्रन्थागारों की शोध-सूची अभी तक हिन्दी में नहीं छपी है, उनके संचालकों को इसके निमित्त प्रयत्नशील होना चाहिए। सरकार की ओर से संस्थाओं को इसकी प्रेरणा मिलने की आवश्यकता है। साहित्यिक शोधकों का अनुभव है कि पुरानी और अलभ्य मासिक पत्रिकाओं की लेख-सूची भी खोज के काम में काफी सहायता पहुँचा सकती है। साहित्यिक शोध में सहायक होने योग्य प्रमुख पत्रिकाओं की पुरानी फाइलों में जो वार्षिक लेख-सूचियाँ हैं, उनमें भी अनेक लेख गवेषणा के लिए बड़े काम के मिलेंगे। यों तो उच्चकोटि की नई पत्रिकाओं की वार्षिक लेख-सूची भी पृथक् पुस्तक-रूप में प्राप्य हो, तो लाभ ही होगा; परन्तु दुर्लभ पत्रिकाओं की लेख-सूची के पुनः प्रकाशित होने से विशेष लाभ की सम्भावना है। यदि ऐसी सूची विषयानुक्रम के अनुसार तैयार की जाय, तो और भी अच्छा होगा। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के लोक-भाषा-अनुसंधान-विभाग की ओर से, अबतक संगृहीत पत्रिकाओं के आधार पर, लोक-साहित्य-सम्बन्धी पाँच सौ से अधिक प्रकाशित लेखों की सूची तैयार कराई गई है। उस विषय में खोज करनेवालों को उससे बड़ी सहायता मिलती है। अन्यान्य विषयों की भी ऐसी ही सूची बन जाय, तो अनुमान है कि शोधकों के अमूल्य समय की बड़ी बचत होगी।

किन्तु, उपर्युक्त ढंग की वर्गीकृत सूची एक ही संग्रहालय में बनने से सर्वाङ्गपूर्ण नहीं हो सकती; क्योंकि प्रत्येक पत्रिका की पूरी फाइल प्रायः एक ही जगह संगृहीत नहीं मिलती। अतः वह सूची तबतक अधूरी ही मानी जायगी, जबतक प्रत्येक पत्रिका की पूरी फाइल न छान डाली जाय। बड़े खेद की बात है कि अच्छी-अच्छी पत्रिकाओं की पूरी फाइलें किसी एक संग्रहालय में नहीं मिल पातीं। इसीलिए, लेख-सूचियों के तैयार करने में केवल संस्थाओं का सहयोग ही नहीं, सरकार की सहायता भी अपेक्षित है।

यदि हिन्दी-क्षेत्र की प्रान्तीय सरकारें इस काम के महत्त्व को समझें और इसके लिए प्रान्तीय साहित्य-सम्मेलनों को आर्थिक सहायता देने को तैयार हों, तो कुछ ही वर्षों के अन्दर शोध का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। इसके लिए प्रान्तीय सरकारों के शिक्षा-विभाग से अनुरोध करना आवश्यक है। हिन्दी-संसार में जो समर्थ प्रकाशक हैं, वे भी पहले किसी एक ही अस्तङ्गत पत्रिका की सूची प्रकाशित करके आजमाइश करें। अच्छा तो यह होता कि प्रयाग का इण्डियन प्रेस ही पहले 'सरस्वती' की गत पचास वर्षों की लेख-सूची प्रकाशित करके मार्ग-प्रदर्शन करता। अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन यदि 'सम्मेलन-पत्रिका' की और काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा अपनी त्रैमासिक पत्रिका की लेख-सूची, शुरू से आज तक की, प्रकाशित कर दें, तो उनकी कोटि की अन्य संस्थाओं को भी प्रेरणा मिलेगी। पत्र-पत्रिका-प्रकाशकों को व्यावसायिक लाभ के साथ-साथ साहित्योत्कर्ष की दृष्टि से भी इस विषय पर विचार करना चाहिए।

आज शोध-समस्या के जटिल होने का कारण यह है कि पहले कभी इसपर यथोचित ध्यान ही नहीं दिया गया। खेद है कि आज भी हिन्दी-जगत् में वही असावधानता और अदूरदर्शिता व्याप्त है। इसके लिए हमारी अगली पीढ़ी हमें कोसे बिना न रहेगी। आज का प्रकाशित साहित्य भी कहीं इस दृष्टि से नहीं सँजोया जा रहा है

कि सौ-पचास वर्ष बाद उसका सदुपयोग किया जा सके। यदि शोध-कार्य के वास्तविक महत्त्व को ध्यान में रखकर सोचा जाय, तो दैनिक और साप्ताहिक पत्रों की सुरक्षा से भी भविष्य में शोध-सम्बन्धी लाभ की संभावना हो सकती है। आज हिन्दी में कई दैनिक और साप्ताहिक ऐसे हैं, जिनकी पूरी फाइल के संग्रह एवं संरक्षण की आवश्यकता अनुभूत होती है; पर यह तो दस-बीस वर्ष बाद पता लगेगा कि आज हम कितने सजग हैं। सचमुच हम जागरूक होते, तो, क्या हमारी साहित्यिक निधियाँ सात समुद्र पार चली जातीं? अब भी अगर राष्ट्रभाषा हिन्दी के हिमायती चैतन्य-लाभ करके शोध-समस्या के समाधान में तत्पर न हुए, तो जितनी सामग्री हाथ से निकलकर विदेश चली गई, उससे अधिक स्वदेश में ही देखते-देखते नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी। हिन्दी की वर्त्तमान परिस्थिति का यही तकाजा है कि हम विदेश गई हुई वस्तुओं को किसी-न-किसी रूप में बहुरावें और स्वदेश में उपलब्ध शोध-साधनों को भी सहेजें।

'प्रसाद-अध्ययन-ग्रंथ'

काशी के यशस्वी साहित्यसेवी पं० विनोदशंकर व्यास हिन्दी-संसार के लब्ध-प्रतिष्ठ कथाकार हैं। आपने अमर साहित्यकार बाबू जयशंकर प्रसाद के सम्बन्ध में एक अध्ययन-ग्रंथ प्रकाशित करने का शुभ संकल्प किया है। इस ग्रंथ के निर्माण की मुद्रित योजना आपने हिन्दी-जगत् में प्रचारित की है। योजना की रूप-रेखा देखने से पता चलता है कि ग्रंथ वास्तव में 'प्रसाद'-विषयक साहित्यिक गवेषणा के लिए अत्यन्त उपयोगी होगा।

महाकवि प्रसाद के जीवन के साथ व्यासजी का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। आपने यह काम ऐसे समय में ठानकर बड़ी दूरदर्शिता प्रकट की है, जब प्रसादजी से व्यक्तिगत सम्बन्ध रखनेवाले अनेक साहित्यिक व्यक्ति हिन्दी-संसार में वर्त्तमान हैं। संतोष की बात है कि ग्रंथ-निर्माण का श्रीगणेश करते ही व्यासजी को भारत के एक सौ पचास प्रमुख विद्वानों का सहयोग प्राप्त हो गया है।

इस ग्रंथ के दो खण्ड होंगे—जीवनी और आलोचना। जीवनी-खण्ड के सम्पादक हैं श्रीरायकृष्णदासजी और स्वयं व्यासजी। आलोचना-खंड में नाटक-विभाग के सम्पादक हैं श्रीरामचन्द्र वर्मा और निबंध-विभाग के पं० भगवतशरण उपाध्याय तथा कविता-विभाग के पं० पद्मनारायण आचार्य। सम्पादकों का निर्वाचन बहुत उपयुक्त हुआ है। उनके सम्पादकत्व में जो अध्ययन-ग्रंथ तैयार होगा, वह अनुसंधायकों के लिए निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा। यदि इस ग्रन्थ में महाकवि प्रसाद के जीवन और साहित्य पर अबतक प्रकाशित सभी पुस्तकों और लेखों की विवरणात्मक तालिका भी दे-दी जाती, तो शोधकर्त्ताओं के लिए बड़ी सुविधा हो जाती। सुप्रसिद्ध पुस्तकालयों की सहायता से यह तालिका आसानी से तैयार हो सकती है।

श्रीव्यासजी की इस योजना पर हिन्दी के सभी पत्र-सम्पादकों को विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। सभी सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में इस योजना पर सम्पादकीय

टिप्पणियाँ प्रकाशित होने की आवश्यकता है। सभी पत्र-सम्पादक अपने पाठकों और लेखकों से अनुरोध करें कि वे इस योजना की सफलता के लिए प्रयत्नशील हों।

स्वर्गीय प्रसादजी ने अपनी चिरस्मरणीय साहित्य-सेवा से हिन्दी का जो गौरव बढ़ाया है, उसका ध्यान रखकर प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी और हिन्दी-हितैषी का यह कर्त्तव्य है कि इस ग्रंथ के सर्वाङ्गपूर्ण बनाने में वे हार्दिक सहयोग करें। जिन सज्जनों के पास प्रसादजी के लिखे पत्र हों, वे यदि व्यासजी के पास मूल-पत्र न भेज सकें, तो उनकी अविकल प्रतिलिपि अवश्य भेज देने की उदारता दिखावें। जो महानुभाव प्रसादजी के संस्मरण लिखने में समर्थ हों, व इस सुअवसर का सदुपयोग करने की कृपा करें। हमें विश्वास है कि प्रसादजी के व्यक्तित्व और साहित्य से प्रभावित सभी साहित्यानुरागी सहृदयता के साथ इस साहित्यिक यज्ञ की पूर्त्ति में योग-दान करेंगे।

बिहार में प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का शोध

बिहार-राज्य में पुरानी पोथियों की खोज पहले कभी सुव्यवस्थित रीति से नहीं हुई थी। इस बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में, दरभंगा-राज के विराट् पुस्तकालय में, जब महामहोपाध्याय डॉक्टर गंगानाथ झा उसके ग्रन्थागारिक के पद को सुशोभित करते थे तब, प्राचीन पाण्डुलिपियों की खोज का काम, मिथिला और नैपाल में, हुआ था। उस खोज में मिली हुई पोथियों से महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री आदि विद्वानों ने लाभ भी उठाया था। फिर, बीसवीं सदी की दूसरी दशाब्दी में बिहार-रिसर्च-सोसाइटी, आरा की नागरी-प्रचारिणी सभा, गया की मन्नूलाल-लाइब्रेरी और भागलपुर के भगवान-पुस्तकालय ने भी पुरानी पोथियों की खोज पर ध्यान दिया था। उक्त सोसाइटी के तत्त्वावधान में, संगृहीत पोथियों के आधार पर, गवेषणा-कार्य भी हुआ था; पर अन्य तीन संस्थाओं ने केवल संग्रह-कार्य ही किया, अपने संग्रह का सार्वजनिक उपयोग शोध-कार्य में कराने की ओर ध्यान नहीं दिया। यों तो व्यक्तिगत रूप से भी कुछ विद्वानों ने पोथियों की खोज कराई थी—जैसे डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल, वैदिक रिसर्च-स्कॉलर पं० अयोध्याप्रसाद आदि; पर उनकी हस्तगत पोथियाँ केवल निजी उपयोग के लिए थीं, उनका कभी सार्वजनिक उपयोग न हुआ। आज भी बिहार के कई पुराने पुस्तकालयों में हस्तलिखित पोथियाँ पाई जाती हैं; पर गवेषणा के कार्य में पोथियों से सहायता लेने की भावना या उसमें उनका उपयोग करने की प्रवृत्ति कहीं भी देखने में नहीं आती। पोथियों को केवल एकत्रित करने से कोई वास्तविक लाभ नहीं, यदि उनके सार्वजनिक सदुपयोग की समुचित व्यवस्था न हो।

अब पटना-विश्वविद्यालय और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की ओर से सुव्यवस्थित रूप में खोज का काम हो रहा है। यद्यपि यह काम कुछ ही वर्षों से होने लगा है, तथापि इसकी प्रगति देखकर आशा होती है कि भविष्य में इससे साहित्य का महान् उपकार होगा और आनेवाली पीढ़ी इस दूरदर्शिता के लिए कृतज्ञता भी प्रकट करेगी। समस्त प्रान्त में हजारों पोथियाँ जहाँ-तहाँ बिखरी पड़ी हैं। उनका शतांश भी अब तक की खोज में संगृहीत नहीं हुआ है। शोधकर्त्ताओं का अनुभव और अनुमान है कि बिहार-राज्य के गाँवों में और

कहीं-कहीं नगरों में भी, असंख्य प्राचीन पोथियाँ अरक्षित दशा में पड़ी हुई हैं। यदि उनकी सुरक्षा पर यथोचित ध्यान न दिया गया, तो प्रचुर परिमाण में अमूल्य साहित्यिक सम्पत्ति के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने की आशंका है। हमारे ग्रन्थ-शोधकों को मालूम है कि जिन स्थानों में वे अनेक पुरानी पोथियों का पता लगा आये थे, उन स्थानों में अब एक भी पोथी नहीं बची है, सब-की-सब किसी-न-किसी तरह नष्ट हो गईं।

दक्षिण और उत्तर-बिहार के अनेक स्थानों में प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के बृहत् भाण्डार का पता लगा है। उत्तर-बिहार की बहुत-सी पोथियाँ अग्निकाण्ड और बाढ़ से नष्ट हो चुकी हैं। दक्षिण-बिहार में भी दीमकों और चूहों से विशाल ग्रन्थराशि का संहार होता जा रहा है। खोज से पता चला है कि बिहार-राज्यान्तर्गत छोटानागपुर-प्रदेश में भी प्रचुर साहित्यिक निधि काल का कलेवा हो रही है। खेद है कि सरस्वती-भाण्डार का अहर्निश क्षय हो रहा है; पर हमारा समाज आज भी उसकी रक्षा में तत्पर अथवा सजग नहीं है। सबसे बढ़कर दुःख यह है कि ग्रन्थान्वेषकों को, नाना प्रकार की असुविधाओं और कठिनाइयों का सामना करने तथा उचित मूल्य देने पर भी, कुछ ही पोथियाँ मिलती हैं—अधिकांश लोग पोथियाँ देने या बेचने को राजी ही नहीं होते और कितने ही लोग तो पोथियाँ दिखाते भी नहीं, प्रतिलिपि कराने की सुविधा भला क्यों कर देंगे! इस प्रकार देश की अपार ज्ञान-सम्पदा का दिन-दिन नाश होता जा रहा है।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के संग्रहालय में संचित पोथियों का विवरणात्मक परिचय क्रमशः 'साहित्य' में प्रकाशित होता रहा है और आगे भी होता रहेगा तथा उन विवरणों के दो संग्रह भी पुस्तक-रूप में निकले हैं, जिनसे हिन्दी के कई पुराने कवियों का पता लग चुका है तथा कई अज्ञात एवं अलभ्य ग्रन्थ भी उपलब्ध हो चुके हैं, जिनसे शोध-कार्य में अमूल्य सहायता मिलने की सम्भावना है। आज यह अनुमान करना भी कठिन है कि सभी पोथियों के संगृहीत हो जाने पर गवेषणा की समस्या कितनी सरल हो जायगी। पोथियों का अँचार बनानेवालों को भगवान् सुबुद्धि दें!

—त्रैमासिक 'साहित्य' (पटना); वर्ष ८, अंक १; चैत्र, २०१४ वि०;
अप्रैल, १९५७ ई०

हिन्दी का विरोध

जब से भारतीय संविधान द्वारा हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त हुआ है, तब से उसके विरोधियों की संख्या बढ़ गई है। यद्यपि, विरोधी भाइयों की आशंका सर्वथा निराधार और अकारण है, तथापि उन्होंने नाना प्रकार के नये-नये तर्क गढ़ लिये हैं और उनके मन में निर्मूल शङ्काएँ घर कर गई हैं।

कोई तो हिन्दी की क्षमता में अविश्वास प्रकट करता है, कोई उसके व्याकरण के कुछ नियमों की ओर उँगली उठाता है, कोई रघुवीरी हिन्दी की खिल्ली उड़ाता है और कोई भाषा के साम्राज्यवाद का सपना देखता है। जिसके मन में जो आता है, हिन्दी के बारे में बक देता है। जो हिन्दी बिलकुल नहीं जानता, उसके मुँह में भी लगाम नहीं। बड़े-बड़े दिमागदार भी बिना ओर-छोर की बातें कह जाते हैं। अनधिकारी के रूप में बोलते समय विद्या-वयोवृद्धों को भी लज्जा या ग्लानि नहीं होती। नेताओं को तो संविधान-स्वीकृत राष्ट्रभाषा पर बिना सोचे-समझे बोलने में हिचक ही नहीं।

जो लोग हिन्दी की अभिव्यंजना-शक्ति में सन्देह करके उसे राजभाषा होने योग्य भी नहीं समझते, वे जान-बूझकर इतिहास की ओर से आँखें मूँदते हैं। इस देश में पहले-पहल अँगरेजी का व्यवहार जब राजकाज में होने लगा था, तब अँगरेजी भी आज-जैसी समर्थ भाषा नहीं थी। किन्तु, भारत में अँगरेजी के प्रचार-प्रसार का आरम्भिक इतिहास भलीभाँति जानते हुए भी हमारे नेता धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र के नाम पर हिन्दी के स्वत्व की रक्षा नहीं करते। यदि वे दृढ़ संकल्प के साथ उसकी अधिकार-रक्षा पर कटिबद्ध हो जाते, तो आज की तरह हिन्दी की समस्या जटिल नहीं होने पाती।

आज हिन्दी राजकाज चलाने की अपनी शक्ति व्यावहारिक रूप में प्रत्यक्ष कर चुकी है। तब भी हिन्दी-प्रधान प्रान्तों में ही उसकी अवहेलना हो रही है। बिहार-विधान-सभा ने फिर तीन साल के लिए उसे ताक पर रख दिया। इससे विरोधी भाइयों को नया तर्क मिल गया है। वास्तव में, हिन्दी-प्रधान प्रान्त ही राष्ट्रभाषा और राजभाषा की राह के रोड़े बन रहे हैं। हिन्दी-क्षेत्रों में यदि हिन्दी यथार्थ आश्रय पाती, तो अहिन्दी-क्षेत्रों में वह कदापि तिरस्कृत न होती। विरोधी भाइयों का पक्ष प्रबल करने में हिन्दी-प्रमुख राज्य यदि सहायक न होते और नेताओं के अनिश्चित मत भी भ्रम न फैलाते, तो हिन्दी का प्रश्न आज-जैसा उलझनदार कभी न बन पाता। आज भी हिन्दी-क्षेत्र सजग हो जायँ, और नेताओं के भी स्वर सध जायँ तो परिस्थिति बहुत-कुछ सँभल सकती है।

जिन सज्जनों का तर्क हिन्दी-व्याकरण-सम्बन्धी विवादास्पद विषयों के आधार पर आश्रित है, वे भी अन्यान्य भाषाओं के अनेकानेक अवगुणों से अनभिज्ञ नहीं हैं; पर वे न तो कोई युक्तियुक्त बात सुनने या मानने को तैयार हैं और न वर्त्तमान काल की विविध विषम समस्याओं में उलझे हुए देश के वातावरण को भाषा-विवाद द्वारा दूषित होने से बचाना चाहते हैं। सच तो यह है कि हिन्दी लिखने-बोलने के जो इच्छुक हैं, उनके लिए कहीं किसी प्रकार का कठोर प्रतिबन्ध नहीं है। किन्तु, मनगढ़न्त बहाना ढूंढ़ लेनेवालों के लिए संसार में कुछ भी कर्त्तव्य नहीं रह जाता।

रघुवीरी हिन्दी की ओट लेकर जो महानुभाव हिन्दी को अव्यावहारिक बतलाते हैं, वे यदि बोलचाल की सुगम भाषा लिखने-बोलने पर भी आरूढ़ रह सकते, तो उनकी न्यायप्रियता कायम रह जाती। हिन्दी में आज भी कितनी ही शैलियाँ चालू हैं और वे निर्विरोध खप रही हैं! भविष्य में उन शैलियों के संगम से स्वतः निखरी हुई धारा चल पड़ेगी। पहले-पहल व्यवहार में लाई जानेवाली कोई भाषा यदि क्लिष्ट जान पड़ती है, तो

यह उस भाषा का दोष नहीं है । निरन्तर व्यवहार के अभ्यास से तो सर्वथा अपरिचित भाषा भी सरल हो जाती है । मुसलमानी शासन-काल में फारसी और अँगरेजों के राज्य में अँगरेजी के प्रचलन से यह बात सिद्ध हो चुकी है । और, क्लिष्ट हिन्दी चलाने का दुराग्रह तो कोई हिन्दीहितैषी नहीं कर सकता । फिर, संस्कृत के साथ निकटतम सम्बन्ध रखनेवाली हिन्दी के दुर्बोध होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता । समस्त भारत में संस्कृत समझने-वाले पाये जाते हैं । अहिन्दीभाषी-क्षेत्र में भी संस्कृत का आदर कम नहीं है । संस्कृत न जाननेवालों के समझने योग्य भी हिन्दी आसानी से लिखी जाती है । भारत में एकमात्र हिन्दी ही आसेतु-हिमाचल बोली-समझी जानेवाली भाषा है । अपने इसी गुण के कारण वह क्षेत्रीय भाषाओं की व्यापकता बढ़ा सकी है । किन्तु, विरोधी भाइयों को वास्तविकता समझाना कठिन है ।

अहिन्दीभाषी भाइयों की यह नितान्त भ्रान्त धारणा है कि हिन्दीवाले उनपर अपनी भाषा का साम्राज्य लादना चाहते हैं । यह दुर्भावना कभी किसी हिन्दी-प्रेमी के मन में भूले-भटके भी नहीं आई । विरोधी भाइयों की विलक्षण उद्भावना-शक्ति से उद्भूत नवग्रहों में यह सबसे भयावह ग्रह है। किन्तु, इस ग्रह से न हिन्दी ग्रस्त है और न कोई हिन्दीभाषी ही है। यह अपने जन्म-स्थान में ही बैठा करतब दिखा रहा है । इसकी शान्ति का प्रयत्न उन्हीं भाइयों को स्वयं करना पड़ेगा । हिन्दीवाले तो अतुलनीय सहिष्णुता के साथ विरोधी भाइयों के अलौकिक तर्क सुनते आ रहे हैं । वे जानते हैं कि विरोधी पक्ष की अटपटी उक्तियों और स्वेच्छा-निर्मित युक्तियों के सामने उनकी दाल नहीं गल सकती । वे विपक्षी दल से शास्त्रार्थ करने की स्थिति में भी नहीं हैं । हिन्दी की मौलिक विशेषताओं से आप-ही-आप उसका भाग्य-निर्णय हो जायगा ।

हिन्दी का विरोध जिन क्षेत्रों में हो रहा है, उनकी भाषाओं के साहित्य को उनकी सीमाओं से बाहर लोकप्रिय बनाने में हिन्दी ने जो उद्योग किया है, वह भारतीय भाषाओं के इतिहास में समय पाकर उल्लिखित होकर रहेगा । इस समय विरोध के वायुमण्डल को स्वच्छ एवं शान्त करने का उपाय यही सूझता है कि विरोधी भाई अपने राग-द्वेष के चरितार्थ करने में लगे रहें और हिन्दी अपनी भगिनी-भाषाओं के अध्ययन-मनन तथा उसके साहित्य के अनुशीलन में पूर्ववत् अपने पाठकों को प्रवृत्त करती रहे ।

शोधोपयोगी ग्रन्थ-भाण्डारों की रक्षा

इस देश में बहुत-से ग्रन्थ-संग्रहालय ऐसे हैं, जिनमें साहित्यिक अनुसन्धान में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सहायता देने योग्य अनेक प्राचीन ग्रन्थ विद्यमान हैं । ऐसे अधिकतर पुस्तकालय राजाओं और जमीन्दारों के अधिकार में हैं । रियासतों और जमीन्दारों के नामशेष हो जाने के कारण अब वे ग्रन्थागार प्रायः अरक्षित दशा में हैं । साहित्यिक गवेषणा के दृष्टिकोण से विचार करने पर उन सरस्वती-सदनों का मूल्य रियासतों और जमीन्दारियों के मूल्य से सहस्रगुण अधिक है । जिनकी रियासतें और जमीन्दारियाँ चली गईं, उन्हें अब पुस्तकालयों की रक्षा के लिए चिन्ता करने का अवकाश नहीं है । यह तो

हमारी राष्ट्रीय सरकार को ही देखना है कि राष्ट्र की विपुल ज्ञान-सम्पत्ति उपेक्षित होकर नष्ट न हो जाय। हमारे संसद्-सदस्यों और विधायकों का ध्यान इस विषय की ओर अविलम्ब आकृष्ट होना चाहिए। हम पहले भी दो बार 'साहित्य' द्वारा इस दिशा में सजग होने के लिए हिन्दी-हितैषियों से अनुरोध कर चुके हैं। समय रहते सावधान न होने से अपार ज्ञानराशि के विनष्ट हो जाने की सम्भावना है। आशा है कि हिन्दी-संसार भी इस राष्ट्रीय प्रश्न की उपेक्षा न करेगा।

आरा की नागरी-प्रचारिणी सभा

बिहार की साहित्यिक संस्थाओं में आरा की नागरी-प्रचारिणी सभा बहुत पुरानी और प्रतिष्ठित है। उसकी स्थापना सन् १६०१ ई० में हुई थी। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में सभा ने हिन्दी-भाषा और देवनागरी-लिपि के प्रचार का जो अनवरत प्रयत्न किया था, वह ऐतिहासिक महत्त्व का है। उसने सरकारी दफ्तरों और देशी राज्यों में हिन्दी एवं नागरी के प्रचार का तथा विश्वविद्यालयों में भी हिन्दी-साहित्य के अध्ययन अध्यापन का क्रम चालू करने के लिए आन्दोलन किया था। उसके पुस्तकालय में प्राचीन साहित्य का दर्शनीय संग्रह था। उसके द्वारा प्रकाशित पुस्तकों में मैथिलकोकिल विद्यापति, हिन्दी-सिद्धान्त-प्रकाश, सिक्ख-गुरुओं की जीवनी, मेगास्थनीज का भारत-विवरण, फाहियान, नवरस आदि का हिन्दी-जगत् में बड़ा आदर हुआ था। हरिऔध-अभिनन्दन-ग्रन्थ और राजेन्द्र-अभिनन्दन-ग्रन्थ उसके प्रकाशनों में विशेष उल्लेखनीय हैं। उसकी सेवाएँ निस्सन्देह सराहनीय हैं। किन्तु, इस समय उसकी जो शोचनीय दशा है, उससे हिन्दी-संसार पूर्णतया परिचित नहीं है।

बिहार-सरकार ने उसके विशाल पुस्तकालय को शाहाबाद-जिले का केन्द्रीय पुस्तकालय बनाने की कृपा की है। किन्तु, सरकारी कृपा होने पर भी उस पुरानी संस्था के विधिवत् सचालन की सुव्यवस्था नहीं हो सकी है। सभा के पुस्तकालय में जो पुराना संग्रह है, वह साहित्यिक खोज के लिए अत्यन्त मूल्यवान् है। उसके नष्ट हो जाने से बिहार-राज्य की एक अलभ्य निधि लुप्त हो जायगी। अतः, हम अपनी सरकार से सविनय अनुरोध करते हैं कि वह उस संस्था की रक्षा पर ध्यान देने की कृपा करे।

श्रीवेङ्कटेश्वर-समाचार का मानवधर्म-विशेषाङ्क

बम्बई का हिन्दी-साप्ताहिक श्रीवेङ्कटेश्वर समाचार बासठ वर्ष का पुराना कर्मनिष्ठ हिन्दी-सेवक है। उसके हीरक-जयन्ती-विशेषाङ्क का परिचय इन्हीं पृष्ठों में दिया जा चुका है। प्रस्तुत विशेषाङ्क अपने सफल सम्पादक (पण्डित देवेन्द्रशर्मा शास्त्री) की सामयिक सूझ का पता देता है। इसमें मानवधर्म-सम्बन्धी जो विद्वत्तापूर्ण लेख प्रकाशित हैं, वे अधिकारी विद्वानों की मननशीलता के परिणाम हैं। समयानुकूल विषय पर मननीय विचारों का सुसम्पादित संग्रह प्रकाशित करके इस युग के हिन्दी-पाठकों के मानसिक उन्नयन का जो प्रयत्न किया गया है, वह वस्तुतः प्रशंसा के योग्य है।

आजकल हमारे देशवासियों के लिए मानवधर्म का वास्तविक तत्त्व एवं रहस्य समझना परमावश्यक है। हमारे शास्त्रों में से मानव-धर्म का विवेचन बड़े विशद ढंग से किया गया है। किन्तु, अनेक ग्रन्थों में से मानव-धर्म का सार संकलित कर देने के कारण इस विशेषाङ्क की उपयोगिता बहुत बढ़ गई है। हिन्दी-प्रेमियों को मानवधर्म-सार-संग्रह सुलभ कर देने के लिए हम सम्पादक और प्रकाशक को सादर बधाई देते हैं। युग की माँग पूरी करनेवाले इस विशेषाङ्क का अधिकाधिक प्रचार अभीष्ट है।

'प्रेम-सन्देश' का मानस-संस्कृति-अङ्क

वृन्दावन (मथुरा) के प्रेमधाम से सुप्रसिद्ध रामायणी श्रीबिन्दुगोस्वामीजी के सम्पादकत्व में 'प्रेम-सन्देश' नामक मासिक पत्र निकलता है। उसके साधारण अंकों में भी भक्ति-साहित्य-सम्बन्धी पठनीय लेख छपा करते हैं। स्वयं सम्पादक श्रीबिन्दुजी महाराज के तुलसी-साहित्य-विषयक लेख बड़े ज्ञानवर्द्धक और रोचक तथा उपदेशप्रद होते हैं। प्रस्तुत विशेषाङ्क में तुलसी-साहित्य के विश्रुत विशेषज्ञों के जो सुचिन्तित लेख प्रकाशित हैं, वे 'रामचरित-मानस' के अनुरागियों के लिए मनोयोगपूर्वक अध्ययन करने योग्य हैं। साहित्यिक आनन्द की उपलब्धि के लिए भी यह संग्रहणीय है।

यह विशेषाङ्क 'प्रेम-सन्देश' के तेरहवें वर्ष की बारहवीं संख्या है। इसके आवरण-पृष्ठ पर जो भावपूर्ण तिरंगा चित्र है, वह आकर्षक तो है ही, सम्पादक की रमणीय कल्पना का द्योतक भी है। 'मानस' में तो पदे-पदे भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ झलकती हैं; पर वे साधारण पाठकों के ध्यान में सहसा नहीं आतीं। किन्तु, इसके लेखों से गोस्वामी तुलसीदासजी की अद्भुत कवित्व-शक्ति के जो चमत्कार प्रकट होते हैं, वे सचमुच मर्मस्पर्शी और हृदयाह्लादक हैं। जो सज्जन 'मानस' में आर्य-संस्कृति के विराट् रूप के दर्शन करना चाहते हैं, उन्हें इस सर्वाङ्गसुन्दर विशेषाङ्क का अध्ययन करना चाहिए।

एक मुसलमान सज्जन का आदर्श हिन्दी-प्रेम

आरा (शाहाबाद) के असिस्टैण्ट सेशन्स जज श्रीसैयद बहाउद्दीन अहमद ने 'अंगारे और फूल' नामक एक बड़ी पुस्तक हिन्दी में लिखकर प्रकाशित की है। लगभग पाँच सौ पृष्ठों की इस पुस्तक में उर्दू के चुनिन्दा शेरों का संग्रह, विषय-विभाग करके, किया गया है। इसको हमारे पूज्य राष्ट्रपति और बिहार के मुख्य मंत्री का आशीर्वाद प्राप्त है तथा इसकी प्रस्तावना भारत के शिक्षा-मंत्री मौलाना आजाद साहब ने लिखी है। पन्द्रह पृष्ठों की लम्बी विषय-सूची देखने से पता लगता है कि जितने अधिक विषयों पर उर्दू के अच्छे-से-अच्छे शेर मिल सके हैं, संग्रहकर्त्ता सम्पादक ने सबका संग्रह बड़ी सूझ-बूझ से किया है। शेरों में आये हुए कठिन शब्दों के सरलार्थ भी हिन्दी में दिये गये हैं। इससे हिन्दी-पाठकों के लिए बड़ी सुविधा हो गई है। सहृदय सम्पादक की लम्बी भूमिका में उर्दू-साहित्य की विशेषताओं पर जो विचार प्रकट किये गये हैं, उनसे पाठकों को नई प्रेरणा मिलेगी। छपाई की भूलों ने संग्रहकर्त्ता के प्रशंसनीय परिश्रम का अपमान तो

किया है; पर गुणग्राही पाठकों के आनन्द में बाधा पड़ने की सम्भावना कम है। शेरों के नीचे शायरों के नाम रहने से शेरों का मूल्य और भी बढ़ गया है। आशा है कि हिन्दी-संसार में इस अनूठे संग्रह की काफी कद्र होगी। उर्दू-शायरी की खूबियों और बारीकियों का रस लेने के लिए काव्यानुरागियों को इसे अपनाना चाहिए।

—त्रैमासिक 'साहित्य' (पटना); वर्ष ८, अंक ३; आश्विन, २०१४ वि०; अक्तूबर, १९५७ ई०

भारतीय हिन्दी-परिषद्

हिन्दी-संसार में अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के आकर्षण का अन्त अत्यन्त शोचनीय घटना है। उसके वार्षिक अधिवेशनों में सभी श्रेणियों के हिन्दी-प्रेमी और साहित्यानुरागी सम्मिलित होते थे। किन्तु, जब से वह दुर्भाग्यवश वैधानिक संकट में पड़ गया, तब से हिन्दी की समस्याओं के सम्बन्ध में अखिलभारतीय स्तर पर विचार करनेवाली एक समर्थ संस्था का अभाव अनुभूत होने लगा। ईश्वर की कृपा से प्रयाग-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग ने भारतीय हिन्दी-परिषद् की स्थापना करके उस अभाव को दूर करने का प्रयत्न किया। जिस समय परिषद् का जन्म हुआ, उस समय तक सम्मेलन क्रियाशील तो था, पर उसमें विघटन के लक्षण प्रकट होने लगे थे। यद्यपि उसकी शक्ति बिखर गई, तथापि हिन्दी के प्रचार-प्रसार और अभ्युत्थान-अभ्युदय के लिए जो कुछ उसे करना चाहिए था, अपने चालीस वर्ष के सक्रिय जीवन में वह कर चुका था। उसने साहित्य-निर्माण की दिशा में भी कदम उठाया था, पर वांछनीय गति से अग्रसर न हो सका। आज भी वह अपनी बची-खुची शक्ति समेटकर साहित्य-निर्माण के कार्य में संलग्न है, पर साहित्य की वर्त्तमान प्रगतिशीलता ने एक ऐसी संस्था के कार्यशील होने की परिस्थिति उत्पन्न कर दी, जो आधुनिक युग की विचारधारा के अनुकूल साहित्य का निर्माण एवं विकास करने में समर्थ हो।

उसी परिस्थिति को सँभालने के लिए भारतीय हिन्दी-परिषद् का उद्भव हुआ। उसने अपने पन्द्रह वर्ष के जीवन में जो ठोस साहित्य तैयार किया है, वह किसी भी संस्था के लिए गौरववर्द्धक हो सकता है। उसके त्रैमासिक पत्र 'हिन्दी-अनुशीलन' द्वारा साहित्यिक शोध को उल्लेखनीय प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है। 'हिन्दी-अनुशीलन' दस वर्षों से हिन्दी-जगत् के अनुसन्धायकों का पथ-प्रदर्शन कर रहा है। उसके प्रथम अंक से ही भारतीय हिन्दी-परिषद् के सभी अधिवेशनों के कार्य-विवरण, गोष्ठियों के विचार-विमर्श, प्रगति-परिचय, भाषण और निबन्ध प्रकाशित होते आ रहे हैं। यदि भाषणों और निबन्धों का सुसम्पादित संग्रह भी ग्रन्थाकार में निकल जाय, तो साहित्य की श्रीवृद्धि में उसके योगदान का महत्त्व मालूम हो जायगा। तीन खण्डों में उसके विगत पन्द्रह अधिवेशनों के

कार्य-विवरणों, भाषणों और निबन्धों का प्रकाशन होने पर ही उसके अस्तित्व की सार्थकता सिद्ध होगी।

भारतीय हिन्दी-परिषद् के वार्षिकाधिवेशन अबतक प्राय: विभिन्न विश्वविद्यालयों में ही हुए हैं। उन अधिवेशनों में अधिकतर विश्वविद्यालयों के सुयोग्य और अनुभवी प्राध्यापक ही सम्मिलित होते रहे हैं। उसके कार्यक्रम में सम्मेलन की तरह पदाधिकारियों के निर्वाचन के विवाद अथवा प्रस्तावों पर तर्क-वितर्क-मण्डित शास्त्रार्थ नहीं होते। उसमें साहित्य-संसार के स्वाध्याय-परायण चिन्तकों द्वारा काफी ऊँचे स्तर के साहित्य का अध्ययन-अनुशीलन उपस्थित किया जाता है। विचार-विनिमय भी उच्च स्तर पर ही होता है। अत:, साधारण श्रेणी के हिन्दी-प्रेमियों से अधिक उसमें गम्भीर विचारक और मननशील स्नातक ही योगदान करते हैं। उसमें हिन्दी-भाषा और हिन्दी-साहित्य की उन समस्याओं पर ही विशेष ध्यान दिया जाता है, जिन पर सम्मेलन के अधिवेशनों में विचार करने का कभी सुअवसर नहीं मिलता था। राष्ट्रभाषा एवं राजभाषा होने के कारण हिन्दी पर जो महत्तम उत्तरदायित्व आ पड़ा है, उसके समझने और सँभालने के प्रयास में वह आरम्भ से ही सजग तथा तत्पर है। इसीलिए, साहित्य के रचनात्मक पक्ष के पुष्ट करने में उसे स्तुत्य सफलता मिल रही है। आशा है कि उसके द्वारा तैयार हो रहा शोध-समीक्षापूर्ण साहित्य राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति अहिन्दीभाषियों के मन में सम्मान का भाव जाग्रत करेगा।

प्रयाग-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभागाध्यक्ष डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा और 'हिन्दी-अनुशीलन' के सम्पादक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी से हमारा सविनय अनुरोध है कि अब दक्षिण-भारत में परिषद् के अभियान की व्यवस्था होनी चाहिए। इसके लिए उद्योग करने पर हिन्दी-प्रधान प्रान्तों की सरकारों और केन्द्रीय सरकार से भी सहायता मिल सकती है। इस काम में उन दक्षिणी विद्यार्थियों का सहयोग सुलभ हो सकता है, जो हिन्दी-प्रमुख क्षेत्र के विश्वविद्यालयों में हिन्दी पढ़ रहे हैं। अहिन्दीभाषी-क्षेत्र के केन्द्रों में जाने के लिए हिन्दी-हितैषी उद्योगपतियों से भी प्रोत्साहन प्राप्त हो सकता है। हिन्दी के प्रभावशाली और लोकप्रिय पत्रों में इस विषय के आन्दोलन का उपयुक्त समय आ गया है। विश्वास है कि ऐसे सुयोग का सदुपयोग करने में परिषद् के संचालक अवश्य दत्तचित्त होंगे।

आन्ध्र-प्रदेश-हिन्दी-विद्यार्थी-सम्मेलन

गत वर्ष नवम्बर के तीसरे सप्ताह में आन्ध्र-प्रदेश-हिन्दी-विद्यार्थी-संघ के उद्योग से उक्त सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन, आन्ध्र की नई राजधानी हैदराबाद में, बड़े समारोह के साथ हुआ था। उसके अध्यक्ष थे आन्ध्र-प्रदेश-विधान-सभा के मान्य सदस्य श्रीगोपाल राव एकवोटे। संघ के संस्थापक श्रीसत्यनारायण गुप्त स्वागताध्यक्ष थे। दोनों सज्जनों के भाषण उक्त संघ और सम्मेलन के कार्य-विवरण के साथ प्रकाशित हुए हैं। उसी पुस्तिका में संघ के कर्णधारों और सम्मेलन के कार्यकर्त्ताओं के चित्र भी छपे हैं। पुस्तिका के पढ़ने से

इस बात पर सन्तोष और विश्वास होता है कि दक्षिणी विद्यार्थी हिन्दी को राष्ट्रीय एकता का आधार मानकर उसके अनुकूल वातावरण के निर्माण करने में प्रयत्नशील हैं।

स्वागताध्यक्ष ने अपने भाषण में एक जगह कहा है—"हिन्दी का प्रान्तीय भाषाओं से किसी प्रकार का विरोध नहीं है। हिन्दी ने तो इन सब भाषाओं को मिलाकर एक सूत्र में पिरोने के लिए राष्ट्रभाषा का पद स्वीकार किया है। इसलिए, हिन्दी इन भाषाओं का विरोध कैसे कर सकती है? हिन्दी की उन्नति का यही अर्थ होगा कि भारत की समस्त क्षेत्रीय भाषाओं की उन्नति, जिस प्रकार से राष्ट्रोन्नति के लिए एक निशान, विधान और प्रधान की आवश्यकता अनिवार्य है, उसी प्रकार राष्ट्रहितार्थ एक विचार, वेशभूषा तथा भाषा की अनिवार्यता सर्वसिद्ध है।"

सम्मेलन के अध्यक्ष महोदय ने भी अपने भाषण में स्पष्ट कहा है—"प्रान्तीय भाषाओं को हिन्दी से किसी प्रकार की आशंका या भय नहीं करना चाहिए; क्योंकि हिन्दी उन्हें किसी प्रकार अपदस्थ नहीं करना चाहती या उनके महत्त्व को किसी प्रकार से कम भी करना नहीं चाहती। हिन्दी तो उनके विकास और उन्नति में सहायक होगी और खुद भी प्रगति-पथ पर अग्रसर होगी। प्रान्तीय भाषाओं की शैली, विशेषता आदि को हिन्दी निश्चित रूप में ग्रहण करेगी। हिन्दी के विकास और प्रचार से भी अधिक इस बात की आवश्यकता है कि देश में हिन्दी के लिए अनुकूल वातावरण-निर्माण किया जाय। इसके लिए सबसे पूर्व इस भ्रान्त धारणा को दूर करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए कि हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं में किसी प्रकार का विवाद या विरोध है।"

अनावश्यक विस्तार के भय से हम कई स्थलों के उद्धरण यहाँ नहीं दे रहे हैं; पर ऊपर के दो उद्धरणों से ही दक्षिण के हिन्दी-प्रेमी बन्धुओं की सौम्य मनोवृत्ति का अन्दाज मिल जाता है। इस समय दक्षिण-भारत में हिन्दी के विरुद्ध जो वायुमण्डल क्षुब्ध हो रहा है, उसे शान्त करने के लिए हिन्दी-हितैषिणी संस्थाओं की ओर से विशिष्ट साहित्य-सेवियों का एक शिष्टमंडल जाना चाहिए। आशा है कि उस 'मण्डल' को उपर्युक्त 'संघ' के उत्साही कार्यकर्त्ताओं से यथोचित सहायता मिलेगी। यदि नई पीढ़ी के सहयोग का सहारा लिया जाय, तो अभीष्ट-सिद्धि की बहुत बड़ी सम्भावना है।

पूर्वोत्तर-रेलवे-हिन्दी-समिति (गोरखपुर)

गोरखपुर (उत्तरप्रदेश) की हिन्दी-रेलवे-समिति ने अपने अल्पकालीन जीवन में ही अपनी कार्यक्षमता और साहित्य-सृष्टि की सुरुचि का जो परिचय दिया है, वह साहित्य-संसार का ध्यान आकृष्ट करने योग्य है। उसकी पत्रिका के तीन विशिष्ट अंक—बुद्ध-जयन्ती-अंक, तुलसी-स्मृति-अंक और हिन्दी-अंक—बड़ी सुन्दरता से प्रकाशित हुए हैं। लेखों के चयन और सम्पादन की दृष्टि से तो ये अंक संग्रहणीय हैं ही, प्रकाशन-सम्बन्धी सौन्दर्य के कारण दर्शनीय भी हैं। यहाँ तक कि समिति के प्रथम वार्षिक अधिवेशन के कार्य-विवरण का प्रकाशन भी उसके संचालकों की सुरुचि का परिचायक है। हिन्दी के

प्रति उनकी निष्ठा देखकर आशा होती है कि भविष्य में वे ठोस रचनात्मक कार्य करके साहित्य की श्रीवृद्धि करेंगे।

समिति की ओर से मौलिक साहित्य के प्रकाशन का जो आकर्षक कार्य हुआ है, उसके अतिरिक्त वह रेलवे-विभाग के अहिन्दीभाषी कर्मचारियों को हिन्दी की समुचित शिक्षा देने का भी प्रयत्न कर रही है। उसने 'प्रबोध', 'प्रवीण' आदि उपाधि-परीक्षाओं की व्यवस्था करके रेलवे-विभाग के अहिन्दीभाषियों को हिन्दी के निकट लाने का जो सत्प्रयास आरम्भ किया है, उसमें विभागीय सहयोग विशेष उल्लेखनीय है। पूर्वोत्तर रेलवे के जेनरल मैनेजर श्रीभीष्म अरोड़ा ही समिति के अध्यक्ष हैं, इसलिए आशा है कि समिति अपने विभाग में हिन्दी का प्रचार और साहित्यानुराग का प्रसार करने की सुविधा पा सकेगी तथा साहित्य-निर्माण में भी वह प्रगतिशील बनी रहेगी।

—त्रैमासिक 'साहित्य' (पटना); वर्ष ८, अंक ४; पौष, २०१४ वि०; जनवरी, १९५८ ई०

स्वर्गीय आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय

हिन्दी के साहित्यसेवियों में आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय एक विशिष्ट व्यक्ति थे। उनका जीवन और विचार भारतीय ऋषियों से बहुत प्रभावित था। वे बड़े निष्ठावान् साधक थे। उनका आचरण तपस्वी के समान था। उन्हें देखकर स्वर्गीय सत्यनारायण कविरत्न का स्मरण हो आता था। सत्यनारायणजी ग्रेजुएट थे, पर ठेठ देहाती किसान के वेश में रहते थे। इन्दौर के अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में कविरत्नजी को गँवार समझकर स्वयंसेवकों ने भीतर जाने से रोक दिया था। किन्तु, कविगोष्ठी में कविता-पाठ करने पर किसी दूसरे का रंग जमने नहीं दिया। पाण्डेयजी भी एम्० ए० पास होकर देहाती वेश में ही रहते थे। उनकी विद्वत्ता और साधुता पर आधुनिक युग का आडम्बर नहीं सवार हुआ था।

अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के जयपुर-अधिवेशन (सन् १९४४ ई०) में जाते समय हमने दिल्ली-स्टेशन पर देखा कि पाण्डेयजी नंगे पैर, नंगे सिर, बगल में कम्बल की गठरी दबाये तीसरे दर्जे की गाड़ी में सवार हो रहे हैं। उनके सत्सङ्ग के लोभ से हम भी उनके साथ जा बैठे। उनकी गठरी में खद्दर के कुछ कपड़े और असिद्ध अन्न थे। गाढ़े खद्दर के कुर्ते में खादी के ही बटन थे। जयपुर तक वे साहित्यिक चर्चा करते रहे। हमलोग एक ही कमरे में साथ ही ठहरे। वे अलोना भोजन करते थे। अँकुरे हुए चने और मूंग के साथ एक-दो चम्मच मधु खाकर रह जाते थे। रात-भर पानी में तर की हुई मूंग की दाल से सुबह नाश्ता करते देख जब हमने पूछा कि इस तरह के

प्रयोग से शरीर का निर्वाह कैसे होगा, तब कहने लगे कि अभी तो मैं नमक की तरह मीठा भी छोड़नेवाला हूँ—शरीर तो साधने से सध जाता है।

पाण्डेयजी संस्कृत, फारसी, बँगला, मराठी आदि भाषाओं के जानकार तो थे ही, प्राचीन हिन्दी-काव्य के भी मर्मज्ञ थे। हिन्दी-हिन्दुस्तानी का जब आन्दोलन चला था, तब उन्होंने कई पुस्तकें और लेख लिखकर हिन्दी का पक्ष-समर्थन किया था। उस समय काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने 'हिन्दी' नामक जो पत्रिका निकाली थी, उसके प्रथम सम्पादक पाण्डेयजी ही हुए थे। 'हिन्दी' के द्वारा भी उन्होंने बड़ी निर्भीकता और प्रचण्ड तेजस्विता के साथ हिन्दी का पक्ष पुष्ट किया था। स्पष्टवादी आलोचक होने के कारण साहित्य-संसार में कुछ अप्रियता भी उन्हें मिली। पर, वे अपने मन की जँची बात कहने से कभी न चूके।

पाण्डेयजी का शरीरपात, काशी में गत २४ जनवरी (१९५८ ई०) को हुआ। उनकी आयु ५३ वर्ष की थी। दो-तीन साल से वे अस्वस्थ थे। हमारा अनुमान है कि आधुनिक युग ने उनके कठोर संयम को बरदाश्त नहीं किया। उनके प्रयोग वर्त्तमान युग के लिए असाध्य प्रमाणित हुए। यह सब समझ-बूझकर भी वे अपनी साधना में तत्पर रहे। हम उन्हें गृहस्थ योगी कह सकते हैं। परन्तु, इस युग में योग-साधना से साहित्य-साधना कहीं अच्छी है, यदि पाण्डेयजी केवल साहित्य-साधना को ही अपनी टेक बना लेते, तो अभी बहुत दिनों तक हिन्दी की स्तुत्य सेवा कर सकते। 'हरेरिच्छा बलीयसी'!

त्रैमासिक 'हिन्दुस्तानी' का पुनः प्रकाशन

प्रयाग में स्थापित उत्तरप्रदेश की हिन्दुस्तानी एकाडमी हिन्दी-संसार की एक प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित साहित्यिक संस्था है। उसकी त्रैमासिक मुखपत्रिका 'हिन्दुस्तानी' लगातार अठारह वर्षों तक हिन्दी की सेवा करके बन्द हो गई थी। पर, इस वर्ष से वह फिर निकलने लगी है। उसके उन्नीसवें भाग के पहले अङ्क (जनवरी-मार्च, १९५८ ई०) में एकाडमी के मन्त्री डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने प्रकाशकीय वक्तव्य में लिखा है—"सन् १९३१ से १९४८ ई० तक 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका ने खोज-कार्य को प्रेरणा देने में, प्राचीन ग्रन्थों को प्रकाश में लाने में तथा भाषा और साहित्य के स्तर को उन्नत बनाने में जो योगदान किया है, उससे सभी लोग भली भाँति परिचित हैं।" वास्तव में, 'हिन्दुस्तानी' की महत्त्वपूर्ण साहित्य-सेवा से जो लोग परिचित थे, उन्हें 'हिन्दुस्तानी' का अभाव बहुत दिनों से खटक रहा था, किन्तु दस वर्षों के बाद उसको पुनः प्रकाशित होते देखकर उन सब लोगों को परम हर्ष हुआ है, जिन्हें उसकी उपयोगिता का अनुभव करके उसका अभाव खलता था। साहित्य-क्षेत्र में उसका पुनरागमन साहित्यिक शोध-कार्य करनेवाले अनुसन्धायकों के लिए वस्तुतः आनन्ददायक है।

प्रस्तुत अङ्क के प्रधान सम्पादक डॉ० माताप्रसाद गुप्त और सहायक सम्पादक डॉ० सत्यव्रत सिन्हा हैं। सम्पादक-मण्डल में डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० दीनदयालु गुप्त और डॉ० सत्यप्रकाश भी हैं। सभी सज्जन

यशस्वी साहित्यसेवी हैं। उनके सम्पादन और निर्देशन में पत्रिका नवीन उत्साह से हिन्दी-साहित्य का उन्नयन और अभ्युदय करने में समर्थ होगी। हम उसके अभिनव अभियान का अभिनन्दन करते हैं।

हिन्दी में शोध-समीक्षा-प्रधान त्रैमासिक पत्र-पत्रिकाएँ गिनी-चुनी ही हैं। उनका प्रचार बहुत सीमित क्षेत्र में है। सुशिक्षित हिन्दी-प्रेमी भी उन्हें नहीं अपनाते। प्राध्यापकों और स्नातकों में भी उनकी खपत यथेष्ट नहीं है। इस युग में पुस्तकालयों और वाचनालयों की संख्या बढ़ रही है सही, पर उच्चकोटि का साहित्य पढ़नेवालों की संख्या अत्यन्त मन्थर गति से बढ़ रही है। एक दशाब्दी के व्यवधान के बाद पुनः कर्म-क्षेत्र में पदार्पण करने पर पत्रिका को स्वतः अनुभव होगा कि हिन्दी-साहित्य की कितनी प्रगति हुई है। हमें आशा है कि 'हिन्दुस्तानी' से साहित्यिक गवेषणा के कामों में पूर्ववत् सहायता मिलेगी और जिस उद्देश्य से उसका पुनर्जन्म हुआ है, उसे ईश्वर सफल करेंगे तथा उसके संचालकों का संकल्प निर्विघ्न पूरा होगा।

'हरिऔध' का प्रकाशन

स्वर्गीय कविवर पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की स्मृति में, आजमगढ़ (उत्तरप्रदेश) के 'हरिऔध-कला-भवन' से त्रैमासिक 'हरिऔध' का प्रकाशन हुआ है। वह उक्त कला-भवन का मुखपत्र है। उसके अवैतनिक सम्पादक हैं हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ नाटककार पं॰ लक्ष्मीनारायण मिश्र, जो आजमगढ़ जिले के ही निवासी हैं। उसमें निबन्ध, संस्मरण, आलोचना, कविता, मनोरंजक लेख आदि सामग्री सुरुचिपूर्ण रहती है। सम्पादकीय टिप्पणियाँ भी शुद्ध साहित्यिक और समयानुकूल होती हैं। पाठ्य-सामग्री उपादेय और ज्ञानवृद्धि करनेवाली है। कला-भवन ने ऐसा सुन्दर और शिक्षाप्रद पत्र निकालकर आदर्श कार्य किया है।

अबतक हिन्दी में किसी साहित्यकार के स्मारक-स्वरूप कुछ ही पत्र निकले हैं। जहाँ तक हमें स्मरण है, ऐसी सबसे पहली पत्रिका 'हरिश्चन्द्र-कला' है, जो भारतेन्दु के जीते-जी काशी में जन्म लेकर उनके कैलासवासी होने पर पटना के खड्गविलास प्रेस से कई साल तक निकलती रही। भारतेन्दुजी की स्मृति में ही पण्डित राधाचरण गोस्वामी ने वृन्दावन से 'भारतेन्दु' निकाला था। 'भारतेन्दु' नाम का एक मासिक पत्र पण्डित ज्योति-प्रसाद 'निर्मल' के सम्पादकत्व में प्रयाग से भी निकला था। बिहार के आरा-नगर-निवासी प्रेम-साहित्य-प्रकाशक स्वर्गीय कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन की स्मृति में लखनऊ के एडवोकेट श्रीअजितप्रसाद जैन ने एक वर्ष तक 'देवेन्द्र' नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया था। कहते हैं कि पटना का समाधिस्थ साप्ताहिक 'महावीर' भी आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की स्मृति-रक्षा के उद्देश्य से ही निकला था, पर उसके प्रकाशन-काल में ऐसी कोई घोषणा नहीं हुई थी। कुछ धुँधली स्मृति है कि हिन्दी में 'कबीर' और 'तुलसी' नामक मासिक पत्र भी निकले थे, पर अब उनके पते की याद नहीं रही। इस समय काशी की प्रसाद-परिषद् का मासिक मुखपत्र 'प्रसाद' श्रीकृष्णदेवप्रसाद गौड़ के सम्पादकत्व में बड़ी

सुन्दरता और सफलता के साथ नियमित रूप से प्रकाशित हो रहा है। वह प्रसादजी का उपयुक्त स्मारक है। यों तो 'निराला' नामक पत्र भी निकलकर बन्द हो चुका है, पर वह शायद कवि के नाम के सम्मान में नहीं निकला था। एक बात यह भी है कि स्मारक-पत्र का नामकरण करने योग्य बहुतेरे चिरस्मरणीय साहित्यकारों के नाम नहीं होते।

उपर्युक्त कला-भवन में हरिऔधजी के स्मृति-चिह्नों का भी संग्रह किया गया है और खोज करके बराबर किया भी जा रहा है। आशा है कि कला-भवन के संचालकों का सदुद्योग हिन्दी-जगत् के लिए प्रेरणामूलक सिद्ध होगा।

'चम्पा'—एक अनुकरणीय प्रयास

बिहार-राज्य के चार स्थानों के कॉलेजों में एम्० ए० की पढ़ाई होती है—पटना मुजफ्फरपुर, भागलपुर और राँची। पटना-कॉलेज में तो बहुत दिनों से स्नातकोत्तर-वर्ग की पढ़ाई होती आ रही है, किन्तु उसके स्नातकोत्तर-विभाग की ओर से कोई पत्र प्रकाशित नहीं हुआ। पटना-कालेज और पटना-विश्वविद्यालय की ओर से पत्र प्रकाशित होते हैं, वे केवल स्नातकोत्तर-वर्ग के लिए नहीं हैं। अन्य तीन कॉलेजों से भी पत्र प्रकाशित होते हैं, पर वे भी केवल स्नातकोत्तर-वर्ग के लिए ही नहीं हैं। किन्तु, 'चम्पा' केवल स्नातकोत्तर-वर्ग की ओर से उसी विभाग की मुख-पत्रिका के रूप में प्रकट हुई है।

भागलपुर के तेजनारायण जुबली-कॉलेज के स्नातकोत्तर-विभाग ने अपने नगर के एक प्राचीन ऐतिहासिक स्थान के नाम पर इस पत्रिका को प्रकाशित करके अन्य महाविद्यालयों के स्नातकोत्तर-विभागों को नई प्रेरणा दी है और आदर्श मार्ग सुझाया है। यदि अन्य स्नातकोत्तर-विभागों से भी ऐसी ही पत्रिका निकलने लगे, तो साहित्य के अध्ययन-अनुशीलन में बड़ी सहायता मिलेगी तथा अध्ययन-अध्यापन का स्तर भी ऊँचा हो जायगा।

'चम्पा' के प्रस्तुत प्रथमाङ्क (जनवरी, १९५८ ई०) में स्नातकोत्तर-विभाग के अध्यापकों और विद्यार्थियों के निबन्ध हिन्दी और अँगरेजी में छपे हैं। विभाग में हिन्दी के अतिरिक्त जो अन्य विषय पढ़ाये जाते हैं, उन पर अँगरेजी में ही लेख लिखे गये हैं। केवल हिन्दी के निबन्ध साहित्यिक हैं। यदि अँगरेजी में भी हिन्दी-साहित्य-सम्बन्धी लेख छपा करते, तो अच्छा होता; क्योंकि इस समय केवल अँगरेजी जाननेवालों को हिन्दी-साहित्य से परिचित कराना अत्यावश्यक है। इसमें निबन्धों के सिवा विद्यार्थियों की कुछ भावपूर्ण रचनाएँ भी छपी हैं। किन्तु, यह पत्रिका यदि शोध-समीक्षा-प्रधान ही रहती, तो इसकी गुरुता विशेष बढ़ जाती। भावुकतापूर्ण रचनाओं के प्रकाशनार्थ अनेक पत्रिकाएँ हैं। विभाग की मर्यादा के अनुरूप पत्रिका तभी होगी, जब उसमें शोधपूर्ण सुचिन्तित निबन्ध ही प्रकाशित हुआ करेंगे।

आशा है कि हिन्दी-विभागाध्यक्ष प्रोफेसर वीरेन्द्र विद्यावाचस्पति और सम्पादक प्रोफेसर माहेश्वरी सिंह 'महेश' के निर्देशन और सम्पादन में पत्रिका उत्तरोत्तर उन्नतिशील होगी। उक्त दो सज्जनों के अतिरिक्त तीन महानुभाव और भी सम्पादक-मण्डल में हैं—श्रीचन्द्रदेव सिंह (वाणिज्य-विभाग), श्रीदिवाकर झा (अर्थशास्त्र-विभाग) और

श्रीज्ञानशङ्कर प्रसाद (समाजशास्त्र-विभाग)। प्रधान संचालक श्रीवीरेन्द्र विद्यावाचस्पतिजी का यह नवीन प्रयोग और अनुकरणीय प्रयास पूर्णतया सफल हो, यही ईश्वर से हमारी कामना है।

—त्रैमासिक 'साहित्य' (पटना); वर्ष ६, अंक १; चैत्र, २०१५ वि०; अप्रैल, १९५८ ई०

*

दो प्रतिष्ठित साहित्यसेवियों का स्वर्गवास

हिन्दी के दो पुराने साहित्यकारों—पण्डित ज्वालादत्त शर्मा और पण्डित रूपनारायण पाण्डेय—का आकस्मिक देहावसान हो गया। दोनों सज्जन द्विवेदी-युग के यशस्वी हिन्दी-सेवक थे। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्पादन-काल में दोनों की रचनाएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित होती थीं—शर्माजी की मौलिक कहानियाँ और पाण्डेयजी की सरस कविताएँ। अपनी स्मरणीय सेवाओं के लिए साहित्य-संसार में वे सदैव आदरणीय रहेंगे। उनके निधन से हिन्दी की जो क्षति हुई है, निकट भविष्य में उसकी पूर्त्ति की आशा नहीं दीखती।

[१]

पण्डित ज्वालादत्त शर्मा मुरादाबाद के किसरौल मुहल्ले के निवासी थे। उन्होंने द्विवेदी-युग में ही 'प्रतिभा' नामक एक सुन्दर मासिक पत्रिका निकाली थी। वह उस युग की सुसम्पादित पत्रिकाओं में गिनी जाती थी। उसमें पुरातत्त्व-विषयक, संस्कृत-साहित्य-सम्बन्धी और आलोचनात्मक लेख अच्छे छपते थे। जब हिन्दी में उर्दू-साहित्य की चर्चा बहुत कम थी, तभी शर्माजी ने उर्दू के कई कवियों—गालिब, दाग, जौक आदि—की सुन्दर जीवनी और शायरी की आलोचना पहले-पहल लिखी थी। वे पुस्तकें हरिदास-कम्पनी (कलकत्ता) से निकली थीं। उर्दू-फारसी पर उनका अच्छा अधिकार था, संस्कृत के भी पण्डित थे। इनके सिवा बँगला, गुजराती, मराठी और अँगरेजी में भी उनकी अच्छी गति थी। हिन्दी के विचारशील एवं समर्थ लेखकों में उनका सम्मानपूर्ण स्थान था। पत्र-सम्पादक, आलोचक और कथाकार के रूप में उन्होंने बड़ी ख्याति पाई थी। मुरादाबाद से 'शङ्कर' नामक एक पत्र निकलता था। उसमें उनके दार्शनिक और ज्योतिष-शास्त्र-सम्बन्धी लेख भी छपे थे। स्पष्ट है कि अध्यात्म-शास्त्र और प्रत्यक्ष-शास्त्र में भी उनकी पैठ थी।

हमने 'मतवाला'-मण्डल (कलकत्ता) में उनका और पण्डित पद्मसिंह शर्मा का विदग्धतापूर्ण वार्त्तालाप सुना था। दोनों ही बात-बात में संस्कृत की सूक्तियाँ और उर्दू के शेर कहते जाते थे। धुरन्धर साहित्यसेवियों में परस्पर जो साहित्यिक बातचीत होती है, उसे तत्क्षण लिपिबद्ध कर लेने की परिपाटी हिन्दी में चल पड़ती, तो साहित्य का श्रृङ्गार होता चलता। शर्माजी बड़े प्रखर वक्ता भी थे। हमने लखनऊ में उनका भाषण सुना था। उस समय हम वहाँ 'माधुरी' के सम्पादकीय विभाग में काम करते थे। गङ्गा-पुस्तकमाला

में उनकी 'भवभूति' नामक पुस्तक उसी समय प्रकाशित हुई थी। उसकी पाण्डुलिपि और प्रूफ देखने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ था। उस गवेषणापूर्ण पुस्तक से उनके पाण्डित्य और अनुसन्धानात्मक प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। उन्हीं दिनों संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् और 'साहित्यदर्पण' के हिन्दी-तिलककार पण्डित शालग्राम शास्त्री के मृत्युंजय-औषधालय में एक साहित्यिक गोष्ठी का आयोजन हुआ था। शर्माजी ही मुख्य अतिथि थे। उनके ओजस्वी भाषण से ज्ञात हुआ कि उन्होंने व्रजभाषा-काव्य और वंग-भाषा के रवीन्द्र-साहित्य का भी गम्भीर अध्ययन किया है। लखनवी उर्दूदाँ भी उनकी जबानदानी की सराहना करने लगे। एक बार काशी में भी प्रोफेसर रामदास गौड़ के घर पर हमने गौड़जी के साथ उनकी बातचीत सुनी थी। विषय था—'तुलसीदास का ज्योतिष-ज्ञान'। गौड़जी प्रसिद्ध वैज्ञानिक तो थे ही, तुलसी-साहित्य और ज्योतिष-विज्ञान के भी मर्मज्ञ माने जाते थे। वे भी शर्माजी के विस्तृत अध्ययन की प्रशंसा करते न अघाये। उस युग के वयोवृद्ध साहित्यिकों की स्मृति-शक्ति बड़ी तीक्ष्ण थी। लखनऊ और बनारस में रहते समय हमें शर्माजी के दर्शन एवं सत्संग के अनेक सुअवसर उपलब्ध हुए थे। खेद है कि मुरादाबाद के पुराने साहित्यसेवियों के संस्मरण शर्माजी के साथ ही चले गये। 'मानस'-टीकाकार पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र, 'टॉड-राजस्थान' के हिन्दी-अनुवादक पण्डित बलदेवप्रसाद मिश्र, 'सनातनधर्म-पताका' के सम्पादक और 'हनुमन्नाटक' के हिन्दी-टीकाकार पण्डित रामस्वरूप शर्मा आदि मुरादाबादी साहित्यकारों के अनूठे संस्मरण उनसे सुनने का सौभाग्य हमें प्रयाग में प्राप्त हुआ था, जब वहाँ द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ यन्त्रस्थ था। यह बड़ी ग्लानि का विषय है कि हिन्दी के अनेक पुराने साधक-सेवक अपने साथ ही साहित्यिक संस्मरणों को लेते चले गये। इस शोचनीय क्षति की पूर्ति अब असम्भव है। हिन्दी की इस अपार निधि के लुप्त हो जाने का मुख्य कारण प्रकाशकों की उदासीनता है।

शर्माजी पत्र-लेखन-कला में बड़े दक्ष थे। उनके पत्रों में संस्कृत के श्लोकार्द्ध और उर्दू-शेरों के टुकड़े बड़ा आनन्द देते थे। उनके अक्षर आचार्य द्विवेदीजी से मिलते-जुलते होते थे। यदि उनकी कोटि के लेखकों के साहित्यिक पत्रों के प्रकाशन का प्रयत्न किया जाय, तो कई धुरन्धर लेखकों की लुप्तप्राय कला का उद्धार हो सकता है। पत्र-साहित्य और संस्मरण-साहित्य के प्रकाशन से हिन्दी-जगत् के शोधकर्त्ताओं को बड़ा लाभ होगा।

उनका लम्बा-तगड़ा शरीर, उनकी सफेद दाढ़ी और चश्मे के अन्दर से मनःप्रसाद की झलक दिखानेवाली उनकी सतेज आँखें उनके व्यक्तित्व को प्रभावशाली बनाती थीं। उनकी वाणी में भी बड़ा आकर्षण था। जिस समाज में बैठ जाते थे, अपना रंग जमा देते थे। दुःख है कि गत २४ मार्च (१९५८ ई०) को अनेक हृदयों में शोक-संचार कर वे संसार से गुपचुप चले गये। उस दिन वे मुरादाबाद से दिल्ली अकेला ही जा रहे थे। सुना है कि रास्ते में रेल के डब्बे में ही उनका शरीरपात हो गया। स्वयं चादर तानकर सोये और उसी दशा में दिल्ली-स्टेशन पर उनकी लाश उतारी गई। वहाँ उनके जामाता ने उनका शव पहचाना। कैसा हृदयद्रावक दृश्य रहा होगा वह ! अच्छे ज्योतिषी होकर भी वे यह न जान सके कि यह यात्रा आगे जाकर महायात्रा होगी ! उनके लिए तो यह

शान्तिपूर्ण महाप्रस्थान अच्छा ही समझा जायगा, पर उनके निजी तथा साहित्यिक परिवार के लिए तो चिरन्तन दुःखदायक ही है।

[२]

पण्डित रूपनारायण पाण्डेय लखनऊ के रानीकटरा मुहल्ले के निवासी थे। अपनी आयु के पचहत्तरवें वर्ष में, गत १२ जून (१९५८ ई०) को, अपने घर पर ही वे अचानक चल बसे। वर्त्तमान शताब्दी का चौथाई भाग उन्होंने पत्र-सम्पादन-कला की सतत साधना में ही बिताया था। नागरी-प्रचारक, निगमागम-चन्द्रिका, इन्दु, कान्यकुब्ज, माधुरी आदि प्रसिद्ध मासिक पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन उन्होंने जिस योग्यता और सफलता से किया, वह हिन्दी-पत्रकारिता के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। पाण्डेयजी जब काशी में कविवर श्रीजयशङ्करप्रसादजी के घर पर रहकर भारत-धर्म-महामण्डल की मुखपत्रिका 'निगमागम-चन्द्रिका' और 'इन्दु' का सम्पादन करते थे, तब हम भी बनारस की दीवानी अदालत में हिन्दी-लिपिक थे और साहित्यानुराग-वश प्रायः नागरी-प्रचारिणी सभा में जाया करते थे। वहीं पर सर्वप्रथम प्रसादजी के साथ-साथ उनके भी दर्शन हुए थे। फिर उनसे परिचित होने का भी सुयोग मिला और अन्त में उनके साथ साहित्यिक काम करने के सुदिन भी नसीब हुए। अपने सहकारी के प्रति उनकी सहानुभूति आदर्श थी।

उनका घरेलू जीवन बड़ा नियमित था। उन्होंने अपने जीवन के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग स्वाध्याय और साहित्याराधन में ही किया। यही कारण है कि पत्र-सम्पादन-कार्य के अतिरिक्त वे अपनी मौलिक और अनूदित रचनाओं की राशि से हिन्दी के साहित्य-भाण्डार की शोभा बढ़ा गये। उनकी बहुत-सी लिखित, अनूदित एवं सम्पादित पुस्तकें दूसरे सज्जनों के नाम से भी प्रकाशित हुई हैं। द्रव्योपार्जन के लिए विवश होकर उन्हें ऐसा करना पड़ता था; क्योंकि उनका व्यक्तिगत बजट बहुत लम्बा-चौड़ा था। अच्छे-से-अच्छे भोजन, वस्त्र, सुगन्ध आदि के बड़े शौकीन थे। मगही पान, जर्दा, किमाम और सुरती वे बनारस से भी मँगाते थे। गाजीपुर और कन्नौज से बढ़िया इत्रों का पार्सल डाक से आता था। सन्ध्या समय भङ्ग-भवानी का सेवन करने पर उत्तम मिठाइयों और रबड़ी-मलाई की आवश्यकता अनिवार्य थी। गोरा छरहरा बदन, सिर पर किश्तीनुमा टोपी या साफा, कभी झलमली धोती या चूड़ीदार पॉजामा, पॉलिशदार जूता, कोट की जेब में घड़ी, हाथ में चिकनी छड़ी, दो-दो सुवासित रूमाल, मुँह में पान की गिलौरी, आँखों में सुरमा, खासे छैल-छबीला बनकर आइने के सामने मुस्कराते हुए खड़े होते थे और बाहर निकलने पर साथी-सङ्गी के लिए अपने ही पैसों के साथ न्याय करते थे। जैसे शाहखर्च, वैसे ही मजाक-पसन्द भी। बहुत ही अच्छी तबीयत पाई थी पाण्डेयजी ने।

संस्कृत और बँगला की पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाओं के खरीदने में भी उनके काफी पैसे खर्च होते थे। कई ऐसी पत्रिकाओं के वे नियमित ग्राहक थे। उनके कितने ही लेखों और टिप्पणियों का सार-सङ्कलन 'माधुरी' के विविध स्तम्भों में प्रकाशित करते थे। अँगरेजी के पत्रों से भी सारांश ग्रहण करने में उनका कौशल दर्शनीय था। अँगरेजी की पर्याप्त शिक्षा न पाने पर भी वे उसके लेखों का मर्म समझकर नोट तैयार कर लेते थे।

श्रीमद्भागवत-महापुराण का अक्षरशः हिन्दी-अनुवाद (शुकोक्तिसुधा-सागर) उन्होंने बड़ी ललित शैली में किया था, जो विगत दूसरी दशाब्दी में ही बम्बई निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित हुआ था। बंग-भाषा के विख्यात नाटककार श्रीद्विजेन्द्रलाल राय के सभी नाटकों का हिन्दी-अनुवाद उन्होंने ही किया था। कई वंगीय उपन्यास भी उनके द्वारा अनूदित होकर प्रकाशित हो चुके हैं। अनुवादों के अतिरिक्त उनकी बहुत-सी मौलिक पुस्तकें भी छपी हैं। उनके अध्ययन-कक्ष में पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ यथास्थान सजी-सजाई रखी रहती थीं। मेज-कुर्सी पर लिखने-पढ़ने में उन्हें आराम नहीं मिलता था। मोटे गद्दे पर मसनद के सहारे या छाती के नीचे तकिया लगाकर पढ़ते-लिखते थे। बैठने पर डेस्क का उपयोग करते थे। इसी कारण, माधुरी-कार्यालय में कभी-कभी एकाध ही घण्टे के लिए आते थे, अधिकतर अपने घर पर ही एकान्त में लेखों और प्रूफों का सम्पादन-संशोधन किया करते थे। सम्पादन-कार्य में उनका घोर परिश्रम आचार्य द्विवेदीजी का स्मरण कराता था। वास्तव में सम्पादकीय परिश्रम की दृष्टि से उनका स्थान पूज्य द्विवेदीजी के बाद ही था। हमने द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ के प्रकाशन-काल में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा में संचित द्विवेदीजी द्वारा सम्पादित लेखों को देखा था। यदि पाण्डेयजी द्वारा सम्पादित लेख भी आज कहीं संचित होते, तो अनुसन्धायकों को तुलनात्मक अध्ययन का अवसर मिलता। श्रमशील सम्पादक की कार्यकुशलता का प्रमाण संगृहीत रहने से शोधकर्त्ताओं को एक नई दिशा मिल सकती है।

पाण्डेयजी बड़े सुन्दर-सुडौल अक्षर लिखते थे। शीघ्रता में लिखने पर भी वे मोती ही पिरोते थे। लेख-सम्पादन और प्रूफ-संशोधन भी ऐसी सफाई से करते थे कि प्रेस को कभी कोई कठिनाई नहीं होती थी। कितने ही लेखों को आपाद-मस्तक रँग डालते थे, फिर भी लेखक की मौलिकता की नस पर नश्तर नहीं लगने पाता था। उनकी इस कला की प्रशंसा श्रीगणेशशङ्कर विद्यार्थीजी ने अपने 'प्रताप' में की थी। विद्यार्थीजी का प्रशंसा-पत्र पाना सहज न था, वे आचार्य द्विवेदीजी के सहकारी रह चुके थे और बड़ी संयत लेखनी के धनी भी थे।

पाण्डेयजी हिन्दी के प्रसिद्ध कवि भी थे। उनकी 'कविरत्न' उपाधि सार्थक थी। उनकी 'वन-विहङ्गम' कविता हिन्दी-जगत् में बहुत लोकप्रिय हुई। उनका एकमात्र पुत्र जब बाल्य-काल में ही काल-कवलित हो गया था, तब उन्होंने द्विवेदी-युग की 'सरस्वती में 'दलित कुसुम' शीर्षक कारुणिक कविता लिखी थी। उन्हीं दिनों उनकी 'हृदयेश्वरी' कविता की भी खासी चर्चा रही। पर, वे विनम्रता-वश अपने को कवि नहीं मानते थे। इसीलिए, मित्रों के अनुरोध पर भी अपना कोई कविता-संग्रह नहीं निकलने दिया।

बातचीत करते समय वे प्रायः आँखें मूँद-मूँदकर मुस्कराते-मुस्कराते बतियाते थे। अपने आरम्भिक जीवन कि चर्चा करते समय कहा करते थे कि शैशव में ही पितृवियोग होने पर वृद्ध पितामह के अविरल वात्सल्य-स्नेह ने ही जीवन-पथ प्रशस्त किया। पितामह संस्कृत के अच्छे पण्डित थे; प्राचीन शास्त्रीय पद्धति से संस्कृत की शिक्षा दी थी; किन्तु संसार-प्रवेश होने के पूर्व ही उनकी छत्रच्छाया भी हट गई। इस प्रकार, पाण्डेयजी को

स्वयं जीवन-निर्माण करना पड़ा। सांसारिक अनुभव उनके बड़े कटु थे। स्वावलम्बन के बल पर ही उन्होंने अपनी दुनिया सँवारी थी। यदि उनसे आत्मसंस्मरण लिखवाये गये होते, तो व्यावहारिक एवं साहित्यिक जीवन के लिए उनका मूल्य दिन-दिन बढ़ता जाता। जीवन के अन्तिम समय में अग्निपुराण के हिन्दी-अनुवाद का साहित्यिक संस्करण तैयार करने के वे बड़े इच्छुक और उत्सुक थे, पर उनका वह कामना उनके साथ ही सती हो गई! उनकी साहित्यपूत आत्मा को परमात्मा आत्मसात् करें।

केरल का सचित्र हिन्दी-पाक्षिक 'युगप्रभात'

राजनीति की दुनिया में आज दक्षिण-भारत का केरल-राज्य चर्चा का विषय बन गया है। उसके कालिकट नगर से प्रकाशित 'युगप्रभात' ने उसे साहित्य-संसार में भी सम्मानास्पद बना दिया है। लगभग दो साल से वह उल्लेखनीय सफलता के साथ राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा कर रहा है। उसके प्रधान सम्पादक श्री एन्० बी० कृष्ण-चारियर और सहकारी श्री के० रविवर्मा की लगन हिन्दीवालों के ध्यान देने योग्य है। उसकी छपाई, सफाई, सजावट, भाषा-शैली और सम्पादन-प्रणाली हिन्दी-पत्रकारों को चमत्कृत करनेवाली है। ऐसे सुसम्पादित और सर्वाङ्गसुन्दर पत्र का प्रकाशन अहिन्दी-भाषी क्षेत्र के राष्ट्रभाषानुरागियों के लिए वस्तुत: गर्व-गौरव का विषय है। हिन्दी-प्रधान क्षेत्र का कोई ऐसा आकर्षक पाक्षिक हमारे देखने में नहीं आया है। 'युगप्रभात' में दक्षिण-भारत की प्रमुख भाषाओं के साहित्य से सङ्कलित सामग्री विशेष महत्त्वपूर्ण होती है। तदतिरिक्त, दक्षिण-भारत के दर्शनीय स्थानों, प्राकृतिक दृश्यों, ऐतिहासिक स्थलों, विशिष्ट संस्थाओं और व्यक्तियों तथा सामाजिक प्रथाओं पर भी लेख एवं चित्र प्रकाशित होते हैं। उत्तर-भारत के साहित्यकारों की रचनाएँ भी उसमें स्थान पाती हैं। दक्षिणी साहित्य की कहानियों और कविताओं के हिन्दी-रूपान्तर में दक्षिणी कलाकारों की प्रतिभा का चमत्कार देखकर हर्षोत्कर्ष होता है। हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में उसका अधिकाधिक प्रचार होना चाहिए, जिससे दक्षिण और उत्तर का सांस्कृतिक सम्बन्ध तथा राष्ट्रीय एकता का सूत्र सुदृढ़ हो। सम्पादकीय टिप्पणियों और भारतीय भावोद्बोधक लेखों को पढ़कर आशा होती है कि दक्षिण में फैली हुई हिन्दी-विषयक भीति-भ्रान्ति को दूर करके 'युगप्रभात' अपने शुभ नाम को अक्षरशः सार्थक करेगा। केवल छह रुपये वार्षिक मूल्य में ऐसे मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक पत्र को सुदूर दक्षिण से नियमितता के साथ प्रकाशित करके मातृभूमि-सङ्घ के उदार संचालकों ने राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति जो सद्भाव प्रदर्शित किया है, उससे उनकी अभिनन्दनीय मातृभूमि-भक्ति प्रकट होती है। हार्दिक बधाई!

—त्रैमासिक 'साहित्य' '(पटना); वर्ष ६, अंक २; आषाढ, २०१५ वि०;
जुलाई, १९५८ ई०

भारतरत्न डॉक्टर भगवानदास की परमपद-प्राप्ति

विद्वद्वर श्रीभगवानदासजी भारतवर्ष के सुविख्यात दार्शनिक थे। मुक्तिधाम काशी में आपका मोक्ष-लाभ हुआ। अन्तिम समय में आपकी आयु नवासी वर्ष नव मास की थी। १८ सितम्बर (गुरुवार, १९५८ ई०) की रात में सात बजकर छप्पन मिनट पर भारत का एक अप्रतिम विद्वान्, जिसकी विद्वत्ता की ख्याति देश-देशान्तर में फैली थी, उठ गया। वर्त्तमान युग के भारतीय मनीषियों में आप अग्रगण्य माने जाते थे। आपका ज्ञान अगाध था। आपकी स्मरण-शक्ति आलौकिक थी। आपका पाण्डित्य स्वावलम्बी था। आपके लेख, भाषण और ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य के भाण्डार का गौरव बढ़ानेवाले अमूल्य रत्न के समान हैं। अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के एकादश अधिवेशन (कलकत्ता) के सभापति आप ही हुए थे। उसीमें सर्वप्रथम मङ्गलाप्रसाद-पारितोषिक की घोषणा हुई थी। भारतीय हरिजन-महासम्मेलन और भारतीय संस्कृति-सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से किये गये आपके भाषण अपूर्व हैं। वे दोनों पुस्तक-रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। इन दोनों विषयों पर वैसे भाषण आजतक देखने-सुनने में नहीं आये। जिस किसी विषय पर आप बोलते-लिखते थे, उस विषय में फिर दूसरे के लिए कुछ शेष नहीं रहने देते थे। काशी में रहते समय आपके दर्शन और भाषण-श्रवण के अनेक अवसर हमें मिले थे। कोई ऐसा विषय न था, जिसपर आप अधिकारपूर्वक बोल या लिख नहीं सकते थे। लिखते-बोलते समय एक ही शब्द के अनेक पर्याय कहते, एक ही वाक्य को विविध प्रकार से अभिव्यक्त करते और एक ही बात की पुष्टि में अनेक प्रमाण संस्कृत, अरबी, फारसी, अँगरेजी, हिन्दी आदि भाषाओं के साहित्य से देते चलते थे। आपके सुधी श्रोता और पाठक भी आपकी बहुज्ञता की थाह नहीं पाते थे। काशी के प्रसिद्ध दैनिक 'आज' में आप प्रायः स्वदेश की विभिन्न समस्याओं पर सन्मार्ग-दर्शक लेख लिखा करते थे। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक विषयों पर आप जो कुछ लिख देते थे, उसपर उन क्षेत्रों के नेताओं का तो ध्यान आकृष्ट होता ही था, उन विषयों का सुलझा हुआ निदान भी सुलभ हो जाता था। शास्त्रीय विवेचनों से भरे आपके लेख और भाषण भी बड़े सुबोध होते थे। जन्मना-कर्मणा-ब्राह्मण-विषय पर 'आज' में आपने वर्णाश्रमधर्म-सम्बन्धी कई लेख लिखे थे, जो धुरन्धर महापण्डितों को भी चकित-चमत्कृत करनेवाले थे। काशी के एक प्रकाशक की 'कामकुंज' नामक कामशास्त्र-सम्बन्धी गवेषणापूर्ण पुस्तक की भूमिका लिखाने के लिए कई बार आपकी सेवा में प्रकाशक के साथ उपस्थित होने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ था। आपने बहुत ही लम्बी भूमिका लिख दी और कहा कि तुम लोगों की उतावली के कारण संक्षेप में ही लिखना पड़ा; क्योंकि मूल-पुस्तक से भी बड़ी भूमिका उचित नहीं जँचती। अँगरेजी में तो आपका दार्शनिक ग्रन्थ प्रसिद्ध ही है, हिन्दी में भी 'दर्शन का प्रयोजन' अपने ढंग का अकेला ही है। 'समन्वय' आपका सबसे पहला हिन्दी-ग्रन्थ है। आपकी *ग्रन्थावली* प्रकाशित करके आपकी सभी रचनाओं को हिन्दी पाठकों के

लिए सुलभ कर देना चाहिए। वह ग्रन्थावली हिन्दी की अनमोल निधि होगी। वह आकर-ग्रन्थ का काम करेगी। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की स्वर्ण-जयन्ती के साहित्यिक समारोह में आपके लम्बे-तगड़े शरीर और आपकी पैगम्बरी वेश-भूषा ने सबकी टकटकी बाँध ली थी। उपर्युक्त भूमिका के प्रसङ्ग में आपने बतलाया था कि ब्रह्मचर्य, व्यायाम और स्वाध्याय ही आनन्दमय जीवन के साधन हैं। आपका खुला कसरती बदन देखकर ऐसा जान पड़ा कि आप निजी अनुभव बतला रहे हैं। साहित्य-संसार के तो आप मूर्द्धन्य विद्वान् थे ही, राजनीति के क्षेत्र में भी आपकी विद्वत्ता की सत्ता स्थापित थी। काशी में महात्मा गांधी आपके अतिथि होते थे। महामना मालवीयजी और देशभक्त बाबू शिवप्रसादगुप्त से भी आपको सम्मान प्राप्त होता था। काँगरेस के बड़े-से-बड़े नेता भी आपकी सलाह से लाभ उठाते थे। श्रीमती एनी बेसेण्ट के तो आप दाहिने हाथ ही थे। आपके सदृश विद्यावारिधि महापुरुष का निधन देश का घोर दुर्भाग्य है।

बिहार-प्रवासी श्रीगोयलीयजी की साहित्य-सेवा

भारत के अन्यान्य प्रान्तों के अनेक विद्वानों ने बिहार में रहकर स्तुत्य साहित्य-सेवा की है। पहले भी ऐसे साहित्यसेवी अनेक थे, आज भी हैं। दिल्ली-निवासी श्रीअयोध्या-प्रसादजी गोयलीय आजकल डालमियानगर (शाहाबाद) में रहकर हिन्दी-साहित्य की उल्लेखनीय सेवा कर रहे हैं। बरसों से आप वहाँ एक उँचे ओहदे पर हैं। आपकी कई अनूठी पुस्तकें काशी के भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुई हैं। आप उर्दू-फारसी के प्रसिद्ध विद्वान् हैं। उर्दू-शायरी की आधुनिक शैलियों का विवेचन करने में आपने बड़ी विद्वता और सहृदयता का परिचय दिया है। उर्दू-साहित्य की प्रवृत्तियों का विश्लेषणात्मक इतिहास हिन्दी में लिखकर आपने राष्ट्रभाषा के साहित्य का एक अभाव पूरा किया है। उर्दू-काव्य-धारा में जहाँ जैसा मोड़ नजर आया है, आपने बड़ी बारीकी से उसकी परख करके हिन्दी-पाठकों को स्पष्ट समझाया है। जो साहित्यानुरागी पाठक उर्दू-फारसी से अनभिज्ञ हैं, वे भी आपकी सुगम और सरस शैली के प्रभाव से आकृष्ट होकर उर्दू-शायरी की खूबियों को हृदयङ्गम कर सकते हैं।

आपकी लिखी हुई पुस्तकें—शेर ओ शायरी, शेर ओ सुखन (पाँच भागों में १९५१ से १९५४ तक के उर्दू-काव्य का समीक्षात्मक परिचय), शायरी के नये दौर (१९५८ ई०), शायरी के नये मोड़—पढ़ने से उर्दू-साहित्य का हृदयग्राही काव्यानन्द तो उपलब्ध होता ही है, आपकी फड़कती हुई भाषा की सजीवता और बाँकपन देखकर मन मुग्ध हो जाता है। इतना ही नहीं, आपने जो छोटी-बड़ी कहानियाँ लिखी हैं, उनकी भाषा तो आधुनिक हिन्दी-संसार में निस्सन्देह अपने ढंग की अकेली है। आपका मनोहर कहानी-संग्रह 'गहरे पानी पैठ' अपने नाम को अक्षरशः सार्थक करनेवाला है। आपकी लघु

कहानियों का संग्रह (जिन खोजा तिन पाइयाँ) देखकर चित्त चमत्कृत हो उठता है। 'कुछ मोती, कुछ सीप' नामक पुस्तक में आपने रमणीय सूक्तियों और मर्मस्पर्शी विचारों को गुम्फित करके बड़े कमाल का कौशल प्रदर्शित किया है। 'जैन-जागरण के अग्रदूत'—नामक संस्मरणात्मक पुस्तक में आपकी विदग्धता दर्शनीय है। हम आपकी विद्वत्ता और रचना-चातुरी को हिन्दी के शृङ्गार का सर्वाङ्गसुन्दर साधन समझते हैं। भगवान् आपको दीर्घायु करें कि हिन्दी आपकी अभिनन्दनीय साहित्य-सेवा से निहाल, खुशहाल और मालामाल होती रहे।

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की 'विधि-पत्रिका'

कानपुर के कानून प्रेस से 'हिन्दी-लॉ-जर्नल' नामक पत्र लगभग तीस-पैंतीस वर्षों से निकलता रहा है। हम उसकी वर्त्तमान प्रगति से परिचित नहीं हैं; पर इसमें सन्देह नहीं कि उसने हिन्दी में कानूनी-साहित्य के प्रकाशन और प्रचार का उल्लेखनीय प्रयास किया है। उक्त प्रेस से कई कानूनी किताबें भी निकल चुकी हैं। यद्यपि हिन्दी में आज स्वदेशी, विदेशी और अन्तर-राष्ट्रीय विधि-विधान पर कई छोटी-बड़ी पुस्तकें प्राप्य हैं, तथापि हिन्दी का कानूनी साहित्य अभी पूर्ण विकसित नहीं हुआ है। किन्तु काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने 'विधि-पत्रिका' निकालकर इस दिशा में जो नया प्रयत्न आरम्भ किया है, उससे आशा हो रही है कि हिन्दी में विधि-साहित्य की सृष्टि क्रमशः वृद्धिङ्गत होगी। अपने जीवन के दो-तीन वर्षों में ही इस मासिक पत्रिका ने जो परिष्कृत विधि-साहित्य प्रस्तुत किया है और पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण तथा प्रयोग का जो प्रयास किया है, वह कानूनी साहित्य की रचना के लिए रुचि एवं योग्यता रखनेवाले हिन्दी-लेखकों का मार्ग प्रशस्त करनेवाला है। कानूनी पेशे के लोगों में इस पत्रिका का अधिकाधिक प्रचार होना चाहिए, जिससे अदालती कामों में राष्ट्रभाषा हिन्दी का उपयोग सुविधा के साथ हो सके। 'सभा' के इस श्लाघ्य उद्योग में सभी हिन्दी-हितैषियों का हार्दिक सहयोग अपेक्षित है।

स्वामी भवानीदयाल संन्यासी का अद्वितीय संग्रहालय

प्रवासी भारतवासियों की सेवा-सहायता में ही अपना सारा जीवन समर्पित कर देनेवाले स्वर्गीय स्वामी भवानीदयाल संन्यासी का विशाल संग्रहालय अजमेर के 'आदर्शनगर' में हमने देखा था। जब से भारतवासी विदेशी उपनिवेशों में जाकर बसने लगे, तब से बीसवीं सदी तक की उनकी स्थिति का क्रमबद्ध अध्ययन करने के लिए वह संग्रहालय बड़ा महत्त्वपूर्ण साधन था। स्वामीजी जब डरबन (नेटाल—दक्षिण-अफ्रिका) से सदा के लिए स्वदेश चले आये, तब अपने उस अमूल्य संग्रहालय को भी अपने साथ भारत लेते आये। यद्यपि वे बिहार के निवासी थे और अपने गाँव (बहुआरा, शाहाबाद) में भी प्रवासी-भवन बनवाया था, तथापि उन्होंने पुनः अजमेर (आदर्शनगर) में ही नया प्रवासी-भवन बनवाकर

उस संग्रहालय को सुरक्षित रखने का प्रबन्ध किया। अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के जयपुर-अधिवेशन से लौटते समय हमने उसे देखा, तो ऐसा अनुभव हुआ कि प्रवासी भारतवासियों से सम्बन्ध रखनेवाला साहित्य उतनी प्रचुर मात्रा में लन्दन के ब्रिटिश म्युजियम या इण्डिया-हाउस के सिवा और कहीं भी संसार में एकत्रित न होगा। किन्तु स्वामीजी के निधन के बाद उस संग्रहालय की खोज-खबर लेनेवाला कोई न रहा। वह हमारे राष्ट्र की साहित्यिक निधियों में अतुलनीय है। सुनने में आया था कि स्वामीजी ने अपने निधन-काल से पहले ही जो दानपत्र लिखा था, उसके द्वारा वे अपने देश की सरकार को यह संग्रहालय सौंप गये थे। किन्तु हमें पता लगा है कि अभी तक वह सरकारी संरक्षण में नहीं आया है। उस राष्ट्रीय सम्पत्ति की सुरक्षा की ओर देश-हितैषियों का ध्यान शीघ्र जाना चाहिए।

—त्रैमासिक 'साहित्य' (पटना); वर्ष ६, अंक ३; आश्विन, २०१५ वि०; अक्टूबर, १९५८ ई०

बँगला-भाषा में 'रामचरितमानस' के दो पद्यानुवाद

गोस्वामी तुलसीदास-कृत 'रामचरितमानस' हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थ माना जाता है। संसार की अनेक उन्नत भाषाओं में उसके अनुवाद हो चुके हैं। उस विश्व-विख्यात ग्रन्थ के रूसी अनुवाद का संवाद भी पत्रों में प्रकाशित हुआ है। कुछ ही वर्ष पूर्व, सन् १९५४ ई० में, दिल्ली के हिन्दुस्तान-टाइम्स प्रेस से रेवरेण्ड ए० जी० एटकिन्स का अँगरेजी-पद्यानुवाद मूल के साथ-साथ, प्रकाशित हुआ था। इधर हमें दो पद्यबद्ध वङ्गानुवादों के देखने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उन दोनों में एक प्रकाशित और दूसरा अप्रकाशित है।

प्रकाशित वङ्गानुवाद श्रीमदनमोहन चौधरी का है। उपर्युक्त एटकिन्स साहब के समान श्रीचौधरी महाशय ने भी 'मानस' के छन्दों के सुर में सुर मिलाया है। किन्तु, उनके वङ्गानुवाद के साथ नागराक्षरों में मूल प्रकाशित नहीं है। वङ्गाक्षरों में मुद्रित सात काण्डों का अनुवाद, चार खण्डों में, आज से चौवालीस वर्ष पूर्व, सन् १९१५ ई० (वङ्गाब्द १३२२) में, प्रकाशित हुआ था। प्रकाशक स्वयं अनुवादक ही थे, जो अबइस संसार में नहीं हैं। वे पुरुलिया (मानभूमि) के मुन्सिफडांगा महल्ले के निवासी थे। उनके सुपुत्र डॉक्टर सदानन्द चौधरी उनके अनुवाद को पुनः प्रकाशित कराना चाहते हैं, पर कोई प्रकाशक नहीं मिलता। नागराक्षर में मूल के साथ वङ्गाक्षर में अनुवाद प्रकाशित हो, तो वङ्ग-भाषा-भाषियों में 'रामचरितमानस' का प्रचार हो सकता है। यह

व्यय-साध्य कार्य दिल्ली की साहित्य-अकादमी के ही करने योग्य है। पता चला है कि अनुवादक ने 'मानस' की तरह तुलसीदासजी की 'विनयपत्रिका' का भी वङ्गानुवाद उन्हीं रागों के छन्दों में किया है, जिसमें 'पत्रिका' के पद हैं। वह अभी अप्रकाशित है। ऐसे अनुवादों के प्रकाशन से राष्ट्रभाषा हिन्दी का बड़ा उपकार होगा।

दूसरा अप्रकाशित अनुवाद श्रीवीरेन्द्रलाल भट्टाचार्य का है। आप कूचबिहार के विक्टोरिया-कॉलेज में दर्शन-शास्त्र के प्राध्यापक थे और अब वहाँ से अवसर-ग्रहण करके काशी में साहित्य-सेवा तथा भगवद्भजन करते हुए शरीर-व्यय कर रहे हैं। आप भी सात काण्डों का अनुवाद पूरा कर चुके हैं। आर्थिक कठिनाई के कारण आपका अनुवाद प्रकाशित नहीं हो सका है। आपके सुयोग्य सुपुत्र श्रीहरिशङ्करप्रसाद भट्टाचार्य पटना के बिहार नेशनल (बी० एन्०) कालेज में दर्शन-शास्त्र के प्राध्यापक हैं। वयोवृद्ध अनुवादक ने बड़ी सूक्ष्मदर्शिता से 'मानस' का अध्ययन किया है। आपकी बड़ी उत्कण्ठा है कि आपके जीवन-काल में ही आपका अनुवाद प्रकाशित हो जाय। बँगाल में कई समर्थ प्रकाशक हैं। कलकत्ता-विश्वविद्यालय और वङ्गीय साहित्य-परिषद् से बँगला-भाषा के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ निकल चुके हैं। उन सबका ध्यान 'मानस' के वङ्गानुवाद के प्रकाशन की ओर आकृष्ट होना चाहिए था। कलकत्ता-स्थित वङ्गीय हिन्दी-परिषद् की प्रेरणा से कोई रामायणानुरागी सेठ सज्जन भी पुण्यभागी बन सकते थे। किन्तु, खेद है कि अनुवादक को अबतक प्रोत्साहन के बदले निराशा ही मिल रही है। तब भी आप हताश वा हतोत्साह न होकर निरन्तर प्रयत्नशील हैं। यह काम अहिन्दीभाषी क्षेत्रों में हिन्दी का प्रचार चाहनेवाले प्रयागी साहित्य-सम्मेलन के भी योग्य था, पर उसकी स्थिति सर्वविदित है।

उपर्युक्त दोनों अनुवादों को हमने स्वयं देखा है। दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करने का अवसर हमें नहीं मिला, पर यत्र-तत्र देखने से पता चला कि दोनों ही अनुवाद तुलसी के बहुत समीप हैं। जब दोनों प्रकाशित हो सकेंगे, तभी समीक्षा हो सकेगी। श्रीसदानन्द चौधरी का कहना है कि अनुवाद के चाहक-गाहक आज भी बहुत हैं, जो उसे पढ़ने के लिए अत्यन्त लालायित हैं, और वे लोग अपनी माँग पूरी करने के हेतु प्रायः पत्र लिखा करते हैं। इससे यह प्रकट होता है कि अनुवाद के साहसी प्रकाशक को व्यापारिक दृष्टि से भी लाभ होने की सम्भावना है। रामकथा की लोकप्रियता के कारण वङ्गानुवाद के भी अनेक संस्करण प्रकाशित हो सकते हैं, किन्तु सार्वजनिक साहित्यिक संस्थाओं के प्रकाशनोद्योग में अर्थ-सङ्कट के कारण शिथिलता आ गई है। राजा-रईस अब रहे ही नहीं। सेठों का सहारा है मन्दी का बहाना। ऐसे अभाव-व्याप्त युग में सरकार ही इस सत्कार्य में सहायता देना चाहे, तो दे सकती है। चौधरीजी और भट्टाचार्यजी अपनी

सरकार की कृपा पर ही टक लगाये हुए हैं। हमें आशा है कि जैसे 'मानस' के अनेक प्रकार के संस्करण जनता में प्रचलित हैं, वैसे ही इन अनुवादों को भी लोक-समादर प्राप्त होगा।

प्रेमचन्द-स्मारक

हिन्दी-कथा-साहित्य के महान् स्रष्टा स्वर्गीय प्रेमचन्दजी की रचनाओं ने संसार की कई उन्नत भाषाओं के साहित्य में समादर पाकर राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए प्रभूत गौरव अर्जित किया है। उनके समान अमरकीर्त्ति साहित्यकार का वास्तविक स्मारक तो साहित्यानुरागी पाठक-समाज के हृदय में स्थापित है, पर लौकिक रीति के अनुसार उनका स्थूल स्मारक बनाकर उस भूमि की धन्यता को स्थायी करना आवश्यक है, जिस भूमि पर जन्म लेकर उन्होंने अपने जीवन को साहित्य-सेवा में खपाया। अतः, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने काशी के पास ही उनके जन्म-ग्राम (लमही) में प्रेमचन्द-स्मारक-भवन बनवाने का निश्चय किया है। सभा के शुभ सङ्कल्प के अनुसार काशी से लमही तक के गन्तव्य पथ का नाम प्रेमचन्द-मार्ग होगा। उनके जन्म-स्थान पर जो स्मृति-मन्दिर बनेगा, उसमें पुस्तकालय, वाचनालय, संग्रहालय, अतिथि-शाला और प्रेमचन्दजी की प्रस्तर-मूर्त्ति भी रहेगी। सभा का अनुमान है कि इस निर्माण-कार्य में लगभग सवा लाख रुपये खर्च होंगे। हमारे पूज्य राष्ट्रपति डॉक्टर राजेन्द्रप्रसादजी इस स्मारक-भवन का शिलान्यास करनेवाले हैं।

सभा के इस पवित्र आयोजन की सफलता हिन्दी-प्रेमियों के उदारतापूर्ण सहयोग पर निर्भर है। स्पष्ट है कि हिन्दी-प्रेमियों की परीक्षा का अवसर उपस्थित है। हिन्दी-संसार में प्रकाशक, लेखक, कवि, सम्पादक और पाठक अगणित हैं। यदि सबके मन में अपनी भाषा के जगद्विख्यात साहित्यकार के प्रति सचमुच श्रद्धा हो, तो केवल एक-एक रुपये से ही सवा लाख की निधि संचित हो सकती है। आश्चर्य है कि अभी तक सभा की अपील पूरी तरह सफल नहीं हो सकी है यद्यपि सरकारी कोष से सवा लाख की रकम का मिलना कठिन नहीं है, तथापि सरकारी अनुदान अथवा किसी हिन्दी-भक्त दानवीर की आर्थिक सहायता से प्रेमचन्द का स्मारक बनना हिन्दी-भाषियों के लिए घोर लज्जा एवं अपमान का विषय है। उस स्मारक का महत्त्व तभी आदर्श होगा, जब उसमें प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी का श्रद्धा-दान सम्मिलित हो। हिन्दी-जगत् में जितनी साहित्यिक संस्थाएँ हैं, वे यदि अपने कर्त्तव्य-ज्ञान का ध्यान करें, तो उनके प्रयत्न से अनेकानेक हिन्दी-प्रेमियों की आहुति इस साहित्यिक यज्ञ में पहुँच सकती है। हिन्दीवालों के लिए सवा लाख की पूँजी जमा करना कोई असाध्य कर्म नहीं है। यदि उसके विना स्मारक-निर्माण में विलम्ब हुआ, तो हिन्दीभाषियों के लिए बड़े कलङ्क की बात होगी। आवश्यकता हो, तो प्रेमचन्द-जयन्ती के

समय अर्थ-संग्रह-सप्ताह का आन्दोलन चलाया जाय और हमारे पत्र-सम्पादक अपने पाठकों से अपील करें कि प्रेमचन्द-सप्ताह में हिन्दी के प्रति ममता रखनेवाला प्रत्येक व्यक्ति सभा के स्मारक-कोष को भर देने का प्रयास करे। हमें आशा है कि स्मारक-भवन की आधार-शिला स्थापित होते ही सभा की निधि सम्पन्न हो जायगी।

समर्थ प्रकाशकों की कमी

आजकल हिन्दी साहित्य-संसार में नित्य नई पुस्तकें निकल रही हैं। विविध विषय की पुस्तकों के प्रकाशन से साहित्य की नित-नूतन वृद्धि हो रही है। प्रकाशित पुस्तकों में उत्कृष्ट-निकृष्ट कोटि का विवेचन तो पृथक् प्रश्न है, किन्तु जितनी पुस्तकें आज लिखी जा रही हैं, उनमें अधिक-से-अधिक पचीस प्रतिशत ही प्रकाशित हो पाती हैं। यह प्रश्न विशेष गम्भीरता से विचार करने योग्य है। हम प्रायः देखते हैं कि बहुत-से साहित्यकारों के पास अनेक अच्छी रचानाएँ अप्रकाशित पड़ी हुई हैं। हमारा अनुमान है कि समस्त हिन्दी-संसार में हजारों उपयोगी पुस्तकें प्रकाशन के लिए तैयार हैं। उनमें कम-से कम पचीस प्रतिशत तो निश्चय ही शीघ्र प्रकाशन के योग्य और साहित्य की शोभा बढ़ानेवाली हैं, परन्तु अपनी उत्तम रचना के भी प्रकाश में न आ सकने के कारण लेखकों और कवियों को जो निराशा होती है, उससे वे हतोत्साह तो होते ही हैं, उनकी प्रतिभा भी प्रफुल्लित नहीं हो पाती। प्रकाशन के प्रोत्साहन से वंचित कितने ही मेधावी साहित्यसेवी अपनी प्रतिभा के कुण्ठित हो जाने की आशङ्का भी प्रकट करते हैं। इस प्रकार, साहित्य-रचना का मार्ग अवरुद्ध होता है और साहित्य के सम्पत्ति-कोष के बढ़ते रहने में भी बाधा पड़ती है।

वर्त्तमान स्थिति में हिन्दी की अनेक प्राचीन हस्तलिखित पोथियों के सुसम्पादित होकर प्रकाशित होने की सम्भावना नहीं दीख पड़ती, पर आधुनिक रचनाओं में जो महत्त्वपूर्ण हों, उनके प्रकाशन का कोई उपाय तो सोचना ही पड़ेगा। नहीं तो साहित्य के उत्तरोत्तर विकास की प्रगति मन्द पड़ जायगी। आज अनेक अहिन्दीभाषी सज्जन भी हिन्दी में साहित्य की सृष्टि कर रहे हैं और वे जब हिन्दी के प्रकाशकों और साहित्यिक संस्थानों के द्वार खटखटाकर हताश हो जाते हैं, तब खिन्न मन से राष्ट्रभाषा का अभ्युदय चाहनेवालों के प्रति असन्तोष व्यक्त करने लगते हैं। हमें पता है कि अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों के कई विद्वानों ने हिन्दी में बड़ी सुन्दर मौलिक पुस्तकें लिखी हैं तथा अपनी भाषा के भी ऐसे ग्रन्थों का हिन्दी-अनुवाद किया है, जिनसे राष्ट्रभाषा के साहित्य की अभाव-पूर्त्ति हो सकती है; पर उनमें भी अधिकांश को प्रकाशकों और संस्थाओं से कोरा जवाब ही मिला है। कम-से-कम अहिन्दी-भाषी क्षेत्र के सुयोग्य विद्वानों को हिन्दी-सेवा का मूल्याङ्कन और उनका

उत्साह-वर्द्धन तो किसी हद तक होना ही चाहिए। अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को इस समस्या पर विचार करने का अवकाश न हो, तो अखिलभारतीय हिन्दी-प्रकाशक-संघ इसपर विचार कर सकता है।

आज हिन्दी के कई प्रकाशक प्रशंसनीय प्रकाशन-कार्य कर रहे हैं। कुछ सार्वजनिक और सरकारी संस्थाएँ भी इस कार्य में तत्पर हैं। तब भी साहित्य-स्रष्टा यह शिकायत करते पाये जाते हैं कि क्षमताशाली प्रकाशकों और संस्थाओं से भी उनका अभीष्ट सिद्ध नहीं होता। किन्तु, नई रचनाओं का दिन-दिन उमड़ता हुआ प्रवाह देखकर साहित्य-संवर्द्धन में संलग्न किसी उत्साही प्रकाशक अथवा संस्था को दोष नहीं दिया जा सकता। प्रकाशन के साधनों की दुर्लभता या महार्घता तथा अर्थ-सङ्कट के इस युग में हमारे कुछ प्रकाशक अपनी शक्ति के अनुसार जो कुछ कर रहे हैं, वह आशा के अनुकूल ही कहा जा सकता है। फिर भी, उपस्थित समस्या का समाधान ढूँढ़ निकालने के लिए यह उचित होगा कि अनावश्यक साहित्य के प्रकाशन एवं प्रचार पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए सरकार से अनुरोध किया जाय। इससे लाभ यह होगा कि अवांछनीय साहित्य के प्रकाशनों में जिन प्रकाशकों की शक्ति का अपव्यय हो रहा है, उनके द्वारा लोकोपयोगी सग्रहणीय साहित्य को आश्रय एवं उत्तेजन मिलने लगेगा। किन्तु, सरकार तो वैधानिक कार्यवाही द्वारा अनिष्टकर साहित्य का प्रचारावरोध-मात्र कर सकती है, प्रकाश में लाने योग्य रचनाओं का चुनाव तो प्रकाशकों को ही करना पड़ेगा। जबतक प्रकाशक-वर्ग जागरूक न होगा और उसमें राष्ट्रहित की चेतना उद्बुद्ध न होगी, तबतक उसे रचनाओं की उपादेयता कोई नहीं समझा सकता—तबतक निम्न स्तर की रचनाओं की धारा भी न रुकेगी। रचयिताओं की प्रवृत्ति भी सदुद्देश्यगर्भित तभी होगी, जब प्रकाशक केवल सुरुचिपूर्ण साहित्य ही प्रकाशित करने लगेंगे। इसके विना मनमानी साहित्य-रचना नहीं रुक सकती।

यहाँ साहित्योपजीवी लेखकों की दूसरी कठिनाई भी विचारणीय है। प्रकाशकों की कमी से निरुपाय हुए लेखकों में कितने ही उत्कण्ठित सज्जन ऐसे भी दृष्टिगत होते हैं, जो अपनी रचना स्वयं ही प्रकाशित कर लेते हैं। किन्तु जो लेखक नियमित रूप से प्रकाशन-व्यवसाय नहीं करते, उन्हें अपनी भावुकता का फल भोगना पड़ता है; क्योंकि हिन्दी की दुनिया में लेखकों के निजी प्रकाशनों की ही खरीद-बिक्री करनेवाली कोई संस्था या एजेंसी नहीं है; अधिकांश प्रकाशक ही पुस्तक-विक्रेता भी हैं। अतः, भावावेश में अपनी रचना छपा डालनेवाले साहित्यकारों की सुविधा के लिए हिन्दी-क्षेत्र के केन्द्र-स्थलों में विश्वसनीय व्यावसायिक प्रतिष्ठानों की बड़ी आवश्यकता है। आज के शोध-युग में तो विश्वविद्यालयों से सम्मानोपाधि पाये हुए विद्वज्जन भी अपने ग्रन्थों के लिए उपयुक्त प्रकाशक की खोज में व्यस्त देखे जाते हैं। वे यदि स्वयं अपना थीसिस छपवाकर

लाभान्वित होना चाहें भी, तो साहस उनका साथ न देगा; क्योंकि पुस्तक-विक्रेता-प्रकाशकों के भरोसे काफी लागतवाले ग्रन्थ निकाल डालना घर-बैठे सिर-दर्द मोल लेना है। यदि ह्वीलर-कम्पनी की तरह प्रमुख केन्द्रों में सुसञ्चालित कम्पनियाँ खोलने की ओर देश के पूँजीपतियों अथवा सहकारिता-सिद्धान्त पर उद्योग-धन्धे चलानेवाले अनुभवी व्यवसायियों का रुझान हो, तो शिक्षा-प्रचार के इस युग में पुस्तकों का व्यापार बड़ा लाभदायक सिद्ध हो सकता है।

-त्रैमासिक 'साहित्य' (पटना); वर्ष ६, अंक ४; पौष, २०१५ वि०;
जनवरी, १९५९ ई०

*